सामाजिक सर्वेक्षण व शोध

रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

सरस्वती सदन, दिल्ली ७



सामाजिक सर्वेक्षण व शोध

(SOCIAL SURVEY AND RESEARCH)

लेखक
रवीन्द्र नाथ मुकर्जी
रीडर तथा अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
बरेली कॉलेज,
बरेली

प्रकाशक
सरस्वती सदन
७-यू.ए., जवाहर नगर
दिल्ली-७

तृतीय संस्करण, १९७४

[मूल्य २३ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक :
सरस्वती सदन,
७-यू.ए., जवाहर नगर,
दिल्ली-७

प्रथम संस्करण, १९६९
द्वितीय संस्करण, १९७२
तृतीय संस्करण, १९७४
(पूर्णतया संशोधित व परिवर्द्धित)

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

25

परम स्नेही

कनिष्ठ बहनोई

श्री दिवाकर चटर्जी

को

शुभाशीष सहित

—"दादा"

आमुख : तृतीय संस्करण

(PREFACE : THIRD EDITION)

'सामाजिक सर्वेक्षण व शोध' के इस तृतीय पूर्णतया संशोधित, परिमार्जित व परिवर्द्धित संस्करण को सहृदय विद्यार्थियों व विज्ञ अध्यापकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे आज हर्ष व गर्व का अनुभव हो रहा है क्योंकि इतने कम समय की अवधि में इस पुस्तक की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ी है कि उस पर किसी भी लेखक को आत्मसन्तुष्टि अवश्य ही होगी। इसके लिए मैं पाठकवर्ग का हृदय से आभारी हूँ।

सदा की भाँति इस नवीन संस्करण को भी प्रस्तुत करने में मेरा भरसक प्रयत्न यही रहा है कि इसे पाठकों के लिए अधिक उपयोगी बना दूँ। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस संस्करण में उन सभी त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा की गई है जो कि किसी कारणवश पुस्तक के द्वितीय संस्करण में रह गई थीं। अध्याय ९, ११ व १२ को नए ढंग से लिखा गया है व अन्य अध्यायों में आवश्यकतानुसार नई सामग्री जोड़ी गई है। इसके अतिरिक्त सन् १९७१ की जनगणना रिपोर्ट के आँकड़े अब उपलब्ध हो जाने के कारण उनका भरपूर उपयोग इस संस्करण में किया गया है। साथ ही, दिसम्बर १९७३ तक प्राप्त नवीनतम सूचनाओं व आँकड़ों से पुस्तक को समृद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इन सब का परिणाम—यह नवीन संस्करण—अब पाठकों के सम्मुख है और उन्हीं को यह निर्णय लेना है कि मुझे अपने प्रयत्नों में कितनी सफलता मिली है।

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

आमुख : प्रथम संस्करण

(PREFACE : FIRST EDITION)

अनेक दिनों से मेरे अनेक जाने-अनजाने अध्यापक-बन्धु, विद्यार्थी तथा प्रकाशकगण भी, व्यक्तिगत रूप में या पत्र द्वारा, मुझसे एक ही प्रश्न करते रहे हैं कि मैं 'सामाजिक सर्वेक्षण व शोध' पर भी कोई अच्छी-सी पुस्तक कब तक लिखूँगा ? मुझे खेद है कि अब तक उनके उस स्नेह-सिंचित आग्रहपूर्ण प्रश्न का मैं कोई सन्तोष-जनक उत्तर न दे सका था। आज यह प्रस्तुत पुस्तक ही उनके उस प्रश्न का एक मूर्त-उत्तर बने, यही मेरी इच्छा है! यह 'मूर्त-उत्तर' उनके लिए सन्तोषजनक हो, उनकी आशाओं के अनुरूप हो, इसके लिए पुस्तक को वास्तव में प्रमाणित स्तर पर सुप्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न मैंने किया है। पर प्रामाणिकता का अर्थ गूढ़ता नहीं और न ही पारिभाषिक शब्दावली सम्बन्धी मतभेदों को और भी बढ़ा देना है।

इन ... से मैंने अपने को दूर रखा है और पुस्तक में प्रस्तुत विषय-सामग्री सरल, सुबोध, सहज और सारमय हो इस बात पर अधिक ध्यान दिया है। ध्यान दिया है भाषा की रोचकता व सरसता पर, ध्यान दिया है विषय की परिशुद्धता पर और ध्यान दिया है नवीनतम दृष्टिकोण को अपनाते हुए भी वैज्ञानिकता को बनाए रखने पर। विशेषकर सांख्यिकीय विषयों की विवेचना में इस प्रकार का प्रयास व प्रयोग शायद एक दुस्साहस ही है, पर राष्ट्र-भाषा हिन्दी में टेक्निकल विषयों से सम्बन्धित पुस्तकों को पाठकवर्ग के लिए वास्तव में उपयोगी बनाने के हेतु इसके सिवा और कोई उपाय है भी तो नहीं।

यह स्वाभाविक ही है कि इस पुस्तक को प्रस्तुत रूप में तैयार करने के लिए अनेक विद्वानों की प्रख्यात कृतियों की, जिनका कि उल्लेख पुस्तक में किया गया है, सहायता लेनी पड़ी है। मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। साथ ही, इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने तथा उसे संशोधित करने में समाजशास्त्र की जानी-पहचानी लेखिका श्रीमती सरला दुबे का अथक परिश्रम इस पुस्तक की रचना का एक स्मरणीय विषय बन गया है। उसी प्रकार चित्रमय प्रदर्शन व सांख्यिकीय गणना-कार्य में श्री सुरमहेन्द्रलालजी का जो सराहनीय सहयोग प्राप्त हुआ है उसे मैं कभी भूल न सकूँगा। मेरे सहयोगी प्रोफेसर गिरीशचन्द्र कुलश्रेष्ठजी ने भी अपना पर्याप्त समय देकर पाण्डुलिपि को दोहराने व सुझाव देकर त्रुटियों को दूर करने में सहायता करके मुझे अनुगृहीत किया है। इसके अतिरिक्त पुस्तक के कुछ अध्यायों को लिखने के लिए आवश्यक विशिष्ट सामग्री को एकत्रित करने में मेरे प्रिय शिष्य श्री भरतलाल अग्रवाल, एम० ए०, ने सराहनीय परिश्रम किया है जिसके फलस्वरूप उन अध्यायों को लिखने का कार्य सरल हो गया है। इसी प्रकार इस पुस्तक से सम्बन्धित अन्य छोटे-मोटे कार्यों में कुमारी हरि आशाकिरन, कुमारी हरि ऊषाकिरन, सर्वश्री रवीन्द्र कनौजी, वेदप्रकाश दुबे तथा अनिल रंजनदत्त के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सबके प्रति मैं अपना आन्तरिक आभार प्रगट करता हूँ। यह सब सच होते हुए भी, इस पुस्तक के प्रकाशक के रूप में प्रिय भाई विश्वरंजनजी का आर्थिक त्याग, लगन व आग्रह ही वास्तव में इस पुस्तक का आधार है। उनके प्रति आभार प्रगट करने के योग्य शब्द मैं आज भी सीख न सका! इसके लिए उनसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। क्षमाप्रार्थी हूँ सहृदय पाठकवर्ग से भी पुस्तक में अनजाने में हुई त्रुटियों के लिए, पर उनको ही अपने रचनात्मक सुझावों व समालोचनाओं के द्वारा पुस्तक के स्तर को ऊँचा उठाने का उत्तरदायित्व सौंपकर मैं निश्चिन्त हूँ।

"मातृ आशीष"
तिलक कॉलोनी
सुभाष नगर, बरेली
गणतन्त्र दिवस, १९६९

—रवीन्द्र नाथ मुकर्जी

विषय-सूची

---

१ सामाजिक घटनाओं की प्रकृति

(NATURE OF SOCIAL PHENOMENA)

जिस प्रकार विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि मेधावी-मानव है, उसी प्रकार मानव की सर्वोत्तम सृष्टि मानव-समाज व उसकी विचित्र घटनाएँ हैं। यह मानव बुद्धिजीवि है, जिज्ञासा से भरपूर ज्ञानपिपासु है—इसीलिए वह विविध, विचित्र व जटिल सामाजिक घटनाओं को जन्म देने वाला भी है। यही कारण है कि मानव-समाज मानवीय सम्बन्धों व सह-सम्बन्धों का जितना अनोखा तानावाना है उतना और कोई भी अन्य समाज नहीं। यहाँ तो साधु और शैतान, कूटनीतिज्ञ और कामकूट, अपराधी और अवतार, वेश्या और वैरागी, वैज्ञानिक और वेदान्ती, राजा और रंक सब साथ-साथ रहते हैं। इसी मानव-समाज में पति-पत्नी के मधुर-क्लेश से लेकर भयंकर विश्वयुद्ध तक होता है, पारिवारिक स्तर पर जीवन-साथी के चुनाव से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रपति का चुनाव तक सम्पन्न होता है, यहाँ ताश-बाजी से लेकर शराब-बाजी तक है, यहाँ जातिवाद से लेकर प्रजातिवाद तक है, यहाँ खेल-कूद से लेकर साम्प्रदायिक दंगे-फसाद तक है, यहाँ पूजा-पाठ से लेकर नर-बलि तक है और यहीं पर निरक्षरता, अज्ञानता व कुसंस्कार के घोर अन्धकार से लेकर शिक्षा-दीक्षा व ज्ञान का जगमगाता हुआ प्रकाश भी है। ये सब कुछ है और इन सब कुछ को लेकर ही सामाजिक घटनाओं की प्रकृति का निर्धारण होता है। ये सामाजिक घटनाएँ ही सामाजिक वैज्ञानिकों का शोध व सर्वेक्षण का विषय हैं। अतः इनकी वास्तविक प्रकृति को भली-भाँति समझ लेना परमावश्यक है। प्रस्तुत अध्याय उसी दिशा में एक 'पहला कदम' मात्र है।

घटनाओं के प्रकार और प्रकृति
(Types and Nature of Phenomena)

विज्ञान घटनाओं का अध्ययन है। अतः घटनाओं की प्रकृति वैज्ञानिक अध्ययन के आधारों को प्रभावित कर सकती है। यदि कोई घटना इस प्रकार की है कि उसमें किसी भी प्रकार की नियमितता (regularity) का अभाव है तो यह स्पष्ट है कि व्यवस्थित ढंग से उस घटना का वैज्ञानिक अध्ययन कठिन होगा और उस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष भी शायद ही यथार्थ हो। अतः घटनाओं (phenomena) की प्रकृति की जाँच कर लेना वैज्ञानिक के लिए आवश्यक हो जाता है। ये घटनाएँ मोटे तौर पर दो प्रकार की होती हैं—एक तो प्राकृतिक घटनाएँ और दूसरी सामाजिक घटनाएँ। इन दोनों प्रकार की घटनाओं की प्रकृति एक जैसी नहीं है और इसीलिए वैज्ञानिक अध्ययन के लिए इनकी उपयुक्तता एकसमान नहीं है। कहा जाता है कि प्राकृतिक घटनाओं में (जिनमें भौतिक, रासायनिक, प्राणिशास्त्रीय तथा वनस्पति

सम्बन्धी घटनाएँ भी सम्मिलित हैं) नियमितता, निश्चितता, मूर्तता, समानता, वस्तु-निष्ठता आदि के गुण पाए जाते हैं और इसीलिए इन घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन यथार्थ तथा अध्ययन-निष्कर्ष निर्भरयोग्य होते हैं। यही कारण है कि आज हम प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति को प्राकृतिक व भौतिक वस्तुओं पर उत्तरोत्तर मानवीय नियन्त्रण के रूप में स्वत: देख सकते हैं। अपने वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर मनुष्य ने प्रकृति पर बहुत-कुछ विजय प्राप्त कर ली है, अनेक रहस्यों के द्वारों को उसने खोला है, असंख्य दुर्बोधों को उसने बोधगम्य बनाया है, अपनी धरती को उसने जाना है, शून्य को भी उसने पहचान लिया है और दूर नक्षत्र-लोक में भी उसने अपने ज्ञान के संदेश को भेजा है। इस प्रकार आकाश, धरती, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी और समुद्र के अध्ययन ने उसके सम्मुख अनेक आश्चर्यजनक अनुभवों को उपस्थित किया है और अनेक रहस्यों को उद्घाटित कर उसे एक महान् शक्तिशाली नियन्त्रक के रूप में सुप्रतिष्ठित किया है।

इस प्रकार मानव ने प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित किया, पशु-जगत् को ठीक-ठीक पहचाना, भौतिक दुनिया को अपने अधीन बनाया, अपने अनुसन्धान व अध्ययन के विषय-वस्तु के रूप में धरती से आकाश तक कुछ भी न छोड़ा—अपने-आपको भी नहीं। पर अति आश्चर्य की बात तो यह है कि प्राकृतिक व भौतिक दुनिया के 'लाल किले' पर अपनी विजयपताका फहराने वाला मानव स्वयं अपनी ही दुनिया (समाज) में चकरा जाता है—अपने ही सामाजिक सम्बन्धों के बारे में स्वयं निश्चित नहीं हो पाता है और उनकी भावी गतिविधि के बारे में भविष्यवाणी करने में कुछ हिचकिचाता है। स्वयं अपनी ही सामाजिक घटनाओं के बारे में मानव का ज्ञान कुछ अधूरा-सा रह गया है!

ऐसा क्यों? इसका उत्तर यह है कि सामाजिक सम्बन्ध व घटनाएँ जटिलता, विविधता, परिवर्तनशीलता, व्यक्तिनिष्ठता, अमूर्तता और गुणात्मकता की एक अजीब दुनिया है। इस अजीबपन से घबराकर कुछ विद्वानों ने यह घोषणा कर दी कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा यथार्थ रूप में सम्भव ही नहीं है और इसीलिए यथार्थ सामाजिक नियमों का प्रतिपादन भी नहीं किया जा सकता। इन विद्वानों के तर्क में कितनी सत्यता है और कितनी अत्युक्ति, इस बात को समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम उनके विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें। इस अध्याय का यही उद्देश्य है।

सामाजिक घटनाओं की प्रकृति व समाज-विज्ञान
(Nature of Social Phenomena and Social Sceince)

कुछ विद्वानों का कथन है कि सामाजिक घटनाओं की उपरोक्त अनोखी प्रकृति समाज-विज्ञान या समाजशास्त्र के लिए यथार्थ विज्ञान के रूप में विकसित होने के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा है। इसका कारण यह है कि सामाजिक घटनाओं में पाई जाने वाली जटिलता, परिवर्तनशीलता, प्रातीतिकता (subjectivity) आदि बाधाओं का एक-एक महासागर (ocean of obstructions) है। इन्हें लाँघना वैज्ञानिक पद्धति के लिए सम्भव नहीं होता। इसलिए समाजशास्त्र के लिए यह भी सम्भव नहीं होता है कि वह यथार्थ सामाजिक नियमों को प्रतिपादित करे। इस प्रकार के कथन में कुछ सत्यता हो सकती है, पर इनमें अन्तर्निहित भ्रान्त-धारणा और भी सुस्पष्ट है। इन भ्रान्त-धारणाओं के स्रोत (sources) मुख्यतया दो हैं: प्रथम तो

है—सामाजिक घटनाओं की प्रकृति को तोड़-मोड़कर देखने और उसकी प्रकृति पर नियन्त्रण पाने के सम्बन्ध में विज्ञान की शक्ति को न समझने की प्रवृत्ति; और द्वितीय है वैज्ञानिक नियम की वास्तविक प्रकृति को गलत समझना। जैसाकि हम इस अध्याय में देखेंगे कि यह सच है कि सामाजिक घटनाओं में जटिलता, विविधता, प्रातीतिकता आदि विशेषताएँ हैं, पर ये कोई ऐसी अड़चनें नहीं हैं कि जिन्हें विज्ञान कभी लाँघ ही नहीं सकता हो। समाज-विज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है और अपनी प्रगति के साथ-साथ अड़चनों को दूर करना उसके लिए सरल होता जा रहा है। उसी प्रकार यह कहना भी गलत है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति की विचित्रता के कारण यथार्थ वैज्ञानिक नियमों का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। इस प्रकार की भ्रान्ति इस कारण होती है कि लोग वैज्ञानिक नियम की यथार्थ प्रकृति को ही नहीं समझते हैं। अक्सर सिद्धान्त और नियम को एक मानने की गलती हम कर बैठते हैं। सिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रयोगसिद्धता नहीं भी हो सकती है, पर श्री हटचीसन (Hutchison) के अनुसार वैज्ञानिक नियम तो सदा ही प्रयोगसिद्ध सामान्यीकरण (empirical generalizations) होते हैं।[1] इस प्रकार अनेक प्रयोगसिद्ध नियमों का प्रतिपादन समाज-विज्ञानों द्वारा किया गया है।

वैज्ञानिक नियम के अर्थ के सम्बन्ध में एक और गलत धारणा यह है कि वैज्ञानिक नियम समस्त अवस्थाओं में (under all conditions) अनियन्त्रित व्यवहार का एक यथार्थ कथन (an exact statement) है। पर वास्तव में वैज्ञानिक नियम इस प्रकार का कुछ भी नहीं है। वैज्ञानिक नियम केवल यह बताता है कि कोई घटना वर्णित अवस्थाओं में (under stated conditions) किस प्रकार का व्यवहार करती है।[2] सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में भी इस प्रकार का कथन या नियम सम्भव है।

इस सम्बन्ध में तीसरी गलत धारणा यह है कि वैज्ञानिक नियम सदा यथार्थ रूप में व्यवहार की व्याख्या है। पर वास्तव में वैज्ञानिक नियमों की यथार्थता (exactness) मानव के ज्ञान के स्तर से सम्बद्ध होती है। किसी विषय के सम्बन्ध का नया ज्ञान अनेक पुराने 'यथार्थ नियमों' को गलत प्रमाणित कर देता है। सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध नियमों पर भी यही 'नियम' लागू होता है। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति और वैज्ञानिक अध्ययन व नियम के बीच इस प्रकार का कोई सह-सम्बन्ध नहीं है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति की विशिष्टताएँ वैज्ञानिक अध्ययन या वैज्ञानिक नियमों के प्रतिपादन में अनुल्लंघनीय बाधा की सृष्टि करती हैं या कर सकती हैं। फिर भी इस विषय को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम सामाजिक घटनाओं की प्रकृति को और भी विस्तारपूर्वक समझ लें।

---

1. T. W. Hutchison, *The Significance and Basic Postulates of Economic Theory*, Macmillan and Co., New York, 1938, pp. 63-64.

2. "A second serious misconception of the meaning of scientific law is that which holds itto be an exact statement of uncontrolled behaviour *under all conditions*. As a matter of fact, scientific laws are nothing of the sort. They merely state how phenomena behave *under stated conditions*."—George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans, Green and Co., New York, 1951, p. 12.

सामाजिक घटनाओं की प्रकृति की विशेषताएँ
(Characteristics of the Nature of Social Phenomena)

यह सच है कि सामाजिक घटना और प्राकृतिक घटना की प्रकृति एक-सी नहीं है, इनमें कुछ आधारभूत भिन्नताएँ हैं। उदाहरणार्थ आम के पौधों के एक विशेष समूह में जितने भी पौधे आते हैं उनकी विशेषताएँ प्रायः एक-सी होंगी, परन्तु शिक्षक वर्ग में जितने भी शिक्षक हैं उनकी विशेषताएँ भी प्रायः एक-सी होंगी—इस प्रकार की आशा दुराशा मात्र है। ऋतुओं का क्रम एक निश्चित ढंग से व्यवहार करेगा, इस सम्बन्ध में हम निश्चिन्त हो सकते हैं, पर कालेज के विद्यार्थियों का व्यवहार कालेज संघ के चुनाव के दौरान ठीक किस ढंग का होगा यह कोई कह नहीं सकता। यह हो नहीं सकता कि रात में हमें सूरज का प्रकाश मिले, पर यह हो सकता है कि ममतामयी पालिका कहलाने वाली मां अपने बच्चे की हत्या स्वयं कर दे। सामाजिक घटनाएँ इसी प्रकार के अनेक अनोखेपन से, अनेक विचित्रताओं व विविधताओं से भरपूर हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

(१) सामाजिक घटनाओं की जटिलता
(The Complexity of Social Phenomena)

सामाजिक घटनाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता इनकी जटिलता है। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने लिखा है कि सम्भवत: मानव-समूह-व्यवहार सम्बन्धी एक वास्तविक विज्ञान के विकास में सर्वाधिक उल्लेखनीय बाधा इसकी विषय-सामग्री की जटिलता है। अपने भौतिक एवं सामाजिक प्रभावों के प्रति अत्यन्त संवेदनशील तथा अपने असंख्य सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा मन-मिजाज सम्बन्धी विशेषताओं सहित मानव-समूह इतना अधिक जटिल, इतना अधिक दुर्बोध प्रतीत होता है कि हमारा मस्तिष्क ही चकरा जाता है और उस अथाह जटिलता की दुनिया में प्रवेश कर मानव-समूह के व्यवहार के क्रमों, व्यवस्थाओं और नियमों को ढूँढ़ने का दुस्साहस भी हम नहीं कर पाते हैं।[3] सामाजिक घटनाओं की अथाह जटिलता के दो-एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं : एक पति अपनी पत्नी के लिए एक आज्ञाकारी सेवक बन सकता है, पर हो सकता है कि दूसरा पति 'देवता' से निम्न किसी स्थिति को स्वीकार करने से इन्कार करता है; तो यह भी हो सकता है कि एक तीसरा पति व्यावहारिक तौर पर पति-पत्नी के सम्बन्ध को 'प्रिय बान्धव व बान्धवी' के समान सम्बन्ध मानकर ही अपनी पत्नी के साथ व्यवहार करता है; पर एक चौथा पति अपनी पत्नी को खाना पकाने और बच्चा उत्पन्न करने वाली मात्र समझ कर यार-दोस्तों को लेकर ही मौज उड़ाता है तो एक दुराचारी, पत्नी को मारने-

3. "Perhaps the most frequently urged obstacle to a true science of human group behaviour is the complexity of its subject-matter. Human groups in their tremendous sensitivity to physical and social stimuli and in their enormous cultural, psychological, and temperamental attributes which condition their behaviour, appear to be such an inextricable combination or confusion that the mind of man is staggered in its attempt to read order, sequence, and law into the behaviour of a social group."—*Ibid.*, p. 16.

पीटने वाला पाँचवाँ पति क्या मालूम किस यन्त्र-बल से रातोंरात 'अच्छा पति' बन जाता है; एक पति को काली बीबी का गम है तो दूसरा पति घर पर अति सुन्दर पत्नी को रोता छोड़कर क्लब व पार्टियों में दूसरों की बहू-बेटियों के साथ प्रेम का नाटक खेलता फिरता है; एक पति अपनी पत्नी के प्यार में जीता है, तो दूसरा पति उसी के प्यार के लिए तरसकर मरता है। इसी क्रम से इस पुस्तक के सभी पृष्ठों को भरा जा सकता है, फिर भी पतियों की जटिलता अधिकाधिक बढ़ती ही जाएगी। इस जटिलता के सागर में डुबकी लगाने का साहस 'शायद' कम लोग ही पसन्द करेंगे।

केवल इस एक उदाहरण से यह स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्ध व घटनाएँ अति जटिल हैं। प्रत्येक मानव-व्यवहार या सम्बन्ध अनेक प्रकार के भौतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक आदि कारकों द्वारा निर्धारित एवं प्रभावित होता है। अतः किस कारक का कितना प्रभाव है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। ये कारक केवल अनेक ही नहीं हैं, अपितु इनमें परिवर्तनशीलता भी है—क्या मालूम कौनसी चीज उस दुराचारी पति को खटक गई कि वह दुराचारी से एकाएक अच्छा पति बन गया। इतना ही नहीं, यदि किसी सामाजिक सम्बन्ध या व्यवहार की सभी शक्तियों या कारकों को मालूम भी कर लिया जाए तो भी उनके सापेक्ष (relative) प्रभाव अथवा महत्त्व को निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है।

परन्तु इन कठिनाइयों का तात्पर्य यह नहीं है कि इन जटिलताओं के बीच वैज्ञानिक पद्धति को उचित स्थान दिया ही नहीं जा सकता। इन जटिलताओं की दुनिया में भी सत्य का अन्वेषण सम्भव है। ऐसी आशा श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने निम्नलिखित आधारों पर व्यक्त की है[4]—

(क) यह सच है कि सामाजिक घटनाएँ जटिल हैं। किसी भी सामाजिक समूह की व्यवहार सम्बन्धी इन समस्त जटिलताओं के बीच भी कुछ प्रतिमानों (patterns), अनुक्रमों (sequences) तथा व्यवस्था (order) को देखा जा सकता है। उसका व्यवहार ऊपरी तौर पर जटिल अवश्य है, पर इस जटिलता का अर्थ अव्यवस्था, आकस्मिकता व अनिश्चितता नहीं है कि उसके सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी सम्भव ही न हो। इसके विपरीत अगर ध्यान से देखा जाए तो हम यही पाएँगे कि सामाजिक मनुष्य व समूह के व्यवहार में भी नियमितता, व्यवस्था, क्रमबद्धता और समरूपता का नितान्त अभाव नहीं है। इसीलिए एक निश्चित अवस्था के अन्तर्गत उसका व्यवहार किस प्रकार का होगा इसका वैज्ञानिक अध्ययन करना और उसके सम्बन्ध में बहुत-कुछ निश्चित भविष्यवाणी करना हमारे लिए सम्भव है। हम यह बता सकते हैं कि अमुक समय पर एक अमुक व्यक्ति अमुक निश्चित कार्यों को करेगा—वह आधी रात को उठकर नहीं, सोने जाने से पहले रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करेगा; दिन में नहीं (या बहुत कम), रात में सोएगा; दोपहर को नहीं, सुबह पूजा-पाठ करेगा; कम-से-कम अपने निकट के रक्त-सम्बन्धियों को छोड़कर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करेगा इत्यादि। इस प्रकार का अवलोकन सामाजिक समूहों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है जो कि किन्हीं निर्दिष्ट अवस्थाओं में (under given conditions) कुछ निश्चित प्रकार के व्यवहारों को करते हैं। अतः सामाजिक घटनाएँ या सामाजिक समूहों का व्यवहार अव्यवस्थित, जटिल तथा अर्थहीन केवल उनके लिए है जो कि घटनाओं का अवलोकन केवल ऊपरी तौर पर

4. *Ibid.*, pp. 17-18.

करते हैं। जितना अधिक हम उसका अध्ययन करते हैं और उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं उतना ही वह व्यवस्थित, नियमित तथा भविष्यवाणी करने योग्य बन जाता है।[5]

(ख) श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने आगे और लिखा है कि अधिकाधिक गहन अध्ययन से सामाजिक व्यवहार की निराशाजनक जटिलता व अव्यवस्था स्वतः ही गायब हो जाती है, यह तथ्य जटिलता की वास्तविक प्रकृति का भी स्पष्टीकरण करता है। आपके शब्दों में, "कोई भी परिस्थिति या व्यवहार की घटना तब जटिल होती है जब हम उसे समझते नहीं हैं। जटिलता सदैव सापेक्षिक (relative) है : एक व्यवहार-विषय के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अथवा पूर्ण-नियन्त्रण (mastery) के सन्दर्भ में।······दूसरे शब्दों में, मानव-समाज की जटिलता अधिकांशतः उसके सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता का ही परिणाम है।"[6] एक रेडियो के कल-पुर्जे (machinery) हमारे लिए अत्यधिक जटिल हो सकते हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते, पर एक रेडियो मेकेनिक के लिए वही कल-पुर्जे बिल्कुल जटिल नहीं हैं क्योंकि उनके विषय में उसे पूर्ण जानकारी है। यही बात सामाजिक घटनाओं की जटिलता के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इसलिए जटिलता की समस्या को सुलझाने के लिए वैज्ञानिकों ने दो तरीकों को अपनाया है—प्रथम तो परिस्थिति का सरलीकरण और द्वितीय अधिक-संख्यक तथ्यों का अध्ययन करने के लिए आवश्यक प्रविधियों का विकास। किसी विज्ञान की परिपक्वता (maturity) का नाप इस आधार पर किया जाता है कि उपर्युक्त किसी एक या दोनों तरीकों को अपनाने में उसे कितनी सफलता मिली है।[7] भौतिक विज्ञान ने जो अभूतपूर्व प्रगति की है उसका रहस्य यह है कि भौतिकशास्त्री अनेक छोटी-छोटी, पर परस्पर सम्बद्ध समस्याओं का अध्ययन कर सन्तुष्ट रहे हैं, जबकि समाज-वैज्ञानिक सीमित समस्याओं का विस्तृत अध्ययन इतिहास की दर्शनशास्त्रीय पद्धति द्वारा करने के प्रलोभन से अपने को अब भी पूर्णतया विमुक्त नहीं कर पाए हैं।

(२) सामाजिक घटनाओं की व्यक्तिनिष्ठता व अमूर्तता
(Subjectivity and Intangibility of Social Phenomena)

भौतिक तथा सामाजिक घटनाओं या तथ्यों के बीच पाए जाने वाले जिस अन्तर का सर्वाधिक उल्लेख किया जाता है वह यह है कि भौतिक घटनाओं का अवलोकन हम प्रत्यक्ष रूप से अपनी इन्द्रियों (senses) के द्वारा कर सकते हैं जबकि अनेक सामाजिक घटनाओं का इस प्रकार प्रत्यक्ष निरीक्षण सम्भव नहीं है क्योंकि वे अमूर्त होती हैं। उदाहरणार्थ, सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों को ही लीजिए। सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। उन्हें हम देख या छू नहीं सकते। उन्हें चखकर या सूँघकर

---

5. "It is chaotic, disordered, 'meaningless' only to superficial observer. The more we study it, the more orderly and practicable this behaviour becomes."—*Ibid.*, p. 17.

6. "Any situation or behaviour of phenomena is complex when we do not undrestand it. Complexity is always relative to our understanding or mastery of a given behaviour. ......The complexity of human society, in other words, is largely a function of our ignorance of it."—*Ibid.*, p. 18.

7. *Ibid.*, p. 18.

समझा नहीं जा सकता। मानवीय भावनाएँ, विचार, आदर्श, मूल्य, प्रथा, परम्पराएँ, पक्षपात, प्रेम, स्नेह—ये सब व्यक्तिनिष्ठ (subjective) व अमूर्त (intangible) हैं, इस कारण उन्हें शब्दों के माध्यम से केवल प्रतीकात्मक (symbolically) रूप से ही समझा जा सकता है। इस प्रातीतिकता व अमूर्तता का परिणाम यह होता है कि सामाजिक घटनाओं का कोई निश्चित वस्तुनिष्ठ (objective) स्वरूप प्रगट नहीं होता जिसके कारण सामाजिक घटनाओं का दर्शन लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हैं और इसीलिए उसमें वह वस्तुनिष्ठता अथवा तटस्थता पनप नहीं पाती है जो कि एक वैज्ञानिक अध्ययन के लिए परमावश्यक है।

सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किसी-न-किसी रूप में स्वयं व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों का ही अध्ययन होता है। इसके कारण भी हमारे अध्ययन में वस्तुनिष्ठता पनप नहीं पाती है। यदि हम किसी जीव-जन्तु का या पेड़-पौधे का या रसायन पदार्थ का या नक्षत्र का अध्ययन कर रहे हैं तो इनसे हमारा अपना कोई लगाव नहीं होता है और न ही इनके प्रति हमारे मन में कोई पक्षपात, द्वेष, पूर्वधारणा या घृणा की भावना होती है क्योंकि ये जीव-जन्तु, पेड़-पौधे हमारे 'अपने' या 'पराये' नहीं हैं। इसलिए इनका अध्ययन करते हुए हम तटस्थता (neutrality), अलगाव (detachment) और निष्पक्षता को बनाए रखने में सफल होते हैं और हमारा अध्ययन वस्तुनिष्ठ (objective) होता है। इसके विपरीत जब हम सामाजिक घटना के रूप में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन करते हैं तो वे मनुष्य या तो हमारे 'अपने' हैं या 'पराये'—यदि 'अपने' हैं तो उनके प्रति हमारा लगाव स्वाभाविक है और यदि 'पराये' हैं तो उनके प्रति पक्षपात, द्वेष, घृणा या केवल नापसन्दी की भावना हो सकती है। अपनी ही प्रथा, परम्परा, आदर्श, मूल्य, धर्म या परिवार-संगठन को उत्तम या श्रेष्ठ मान लेने की गलती कर बैठने की सम्भावना रहती ही है। अन्य लोगों के प्रति हमारा मनोभाव विपरीत होना भी स्वाभाविक है। इन समस्त परिस्थितियों में वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव होते हुए भी यथार्थ नहीं होता है। श्री चार्ल्स बियर्ड ने लिखा है कि सामाजिक वैज्ञानिक कभी भी अपने सामाजिक संसार में तटस्थ नहीं रह सकता क्योंकि समाजशास्त्री समाज की प्रथाओं, परम्पराओं, धर्म, परिवार, संस्थाओं, मूल्य आदि का अध्ययन करता है और स्वयं इन सब में भाग भी लेता है और इसीलिए इन सबको अपने स्वयं के दृष्टिकोण से देखने या समझने का प्रयत्न करता है।

ये आपत्तियाँ कुछ सीमा तक सच हैं, पर उस सच्चाई का यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक घटनाओं की प्रातीतिकता व अमूर्तता वैज्ञानिक अध्ययन में एक अभेद्य बाधा है। यदि इन आपत्तियों को पूर्णतया सच मान लिया जाए तो उसका अर्थ यह होगा कि चूँकि भौतिक घटनाएँ वैषयिक व मूर्त होती हैं जबकि सामाजिक घटनाएँ प्रातीतिक व अमूर्त होती हैं, इसलिए इन दोनों प्रकार की घटनाओं के अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न पद्धतियों की आवश्यकता है। पर मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान से यह पता चलता है कि सामाजिक या भौतिक घटनाओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने का तरीका अलग-अलग नहीं है। उदाहरणार्थ, दोनों ही प्रकार की घटनाओं के सम्बन्ध में ज्ञान हमें भाषा के माध्यम से ही प्राप्त होता है।

श्री लुण्डबर्ग के अनुसार इस सम्बन्ध में स्मरणीय बात यह है कि प्रथा, परम्परा, विचार, अनुभव आदि सभी एक-न-एक प्रकार के निरीक्षण-योग्य मानवीय व्यवहार (observable human behaviour) ही हैं और अन्य किसी भी प्रकार के व्यवहार की भाँति इनका भी उसी सामान्य पद्धति द्वारा अध्ययन किया जा सकता

हैं। यह सच है कि विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का निरीक्षण करने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रविधियों (techniques) तथा उपकरणों (instruments) का प्रयोग करना ही होगा। उदाहरणार्थ, कुछ व्यवहारों को हम प्रत्यक्षतः आँखों से देखते हैं, कुछ को हम अनुवीक्षण-यन्त्र आदि की सहायता से देखते हैं और कुछ व्यवहारों को थर्मामीटर के माध्यम से या मस्तिष्क की लहरों (brain-waves) को दर्शाने वाली मशीन के माध्यम से देखते हैं। इन समस्त निरीक्षणों के परिणामों को विशेष शब्दों द्वारा अभिव्यक्त व संचारित किया जाता है। यही नियम सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भी लागू होता है।[8]

इस सम्बन्ध में कुछ लोग यह सन्देह प्रकट करते हैं कि क्या स्वयं अपने का ही अवलोकन (जैसा कि समाजशास्त्री करता है) वैज्ञानिक तथ्य के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में ही होगा यदि निरीक्षणकर्त्ता अपने निरीक्षण के परिणामों को इस रूप में या ऐसी भाषा में अभिव्यक्त व संचारित करता है जिसकी कि जाँच सम्भव है। यही कारण है कि जब डॉक्टर थर्मामीटर की सहायता से स्वयं अपना ही बुखार (जो कि आवश्यक रूप में एक व्यक्तिनिष्ठ व अमूर्त घटना है) नापकर कहता है तो उसके उस कथन को कोई सन्देह नहीं करता है क्योंकि उसकी पुनः-परीक्षा सम्भव है। यदि समाजशास्त्री भी ऐसा कर सकें तो उनका भी हर निरीक्षण वैज्ञानिक तथ्य बन सकता है, चाहे अध्ययन-विषय प्रथा, परम्परा, आदर्श, मूल्य, धर्म या उनके अपने ही आन्तरिक विचार या भावनाएँ क्यों न हों। श्री लुण्डबर्ग ने सच ही कहा है कि जब हम 'प्रातीतिक' (subjective) घटनाओं के निरीक्षण व अभिव्यक्त करने की प्रविधियों (techniques) को इस भाँति विकसित कर लेते हैं कि निरीक्षणों के परिणामों का संचारण और पुनःपरीक्षा-द्वारा-पुष्टिकरण सम्भव है तो वे सभी परिणाम अन्य किसी भी प्रकार के तथ्यों की भाँति वैज्ञानिक अध्ययन की उचित सामग्री होते हैं। अतः 'वस्तुनिष्ठ' या 'व्यक्तिनिष्ठ' ये शब्द दो विभिन्न प्रकार की घटनाओं के आन्तरिक गुणों की ओर संकेत नहीं करते, अपितु यह बताते हैं कि हम किस स्तर तक अपने निरीक्षण के परिणामों को अभिव्यक्त करने के लिए परीक्षण-योग्य साधनों को विकसित कर पाए हैं।[9] उचित प्रविधियों के अभाव में जो घटना आज तक प्रातीतिक थी, कल को वही घटना सही प्रविधि के विकसित होने से वैषयिक बन सकती है। उदाहरणार्थ, थर्मामीटर के आविष्कार होने से पहले ज्वर-ताप को डॉक्टर कम, ज्यादा या बहुत ज्यादा जैसे गुणात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त करते थे और उस अवस्था में ज्वर-ताप (temperature) एक व्यक्तिनिष्ठ (subjective) घटना थी, पर ज्वर-ताप नापने और उसे संख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करने का यन्त्र थर्मामीटर का आविष्कार होते ही वही ज्वर-ताप जो अब तक प्रातीतिक था अब एक वैषयिक (objective) घटना बन गया है।

अतः हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र के तथ्यों तथा भौतिक विज्ञानों के तथ्यों में पाए जाने वाले अन्तर स्पष्ट होते हुए भी वास्तविक नहीं हैं। हम समाजशास्त्र की

8. *Ibid.*, p. 19.

9. "When we develop techniques of observing and reporting 'subjective' phenomena or that observations can be communicated and correlated, they are as proper objects of scientific study as any other data. 'Objective' and 'subjective', therefore, turn out to be not intrinsic qualities of different types of phenomena, but rather a designation of the degree to which we have developed checkable means of reporting our observations."—*Ibid.*, p. 20.

तुलना में भौतिक विज्ञान के तथ्यों को अधिक प्रत्यक्ष व वैषयिक रूप में इसलिए नहीं जानते हैं कि इनमें कोई अन्तर्निहित भेद है, अपितु इसलिए जानते हैं कि प्राकृतिक विज्ञान की प्रविधियाँ अधिक उन्नत हैं। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) के शब्दों में, "स्वयं तथ्यों में पाए जाने वाले कोई आन्तरिक भेद नहीं, अपितु हमारे अध्ययन की अविकसित प्रविधि (technique) व पद्धतिशास्त्र (methodology) और उसके कारण तथ्यों से हमारी अपरिचितता वास्तव में वे कठिनाइयाँ हैं जो कि समाज के एक यथार्थ विज्ञान की सम्भावना को रोकती हैं।"[10]

(३) सामाजिक घटनाओं की गुणात्मकता
(Qualitativeness of Social Phenomena)

भौतिक घटनाओं तथा सामाजिक घटनाओं के बीच एक और अन्तर, जिसका कि उल्लेख अत्यधिक किया जाता है, यह है कि भौतिक घटनाएँ परिमाणात्मक (quantitative) होती हैं जबकि सामाजिक घटनाएँ गुणात्मक (qualitative)। घटनाओं की गुणात्मकता वैज्ञानिक अध्ययन के पथ पर एक बाधा बन जाती है क्योंकि भौतिक या प्राकृतिक घटनाओं की भाँति सामाजिक घटनाओं को परिमाणात्मक रूप से नापा नहीं जा सकता। नाप, तौल, या घटनाओं की गणनात्मक अभिव्यक्ति प्रयोगसिद्ध (empirical) अध्ययन के लिए परमावश्यक है। हम सहयोग, संघर्ष, संस्कृतीकरण, धार्मिक द्वेष, पक्षपात आदि की बातें कर सकते हैं, लेकिन परिमाणात्मक रूप से उन्हें माप नहीं सकते। इसी प्रकार समाजशास्त्री को मूल्य, आदर्श, परम्परा, विचार, मनोभाव आदि गुणात्मक विषयों का अध्ययन करना पड़ता है, और उनका परिमाणात्मक नाप सम्भव नहीं होता है। उदाहरणार्थ, पति-पत्नी में पाए जाने वाले सहयोग व प्रेम-भाव का, दो दोस्तों के बीच पाई जाने वाली घनिष्ठता व आन्तरिकता का अथवा दो विरोधी दलों के बीच के तनावपूर्ण सम्बन्धों का विवरणात्मक विवरण प्रस्तुत कर सकते हैं, पर उनको परिमाणात्मक रूप में प्रस्तुत करना हमारे लिए कठिन होता है। गुणात्मक घटनाओं की एक बहुत बड़ी कमी यह है कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी दृष्टिकोण से देखता और समझता है। यदि हम यह कहते हैं कि हमारे मकान का क्षेत्र (area) 'बड़ा' है तो इससे एक व्यक्ति मकान के क्षेत्र के विषय में जो 'अनुमान' लगाएगा वह दूसरे व्यक्ति के अनुमान से बिल्कुल भिन्न हो सकता है और तीसरे व्यक्ति का अनुमान इन दोनों व्यक्तियों से निराला हो सकता है। अतएव वास्तविकता का पता लगाना मुश्किल हो जाता है।

यद्यपि उपर्युक्त कठिनाई का सामना समाजशास्त्री को करना पड़ता है फिर भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव ही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि परिमाणात्मक और गुणात्मक तथ्यों के बीच का अन्तर अवैज्ञानिक है। यह भेद वास्तव में अध्ययन की प्रविधियों में होने वाली या न होने वाली उन्नति का ही द्योतक है। यदि प्रविधियाँ उन्नत स्तर की नहीं हैं तो हमारे लिए घटनाओं का गुणात्मक वर्णन करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं होता, पर यदि प्रविधियाँ उन्नतशील हैं तो उन्हीं घटनाओं का गणनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना हमारे लिए

10. "The difficulties, therefore, which appear to preclude the possibility of a true science of society, derive from our undeveloped technique and methodology of study and our consequent unfamiliarity with the data, rather than from inherent differences in the data themselves."—*Ibid.*, pp. 20-21.

सम्भव हो जाता है। अतः कमी स्वयं घटनाओं की नहीं, प्रविधियों (techniques) की होती है। इस प्रकार यदि हम किसी घटना का वर्णन 'गर्म', 'ठण्डा', 'लाल', 'पीला' आदि शब्दों का प्रयोग करके करें तो इनका अर्थ विभिन्न लोगों के लिए अलग-अलग होगा। पर वैज्ञानिक वर्णन की एक परमावश्यक शर्त यह है कि जो कुछ भी कहा जाए उसका सबके लिए एक ही अर्थ हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही विभिन्न प्रविधियों को विकसित करने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। इसलिए 'गर्म' या 'ठण्डे' को थर्मामीटर के पैमाने की सहायता से तथा 'लाल' या 'पीले' को रोशनी की लहरों (light waves) द्वारा अभिव्यक्त करने की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार सामाजिक मनोवृत्ति (social attitude) आदि गुणात्मक घटनाओं का नाप करने के लिए समाजशास्त्री विभिन्न प्रकार के पैमानों (scales) का प्रयोग आज करते हैं। इससे यह प्रमाणित हो गया है कि उचित प्रविधियों के उपलब्ध होने से गुणात्मक घटनाओं की भी परिमाणात्मक व्याख्या सम्भव है। वैसे भी वैज्ञानिक व्याख्या कितनी ही परिमाणात्मक (quantitative) क्यों न हो, उसमें गुणात्मक (qualitative) तत्त्व किसी-न-किसी रूप में अवश्य होगा। श्री मिटशेल (Mitchell) ने लिखा है कि "अत्यधिक संख्यात्मक (परिमाणात्मक) दृष्टिकोण वाले वैज्ञानिक की कृति में भी गुणात्मक विश्लेषण का अपना एक स्थान होगा। हमारे विचारों का क्षेत्र सदा ही हमारे नाप-तौलों से अधिक विस्तृत होगा; पूर्व-धारणाएँ (preconceptions), जो कि हमारे लक्ष्यों को, नई समस्याओं के सम्बन्ध में हमारी पहली झलक को, हमारे विस्तृत निष्कर्षीकरण (generalization) को आकार प्रदान करती हैं; वे सदैव गुणात्मक ही होंगी। वास्तव में, हम जैसे-जैसे अधिक विस्तृत, यथार्थ और निर्भर-योग्य नापों का प्रयोग करेंगे वैसे-वैसे गुणात्मक कृति (qualitative work) को स्वयं बल, क्षेत्र तथा रुचि प्राप्त होगी।"[11] पर इस कथन का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि गुणात्मकता विज्ञान का कोई प्रशंसनीय गुण है। इसके विपरीत विज्ञान की यथार्थता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अध्ययन-वस्तु को कितना अधिक परिमाणात्मक (quantitative) रूप में समझा सकता है। पर साथ ही यह भी स्मरणीय है कि विशेषकर नए विज्ञानों में गुणात्मकता या गुणात्मक दृष्टिकोण का पाया जाना स्वाभाविक ही है और इसलिए यह कोई आलोचना का विषय नहीं हो सकता। आलोचना तो तब उचित है जब वैज्ञानिक यह मान बैठता है कि गुणात्मक पद्धति ही उसके अध्ययन की एकमात्र पद्धति है और इसलिए उसका गुणात्मक वर्णन ही एकमात्र सम्भावित वर्णन है।[12] उसे तो गुणात्मक पद्धति व गुणात्मक वर्णन से

11. "...........Even in the work of the most statistically minded, qualitative analysis will keep a place. Always our thinking will cover a field larger than our measurements; the preconceptions that shape our ends, our first glimpres of new problems, our widest generalization, will remain qualitative in form. Indeed qualitative work will itself gain in power, scope and interest as we make use of wider, more accurate and more reliable measurements."—Wesley C. Mitchell, 'Quantitative Analysis in Economic Theory', *American Economic Review*, 15-12-1925.

12. "The qualitative worker, therefore, is not open to criticism for the mere fact of being qualitative in his approach, especially in the newer fields. ......But he is open to criticism when he contends that this is the only method applicable to his subject-matter, and that therefore his qualitative description represents the only description possible."—G. A. Lundberg, *op. cit.*, p. 24.

गणनात्मक प्रविधि एवं गणनात्मक वर्णन की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते जाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके विज्ञान की अधिकाधिक प्रगति उसकी इस जागरूकता व प्रयत्नशीलता पर ही निर्भर होगी।

(४) समरूपता का अभाव (Lack of Homogeneity)

सामाजिक घटनाओं की एक और विशेषता यह है कि कोई भी दो इकाइयाँ समान नहीं होतीं। इस समरूपता के अभाव के कारण भी वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग यथार्थ रूप में नहीं हो पाता है। पर समाज का गहन अध्ययन करने वाले समाजशास्त्री यह स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि समाज में समानताएँ और भिन्नताएँ दोनों ही निहित हैं (Society involves both likeness and differences)। समाज के निर्माण व व्यवस्था के लिए समानता का होना परमावश्यक है क्योंकि समानता के आधार पर ही सामाजिक सम्बन्ध पनपता है और सामाजिक सम्बन्धों से ही समाज का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, राम और श्याम का आपसी सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है, तो यह भी निश्चित है कि इन दोनों में किसी-न-किसी बात में अत्यधिक समानता है और उसी समानता के आधार पर उन दोनों की मित्रता इतनी गहरी है। हो सकता है कि दोनों ही अच्छे खिलाड़ी हों या सिनेमा के अत्यधिक शौकीन हों या दोनों ही जुआरी या शराबी हों। यह हो नहीं सकता कि किसी भी समानता के बिना ही उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया हो। जो बात राम और श्याम के लिए सच है, वही बात सामाजिक घटनाओं के किसी भी वर्ग के लिए सच होगी। सतर्क अध्ययन करने पर एक विशेष प्रकार की सामाजिक घटनाओं की विभिन्न इकाइयों में पाई जाने वाली समानता को ढूँढ़ा जा सकता है। सर्वश्री मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने लिखा है कि "यदि हम 'एक विश्व' (One world) की कल्पना को सत्य या वास्तविक रूप देना चाहते हैं तो उसके लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हम समग्र मानव-जाति की मौलिक समानता को स्वीकार कर लें।"[13]

साथ ही, सामाजिक जीवन में पायी जाने वाली विभिन्नताएँ भी कोई दोष नहीं हैं। यदि मानव-समाज में केवल समानता ही पाई जाती तो हम लोगों का सामाजिक जीवन भी उतना ही सीमित व संकुचित हो जाता जितना कि चींटियों और मधुमक्खियों का जीवन है। हम एक ऐसे समाज की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें कि केवल स्त्रियाँ या केवल पुरुष हों अथवा जिसमें कि सब लोग केवल किसान हों या सब लोग मजदूर हों या सब लोग केवल जज या केवल इंजीनियर या केवल शिक्षक हों। अतः सामाजिक घटनाओं की समरूपता या असमरूपता के चक्कर में न पड़कर सामाजिक वैज्ञानिकों को ऐसी उन्नतशील प्रविधियों को खोज निकालने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे कि सामाजिक जीवन में अन्तर्निहित समानता व असमानता दोनों का ही वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव हो सके।

यह तर्क भी गलत है कि भौतिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन अधिक यथार्थ इसलिए होता है क्योंकि भौतिक घटनाओं में समरूपता होती है। पूर्ण

13. "And if the struggling principle of 'one world' is to win out it must necessarily rest upon the recognition of the fundamental *likeness* of the entire human race."—R. M. MacIver and C. H. Page, *Society*, Macmillan and Co. Ltd., London, 1953, p. 7.

समरूपता की कल्पना ही अवास्तविक है। यहाँ तक कि मशीनों द्वारा बनी चीजों में भी पूर्ण समरूपता असम्भव है। प्रसिद्ध व्यवसायी श्री हेनरी फोर्ड (Henry Ford) ने अपनी आत्मकथा में इस सत्यता को अति रोचक ढंग से प्रमाणित किया है। उन्होंने लिखा है, "फोर्ड कम्पनी से निकलने वाली दो मोटरकारें एक-दूसरे के बिल्कुल समान होती हैं; यहाँ तक कि एक कार का कोई भी पुर्जा दूसरी में लगाया जा सकता है, परन्तु यदि कोई थोड़े दिन भी उनको चलावे तो तुरन्त समझ जाएगा कि कोई भी दो कारें एक-दूसरे के बिल्कुल समान नहीं हैं; उनकी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं और कोई भी चालक आँख मूँदकर उनका अन्तर बता सकता है।" अतः समरूपता का अभाव स्वाभाविक है और किसी भी विज्ञान में इसका होना उसकी वैज्ञानिक प्रकृति के प्रतिकूल नहीं है। इस अर्थ में समाजशास्त्र की समस्या अन्य किसी भी विज्ञान की समस्या से भिन्न नहीं है। क्या समरूपता के अभाव की समस्या का सामना एक डॉक्टर को भी करना नहीं पड़ता ? उसके कोई भी दो मरीज सर्वप्रकार से बिल्कुल समान नहीं होते। फिर भी वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण के आधार पर डॉक्टर उनका इलाज वैज्ञानिक ढंग से करता ही है और दवाओं के प्रति मरीज की प्रतिक्रिया को देखकर इलाज को बदलता भी है। इस पर भी कोई यह नहीं कहता कि डॉक्टर एक वैज्ञानिक नहीं है और वह वैज्ञानिक विधि को अपना नहीं रहा है। तो फिर इस आधार पर कि सामाजिक घटनाओं में समरूपता का अभाव है केवल समाजशास्त्री को या उसकी अध्ययन पद्धति को अवैज्ञानिक क्यों कहा जाए ?

(५) सामाजिक घटनाओं में सार्वभौमिकता का अभाव
(Lack of Universality in Social Phenomena)

कहा जाता है कि वैज्ञानिक अध्ययन के दृष्टिकोण से सामाजिक घटनाओं की एक और कमी यह है कि उनमें सार्वभौमिकता का अभाव है, जबकि सार्वभौमिकता भौतिक घटनाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है। उदाहरणार्थ, आग में जलाने की शक्ति सार्वभौम है, पानी की सड़ा देने की शक्ति और धूप की सुखा देने की शक्ति सार्वभौम है। पर यह गुण सामाजिक घटनाओं में देखने को नहीं मिलता है। उदाहरणार्थ, विद्यार्थी में अनुशासित व्यवहार करने का गुण या पत्नी में पतिव्रता का गुण अथवा बच्चों में आज्ञाकारिता का गुण सार्वभौम नहीं है। एक डकैत निर्दयी ही होगा ऐसी बात नहीं, वह दयालु भी हो सकता है। एक राजा रक्षक ही होगा इसकी कोई निश्चितता नहीं है, वह उत्तम श्रेणी का भक्षक भी हो सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि समाजशास्त्री सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध में जो भी निष्कर्ष निकालता है वह यथार्थ नहीं हो पाता है अथवा एक समाज के सम्बन्ध में जो ठीक होता है वह दूसरे समाज के सम्बन्ध में गलत साबित होता है। दूसरे शब्दों में, उसके द्वारा प्रतिपादित नियम उस तरह सार्वभौमिक सत्य नहीं होते जैसे प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों में होते हैं।

उपर्युक्त आरोप लगाने वाले विद्वान् शायद वैज्ञानिक नियम का गलत अर्थ लगाते हैं। वैज्ञानिक नियम वह नियम नहीं है जो कि सभी अवस्थाओं में और सभी स्थानों में समान रूप से लागू होगा ही। इस प्रकार सार्वभौम व अन्तिम (absolute) वैज्ञानिक नियम की कल्पना शायद ही की जा सकती है। वैज्ञानिक नियम सदैव कुछ निर्दिष्ट अवस्थाओं में (under certain given conditions) ही लागू होता है। इस विषय में इस अध्याय के आरम्भ में ही विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

(६) सामाजिक घटनाओं की गतिशील प्रकृति
(Dynamic Nature of Social Phenomena)

सामाजिक घटनाओं की एक और उल्लेखनीय विशेषता या कमी यह है कि इनमें अत्यधिक परिवर्तनशीलता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य या मानव-समूह के व्यवहार में तथा सामाजिक परिस्थितियों में, विशेषकर आधुनिक गतिशील समाजों में परिवर्तन अत्यधिक तेजी से होता रहता है। सामाजिक घटनाओं की इस अस्थिरता के कारण इनके विषय में कोई निश्चित निरीक्षण-परीक्षण करना अथवा निष्कर्ष निकालना यदि असम्भव नहीं तो अत्यधिक कठिन अवश्य ही होता है। आज जिस समूह के बारे में अध्ययन किया गया वह समूह अपनी उन्हीं विशेषताओं के साथ कुछ दिन बाद भी वैसा ही वना रहेगा इसकी कोई निश्चितता नहीं होती। यही वात व्यक्ति के व्यवहार के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है। मानव अपने अनुभव, शिक्षा, प्रशिक्षण आदि से वरावर सीखता रहता है और उसी के साथ-साथ उसके व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern) में परिवर्तन होता रहता है। इतना ही नहीं, कोई आकस्मिक घटना व्यक्ति और समाज दोनों के ही जीवन-व्यवस्था को रातोंरात विल्कुल पलट सकती है। उदाहरणार्थ, पन्द्रह-वीस कप चाय रोज पीने वाला एक प्रख्यात पुलिस अफसर अयोध्याजी दौरे पर जाता है, अकस्मात् एक पण्डा अयोध्याजी आकर कुछ चीज भगवान के नाम पर छोड़ने की परम्परा को याद दिलाता है, और पुलिस अफसर जाने-पहचाने सव आत्म-परिजन, बन्धु-बान्धव, यहाँ तक कि अपनी पत्नी को भी आश्चर्यचकित करने वाला निर्णय ले लेता है—चाय छोड़ देता है। सव लोग यह सोचते थे कि उस पुलिस अफसर के लिए दुनिया को छोड़ना सम्भव है, पर चाय को नहीं, वही सव लोग अव उसके विषय में सोचते हैं कि जो चाय छोड़ सकता है वह सव-कुछ छोड़ सकता है—मानव-मस्तिष्क का क्या ठिकाना! इसीलिए अव उस पुलिस अफसर के 'अपने लोगों' का उनसे विनम्र निवेदन यही है कि वे और कहीं दौरे पर जाएँ, पर अयोध्याजी न जाएँ—क्या मालूम दोवारा वहाँ जाने पर किसे त्याग आएँ। यही वात मानव-समाज के वारे में भी सच है। अव तक जो समाज एक हँसता-खेलता संगठित समाज है, रातोंरात बाढ़ या भूकम्प का शिकार बन वही समाज एक हृदय-स्पर्शी विघटित समाज के रूप में बदल सकता है। इस प्रकार की परिवर्तन-शीलता के फलस्वरूप वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य कठिन हो जाता है। श्री जॉन एच० मैज (John H. Madge) ने लिखा है, "यह सच है कि समाजशास्त्री, भौतिक विज्ञान-वेत्ता के समान अपनी प्राक्कल्पना (hypothesis) को वैषयिक परीक्षक के आधार पर अन्तिम रूप से न कभी स्वीकार कर सकेगा और न उसका कभी तिरस्कार ही, और न ऐसा प्रमाण प्रस्तुत कर सकेगा जो इन अस्पष्ट भावनाओं तथा उद्देश्यों से परे हो।" क्योंकि इस समय उपलब्ध तथ्यों के आधार पर जो कुछ सच या झूठ है कल को उन्हीं तथ्यों में परिवर्तन हो जाने पर हमारा परिणाम या निष्कर्ष विल्कुल उलट सकता है।

ऊपरी तौर पर इस तर्क में पर्याप्त बल मालूम पड़ता है। पर परिवर्तनशीलता का गुण तो भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं में भी देखने को मिलता है। पर परि-वर्तनशीलता का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि सामाजिक घटनाएँ अव्यवस्थित, आकस्मिक और अनियमित रूप में घटित होती रहती हैं। सभ्य समाजों की वात तो दूर रही, जंगली समाज में भी इस प्रकार की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। थोड़ा-सा सतर्क निरीक्षण करने पर यह स्पष्टतः पता चलता है कि परिवर्तनशीलता

के बीच भी सामाजिक घटनाओं में निश्चितता, क्रमबद्धता व नियमितता होती है जिसके कारण इनकी भी वैज्ञानिक अध्ययन उसी रूप में सम्भव है जिस रूप में कि प्राकृतिक या भौतिक घटनाओं का।

(७) सामाजिक घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती (Unpredictability of Social Phenomena)

पूर्व-ज्ञान या भविष्य-दृष्टि विज्ञान की कसौटी है। वैज्ञानिक नियम हमें इस ज्ञात का ज्ञान करवाते हैं कि भविष्य की सम्भावित प्रक्रियाएँ किस प्रकार की होंगी। कहा जाता है कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की होती है कि इनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं होता। सामाजिक घटनाओं की जटिलता, अमूर्तता, प्रातीतिकता, गुणात्मकता, असमरूपता और परिवर्तनशीलता ये सब ऐसी विशेषताएँ हैं जो कि भविष्यवाणी करने की शक्ति को अत्यधिक कम कर देती हैं। श्री जॉन ए० मैज (John A. Madge) ने लिखा है कि एक बात, जिस पर सर्वश्री कॉम्ट और स्पेंसर से लेकर वर्तमान समय के वैज्ञानिक तक सभी एकमत हैं, यह है कि भौतिक व प्राकृतिक घटनाओं की तुलना में मानवीय व्यवहार के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना कहीं अधिक कठिन है। सामाजिक घटनाओं की इस अनिश्चितता के दो विपरीत कारण बताए जाते हैं—(१) कुछ विद्वानों के मतानुसार मानवीय व्यवहार स्वयं अपने चारों ओर की परिस्थितियों से भी पूर्णतया प्रभावित नहीं होता; मानव में स्वयं सोचने-विचारने की शक्ति होती है। अतः वह किसी परिस्थिति विशेष में सदा एक-सा व्यवहार नहीं करता। (२) अन्य विद्वानों का मत यह है कि मानवीय व्यवहार स्वतन्त्र न होकर विशिष्ट घटनाओं से प्रभावित होता है, पर ये घटनाएँ स्वयं ही इतनी विविध और जटिल होती हैं कि उनका प्रभाव मानवीय व्यवहार पर क्या और कितना होगा इस सम्बन्ध में कोई भी भविष्यवाणी करना असम्भव ही होता है। यही कारण है कि मानवीय व्यवहार भी अनिश्चित एवं पूर्वकल्पना के अयोग्य बन जाता है। इतना ही नहीं, सामाजिक घटनाएँ अत्यधिक जटिल होती हैं, अतः मानवीय व्यवहारों पर उनके वास्तविक प्रभावों को जानना भी कठिन होता है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति के व्यवहारों पर उसके अपने आन्तरिक गुण, परिवार, पड़ोस, शिक्षक, धर्म, प्रथा, परम्परा और ऐसे ही असंख्य तथ्यों का प्रभाव हो सकता है और यह बताना हमारे लिए प्रायः असम्भव-सा होता है कि इनमें से किस तथ्य का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर कितना पड़ता है। अतः इन असंख्य तथ्यों में सन्तुलन (balancing) कर सामाजिक घटना के बारे में भविष्यवाणी करना बहुत ही कठिन कार्य होता है। उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं में भौतिक घटनाओं की अपेक्षा चूँकि तेजी से परिवर्तन होता रहता है, इस कारण भी उनके विषय में हमारी पूर्व-कल्पना अनिश्चित ही रह जाती है।

मानवीय व्यवहारों के सम्बन्ध में आधुनिक समय में जो मनोवैज्ञानिक अध्ययन हुए हैं उनसे यह पता चलता है कि उपर्युक्त आरोप भी निराधार है। वास्तव में आरोप लगाने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि वैज्ञानिक अध्ययन के लिए जिन मानवीय व्यवहारों या तथ्यों को चुना जाता है वे व्यक्तिगत व्यवहार (individual behaviour) नहीं हैं अपितु अधिकांशतः सामूहिक व्यवहार होते हैं और सामूहिक या समूह-व्यवहार (collective or group behaviour) में अनिश्चितता, परिवर्तनशीलता आदि की विशेषता इतनी अधिक नहीं होती कि उसके सम्बन्ध में हम कोई भविष्यवाणी कर ही नहीं सकते। साथ ही, हमें यह भी भूल नहीं जाना चाहिए कि भविष्यवाणी करने

की शक्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि एक विज्ञान जो कुछ भी पूर्व-कल्पना कर रहा है वह सदा के लिए और समस्त परिस्थितियों में ठीक ही होगी। ऐसी क्षमता भौतिक विज्ञान भी नहीं रखते। एक प्राकृतिक या भौतिक वैज्ञानिक यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता है कि कब वर्षा होगी, कब भूकम्प आएगा, कब तूफान या ज्वार-भाटे का प्रकोप होगा अथवा बच्चा किस समय पैदा होगा, बच्चा लड़का होगा या लड़की, अथवा रोग के आरम्भ होते ही मरीज की परीक्षा कर डॉक्टर यह नहीं बता सकता कि वह मर ही जाएगा। जो कुछ वह कहता है वह सच हो सकता है, पर जो कुछ वह कहता है वह झूठ भी हो सकता है। अर्थात् उसकी भविष्यवाणी में या पूर्व-कल्पना में एक 'शायद' का तत्त्व (element of probability) सदैव ही विद्यमान रहेगा और जो कुछ वह कहता है उसका ठीक या गलत होना कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। आज का पानी कल भी पानी रहेगा, यह भविष्यवाणी तब ही सही प्रमाणित होगी 'यदि' कल को अत्यधिक ठण्डक या अत्यधिक गर्मी न हुई। अत्यधिक ठण्डक होने पर पानी फिर पानी न रहकर बर्फ हो जाएगा या अत्यधिक गर्मी होने पर भाप बनकर उड़ जाएगा। इसीलिए प्रत्येक विज्ञान की भविष्यवाणी में 'अन्य अवस्थाएँ यदि समान रहीं' (other conditions/things remaining the same)—यह शर्त अनिवार्यतः होती है और होनी भी चाहिए।

वास्तविकता तो यह है कि भविष्यवाणी करने की शक्ति विज्ञान के अध्ययन-वस्तु की प्रकृति पर नहीं अपितु इस बात पर निर्भर करती है कि वह विज्ञान घटनाओं का अध्ययन करने के लिए कितनी उन्नतशील प्रविधियों को विकसित करने में सफल हुआ है। अगर समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के विषय में भौतिक विज्ञानों की तुलना में भविष्यवाणी करने की क्षमता कम रखता है तो उसका कारण स्वयं सामाजिक घटनाओं में अन्तर्निहित कोई कमी नहीं है। वास्तव में उन्नतशील प्रविधियों की कमी इन त्रुटि-विच्युतियों के लिए अधिक उत्तरदायी हैं। पर इस ओर प्रयत्न जारी है, और इसीलिए उज्ज्वल भविष्य की आशा स्वत: ही की जाती है। वह दिन बहुत दूर नहीं जबकि हम भी सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में बहुत-कुछ निश्चित भविष्यवाणी कर सकेंगे। यही हमारी भविष्यवाणी है!

---

75 २

वैज्ञानिक पद्धति

(SCIENTIFIC METHOD)

मनुष्य सभ्य कहलाता है क्योंकि उसके पास ज्ञान का भण्डार है। इस भण्डार का स्रोत विज्ञान है और विज्ञान का सम्बन्ध, जैसा कि श्री स्टुअर्ट चेज़ (Stuart Chase) ने लिखा है, वैज्ञानिक पद्धति से है, न कि अध्ययन-विषय से।[1] इस अर्थ में वैज्ञानिक पद्धति वह प्रशस्त-पथ है जिसपर चलकर मानव सत्य के द्वार तक पहुँच सकता है, ज्ञान की ज्योति जलाकर अज्ञानता के अन्धकार को दूर भगा सकता है। यह पथ लम्बा और कुछ कठिन भी है, पर अन्य कोई पथ भी तो नहीं है। छोटे-मोटे अटकलपच्चू प्रयत्न सत्य के निकट नहीं, सत्य से दूर ले जाते हैं। इसीलिए श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने कहा है कि "सत्य तक पहुँचने के लिए कोई संक्षिप्त पथ नहीं है। विश्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वैज्ञानिक पद्धति के द्वार से ही गुजरना पड़ेगा।"[2] यह द्वार एक मुक्त-द्वार है, और वह इस अर्थ में कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कोई भी वैज्ञानिक किसी भी प्रकार के विषय के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए कर सकता है। दूसरे रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग केवल प्राकृतिक या भौतिक चीजों के विषय में अध्ययन करने के लिए ही किया जा सकता है—यह भ्रान्त धारणा है। अध्ययन-विषय कुछ भी हो, वैज्ञानिक पद्धति समान रूप से उपयोगी सिद्ध होती है। यही कारण है कि आज सामाजिक घटनाओं (social phenomena) के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का ही प्रयोग हो रहा है। यह सच है कि प्राकृतिक या भौतिक जगत् के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग से अधिक यथार्थ (exact) ज्ञान की प्राप्ति की सम्भावना होती है, फिर भी सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त फल कम आशाप्रद नहीं रहे हैं। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम वैज्ञानिक पद्धति के अर्थ को सही तौर पर समझ लें।

वैज्ञानिक पद्धति का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Scientific Method)

समाजशास्त्र के जन्मदाता श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) का विश्वास है कि समग्र ब्रह्मांड (whole universe) 'स्थिर प्राकृतिक नियमों' (invariable

1. "Science goes with the method, not with the subject-matter." —Stuart Chase, *The Proper Study of Mankind*, 1956, p. 6.

2. "There is no short-cut to truth; no way to gain knowledge of the universe except through this gateway of scientific method."—Karl Pearson, *The Grammar of Science*, A. & C. Black, London, 1911, p. 1.

natural laws) द्वारा व्यवस्थित तथा निर्देशित होता है और यदि इन नियमों को हमें समझना है तो आध्यात्मिक (theological) या तात्त्विक (metaphysical) आधारों पर नहीं, अपितु विज्ञान की विधि अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है। श्री कॉम्ट के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति में धर्म, दर्शन या कल्पना का कोई भी स्थान नहीं है। इसके विपरीत निरीक्षण (observation), परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं।

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने वैज्ञानिक पद्धति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सामाजिक वैज्ञानिकों में यह विश्वास पुष्ट हो गया है कि उनके सम्मुख जो समस्याएँ हैं उनका हल, यदि होना है तो, सामाजिक घटनाओं के निष्पक्ष एवं व्यवस्थित निरीक्षण, सत्यापन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा ही होगा। इसी दृष्टिकोण को, उसके अति ठोस एवं सफल रूप में, मोटे तौर पर वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है।"[3] इस प्रकार श्री लुण्डबर्ग के अनुसार तथ्यों के व्यवस्थित निरीक्षण, वर्गीकरण तथा विश्लेषण व निरूपण को ही वैज्ञानिक पद्धति कहना चाहिए। इस अर्थ में वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम एक विषय से सम्बद्ध तथ्यों (facts) को वास्तविक निरीक्षण द्वारा एकत्रित किया जाता है; इसके पश्चात् इस प्रकार एकत्रित तथ्यों का उनकी समानता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है और अन्त में उनका विश्लेषण कर एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। संक्षेप में यही, श्री लुण्डबर्ग के अनुसार, वैज्ञानिक पद्धति है।

श्री थाउलेस (Thouless) का इस सम्बन्ध में विचार यह है कि "वैज्ञानिक पद्धति सामान्य नियमों की खोज के लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु प्रविधियों की एक व्यवस्था (system) है जो कि विभिन्न विज्ञानों में कई बातों में भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक सामान्य प्रकृति (general character) को बनाए रखती है।"[4] इस प्रकार श्री थाउलेस ने प्रविधियों की एक व्यवस्था (a system of techniques) को वैज्ञानिक पद्धति माना है और इस पद्धति का लक्ष्य सामान्य नियमों को खोज निकालना होता है। साथ ही श्री थाउलेस ने इस बात पर बल दिया है कि वैज्ञानिक पद्धति को हर अवस्था में एक-सा मान लेना गलत होगा। प्रत्येक विज्ञान की अपनी निजी आवश्यकता के अनुसार इस पद्धति में (अथवा प्रविधियों की व्यवस्था में) कुछ हेर-फेर हो जाना अति स्वाभाविक है।

परन्तु श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) का कथन है कि "वैज्ञानिक पद्धति विज्ञान की सभी शाखाओं में एक-जैसी होती है।······सभी विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है, न केवल सामग्री में। वह व्यक्ति जो किसी भी तरह के तथ्यों (facts) का वर्गीकरण करता है, उनके पारस्परिक सम्बन्ध को देखता है तथा उनके अनुक्रमों

---

3. "Social scientists are committed to the belief that the problems which confront them are to be solved, if at all, by judicious and systematic observation, verification, classification, and interpretation of social phenomena. This approach in its most rigorous and successful form is broadly designated as the scientific method."—George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans, Green and Co., New York, 1951, p. 1.

4. "Scientific method is a system of techniques (different in many respects in different sciences, although retaining the same general character) for attaining the end of discovering general Laws."—R. N. Thouless, *The Study of Society*, 1956, p. 125.

(sequences) का वर्णन करता है, वह वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग कर रहा है और एक वैज्ञानिक है। ये तथ्य (facts) मानव के पिछले इतिहास से सम्वद्ध हो सकते हैं या हमारी महा-नगरियों की सामाजिक सांख्यिकी (आँकड़ों) से या अति दूर की ताराओं (stars) की दुनिया से……। स्वयं तथ्य ही विज्ञान के निर्माता नहीं हैं, अपितु इन तथ्यों का अध्ययन करने के लिए जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है, वह पद्धति ही विज्ञान की निर्मात्री है।"[5]

वैज्ञानिक पद्धति के आवश्यक तत्त्व (Essential Elements of Scientific Method)

सर्वश्री मार्टिनडाल तथा मोनाकेसी (Martindale and Monachesi) ने लिखा है, "विज्ञान भी विचार का एक तरीका है, और अन्य सभी विचारों की तरह यह सभी समस्याओं के प्रत्युत्तर में ही उदय होता है। यह अन्य सभी विचारों से प्रधानतः पद्धति में ही भिन्न है। विज्ञान की पद्धति की विशेषता यह है कि यह (१) निरीक्षण (observation) पर बल देती है; (२) विचारों की व्यवहारतः या वास्तविक परीक्षा करने का प्रयत्न करती है; (३) उन प्रयोगों (experiments) या आदर्श परिस्थितियों (model situations) का विकास करती है जिनसे उनके विचारों की परीक्षा हो सके; (४) ऐसे नए उपकरणों (tools) का आविष्कार करती है जिनसे अधिक निश्चित रूप में निरीक्षण और अधिक यथार्थ नाप सम्भव हो; (५) अपने अध्ययन से वैज्ञानिकों के निजी आदर्शात्मक मूल्यांकनों का दृढ़ता से बहिष्कार करती है और इस समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है कि घटनाएँ वास्तविक रूप में कैसे घटित होती हैं, न कि क्यों होती हैं या क्या होना चाहिए।"[6]

श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने और भी स्पष्ट रूप में वैज्ञानिक पद्धति के आवश्यक तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के आवश्यक तत्त्व इस प्रकार हैं—(अ) तथ्यों का सतर्क व यथार्थ वर्गीकरण तथा उनके

---

5. "The scientific method is one and the same in all branches…… The unity of all science consists in its method, not in its material alone. The man who classifies facts of any kind whatever, who sees their mutual relation and describes their sequences, is applying the scientific method and is a man of science. The facts may belong to the past history of mankind, to the social statistics of our great cities, to the atmosphere of the most distant stars……. It is not the facts themselves which make science, but the method by which they are dealt with."—Karl Pearson, *op. cit.*, pp. 10, 12.

6. "Science too is a mode of thought, and like all thinking it arises in response to problems. It differs from the other modes of thought primarily in its method. Among the methods characteristic of the science are (1) the emphasis it places upon the observation, (2) the attempt to test its ideas in practice, (3) the development of experiment, of model situations that may serve to test its ideas, (4) the invention of new instruments that permit more precise observation and more exact measurement, (5) the rigorous exclusion of the scientists' evaluations from the study, and the concentration on the problem of how things actually happen rather than on why they happen or what ought to happen."—D. Martindale and E. Monachesi, *Elements of Sociology*, Harper and Bros., New York, 1951, p. 24.

सहसम्बन्धों एवं अनुक्रमों का निरीक्षण, (ब) सृजनात्मक कल्पना की सहायता से वैज्ञानिक नियमों की खोज; तथा (स) आत्म-आलोचना तथा समस्त वैज्ञानिकों के लिए समान रूप से प्रामाणिकता की अन्तिम कसौटी।"[7]

वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताएँ
(Characteristics of Scientific Method)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम वैज्ञानिक पद्धति की निम्नलिखित पाँच विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) **सत्यापनीयता** (Verifiability)—वैज्ञानिक पद्धति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का किसी भी समय सत्यापन (जाँच) किया जा सकता है। वास्तव में वैज्ञानिक पद्धति किसी भी व्यक्ति की निजी पद्धति नहीं होती है और इसका प्रयोग कोई भी वैज्ञानिक किसी भी समय व किसी भी प्रकार के अध्ययन-विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कर सकता है। इसीलिए यदि किसी वैज्ञानिक को सन्देह हो कि किसी विषय के सम्बन्ध में उसके पहले के किसी वैज्ञानिक द्वारा निकाला गया निष्कर्ष ठीक है अथवा नहीं, तो वह, वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर उस निष्कर्ष के सत्यापन की जाँच या पुनःपरीक्षा कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गन्दी बस्तियाँ (slums) बाल-अपराधी बनाने में सहायक होती हैं। परन्तु यदि आपको हमारे इस निष्कर्ष पर सन्देह हो तो आप भी हमारी तरह वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर इस बात की जाँच स्वयं कर सकते हैं कि हमारा निष्कर्ष ठीक है या गलत। अतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति स्वयं कोई रहस्य नहीं है। जो तरीका रहस्यमय हो वह जादुई तरीका या अलौकिक विधि हो सकती है, उसे वैज्ञानिक पद्धति नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक पद्धति का कार्य सन्देह को मिटाना है, न कि सन्देह को बढ़ाना। त्रुटिपूर्ण पद्धति ही सन्देहवर्धक होती है, वैज्ञानिक पद्धति तो पुनःपरीक्षा की कसौटी पर सदा खरी उतरती है। श्री जेम्स लूथर (James Luther) ने लिखा है कि जिस पद्धति द्वारा पुनःपरीक्षा सम्भव नहीं, वह वैज्ञानिक पद्धति नहीं हो सकती, वह या तो दार्शनिक अथवा काल्पनिक पद्धति होती है।

(२) **निश्चयात्मकता** (Definiteness)—वैज्ञानिक पद्धति का एक और उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि इसमें अस्पष्टता या अनिश्चितता का बिल्कुल ही अभाव होता है। वैज्ञानिक पद्धति एक वैज्ञानिक के लिए कुछ और दूसरे के लिए और कुछ हो, ऐसी बात नहीं है—यह तो पूर्णतया सुनिश्चित होती है जिसका अनुसरण करके कोई भी वैज्ञानिक अपनी आवश्यकतानुसार किसी भी समय सत्य की खोज कर सकता है। वैज्ञानिक पद्धति किन्हीं भी अनिश्चित या सन्देह उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को अपने में स्थान नहीं देती है क्योंकि यह वैज्ञानिक भावना के प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ, यदि हम आवेग में आकर यह कहते हैं कि सभी गरीब चोर होते हैं तो हमारा यह कथन वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल नहीं होगा क्योंकि इस कथन में निश्चितता का अभाव है।

7. "The scientific method is marked by the following features—(a) careful and accurate classification of facts and observation of their correlation and sequences, (b) the discovery of scientific laws by aid of the creative imagination, (c) self-criticism and the final touch-stone of equal validity for a normally constituted minds."—Karl Pearson, *op. cit.*, p. 6.

इसी प्रकार यदि हम एक सांप को देखकर यह कहते हैं कि वह सांप काफी लम्बा था, तो भी हमारा यह कथन वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल नहीं होगा। इसके स्थान पर अगर हम यह कहते हैं कि सांप ४ फुट २ इंच लम्बा था तो हमारे इस कथन से सांप की लम्बाई का एक वास्तविक व निश्चित ज्ञान हमें होगा और वह वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल कहा जा सकेगा। अतः हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति स्पष्ट तथा सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त करने की विधि है; अस्पष्टता या अनिश्चितता के अन्धकार में भटकाने की पद्धति नहीं।

(३) **वस्तुनिष्ठता** (Objectivity)—वैज्ञानिक पद्धति में वस्तुनिष्ठता का गुण पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पद्धति वह पद्धति है जो कि अपने अध्ययन-विषय को जैसा वह है ठीक उसी रूप में (as it is) प्रस्तुत करती है और ऐसा करते हुए वह अपने को समस्त पूर्वधारणाओं, विशिष्ट विचारों, पक्षपातपूर्ण भावनाओं आदि से पूर्णतया विमुक्त रखती है। वैज्ञानिक पद्धति का काम विषय से सम्बद्ध वास्तविक तथ्यों (actual facts) को उसके मूल रूप में एकत्रित करना है जिससे कि विषय का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट रूप में प्रगट हो—चाहे वह स्वरूप अच्छा हो या बुरा, सुन्दर हो या कुरूप, अनुकरणीय हो या वर्जनीय। अत्यधिक तटस्थता वैज्ञानिक पद्धति की एक उल्लेखनीय विशेषता है और इसीलिए वह किसी भी विषय पर मनमाना रंग चढ़ाकर या उसे तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत नहीं करती है। वैज्ञानिक पद्धति स्वयं वास्तविकता के सम्मुख झुक जाती है, न कि वास्तविकता को झुका देती है। वास्तविकता को वास्तविक रूप में प्रकट करना ज्ञान-प्राप्ति की या सत्य की खोज की प्रथम सीढ़ी है—यही वैज्ञानिक पद्धति की मान्यता है। प्रो० उल्फ (Wolfe) ने लिखा है, "समस्त ठोस ज्ञान की प्रथम आवश्यकता नग्न तथ्यों को प्राप्त करने और वाह्य स्वरूप मात्र से अथवा प्रचलित विचार से या अपनी स्वयं की इच्छाओं से प्रभावित न होने का दृढ़ संकल्प एवं योग्यता है।"[8] अतः वैज्ञानिक पद्धति वह साधन है जिसकी सहायता से हम वस्तुनिष्ठ तथ्यों (objective facts) को एकत्रित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मनिष्ठता (व्यक्तिनिष्ठता) (subjectivity) से अपने को दृढ़तापूर्वक दूर रखना वैज्ञानिक पद्धति की एक उल्लेखनीय विशेषता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से व्यक्तिनिष्ठ घटनाओं (subjective phenomena) का अध्ययन ही नहीं किया जा सकता; इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी प्रकार की घटना (चाहे वह वस्तुनिष्ठ हो या व्यक्तिनिष्ठ) के अध्ययन, विवेचन व विश्लेषण में व्यक्तिनिष्ठ आधारों या व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाना वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल नहीं है। वैज्ञानिक पद्धति का तो 'धर्म' व्यक्तिनिष्ठ घटनाओं का भी वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से अध्ययन करना व उनके सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करना है।

(४) **सामान्यता** (Generality)—वैज्ञानिक पद्धति में सामान्यता की विशेषता देखने को मिलती है। इस विशेषता के दो अर्थ हैं—**प्रथम** तो यह कि वैज्ञानिक पद्धति विज्ञान की सभी शाखाओं में 'सामान्य' होती है। यह नहीं कि एक शाखा के लिए वैज्ञानिक पद्धति एक तरह की हो तो दूसरी शाखा के लिए दूसरी तरह की। इस

---

8. The first requisite of all sound knowledge is the determination and ability to get at the naked facts and not to be influenced by mere appearance or by prevalent notion or by one's own wishes."—A. Wolfe, *Essentials of Scientific Method*, p. 15.

सम्बन्ध में श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) के कथन का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं जिसमें कि उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि वैज्ञानिक पद्धति विज्ञान की सभी शाखाओं में एक-जैसी होती है।......सभी विज्ञानों की एकता उनकी पद्धति में है, न केवल सामग्री में। सामान्यता की इस विशेषता के कारण ही वैज्ञानिक पद्धति में निश्चितता का गुण पनप सका है क्योंकि विज्ञान की सभी शाखाओं में वैज्ञानिक पद्धति सामान्य होने के कारण वैज्ञानिक को यह छूट नहीं मिलती है कि वह अपनी अध्ययन-पद्धति को मनमाने ढंग से तोड़-मोड़कर व्यवहार में लाए।

सामान्यता का दूसरा अर्थ यह है कि वैज्ञानिक पद्धति विषय के सम्बन्ध में एक सामान्य सत्य को ढूँढ़ निकालने की विधि है। और भी स्पष्ट कहें तो वैज्ञानिक पद्धति द्वारा हम जिस सत्य को ढूँढ़ निकालते हैं या जिस नियम का प्रतिपादन करते हैं वह किसी एक विषय या घटना (phenomenon) के अन्तर्गत किसी एक इकाई के सम्बन्ध में नहीं होता अपितु सभी इकाइयों के सम्बन्ध में सामान्य होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वैज्ञानिक पद्धति हमें किसी इकाई के विषय में अध्ययन करने से रोकती है, अपितु इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि इकाइयों का अध्ययन सम्पूर्ण (whole) समूह के सन्दर्भ में तथा उसके एक प्रतिनिधि के रूप में किया जाता है। इसीलिए जो निष्कर्ष निकाला जाता है या नियम बनाया जाता है वह किसी इकाई-विशेष पर नहीं अपितु उस समूह पर सामान्य रूप से लागू होता है जिसकी कि वह इकाई या इकाइयाँ एक अभिन्न अंग हैं। उदाहरणार्थ, यदि, प्राथमिक स्कूलों के कुछ अध्यापकों के आर्थिक जीवन का अध्ययन कर उनकी दयनीय आर्थिक दशा के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले गए हैं तो वह केवल उन अध्यापकों के विषय में ही सच न होंगे जिनका कि अध्ययन हमने किया है अपितु वह सामान्य रूप से प्राथमिक स्कूलों के सम्पूर्ण अध्यापक-वर्ग के विषय में भी सामान्यत: सच माने जाएँगे क्योंकि जिन अध्यापकों का अध्ययन किया गया है वे कोई पृथक् इकाइयाँ नहीं बल्कि अपने सम्पूर्ण समूह या वर्ग के प्रतिनिधि या उस वर्ग के अभिन्न अंग व इकाइयाँ हैं। पर सामान्यता की यह विशेषता इस बात की द्योतक नहीं है कि वैज्ञानिक नियम सभी परिस्थितियों तथा सभी इकाइयों पर बिना किसी शर्त के लागू किए जा सकते हैं। इस सामान्यता का अर्थ केवल इतना ही है कि अन्य अवस्थाएँ या परिस्थितियाँ यदि पूर्ववत् बनी रहें (other conditions/things remaining the same) तो वैज्ञानिक नियम सामान्य रूप में लागू होंगे।

(५) **पूर्वकथनीयता** (Predictability)—वैज्ञानिक पद्धति में भविष्यवाणी करने की क्षमता (पूर्वकथनीयता) निहित होती है। यह क्षमता विज्ञान की एक बहुत बड़ी विशेषता की परिचायक है। किसी भी विज्ञान के लिए यही स्वाभाविक भी है क्योंकि वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से किसी भी घटना के कार्य-कारण सम्बन्धों (cause and effect relationships) को जाना जा सकता है और यह सम्बन्ध स्पष्ट होते ही उस घटना (phenomenon) की भविष्य-गतिविधि के विषय में संकेत करना कठिन नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि वास्तविक अध्ययन के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में जनसंख्या बढ़ने का एक कारण बाल-विवाह या जल्दी विवाह है तो हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि यदि बाल-विवाह या शीघ्र-विवाह की प्रथा को रोका न गया तो भारत में जनसंख्या की वृद्धि को भी रोकना कठिन होगा। इसी प्रकार यदि हम औद्योगीकरण (industrialization) और संयुक्त परिवार के विघटन के बीच वास्तविक अध्ययन के द्वारा किसी कार्य-कारण सम्बन्ध को

ढूँढ़ निकालने में सफल होते हैं तो हमारे लिए संयुक्त परिवार के भविष्य का पूर्वानुमान लगाना सरल होगा। उस अवस्था में हम यह कह सकते हैं कि भविष्य में देश में औद्योगीकरण के विस्तार के साथ-साथ संयुक्त परिवार का विघटन भी अवश्यम्भावी है।

वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरण
(Main Steps of Scientific Method)

वैज्ञानिक पद्धति का लक्ष्य सत्य को ढूँढ़ निकालना है। पर इस लक्ष्य तक एकाएक पहुँचा नहीं जा सकता। सत्य तक पहुँचने के लिए कई स्तरों में से गुजरना होता है। ऐसा इसलिए है कि वैज्ञानिक पद्धति कोई मनमाने ढंग की विधि या अव्यवस्थित तरीका नहीं है। वैज्ञानिक अध्ययन में आरम्भ से लेकर अन्त तक अत्यन्त सुचिन्तित व व्यवस्थित ढंग से कार्य करना पड़ता है। स्वभावतः ही इसमें एक स्तर से दूसरे स्तर को, दूसरे से तीसरे स्तर को और इसी क्रम से आगे बढ़ना पड़ता है। इन्हीं स्तरों को वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरण कहा जाता है। इन चरणों (steps) या स्तरों (stages) का उल्लेख विभिन्न विद्वानों ने बहुत कम हेर-फेर के साथ अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। कुछ विद्वानों के विचारों का उल्लेख करके हम इस बात को और भी स्पष्ट रूप में समझा सकते हैं। श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) ने लिखा है कि वैज्ञानिक पद्धति अथवा निश्चयी अथवा स्पष्ट (positive) प्रणाली में हम सर्वप्रथम अध्ययन-विषय को चुनते हैं और फिर निरीक्षण (observation) द्वारा उस विषय से सम्बद्ध समस्त स्पष्ट तथ्यों (facts) को एकत्रित करते हैं और इसके बाद इन तथ्यों का, उनकी सामान्य विशेषताओं के आधार पर, वर्गीकरण करते हैं और अन्त में तथ्यों का विश्लेषण व परीक्षण द्वारा उस विषय से सम्बद्ध कोई निष्कर्ष निकालते या नियमों को प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार श्री कॉम्ट के अनुसार (अ) विषय का चुनाव, (ब) निरीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले तथ्यों का संकलन, (स) तथ्यों का वर्गीकरण, (द) तथ्यों का परीक्षण और (य) नियमों का प्रतिपादन वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरण हैं।[9]

श्री जार्ज ए० लुण्डवर्ग (George A. Lundberg) ने वैज्ञानिक पद्धति के निम्नलिखित चार चरणों का उल्लेख किया है—(१) कार्यनिर्वाही (कार्यकर) प्राक्-कल्पना (The working hypothesis), (२) तथ्यों का निरीक्षण तथा लेखन (The observation and recording of data), (३) संकलित तथ्यों का वर्गीकरण व संगठन (The classification and organization of the data collected) और (४) सामान्यीकरण (सामान्य नियम बना लेना) (Generalization)।[10]

प्रो० यंग (Young) ने भी वैज्ञानिक पद्धति के चार चरणों का उल्लेख किया है—(क) कार्यकर प्राक्कल्पना का निर्माण (Formulation of a working hypothesis), (ख) तथ्यों का निरीक्षण, एकत्रीकरण तथा लेखन (Observation, collection and recording of data), (ग) लिखित तथ्यों का श्रेणियों और/या अनुक्रमों में वर्गीकरण (Classification of recorded data into series and/or sequences) तथा (घ) वैज्ञानिक सामान्यीकरण तथा नियमों का प्रतिपादन

9. *See* Auguste Comte, *Positive Philosophy*, translated by H. Martineau, Bell and Sons, London.

10. George A. Lundberg, *op. cit.*, pp. 9-11.

(Scientific generalization and formulation of laws) ।[11]

वैज्ञानिक पद्धति के उपरोक्त चरणों को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विषय में कुछ विस्तारपूर्वक विवेचन कर लिया जाए। यह विवेचन इस प्रकार है :—

(१) कार्यनिर्वाही प्राक्कल्पना (उपकल्पना) का निर्माण (Formulation of Working Hypothesis)

सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक घटनाओं या समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन है और कोई भी अध्ययन तब तक वैज्ञानिक नहीं हो सकता जब तक उसमें वैज्ञानिक पद्धति को काम में न लाया जाए। इस वैज्ञानिक पद्धति का सदुपयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक हमें अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ आरम्भिक ज्ञान एवं सामान्य अनुभव न हो। इस आरम्भिक ज्ञान व अनुभव के आधार पर हम अपने अध्ययन-विषय के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में एक सामान्य अनुमान पहले से ही लगा सकते हैं। यह सामान्य **अनुमान** सर्वेक्षणकर्त्ता अथवा शोधकर्त्ता के लिए एक मार्ग-निर्देशक बन जाता है और शोधकर्त्ता का ध्यान कुछ निश्चित व आवश्यक तथ्यों पर ही केन्द्रित करके अनुसन्धान की दिशा को निर्धारित करता है और उसे अनिश्चितता के अन्धकार में भटकने से बचा देता है। उदाहरणार्थ, यदि हमारा अध्ययन-विषय 'बाल-अपराध' है तो हम अपने आरम्भिक ज्ञान व सामान्य अनुभव के आधार पर एक **कामचलाऊ अनुमान** यह कर सकते हैं कि निर्धनता व टूटे परिवार ही बाल-अपराध को जन्म देने के सबसे प्रभावशाली कारक हैं। उस अवस्था में हमारा यह अनुमान हमारे अध्ययन-कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा क्योंकि हमें यह निश्चित रूप में पता होगा कि हमें आर्थिक तथा पारिवारिक कारकों पर ध्यान केन्द्रित करना है, उन्हीं से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करना है और फिर देखना है कि जो 'अनुमान' हमने आरम्भ में लगाया था वह सही है अथवा गलत। इसी आरम्भिक सामान्य तथा कामचलाऊ अनुमान को, जो कि आगे के अध्ययन-कार्य का आधार और वैज्ञानिक के लिए एक सहारा बन जाता है, कार्यनिर्वाही अथवा कामचलाऊ प्राक्कल्पना या उपकल्पना (working hypothesis) कहते हैं। प्रो० यंग (Young) के अनुसार कार्यनिर्वाही अथवा कामचलाऊ प्राक्कल्पना का निर्माण वैज्ञानिक पद्धति का प्रथम चरण (first step) है।

अतः हम कह सकते हैं कि **"उपकल्पना का निर्माण वैज्ञानिक अनुसन्धान का अन्तिम लक्ष्य नहीं है।"** अर्थात् अपनी उपकल्पना को सच प्रमाणित करने के उद्देश्य से वैज्ञानिक अनुसन्धान-कार्य में उपकल्पना का निर्माण नहीं किया जाता। वैज्ञानिक अनुसन्धान का अन्तिम लक्ष्य तो सच को ढूंढ़ निकालना है और सत्य की खोज वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही सम्भव है, न कि उपकल्पना के आधार पर। उपकल्पना का निर्माण तो हम केवल इसलिए करते हैं कि अध्ययन-कार्य में हमें निश्चित रूप से क्या करना है उसके सम्बन्ध में हमें एक अन्दाजा लग जाए और हम एक ही समय में एक ही विषय से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर अपने ध्यान को बिखरा देने की गलती न करके अपने अनुसन्धान-क्षेत्र को सीमित करके अपनी उपकल्पना या प्राक्कल्पना के अनुसार अध्ययन-विषय के एक विशिष्ट पहलू पर

---

11. Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, pp. 96—105.

अपना ध्यान केन्द्रित करें; और उसी से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करें। इस प्रकार उपकल्पना हमें अध्ययन-कार्य के दौरान में इधर-उधर भटकने से बचाती है और हम एक निश्चित दिशा में सत्य की खोज में आगे बढ़ सकते हैं। हो सकता है कि वास्तविक तथ्यों को एकत्रित कर लेने के पश्चात् हम यह पाएँ कि अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में जिस उपकल्पना का निर्माण हमने किया था, वह गलत है और वास्तविक तथ्यों के सन्दर्भ में उसे बदलने की आवश्यकता है। अर्थात् प्राक्कल्पना (उपकल्पना) के निर्माण के बाद हम अपने अध्ययन-कार्य के दौरान विषय से सम्बन्धित कुछ वास्तविक तथ्यों को एकत्रित करते हैं और फिर उन तथ्यों के आधार पर उस उपकल्पना की परीक्षा करते हैं कि वह सही है अथवा गलत। दूसरे शब्दों में, वास्तविक तथ्यों के आधार पर उपकल्पना को सही या गलत प्रमाणित करना वैज्ञानिक अनुसन्धान का अन्तिम लक्ष्य है, न कि केवल उपकल्पना का निर्माण। हाँ, यह सच है कि उपकल्पना का निर्माण कुछ वैज्ञानिक उद्देश्यों की पूर्ति करने में मदद करता है अर्थात् अनुसन्धान-कार्य में सहायक सिद्ध होता है। प्राक्कल्पना के इस महत्त्व या लक्ष्यों की विवेचना इसी अध्याय में हम आगे के पृष्ठों में करेंगे; पर उससे भी पहले प्राक्कल्पना के वास्तविक अर्थ व प्रकृति को समझ लेना आवश्यक होगा।

प्राक्कल्पना की परिभाषा
(Definition of Hypothesis)

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) के अनुसार "प्राक्कल्पना एक सामयिक अथवा कामचलाऊ सामान्यीकरण या निष्कर्ष है जिसकी सत्यता की परीक्षा अभी बाकी है। बिल्कुल आरम्भिक स्तरों पर प्राक्कल्पना कोई भी अटकलपच्चू, अनुमान, कल्पनात्मक विचार, सहजज्ञान (intuition) या और कुछ हो सकती है जो कि क्रिया या अनुसन्धान का आधार बन जाती है।"[12]

प्राक्कल्पना की व्याख्या करते हुए प्रो० यंग (Young) ने लिखा है कि अपने तथ्यों के विषय में सामान्य ज्ञान के आधार पर एक वैज्ञानिक प्रयत्न व भूल-चूक की अथवा परीक्षण द्वारा भूल-सुधार की पद्धति (trial and error method) के द्वारा उन विशिष्ट कारकों को छांट लेता है जो कि अध्ययन किए जाने वाली समस्याओं पर रोशनी डाल सकें। अटकलपच्चू विचारों या धूर्त्त कल्पना द्वारा वह तथ्यों की विभिन्न श्रेणियों के बीच कारणात्मक (causal) सम्बन्ध को प्रस्थापित करता है। यह सूक्ष्म कल्पना, यह सामयिक केन्द्रीय महत्त्वपूर्ण विचार जो कि फलप्रद अनुसन्धान का आधार बनता है, एक कार्यनिर्वाही प्राक्कल्पना कहलाता है।[13]

---

12. "An hypothesis is a tentative generalization, the validity of which remains to be tested. In its most elementary stages, the hypothesis may be any hunch, guess, imaginative idea or intuition whatsoever which becomes the basis of action or investigation."—G. A. Lundberg, *op. cit.*, p. 9.

13. "On the basis of a cursory knowledge of his facts he (scientist) attempts to single out, by trial and error method, the significant factors which would throw light on the problems at hand. He tries to establish causal relations between various sets of facts by shrewd guess or profound hunch. This penetrating hunch, this provisional central vital idea which becomes the basis for fruitful investigation is known as a working hypothesis."—Pauline V. Young, *op. cit.*, p. 96.

सामयिक रूप से अथवा कामचलाऊ तौर पर ये प्राक्कल्पनाएं अध्ययन में सम्मिलित कुछ तत्त्वों (etements) की व्याख्या अस्थायी तौर पर करती हैं और अन्य तत्त्वों के विषय में अनुसन्धान की दिशा में मार्ग-दर्शक (guide) का काम करती हैं। पर जैसे-जैसे अध्ययन-कार्य आगे वढ़ता जाता है वैसे-वैसे इन सामयिक प्राक्कल्पनाओं की ठोस परीक्षा सतर्कता से एकत्रित तथ्यों की वास्तविक कसौटी पर होती जाती है। इस प्रकार की परीक्षा से यदि यह पता चलता है कि वास्तविक तथ्यों के साथ प्राक्कल्पनाओं का ठीक मेल नहीं बैठ रहा है तो उनको त्यागकर नई प्राक्कल्पनाओं का निर्माण किया जाता है और फिर इन नई प्राक्कल्पनाओं की भी जाँच वास्तविक तथ्यों की कसौटी पर कर ली जाती है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक प्राक्कल्पनाओं व वास्तविक तथ्यों के वीच समानता के सम्वन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता निःसन्देह नहीं हो जाता।[14]

कार्यनिर्वाही प्राक्कल्पना के स्रोत
(Sources of Working Hypothesis)

एक अनुसन्धानकर्त्ता को प्राक्कल्पना कहां से प्राप्त होती है, यह भी जान लेना हमारे लिए आवश्यक होगा। प्राक्कल्पना का स्रोत अनुसन्धानकर्त्ता की अपनी अन्तर्दृष्टि, कोरी कल्पना, विचार या अनुभव हो सकता है। इस दृष्टिकोण से उपकल्पना का स्रोत अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं ही हो सकता है। स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता के अतिरिक्त इसका वाहरी स्रोत भी हो सकता है। श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने लिखा है कि एक फलप्रद प्राक्कल्पना की खोज में हम कविता, साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र के विस्तृत वर्णनात्मक साहित्य (descriptive literature), मानव-जातिशास्त्र (ethnology), कलाकारों के काल्पनिक सिद्धान्तों या उन गम्भीर विचारकों के सिद्धान्तों की सम्पूर्ण दुनिया में विचरण कर सकते हैं जिन्होंने कि मनुष्य के सामाजिक सम्वन्धों के गहन अध्ययन-कार्य में अपने को नियोजित किया है।[15]

सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने प्राक्कल्पनाओं के निम्नलिखित चार स्रोतों का उल्लेख किया है[16]—

(१) **सामान्य संस्कृति** (General Culture)—उपरोक्त विद्वानों का मत है कि सामान्य संस्कृति, जिसमें कि एक विज्ञान पनपता है, विज्ञान की अनेक प्राक्कल्पनाओं का एक आधार वन जाती है। दो विपरीत उदाहरणों द्वारा इस बात को सरलता से समझाया जा सकता है। अमेरिकन संस्कृति में व्यक्तिगत सुख, गतिशीलता (mobility) तथा प्रतिस्पर्द्धा (competition) पर अत्यधिक वल दिया जाता है और ये सभी, अमेरिकन समाज व उसके सामाजिक सम्वन्धों के अभिन्न अंग

---

14. *Ibid.*, p. 97.

15. "In searching for fruitful hypothesis, we may draw upon the whole realm of poetry, literature, philosophy, and the large descriptive literature of sociology and ethnology, including the speculative theories of artists and penetrating thinkers why have devoted themselves to a deep, if informal and unsubstantiated, study of man's social relationships."—G. A. Lundberg, *op. cit.*, p. 9.

16. W. J. Goode and P. K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1952, pp. 63-67.

व उल्लेखनीय विशेषताएँ बन गई हैं। इसके विपरीत, भारतीय संस्कृति में सामाजिक जीवन व सम्बन्धों पर परार्थवाद, आध्यात्मिक उन्नति, गांधीवादी आदर्श, जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार आदि का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। इन्हीं के आधार पर अमेरिका या भारतवर्ष के समाजशास्त्री के मस्तिष्क में कुछ प्राक्कल्पनाओं का उदय हो सकता है या उनका ध्यान सामाजिक जीवन के कुछ विशिष्ट पक्षों के प्रति आकर्षित हो सकता है जो कि प्राक्कल्पना के निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकें। उदाहरणार्थ, भारतीय संस्कृति में पले किसी भी समाजशास्त्री के लिए जाति-प्रथा के किसी भी पहलू के सम्बन्ध में प्राक्कल्पना का निर्माण करना कठिन नहीं है।

(२) **वैज्ञानिक सिद्धान्त** (Scientific theories)—सर्वश्री गुड तथा हॉट के अनुसार प्राक्कल्पनाओं का जन्म स्वयं विज्ञान में होता है (Hypothesis originate in the science itself)। प्रत्येक विज्ञान में विभिन्न विषयों से सम्बद्ध अनेक सिद्धान्त होते हैं। इन सिद्धान्तों से एक विषय के विभिन्न पहलुओं के सम्बन्ध में हमें जानकारी प्राप्त होती है। यह जानकारी हमारे वर्तमान शोध-कार्य का आधार वन सकती है। यद्यपि यह हो सकता है कि वास्तविक अनुसन्धान से आगे चलकर हमें यह पता चले कि उस विषय के सम्बन्ध में अब तक हम जो कुछ भी जानते थे वह गलत था, फिर भी सामयिक रूप में सिद्धान्त, एक विषय के सम्बन्ध में जो कुछ पता है यह वताकर शोध-कार्य को दिशा (direction) प्रदान करता है।[17] उदाहरणार्थ, जाति-प्रथा के व्यावसायिक सिद्धान्त (occupational theory) से यह प्राक्कल्पना वनायी जा सकी कि 'पेशा और केवल पेशा ही भारतीय जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण था।' यह प्राक्कल्पना जाति-प्रथा की उत्पत्ति व पेशे में पाए जाने वाले सम्बन्ध के विषय में हुए अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययनों का आधार बनी यद्यपि उन अध्ययनों से यही प्रमाणित हुआ कि यदि पेशों की ऊँचाई-नीचाई ही जाति-व्यवस्था में पाए जाने वाले ऊँच-नीच के संस्तरण का आधार होती तो जाति-प्रथा उन सभी समाजों में देखने को मिलती, जहाँ भी पेशों के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण (social stratification) पाया जाता है। कुछ भी हो, प्राक्कल्पनाओं के निर्माण में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(३) **सादृश्य** (Analogy)—सादृश्य प्रायः उपयोगी प्राक्कल्पनाओं के महत्त्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं। उदाहरणार्थ, पेड़-पौधों पर एक परिस्थिति विशेष का गहरा प्रभाव पड़ता है, यह ज्ञान मानव के सम्बन्ध में भी इस प्राक्कल्पना को जन्म दे सकता है कि पेड़-पौधों की भाँति मानव-जीवन भी परिस्थिति विशेष से प्रभावित होता है।

(४) **व्यक्तिगत अनुभव** (Personal experience)—अनुसन्धानकर्त्ता का व्यक्तिगत अनुभव भी प्राक्कल्पनाओं का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। श्री लॉम्ब्रोसो (Lombroso) की 'जन्मजात अपराधी प्ररूप' (inborn criminal type) की प्राक्कल्पना सैनिक शिविर के सर्जन के रूप में श्री लॉम्ब्रोसो के अपने अनुभवों की ही उपज थी। उसी प्रकार सन् १९०१ में होने वाली जनगणना के अधीक्षक (Census Superintendent) के रूप में सर हर्बर्ट रिज़ले (Sir Herbert Risley) ने जिस विशेष ढंग से भारतीय जनता को देखा और उनके वारे में अनुभवों को प्राप्त किया, वह उनके द्वारा प्रस्तुत प्रजातीय सिद्धान्तों की आधारशिला बनी।

---

17. "......theory gives direction to research by showing what is known." *Ibid.*, p. 64.

उपयोगी प्राक्कल्पना की विशेषताएँ
(Characteristics of Usable Hypothesis)

यों तो 'प्राक्कल्पनाओं का सपना' हम सभी को आता है—कोई तो परीक्षा पास करने के सम्बन्ध में प्राक्कल्पना करता है, कोई रातों-रात धनी बन जाने के सम्बन्ध में प्राक्कल्पना करता है, कोई प्रेम में विजय पाने के लिए यह मान लेता है कि 'प्रेम और युद्ध में कुछ भी अनुचित नहीं है', कोई पिता अपने 'विगड़े शहजादों' को सही रास्ते में लाने के लिए 'वाल मनोविज्ञान' की पुस्तक को खरीदकर कुछ 'अच्छी' प्राक्कल्पनाओं का निर्माण करता है--पर दुर्भाग्यवश इन्हें व्यावहारिक स्तर पर लाने या उन्हें प्रयोग में लाने योग्य बनाने और उनकी सत्यता की जाँच करने का प्रयत्न बहुत कम लोग ही करते हैं। सपनों की भाँति ही ये प्राक्कल्पनाएँ रात को आती और दिन को चली जाती हैं—'वेरहमों की तरह'। ऐसा इसलिए होता है कि प्राक्कल्पनाएँ उपयोगी हों, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनमें कुछ उल्लेखनीय गुण या विशेषताएँ हों। वैज्ञानिक प्रयोग (use) के योग्य प्राक्कल्पनाओं की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(क) **स्पष्टता** (Clarity)—प्राक्कल्पनाओं का अवधारणात्मक रूप में स्पष्ट (conceptually clear) होना परमावश्यक है। स्मरण रहे कि किसी भी स्तर पर अस्पष्टता वैज्ञानिक पद्धति के प्रतिकूल है और चूंकि प्राक्कल्पना का निर्माण उसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रथम चरण है अतः प्राक्कल्पनाओं में भी अस्पष्टता होना वैज्ञानिक भावना के विरुद्ध है। प्राक्कल्पनाओं की स्पष्टता में, सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) के अनुसार, दो बातें सम्मिलित हैं[18]—एक तो यह कि प्राक्कल्पना में निहित अवधारणाओं को स्पष्ट रूप में परिभाषित किया जाए ताकि किसी भी प्रकार की अस्पष्टता आगे चलकर अध्ययन-कार्य में बाधा की सृष्टि न कर सके, और दूसरी यह कि ये परिभाषाएँ ऐसी स्पष्ट भाषा में लिखी जाएँ कि अन्य लोग भी सामान्यतः उनका सही अर्थ समझ सकें।

(ख) **प्रयोगसिद्धता** (Empirical referents)—इस विशेषता का तात्पर्य यह है कि वही प्राक्कल्पना वैज्ञानिक अनुसन्धान में प्रयुक्त की जा सकती है जिसमें कि आदर्शात्मक निर्णय (value judgement) का पुट नहीं है। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक को अपनी प्राक्कल्पना में किसी आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपितु उसका सम्बन्ध ऐसे विचार या ऐसी अवधारणा से होना चाहिए जिसकी सत्यता की परीक्षा वास्तविक प्रयोग अथवा वास्तविक तथ्यों के आधार पर की जा सके। 'स्त्रियाँ स्वभावतः ही चंचल होती हैं', 'सभी विद्यार्थियों को अनुशासित जीवन व्यतीत करना है', 'आज संयुक्त परिवार अनावश्यक है' आदि प्राक्कल्पनाएँ आदर्शात्मक हैं, और इसीलिए वैज्ञानिक अध्ययन का आधार नहीं बन सकतीं।

(ग) **विशिष्टता** (Specificity)—प्राक्कल्पना अगर अत्यन्त सामान्य (general) है तो उससे यथार्थ निष्कर्ष तक पहुँचना सम्भव नहीं होता है क्योंकि किसी विषय के सभी पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन हम एक ही समय पर नहीं कर सकते। अतः यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि प्राक्कल्पना अध्ययन-विषय के किसी विशेष पहलू से सम्बद्ध हो। साथ ही, अगर उसमें विशिष्टता का गुण नहीं हुआ

18. *Ibid.*, p. 68.

तो उसकी सत्यता की जाँच करना भी कठिन हो जाता है और जो प्राक्कल्पना जाँच से परे है वह वैज्ञानिक के लिए निरर्थक भी है। अक्सर ऐसा होता है कि प्राक्कल्पना को अधिकाधिक आकर्षक व प्रभावशाली बनाने के लिए उसे ऐसे विराट व सामान्य तौर पर (in general terms) व्यक्त किया जाता है कि वह स्वयं वैज्ञानिक की पहुँच के बाहर हो जाती है। अतः प्राक्कल्पना में विशिष्टता का होना आवश्यक है जिससे कि एक सुनिश्चित वैज्ञानिक सीमा के अन्तर्गत रहते हुए सत्य की खोज सम्भव हो।

(घ) **उपलब्ध प्रविधियों से सम्बद्ध** (Related to available techniques)— प्राक्कल्पना का निर्माण इस बात को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए कि उसकी सत्यता की जाँच उपलब्ध प्रविधियों के द्वारा सम्भव हो। वास्तव में, जैसा कि सर्वश्री गुड एवं हॉट (Goode and Hatt) का कथन है, "सिद्धान्त और पद्धति एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। सिद्धान्तकार यह नहीं जानता है कि उसकी प्राक्कल्पना की जाँच के लिए कौन-कौनसी प्रविधियाँ उपलब्ध हैं, वह उपयोगी प्रश्नों के निर्माण में असफल रहता है।"[19] अतः प्राक्कल्पनाएँ ऐसी होनी चाहिएँ जो कि प्रचलित प्रविधियों की पहुँच के भीतर हों। पर इस नियम का तात्पर्य यह नहीं है कि प्राक्कल्पनाओं का निर्माण उपलब्ध प्रविधियों द्वारा सीमित है। आधुनिक समय में समस्याएँ इतनी जटिल हैं कि उनसे सम्बद्ध जटिल प्राक्कल्पनाओं का निर्माण केवल प्रविधियों को ध्यान में रखकर कराना सम्भव नहीं। उपरोक्त नियम का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि प्राक्कल्पना इस प्रकार की हो कि वह अनुसन्धान का एक सामयिक आधार भी बन सकती है या नहीं, इसकी परीक्षा उपलब्ध प्रविधियों द्वारा की जा सके।[20]

(ङ) **सिद्धान्त-समूह से सम्बद्ध** (Related to body of theory)—सर्वश्री गुड और हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है कि इस नियम की अवहेलना अक्सर सामाजिक अनुसन्धान के आरम्भिक विद्यार्थी कर जाते हैं। उनके चुनाव में इस बात की सम्भावना अधिक होती है कि वे इस प्रकार के अध्ययन-विषय (subject-matter) को चुन लें जो कि 'रुचिकर' (interesting) या आकर्षक हो। ऐसा करते समय वे इस बात का ध्यान नहीं रखते हैं कि उनका वह शोध-कार्य वास्तव में सामाजिक सम्बन्धों से सम्बद्ध किन्हीं विद्यमान सिद्धान्तों को गलत प्रमाणित करने या उन्हें सही प्रमाणित करने अथवा उनकी पुष्टि करने में सहायक होगा भी या नहीं। पर एक विज्ञान तभी प्रगतिशील बन सकता है जबकि वह विद्यमान तथ्य व सिद्धान्त-समूह पर सुप्रतिष्ठित हो। उस अवस्था में उसका विकास हो नहीं सकता यदि प्रत्येक अध्ययन एक पृथक् सर्वेक्षण हो।[21] अतः प्राक्कल्पना ऐसी होनी चाहिए जो सम्बद्ध क्षेत्र में किसी पूर्वस्थापित सिद्धान्त के क्रम में हो क्योंकि असम्बद्ध प्राक्कल्पनाओं

---

19. "......theory and method are not opposites. The theorist who does not know what techniques are available to test his hypotheses is in a poor way to formulate usable questions."—*Ibid.*, pp. 69-70.

20. *Ibid.*, p. 70.

21. "This criterion is one which is often overlooked by the beginning student. He is more likely to select subject-matter which is 'interesting' without finding out whether the research will really help to refute, qualify, or support any existing theories of social relations. A science, however, can be cumulative only by binding on an existing body of fact and theory. It cannot develop if each study is an isolated survey."—*Ibid.*, pp. 70-71.

की परीक्षा विस्तृत सिद्धान्तों के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। भौतिक विज्ञानों में शोध-कार्य पर्याप्त उन्नत स्तर तक पहुँचने का कारण यह है कि विभिन्न अनुसन्धानकर्त्ता पूर्वसिद्धान्तों से सम्बद्ध संक्षिप्त, स्पष्ट तथा विशिष्ट प्राक्कल्पनाओं का निर्माण करके छोटी-छोटी सम्बद्ध समस्याओं पर खोज करते रहते हैं।

प्राक्कल्पना का महत्त्व या लक्ष्य
(Importance of Hypothesis)

किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन-कार्य में प्राक्कल्पना के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसकी सहायता लिए बिना यदि अध्ययन-कार्य किया गया तो घटनाओं की दुनिया में अनुसन्धानकर्त्ता ठीक वैसे ही भटकेगा जैसा कि एक गाँव के किसान को, जिसने महानगरों का दर्शन नहीं किया है, बम्बई या कलकत्ता के राजपथ पर अकेला छोड़ दिया जाए। यह अनुसन्धानकर्त्ता के लिए मार्ग-दर्शक या गाइड का काम करती है, उसे उद्देश्यहीन रूप में इधर-उधर भटकने से रोकती है और उसका हाथ पकड़कर सत्य के द्वार तक पहुँचने में या झूठ को प्रमाणित करने में उसकी मदद करती है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी :—

(अ) प्राक्कल्पना अध्ययन-कार्य को निश्चितता प्रदान करती है। प्राक्कल्पना में स्वयं निश्चितता का तत्त्व या गुण पाया जाता है जिसके फलस्वरूप अध्ययन को एक स्पष्टता प्राप्त होती है। इसकी सहायता से अनुसन्धानकर्त्ता को यह स्पष्ट रूप में पता चल जाता है कि उसे क्या और कितना अध्ययन करना है, किन तथ्यों को चुनना और किनको त्यागना है। सर्वश्री गुड तथा हॉट ने लिखा है कि एक प्राक्कल्पना यह बताती है कि हम किसकी खोज कर रहे हैं। इससे प्रयत्नों की बर्बादी रुक जाती है और अध्ययन-कार्य में यथार्थता पनपने की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि इसकी सहायता से अनुसन्धानकर्त्ता इधर-उधर के तथ्यों में न उलझकर केवल उन तथ्यों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिनकी सहायता से इसकी सत्यता या असत्यता को प्रमाणित किया जा सके।

इसीलिए यह कहा जाता है कि "अच्छे अनुसन्धान में उपकल्पना का निर्माण एक केन्द्रीय पथ है।"

(ब) प्राक्कल्पना अनुसन्धान-क्षेत्र को सीमित करती है। घटनाओं (phenomena) और तथ्यों की दुनिया बहुत बड़ी है और किसी अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह एक विषय से सम्बद्ध सभी पहलुओं का एक ही समय पर अध्ययन करे। अगर ऐसा किया गया तो अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में कोई भी विशिष्ट व यथार्थ ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार का अध्ययन इसलिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निरर्थक होता है और इस निरर्थकता को प्राक्कल्पनाएँ दूर कर देती हैं क्योंकि ये अनुसन्धान-क्षेत्र को सीमित कर अध्ययन-विषय के एक विशिष्ट पहलू पर अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान आकर्षित करती रहती हैं।

(स) प्राक्कल्पना अनुसन्धान की दिशा निर्धारित करती है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्राक्कल्पनाएँ अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान अध्ययन-विषय के एक विशिष्ट पहलू पर केन्द्रित कर देती हैं और अनुसन्धानकर्त्ता उसी के अनुसार एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ता चला जाता है। इस अर्थ में प्राक्कल्पना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए ध्रुव तारे का काम करती है। अपनी प्राक्कल्पना के आधार पर

अनुसन्धानकर्त्ता यह जानता है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है, क्या उसके लिए काम की चीज है और क्या निरर्थक, किस दिशा को उसे अपनाना है और किसको नहीं। वास्तव में ठीक-ठीक प्राक्कल्पना का निर्माण कर लेने से न केवल अध्ययन-क्षेत्र का ही, अपितु लक्ष्य का भी, स्पष्टीकरण हो जाता है और अनुसन्धानकर्त्ता का प्रत्येक प्रयास उद्देश्यपूर्ण, अर्थयुक्त तथा वैज्ञानिक धारणा के अनुकूल हो जाता है।

(द) **प्राक्कल्पना सम्बद्ध तथ्यों (pertinent data) के संकलन में सहायक होती है।** हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि प्राक्कल्पना अनुसन्धान के क्षेत्र को सीमित करती और उसकी दिशा निर्धारित करती है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि हमारा अध्ययन एक मनमाना अध्ययन नहीं होता और न ही हम यह मान बैठते हैं कि सब-कुछ अध्ययन करना है। इसका परिणाम यही होता है कि हम केवल उन्हीं तथ्यों को एकत्रित करते हैं जो हमारे विषय से सम्बद्ध होते हैं और जिनकी सहायता से प्राक्कल्पना की सत्यता और असत्यता को प्रमाणित किया जा सकता है। इस प्रकार श्रीमती यंग के शब्दों में, "प्राक्कल्पना के प्रयोग में उन तथ्यों की अन्धी-खोज व अन्धाधुन्ध संकलन पर नियन्त्रण होता है जो बाद में अध्ययन किए जाने वाली समस्या के लिए अप्रासंगिक या बेकार सिद्ध हों।[22] यदि आरम्भ में हम 'सब कुछ' (सभी तथ्यों को) एकत्रित कर भी लेते हैं तो भी हमें अपनी प्राक्कल्पना की सत्यता अथवा असत्यता को प्रमाणित करने के लिए उस 'सब कुछ' में से कुछ विशिष्ट तथ्यों को छाँट लेना ही पड़ेगा।

(य) **प्राक्कल्पना प्रत्येक दशा में सत्य ढूँढ़ निकालने के कार्य में सहायक सिद्ध होती है।** इसका तात्पर्य यह है कि प्राक्कल्पना के निर्माण के बाद हम वास्तविक तथ्यों के आधार पर उसकी परीक्षा करते हैं। इस परीक्षा के फलस्वरूप हम या तो यह प्रमाणित करते हैं कि वह प्राक्कल्पना सही है, अथवा यह सिद्ध करते हैं कि वह गलत है। दोनों ही दशा में हम सत्य को ढूँढ़ निकालते हैं क्योंकि किसी भी चीज को गलत प्रमाणित करना भी लोगों को उस चीज की उस वास्तविकता (या सत्यता) से परिचित करवाना है जिसे कि वे अब तक नहीं जानते थे। उदाहरणार्थ, यदि हम यह प्रमाणित करते हैं कि यह प्राक्कल्पना कि 'पेशा और केवल पेशा ही भारतीय जाति-प्रथा की उत्पत्ति का कारण है', गलत है तो हम वास्तव में उन गलत धारणाओं को दूर करते हैं जो कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति के पेशा-सम्बन्धी सिद्धान्त के कारण लोगों के मस्तिष्क में अब तक जड़ पकड़े हुए थीं। इसीलिए श्रीमती यंग के अनुसार, एक वैज्ञानिक के लिए नकारात्मक परिणाम (negative result) बहुधा उतना ही महत्त्वपूर्ण और रोचक होता है जितना कि सकारात्मक (positive) परिणाम।[23]

प्राक्कल्पना के निर्माण की प्रमुख कठिनाइयाँ
(Main difficulties in the formulation of Hypothesis)

प्राक्कल्पना या उपकल्पना का निर्माण कोई सरल कार्य नहीं है। इस दिशा में अनुसन्धानकर्त्ता को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिन्हें कि हम इस

22. "The use of an hypothesis thus prevents a blind search and indiscriminate gathering of masses of data which may later prove irrelevant to the problem under study."—P. V. Young, *op. cit*., p. 99.

23. "To a scientist, negative results...are often just as significant and interesting as positive."—P. V. Young, *op. cit*., p. 97.

प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :--

(१) प्रथम कठिनाई अध्ययन-विषय से सम्बन्धित है। आधुनिक समाज बहुत बड़ा तथा जटिल होता है और इसीलिए आधुनिक समाज की घटनाएँ व समस्याएँ भी बहुत उलझी हुई और बहुमुखी होती हैं। उनके सम्बन्ध में पहले से ही कुछ अनुमान लगाना कठिन होता है। अतः बहुत ही सोच-समझ से काम लेने की जरूरत होती है।

(२) प्राक्कल्पना के निर्माण में दूसरी कठिनाई सामाजिक घटनाओं में तेजी से परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होती है। सामाजिक घटनाएँ आज के युग में तेजी से बदलती हैं और आज जो सच है, कल वह झूठ हो सकता है। ऐसी अवस्था में कुछ भी अनुमान लगाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य ही है।

(३) हम लिख चुके हैं कि प्राक्कल्पना का निर्माण एक समाज की कुछ सामान्य सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। पर आज विभिन्न संस्कृतियों में आदान-प्रदान की प्रक्रिया बहुत तेजी से चल रही है क्योंकि यातायात और संचार के साधनों में उन्नति होने के फलस्वरूप विभिन्न समाज या संस्कृति एक-दूसरे के अधिक निकट आते जा रहे हैं जिससे कि एक समाज की सांस्कृतिक विशेषताएँ भी स्थिर नहीं हैं। अतः अस्थिर आधारों पर प्राक्कल्पना का निर्माण हमारे लिए कठिन हो जाता है।

(४) कभी-कभी प्रचलित सिद्धान्तों के आधार पर भी प्राक्कल्पना का निर्माण कर लिया जाता है, पर ऐसा करने में कठिनाई यह होती है कि वह सिद्धान्त हमारे अपने अध्ययन-कार्य के लिए कितना व्यावहारिक है इसका अनुमान हम पहले से नहीं लगा पाते हैं जिससे कि आगे चलकर हमें सम्पूर्ण अध्ययन-कार्य को ही त्याग देना होता है।

(५) प्राक्कल्पना के निर्माण में एक और उल्लेखनीय कठिनाई स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता ही उत्पन्न करता है। यदि अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं किसी पूर्व-आदर्श, पक्षपात या उचित-अनुचित की भावना से प्रेरित है और यदि वह अपने अनुमानों को कुछ ठोस आधारों पर आधारित करने के प्रति प्रयत्नशील नहीं है तो वैज्ञानिक प्रयोग के योग्य उपकल्पना (प्राक्कल्पना) का निर्माण कठिन हो जाता है।

(६) सजातिवाद (Ethnocentoism) भी एक अच्छी प्राक्कल्पना के निर्माण में बाधक बन जाता है। दूसरों की तुलना में अपने समाज और सामाजिक घटनाओं के लिए प्रत्येक व्यक्ति के दिल में एक 'दुर्बल कोना' (soft corner) होता है। उसकी यह दुर्बलता उसे वास्तविकता से दूर हटा देती है और वह अपने समाज व संस्कृति को ही सबसे अच्छा मान बैठता है। फलतः उसके लिए एक अच्छी प्राक्कल्पना का निर्माण कठिन हो जाता है। उसी प्रकार अनुसन्धानकर्त्ता की कोई भ्रान्त धारणा, किसी घटना के सम्बन्ध में उसकी अपनी उद्वेगात्मक भावना (emotional tendency), अथवा उसका अपना व्यक्तिगत स्वार्थ भी एक अच्छी प्राक्कल्पना के निर्माण में कठिनाई उत्पन्न कर सकता है।

(७) बहुधा एक आरम्भिक अध्ययन या सर्वेक्षण करने के बाद ही प्राक्कल्पना का निर्माण किया जाता है ताकि अध्ययन-विषय की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य ज्ञान प्राप्त हो जाए। इस आधार पर भी प्राक्कल्पना के निर्माण में प्रमुख कठिनाई यह होती है कि सूचनादाता या अन्य स्रोतों से जल्दी में हमें यथार्थ सूचना नहीं मिल पाती है। सूचनादाता स्वयं भी अपने पक्षपात और मिथ्या-झुकाव (bias)

के कारण गलत सूचना देकर अनुसन्धानकर्त्ता को गुमराह कर सकता है। उसी प्रकार हो सकता है कि सरकारी व गैर-सरकारी संस्थानों से प्राप्त प्रारम्भिक सूचनाएँ भी निर्भरयोग्य न हों। ऐसी हालत में वैज्ञानिक प्रयोग के योग्य प्राक्कल्पना का निर्माण कठिन हो जाता है।

प्राक्कल्पना के प्रयोग में खतरे या दोष

(Disadvantage or Danger in the use of Hypothesis)

एक कामचलाऊ उपकल्पना (प्राक्कल्पना) का निर्माण हम इसलिए करते हैं कि हमें अपने अध्ययन-कार्य के दौरान यह पता रहे कि हमें क्या करना और क्या जानना है, किन तथ्यों को लेना है और किन्हें छोड़ना है, हमारे लिए क्या महत्त्वपूर्ण और क्या बेकार का है। पर इसमें यह खतरा होता है कि कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता प्राक्कल्पना को ही अपने अध्ययन का वास्तविक निष्कर्ष मान लेने की गलती करता है और उस अवस्था में वह तथ्यों को तोड़-मोड़कर इस प्रकार एकत्रित व प्रस्तुत करता है जिससे कि प्राक्कल्पना की सत्यता ही प्रमाणित हो। इस प्रकार प्राक्कल्पना को ही अध्ययन का वास्तविक निष्कर्ष मान लेने की यह अन्धी प्रवृत्ति वैज्ञानिक निष्कर्ष या वास्तविक सत्य तक पहुँचने से उसे रोकती है। वास्तव में ऐसा तब होता है जब कि अनुसन्धानकर्त्ता वास्तविक तथ्यों के अनुसार प्राक्कल्पना को न बदलकर प्राक्कल्पना के अनुरूप तथ्यों को विकृत करने की भारी गलती कर बैठते हैं। वैज्ञानिक निष्कर्ष का आधार कामचलाऊ विचारों द्वारा निर्मित प्राक्कल्पना नहीं, अपितु प्रत्यक्ष होने वाले वास्तविक तथ्य ही हैं—इस सत्य को भूल जाना वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक खतरे को मोल लेना ही होता है। यदि प्राक्कल्पनाओं के निर्माण में अनुसन्धानकर्त्ता ने अध्ययन-विषय को अपनी रुचि (interest) के अनुसार एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है, अपने आदर्श के कारण उसको अपने ढंग से परिभाषित किया है और यदि निष्पक्ष रूप से वास्तविक तथ्यों के आधार पर उसकी सत्यता की जाँच नहीं की है तो ऐसी प्राक्कल्पना से विज्ञान का कोई हित कदापि होने की सम्भावना नहीं है। अतः अनुसन्धानकर्त्ता को सदा श्री वेस्टावे (Westaway) की इस चेतावनी को याद रखना है कि "प्राक्कल्पनाएँ वे लोरियाँ हैं जो कि असावधान को गाना गाकर सुला देती हैं।"[24] इसलिए जागते रहो, आँखें खोलकर वास्तविक तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में देखो और उन्हीं के आधार पर प्राक्कल्पना की जाँच करो—वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में तुम्हारी देन समान महत्त्व की होगी, चाहे तुम अपनी प्राक्कल्पना की सत्यता को प्रमाणित करो या उसकी असत्यता को। प्राक्कल्पनाओं के प्रयोग के खतरों से बचने का यही मूलमन्त्र है और वैज्ञानिक पद्धति का प्रथम चरण भी।

(२) तथ्यों का निरीक्षण तथा संकलन

(Observation and Collection of Data)

प्राक्कल्पना का निर्माण हो जाने पर अध्ययन का क्षेत्र और लक्ष्य दोनों ही निश्चित हो जाते हैं। अतः अब यह सम्भव हो जाता है कि हम अपने अध्ययन-विषय से सम्बद्ध वास्तविक तथ्यों (facts) का निरीक्षण करें और उनका संकलन भी।

24. "Hypotheses are the cradle songs which lull the unwary to sleep."
—Westaway.

वास्तविक निरीक्षण द्वारा तथ्यों का संकलन किसी भी वैज्ञानिक अध्ययन का एक अपरिहार्य अंग है। पर यथार्थ निरीक्षण कठिन है। हमारी इन्द्रियाँ सरलता से धोखा खा जाती हैं; हम कदाचित् घटित होने वाली किसी घटना को समग्र रूप में देखते हैं; हमारे लिए तथ्य और अनुमान (inference) को अलग-अलग रखना कठिन होती है; हम जो कुछ देखते हैं उसमें अपनी भावनाओं तथा संवेगों को भी जोड़ देने का लोभ संभाल नहीं पाते हैं; समग्र को देखना या कम से कम समग्र के अन्तःसम्बद्ध भागों को देखना सरल नहीं है।[25] इसीलिए निरीक्षण को अधिकाधिक वैज्ञानिक-स्तर पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अन्य विद्वानों की उस समस्या से सम्बद्ध कृतियों का अध्ययन करके निरीक्षणीय तथ्यों से, उनकी विशेषताओं व कमियों से अधिकाधिक परिचित हो लें। साथ ही, वास्तविक निरीक्षण करने से पहले पक्षपातरहित होकर उन तथ्यों का चुनाव कर लेना आवश्यक होता है जो हर सम्भव रूप में प्राक्कल्पना की सत्यता या असत्यता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हों। इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि उन तथ्यों को ही चुना जाए जो कि पूर्ण रूप से अध्ययन-विषय या समस्या का प्रतिनिधित्व कर सकें और साथ ही इन तथ्यों को मात्रात्मक रूप से (quantitatively) अभिव्यक्त करना सम्भव हो। केवल कुछ इधर-उधर के विशिष्ट तथ्यों को, रोचक या आकर्षक तथ्यों को, हृदयस्पर्शी या मनोरंजक तथ्यों को निरीक्षण करने या संकलित करने मात्र से ही वैज्ञानिक का काम नहीं चल सकता—समस्त घटना या समस्या का पूर्णतया विश्लेषण व बोध करने के लिए आवश्यक पर्याप्त तथ्यों का निरीक्षण व संकलन होना चाहिए। तथ्यों को संकलित करने या प्राप्त करने के दो प्रमुख स्रोतों (sources of data) का उल्लेख किया जा सकता है—**प्रथम** तो ऐतिहासिक स्रोत (Historical source) है जिसके अन्तर्गत पुराने ग्रंथ, शिलालेख, प्राचीन अवशेष, नरकंकाल आदि आते हैं। **द्वितीय** स्रोत क्षेत्रीय स्रोत (Field source) है जिसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष निरीक्षण (direct observation), साक्षात्कार (interview), अनुसूची तथा प्रश्नावली, अन्य जीवित सूचनादाता आदि आते हैं। आवश्यकतानुसार इन स्रोतों से सूचनाएँ या तथ्य एकत्रित किए जाते हैं। इसके लिए किन-किन स्रोतों का प्रयोग किया जाएगा यह अध्ययन-विषय की प्रकृति व क्षेत्र पर निर्भर करता है।

(३) एकत्रित तथ्यों का वर्गीकरण
(The Classification of Data collected)

केवल तथ्यों के ढेर को इकट्ठा कर लेने से ही हम किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष तक पहुँच नहीं सकते। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम तथ्यों का कुछ क्रमों या अनुक्रमों में वर्गीकरण व संगठन कर लें ताकि वे अर्थपूर्ण हो जाएँ। एकत्रित तथ्यों का वर्गीकरण उन तथ्यों में पाई जाने वाली समानता व भिन्नता के आधार पर कुछ वर्गों तथा उपवर्गों में अथवा एक क्रम से किया जाता है। इस प्रकार एक क्रम से या कुछ वर्गों में व उपवर्गों में तथ्यों का वर्गीकरण कर लेने से जटिल व अस्पष्ट तथ्यों के ढेर सरल व स्पष्ट हो जाते हैं और उनका विश्लेषण करना सुविधाजनक होता है। अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा किए जाने वाले वर्गीकरण की प्रकृति उसकी अपनी अन्तर्दृष्टि, अनुभव, योग्यता, अध्ययन का उद्देश्य और तथ्यों की पूर्णता व यथार्थता पर निर्भर करेगी। पर किसी भी अवस्था में वर्गीकरण का कार्य जितनी कुशलता व स्पष्ट रूप में किया जाएगा, वैज्ञानिक निष्कर्ष तक पहुँचना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए उतना ही सरल होगा।

25. P. V. Young, *op. cit.*, p. 100.

(४) वैज्ञानिक निष्कर्षीकरण (सामान्यीकरण) तथा नियमों का प्रतिपादन (Scientific Generalization and Formulation of Laws)

वैज्ञानिक पद्धति का अन्तिम चरण वैज्ञानिक निष्कर्षीकरण तथा नियमों का प्रतिपादन करना है। एकत्रित तथ्यों का वर्गीकरण जब हम सुनिश्चित व सुव्यवस्थित रूप में कर लेते हैं तो उनका विश्लेषण करना भी हमारे लिए सरल हो जाता है। उन विश्लेषणों के आधार पर अनुसन्धानकर्त्ता एक घटना-विशेष के सम्बन्ध में नियमों को प्रतिपादित करता है। वैज्ञानिक निष्कर्षीकरण तथा नियमों का प्रतिपादन करने के लिए तार्किक पद्धति (logical method), सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) तथा आगमन व निगमन पद्धतियों (inductive and deductive methods) को अपनाया जाता है। इन पद्धतियों की विवेचना हम आगे के किन्हीं अध्यायों में करेंगे। आवश्यकतानुसार इनमें से किसी एक या एकाधिक पद्धतियों का उपयोग वैज्ञानिक नियम के प्रतिपादन में किया जाता है। वैज्ञानिक नियम से हमारा तात्पर्य उस संक्षिप्त व्याख्या से है जो कि एक घटना या समस्या की प्रकृति व उसके कारणों का, निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत (under given conditions), स्पष्टीकरण करती है। इससे यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक नियम शाश्वत या अन्तिम नहीं होते हैं अपितु उन परिस्थितियों या अवस्थाओं में, जिनके अन्तर्गत उस नियम का प्रतिपादन किया गया है, भारी परिवर्तन होने पर नियम की यथार्थता भी कम हो जाती है और नए तौर पर नए नियम का प्रतिपादन आवश्यक हो जाता है।

वैज्ञानिक भावना (Scientific Spirit)

केवल वैज्ञानिक पद्धति की सहायता से ही एक विषय या समस्या के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान को प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक अनुसन्धानकर्त्ता में वैज्ञानिक भावना की प्रचुरता न हो। वास्तव में, वैज्ञानिक भावना के बिना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग व अध्ययन-कार्य में सफलता मिलने की सम्भावना अत्यन्त कम होती है। इस वैज्ञानिक भावना के निम्नलिखित तत्त्व उल्लेखनीय हैं—

(१) जिज्ञासा (Curiosity)—कहा जाता है कि जिज्ञासा ही नवीन आविष्कारों की जननी है। इस जिज्ञासा की प्रवृत्ति के कारण ही हम अज्ञात को जानना चाहते हैं, समस्त रहस्यों के बीच समाकर घटना (phenomenon) को अन्धकार से आलोक की ओर ले आना चाहते हैं। अत: स्पष्ट है कि अनुसन्धानकर्त्ता में जिज्ञासा की प्रबलता यदि नहीं हुई तो वैज्ञानिक अनुसन्धान का कार्य उसके द्वारा सम्भव न होगा। यदि अध्ययन-विषय की अति गहराई में क्या है—यह जिज्ञासा उसमें नहीं है तो वास्तविक ज्ञान उससे बहुत दूर ही रहेगा। किन्तु जिज्ञासा का अर्थ उतावलापन नहीं है। उतावलेपन में संवेगात्मकता (emotionality) अधिक होती है जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान में बाधक सिद्ध होती है। अत: यह आवश्यक है कि जिज्ञासा उतावलेपन से परे हो जिससे कि अनुसन्धानकर्त्ता के लिए तर्क और कारण (reasoning) के आधार पर समस्या या घटना को समझना सम्भव हो।

(२) वस्तुनिष्ठता (Objectivity)—वैज्ञानिक भावना वस्तुनिष्ठ व निष्पक्ष होती है। प्रत्येक घटना के प्रति तटस्थ रहना ही वास्तव में वैज्ञानिक भावना है, चाहे वह घटना या तथ्य अनुसन्धानकर्त्ता की अपनी भावना, रुचि, पसन्द और दृष्टिकोण

के बिल्कुल प्रतिकूल ही क्यों न हो। सच तो यह है कि सत्य को ढूँढ़ने के लिए सभी घटनाओं या तथ्यों को निष्पक्ष होकर देखने की क्षमता का होना परमावश्यक है। यही वस्तुनिष्ठता ही वैज्ञानिक भावना का मूलमन्त्र है।

(३) धैर्य (Patience)—वैज्ञानिक खोज का रास्ता बड़ा ही कठोर, नीरस और फिसलाने वाला होता है। इसलिए इस पथ पर कुछ दूर चलने के बाद ही कदम डगमगाने लगता है और लक्ष्य सामान्य दृष्टि से अधिक दूरी पर होता है। अतः धैर्य का होना परमावश्यक है। इसी गुण के कारण श्री हावर्ड अपनी वैज्ञानिक खोज के लिए मृत्यु काल तक जेल में सड़ते रहे। बड़े-बड़े महान् आविष्कारक लोगों के द्वारा पत्थरों से पीटे गए, तत्कालीन सरकारों द्वारा भयंकर रूप से सताए या दण्डित किए गए, पर अपने धैर्य के बल पर ही उन्होंने वैज्ञानिक लक्ष्य को प्राप्त किया।

(४) साहस (Courage)—सत्य कटु होता है, और सत्य का ही दूसरा नाम विज्ञान है। विज्ञान सत्य को कहता है और स्पष्ट रूप में कहता है क्योंकि सत्य-कथन ही उसका धर्म है। पर कटु सत्य को सुनना बहुत कम लोग पसन्द करते हैं और इसीलिए सत्य कहते हुए लोग डरते हैं। पर वैज्ञानिक भावना तो यह है कि सत्य को कहने का साहस नहीं है तो विज्ञान के क्षेत्र से हट जाना ही उचित होगा। साहसी अनुसन्धानकर्त्ता ही वैज्ञानिक कहला सकता है।

(५) कठोर परिश्रम (Hard labour)—सत्य की स्थापना सरल नहीं है। उसके लिए तो कठोर परिश्रम की आवश्यकता होती है। इसीलिए वैज्ञानिक के लिए प्रमादी या आलसी होना महान् कमजोरी का द्योतक है। इसके विपरीत कठोर परिश्रम वैज्ञानिक खोज को जीवन प्रदान करता रहता है।

(६) रचनात्मक कल्पना (Creative imagination)—वैज्ञानिक अनुसन्धान में आरम्भ से लेकर अन्त तक रचनात्मक कल्पनाशक्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से ही अनुसन्धानकर्त्ता उत्तम व उपयोगी प्राक्कल्पना का निर्माण करता है, अनुसन्धान-कार्य को उचित ढंग से आयोजित करता है और विभिन्न तथ्यों में कार्य-कारण सम्बन्धों को ढूँढ़कर अन्त में वैज्ञानिक नियमों को प्रतिपादित करता है। अतः श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) के शब्दों में, नियम की खोज रचनात्मक कल्पना का अनूठा कार्य है।[26]

---

26. "The discovery of law is, therefore, the peculiar function of the creative imagination."—Karl Pearson, *op. cit.*, p. 31.

३ वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता व कठिनाइयाँ

(NEED OF OBJECTIVE AND SCIENTIFIC STUDY—ITS DIFFICULTIES)

यथार्थता किसी भी विज्ञान की प्रथम आवश्यकता है; और केवल आवश्यकता ही नहीं, यथार्थता की प्राप्ति विज्ञान का परम उद्देश्य भी है। इस उद्देश्य की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हम तथ्यों को ठीक उसी रूप में खोज न निकालें, देखें और विश्लेषण करें जिस रूप में कि वे वास्तव में हैं। "वास्तव में जैसा है" उसी रूप में एक घटना-विशेष का अध्ययन करना वस्तुनिष्ठ अध्ययन (objective study) कहलाता है। इसके विपरीत, अटकलपच्चू कल्पना, मनमाने तौर पर एक विषय के सम्वन्ध में विचारना, घटना के सम्वन्ध में पक्षपातपूर्ण भावना का पोषण करना और उसके सम्बन्ध में वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करना वस्तुनिष्ठ अध्ययन की विपरीत स्थिति अर्थात् व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन (subjective study) कहलाता है। व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन में विचार या भावना प्रधान होती है, जब कि वस्तुनिष्ठ अध्ययन में तथ्य (fact) प्रधान होता है; व्यक्तिनिष्ट अध्ययन वर्णनात्मक (descriptive) होता है; और वस्तुनिष्ठ अध्ययन विश्लेषणात्मक (analytical) होता है। व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन के निष्कर्ष अनुसन्धानकर्त्ता के अपने मस्तिष्क की उपज होते हैं, जब कि वस्तुनिष्ठ अध्ययन वास्तविक तथ्यों के वास्तविक अवलोकन, परीक्षण व विश्लेषण पर आधारित होता है। प्रथम में व्यक्ति बोलता है, जब कि दूसरे में स्वयं तथ्य। प्रथम सत्य पर पर्दा डालता है और दूसरा सत्य की खोज करता है, चाहे वह स्वर्ग हो या नरक। इसीलिए विज्ञान, जो कि सत्य की खोज का एक साधन है, वस्तुनिष्ठ अध्ययन को ही अपना आधार मानता है और वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के प्रति सदैव सचेत रहता है। पर यह प्राप्ति उतनी सरल नहीं है जितनी कि हम ऊपरी तौर पर सोचते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। व्यक्ति सामाजिक घटनाओं का अपनी इन्द्रियों द्वारा निरीक्षण-परीक्षण करता है; पर विभिन्न सामाजिक घटनाओं व परिस्थितियों के प्रति इन इन्द्रियों का प्रत्युत्तर प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान नहीं होता है। उदाहरणार्थ, एक अनुवीक्षण यंत्र के माध्यम से देखी गई एक भौतिक घटना (phenomenon) सभी व्यक्तियों के लिए समान होगी; यह हो नहीं सकता कि एक व्यक्ति उस घटना को एक रूप में देखे तो दूसरा दूसरे रूप में। पर यह बात सामाजिक घटना के सम्वन्ध में लागू नहीं होती। उदाहरणार्थ, विद्यार्थियों में पाई जाने वाली अनुशासनहीनता की घटना को एक व्यक्ति जिस रूप में देखता है, यह जरूरी नहीं कि दूसरा व्यक्ति भी उसे उसी रूप में देखे। इस प्रकार की विविधता के तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने किया है[1]—

1. George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans, Green & Co., New York, p. 45.

(१) किसी भी घटना को प्रत्यक्ष करने की शक्ति बहुत-कुछ प्रशिक्षण तथा अन्य शारीरिक व मानसिक अवस्थाओं पर निर्भर करती है और ये सभी प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती हैं। (२) किसी भी घटना के प्रति हमारा प्रत्युत्तर भौतिक तथा पर्यावरण-सम्बन्धी (environmental) अवस्थाओं—जैसे थकान, आयु, तापक्रम आदि द्वारा प्रभावित होता है। (३) किसी घटना-विशेष को हम किस रूप में ग्रहण करेंगे और किस प्रकार उसका विश्लेषण करेंगे यह हमारे पिछले अनुभवों पर निर्भर करता है। कहा जाता है कि 'मनुष्य अपने भूतकाल की आँखों से निरीक्षण करता है।'[2] भूतकाल की ये आँखें या पिछले अनुभव प्रत्येक व्यक्ति के एक नहीं होते। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति किसी घटना को न तो वस्तुनिष्ठ रूप में और न ही समान रूप में देख पाता है। सामाजिक अनुसन्धानों में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति इसी कारण कठिन होती है और इसी कठिनाई में तथ्यों के खोज की समस्याएँ निहित हैं। पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व वस्तुनिष्ठता के अर्थ को समझ लेना उचित होगा।

वस्तुनिष्ठता का अर्थ
(Meaning of Objectivity)

अति संक्षेप में, **तटस्थ व पक्षपातरहित निरीक्षण द्वारा तथ्यों का उनके वास्तविक रूप में संकलन व विश्लेषण ही वस्तुनिष्ठता है।** दूसरे शब्दों में, अपने स्वयं की भावना, विचार, उचित-अनुचित के आदर्श, विश्वास, आशा और आकांक्षाओं के रंग में न रंगकर किसी भी तथ्य या घटना को "जैसा वह है" (as it is) उसी रूप में देखना व विवेचना करना वैषयिकता है। घटना या तथ्य का यह वास्तविक रूप कटु हो सकता है, बुरा हो सकता है, अनुसन्धानकर्त्ता की समस्त आशाओं, आदर्शों तथा मूल्यों के विपरीत हो सकता है और हो सकता है कि वह अनुसन्धानकर्त्ता के समस्त पूर्व-विश्वासों को उलट देने वाला हो, फिर भी उस घटना को यदि वह उसके मूल रूप में ही देखता और समझता है तो वह वस्तुनिष्ठता को प्राप्त करने में सफल होता है। घटनाओं की वास्तविकता को प्रकट करना ही वस्तुनिष्ठता है। इस अर्थ में वैषयिकता का सम्बन्ध सत्य की खोज से है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण रखने वाला अनुसन्धानकर्त्ता सत्य और केवल सत्य को ही देखता है, सत्य के सिवा और कुछ नहीं देखता। इस सत्य की खोज में वह अपने को भूल जाता है, अपने आदर्श और मूल्यों का हस्तक्षेप सहन नहीं करता, उचित और अनुचित की भावना को पनपने नहीं देता, पक्षपात से अपने को दूर रखता है और कल्पना के जगत् से अपने को हटाकर वास्तविक जगत् में प्रतिष्ठित करने का निरन्तर प्रयत्न करता है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप घटनाओं के जिस रूप को वह जानता-पहचानता है वही वस्तुनिष्ठता है। श्री कार (Carr) ने लिखा है कि "सत्य की वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह है कि घटनामय संसार किसी व्यक्ति के विश्वासों, आशाओं अथवा भय से स्वतन्त्र एक वास्तविकता है जिसका सब-कुछ हम अन्तर्दृष्टि और कल्पना से नहीं अपितु वास्तविक निरीक्षण के द्वारा प्राप्त करते हैं।"[3] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सांसारिक घटनाओं का अपना एक वास्तविक रूप है, जिसको तब देखा-पहचाना जा सकता है जब कि हम उन्हें अपने विश्वासों, आशाओं

2. Columbia Associates in Philosophy, *An Introduction to Reflective Thinking*, Houghton Mifflin, 1923, p. 24.

3. "Objectivity of truth means that the phenomenal world is a reality independent of the beliefs, hopes or fears of any individual, all of which we find out not by intuition and speculation but by actual observation."—Lowell J. Carr, *Analytical Sociology*, 1935, p. 1.

कल्पनाओं या अन्य अटकलपच्चू विचारों के हस्तक्षेप के बिना वास्तविक निरीक्षण के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यह प्राप्ति ही घटनाओं की सत्यता या वास्तविकता को प्रकट करेगी और यही वस्तुनिष्ठता होगी। मनुष्य के विचार, धारणाएँ, संस्कार, मूल्य, आदर्श आदि अनुसन्धानकर्त्ता की दृष्टि को एक विशेष रंग में रंग देते हैं और उस रंगीन चश्मे को पहनकर वह अनुसन्धानकर्त्ता तथ्य की वास्तविकता को देख नहीं पाता है। इन प्रभावों से अपने को विमुक्त कर वास्तविकता का दर्शन वस्तुनिष्ठता है।

श्री ग्रीन (Green) ने इसको इसीलिए एक क्षमता के रूप में परिभाषित किया है। उनका कहना है कि "वस्तुनिष्ठता निष्पक्षता से प्रमाण का परीक्षण करने की इच्छा और योग्यता है।"[4] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि यदि अनुसन्धानकर्त्ता में यह दृढ़ इच्छा वस्तुतः है कि वह सत्य को सत्य-रूप में ही खोज निकालेगा और यदि इस खोज के लिए आवश्यक योग्यता व क्षमता उसमें है तो उसके लिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति असम्भव नहीं है। इस प्रकार इसकी प्राप्ति का आधार स्वयं अनुसन्धान करने की इच्छा, योग्यता में निहित है। यहाँ योग्यता का वही अर्थ है जिसके विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता में साहस, बुद्धि तथा निःस्वार्थ साधना के गुण हैं, वह वास्तविक घटनाओं को केवल उनके वास्तविक रूप में इस प्रकार देखता है कि उसमें अपने अटकलपच्चू विचारों, विश्वासों, आशाओं, आदर्शों, कल्पनाओं, पूर्वधारणाओं, पक्षपातपूर्ण मनोवृत्तियों, संस्कारों आदि को पूर्णतया बहिष्कार करने की क्षमता है। सत्य की खोज सट्टेबाजी के द्वारा सम्भव नहीं, वह तो तभी सम्भव है जब अनुसन्धान-कर्त्ता में सत्य की सत्यता को उसके वास्तविक रूप में देखने और उसे उसी रूप में ग्रहण करने की क्षमता निहित हो। चाहे वह सत्य कितना ही कटु क्यों न हो।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वस्तुनिष्ठता वैज्ञानिक अनुसन्धान की वह स्थिति है जिसमें संसार की विभिन्न घटनाओं या तथ्यों की वास्तविकता प्रगट होती है और हमारे लिए सत्य का ज्ञान सम्भव होता है। घटनामय संसार की वास्तविकता सत्य की खोज की कुंजी है और वस्तुनिष्ठता उसी कुंजी से समस्त रहस्यों का रहस्योद्घाटन करने का एक साधन है। इस प्रकार वैषयिकता वैज्ञानिक अनुसन्धान की आधारशिला है। अतः इसके विषय में विस्तृत विवेचना की आवश्यकता है।

वस्तुनिष्ठता का महत्त्व—वस्तुनिष्ठ तथा वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता (Importance of Objectivity—Need of Objective and Scientific Study)

स्पष्ट है कि वस्तुनिष्ठता के बिना वैज्ञानिक अनुसन्धान केवल निरर्थक ही नहीं, प्रयोजनहीन भी है। वैज्ञानिक अनुसन्धान की सार्थकता इसी बात में निहित है कि हम तथ्यों व घटनाओं की वास्तविकताओं से परिचित हो जाएँ। यह परिचय तब तक सम्भव नहीं जब तक वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति न हो जाए। वस्तुनिष्ठता के अभाव में तथ्यों की वास्तविकता एक दूर का सपना बनी रहती है और सपना और कुछ भले ही हो, सत्य का द्योतक नहीं है। अतः घटनाओं की सत्यता को जानने के लिए अध्ययन-कार्य में वैषयिकता का होना परमावश्यक है। यह आवश्यकता सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सामाजिक घटनाओं व तथ्यों के प्रति

---

4. "Objectivity is the willingness and ability to axamine evidence dispassionately."—Green, *Sociology*, p. 2.

हमारे दिल में उस घटना की प्रकृति के अनुसार कुछ विशिष्ट प्रकार के लगाव या विरोध, प्रेम या घृणा, उचित या अनुचित, विश्वास-अविश्वास, आशा या निराशा, संस्कार या कुसंस्कार होता है जो कि उस घटना-विशेष के सम्बन्ध में वास्तविकता की खोज करने के पथ में एक बहुत बड़ी बाधा बन जाती है और हम या तो उस घटना की वास्तविकता से कोसों दूर चले जाते हैं या फिर अपने ही रंग में उसे रंगकर इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उस प्रस्तुतीकरण से घटना का वास्तविक रूप नहीं वरन् विकृत रूप ही हमारे सामने आता है। इस परिस्थिति से विमुक्ति वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति है। यह बात निम्नलिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगी :—

(क) **समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्थिति प्रदान करने के लिए** (To attribute scientific status to Sociology)—समाजशास्त्र को एक यथार्थ विज्ञान न मानने की गलती बहुत से विद्वान इसी आधार पर करते हैं कि समाजशास्त्र में वैषयिक अध्ययन नहीं होता है अथवा नहीं हो सकता है। समाजशास्त्र का साहित्य इसी प्रकार के अनेक अवैषयिक अध्ययनों, निष्कर्षों और सिद्धान्तों से भरपूर है। इन अध्ययनों का आधार अनुसन्धानकर्त्ता का अपना दृष्टिकोण, अटकलपच्चू विचार, सत्यता की खोज में सट्टेबाजी, पक्षपात, विशेष स्वार्थ, विशिष्ट आदर्श को प्रस्थापित करने की उत्कट अभिलाषा आदि हैं और इन्हीं अध्ययनों तथा सिद्धान्तों ने समाजशास्त्र को बदनाम कर रखा है और इस गलत धारणा को पनपाने में सहायक हुआ है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान 'समाजशास्त्र' वैज्ञानिक स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। समाजशास्त्र को इस कलंक से कलुषित होने से बचाने के लिए सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति अथवा वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाने का दृढ़ संकल्प अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक घटनाओं का भी वस्तुनिष्ठ अध्ययन सम्भव है—यह बात प्रमाणित हो चुकी है। आज केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के प्रति अधिकाधिक सचेत रहें और अपने पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण, अटकलपच्चू विचार, कल्पना तथा पूर्वधारणा से अपने को विमुक्त रखते हुए सामाजिक घटनाओं की वास्तविकताओं को ढूँढ़ने या जानने का निरन्तर प्रयत्न करें। समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्थिति प्रदान करने का और कोई पथ नहीं। अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वस्तुनिष्ठता आवश्यक है।

(ख) **निष्पक्ष निष्कर्षों की प्राप्ति के लिए** (To achieve unprejudiced conclusions)—सामाजिक अनुसन्धान में वस्तुनिष्ठता की सर्वप्रथम आवश्यकता व उसका महत्त्व यह है कि इसके बिना निष्पक्ष निष्कर्षों तक पहुँचना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए, कदापि, सम्भव नहीं। वैषयिकता का अर्थ ही है पक्षपात रहित होकर घटनाओं की वास्तविकताओं को ढूंढ़ निकालना। अतः निर्भरयोग्य निष्कर्षों तक पहुँचना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए तब तक सम्भव नहीं होता जब तक उसमें वस्तुनिष्ठ अध्ययन या अनुसन्धान करने की क्षमता न हो। इस अर्थ में वस्तुनिष्ठता वह साधन है जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक निष्कर्ष, न कि अनुसन्धानकर्त्ता का स्वयं का निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण के बिना सामाजिक अनुसन्धान अर्थहीन है। अतः सामाजिक अनुसन्धान की सार्थकता को बनाए रखने के लिए वैषयिकता की प्राप्ति परमावश्यक है। वैषयिक अध्ययन के द्वारा ही अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह सम्भव होता है कि वह अपने व्यक्तिगत पक्षपातों, अभिमतों, आदर्शों, मूल्यों तथा विचारों आदि से स्वतन्त्र रहते

हुए किसी सामाजिक घटना के सम्बन्ध में निर्भरयोग्य निष्कर्षों को निकाल सके। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के बिना अपने ही पक्षपात के हाथों से रिहाई उसके लिए सम्भव नहीं है।

(ग) सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान की वृद्धि के लिए (For the advancement of knowledge about social phenomena)—जैसा कि वस्तुनिष्ठता के अर्थ से ही स्पष्ट है वह वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति की आधारशिला है। इस आधारशिला के बिना हमारे वर्तमान ज्ञान-भण्डार की समृद्धि सम्भव नहीं। यदि हम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने के सम्बन्ध में निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे तो यह मानी हुई बात है कि उन घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे वास्तविक ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाएगी। यह वृद्धि सार्थक इस अर्थ में होगी कि सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे मन में जो सदियों-पुरानी भ्रान्त धारणाएँ हैं वे सब स्वतः ही दूर हो जाएँ। अज्ञानता के अन्धकार को दूर करना विज्ञान का सबसे बड़ा धर्म है और कोई भी समाजशास्त्री अपने इस धर्म का पालन तब तक नहीं कर सकता जब तक वह वैषयिक दृष्टिकोण का आश्रय न ले अर्थात् अपने अध्ययन में अधिकाधिक वैषयिकता की प्राप्ति के प्रति सचेत रहे और उस रूप में सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे वास्तविक ज्ञान की वृद्धि में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान (contribution) दे।

(घ) उचित रूप से प्रतिनिधित्व करने वाले तथ्यों की प्राप्ति के लिए (To get representative facts)—हमारा अनुसन्धान-कार्य और उससे प्राप्त निष्कर्ष विपथगामी व विकृत तभी होते हैं जबकि हम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को न अपनाकर अपने अध्ययन-क्षेत्र से कुछ अत्यन्त आकर्षक, अत्यन्त रोचक, अत्यन्त लोमहर्षक तथा अत्यन्त असाधारण घटनाओं को सुनकर अपने अध्ययन को 'असाधारण' होने की ख्याति देने का लोभ हम सम्भाल नहीं पाते हैं। ऐसा करने पर हमारा अध्ययन वास्तव में 'असाधारण' बन जाता है—असाधारण इस अर्थ में नहीं कि उसके द्वारा हमारे ज्ञान की कोई विशेष वृद्धि होती है, बल्कि असाधारण इस अर्थ में कि उस अध्ययन के द्वारा अध्ययन-वस्तु की कोई भी साधारण या सामान्य विशेषता का पता नहीं चलता है। इस प्रकार के अध्ययन से समाजशास्त्र का कोई भी भला नहीं होता। अध्ययन तो इस प्रकार का होना चाहिए जिससे कि अध्ययन-वस्तु के आम और खास दोनों ही पक्षों का समुचित स्पष्टीकरण हो। यह तब तक सम्भव नहीं जब तक कि हम अपने अध्ययन में इस प्रकार के तथ्यों का संकलन नहीं करते जो कि एक सामाजिक घटना के विभिन्न पक्षों का उचित प्रतिनिधित्व कर सकें और हमें उस घटना से सम्बद्ध विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में एक सन्तुलित ज्ञान प्रदान कर सकें। यह तभी सम्भव है जब हम वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनायें। इस प्रकार विषय से सम्बद्ध विद्यमान तथ्यों व उनकी वास्तविकताओं का यथार्थ अध्ययन करने के लिए वस्तुनिष्ठता का उपयोग परम आवश्यक है।

(ङ) वैज्ञानिक पद्धति के सफल प्रयोग के लिए (For successful use of scientific method)—सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का अपनाया जाना अध्ययन की यथार्थता के लिए प्रथम शर्त है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई अध्ययन-कार्य ठीक होगा अथवा गलत यह इस बात पर निर्भर होगा कि अध्ययनकर्त्ता वैज्ञानिक पद्धति को ठीक ढंग से काम में ला रहे हैं अथवा नहीं। पर वैज्ञानिक पद्धति का समुचित प्रयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसमें

वैषयिकता का अभाव हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वस्तुनिष्ठता और वैज्ञानिक पद्धति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना निरर्थक है। इसीलिए वैज्ञानिक पद्धति की प्रथम शर्त वस्तुनिष्ठता है और इसकी प्राप्ति वस्तुनिष्ठता पद्धति के द्वारा ही सम्भव है। अतः यदि हमारा उद्देश्य वैज्ञानिक पद्धति का सफल प्रयोग है तो अपने अध्ययन में वस्तुनिष्ठता लाने का प्रयत्न हमें करना ही होगा। वास्तविकता तो यह है कि यदि वैज्ञानिक पद्धति का उचित ढंग से उपयोग किया गया और यदि अध्ययन-कार्य में वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाया गया तो सत्य की खोज कठिन होने पर भी असम्भव या दूर का सपना नहीं रह जाएगी। पर यदि वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाया नहीं गया तो केवल वैज्ञानिक पद्धति हमें सत्य निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा सकेगी।

(च) सत्यापन के लिए (For verification)—वही सामाजिक अनुसन्धान विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है जिसकी कि हम कभी भी पुनःपरीक्षा कर सकते हैं। पुनःपरीक्षा अथवा सत्यापन का तत्त्व वैज्ञानिकता की एक आवश्यक शर्त है और इस शर्त की पूर्ति वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण को अपनाए विना सम्भव नहीं है। हमारा अध्यनन किस सीमा तक पुनःपरीक्षा के योग्य है, यह इस बात पर निर्भर है कि हमने किस स्तर तक अपने अध्ययन में वस्तुनिष्ठता को प्राप्त कर लिया है। अध्ययन में वस्तुनिष्ठता है, यह इस बात का द्योतक है कि हमारा अध्ययन हमारे अपने विचारों, भावनाओं या कल्पनाओं द्वारा प्रभावित नहीं अपितु वास्तविक तथ्यों पर सुप्रतिष्ठित है। कल्पना की छानवीन नहीं की जा सकती; अटकलपच्चू विचारों की पुनःपरीक्षा सम्भव नहीं होती; पक्षपात का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता, पर वास्तविक तथ्य तो खरे सिक्के हैं; जो चाहें उसकी परीक्षा और पुनःपरीक्षा करें, उसकी कितनी ही छानवीन की जाए तथ्य की वास्तविकता सदा स्पष्ट ही होगी। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह एक आवश्यक आवश्यकता है।

(छ) नए अनुसन्धानों की सम्भावनाओं को विकसित करने के लिए (To explore possibilities of new investigations)—वैषयिक अध्ययन नए अनुसन्धानों की सम्भावनाओं को विकसित करता है और वह इस रूप में कि वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के उद्देश्य से जब हम तथ्यों या घटनाओं की वास्तविकताओं को ढूँढ़ने या जानने का प्रयत्न करते हैं तो उस घटना या तथ्य के अनेक रहस्यमय या अस्पष्ट पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उन पक्षों से सम्बद्ध अनेक भ्रान्त धारणाएँ न केवल दूर हो जाती हैं वल्कि अनेक नई सम्भावनाओं के साथ प्रगट होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के दौरान में हम एक घटना से सम्बन्धित अनेक नई समस्याओं से परिचित हो जाते हैं और उनके विषय में अध्ययन करने की प्रवृत्ति हमारे अन्दर स्वतः ही उत्पन्न होती है या कम-से-कम उन नए पहलुओं या पक्षों के सम्बन्ध में जानकर अन्य कोई अनुसन्धानकर्त्ता उनके विषय में अध्ययन करने के लिए अग्रसर होता है। वास्तविकता यह है कि वस्तुनिष्ठता केवल एक सत्य को ही नहीं ढूँढ़ निकालती अपितु अन्य अनेक सम्भावित सत्यों की ओर संकेत भी करती है जिन्हें कि जानने या जिनके विषय में अनुसन्धान करने की इच्छा अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओं में जाग्रत हो सकती है। उदाहरणार्थ, यदि एक अनुसन्धानकर्त्ता बाल-अपराधी बनने के कारणों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि बाल-अपराध के जो प्रमुख कारण हैं उनमें आर्थिक स्थिति, विघटित परिवार, समुदाय की परिस्थिति आदि महत्त्वपूर्ण हैं। स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक कारण के एकाधिक पक्ष

हैं। उदाहरणार्थ, विघटित परिवार में सौतेली माँ, अनैतिक पारिवारिक वातावरण, माता या पिता की मृत्यु आदि विभिन्न पक्ष हो सकते हैं। इसी विषय पर आगे अध्ययन करने वाला कोई भी अनुसन्धानकर्त्ता उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर केवल यह पता लगाने का प्रयत्न नए तौर पर कर सकता है कि बाल-अपराधी बनाने में केवल सौतेली माँ की क्या भूमिका होती है। इस प्रकार प्रथम वस्तुनिष्ठ अध्ययन भविष्य में होने वाले अन्य अनेक अनुसन्धानों की सम्भावनाओं को विकसित करने में सहायक सिद्ध होता है।

वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाइयाँ (Difficulties in achieving Objectivity)

पिछले एक अध्याय में हम यह विवेचना कर चुके हैं कि सामाजिक घटनाओं की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—जैसे, सामाजिक घटनाओं की जटिलता, अमूर्तता, गुणात्मकता, परिवर्तनशीलता आदि। ये विशेषताएँ कुछ सीमा तक इस प्रकार की बाधाएँ बन जाती हैं कि जिससे वैज्ञानिक पद्धतियों का समुचित प्रयोग और इसीलिए तथ्यों की खोज भौतिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र के लिए बहुत-कुछ कठिन हो जाती है और जब तथ्यों की खोज उचित रूप में नहीं हो पाती तो वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति भी सरल नहीं रहती। उदाहरण के लिए सभी माताएँ या सभी पिता या सभी विद्यार्थी एकसमान नहीं होते जबकि एक जाति के सभी चूहे या एक विशेष प्रकार के सभी आम के पेड़ प्रायः समान प्रकार के होते हैं। अतः इनका इन समानताओं के आधार पर अध्ययन करना अथवा इनसे सम्बद्ध तथ्यों को खोजना हमारे लिए सरल होता है, पर यह बात माता-पिता, विद्यार्थी या अन्य सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती; क्योंकि उनमें अत्यधिक विविधताएँ हैं। केवल विविधताएँ नहीं, अधिकांश सामाजिक घटनाएँ सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होने के कारण अमूर्त होती हैं जिनका कि निरीक्षण-परीक्षण बहुत कठिन होने के कारण उनसे सम्बद्ध तथ्यों को खोजना सरल नहीं होता और इसीलिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाई का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक घटनाएँ गुणात्मक (qualitative) हैं, इस कारण परिमाणात्मक (quantitative) तौर पर उनकी अभिव्यक्ति, यदि असम्भव नहीं तो, कठिन अवश्य ही है। इस अर्थ में सामाजिक घटनाओं की गुणात्मकता वस्तुनिष्ठता की विरोधिनी है और तथ्यों की खोज की एक गम्भीर समस्या को उत्पन्न करती है; उसी प्रकार सामाजिक घटनाओं की परिवर्तनशीलता तथ्यों की खोज की एक अन्य समस्या को जन्म देती है, क्योंकि अपनी परिवर्तनशीलता के गुण के कारण सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध कोई भी तथ्य अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रहता और उसमें अनिश्चितता का तत्त्व किसी-न-किसी रूप में छिपा होता है। तथ्यों की खोज की इन सभी समस्याओं का विस्तृत विवरण हम पिछले एक अध्याय में प्रस्तुत कर चुके हैं इसलिए उन्हें यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहाँ हम केवल उन कठिनाइयों का उल्लेख करेंगे जो कि वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होती हैं—

(क) अध्ययन-विषय से सम्पूर्ण अलगाव सम्भव नहीं (Complete detachment from subject-matter not possible)—वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के पथ पर सर्वप्रथम बाधा तो यही है कि अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह अपने अध्ययन-विषय से अपने को पूर्णतया पृथक् मान ले; क्योंकि जिस विषय का वह

अध्ययन कर रहा है वह उस सामाजिक सम्बन्ध से सम्बद्ध है जिसका कि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में एक अभिन्न अंग है। अभिन्न इस अर्थ में नहीं कि वह उसी समाज का सदस्य है बल्कि अभिन्न इस अर्थ में कि वह स्वयं मानव है और किसी-न-किसी मानवीय घटना का अध्ययन कर रहा है। यदि वह मानवीय घटना उसके अपने समाज या समूह से सम्बन्धित है तो उसके प्रति उसके दिल में 'विशेष' स्थान है और यदि वह ऐसे विषय का अध्ययन कर रहा है जो कि उसके अपने समाज या समूह का नहीं है तो उस विषय के प्रति उसके दिल में कुछ-न-कुछ पक्षपात का होना भी स्वाभाविक है। दोनों में से किसी भी दशा में उसके लिए विषय से सम्पूर्ण अलगाव रखना सम्भव नहीं होता है। और लगाव, चाहे वह किसी भी रूप में हो, वैषयिकता की प्राप्ति में एक बहुत बड़ी कठिनाई बन जाता है। यही कारण है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में अनुसन्धानकर्त्ता का अपना राग-अनुराग, घृणा या स्नेह-भाव, द्वेष या द्वन्द्व, आसक्ति या विरक्ति, पसन्द या नापसन्द की कुछ-न-कुछ भूमिका अवश्य ही होती है और ये सब अध्ययन की प्रकृति, दिशा, लक्ष्य, तथ्यों के संकलन आदि को किसी-न-किसी रूप में अपने रंग में रंग देते हैं, चाहे उसके सम्बन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता सचेत हो अथवा नहीं, या ऐसा वह जानबूझकर करता हो या अनजाने में। किसी भी अवस्था में अध्ययन के विषय से सम्पूर्ण अलगाव न होना वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में कठिनाई उत्पन्न करता है।

(ख) भावनात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव (Influence of emotional tendencies)—अनुसन्धानकर्त्ता जिस विषय का अध्ययन कर रहा है वह सामाजिक जीवन का ही एक अंग है और उस पर अनेक प्रकार की भावनात्मक प्रवृत्तियों का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। विभिन्न सामाजिक घटनाओं के प्रति समाज में कुछ सामान्य भावनाएँ प्रचलित हो जाती हैं और अपने अनुसन्धान के दौरान में अनुसन्धानकर्त्ता उन भावनाओं का शिकार बन सकता है। उदाहरणार्थ, वेश्यावृत्ति को ही लीजिए—इस सामाजिक घटना का अध्ययन करते समय अनुसन्धानकर्त्ता उस भावनात्मक प्रवृत्ति का शिकार बन सकता है जिसके अनुसार सभी वेश्याओं को बुरा मान लिया गया है। अपना शरीर बेचकर पैसा कमाने के लिए वे सब-कुछ कर सकती हैं—यह सामान्य प्रचलित धारणा है और हो सकता है कि अनुसन्धानकर्त्ता इसके प्रभाव से अपने को विमुक्त न रख पाए। इसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली, अस्पृश्यता, जाति-प्रथा आदि का अध्ययन करते समय भी अनुसन्धानकर्त्ता पर भावनात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ सकता है और उसके लिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति कठिन हो सकती है।

(ग) विशिष्टमूलक भ्रान्ति (Particularistic fallacy)—श्री थॉमस (W. I. Thomas) के मतानुसार वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में एक और कठिनाई विशिष्टमूलक भ्रान्ति है जिसका कि तात्पर्य यह है कि सामाजिक घटना के अध्ययन में बहुधा अनुसन्धानकर्त्ता किसी एक कारण पर आवश्यकता से अधिक बल देकर या घटना के किसी विशेष पक्ष को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मान लेने की गलती कर बैठते हैं। वे अपने अध्ययन का निष्कर्ष या तो अपर्याप्त या असम्पूर्ण या असम्बद्ध तथ्यों के आधार पर निकाल लेते हैं। उदाहरण के लिए "बुरी संगत बाल-अपराधी का एक मात्र कारण है", "प्रजातीय भिन्नता ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति का एक मात्र कारण है", "पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण भारतीय संस्कृति ने अपनी विशिष्टता को बिलकुल ही खो दिया है"—इसी प्रकार के असंख्य निष्कर्ष विशिष्टमूलक भ्रान्ति के ही परिचायक हैं और इनका आधार अपर्याप्त या असम्बद्ध तथ्य हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति बहुत-कुछ असम्भव-सी प्रतीत होती है।

(घ) असत्य प्रतिमाएँ (False Idols)—श्री फ्रांसिस वेकन (Francis Bacon) ने एक विशिष्ट वाक्यांश के द्वारा उन गलतियों के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो कि किसी अनुसन्धान के दौरान में अनुसन्धानकर्त्ता प्रायः कर बठता है। उन्होंने लिखा है कि ये प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे—गुफ़ा की प्रतिमाएँ (Idols of Cave) अर्थात् वे गलतियाँ जिन्हें अनुसन्धानकर्त्ता अपने संकीर्ण तथा असम्वद्ध विचारों के फलस्वरूप एक घटना या व्यक्ति के सम्बन्ध में कर वैठता है; ये विचार उसके अपने विचार होते हैं अथवा ऐसे होते हैं जिनके विषय में कोई दूसरा नहीं जानता। इसी प्रकार न्यायालय या वादपीठ की प्रतिमाएँ होती है (Idols of Forum) अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता केवल शब्दों पर अनावश्यक भरोसा करने की गलती कर वैठता है। इसके अतिरिक्त वाजार की प्रतिमाएँ (Idols of the market-place) भी होती हैं अर्थात् प्रथा, परम्परा, रूढ़ि इत्यादि पर अनावश्यक वल देने और उसी के आधार पर निष्कर्षों को निकालने की गलती अनुसन्धानकर्त्ता कर सकता है। अन्त में, श्री बेकन के अनुसार, जनजाति की प्रतिमाएँ (The Idols of the Tribe) भी होती हैं जिसका कि तात्पर्य यह है कि अनुसन्धानकर्त्ता किसी वस्तु या घटना को अपने ही ढंग से देखने या विचारने की गलती करता है; अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण या जीवन के सम्बन्ध में अपने सीमित ज्ञान के बाहर निकलकर कुछ निष्कर्ष निकालना वहुधा अनुसन्धानकर्त्ता के लिए कठिन होता हैं।[5] ये सभी परिस्थितियाँ वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में वाधा उत्पन्न करती हैं।

(ङ) सामान्य ज्ञान और वास्तविक ज्ञान में भ्रम (Confusions regarding general knowledge and real knowledge)—श्री क्लाइड हार्ट (Clyde W. Hart) ने लिखा है कि वस्तुनिष्ठता का सम्बन्ध वास्तविक ज्ञान से है, न कि सामान्य ज्ञान से। जब एक अनुसन्धानकर्त्ता सामान्य ज्ञान (general knowledge) को ही वास्तविक ज्ञान मान लेता है या सामान्य ज्ञान के आधार पर ही निष्कर्षों तक पहुँचने, या कम-से-कम वस्तुनिष्ठता के निकट जाने का, प्रयत्न करता है तब वह वैज्ञानिक के रूप में एक असाधारण गलती कर बैठता है। कभी-कभी तो सामान्य ज्ञान के आधार पर जिस प्राक्कल्पना का निर्माण एक बार अनुसन्धानकर्त्ता कर लेता है उसी को ठीक प्रमाणित करने की धुन में वह तथ्यों को उसी दृष्टिकोण से देखता व उसी रूप में प्रस्तुत करता है। जो तथ्य उसके सामान्य ज्ञान से मेल नहीं खाता उसे वह सावधान होकर त्याग देता है। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया से और कुछ की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, पर वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सामान्य ज्ञान यथार्थ होता ही नहीं; इसका तात्पर्य केवल इतना है कि सामान्य ज्ञान की वास्तविकता की जाँच वास्तविक तथ्यों द्वारा न करने की प्रवृत्ति ही अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के पथ पर एक वाधा की सृष्टि करती है।

5. "There are *the idols of the cave*, or errors due to narrow and isolated thinking, to thinking characteristic of the given person alone, or experiences which one has had that no one else knows anything about. There are *the idols of the forum*, errors due to 'the influence of mere words over our minds', and due to putting unjustified reliance upon words, phrases, and language. There are *the idols of the market-place*, or errors arising out of undue reliance on traditions, traditional ways of thinking, and from 'received systems of thought'. There are *the idols of the tribe*, or errors due to one's human or anthropomorphic ways of looking at things. It is difficult for a person to get outside of a personal viewpoint, or to step outside of his own limited perspective of life."—Francis Bacon, *Navum Organum* (rev. ed., 1899), p. 319 ff.

(च) **पक्षपात व विरोधी-पक्षपातों की सम्भावना** (Possibility of prejudices and counter-prejudices)—कहा जाता है कि अनुसन्धानकर्त्ता को दुधारी तलवार पर चलना होता है और वह इस अर्थ में कि यदि वह अपने अध्ययन-विषय के प्रति पक्षपातपूर्ण मनोभाव को अपनाता है तो वह तटस्थता से दूर चला जाता है; और यदि वह उन पक्षपातों को जबर्दस्ती रोकने या हटाने का प्रयत्न करता है तो अनेक विरोधी-पक्षपात उसका रास्ता रोककर तटस्थता की प्राप्ति को असम्भव बना देते हैं। उदाहरणार्थ, एक संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में यदि एक अनुसन्धानकर्त्ता बिलकुल पक्षपातरहित होकर संयुक्त परिवार प्रणाली के दोषों का विश्लेषण करता है तो भी उसका वह अध्ययन एकतरफा हो जाएगा क्योंकि ऐसा करने पर वह विरोधी-पक्षपात के जाल में स्वतः ही फँस जाएगा और उसके अध्ययन व निष्कर्षों के विषय में यह कहा जाएगा कि उसने संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभों के प्रति अपनी आँखें मूँद ली हैं। इसी प्रकार यदि वह केवल लाभों का विश्लेषण करता है तो हानि वाला पक्ष छूट जाता है। हानि और लाभ दोनों के बीच में सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनाकर तटस्थता की प्राप्ति बहुत कठिन हो जाती है। यदि एक अनुसन्धानकर्त्ता जातिवाद को अच्छा कहता है तो वह विरोधी-पक्षपातों का शिकार बन जाता है और उसके माथे पर निष्पक्ष न होने का कलंक लगता है और यदि वह जातिवाद को बुरा कहता है तो भी वह विरोधी-पक्षपात का शिकार बनता है और जातिवाद की अच्छाइयों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने के लिए दोषी ठहराया जाता है। इस प्रकार पक्षपात और विरोधी-पक्षपात दोनों ही तटस्थता की प्राप्ति में बाधक सिद्ध होते हैं।

(छ) **सजातिवाद** (Ethnocentrism)—वस्तुनिष्ठता अथवा तटस्थता की प्राप्ति के रास्ते में एक और उल्लेखनीय बाधा सजातिवाद है। इसका तात्पर्य यह है कि दूसरों की तुलना में अपने समाज और सामाजिक घटनाओं के लिए प्रत्येक व्यक्ति के दिल में एक 'दुर्बल कोना' (soft corner) होता है और उसकी वह दुर्बलता इस रूप में प्रगट होती है कि वह अपने समाज की परिवार-व्यवस्था, धर्म, साहित्य, भाषा, अन्य सामाजिक व सांस्कृतिक संस्थाओं, विचारों तथा आदर्शों को 'सबसे अच्छा' मान लेता है। यह सबसे अच्छा होना वास्तविकता नहीं, उसकी दुर्बलता का ही परिचायक है और यह दुर्बलता वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधा की सृष्टि करती है क्योंकि इससे बचना अनुसन्धानकर्त्ता के लिए भी सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार जब वह दूसरे समाज की किसी सामाजिक घटना का अध्ययन करता है तो भी उसके लिए पक्षपात-रहित तटस्थ अध्ययन करना अत्यधिक कठिन होता है क्योंकि अपने समाज की तुलना में उसे अन्य समाज की घटनाएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं और साथ ही, वह उन घटनाओं का मूल्यांकन भी अपने समाज के मापदण्डों (standards) के आधार पर करता है। इसलिए अनुसन्धानकर्त्ता के लिए तटस्थता की प्राप्ति सम्भव नहीं रहती है। वास्तविकता तो यह है कि सजातीयता की भावना उस लगाव की परिचायक है जो कि एक व्यक्ति के मन में उसके अपने समाज की प्रथाओं, परम्पराओं, संस्थाओं, मूल्यों एवं आदर्शों आदि के प्रति स्वभावतः ही विकसित हो जाता है, और जहाँ लगाव है वहाँ वस्तुनिष्ठता का होना कठिन होता है। अलगावपन (detachment) वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति की प्रथम शर्त है। सजातिवाद इस शर्त का विरोधी है, इसलिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधक है।

(ज) **अनुसन्धानकर्त्ता का व्यक्तिगत स्वार्थ** (Vested interest of the Researcher himself)—ऐसा भी होता है कि स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता का अपना स्वार्थ

तटस्थता की प्राप्ति में बाधा डालता है। ऐसा तभी होता है जब कि वह सत्य की बलि अपने स्वार्थ की वेदी में दे बैठता है। जिस अनुसन्धानकर्त्ता के लिए अपना निजी स्वार्थ सर्वोपरि है, उसके लिए तटस्थता की प्राप्ति होना या न होना कोई अर्थ ही नहीं रखता है। अपना स्वार्थ उसे अन्धा बना देता है और वह समस्त वास्तविकताओं के प्रति आँख मूँदकर तथ्यों को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिससे कि उसके स्वार्थों की (न कि तटस्थता की) अधिकतम पूर्ति हो या उन स्वार्थों को न्यूनतम आघात पहुँचे। श्री चार्ल्स वुड (Charles Wood) ने लिखा है कि "अनुसन्धानकर्त्ता का व्यक्तिगत स्वार्थ वह पैमाना है जो कि वस्तुनिष्ठता को नहीं, स्वयं अपने-आपको (व्यक्तिगत स्वार्थ को) नापता है और उसी नाप के आधार पर अध्ययन की सार्थकता का मूल्यांकन करता है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत स्वार्थ वस्तुनिष्ठता का दुश्मन है और अन्धे-अध्ययन का साथी। यही कारण है कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थों द्वारा प्रेरित अनुसन्धानकर्त्ता जब यह देखता है कि उसकी खोज का परिणाम उसके हित अथवा स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रतिकूल है तो वह या तो तथ्यों को विकृत या अवास्तविक रूप में प्रस्तुत कर परिणाम को अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करता है अथवा केवल ऐसे तथ्यों का ही संकलन करता है जो कि उसकी रुचि व स्वार्थों के अनुकूल परिणामों को निकालने में सहायक सिद्ध होंगे। दोनों ही स्थितियों में तटस्थता की प्राप्ति दूर का सपना बन जाती है।

(झ) बाह्य हितों का हस्तक्षेप (Interference by External Interests)—वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में उस समय भी अत्यधिक कठिनाई होती है जब कि अध्ययन-कार्य में बाह्य स्वार्थ-समूहों का हस्तक्षेप होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक अनुसन्धान इस प्रकार का है जिससे कि टाटा-बिड़ला जैसे पूँजीपतियों के अनेक काले कृत्यों (Black deeds) का भण्डाफोड़ होने का अन्देशा है तो उस स्थिति को रोकने के लिए टाटा-बिड़ला आदि सम्बद्ध स्वार्थ-समूह अनुसन्धानकर्त्ता पर इस प्रकार का दबाव व प्रभाव डालने का प्रयत्न करेंगे कि उनके कारनामों पर पर्दा पड़ा रहे अर्थात् वास्तविक तथ्य प्रगट न होने पाए। बाह्य हितों का हस्तक्षेप एक दूसरे अर्थ में भी हो सकता है। जिस प्रकार अनुसन्धानकर्त्ता अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए वास्तविक तथ्यों को तोड़-मोड़कर प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार अपने ही समाज या समूह के प्रति एक लगाव होने के कारण वह उस अवस्था में भी वास्तविक तथ्यों को छुपा सकता है यदि वह यह अनुभव करे कि उसके द्वारा उसके अपने समूह या समाज के स्वार्थों की रक्षा होगी या उस समूह या समाज के जीवन का कोई लज्जाजनक पक्ष प्रगट होने से बच जाएगा। उदाहरणार्थ, अपने ही समाज या समूह में पाए जाने वाले यौन-व्यभिचार सम्बन्धी तथ्यों को एक अनुसन्धानकर्त्ता उतनी स्पष्टता और तत्परता से प्रस्तुत नहीं कर सकता है जितनी कि अन्य किसी समाज या समूह में पाई जाने वाली उसी घटना (phenomenon) को वह प्रगट करेगा और वहाँ के लोगों की नैतिकता का स्तर कितना निम्न है इसे दर्शाने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार बाह्य हित भी सामाजिक घटनाओं के वस्तुनिष्ठ अथवा तटस्थ अध्ययन में बाधक बनते हैं।

(ञ) नैतिक आदर्श व मूल्य (Moral Ideals and Values)—प्रत्येक समाज या समूह का अपना कुछ नैतिक आदर्श और मूल्य होता है जिनमें कि एक अनुसन्धानकर्त्ता बचपन से पलता है। यह उसका नैतिक पर्यावरण होता है और अन्य पर्यावरण की भाँति इसके प्रभाव से भी वह अपने को पूर्णतया विमुक्त नहीं कर पाता है। उसके अपने नैतिक आदर्श व मूल्य वह मापदण्ड (stadard) या पैमाना बन जाते हैं जिसके

आधार पर वह विभिन्न घटनाओं को देखने या नापने का प्रयत्न करता है। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने लिखा है, "अध्ययन में होने वाली गलतियों का एक अधिक सामान्य तथा कम सचेत (less conscious) स्रोत वैज्ञानिकों की, विशेषकर समाज-वैज्ञानिकों की यह प्रवृत्ति है कि वे समुदाय की प्रचलित नैतिक संहिता (Code of Morals) अथवा नीति सम्बन्धी अपने निजी विचारों को तथ्यों के संकलन एवं तोड़-मोड़ (manipulation) के कार्य को प्रभावित करने की छूट दे देते हैं।"[6] वास्तव में विज्ञान की खोज को सही रूप में नैतिकता से परे होना चाहिए। पर जब इस मानदण्ड को सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने वाला अनुसन्धानकर्त्ता अपनाने में असफल रहता है तभी उसका अनुसन्धान वस्तुनिष्ठता से भी दूर चला जाता है।

(ट) शीघ्र निर्णय की आवश्यकता (Need of immediate Decision)—अध्ययन में आवश्यक वस्तुनिष्ठता का अभाव उस स्थिति में भी हो सकता है जब कि अनुसन्धानकर्त्ता का अध्ययन-विषय ऐसा है जिस पर कि वह तुरन्त निर्णय लेता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। जल्दबाजी में अनुसन्धान-कार्य तो दूर रहा, साधारण कार्य भी बिगड़ जाता है। उस स्थिति में शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, न कि निर्भरयोग्य तथ्यों के संकलन व उनका निष्पक्ष रूप में विश्लेषण करने पर। वास्तव में जल्दबाजी में पर्याप्त, सम्पूर्ण तथा सम्बद्ध तथ्यों का संकलन सम्भव भी नहीं होता और शीघ्र निर्णय की आवश्यकता के कारण अनुसन्धानकर्त्ता के लिए जो कुछ भी तथ्य सरलतापूर्वक उपलब्ध (readily available) होते हैं, वह उन्हीं पर निर्भर कर बैठता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति सम्भव नहीं होती क्योंकि सामाजिक घटनाएँ अत्यधिक जटिल होने के कारण इनके सम्बन्ध में कोई भी यथार्थ निष्कर्ष तब तक निकाला नहीं जा सकता जब तक पर्याप्त समय देकर उपयुक्त, सम्पूर्ण व सम्बद्ध तथ्यों को संकलित न किया जाए, अति सावधान होकर उनका वर्गीकरण न किया जाए और अतितर्कयुक्त ढंग से व विचार-विवेचना के पश्चात् कोई निष्कर्ष न निकाला जाए। सामाजिक अनुसन्धान में शीघ्रता का कोई स्थान नहीं होता। वास्तविक सामाजिक निर्णय तक पहुँचने के लिए वर्षों के अथक एवं निष्ठापूर्ण परिश्रम की आवश्यकता होती है परन्तु अधिकांश सामाजिक समस्याओं की प्रकृति ही कुछ ऐसी होती है कि उनके सम्बन्ध में शीघ्रता से कोई कदम उठाने की आवश्यकता अनुभव की जाती है और इसीलिए उनके विषय में अनुसन्धान करने का पर्याप्त समय नहीं मिल पाता है। अतः इन अध्ययनों में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति वास्तव में कठिन होती है।

(ठ) मिथ्या-झुकाव तथा पक्षपात (Bias and Prejudice)—श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) का कहना है कि "मिथ्या-झुकाव और पक्षपात सभी विज्ञानों में जटिलता उत्पन्न करने वाले कारक हैं परन्तु उनका महत्त्व सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा भौतिक विज्ञानों में बहुत कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सामाजिक घटनाएँ प्रायः जिन सामान्य संवेगात्मक भाव-ग्रन्थियों (common emotional complexes) का शिकार बन जाती हैं उनसे भौतिक विज्ञानों के अध्ययन-वस्तु को हम दूर रख सकते हैं। यही कारण है कि स्वाभाविक इन्द्रियों (normal senses)

---

6. "A more common and less conscious source of error is the tendency of scientists, and especially of social scientists, to permit the current code of morals of the community or their own personal notions of ethics to influence them in their collection and manipulation of data. The findings of science are *per se* non-ethical."—G. A. Lundberg, *op. cit.*, p. 53.

द्वारा भौतिक तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण (perception) बहुत-कुछ समरूप (uniform) होता है।"[7] इस कथन से यह स्पष्ट है कि भौतिक घटनाओं का अध्ययन करने में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव (bias) कोई विशेष बाधा नहीं पहुँचाता है क्योंकि उनके साथ अनुसन्धानकर्त्ता का कोई संवेगात्मक सम्बन्ध नहीं होता है और न ही उनके प्रति पक्षपात या मिथ्या-झुकाव से उसे किसी प्रकार का लाभ होने की आशा होती है। साथ ही, अनुसन्धानकर्त्ता को यह भी डर नहीं होता है कि यदि भौतिक घटना की कोई दुर्बलता उसके अध्ययन द्वारा प्रगट भी हो जाए तो उसकी आँच उस पर या 'मानवता' पर आएगी। अतः उसके लिए भौतिक घटनाओं के सम्बन्ध में सच को सच कहने में संकोच नहीं होता या उसके अपने विचार, रुचि, आदर्श तथा मूल्यों को ठेस भी नहीं पहुँचती। पर यदि कुछ ठेस पहुँचती भी है या यदि उसे किसी भौतिक घटना से कुछ लगाव है, तो भी वह इतना गम्भीर नहीं होता कि उससे अनुसन्धानकर्त्ता का वचना और पक्षपातरहित होकर अध्ययन करना असम्भव हो। श्री केल्लर (Keller) ने उचित ही लिखा है कि "एक व्यक्ति अपने दिल को ठेस पहुँचाए विना ही एक मक्खी के अनेक या वहुत कम पैरों को गिन सकता और परिणाम को सूचित कर सकता है।"[8] पर उस व्यक्ति के लिए, जो कि अपने संयुक्त परिवार को वहुत चाहता है, यह एक अत्यधिक कठिन कार्य होगा यदि उसे यह प्रमाणित करने को कहा जाए कि व्यक्ति की प्रगति संयुक्त परिवार प्रणाली के विनाश होने पर ही हो सकती है। इसका कारण यह है कि सामाजिक घटनाओं के क्षेत्र में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव का स्पर्श सर्वत्र होता है और वे अध्ययनकर्त्ता को पग-पग पर वस्तुनिष्ठता से दूर खींचते जाते हैं। हम पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं आदि का अध्ययन करते समय पक्षपातरहित और मिथ्या-झुकाव (bias) से विमुक्त हो सकते हैं, पर जव हम अपने ही विषय में अध्ययन करते हैं तो वही काम हमारे लिए कठिन हो जाता है क्योंकि हम वैज्ञानिक तटस्थता को पूर्णतया वनाए रखने में असफल होते हैं। अध्ययनकर्त्ता जिस सामाजिक समस्या का अध्ययन करता है उसके पक्ष या विपक्ष में उसके पूर्वविचार कुछ-न-कुछ होते ही हैं, अपने आदर्शों के अनुसार उसे वह अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित की श्रेणी में ला भी सकता है और अपने हितों के अनुसार तथ्यों को तोड़-मोड़ भी सकता है। इनमें से किसी भी अवस्था में वह पक्षपात व मिथ्या-झुकाव का शिकार बन जाता है और अध्ययन की वस्तुनिष्ठता को खो बैठता है। पर भौतिक विज्ञानों में तथ्यों को तोड़-मरोड़कर रखने की आवश्यकता अथवा सम्भावना कम होती है क्योंकि तथ्यों को उनके मौलिक या वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने में उसे किसी प्रकार का भय नहीं होता और न ही कोई स्वार्थ साधन की आशा होती है। इसके विपरीत सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में राज-भय, कुल-भय और जाति-भय उसे पक्षपाती वना देता है, उसका अपना स्वार्थ उसे एक विशेष और असत्य आधारों पर झुकने के लिए विवश कर देता

---

7. "Bias and prejudice are complicating factors in all sciences, but their importance is much less in the physical than in the social sciences. The chief reason for this is that the subject-matter of the physical sciences tends to be more removed from the common emotional complexes which we develop toward many social phenomena ; and hence the preceptions by normal senses of physical facts tend to be fairly uniform."—G. A. Lundberg, *Ibid.*, p. 47.

8. "A man can count the legs of a fly and report his findings without having his heart wrung because there are too many or too few."—Keller, 'Sociology and Science', *The Nation*, 102 ; 457, 1916.

है। वह यह भूल नहीं पाता है कि 'जो कुछ' का अध्ययन वह कर रहा है वह उसी का एक अभिन्न अंग है और इसी लिए उसका अपना विचार, राग-द्वेष, आदर्श, मूल्य; रुचि-अरुचि उसे पक्षपात (prejudice) व मिथ्या-झुकाव (bias) के पंजों में निर्दयता-पूर्वक ला फेंकता है। इन्हीं से प्रभावित व निर्देशित अनुसन्धानकर्त्ता तटस्थता प्राप्ति की बात को भूलकर अपनी ही त्रुटियों को संजीव करने का प्रयास करता है।

पर इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम पक्षपात व मिथ्या-झुकाव (bias) के अर्थ व प्रकृति से परिचित हो जाएँ। श्री जेम्स ड्रिवर (James Drever) के अनुसार "**पक्षपात** एक मनोवृत्ति है जो कि संवेगात्मक रंग में रंगा होता है और जो किसी विशिष्ट क्रिया, वस्तु, व्यक्ति या सिद्धान्त का विरोधी अथवा अनुरागी होता है।"[9] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पक्षपात में संवेग (emotion) का तत्त्व अत्यधिक होता है और उसी तत्त्व के आधार पर हम किसी वस्तु, घटना या व्यक्ति के पक्ष या विपक्ष में ऐसी राय दे बैठते हैं जिसमें कि युक्तता (rationality) का नितान्त अभाव होता है। इसीलिए जब अनुसन्धानकर्त्ता पक्षपात से प्रेरित होकर किसी अध्ययन-कार्य को करता है या यदि अनुसन्धान के दौरान में उसमें पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण पनप जाता है तो तटस्थता की प्राप्ति असम्भव होती है और उसका निर्णय यथार्थ नहीं होता है। श्री ऑगबर्न (Ogburn) ने लिखा है, "पक्षपात उचित विवेचना के बिना ही जल्दबाजी में किया गया निर्णय या मत है।"[10] जब स्वयं पक्षपात की प्रकृति ही ऐसी है तो उससे प्रभावित अनुसन्धानकर्त्ता के अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की आशा शायद ही की जा सकती है। पक्षपात की भाँति मिथ्या-झुकाव भी वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है। **मिथ्या-झुकाव** (Bias), श्री ऑगबर्न के अनुसार, वह अतार्किक मनोवृत्ति है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के दृष्टिकोण का झुकाव एक विशेष वस्तु या घटना की ओर होता है और वह उसके विषय में कुछ मनमाने विचारों या निष्कर्षों को पनपाता है। अतः स्पष्ट है कि पक्षपात की भाँति मिथ्या-झुकाव भी अनुसन्धानकर्त्ता को घटना की वास्तविकता को देखने से रोकता है और कुछ पूर्वधारणाओं के अनुसार काल्पनिक विचारों को व्यक्त करने या असत्य निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए प्रेरित करता है। अतः स्पष्ट है कि मिथ्या-झुकाव के कारण भी अनुसन्धानकर्त्ता के लिए वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति असम्भव-सी हो जाती है क्योंकि यह मिथ्या-झुकाव उसे इस प्रकार प्रभावित करता है कि घटनाओं की वास्तविकताओं के प्रति वह उदासीन हो जाता है। **पक्षपात और मिथ्या-झुकाव के स्रोत** (Sources of Prejudice and Bias) निम्नलिखित हैं :—

(i) **अनुसन्धानकर्त्ता का मिथ्या-झुकाव** (Bias of Researcher)—स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता मिथ्या-झुकाव का एक स्रोत बन सकता है और वह उस स्थिति में जबकि उसमें सामाजिक घटना या तथ्यों के प्रति पर्याप्त अलगाव का अभाव हो अर्थात् किसी विशेष तथ्य या घटना से उसे विशेष लगाव हो। ऐसा होने पर वह अनुसन्धानकर्त्ता तथ्यों की वास्तविकताओं की ओर से अपनी आँखें मूंद लेगा और अपनी कुछ

---

9. "Prejudice is an attitude, usually with an emotional colouring, hostile to, or in favour of actions or objects of a certain kind, certain persons and certain doctrines." —James Drever.

10. "Prejudice is a hasty judgement or an opinion formed without due examination."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, Routledge and Kegan Paul, London, 1957, p. 294.

पूर्वधारणाओं व युक्तिरहित विचारों के आधार पर घटना के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालना ही उचित समझेगा। व्यावहारिक रूप में भी यह देखा गया है कि हम अपनी भावनाओं, अनुभवों, आदर्शों, रुचि-अरुचि, नैतिकता के मापदण्डों आदि से अपने को पूर्णतया पृथक् नहीं कर पाते हैं और इनसे सम्बन्धित संवेगात्मक (emotional) लहरें हमारी युक्तियुक्तता को अपने साथ बहा ले जाती हैं।

(ii) **सूचनादाता का मिथ्या-झुकाव** (Bias of the Informants)—पक्षपात और मिथ्या-झुकाव का स्रोत केवल अनुसन्धानकर्त्ता ही नहीं अपितु वे सभी लोग हो सकते हैं जिनसे कि हमें अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त होती है। अनुसन्धानकर्त्ता के लिए स्वयं एक घटना के सम्बन्ध में सब-कुछ देखकर मालूम करना सम्भव नहीं होता। उसे अन्य अनेक सूचनादाताओं (Informants) के द्वारा बताई गई बातों पर भरोसा करना ही होता है। पर ये सूचनादाता भी सामाजिक प्राणी होने के कारण 'व्यक्तिगत राग-द्वेष, रुचि-अरुचि, उचित-अनुचित का विचार, सजातीयता आदि के शिकार बन जाते हैं और जो कुछ सूचनाएँ वे देते हैं उनमें पक्षपात व मिथ्या-झुकाव के तत्त्व विद्यमान होते हैं, वे जो कुछ बताते हैं या सूचना देते हैं वे या तो झूठ होते हैं या सच व झूठ का मिश्रण होता है या उनमें अतिशयोक्ति होती है या उन पर संवेगात्मक रंग (emotional colour) चढ़ा होता है अथवा अपने समाज या समूह की कुछ दुर्बलताओं या 'कलंकों' को छिपाने के लिए कतिपय आवश्यक तथ्यों को गोल-मोल ढंग से प्रस्तुत करते हैं। श्री पिडिंगटन (Piddington) ने निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा यह समझाने का प्रयत्न किया है कि सूचनादाता किस रूप में मिथ्या-झुकाव के स्रोत बन सकते हैं[11]—(१) जैसा कि हम सभी लोग करते हैं सूचनादाता भी उन घटनाओं के सम्बन्ध में झूठ बोल सकते हैं अथवा बहाना बना सकते हैं जिन्हें कि वे दूसरों के समक्ष कहना नहीं चाहते। (२) हो सकता है कि वे डींग मार रहे हों या घटना को बढ़ा-चढ़ाकर कह रहे हों। ऐसा भी हो सकता है कि किसी भौतिक अथवा सामाजिक लाभ की प्राप्ति की आशा में घटना की वास्तविकता को छिपा रहे हों। (३) शिष्टाचार के नाते सूचनादाता केवल ऐसे ही उत्तर प्रस्तुत करते हैं जो कि उनकी समझ से अनुसन्धानकर्त्ता के अनुकूल होगा। (४) कभी-कभी सूचनादाता अकारण ही अनुसन्धानकर्त्ता का मजाक उड़ाने का आनन्द अनुभव करने के लिए मनमाने ढंग से सूचनाएँ देते हैं। (५) सही उत्तर ज्ञात न होते हुए भी अपने सम्मान की रक्षा के लिए भी सूचनादाता गलत उत्तर देता है। (६) उत्तर मालूम होते हुए भी संकोच या लज्जा के कारण वे अज्ञानता प्रगट कर सकते हैं।

(iii) **नमूना लेने में मिथ्या-झुकाव** (Bias in Sampling)—वस्तुनिष्ठ तथ्यों की प्राप्ति उस दिशा में भी कठिन हो जाती है जबकि नमूने के चुनाव में मिथ्या-झुकाव प्रगट होता है। ऐसी दशा में अनुसन्धानकर्त्ता अपने स्वयं की समझ, आदर्श तथा मापदण्डों के अनुसार निदर्शनों (नमूनों) का चुनाव करता है, अथवा केवल कुछ आकर्षक और रोचक निदर्शनों का चुनाव करके घटना का अध्ययन करता है। कारण कुछ भी हो, पर यदि नमूना प्रतिरूप प्रदर्शक (representative) नहीं है तो उसके आधार पर प्राप्त सूचनाएँ भी यथार्थता से दूर होती हैं। यदि निदर्शन बहुत छोटा या बहुत बड़ा है तो दोनों ही स्थितियों में घटना के सम्बन्ध में वास्तविकता का ज्ञान हमें

---

11. Ralph Piddington, *An Introduction to Social Anthropology*, Oliver and Boyd, London, 1952, p. 21.

नहीं होगा। निदर्शन के अत्यधिक छोटा होने का परिणाम यह होगा कि घटना के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान समुचित नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार यदि निदर्शन का आकार अत्यधिक विस्तृत है तो उसमें अनुसन्धानकर्त्ता के वैज्ञानिक नियन्त्रण से बाहर जाने की सम्भावना सदा रहेगी।

(iv) **दोषपूर्ण प्रश्नावली** (Faulty Questionnaire)—यदि प्रश्नावली या अनुसूची के प्रश्नों का निर्माण दोषपूर्ण है तो उनके द्वारा प्राप्त सूचनाएँ भी यथार्थता से दूर होंगी और अध्ययन में वस्तुनिष्ठता का पनपना बहुत कठिन हो जाएगा। ऐसा होता है कि अपने स्वयं के पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव के कारण बहुधा अनुसन्धान-कर्त्ता प्रश्नावली एवं अनुसूची में तटस्थ भाव से प्रश्नों को रख नहीं पाता है और केवल उन्हीं प्रश्नों को उनमें सम्मिलित करता है जो कि अनुसन्धानकर्त्ता के अपने विचार, भावना, आदर्श तथा मानदण्डों के अनुसार महत्त्वपूर्ण हैं। यदि अनुसन्धानकर्त्ता को प्रश्नावली व अनुसूची बनाने की सही कला मालूम नहीं है तो उसके लाख पक्षपात-रहित होने पर भी सही सूचनाओं का संकलन सम्भव नहीं होता है और अध्ययन में वस्तुनिष्ठता पनप नहीं पाती है। उदाहरणार्थ, अनुसूची या प्रश्नावली में प्रस्तुत प्रश्न ऐसे हो सकते हैं जो कि सूचनादाताओं के मन में सन्देह, उद्वेग या निष्क्रियता की भावना को उभार दें जिसके फलस्वरूप वे बनावटी उत्तर देने में प्रवृत्त हो जाएँ। इसी प्रकार अस्पष्ट प्रश्न भी अस्पष्ट उत्तरों को जन्म देते हैं।

(v) **तथ्यों की दोषपूर्ण विवेचना** (Faulty handling of Data)—इसके अन्तर्गत न केवल तथ्यों का संकलन अपितु उनका वर्गीकरण तथा निष्कर्षीकरण सम्मि-लित है। अगर अनुसन्धानकर्त्ता इन तीनों में से किसी स्तर पर किसी भी प्रकार की गलती कर बैठा है या केवल अपनी भावनाओं, रुचि-अरुचि और मानदण्डों द्वारा निर्देशित हुआ है तो उसके अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति एक दूर का सपना बनी रहेगी, यदि तथ्यों का संकलन दोषपूर्ण है तो उनके आधार पर घटना के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि संकलित तथ्यों का वर्गीकरण अनुसन्धानकर्त्ता ने अपनी सुविधा के अनुसार किया है तो भी उसके अनुसन्धान में पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव झलकेगा। इसके अतिरिक्त, यदि वर्गीकरण किए हुए तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालते समय अनुसन्धानकर्त्ता किसी विशेष आदर्श, मूल्य या अच्छे-बुरे की भावना से प्रभावित है तो उसका निष्कर्ष यथार्थ नहीं होगा क्योंकि उस निष्कर्ष में अनुसन्धानकर्त्ता का पक्षपातपूर्ण मनोभाव व मिथ्या-झुकाव के तत्त्व स्पष्ट होंगे।

वस्तुनिष्ठता प्राप्त करने के साधन
(Means for achieving Objectivity)

यह सच है कि सामाजिक घटनाओं का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पर इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि सामाजिक घटनाओं के अनुसन्धान वस्तुनिष्ठता से रहित होते हैं और उनमें यथार्थ निष्कर्ष की सम्भावनाएँ बिलकुल ही नहीं होती हैं। वास्तविक परिस्थिति इससे कुछ विपरीत ही है। वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र में कठिन हो सकती है, पर कभी भी असम्भव नहीं। अपने अनुभवों तथा अन्वेषणों के आधार पर समाजशास्त्रियों ने उन अनेक साधनों का पता लगा लिया है जिनके द्वारा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में भी वस्तुनिष्ठता प्राप्त की जा सकती है। कहा जाता है कि वस्तुनिष्ठ रहने की इच्छा और वस्तुनिष्ठता

प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है। तटस्थ रहने की इच्छा का सम्बन्ध स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता से है और उसकी अभिव्यक्ति इस रूप में होती है कि अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के लिए सचेत रहता है और उसके लिए समस्त व्यक्तिगत राग-द्वेष, विचार, मूल्य, पक्षपात, मिथ्या-झुकाव आदि से हर पग पर बचता है। दूसरी ओर वस्तुनिष्ठता प्राप्त करने का प्रयत्न इस बात का द्योतक है कि अनुसन्धानकर्त्ता ऐसी विधियों को अपनाता है, ऐसे तथ्यों को संकलित करने का प्रयत्न करता है कि उसका अध्ययन अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ हो सके। इन इच्छाओं तथा प्रयत्नों को ही उन साधनों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि सामाजिक अनुसन्धान में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ये साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रयोगसिद्ध पद्धतियों का उपयोग** (Use of Empirical Methods)—अध्ययन में वस्तुनिष्ठता लाने का सर्वप्रमुख व उल्लेखनीय साधन यह है कि सम्पूर्ण अध्ययन-कार्य में, कहीं भी काल्पनिक या दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक विचारों को कोई भी स्थान न देकर केवल प्रयोगसिद्ध पद्धतियों का ही उपयोग किया जाए। प्रयोगसिद्ध पद्धति से हमारा तात्पर्य अध्ययन की ऐसी प्रणाली से है जो कि वास्तविक निरीक्षण, सुनिश्चित तथ्य, परिमाणात्मक (quantitative) आंकड़ों तथा ठोस प्रमाणों पर आधारित हो और सर्वप्रकार से गुणात्मक (qualitative) दृष्टिकोण से बिलकुल परे हो। प्रयोगसिद्ध प्रणाली व्यक्ति के व्यक्तिगत विचारों, भावनाओं, आदर्शों, मूल्यों या मानदण्डों पर विश्वास नहीं करती है और न ही इन्हीं के आधार पर अपने निष्कर्षों को प्रभावित होने देती है। वह तो वास्तविक निरीक्षण के द्वारा प्राप्त वास्तविक तथ्यों पर ही निर्भर रहती है और इसलिए प्रयोगसिद्ध पद्धति यह नहीं सुनती है कि व्यक्तिगत भावना, धारणा या आदर्श क्या कहना है बल्कि वह तो यह देखती है कि वास्तविक तथ्य या ठोस प्रमाण क्या कह रहे हैं अथवा क्या कहना चाहते हैं। प्रयोगसिद्ध पद्धति की मान्यता यह है कि व्यक्तिगत विचार, अनुभव या धारणा सच भी हो सकती है और झूठ भी, इसलिए इन पर भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका सत्यासत्य अनिश्चित है। अनिश्चितता में आँख मूँदकर कूदना सट्टेबाजी है और वैज्ञानिक अध्ययन में सट्टेबाजी का कोई स्थान नहीं है। अतः व्यक्तिगत धारणा, भावना, विचार या मान्यताएँ कुछ भी क्यों न हों, यदि वास्तविक तथ्य और ठोस प्रमाण इनके विपरीत भी हों तो वही विपरीत निष्कर्ष वास्तव में सत्य हैं। यही प्रयोगसिद्ध पद्धति का मान्य सिद्धान्त है और इसीलिए यह पद्धति सभी गुणात्मक दृष्टिकोणों का बहिष्कार कर परिमाणात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न करती है। यही कारण है कि आज सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग दिन-प्रतिदिन समाज-विज्ञानों में लोकप्रिय होता जा रहा है और साथ ही इस प्रकार की प्रविधियों को ढूंढ़ा गया है और ढूंढ़ा जा भी रहा है जिनके द्वारा सामाजिक घटनाओं का गणनात्मक नाप सम्भव हो और सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति सम्भव हो।

(२) **पारिभाषिक शब्दों एवं अवधारणाओं का मानकीकरण** (Standardization of terms and concepts)—पारिभाषिक शब्दों एवं अवधारणाओं की कमी समाजशास्त्र की एक उल्लेखनीय कमी है क्योंकि अस्पष्ट शब्द व अवधारणाएँ अस्पष्ट अध्ययन एवं अस्पष्ट निष्कर्ष के लिए बहुत अधिक उत्तरदायी होते हैं। यदि हम प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञानों के साहित्यों का अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि इन विज्ञानों में पारिभाषिक शब्दों को ग्रीक, लैटिन इत्यादि भाषाओं से लेकर उनको इतना मानक बना लिया गया है कि पारिभाषिक शब्द का एक विशिष्ट अर्थ सभी स्थानों

पर समान होता है; और उस शब्द के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। पर समाजशास्त्र में इस प्रकार सार्वभौम रूप से एक ही अर्थ में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों एवं अवधारणाओं का अत्यन्त अभाव देखने को मिलता है। इसमें पारिभाषिक शब्द साधारण बोलचाल की भाषा से लिए जाते हैं इसलिए शब्द मानक नहीं हैं; और विभिन्न विद्वान् एक ही शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में करते हैं। फलतः अध्ययन में वस्तुनिष्ठता पनप नहीं पाती है। इस कमी को दूर करने का प्रयत्न आज तेजी से हो रहा है और पारिभाषिक शब्दों एवं अवधारणाओं का अधिकाधिक मानकीकरण किया जा रहा है जिससे कि एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोगन्न किया जाए। ऐसा होने पर यह सम्भावना कम हो जाती है कि अध्ययन में अस्पष्टता व अनिश्चितता पनप जाएगी। अतः स्पष्ट है कि वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति का एक साधन पारिभाषिक शब्दों और अवधारणाओं का मानकीकरण है जिससे कि अपनी व्यक्तिगत सुविधानुसार इनके अलग-अलग अर्थ न लगाए जा सकें और न ही उन पर व्यक्तिगत भावनाओं व धारणाओं का प्रभाव पड़ सके। व्यक्तिगत दायरे से बाहर निकलना वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति की दिशा में प्रथम कदम है।

(३) अनुसूची एवं प्रश्नावली पद्धति का प्रयोग (Use of Schedule and Questionnaire Methods)—वस्तुनिष्ठ अनुसन्धान के लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपने अनुसन्धान-कार्य में उन प्रविधियों का प्रयोग करें जिनमें पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (Bias) के प्रवेश की सम्भावनाएँ न्यूनतम हों। निरीक्षण पद्धति में इस प्रकार की सम्भावना अधिक होती है अतः प्रश्नावली एवं अनुसूची पद्धति को अधिक निर्भरयोग्य माना गया है। इनमें कुछ प्रमाणित प्रश्न होते हैं जिनका उत्तर सूचनादाता को देना होता है अतः स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता का पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव इसमें अधिक हस्तक्षेप नहीं कर पाता है इसके सिवा कि प्रश्नों को ही वह तोड़-मोड़कर प्रश्नावली में प्रस्तुत करे। इतना ही नहीं, प्रश्नावली एवं अनुसूची में जिन शब्दों एवं अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है वे सभी मानकीकृत (standardized) होते हैं; फलस्वरूप उनका प्रयोग सभी सूचनादाता एक ही अर्थ में करते हैं और प्रश्नों को इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि सूचनादाता को अपने मनमाने ढंग से कुछ कहने की स्वतन्त्रता न मिले और उसका उत्तर इस प्रकार हो कि उसे परिमाणात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जा सके। अतः स्पष्ट है कि यदि इन पद्धतियों का सावधान होकर प्रयोग किया गया तो सामाजिक अध्ययनों में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति सम्भव है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रश्नावली एवं अनुसूची पद्धतियाँ बिलकुल ही दोषरहित होती हैं; फिर भी आवश्यक सतर्कता बरतने पर बहुत-कुछ यथार्थ निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

(४) समूह शोध पद्धति का प्रयोग (Use of Group Research Method)—व्यक्तिगत पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव पर रोक लगाने और इस प्रकार वस्तुनिष्ठता के अधिक निकट पहुँचने का एक दूसरा उपाय सामूहिक शोध पद्धति है। इससे हमारा तात्पर्य यह है कि एक सामाजिक घटना का अध्ययन पृथक्-पृथक् रूप में और पृथक्-पृथक् समय पर विभिन्न अनुसन्धानकर्त्ताओं के द्वारा न होकर उसका अध्ययन दो या अधिक अनुसन्धानकर्त्ता एकसाथ मिलकर एक ही प्रकार की पद्धति द्वारा करें। इस पद्धति से लाभ यह है कि एक की कमी को दूसरा अनुसन्धानकर्त्ता पूरा कर देता है और इस प्रकार सम्पूर्ण अध्ययन के दोष पर्याप्त सीमा तक दूर हो जाते हैं। इस पद्धति में विभिन्न अनुसन्धानकर्त्ता अनुसन्धान के पश्चात् अपने निष्कर्षों की तुलना

करके घटना के सम्बन्ध में अधिक यथार्थ जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह भी हो सकता है कि अनुसन्धानकर्त्ता एक ही समस्या का अध्ययन विभिन्न रूपों में करें और उनसे प्राप्त निष्कर्षों की तुलना करके घटना के सम्बन्ध में सत्यासत्य का पता लगाने का प्रयत्न करें। इस पद्धति का एक तीसरा रूप यह भी हो सकता है कि एक ही व्यक्ति दो समान क्षेत्रों में एक ही घटना का अध्ययन करे तथा उनसे प्राप्त परिणामों की तुलना कर किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचे। इन सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस पद्धति का आधार यही है कि एक पक्ष के दोषों को दूसरे पक्ष के द्वारा समाप्त किया जाए। पर यह तभी सम्भव है जबकि विभिन्न अध्ययन-कार्यों में एक ही पद्धति या पद्धतियों का प्रयोग किया जाए।

(५) **दैव निदर्शन का उपयोग** (Use of Random Sampling)—वस्तुनिष्ठता प्राप्ति में एक कठिनाई दोषपूर्ण ढंग से निदर्शनों का चुनाव करने के कारण भी उत्पन्न होती है। अपनी किसी पूर्वधारणा या पक्षपात के कारण अनुसन्धान-कर्त्ता ऐसे निदर्शनों को चुनता है जो कि उस घटना का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते। इस दोष से बचने के लिए दैव निदर्शन पद्धति का उपयोग लाभप्रद सिद्ध होता है। इस पद्धति के अन्तर्गत निदर्शनों का चुनाव बिना किसी क्रम के अनायास किया जाता है ताकि अध्ययन-विषय की प्रत्येक इकाई को निदर्शन में आने का समान अवसर मिल सके और अनुसन्धानकर्त्ता निदर्शनों के चुनाव के मामले में अपनी मनमानी न कर पाए। दैव निदर्शन पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि यदि किसी समग्र (whole) से अनायास ही बिना किसी क्रम के चुनाव किया जाए तो अच्छी, बुरी, औसत दर्जे आदि सभी प्रकार की इकाइयों के चुने जाने की समान सम्भावना रहती है। इस प्रकार दैव निदर्शन पद्धति निदर्शन के चुनाव में प्रविष्ट हो जाने वाले पक्षपात व मिथ्या-झुकाव पर रोक लगाकर अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है।

(६) **प्रयोगात्मक पद्धति का उपयोग** (Use of Experimental Method)—कहा जाता है कि समाजशास्त्र की एक बहुत बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें प्रयोग-शाला पद्धति का उपयोग भौतिक विज्ञानों की भाँति प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं हो पाता है। इसीलिए सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करते हुए समाजशास्त्री बाह्य दशाओं पर नियंत्रण कर विभिन्न स्थितियों में अध्ययन-विषय को रखकर निरीक्षण-परीक्षण नहीं कर पाता है। पर अब यह प्रमाणित हो चुका है कि यह धारणा गलत है। प्रयोगात्मक पद्धति का विकास एवं उसके द्वारा अधिकाधिक वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति करने का प्रयास समाजशास्त्र के पद्धतिशास्त्र की प्रगति का ही परिचायक है। इस पद्धति में प्रत्येक प्रकार से समान दो समूहों का चुनाव कर लिया जाता है। इनमें से एक समूह को नियंत्रित समूह मान लिया जाता है और दूसरे को प्रयोगात्मक समूह। नियंत्रित समूह में किसी भी प्रकार के परिवर्तन नहीं लाए जाते हैं, जबकि प्रयोगात्मक समूह में किसी एक कारक के द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है अर्थात् प्रयोगात्मक समूह में कोई कारक उत्पन्न करके उसका प्रभाव देखा जाता है। इसके पश्चात् फिर दोनों समूहों की तुलना की जाती है। अगर इस तुलना से यह पता चलता है कि प्रयोगात्मक समूह में कोई परिवर्तन हुआ है तो यह सिद्ध हो जाता है कि उस परिवर्तन का वही कारक है। उदाहरणार्थ दो समान जनसंख्या व सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति वाले समूहों को चुन लिया जाता है। उनमें से एक को वैसे ही रहने दिया जाता है, पर दूसरे में विवाह की आयु को बढ़ा दिया जाता है। ऐसा

करने से यदि इस दूसरे समूह में जनसंख्या की वृद्धि प्रथम समूह की तुलना में कम पाई जाती है तो जनसंख्या की वृद्धि में कमी का कारक विवाह की आयु का बढ़ाना माना जाता है। इस प्रकार किसी कारक के प्रभावों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन इस प्रणाली द्वारा सम्भव होता है।

(७) **यांत्रिक साधनों का उपयोग** (Use of Mechanical Devices)—अध्ययन को व्यक्तिगत पक्षपातों से अप्रभावित रखने तथा अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा तथ्यों को तोड़-मरोड़कर रखने की सम्भावना को कम करने के लिए सामाजिक अनुसन्धानों में यांत्रिक साधनों का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इन साधनों में फोटोग्राफ, नक्शे, टेप-रिकार्डर, सचल चलचित्र आदि उल्लेखनीय हैं। इन साधनों से प्राप्त सूचनाओं या तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनमें इच्छानुसार परिवर्तन करना या मनमाने ढंग से तोड़-मोड़ करना सम्भव नहीं होता है। इसीलिए इनके माध्यम से वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष तक पहुँचना सम्भव होता है।

(८) **अन्तःवैज्ञानिक या सहयोगी पद्धति का प्रयोग** (Application of Interdisciplinary or Cooperative Approach)—समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सम्पूर्ण समाज या सामाजिक घटनाओं तक विस्तृत है। ये सामाजिक घटनाएँ आर्थिक हो सकती हैं अथवा राजनैतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक इत्यादि। इन विशिष्ट प्रकार की घटनाओं का अध्ययन अलग-अलग विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों द्वारा किया जाता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये सभी घटनाएँ एक-एक विशिष्ट श्रेणी के अन्तर्गत आने के कारण एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् हों और आर्थिक घटनाओं का कोई सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं से तथा सामाजिक घटनाओं का कोई सम्बन्ध राजनैतिक घटनाओं से नहीं हो। वास्तविक परिस्थिति बिलकुल उल्टी है। ये सभी घटनाएँ एक-दूसरे से न केवल सम्बद्ध ही होती है अपितु एक-दूसरे पर आधारित भी होती हैं। इसीलिए एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इसी सत्य के आधार पर आज किसी भी घटना के एक कारक पर बल देने की गलती (particularistic fallacy) समाज-वैज्ञानिक नहीं करते हैं। अपराध का केवल सामाजिक कारक ही होता है, यह कहने के बजाय हम उसके आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक आदि कारकों की भी विवेचना करते हैं और तभी हमारे अध्ययन में यथार्थता या वस्तुनिष्ठता पनप पाती है। ऐसा करना हमारे लिए तभी सम्भव होता है जबकि उस विषय पर विभिन्न विज्ञानों द्वारा निकाले गए निष्कर्षों का प्रभावपूर्ण उपयोग करने में हम सफल होते हैं। अपराध के आर्थिक कारकों को जानने के लिए अर्थशास्त्र का सहयोग, राजनैतिक कारकों के लिए राजनीतिशास्त्र का सहयोग, मनोवैज्ञानिक कारकों की खोज के लिए मनोविज्ञान का सहयोग आवश्यक होता है। इस प्रकार विभिन्न विज्ञानों के सहयोग पर आधारित अध्ययन या दृष्टिकोण को ही अन्तःवैज्ञानिक (interdisciplinary) या सहयोगी अध्ययन कहते हैं। अब यह स्वीकार किया जाता है कि अनुसन्धान-कार्य के दौरान में विभिन्न विज्ञानों के बीच जितना अधिक सहयोग होगा अर्थात् अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में दूसरे विज्ञानों के निष्कर्षों को जितना अधिक काम में लिया जाएगा, अध्ययन के निष्कर्ष उतने अधिक वस्तुनिष्ठ व यथार्थ होंगे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी अर्थशास्त्री श्री ली-प्ले (Le-play) ने इसी पद्धति के द्वारा पारिवारिक स्तर का अध्ययन किया था।[12] उस अध्ययन का उद्देश्य कारीगरों के पारिवारिक स्तर पर औद्योगीकरण के प्रभावों का अध्ययन करना था। उन्होंने अपने शोध-कार्य (research

12. Frederic Le-Play, *Ouvriers Europeans* Paris: Imprimeries Imperiales, 1895.

work) में अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्र के विद्वान्, मनोवैज्ञानिक आदि के अतिरिक्त इंजीनियरों से भी सहायता प्राप्त की थी और इस प्रकार उन्होंने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे उन्हें आज भी गलत साबित नहीं किया जा सका है। इस पद्धति की विशेषता यह है कि एक विषय, घटना या समस्या का अध्ययन सभी दृष्टिकोणों से हो जाता है और उस घटना के सभी पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, विभिन्न विज्ञानों के निष्कर्षों के दोष भी तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रगट हो जाते हैं और प्रत्येक को अपनी त्रुटियों को सुधारने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है।

इस पद्धति के प्रयोग के तीन सम्भावित रूप हो सकते हैं—**प्रथम**, तो यह कि केवल समाजशास्त्री सम्पूर्ण अध्ययन-कार्य स्वयं करे और यथासमय आवश्यकता के अनुसार दूसरे विज्ञानों के विशेषज्ञों से उनसे सम्बद्ध विषयों में परामर्श ले ले। **द्वितीय**, एक समस्या या घटना का अध्ययन करने के उद्देश्य से सम्बद्ध विज्ञानों के विशेषज्ञ स्वयं योजना बनाकर अपना-अपना अध्ययन अलग-अलग करें और बीच-बीच में आवश्यकतानुसार विचार-विनिमय के लिए संयुक्त रूप से मिलते रहें तथा अन्त में अपनी-अपनी खोजों का एकीकरण कर लें। **तृतीय**, विभिन्न विज्ञानों में उपलब्ध प्रविधियों के आधार पर विषय के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध अलग-अलग विशेषज्ञ स्वतंत्रतापूर्वक अपने-अपने क्षेत्र में अनुसन्धान करें और बाद में उनके निष्कर्षों का समन्वय करके फिर अनुसन्धान किया जाए। इनमें से चाहे किसी भी रूप को अपनाया जाए, पर प्रत्येक दशा में अन्त:वैज्ञानिक पद्धति अध्ययन में वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं, परमावश्यक भी है। वर्तमान समय में इसके महत्त्व की चर्चा करते हुए श्रीमती यंग (Young) ने लिखा है, "सहयोगी शोध (cooperative research) की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह वर्तमान जीवन में जटिलतापूर्वक बुनी हुई सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक शक्तियों के जाल के अध्ययन एवं विश्लेषण को सरल बना देता है। प्रत्येक सहयोगी वैज्ञानिक न केवल अध्ययन-वस्तु को एक स्पष्ट रूप प्रदान करता है अपितु पद्धतिशास्त्र के मामले में भी इस ढंग से आगे बढ़ सकता है कि विभिन्न सामाजिक तत्त्वों (social elements) के प्रकार्यात्मक अन्त:सम्बन्धों (functional interrelationship) के कतिपय विशिष्ट पक्षों को देखना उसके लिए सम्भव हो।"[13] द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से पूर्व डिमिट्रि गस्टी (Dimitrie Gusti) ने रुमानिया के ग्रामीण जीवन का विस्तृत तथा गहन अध्ययन करने के लिए विभिन्न विज्ञानों के प्राय: ६० विशेषज्ञों की एक टोली (team) बनाई थी और उन्हें एक-सी (uniform) पद्धतियों द्वारा समान लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए प्रशिक्षित किया था। ऐसा करने का उद्देश्य ज्ञान के कृत्रिम शैक्षिक विभागीकरण को भंग करना तथा प्रकार्यात्मक अन्त:प्रवेशन को प्रोत्साहित करना था।[14]

13. "One of the most significant considerations in cooperative research is that it facilitates the study and analysis of the complex web of social-psychological-economic forces, intricately interwoven in modern life. Each collaborator not only may provide a new orientation as to subject-matter but also may proceed methodologically in a way which enables him to view certain particular aspects of the functional interrelationship of the various social elements."—Pauline V. Young, *op. cit.*, p. 110.

14. "By such procedure Gusti aimed to provide a "far-reaching uniformity of outlook which helps to breakdown the artificial academic departmentalization of knowledge, and promotes functional penetration."—P. V. Young, *op. cit.*, p. 110.

इस पद्धति में सफलता तभी मिल सकती है जब कि प्रत्येक सहयोगी वैज्ञानिक को स्वतंत्रतापूर्वक तथा खुलेआम दूसरे सहयोगियों की समालोचना करने की छूट हो। अपने ही क्षेत्र में काम करने वाला एक विशेषज्ञ अपने को अपने विषय के इतना निकट पाता है कि वह उसकी त्रुटियों को पकड़ नहीं पाता है। अतः उसी क्षेत्र में काम करने वाले दूसरे विशेषज्ञों द्वारा की गई समालोचना के बिना वह यथार्थता को प्राप्त नहीं कर सकता। श्री केल्लॉग (Kellog) ने कहा है कि एक वैज्ञानिक भी अधिकांश क्षेत्रों (fields) में एक नव-सिखिया होता है। सामान्य तौर पर प्रयोग में लाए गए वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्निहित गूढ़ अर्थ को समझे बिना यदि वह केवल अपने ही विज्ञान की विशिष्ट प्रविधियों (techniques) का उपयोग करता है तो वह एक अन्धविश्वासी सिद्धान्तकार ही बन सकेगा, वास्तविक वैज्ञानिक नहीं।[15]

यद्यपि अन्तःवैज्ञानिक पद्धति वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति का एक अति उत्तम साधन है, पर इस साधन से काम लेना भी उतना ही कठिन है। इसके रास्ते में दो प्रमुख कठिनाइयाँ आ सकती हैं—**प्रथम**, तो यह कि विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों को एकसाथ जुटाकर **समन्वयात्मक सामान्य योजना बनाना कठिन होता है**। प्रत्येक विशेषज्ञ का समस्या के प्रति अपना-अपना पृथक् दृष्टिकोण होता है और उसी के अनुसार अध्ययन की दिशा को मोड़ने का वह प्रयत्न करता है; यहाँ तक कि अन्य सहयोगी वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत समालोचनाओं की भी अवहेलना करता है। दूसरी, कठिनाई यह होती है कि **पद्धतियों का समन्वय भी एक कठिन कार्य है**। प्रत्येक विज्ञान की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है और इन सब पद्धतियों का मेल एक ही घटना या समस्या के अध्ययन-कार्य में हो जाना बहुत कठिन है। फिर भी ये अधिक निराशाजनक कठिनाइयाँ नहीं हैं, यदि विभिन्न विशेषज्ञ आपस में मिलकर उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए ईमानदारी से कार्य करने का दृढ़ संकल्प कर लें। आपसी सहयोग और संयुक्त प्रयत्नों द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए काम करने की लगन अन्तःवैज्ञानिक पद्धति की सफलता की कुंजी है। श्रीमती यंग (Young) के शब्दों में, "सहयोगी कार्य के लिए उन व्यक्तियों के अनुशासित सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता है जो निजी-स्वार्थों, तार्किक दलीलों या ईर्ष्याओं द्वारा विचलित न हों।"[16]

पर केवल सहयोगी प्रयत्न से ही वैज्ञानिक शोध-कार्य में सफलता की प्राप्ति अनिवार्य है—ऐसी बात नहीं है। यदि सहयोग करने वाले वैज्ञानिक अपने लक्ष्यों व दृष्टिकोण में विद्यमान आधारभूत भिन्नता को स्वीकार नहीं करते हैं तो केवल सहयोग की मात्रा ही सफलता नहीं ला सकती। इसके लिए समस्त भिन्नताओं को भूलकर एक सामान्य मंच (common platform) पर आ मिलना परमावश्यक है। सहयोगी शोध एक ही आधारभूत कार्य-कलापों पर ध्यान केन्द्रित करने, और एक ही सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने पर निर्भर करता है। "वस्तव में, जैसा

---

15. "Even the scientist is a layman in most fields. If he simply uses the special techniques of his own field without undertaking the deeper meaning of the scientific method as applied generally, he may be as blindly dogmatic or as bad a dupe as anyone in other fields."—Charles E. Kellog, 'What is Farm Research' in Department of Agriculture, Science in Farming, *The Yearbook of Agriculture*, 1943-1947, p. 22.

16. "Cooperative work presupposes disciplined, united effort of persons who will not be distracted by self-interests, logic arguments or jealousies."—P.V. Young, *op. cit.*, p. 111.

कि आज हम अधिक स्पष्ट रूप में देखते हैं, सामाजिक विज्ञानों को वास्तव में वैज्ञानिक होने के लिए साथ-साथ जीना या मरना पड़ेगा। पुराना व्यक्तिवाद (individualism) आज पतन के मार्ग पर है, और समाज-वैज्ञानिक सामाजिक बनते जा रहे हैं।"[17] यही कारण है कि आधुनिक झुकाव इस ओर है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण होते हुए भी विभिन्न विज्ञानों के बीच जो खाई या दीवार है उसे नष्ट कर दिया जाए जिससे कि सबकी सहयोगिता से प्रत्येक की और प्रत्येक की सहयोगिता से सबकी प्रगति सम्भव हो, सरल हो तथा सन्तोषजनक भी हो। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक पृथकता की नीति को त्यागकर श्रम-विभाजन व विशेषीकरण के साथ-साथ समन्वयात्मक सहयोगिता या सहकारिता की नीति को उत्तरोत्तर अपनाते जा रहे हैं। उद्देश्य यह है कि पारस्परिक लेन-देन के बीच ही सामाजिक विज्ञान व अनुसन्धान आगे की ओर, कुशलता की ओर, प्रगति की ओर निरन्तर बढ़ते जाएँ!

---

17. "In fact, as we see it today more clearly, the socia sciences to be truly scientific must stand or fall together. The old individualism is in retreat, and......social scientists are becoming socialized."—Smith and White, eds. Chicago : *An Experiment in Social Science Research*, Chicago, University of Chicago Press, 1929, p. 223.

४. सामाजिक शोध के सिद्धान्त—प्रकृति, साधन तथा पद्धतियाँ

(THEORIES OF SOCIAL RESEARCH—NATURE, MEANS AND METHODS)

इस रहस्यमय जगत् में न जाने कितने रहस्य छिपे हुए हैं। अपनी जिज्ञासा-प्रवृत्ति के कारण मानव उन रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए या अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए सदा तत्पर रहता है। यह तत्परता इसकी सभ्यता, ज्ञान और प्रगतिशील प्रकृति की परिचायिका है। उसमें जानने की, नवीनता को ढूँढ़ निकालने की और अज्ञात को खोज निकालने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इस प्रवृत्ति के कारण ही कुछ वस्तुओं या घटनाओं के विषय में वह 'सब कुछ' जानता है, कुछ के विषय में उसकी जानकारी अधूरी है और कुछ के विषय में वह अब भी कुछ नहीं जानता है। इसीलिए जानने या खोजने का कार्यक्रम या मनुष्य की प्रयत्नशीलता आज भी जारी है। इस प्रयत्नशीलता का उद्देश्य ज्ञान का विस्तार, अस्पष्ट ज्ञान का स्पष्टीकरण तथा विद्यमान ज्ञान का सत्यापन होता है। इसी को शोध कहते हैं, यही नवीन ज्ञान की प्राप्ति का एक व्यवस्थित साधन और घटनाओं के अन्तःस्थल तक पैठने का एक अस्त्र है। जब इसी अस्त्र का प्रयोग सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की वृद्धि, उसके स्पष्टीकरण तथा सत्यापन के लिए किया जाता है तो उसीको सामाजिक शोध कहते हैं। इस अध्याय में हम इसी के विषय में विवेचना करेंगे।

सामाजिक शोध का अर्थ
(Meaning of Social Research)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानव-क्रिया के सभी क्षेत्रों में शोध का अर्थ ज्ञान तथा बोध की निरन्तर खोज है। परन्तु वही ज्ञान व बोध वैज्ञानिक होते हैं जिनमें वैज्ञानिक शोध के दो आवश्यक तत्त्व अवश्य विद्यमान हों—इनमें से **प्रथम** तत्त्व है **निरीक्षण**—इसके द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखकर हम कतिपय तथ्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं। **दूसरा** तत्त्व है—**कारण दर्शाना** जिसके द्वारा इन तथ्यों का अर्थ, उनका पारस्परिक सम्बन्ध एवं विद्यमान वैज्ञानिक ज्ञान से उनका सम्बन्ध निश्चित किया जाता है।[1] यही दोनों तत्त्व यदि सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में किए गए

---

1. "Research in all fields of human activity means continued search for knowledge and understanding. But, not all knowledge and understanding is scientific. Scientific research is essentially made up of two elements—(1) Observation by which knowledge of certain facts is obtained through sense perception. (2) Reasoning by which the meaning of these facts, their inter-relation, and their relation to the existing body of scientific knowledge are ascertained as far as the existing state of knowledge and investigator's ability permit."

अनुसन्धान में विद्यमान हैं तो उसे सामाजिक शोध कहते हैं।

इस दृष्टिकोण से सामाजिक शोध का अर्थ किसी सामाजिक समस्या को सुलझाने या किसी प्राक्कल्पना की परीक्षा करने, नवीन घटनाओं को खोजने या कतिपय घटनाओं के बीच नवीन सम्बन्धों को ढूँढ़ने के उद्देश्य से किसी यथार्थ विधि का उपयोग है। यह यथार्थ विधि इस प्रकार की होनी चाहिए जो कि वैज्ञानिक शर्तों को पूरी करती हो तथा जिसकी सहायता से अनुसन्धान किए गए विषय का सत्यापन सम्भव हो।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक शोध वह क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन-विधि है जिसके आधार पर सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में हम नवीन ज्ञान की प्राप्ति करते हैं या विद्यमान ज्ञान को विस्तृत या परिष्कृत करते हैं एवम् विभिन्न घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की व उपलब्ध सिद्धान्तों की पुनःपरीक्षा करते हैं। और भी संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि **सामाजिक घटनाओं या विद्यमान सिद्धान्तों के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाई गई वैज्ञानिक विधि सामाजिक शोध है।**

अतः स्पष्ट है कि सामाजिक शोध, वैज्ञानिक नियमानुसार, उस मानवीय क्रियाकलाप (human activity) की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की वृद्धि सम्भव होती है तथा अनेक घटनाओं व उनके कारणों के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक बोध प्राप्त होता है और साथ ही उन घटनाओं व उनके कारणों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हम नवीन जानकारी प्राप्त करते हैं। सामाजिक शोध के विषय में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि यह ज्ञान-प्राप्ति की वह विधि है जो कि निरीक्षण, वर्गीकरण, प्रयोग तथा निष्कर्षीकरण की सामान्य वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित होती है और उसी पद्धति के द्वारा न केवल अज्ञात सामाजिक घटनाओं को खोजा जाता है अपितु ज्ञात सामाजिक घटनाओं की भी विवेचना या विश्लेषण किया जाता है। इस अर्थ में सामाजिक शोध वैज्ञानिक अनुसन्धान का ही एक विशेष रूप है जिसका कि सम्पर्क सामाजिक तथ्यों, घटनाओं, मानवीय क्रियाकलाप तथा उसमें पाए जाने वाले अन्तःसम्बन्धों से होता है। सामाजिक शोध सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में सत्य की खोज करने की एक वैज्ञानिक विधि है। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो सकेगी।

सामाजिक शोध की परिभाषा
(Definition of Social Research)

श्रीमती यंग (P. V. Young) के अनुसार, "सामाजिक शोध एक वैज्ञानिक योजना है जिसका कि उद्देश्य तार्किक तथा क्रमबद्ध पद्धतियों के द्वारा नवीन तथ्यों का अन्वेषण अथवा पुराने तथ्यों की पुनःपरीक्षा एवम् उनमें पाए जाने वाले अनुक्रमों (sequences), अन्तःसम्बन्धों, कारण सहित व्याख्याओं तथा उनको संचालित करने वाले स्वाभाविक नियमों का विश्लेषण करना है।"[2]

श्री मोसर (Moser) ने लिखा है कि सामाजिक घटनाओं व समस्याओं के

2. "We may define social research as a scientific undertaking which, by means of logical and systematized methods, aims to discover new facts or old facts, and to analyze their sequences, inter-relationships, causal explanations and the natural laws which govern them."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 44.

सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति के लिए किए गए व्यवस्थित अनुसन्धान को हम सामाजिक शोध कहते हैं।[3]

श्री बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "एकसाथ रहने वाले लोगों के जीवन में क्रियाशील अन्तर्निहित प्रक्रियाओं का अनुसन्धान ही सामाजिक शोध है।"[4]

श्री ह्विटने (Whitney) का कथन है, "समाजशास्त्रीय शोध में मानव-समूह के सम्बन्धों का अध्ययन होता है।"[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **सामाजिक शोध वह वैज्ञानिक विधि है जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं व समस्याओं के कारणों, अन्तःसम्बन्धों तथा उनमें अन्तर्निहित प्रक्रियाओं का अध्ययन, विश्लेषण व निरूपण किया जाता है।** सामाजिक शोध सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अनुसन्धान है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि सामाजिक शोध वास्तव में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के विषय में अध्ययन करने की एक वैज्ञानिक योजना है। चूंकि यह वैज्ञानिक है अतः इसके अन्तर्गत समस्त अनुसन्धान-कार्य वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ही होता है; इसमें अटकलपच्चू विचार या असम्बद्ध तरीकों का कोई भी स्थान नहीं है। यह तार्किक तथा क्रमबद्ध पद्धतियों पर निर्भर है और इन्हीं पद्धतियों के द्वारा यह सामाजिक जीवन व घटनाओं के विषय में अन्वेषण करता है, पुराने सिद्धान्तों की पुनः-परीक्षा करता है तथा विभिन्न सामाजिक तथ्यों के बीच पाए जाने वाले अन्तःसम्बन्धों व अनुक्रमों (sequences) को दर्शाता है। सामाजिक शोध का एक कार्य यह भी है कि वह समस्त घटनाओं की कारण सहित व्याख्या करे तथा उन नियमों को भी समझाए जिनके द्वारा वे नियन्त्रित व संचालित होती हैं। श्रीमती यंग की इस परिभाषा से यही बात स्पष्ट होती है।

श्री मोसर (Moser) की परिभाषा अधिक सरल है। उनका कहना है कि सामाजिक शोध एक व्यवस्थित अनुसन्धान है जिसका उद्देश्य सामाजिक घटनाओं या समस्याओं के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति है। इसके विपरीत श्री बोगार्डस (Bogardus) का कथन है कि सामाजिक जीवन बिताने वाले लोगों के जीवन की गहराई में पहुँचना और उसमें क्रियाशील अन्तर्निहित प्रक्रियाओं को ढूँढ़ निकालना ही सामाजिक शोध है। इस प्रकार श्री बोगार्डस के अनुसार सामाजिक जीवन में अन्त-र्निहित नियमों का अनुसन्धान ही सामाजिक शोध का प्रमुख कार्य है। श्री ह्विटने (Whitney) की परिभाषा सम्भवतः सबसे सरल है। समाज या समूह का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने पर ही निर्भर करता है। अतः यदि समाज या सामा-जिक जीवन से सम्बद्ध किसी घटना के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना है तो उसमें अन्तर्निहित सम्बन्धों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। श्री ह्विटने के अनुसार सामाजिक शोध उसी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन है। इन समस्त परिभाषाओं की विवेचना से हम अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक शोध वह

---

3. "Systematized investigation to gain new knowledge about social phenomena and problems, we call social research."—C. A. Moser, *Survey Methods in Social Investigation*, Heinemann, London, 1961, p. 3.

4. "Social research is the investigation of the underlying processes operative in the lives of persons who are in association."—Emory S. Bogardus, *Sociology*, p. 543.

5. "Sociological research includes a study of human group relationships."—Whitney.

व्यवस्थित वैज्ञानिक विधि है जिसके द्वारा सामाजिक जीवन या उसमें अन्तर्निहित सामाजिक सम्बन्धों व प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में क्रमबद्ध अनुसन्धान के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। और भी संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि **सामाजिक शोध सामाजिक जीवन व सम्बन्धों तथा उसमें अन्तर्निहित प्रक्रियाओं व नियमों की एक वैज्ञानिक अनुसन्धान-विधि है।**

सामाजिक शोध के उद्देश्य
(Objects of Social Research)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम सामाजिक शोध के निम्नलिखित उद्देश्यों का उल्लेख कर सकते हैं; परन्तु यहाँ प्रारम्भ में ही यह कह देना उचित होगा कि सामाजिक शोध के उद्देश्यों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—**प्रथम** सैद्धान्तिक अथवा ज्ञान सम्बन्धी उद्देश्य और **द्वितीय** व्यावहारिक अथवा प्रयोगवादी उद्देश्य। उपर्युक्त परिभाषाओं में विशेषतया प्रथम उद्देश्य पर बल दिया गया है; परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि इन विद्वानों द्वारा सामाजिक शोध के व्यावहारिक (applied) पक्ष की भी अवहेलना नहीं की गई है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा :—

(१) **सैद्धान्तिक उद्देश्य**—(अ) केवल सामाजिक शोध ही नहीं, सभी प्रकार के शोध मूल रूप से ज्ञान की वृद्धि के साधन होते हैं। इस दृष्टिकोण से सामाजिक शोध का सैद्धान्तिक उद्देश्य **सामाजिक जीवन, घटनाओं, तथ्यों या समस्याओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है।** केवल नए तथ्यों के विषय में ही नहीं, अपितु पुराने तथ्यों के विषय में भी ज्ञान की प्राप्ति सामाजिक शोध का उद्देश्य होता है। सामाजिक तथ्य स्थिर या शाश्वत तथ्य नहीं होते हैं। सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर सामाजिक तथ्यों में भी परिवर्तन हो जाता है और इसलिए आज एक तथ्य के सम्बन्ध में जो कुछ हमारा ज्ञान है वह आगे चलकर भी खरा बना रहेगा ऐसी सम्भावना कम ही होती है। ऐसा भी हो सकता है कि एक तथ्य या घटना के सम्बन्ध में हमारा विद्यमान ज्ञान सर्वथा अथवा अंशतः गलत हो। इसलिए आवश्यकता इस बात की होती है कि हम न केवल नए तथ्यों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर उनके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करें अपितु पुराने तथ्यों की भी पुनःपरीक्षा कर इस बात को मालूम करें कि उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान ठीक भी है या नहीं। ये दोनों ही कार्य सामाजिक शोध करता है। नवीन तथ्यों के विषय में अनुसन्धान कर तथा पुराने तथ्यों की पुनःपरीक्षा कर सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को गतिशील व प्रगतिशील बनाए रखना सामाजिक शोध का एक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक उद्देश्य है।

(ब) सामाजिक शोध का दूसरा सैद्धान्तिक उद्देश्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं या तथ्यों में पाए जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्धों (functional relationship) को ढूंढ़ना है। यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक सामाजिक घटना या तथ्यों का सामाजिक संरचना के अन्तर्गत कोई न कोई प्रकार्य (function) अवश्य ही होता है, चाहे उस प्रकार्य से सामाजिक संरचना व व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़े या बुरा। विद्वानों का तो मत यह है कि किसी भी सामाजिक तथ्य का प्रकार्यविहीन अस्तित्व (functionless survival) ही सम्भव नहीं है। साथ ही सामाजिक जीवन या घटनाएँ कोई असम्बद्ध संयोग नहीं है। विभिन्न सामाजिक घटनाओं या तथ्यों में उनके द्वारा किए जाने वाले पृथक्-पृथक् प्रकार्यों के आधार पर प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पाए जाते हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के कारण ही सामाजिक जीवन

में निरन्तरता, गतिशीलता व व्यवस्था सम्भव होती है। सामाजिक शोध का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य इन प्रकार्यात्मक सम्बन्धों को ढूँढ़ निकालना है, क्योंकि इन सम्बन्धों को समझे विना किसी भी सामाजिक घटना या तथ्य की वास्तविक प्रकृति को समझा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, अपराध की घटना को हम तब तक सही अर्थ में समझ नहीं सकते जब तक अपराध व गरीबी, अपराध व गन्दी बस्ती, अपराध व औद्योगीकरण आदि में पाए जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्धों को भी हम समझ न लें।

(ग) सामाजिक शोध का एक और सैद्धान्तिक उद्देश्य उन स्वाभाविक नियमों को ढूँढ़ निकालना है जिनके द्वारा सामाजिक घटनाएँ या जीवन निदेशित व नियमित होता है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि सामाजिक घटनाएँ आकस्मिक या स्वतः उत्पन्न नहीं होती हैं। जिस प्रकार पृथ्वी की गति, ऋतु-परिवर्तन, वर्षा, ज्वार-भाटा आदि प्राकृतिक घटनाएँ आकस्मिक नहीं हैं, बल्कि कुछ सुनिश्चित नियमों द्वारा संचालित व नियंत्रित होती हैं, उसी प्रकार मानवीय या सामाजिक घटनाएँ भी कुछ स्वाभाविक सामाजिक नियमों के अन्तर्गत आती हैं और उन नियमों को व्यवस्थित पद्धति की सहायता से ढूँढ़ा जा सकता है। अतः सामाजिक शोध का एक सैद्धान्तिक उद्देश्य उन नियमों को खोजना है जो कि सामाजिक घटना को नियमित व नियंत्रित करते हैं।

(द) श्रीमती यंग के अनुसार सामाजिक शोध का एक उद्देश्य प्रयोगसिद्ध तथ्यों के आधार पर वैज्ञानिक अवधारणाओं (scientific concepts) का निर्माण करना भी है। सांस्कृतिक संघर्ष, प्राथमिक नियंत्रण, नागरीकरण, सांस्कृतिक प्रसार, सामाजिक दूरी आदि इसी प्रकार की अवधारणाओं के उदाहरण हैं। यह कहा जाता है कि सामाजिक विज्ञान की प्रगति और भी सरल होगी यदि पारिभाषिक शब्दों तथा अवधारणाओं का आवश्यक मानकीकरण (standardization) करने में समाज-वैज्ञानिकों को सफलता मिल जाए। इस दिशा में सामाजिक शोध का महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

(२) व्यावहारिक (अथवा प्रयोगवादी) उद्देश्य—सामाजिक शोध के दूसरे उद्देश्य की प्रकृति व्यावहारिक है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक शोध सामाजिक जीवन तथा विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में हमें जो जानकारी प्रदान करता है उसका उपयोग हम अपने व्यावहारिक जीवन में भी कर सकते हैं। और भी स्पष्ट रूप से सामाजिक शोध सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण शोध है। वह ज्ञान हमें सामाजिक समस्याओं को हल करने व सामाजिक जीवन को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिए आवश्यक योजना बनाने में मदद कर सकता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक शोध के व्यावहारिक उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(क) सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता करता है। प्राचीन समाज और जीवन अत्यन्त ही सरल और सादा था, उस समय मनुष्य की आवश्यकताएँ भी सीमित थीं। अतः उस समय सामाजिक समस्याओं की प्रकृति भी अधिक जटिल न थी। पर आधुनिक समाज में परिस्थितियाँ पलट गई हैं। विज्ञान व प्रौद्योगिकीय (technological) प्रगति के साथ-साथ आधुनिक समाज उत्तरोत्तर जटिल होता जा रहा है और उसके साथ-साथ सामाजिक जीवन और उससे सम्बद्ध समस्याएँ भी उतनी ही जटिल होती जा रही हैं। इन्हें सुलझाने के लिए इनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और यह ज्ञान हमें सामाजिक शोध से सरलतापूर्वक प्राप्त होता है। इस ज्ञान की सहायता से राष्ट्रीय नेता, समाज-

सुधारकों तथा विभिन्न प्रशासकों के लिए आधुनिक जटिल समस्याओं को सुलझाना केवल सम्भव ही नहीं अपितु सरल भी होता है।

(ख) सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान, सामाजिक तनाव (social tensions) को दूर करके, सामाजिक संगठन को बनाए रखने में मदद कर सकता है। अनेक बार सामाजिक घटनाओं या तथ्यों के सम्बन्ध में हमारी गलत धारणाएँ सामाजिक तनाव को जन्म देती हैं। उदाहरणार्थ, 'प्रजाति' की धारणा को ही लीजिए। अनेक दिनों तक लोग यह समझते रहे कि प्रजाति का सम्बन्ध भाषा, धर्म, संस्कृति या राष्ट्र से है। इसी गलत आधार पर प्रजाति की श्रेष्ठता की कल्पना की गई और नाज़ियों (Nazis) ने 'आर्य' प्रजाति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में जिस कल्पित-कथा को प्रचलित कर लाखों निर्दोष यहूदियों के प्राण लिए उससे तो संसार परिचित ही है। इसी प्रकार जाति, राष्ट्र, विवाह, सन्तान आदि के सम्बन्ध में भी अनेक गलत धारणाएँ प्रचलित हैं। इनको दूर किए बिना सामाजिक जीवन को प्रगतिशील बनाना कदापि सम्भव नहीं है। सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान सामाजिक जीवन में जड़ पकड़े हुए अनेक अन्धविश्वासों तथा गलत धारणाओं को दूर करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

(ग) सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान सामाजिक योजनाओं को बनाने में मदद कर सकता है। सामाजिक योजनाएँ समाज को पुनर्जीवित करती हैं और उसमें महत्त्व-पूर्ण व युगोचित परिवर्तन लाती हैं। पर सामाजिक योजनाओं की सफलता दो बातों पर निर्भर करती है—**प्रथम** तो यह कि योजना को कितने प्रभावपूर्ण व व्यावहारिक ढंग से बनाया गया है और **द्वितीय** यह कि उस योजना को क्रियान्वित करने में जन-सहयोग (public cooperation) किस सीमा तक प्राप्त हो सकता है। इन दोनों बातों के लिए सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान उपयोगी सिद्ध होता है। सामाजिक शोध हमें विभिन्न सामाजिक घटनाओं में अन्तर्निहित नियमों से परिचित करवाता है और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों व समस्याओं की कारण सहित व्याख्या प्रस्तुत करता है। ये दोनों ही बातें योजना को अधिकाधिक प्रभावपूर्ण व व्यावहारिक बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। परन्तु योजनाओं की सिद्धि के द्वारा जनता की समृद्धि का सपना तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक स्वयं जनता का सहयोग प्राप्त न हो। यह कैसे सम्भव है? इसका सरल उत्तर यह है कि योजनाओं को इस भांति तैयार व प्रस्तुत किया जाए कि उनमें जनता के सामान्य सामाजिक मनोभावों, विचारों, भाव-नाओं, इच्छाओं, आशाओं तथा आकांक्षाओं का इस भांति समावेश हो कि जनता उन योजनाओं को अपना समझकर ही अपनाने में तनिक भी संकोच न करे। योजनाओं में अपनत्व का यह पुट लाना तब तक सम्भव नहीं है जब तक सामाजिक जीवन के उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त न हो। सामाजिक शोध हमें यह ज्ञान देकर समाज का बड़ा कल्याण कर सकता है।

(घ) सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान सामाजिक नियंत्रण में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह मानी हुई बात है कि एक घटना-विशेष पर हमारा नियंत्रण उतना ही अधिक होगा जितना कि उस घटना के विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता जाएगा। उदा-हरणार्थ, विद्यार्थी-वर्ग में अन्तर्निहित प्रक्रिया, उनके विचारों, भावनाओं व आवश्यकताओं के सम्बन्ध में हमें जितना अधिक ज्ञान होगा उतना अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से हम उस पर नियंत्रण पा सकेंगे। उसी प्रकार दहेज लेने या देने की बुरी प्रथा को एक सामाजिक अधिनियम (social legislation) पारित करके हम उसी अवस्था में रोक सकते हैं जबकि हमें उस प्रथा से सम्बद्ध अन्य परिस्थितियों व कारणों का सही ज्ञान हो। इस

प्रकार का निर्भरयोग्य ज्ञान हमें सामाजिक शोध से ही प्राप्त हो सकता है।

इस सम्बन्ध में यह स्पष्टतया स्मरणीय है कि सामाजिक शोधकर्त्ता (social researcher) का कोई भी सम्बन्ध सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान को व्यावहारिक रूप देने से नहीं होता ह। वह स्वयं किसी व्यावहारिक कार्य के लिए, सामाजिक समस्याओं को सुलझाने या योजना बनाने के लिए अपने ज्ञान का उपयोग नहीं करता; यह काम समाज-सुधारकों, राष्ट्र-नेताओं तथा प्रशासकों का होता है। सामाजिक शोध का कार्य व उद्देश्य तो केवल ज्ञान की प्राप्ति, उसका विस्तार व पुनः-परीक्षा है। श्रीमती यंग (Young) ने लिखा है, "सामाजिक शोध का प्राथमिक उद्देश्य—चाहे वह तात्कालिक हो या दूर का—सामाजिक जीवन को समझना और तद्द्वारा उस पर अधिक नियंत्रण प्राप्त करना है।"[6] इसीको दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक शोध सामाजिक जीवन का अध्ययन, विश्लेषण व प्रत्यक्षीकरण करने की एक पद्धति है जिससे कि "ज्ञान का विस्तार, शुद्धिकरण या पुनःपरीक्षा हो सके; चाहे वह ज्ञान एक सिद्धान्त के निर्माण में या एक कला को व्यवहार में लाने के काम में सहायक हो।"[7]

उद्देश्यों के सन्दर्भ में सामाजिक शोध की स्थिति का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए श्रीमती यंग ने लिखा है कि "सामाजिक शोधकर्त्ता का कोई सम्बन्ध न तो व्यावहारिक (practical) समस्याओं से है और न ही तात्कालिक सामाजिक नियोजन (immediate social planning) अथवा सामाजिक समस्याओं का हल करने वाले उपायों या सामाजिक सुधार से होता है। वह प्रशासकीय परिवर्तनों (administrative changes) और प्रशासकीय विधियों में होने वाले शुद्धिकरण से सम्बद्ध नहीं होता है। वह अपने को जीवन और कार्य, कुशलता और कल्याण के पूर्वस्थापित मानों (pre-established standards) द्वारा निर्देशित नहीं करता, और सामाजिक घटनाओं को उन्नत करने के उद्देश्य से इन मानों के सन्दर्भ में नापता भी नहीं है।"[8] "सामाजिक शोधकर्त्ता की प्रमुख रुचि तो विशेष रूप से सामाजिक घटनाओं तथा सामान्य रूप से सामाजिक समूहों से सम्बद्ध सामाजिक प्रक्रियाओं (processes) तथा व्यवहार-प्रतिमानों (patterns of behaviour) को तथा उनमें पाई जाने वाली समानताओं

---

6. "The primary goal of social research—immediate or distant—is to understand social life and thereby gain a greater measure of control over it."—Pauline V. Young, *op. cit.*, p. 44.

7. Stated in other words, social research is a method of studying, analyzing, and conceptualizing social life in order "to extend, correct, or verify knowledge, whether that knowledge aid in the construction of a theory or in the practice of an art."—Donald Slesinger and Mary Stevenson 'Research', *Encyclopaedia of the Social Sciences*, New York, The Macmillan Co., 1934, Vol. XIII, p. 330.

8. "The social researcher, on the other hand, is not concerned with practical problems *per se*, nor with immediate social planning, therapeutic measures, or social reform; he is not concerned with administrative changes and refinement of administrative procedures. He does not guide himself by pre-established standards of life and work, efficiency and welfare, and does not measure social phenomena in the light of these standards with a view to improvement."—P. V. Young, *op. cit.*, p. 75.

व असमानताओं को खोजने और विश्लेषण करने में होती है।"[9] सामाजिक शोध के उद्देश्यों के किसी भी विवेचन में इस सत्य को याद रखना है।

सामाजिक शोध की प्रकृति
(Nature of Social Research)

वास्तविक अर्थ में सामाजिक शोध की प्रकृति की आधारभूत बात यह है कि सामाजिक शोध सामाजिक घटनाओं से अन्तःसम्बद्ध प्रक्रियाओं (interrelated processes) की व्यवस्थित खोज तथा विश्लेषण की एक वैज्ञानिक पद्धति है। इस अर्थ में सामाजिक शोध की प्रकृति वैज्ञानिक है। विज्ञान का सम्बन्ध यथार्थ सत्य तथा वास्तविक ज्ञान से होता है। यही बात सामाजिक शोध की प्रकृति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सामाजिक जीवन को समझना इसका प्रमुख कार्य है और ऐसा वह ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से करता है। ज्ञान की प्राप्ति, ज्ञान की वृद्धि तथा ज्ञान की पुनःपरीक्षा को अपना लक्ष्य मानकर यह सदा क्रियाशील रहता है। यद्यपि व्यावहारिक लक्ष्यों (practical ends) की पूर्ति की दिशा में इसका कुछ योगदान (contribution) रहता है, पर वह आकस्मिक (accidental) होता है, न कि उद्देश्यपूर्ण।[10] इसका तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक जीवन में उपयोगी बनने के उद्देश्य से या मानव का कल्याण करने अथवा सामाजिक सुधार करने अथवा सामाजिक नियोजन बनाने के उद्देश्य से अपने अनुसन्धान-कार्य को आयोजित करना सामाजिक शोध की प्रकृति के विरुद्ध है; पर हो सकता है कि जिस ज्ञान का संचय वह करता है वह समाज-सुधारकों, प्रशासकों आदि के लिए सामाजिक सुधार व नियोजन के कार्य में सहायक व उपयोगी सिद्ध हो। पर सामाजिक शोध की अपनी प्रकृति यह नहीं है कि वह किसी उपचार (cure) को खोज निकाले, वह केवल सामाजिक समस्या या व्याधि की प्रकृति, व्यापकता तथा अन्तर्निहित कारणों व नियमों की खोज तक ही अपने को सीमित रखता है। यह दूसरी बात है कि उसका वह अनुसन्धान उस व्यक्ति के उपचार को ढूंढ़ने में सहायक हो।

एक वैज्ञानिक पद्धति होने के नाते सामाजिक शोध निरीक्षण, परीक्षण, तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण व निष्कर्षीकरण की व्यवस्थित विधि को अपनाता है। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना सामाजिक शोध की प्रकृति की एक और उल्लेखनीय विशेषता है। इससे भी इसकी वैज्ञानिक प्रकृति का स्पष्टीकरण होता है।

सामाजिक शोध की प्रकृति के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि यह अपनी विशेष रुचि किसी विशिष्ट मानव-समूह, समुदाय या समाज के अन्य किसी अंग की सामाजिक प्रक्रियाओं (social processes) और मानव-व्यवहारों में अन्तर्निहित समानताओं, भिन्नताओं तथा नियमों की खोज व विश्लेषण में प्रदर्शित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामाजिक शोध का सम्बन्ध मानव या मानव-समूह से उतना नहीं है जितना कि उनमें क्रियाशील प्रक्रियाओं तथा उनमें अन्तर्निहित नियमों

9. "The social researcher is chiefly interested in the discovery and interpretation of social processes, patterns of behaviour, similarities and dissimilarities which apply to typical social phenomena and social groups generally."—P. V. Young, *Ibid.*, p. 75.

10. "Although he generally makes some contribution toward practical ends, it is often incidental rather than purposeful."—P. V. Young, *Ibid.*, p. 75.

से है। उसकी प्रकृति तो इन प्रक्रियाओं तथा नियमों में पाई जाने वाली सामान्य विशेषताओं, समानताओं व भिन्नताओं को ढूंढ़ निकालने की है।

सामाजिक शोध की प्रकृति यह भी है कि यह शोध केवल नवीन तथ्यों या घटनाओं के सम्बन्ध में खोज करके ही चुप नहीं बैठ जाता अपितु पुराने तथ्यों से सम्बद्ध अनुसन्धान में भी रुचि रखता है। यह इसकी मान्यता है कि केवल नवीन तथ्यों के बारे में अध्ययन करना अथवा विद्यमान पुराने निष्कर्षों को सच मान लेना पर्याप्त नहीं है। पुराने निष्कर्षों की पुनःपरीक्षा पर सामाजिक शोध दो कारणों से बल देता है—प्रथम तो यह कि अनुसन्धान की प्रविधियों में अनेक नए सुधार होते जा रहे हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि नवीनतम प्रविधियों की सहायता से पुराने सिद्धान्तों या सामाजिक घटनाओं की फिर से जाँच की जाए जिससे कि यह पता चल सके कि वे अब भी सही हैं या नहीं। दूसरी बात यह है कि सामाजिक जीवन व उससे सम्बद्ध घटनाएँ भी परिवर्तनशील हैं और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन तेजी से होते जा रहे हैं। अत यह जरूरी है कि नवीन परिस्थितियों का क्या प्रभाव पुराने सिद्धान्तों, नियमों या तथ्यों पर पड़ा है इस बात की जाँच कर ली जाए। पुराने तथ्यों, घटनाओं और सिद्धान्तों में सामाजिक शोध की यह रुचि उसकी प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करती है।

इसके अतिरिक्त, सामाजिक शोध अपने अनुसन्धान-कार्य को यह मानकर प्रारम्भ करता है कि सामाजिक तथ्य या घटनाएँ कोई असम्बद्ध संकलन मात्र नहीं है। जिस प्रकार केवल ईंटों के ढेर से मकान नहीं बन जाता, उसी प्रकार केवल तथ्यों के संकलन मात्र से सामाजिक जीवन का निर्माण नहीं होता। सामाजिक जीवन तो अन्तःसम्बद्ध व अन्तःनिर्भर (interrelated and interdependent) तथ्यों की एक व्यवस्थित व्यवस्था (organized system) है। और भी स्पष्ट शब्दों में, सामाजिक जीवन की विभिन्न घटनाओं (phenomena) में श्रम-विभाजन होते हुए भी प्रकार्यों (functions) के आधार पर उनमें प्रकार्यात्मक सम्बन्ध भी पाए जाते हैं। इन सम्बन्धों की खोज में विशेष रुचि सामाजिक शोध की प्रकृति की एक और उल्लेखनीय विशेषता है।

सामाजिक शोध की प्रकृति के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि यह सामाजिक जीवन व घटनाओं पर अधिकाधिक नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करता है। यहाँ नियन्त्रण का अर्थ यह नहीं है कि समाज के सदस्यों को यह डरा-धमकाकर अपने वश में कर लेता है। यहाँ नियन्त्रण से तात्पर्य यह है कि अपने अनुसन्धान-कार्य में प्रयोगात्मक पद्धति (experimental method) का उपयोग करने के लिए कुछ सामाजिक घटनाओं को नियन्त्रित करके उसी प्रकार की अन्य सामाजिक घटनाओं पर विभिन्न कारकों के प्रभावों को देखना है। इस प्रकार का नियन्त्रण विषय के सम्बन्ध में शोधकर्त्ता के उत्तरोत्तर ज्ञान पर निर्भर होता है। 'सामाजिक जीवन व घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक ज्ञान व तद्द्वारा उन पर अधिक नियन्त्रण पाना सामाजिक शोध का प्राथमिक लक्ष्य है।'

सामाजिक शोध का अध्ययन-क्षेत्र
(Scope of Social Research)

सामाजिक शोध का अध्ययन-क्षेत्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन और उससे सम्बद्ध सामाजिक प्रक्रियाओं (social processes) व नियमों तक विस्तृत है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि यह अपने अनुसन्धान के विषय के रूप में सामाजिक जीवन की

किसी भी विशिष्ट अथवा सामान्य घटना को चुन सकता है। इस प्रकार का चुनाव करते समय यह आवश्यक नहीं है कि—वह केवल इस प्रकार की घटनाओं (phenomena) को ही चुने जिनके सम्बन्ध में अभी तक कोई शोध-कार्य नहीं हुआ है। अर्थात् नवीन अध्ययन-विषय तक ही सामाजिक शोध का क्षेत्र सीमित नहीं है। नवीन अध्ययन-विषयों को वह शोध-कार्यों के लिए चुनकर उनसे सम्बद्ध प्रक्रियाओं तथा नियमों का पता लगा सकता है; पर साथ ही, वह ऐसे विषयों तक भी अपने क्षेत्र को विस्तृत कर सकता है जिनके विषय में शोध-कार्य पहले भी एक या एकाधिक बार किए गए हैं। इसका कारण यह है कि सामाजिक शोध का उद्देश्य केवल नवीन तथ्यों को खोजना ही नहीं है, अपितु पुराने तथ्यों की पुनःपरीक्षा करना भी है। सामाजिक शोध का यह क्षेत्र किसी भी अर्थ में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यदि पुराने तथ्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अस्पष्ट, अपूर्ण या गलत है तो वह स्वयं ही नवीन तथ्यों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के रास्ते में एक बाधा बन जाएगा। इसका कारण यह है कि सामाजिक शोध के सभी तथ्यों का एक-दूसरे के साथ प्रकार्यात्मक सम्बन्ध (functional relation) होता है। इन सम्बन्धों का अध्ययन भी सामाजिक शोध के क्षेत्र के अन्तर्गत ही आता है। अतः अपने शोध-कार्य के इस पक्ष को यथार्थ बनाने के लिए सामाजिक शोध के पूर्वनिर्धारित नियमों की फिर से जाँच करनी होती है क्योंकि ये नियम कोई स्थिर, अन्तिम या शाश्वत नहीं हैं और न ही ये नियम सदैव सत्य सिद्ध होते हैं। इस कारण प्रचलित नियमों का परीक्षण आवश्यक होता है। हो सकता है कि इस प्रकार के परीक्षण द्वारा प्रचलित नियम गलत प्रमाणित हों। उदाहरणार्थ, श्री स्टेनले हाल (Stanley Hall) द्वारा प्रतिपादित यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त कि 'किशोरावस्था में प्रत्येक व्यक्ति को तनाव व तूफान (stress and storm) की अवधि में से गुजरना पड़ता है,' श्रीमती मारग्रेट मीड (Margaret Mead) के समोआ (Samoa) जन-जाति की अविवाहित किशोर कन्याओं के यौन-जीवन तथा मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं के अध्ययन के द्वारा असत्य सिद्ध हुआ और यह स्पष्ट हो गया कि यदि सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ इस प्रकार की हैं कि व्यक्तियों को किशोरावस्था में यौन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त है तो उन्हें तनाव व तूफान की स्थिति का सामना नहीं करना पड़ता है।[11] इसी कारण उपलब्ध ज्ञान अथवा पूर्वनिर्धारित नियमों की पुनःपरीक्षा सामाजिक शोध के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आती है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं की प्रकृति व कारणों का अनुसन्धान भी सामाजिक शोध के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि सामाजिक समस्याएँ भी सामाजिक जीवन का एक अभिन्न अंग हैं। कोई भी सामान्य (normal) समाज सामाजिक समस्याओं से परे नहीं है। अतः सामाजिक जीवन तथा अन्तर्निहित प्रक्रियाओं व नियमों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक सामाजिक समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों का भी पता न लगा लिया जाए। इसीलिए सामाजिक शोध सामाजिक समस्याओं को भी अपने अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित करता है। पर इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक शोध सामाजिक समस्याओं को अपने अध्ययन-क्षेत्र के

11. "A society which provides approved means for dealing with sex tensions arising in adolescence, youth could and would develop without a period of 'storm and stress."—Margaret Mead, *Coming of Age in Samoa*, p. 210.

अन्तर्गत इस उद्देश्य से सम्मिलित नहीं करता है कि उनके उपचारों (cures) या सुधार के लिए वह उपायों (measures) को सुझाएगा अथवा सामाजिक समस्याओं को हल करने की व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करेगा। उसका लक्ष्य तो केवल सामाजिक समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को ढूँढ़ निकालना अथवा उन समस्याओं में अन्तर्निहित प्रक्रियाओं, मानव-व्यवहारों तथा उनके नियम के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना है। श्रीमती यंग (Young) ने स्पष्ट ही लिखा है, "सामाजिक शोध व्याधिकीय समस्याओं (pathological problems) से केवल वहीं तक सम्बद्ध है जहाँ तक वे आधारभूत सामाजिक प्रक्रियाओं, मानव-व्यवहार तथा व्यक्तित्व के विकास अथवा विघटन पर प्रकाश डालते हैं।"[12]

इसके अतिरिक्त नियन्त्रित अवस्थाओं के अन्तर्गत सामाजिक जीवन या घटनाओं के सम्बन्ध में व्यवस्थित अध्ययन के लिए जो प्रायोगिक प्रकृति (experimental nature) के अनुसन्धान किए जाते हैं वे सामाजिक शोध के विस्तृत क्षेत्र के नवीनतम भाग के अन्तर्गत आते हैं। आधुनिक झुकाव इसी प्रकार के प्रयोगात्मक प्रकृति के अनुसन्धानों की ओर है। आज यह माना जाता है कि प्राकृतिक व भौतिक विज्ञानों की भाँति सामाजिक विज्ञानों में भी प्रयोगात्मक अनुसन्धान सम्भव हैं। प्रोफेसर ग्रीनवुड (Greenwood) की पुस्तक **Experimental Sociology : A Study in Method** एवं चैपिन (Chapin) की पुस्तक **Experimental Designs in Sociological Research** में ऐसे अध्ययनों की पद्धति व उपयोगिता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। इन विद्वानों ने इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि सामाजिक शोध का क्षेत्र प्रयोगात्मक अनुसन्धानों से परे नहीं है अपितु समाज व सामाजिक जीवन एवं घटनाओं के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के अनुसन्धानों को भी इसके क्षेत्र के अन्तर्गत लाना होगा।

सामाजिक शोध के क्षेत्र के सम्बन्ध में और भी स्पष्ट ज्ञान इसके अध्ययन-विषय की विवेचना से हो सकता है। अमेरिकन 'सोश्योलॉजीकल सोसाइटी' ने सामाजिक शोध के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित अध्ययन-विषयों को सम्मिलित करने के पक्ष में राय दी है :—

(१) मानव-प्रकृति तथा व्यक्तित्व का अध्ययन।

(२) जनसमूह तथा सांस्कृतिक समूह का अध्ययन।

(३) परिवार की प्रकृति, अन्तर्निहित नियम, संगठन व विघटन का अध्ययन।

(४) सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं का अध्ययन।

(५) जनसंख्या तथा प्रादेशिक समूहों का अध्ययन जिसके अन्तर्गत एक क्षेत्र विशेष में निवास करने वाली जनसंख्या तथा उस क्षेत्र में विद्यमान सामुदायिक परिस्थितियों का अध्ययन सम्मिलित है।

(६) ग्रामीण समुदायों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत ग्रामीण जनसंख्या, ग्रामीण परिस्थिति, ग्रामीण व्यक्तित्व व व्यवहार-प्रतिमानों (patterns) और उनमें अन्तर्निहित धाराओं (currents) तथा नियमों एवं ग्रामीण संगठन और संस्थाओं का अध्ययन सम्मिलित है।

---

12. "Social research is concerned with pathological probelms only in so far as they throw light on the fundamental social processes, on human behaviour and the development or disorganisation of personality."—P. V. Young, *op. cit.*, p. 84.

(७) सामूहिक व्यवहारों का अध्ययन। इसके अन्तर्गत समाचार-पत्र, मनोरंजन, त्योहारों का मनाना, प्रचार, पक्षपात, जनमत, चुनाव, युद्ध, क्रान्ति आदि सामूहिक व्यवहारों का अध्ययन आता है।

(८) समूहों में पाए जाने वाले संघर्ष तथा निभाव (**व्यवस्थान**) (accommodation) का अध्ययन। इसके अन्तर्गत धर्म का समाजशास्त्र (Sociology of Religion), शिक्षा का समाजशास्त्र (Educational Sociology), न्यायालय तथा अधिनियम, सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक विकास का अध्ययन आता है।

(९) सामाजिक समस्याओं, सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology) तथा सामाजिक अनुकूलन (Adjustment) का अध्ययन। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन आता है निर्धनता तथा पराधीनता (dependency), अपराध व बाल-अपराध, स्वास्थ्य, मानसिक व्याधि (Mental disease), स्वास्थ्य-रक्षा आदि।

(१०) सिद्धान्त तथा पद्धतियों में नवीन सामाजिक नियमों की खोज, पुराने सिद्धान्त तथा विधियों की पुनःपरीक्षा, सामाजिक जीवन में अन्तर्निहित सामान्य नियम व प्रक्रियाएँ तथा नवीन पद्धतियों व प्रविधियों (Techniques) की खोज आदि सम्मिलित हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक शोध का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है और मानव-समाज व जीवन का शायद ही कोई पक्ष ऐसा हो जो कि इसके क्षेत्र के अन्तर्गत न आता हो। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक शोध के क्षेत्र की कोई सीमा-रेखा निश्चित व अन्तिम रूप में खींचना न तो सम्भव है और न ही व्यावहारिक। सामाजिक अनुसन्धान व शोध में सहायक सिद्ध होने वाली नवीनतम व प्रगतिशील पद्धतियों एवं प्रविधियों का ज्यों-ज्यों आविष्कार होता जाएगा त्यों-त्यों सामाजिक शोध के क्षेत्र में भी विस्तार की सम्भावना अवश्य रहेगी।

सामाजिक शोध के प्रकार
(Types of Social Research)

सामाजिक शोध मुख्य रूप से **तीन** प्रकार के हो सकते हैं। सामाजिक शोध की प्रकृति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन प्रकारों के सम्बन्ध में भी विवेचना कर ली जाए। यह तीन प्रकार निम्नलिखित हैं:—

(१) **मौलिक या विशुद्ध शोध** (Fundamental or Pure Research)—इस प्रकार के सामाजिक शोध में सामाजिक जीवन व घटनाओं के सम्बन्ध में मौलिक सिद्धान्तों व नियमों का अनुसन्धान किया जाता है और इस अनुसन्धान का उद्देश्य नवीन ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि तथा पुराने ज्ञान की पुनःपरीक्षा द्वारा उसका शुद्धिकरण होता है। इस प्रकार की खोज में नवीन तथ्यों व घटनाओं का अध्ययन किया जाता है और साथ ही इस बात की भी जाँच की जाती है कि जो प्रचलित पुराने सिद्धान्त व नियम हैं वे वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में ठीक हैं या नहीं। हो सकता है कि नवीन परिस्थितियों में भी पुराने नियम व सिद्धान्त खरे उतरें, पर यह भी हो सकता है कि नवीन परिस्थितियों के अनुसार उनमें कुछ आवश्यक सुधार या हेरफेर करना जरूरी हो जाए। यह भी हो सकता है कि नवीन परिस्थितियों की माँग, नवीन सिद्धान्त व नियम हों। मौलिक शोध के अन्तर्गत नए सिद्धान्तों व नियमों की खोज नवीन परिस्थितियों तथा नवीन समस्याओं के उत्पन्न होने पर की जाती है। ऐसा इस उद्देश्य से किया जाता है कि इन नवीन सिद्धान्तों का वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों

के साथ अधिकाधिक मेल बैठ जाए और हम उनके सम्बन्ध में अपने नवीनतम ज्ञान के सहारे विद्यमान परिस्थितियों की चुनौती का सामना अधिक सफलतापूर्वक कर सकें। इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि मौलिक शोध की प्रकृति आधारभूत रूप में सैद्धान्तिक है क्योंकि इसका एकमात्र उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति, वृद्धि तथा शुद्धिकरण होता है। सत्य की खोज करना इसका प्रमुख लक्ष्य है और इसीलिए समस्त घटनाओं के अनुसन्धान में यह केवल इसी लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति सजग व प्रयत्नशील रहता है। जब यह किसी घटना का अध्ययन करता है, तो उसके सम्बन्ध में उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है, जब वह नवीन घटनाओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान करता है तो विद्यमान ज्ञान की वृद्धि होती है और जब वह परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में पुराने नियमों तथा सिद्धान्तों की फिर से जाँच करता है तो उनके सम्बन्ध में उसके ज्ञान में आवश्यक सुधार या हेर-फेर हो जाता है। इस प्रकार फिर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अपने अनुसन्धानों के द्वारा जो सामाजिक शोध ज्ञान की प्राप्ति, परिमार्जन व परिवर्द्धन को अपना लक्ष्य मानता है उसे मौलिक शोध कहते हैं।

(२) **व्यावहारिक शोध** (Applied Research)—श्रीमती यंग (P. V. Young) ने उचित ही लिखा है कि ज्ञान की खोज का एक निश्चित सम्बन्ध लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं तथा कल्याण से होता है। वैज्ञानिक की मान्यता यह है कि समस्त ज्ञान सारभूत रूप से उपयोगी इस अर्थ में है कि वह एक सिद्धान्त के निर्माण में या एक कला को व्यवहार में लाने में सहायक होता है। सिद्धान्त तथा व्यवहार आगे चलकर बहुधा एक-दूसरे में मिल जाते हैं।[13] इसी मान्यता के आधार पर सामाजिक शोध का जो दूसरा प्रकार प्रकट होता है उसे ही हम व्यावहारिक शोध कहते हैं। व्यावहारिक शोध का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष से होता है; और वह सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु सामाजिक नियोजन, सामाजिक अधिनियम, स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी नियम, धर्म, शिक्षा, न्यायालय, मनोरंजन आदि विषयों के सम्बन्ध में भी अनुसन्धान करता है और इनके सम्बन्ध में कारण-सहित व्याख्या व तर्कयुक्त ज्ञान से हमको समृद्ध करता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यावहारिक शोध का कोई सम्बन्ध समाज-सुधार से, सामाजिक व्याधियों के उपचार से, सामाजिक अधिनियमों को बनाने या सामाजिक नियोजनों को व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत करने से होता है। वह स्वयं यह सब-कुछ नहीं करता है; यह काम तो समाज-सुधारक, राष्ट्रीय नेता, तथा प्रशासकों का, अधिकारियों का होता है। व्यावहारिक शोध का काम केवल व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध विषयों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में हमें यथार्थ ज्ञान देना है।

सामाजिक जीवन में व्यावहारिक शोध के महत्त्व को दर्शाते हुए श्री स्टाउफर (Stouffer) ने लिखा है कि यदि समाज-विज्ञान को अपना महत्त्व बढ़ाना है, तो उसको अपने व्यावहारिक पक्ष पर बल देना होगा। उदाहरणार्थ, यदि समाज-विज्ञान स्पष्ट रूप से यह दर्शा सके कि एक परामर्श देने वाली व्यवस्था (counselling system) सार्वजनिक स्कूलों में किस भाँति सर्वाधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है तो यह स्पष्ट ही है कि

13. "This search for knowledge has a definite relation to people's basic needs and welfare. The scientist assumes that all knowledge is potentially useful, whether it serves to draw inferences or implement action, to aid in the construction of a theory or in the practice of an art. Theory and practice frequently merge in the long run."—*Ibid.*, p. 75.

समाज-विज्ञान के महत्त्व की सार्वजनिक स्वीकृति वढ़ जाएगी।[14] व्यावहारिक शोध में भी अनुसन्धान के उन्हीं उपकरणों का उपयोग किया जाता है जिनका कि मौलिक या 'विशुद्ध' (pure) विज्ञान में, और इसीलिए इसके द्वारा प्रस्तुत व्यावहारिक ज्ञान बड़े महत्त्व का और साथ ही यथार्थ सिद्ध होता है। व्यावहारिक शोध हमारे व्यावहारिक जीवन में आने-जाने वाली समस्याओं तथा अन्य घटनाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने या उनका अन्य उपचार करने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों के विषय में हमारी चिन्तन-प्रक्रिया को उभाड़ सकता है। इसका कारण यह है कि बहुधा यह देखा गया है कि एक आश्चर्यजनक प्रयोगसिद्ध व्यावहारिक खोज की व्याख्या या विश्लेषण करने के दौरान में शोधकर्त्ता ऐसे व्यावहारिक सुझावों को प्रस्तुत करता है या ऐसी बातों को कहता है जो कि अनेक सामाजिक समस्याओं के उपचार में सहायक सिद्ध होते हैं। श्री स्टाउफर (Stouffer) ने लिखा है कि सामाजिक विज्ञान को व्यावहारिक शोध के तीन महत्त्वपूर्ण योगदान (contributions) हैं: (अ) कतिपय सामाजिक तथ्य किस भाँति समाज के लिए उपयोगी हैं—इसके सम्बन्ध में विश्वसनीय प्रमाणों को प्रस्तुत करना; (ब) इस प्रकार की प्रविधियों (techniques) का उपयोग व विकास करना जो कि मौलिक शोध के लिए भी उपयोगी सिद्ध हों; (स) इस प्रकार के तथ्यों तथा विचारों को प्रस्तुत करना जो कि निष्कर्षीकरण (generalization) की प्रक्रिया को प्रोत्साहित कर सकें।[15]

(३) **क्रियात्मक शोध** (Action Research)—क्रियात्मक शोध व्यावहारिक शोध से अनेक अर्थ में मिलता-जुलता है क्योंकि इसका भी सम्वन्ध सामाजिक जीवन की ऐसी समस्याओं तथा घटनाओं से होता है जिनका कि व्यावहारिक या क्रियात्मक महत्त्व हो। जव सामाजिक शोध अध्ययन के निष्कर्षों को क्रियात्मक रूप देने की किसी तात्कालिक अथवा भावी योजना से सम्वद्ध होता है तो उसे क्रियात्मक शोध कहा जाता है। और भी स्पष्ट रूप में हम यह कह सकते हैं कि क्रियात्मक शोध वह अनुसन्धान है जो कि किसी सामाजिक समस्या या घटना के क्रियात्मक पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और साथ ही अनुसन्धान के निष्कर्षों का उपयोग विद्यमान सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन लाने की योजना के एक भाग के रूप में करता है। सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) के अनुसार, "क्रियात्मक शोध उस कार्यक्रम का अंश (part) होता है जिसका कि लक्ष्य विद्यमान अवस्थाओं को परिवर्तित करना होता है; चाहे वह गन्दी बस्ती की अवस्थाएँ (slum conditions) हों या प्रजातीय तनाव (race

---

14. "If social science is to be taken seriously and receive large financial support, its 'engineering application' must visibly pay off.........If for example, social service can help explicitly and visibly to show how a counselling system can be most effective in public schools, the public recognition of the importance of social science would be enhanced."—Stouffer, in Merton and Lazarsfeid, *Continuities in Social Research*, pp. 198-199.

15. "In short, applied research contributes to social science (1) by providing the kind of convincing evidence of the usefulness to society which is necessary to continuing support; (2) by utilizing and developing techniques which can also be made to serve so-called basic research ; and (3) by providing data and ideas which may speed up the process of generalization."—*Ibid.*, p. 203.

tensions) व पक्षपात हो या एक संगठन की प्रभावशीलता हो।"[16] उदाहरणार्थ, यदि एक शोध-कार्य इस उद्देश्य को सामने रखते हुए किया जा रहा है कि उसके निष्कर्षों को गन्दी वस्तियों की सफाई (slum clearance) के कार्यक्रम के उपयोग में लाया जाएगा अर्थात् उन गन्दी वस्तियों में इस समय रहने वाले व्यक्तियों के जीवन में और गन्दी वस्तियों की सामान्य अवस्थाओं में परिवर्तन लाने की किसी भावी योजना में उस शोध से प्राप्त ज्ञान उपयोगी सिद्ध होगा, तो उसे क्रियात्मक शोध कहेंगे। इसी प्रकार देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली व संगठन में आमूल परिवर्तन लाने के लिए अभी कुछ वर्ष पहले जिस कोठारी कमीशन (Kothari Commission) की नियुक्ति की गई थी, उसने देश की शिक्षा-प्रणाली के प्रत्येक पक्ष से सम्वद्ध इतने निर्भरयोग्य प्रमाणों व तथ्यों को एकत्रित कर आवश्यक सुधार व परिवर्तन लाने के सम्वन्ध में व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किया है कि उस कमीशन की रिपोर्ट भी क्रियात्मक शोध का एक उज्ज्वल उदाहरण वन गई है। अपनी रिपोर्ट को पेश करने से पूर्व इस कमीशन ने, जिस में स्वदेश तथा विदेश के प्रख्यात विशेषज्ञ सम्मिलित थे, सारे देश का दौरा किया, हर जगह शिक्षा-प्रणाली की वास्तविक क्रियाशीलता को देखा, निरीक्षण के द्वारा तथ्यों को एकत्रित किया, सम्वद्ध शिक्षकों, प्रधानाचार्यों, उपकुलपतियों, कुलपतियों, शिक्षा-संघ के प्रतिनिधियों तथा अन्य क्रियात्मक एजेन्सियों (agencies) से साक्षात्कार (interview) किया; उनके लिखित व मौखिक विचारों, माँगों तथा सुझावों का विश्लेषण किया और अन्य देशों में प्रचलित शिक्षा-प्रणालियों का भी अध्ययन किया। इसके पश्चात् फिर कहीं समस्त वास्तविक तथ्यों के आधार पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के वास्तविक स्वरूप का चित्रण किया, उसमें घर किए हुए गम्भीर दोषों का विश्लेषणात्मक विवरण कारण सहित प्रस्तुत किया और उन्हें दूर करने तथा शिक्षा-व्यवस्था में आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए व्यावहारिक सुझावों को प्रस्तुत किया। इस सव का उद्देश्य यही था कि कमीशन के निष्कर्ष तथा सुझाव इस देश की शिक्षा-प्रणाली की वर्तमान अवस्था में परिवर्तन लाने के लिए वनने वाली किसी भावी योजना का अंग वन सकें। वास्तव में यही हुआ है। यद्यपि कोठारी कमीशन क्रियात्मक शोध का कोई वास्तविक उदाहरण नहीं है, फिर भी इसके कार्यक्रमों से क्रियात्मक शोध की प्रकृति स्पष्ट होती है।

क्रियात्मक शोध में शोधकर्त्ता को प्रारम्भ से ही कुछ विशेष वातों का ध्यान रखना पड़ता है। यह इस प्रकार हैं—(अ) **अध्ययन के समय घटना या समस्या के वास्तविक क्रिया पक्ष पर ध्यान।** इसका तात्पर्य यह है कि जिस घटना का अध्ययन शोधकर्त्ता कर रहा है उसमें अन्तर्निहित मानवीय क्रियाओं, उनके कारणों, आधारों व नियमों के प्रति वह अत्यधिक सचेत रहता है। यदि वह प्रजातीय पक्षपात का अध्ययन कर रहा है तो वह यह जानने का प्रयत्न करेगा कि श्वेत (white) प्रजाति के लोग श्याम प्रजाति (black race) के सदस्यों के प्रति कैसा व्यवहार करते हैं और उनके उन व्यवहारों का क्या कारण व आधार है। साथ ही, शोधकर्त्ता उस समस्या से सम्वद्ध क्रियात्मक एजेन्सियों (action agencies) का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। समस्या के चुनाव के सम्बन्ध में, उस समस्या से सम्वद्ध प्राथमिक

---

16. "Action research is part of a programme aimed at changing existing conditions, whether slum conditions, race tensions and prejudice, or the effectiveness of an organization."—Goode & Hatt, *Methods of Social Research*, McGraw-Hill Book Company Inc., New York, 1952, p. 362.

ज्ञान प्राप्त करने के सम्बन्ध में, उस घटना की वास्तविक क्रियाशीलता को मालूम करने में, यहाँ तक कि तथ्यों के संकलन में भी क्रियात्मक एजेन्सियों का सहयोग अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। **(ब) समस्या या घटना के सम्बन्ध में ज्ञान।** इसका तात्पर्य यह है कि क्रियात्मक शोध में शोधकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसे समस्या या घटना के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ ज्ञान अवश्य ही हो। यदि ऐसा न हुआ तो उस घटना या समस्या में अन्तर्निहित किसी भी क्रियात्मक पक्ष का यथार्थ अनुसन्धान उसके लिए सम्भव न होगा। अतः इस प्रकार के शोधकार्य में शोधकर्त्ता सम्पूर्ण घटना या समस्या को तथा उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों या मानव-समूहों के व्यवहार-प्रतिमान को समझने का प्रयत्न करता है। **(स) सहयोग की प्राप्ति।** इसका तात्पर्य यह है कि शोधकर्त्ता को निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना पड़ता है कि उसे अपने कार्य में कम से कम विरोध का सामना करना पड़े। क्रियात्मक शोध का प्राथमिक उद्देश्य, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, विद्यमान अवस्थाओं में परिवर्तन लाना होता है। हो सकता है कि उस समाज या समूह में इस प्रकार के कुछ लोग या स्वार्थ-समूह हों जो कि इस परिवर्तन के पक्ष में न हों; क्योंकि परिवर्तन होने से उनके स्वार्थ को ठेस पहुँचेगी। इस कारण वे परिवर्तन का विरोध कर सकते हैं जिससे कि शोधकार्य में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अतः शोधकर्त्ता को इस प्रकार की परिस्थितियों को उत्पन्न करना होता है जिससे कि विरोध की सम्भावनाएँ न्यूनतम हों। **(द) रिपोर्ट को आरम्भ में ही अन्तिम रूप न देना।** इसका तात्पर्य यह है कि क्रियात्मक शोध की रिपोर्ट को एकदम अन्तिम रूप देकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। पहले एक अन्तरिम रिपोर्ट (Interim Report) प्रस्तुत करनी चाहिए जिससे कि उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों अथवा समूहों की प्रतिक्रियाओं को जाना जा सके। उन प्रतिक्रियाओं के आधार पर अन्तिम रिपोर्ट में आवश्यक सुधार करने की गुँजाइश सदैव रहनी चाहिए। तभी वह अन्तिम रिपोर्ट वास्तव में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

सामाजिक शोध की आधारभूत मान्यताएँ
(Basic Assumptions of Social Research)

प्रत्येक विज्ञान अपने अध्ययन-कार्य को अधिक व्यवस्थित व यथार्थ बनाने के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्तों तथा मौलिक विश्वासों पर निर्भर करता है। उन्हीं को उस विज्ञान की मान्यताएँ (assumptions) कहते हैं। सामाजिक शोध की भी इसी प्रकार की कुछ आधारभूत मान्यताएँ हैं जिनको कि अति संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है--

(१) सामाजिक घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause and Effect relationship in Social Phenomena)—सामाजिक शोध के परिणामस्वरूप समाज की कोई घटना किसी जादू या चमत्कार के आधार पर घटित नहीं होती है। प्रत्येक घटना का एक या एकाधिक कारण होते हैं अर्थात् सामाजिक घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध होगा ही—यह सामाजिक शोध की प्रथम मान्यता है। इसीलिए यह किसी भी घटना के अनुसन्धान-कार्य में उसके कारणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नशीलता के आधार पर सामाजिक शोध का यह विश्वास होता है कि यदि किसी घटना को उत्पन्न करने वाले निश्चित कारकों का सही-सही पता लगा लिया जाए तो उससे उत्पन्न होने वाले बुरे या अच्छे परिणामों को रोका या प्रोत्साहित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि बाल-विवाह या शीघ्र विवाह देश में अधिक जन्म-दर का कारण है तो जन्म-दर की रोकथाम के लिए गरीबी दूर करना आवश्यक

है। इसी प्रकार यदि शिक्षा का विस्तार परिवार नियोजन में अनुकूल दृष्टिकोण पनपाने का कारण है तो बढ़ती हुई जनसंख्या के दुष्परिणामों से बचने के लिए शिक्षा का प्रसार आवश्यक है।

(२) **सामाजिक घटनाओं में आनुपूर्व्य (सिलसिला) या नियम** (Sequence or Law in Social Phenomena)—सामाजिक शोध की दूसरी मान्यता यह है कि सामाजिक घटनाएँ अनायास, आकस्मिक या बिना किसी नियमित क्रम के नहीं होतीं; सभी सामाजिक घटनाओं के पीछे कोई न कोई व्यवस्था, क्रम या नियम कार्य करता है। न तो कोई सामाजिक घटना स्वतन्त्र है और न ही असम्बद्ध है। इनमें अन्तःसम्बन्ध, अन्तःनिर्भरता, निश्चित अनुक्रम होता है इसीलिए यदि घटनाओं के अनुक्रम और उसमें अन्तर्निहित नियमों का पता लगा लिया जाए तो किसी भी घटना के अध्ययन के आधार पर उसकी भावी-गतिविधि या परिणामों के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि यह पता लगा लिया जाए कि अब तक भारतीय परिस्थिति में जनसंख्या की वृद्धि किस क्रम से हुई है तो उसके आधार पर यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि भविष्य में यदि परिस्थितियाँ वैसी ही बनी रहीं तो जनसंख्या की वृद्धि सम्भवतः कितनी होगी।

(३) **आदर्श प्ररूपों की सम्भावना** (Possibility of Idel Types)—आदर्श प्ररूप की अवधारणा श्री मैक्स वेबर (Max Weber) की एक अनुपम देन है। यद्यपि इनसे पहले भी इसके सम्बन्ध में विद्वानों ने कुछ अस्पष्ट चर्चा की थी। अब यह अवधारणा (concept) सामाजिक शोध की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता बन गई है। इसके अनुसार यह मान लिया गया है कि सामाजिक तथ्य एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं होते हैं, अपितु उनमें समानताएँ होती हैं। इन समानताओं के आधार पर तथ्यों को कुछ आदर्श प्ररूपों में बाँटा जा सकता है। आदर्श प्ररूप की सभी इकाइयों में कुछ निश्चित गुण पाए जाते हैं और इसीलिए उनका अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। अतः सामाजिक शोध में आदर्श प्ररूपों के निर्माण पर बल दिया जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'आदर्श' शब्द का कोई भी अर्थ किसी प्रकार के मूल्यांकन (evaluations) से नहीं है। विश्लेषणात्मक प्रयोजन के लिए कोई भी शोधकर्त्ता किसी भी घटना के आदर्श प्ररूपों का निर्माण कर सकता है, चाहे वह वेश्याओं से सम्बद्ध हो या धार्मिक नेताओं से। साथ ही यह आदर्श इस अर्थ में भी नहीं है कि इसके चुनाव व निर्माण में किसी आदर्शात्मक विचार, अनुमान या पद्धति का निर्माण किया गया है। यह आदर्श इस अर्थ में है कि यह अपनी समान विशेषताओं के आधार पर एक विशिष्ट श्रेणी या 'टाइप' (Type) है जो कि उस प्रकार की सम्पूर्ण घटना या समस्त व्यवहार या क्रिया की वास्तविकता को व्यक्त करता है। अध्ययन-पद्धति की दृष्टि से चूँकि इस प्रकार के टाइप से एक वैज्ञानिक को काफी सुविधा होती है और साथ ही अध्ययन-कार्य में अधिकाधिक यथार्थता तथा सुतथ्यता आती है, इस कारण वैज्ञानिक के लिए यह 'टाइप' आदर्श है। सामाजिक शोधकर्त्ता इसीलिए अपने अध्ययन-विषय को विभिन्न आदर्श प्ररूपों में बाँटकर अध्ययन करता है।

(४) **प्रतिनिधि-निदर्शन की सम्भावना** (Possibility of Representative Sample)—सामाजिक अनुसन्धान की एक और मान्यता यह है कि समाज के भिन्न-भिन्न समूहों या घटनाओं में से कुछ ऐसी इकाइयाँ चुनी जा सकती हैं जो उस समूह के सदस्यों अथवा उस घटना की इकाइयों की मौलिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। अतः किसी भी घटना या समूह की सभी इकाइयों या सदस्यों के

विषय में अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु प्रतिनिधि-निदर्शनों का अध्ययन सम्पूर्ण समूह का अध्ययन माना जा सकता है। इस मान्यता के बिना सामाजिक शोधकार्य शायद ही सफलतापूर्वक किया जा सकता है; क्योंकि समाज इतना विशाल तथा सामाजिक समूह, घटनाएँ तथा सामाजिक सम्बन्धों का जाल इतना जटिल व व्यापक है कि सभी इकाइयों या सदस्यों का अध्ययन असम्भव ही है।

(५) **तटस्थ अध्ययन की सम्भावना** (Possibility of detached study)—'स्वयं का अध्ययन स्वयं के द्वारा' यह सामाजिक शोध की एक उल्लेखनीय दुर्बलता है। सामाजिक शोधकर्त्ता स्वयं मनुष्य है और उसे मनुष्यों के 'विषय' में ही अध्ययन करना होता है। इसीलिए पक्षपात, मिथ्या-झुकाव (bias) आदि का अध्ययन-कार्य में प्रवेश व हस्तक्षेप हो सकता है। अतः इनसे बचने की आवश्यकता है। इसीलिए सामाजिक शोध की अन्तिम मान्यता यह है कि अध्ययन-विषय से अलगाव होने या उसके प्रति तटस्थ दृष्टिकोण को अपनाने पर ही यथार्थ अनुसन्धान सम्भव है। अनुसन्धानकर्त्ता के निजी विचार, भावनाएँ, पक्षपात, मिथ्या-झुकाव, पूर्वधारणाएँ आदि उसके अध्ययन को प्रभावित न करें क्योंकि वस्तुनिष्ठता वैज्ञानिक यथार्थता की प्रमुख कसौटी है। सामाजिक शोध की मान्यता यह है कि इस प्रकार का पूर्ण तटस्थ अनुसन्धान, कठिन होते हुए भी, सम्भव है।

सामाजिक शोध के प्रेरक कारक
(Motivating Factors of Social Research)

सामाजिक शोध का मूलभूत उद्देश्य ज्ञान की वृद्धि है। पर ज्ञान की दुनिया (the land of knowledge) तो अति नीरस है। वहाँ शोधकर्त्ता के अपने विचार, भावनाओं, रुचि-अरुचि, आदर्श, मूल्य आदि तक को भी प्रवेश का अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि जिस 'प्रिय' प्राक्कल्पना का निर्माण कर वह उसकी यथार्थता को प्रमाणित करने के लिए कठोर परिश्रम से तथ्यों का संकलन करता है, अन्त में जाकर वही तथ्य यह सिद्ध कर दे सकते हैं कि उसकी प्राक्कल्पना ही गलत है। तो फिर शोधकर्त्ता अनुसन्धान-कार्य के लिए क्यों प्रेरित होता है? इसका उत्तर अब हम देंगे—

(१) **अज्ञात की जिज्ञासा** (Curiosity about the Unknown)—जिज्ञासा सामाजिक शोध का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक कारक है। यों तो जिज्ञासा की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती ही है, पर कुछ व्यक्तियों में इसकी तीव्रता (intensity) अत्यधिक होती है। यह जिज्ञासा की प्रवृत्ति उसे शान्त बैठने नहीं देती—आस-पास की अज्ञात चीजों के विषय में 'सब कुछ' जान लेने के लिए वह एक प्रकार की बेचैनी-सी अनुभव करता है। शोधकर्त्ता के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। वह भी इसी प्रवृत्ति से प्रेरित हो सामाजिक घटनाओं के बारे में जानना चाहता है। पर उसके इस जानने की इच्छा में और एक साधारण व्यक्ति के जानने की इच्छा में अन्तर इतना ही होता है कि एक वैज्ञानिक जो कुछ भी जानना चाहता है उसके लिए वह सदैव एक व्यवस्थित विधि को ही अपनाता है, उसका जानना मनमाने ढंग से नहीं होता। इस प्रकार, जिज्ञासा वह शक्तिशाली प्रवृत्ति है जो कि शोधकर्त्ता को अज्ञात की ओर ढकेलती है और तब तक चैन नहीं लेने देती जब तक उस अज्ञात को वह ज्ञात की श्रेणी में नहीं ला फेंकता है।

(२) **कारण जानने की इच्छा** (Desire to know Cause)—किसी जिज्ञासु मनुष्य के लिए केवल अज्ञात को जान लेना ही पर्याप्त नहीं होता; जब तक उसे उस चीज या घटना में अन्तर्निहित कारण का भी पता नहीं हो जाता वह चैन से नहीं

बैठता अर्थात् उसमें घटना के कारण को भी जानने की इच्छा स्वाभाविक ही होती है। यह इच्छा समस्याओं के सम्बन्ध में और भी तीव्र होती है। कोई भी समाज समस्याओं से परे नहीं होता; इसी प्रकार कोई भी विवेकशील व्यक्ति समस्याओं के बीच पलना नहीं चाहता। अतः वह उन समस्याओं के कारणों को ढूँढ़कर उनके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिससे कि उनपर उसका अधिकाधिक नियन्त्रण हो। इसीलिए घटनाओं तथा समस्याओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को ढूँढ़ने में एक वैज्ञानिक अपने अमूल्य समय व शक्ति को खर्च करने में भी संकोच नहीं करता। वह जानता है कि यह समय तथा उत्साह की बर्बादी नहीं है अपितु इनका सर्वोत्तम उपयोग है।

(३) **नवीन तथा अप्रत्याशित परिस्थितियों का प्रकट होना** (Appearance of Novel and Unanticipated Situations)—आधुनिक गतिशील समाज में नवीन एवं अप्रत्याशित परिस्थितियों का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साधारण व्यक्ति इन परिस्थितियों के बीच या तो चकरा जाता है या कुछ जोशीली उक्तियों द्वारा उन परिस्थितियों का स्वागत अथवा तिरस्कार करता है। पर एक वैज्ञानिक इन परिस्थितियों में न तो चकराता है और न ही वह भावात्मक धारा-प्रवाह में बहता है। इन स्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया तो इस रूप में होती है कि वह उनके प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सचेत हो उठता है और उनमें अन्तर्निहित कारणों की खोज में धैर्यपूर्वक लग जाता है। इस प्रकार नवीन व अप्रत्याशित परिस्थितियाँ वैज्ञानिक को अनुसन्धान-कार्य के लिए आमन्त्रित करती हैं, हतोत्साहित नहीं करतीं।

(४) **नई विधियों की खोज तथा पुरानी विधियों की जाँच करने की इच्छा** (Desire to discover New Procedures and to test the Old Ones)—सामाजिक घटनाओं और समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ जान लेने के व्यवस्थित कार्य-क्रम में शोधकर्त्ता को सदा सफलता ही नहीं मिलती। कई बार उसे असफलता या अर्द्ध-सफलता के कटु फलों को भी चखना पड़ता है। पर चूँकि कारण ढूँढ़ना ही वैज्ञानिक का काम है, अतः वह अपनी उन असफलताओं के कारणों को भी ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है अथवा यह जानने की कोशिश करता है कि उसके पहले के शोधकर्त्ता का निष्कर्ष यथार्थ क्यों नहीं हो पाया। स्वभावतः ही उसका ध्यान विद्यमान अध्ययन-विधियों पर आ अटकता है और उनमें वह आवश्यक सुधार लाने का प्रयत्न करता है जिससे कि वे अधिक प्रभावपूर्ण तथा यथार्थ बन सकें। इसी प्रकार के प्रयत्नों के दौरान वह कुछ ऐसी नई विधियों को भी खोज निकाल सकता है जो कि और भी उन्नत ढंग की हों और उनसे उन घटनाओं का भी परिमाणात्मक अध्ययन सम्भव हो जिनका अब तक गुणात्मक (qualitative) तौर पर अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार नई विधियों को ढूँढ़ने व पुरानी विधियों की जाँच करने की इच्छा भी वैज्ञानिक को शोधकार्य के लिए प्रेरित कर सकती है क्योंकि पुरानी अध्ययन-विधियों को नवीन परिस्थितियों में सफलतापूर्वक उपयोग में लाया जा सकता है अथवा नहीं, यह परीक्षा करना व अन्य नई विधियों को ढूँढ़ निकालना विकासशील विज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि अज्ञात के प्रति जिज्ञासा, घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध जानने की इच्छा, नवीन परिस्थितियों की उत्पत्ति तथा वैज्ञानिक प्रणालियों की खोज व पुनःपरीक्षण, वे प्रेरक शक्तियाँ हैं जो कि शोधकर्त्ता को निरन्तर नए ज्ञान की प्राप्ति तथा पुराने ज्ञान की पुनःपरीक्षा करने की दिशा में निरन्तर प्रेरित करती रहती हैं।

वैज्ञानिक शोध के प्रमुख चरण
(Major Steps in Social Research)

सामाजिक शोध की प्रकृति वैज्ञानिक है और इसीलिए किसी भी समस्या या घटना का अध्ययन वह वैज्ञानिक तौर पर अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार ही करता है। वैज्ञानिक पद्धति सामान्य रूप से समान ही होती है, इसीलिए सामाजिक शोध के प्रमुख चरण बिल्कुल वही हैं जो कि वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरण हैं। वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरणों के सम्बन्ध में हम अध्याय दो में विस्तारपूर्वक विवेचना कर चुके हैं। अतः उन्हें यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सामाजिक शोध-कार्य आरम्भ करने से पहले (१) सर्वप्रथम किसी एक **विषय का चुनाव** कर लिया जाता है जिसका कि अध्ययन करना है। विषय का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि शोध-कार्य के दृष्टिकोण से वह विषय व्यावहारिक है या नहीं। यहाँ 'व्यावहारिकता का तात्पर्य उपयोगिता से नहीं है बल्कि यह है कि जिस विषय का हम चुनाव कर रहे हैं उसके सम्बन्ध में उपलब्ध वैज्ञानिक विधियों की सहायता से अध्ययन करना सम्भव है या नहीं है। साथ ही इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस विषय को अध्ययन के लिए चुना गया है उसका क्षेत्र कहीं इतना अधिक विस्तृत न हो कि उसके सम्बन्ध में अध्ययन करना ही आगे चलकर असम्भव प्रतीत हो अथवा जो कुछ अध्ययन किया जाए वह इतना बिखरा हुआ हो कि उससे कोई यथार्थ निष्कर्ष ही सम्भव न हो। नए शोधकर्त्ता प्रायः यही गलती कर बैठते हैं कि वह एक विस्तृत क्षेत्र वाले विषय को चुनकर किसी 'महान्' अन्वेषण के द्वारा अमर हो जाने के या कम-से-कम रातों-रात ख्याति प्राप्त करने के लोभ को संभाल नहीं पाते हैं। पर आगे चलकर एक ऐसे अथाह समुद्र में जा गिरते हैं कि जहाँ से लौटना उनके लिए कठिन भले ही न हो, पर दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद अवश्य बन जाता है। अतः सामाजिक शोध का यह प्रारम्भिक चरण शोध-कार्य का सबसे कठिन भाग होता है। श्री नॉर्थरोप (Northrop) ने लिखा है कि अपने अनुसन्धान के बाद के स्तरों पर शोधकर्त्ता सर्वाधिक कठिन पद्धतियों का प्रयोग कर सकता है, पर यदि शोध-कार्य का आरम्भ गलत या आडम्बरपूर्ण ढंग से किया गया है तो आगे चलकर केवल कठिन पद्धतियाँ ही परिस्थिति को कदापि सुधार नहीं पाएँगी। शोध-कार्य उस जहाज की भाँति है जो कि एक अतिदूर के गन्तव्य स्थल की ओर जाने के लिए एक बन्दरगाह से चलता है, पर यदि आरम्भ में ही दिशा-निर्धारण के सम्बन्ध में थोड़ी-सी भी भूल हो जाए तो उसके भटक जाने की सम्भावना अत्यधिक होती है, चाहे वह जहाज कितनी ही कुशलता से क्यों न बनाया गया हो और उसका कप्तान कितना ही योग्य क्यों न हो।[17] इसीलिए यह आवश्यक है कि विषय का चुनाव इस भाँति किया जाए कि उसका क्षेत्र सीमित हो। श्रीमती यंग ने लिखा है कि अध्ययन को (क) शोधकर्त्ता के लक्ष्यों तथा रुचियों,

---

17. "One may have the most rigorous methods during the later stages of investigation, but if a false or superficial beginning is made, rigour later on will never retrieve the situation. It is like a ship leaving port for a distant destination. A very slight erroneous deviation in taking one's bearings at the beginning may result in entirely missing one's mark at the end, regardless of the sturdiness of one's craft or the excellence of one's subsequent seamanship."—F. S. C. Northrop, *The Logic of the Sciences and Humanities*, New York, The Macmillan Co., 1947, p. 1.

(ख) शोध-कार्य के लिए आवश्यक उपलब्ध सामग्री की मात्रा, (ग) अध्ययन के विषय में निर्मित सैद्धान्तिक मान्यताओं की जटिलता और (घ) अध्ययन-विषय से सम्बद्ध उससे पहले किए गए अन्य शोध-कार्य के आधार पर सीमित किया जा सकता है।[18] श्री ऑग्बर्न (Ogburn) ने हमें चेतावनी दी है कि शोध-कार्य के लिए ऐसा विषय कदापि नहीं चुनना चाहिए जिसके सम्बन्ध में प्रमाणसिद्ध तथ्य उपलब्ध नहीं हों और जो कि पद्धतिशास्त्र के दृष्टिकोण से अत्यधिक कठिन हो।[19]

(२) विषय का चुनाव कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उस विषय से सम्बद्ध अन्य शोध-पुस्तकों (Research books) का अध्ययन करें और अपने को अन्य शोधकर्त्ताओं के विचारों, निष्कर्षों तथा पद्धतियों से परिचित कर लें। ऐसा कर लेने पर, श्रीमती यंग के अनुसार (अ) अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में एक अन्तर्दृष्टि तथा सामान्य ज्ञान प्राप्त करने, (ब) शोध-कार्य में उपयोगी सिद्ध होने वाली पद्धतियों के प्रयोग के सम्बन्ध में, (स) प्राक्कल्पना के निर्माण में और (द) एक ही शोध-कार्य को फिर से दोहराने की गलती से बचने तथा विषय से सम्बद्ध उन पक्षों पर, जिनपर कि दूसरे शोधकर्त्ताओं ने ध्यान नहीं दिया है, ध्यान देने के विषय में हमें सहायता मिल सकती है।[20] सामान्यतया शोध-विषय से सम्बद्ध अन्य कृतियों तथा विशेषज्ञों के विचारों से परिचित होने पर आरम्भ में अस्पष्ट और जटिल प्रतीत होने वाले शोध-कार्य के लक्ष्यों का स्पष्टीकरण हो जाता है और साथ ही हमें इस बात का भी पता चल जाता है कि आवश्यक तथ्यों व सामग्री का संकलन विश्वसनीय रूप में किन स्रोतों से किया जा सकता है।

(३) इस दिशा में तीसरा चरण अध्ययन से सम्बद्ध **इकाइयों को परिभाषित करना है**। प्रायः शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन-कार्य में अत्यधिक कठिनाई इस कारण होती है कि आरम्भ में ही इकाइयों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। समस्त इकाइयों का अर्थ स्पष्ट हो जाने का तात्पर्य अध्ययन का लक्ष्य व क्षेत्र का भी स्पष्टीकरण है। मकान, बेरोजगारी, तनाव आदि बहुत सरल प्रतीत हो सकते हैं, पर यदि आरम्भ में ही इनको स्पष्ट रूप से परिभाषित न कर दिया गया तो आगे चलकर यह देखा जाएगा कि विभिन्न सूचनादाता इन शब्दों का अलग-अलग अर्थ लगाकर अपने-अपने ढंग से इस प्रकार की सूचनाएँ प्रदान करेंगे जो कि आगे चलकर अनुसन्धान-कार्य में सहायक सिद्ध होने के बजाय उसे केवल अस्पष्ट ही बनाता है।

---

18. "A study can be profitably delimited from the standpoint of (1) aims and interests of the research worker, (2) amount of relevant available material, (3) complexity of theoretical assumptions formulated regarding the study, (4) previous valid research in the field having direct bearing on the project under consideration."—Kimball Young, *op. cit.*, p. 120.

19. Ogburn, 'Considerations in Choosing Problems of Research' in Brookings Institution, Committee on Training, *op. cit.*, pp. 161—171.

20. "This procedure may (1) provide general orientation essential in creating insight into, and a sense of integration of, the subject as a whole; (2) point to the employment of certain methods of study not thought of at the onset; (3) aid in conceptual thinking and testing of tentative assumptions; (4) help to avoid unnecessary duplication and help to focus attention on significant questions not touched upon by others."—Kimball Young, *op. cit.*, pp. 124-125.

(४) सामाजिक शोध का चौथा चरण **प्राक्कल्पना** (hypothesis) का **निर्माण** है। अपने शोध-विषय के सम्बन्ध में प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् शोधकर्त्ता अपने विचार से एक ऐसा सिद्धान्त या निष्कर्ष बना लेता है जिसके सम्बन्ध में वह यह कल्पना करता है कि वह सिद्धान्त सम्भवतः उसके अध्ययन का आधार सिद्ध हो सकता है। पर उस निष्कर्ष या सिद्धान्त को ही वह सच नहीं मान लेता है जब तक कि उसका पुष्टीकरण वास्तविक तथ्यों द्वारा न हो जाए। अतः जैसा कि श्री जार्ज कैसवेल (George Caswell) ने लिखा है, प्राक्कल्पना अध्ययन-विषय से सम्बद्ध वह काल्पनिक व अस्थायी (अल्पकालिक) (temporary) निष्कर्ष है जिसके सत्यासत्य को केवल वास्तविक तथ्य ही दर्शा सकते हैं। श्री डुनहम (Dunham) ने लिखा है कि प्राक्कल्पना शोधकर्त्ता के कार्यों को दिशा प्रदान करती है और उसे यह बताती है कि क्या ग्रहण करना है और क्या त्यागना है। प्राक्कल्पना के बन जाने पर शोध-कार्य का क्षेत्र निश्चित हो जाता है और शोधकर्त्ता को अपने अध्ययन-कार्य में आगे बढ़ने में मदद मिलती है। पर स्मरण रहे कि प्राक्कल्पना केवल एक 'आकस्मिक' निष्कर्ष होता है, न कि अन्तिम; और न ही शोधकर्त्ता की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि उसकी प्राक्कल्पना किस सीमा तक सत्य प्रमाणित हुई। प्राक्कल्पना सच प्रमाणित हो या झूठ, दोनों ही अवस्थाओं में शोध-कार्य ज्ञान की वृद्धि में सहायक होता है।

(५) प्राक्कल्पना का निर्माण कर लेने के पश्चात् **सूचना के स्रोत** (Sources of Information) **तथा अध्ययन के लिए उपयोगी पद्धतियों का निर्धारण** आवश्यक होता है। प्राक्कल्पना सच है अथवा नहीं, इसके लिए तथ्यों का संकलन आवश्यक है। यह तथ्य स्वयं 'बोलते हैं' कि क्या ठीक है और क्या गलत है। उस बोली को शोधकर्त्ता खूब समझता है। पर तथ्यों के संकलन के लिए उसे यह निश्चित करना होता है कि उसे किन स्रोतों से विश्वसनीय सूचनाएँ या तथ्य प्राप्त हो सकते हैं और वे स्रोत उसकी पहुँच के भीतर (within the reach) हैं या नहीं। इन स्रोतों से केवल विद्यमान अवस्थाओं का ही नहीं, अपितु सामाजिक प्रक्रिया का, उल्लेखनीय घटनाओं तथा धारा-प्रवाहों का भी पता चल सकता है। सूचना के स्रोतों के विषय में सोच लेने के पश्चात् शोध-विषय की प्रकृति के अनुसार उन पद्धतियों का भी चुनाव करना होता है जो कि शोध-कार्य में उपयोगी होंगी।

(६) पद्धतियों व प्रविधियों का चुनाव हो जाने के पश्चात् वास्तविक शोध-कार्य उस समय आरम्भ होता है जब कि **तथ्यों का निरीक्षण व संकलन** का काम शुरू किया जाता है। निरीक्षण के साथ-साथ **आलेखन** (recording) भी चलता रहता है जिससे कि तथ्यों की प्रकृति अपरिवर्तित रहे।

(७) तथ्यों का संकलन कर लेने के पश्चात् उनको शोध-कार्य के लिए वास्तव में उपयोगी बनाने के लिए निश्चित क्रमों तथा श्रेणियों में **वर्गीकरण करना** होता है। वर्गीकरण विषय से सम्बद्ध अनेक अस्पष्ट पक्षों को स्पष्ट करता है क्योंकि इसके द्वारा बिखरे हुए असम्बद्ध तथ्यों का ढेर न केवल कम हो जाता है, अपितु निश्चित क्रमों से सज जाने के फलस्वरूप उन्हें एक वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। तथ्यों का पारस्परिक सम्बन्ध भी वर्गीकरण के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है।

(८) **निष्कर्षीकरण एवं नियमों का प्रतिपादन** सामाजिक शोध का अन्तिम चरण है जो कि तथ्यों के वर्गीकरण व विश्लेषण के पश्चात् सम्भव होता है। इसी स्तर पर यह निश्चित रूप से मालूम हो जाता है कि प्राक्कल्पना सही है अथवा गलत।

हो कुछ भी, पर उससे ज्ञान की वृद्धि व विज्ञान की समृद्धि सम्भव होती है।

मोटे तौर पर सामाजिक शोध के उपर्युक्त आठ चरण होते हैं। पर पेन्सिलवेनिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डब्लू० सी० स्क्लूटर (W. C. Schluter) ने इन चरणों को और भी विस्तृत रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है[21]—

(१) शोध के क्षेत्र अथवा विषय का चुनाव (Selecting the field topic or subject for research)।

(२) शोध की समस्या को समझने के लिए क्षेत्र का सर्वेक्षण (Surveying the field to apprehend the research problem)।

(३) एक पुस्तक-सूची का निर्माण (Developing a bibliography)।

(४) समस्या को परिभाषित करना (Formulating or defining the problem)।

(५) समस्या के तत्त्वों का विभाजन तथा रूपरेखा का निर्माण (Differentiating and outlining the elements in the problem)।

(६) समस्या के तत्त्वों का, आँकड़ों अथवा प्रमाणों के साथ उनके सम्बन्धों (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष) के आधार पर वर्गीकरण करना [Classifying the elements in the problem according to their relation (direct or indirect to the data or evidence)]।

(७) समस्या के तत्त्वों के आधार पर उन आँकड़ों तथा प्रमाणों का निर्धारण जिनकी कि आवश्यकता होगी (Determining the data or evidence required on the basis of the elements in the problem)।

(८) आवश्यक आँकड़ों या प्रमाणों की उपलब्धि का अनुमान लगाना (Ascertaining the availability of the data or evidence required)।

(९) समस्या के हल होने की सम्भावना की जाँच (Testing the solvability of the problem)।

(१०) आँकड़ों तथा सूचनाओं का संकलन (Collecting the data and informations)।

(११) विश्लेषण के लिए आँकड़ों को नियमित व व्यवस्थित करना (Systematizing and arranging the data preparatory to their analysis)।

(१२) आँकड़ों व प्रमाणों का विश्लेषण व निर्वचन (Analysing and interpreting the data and evidences)।

(१३) प्रस्तुतीकरण के हेतु आँकड़ों को व्यवस्थित करना (Arranging the data for presentation)।

(१४) विशिष्ट-कथनों, सन्दर्भों तथा पादटिप्पणियों का चुनाव व उपयोग करना (Selecting and using citations, references and foot-notes)।

(१५) शोध-विवरण प्रस्तुत करने के हेतु स्वरूप व शैली को विकसित करना (Developing the form and style of the research exposition)।

---

21. W. C. Schluter, *How to Research*, New York, Prentice Hall Inc., 1926, p. 5.

शोध-कार्यक्रम के चुनाव व नियोजन में विचारणीय बातें (Practical Consideration in the Selection and Planning of a Research Project—The Selection and Formulation of Research Problem)

घर से जरूरी तार (telegram) आते ही दौड़कर स्टेशन जाकर गाड़ी का समय मालूम किया; एक सूटकेस में कुछ कपड़ों को भरकर टिकट खरीद गाड़ी पर सवार हो गए और कुछ घण्टों के बाद ही लक्ष्य तक अर्थात् घर पहुँच गए। पर शोध-कार्य में इस प्रकार 'चट मँगनी पट विवाह' की कोई गुँजाइश नहीं होती है। यह खूब सोच-विचारकर निश्चित योजना बनाकर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक करने का कार्य होता है। इस योजना की रूपरेखा भी हर सम्भावित अच्छी-बुरी बातों का ध्यान रखते हुए बनानी होती है। यह रूपरेखा वास्तविक शोध-कार्य में पथ-प्रदर्शक का कार्य करती है। यदि विषय का चुनाव व नियोजन ठीक हुआ तो शोध की सफलता की सम्भावना स्वत: ही बढ़ जाती है। अत: प्रत्येक शोधकर्त्ता को इस चुनाव तथा नियोजन के कार्य में कुछ आवश्यक बातों को सदा ध्यान में रखना होता है जिन्हें कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) **शोध-विषय के सम्बन्ध में आरम्भिक ज्ञान** (Preliminary Knowledge about Research Topic)—किसी शोध-कार्य में रत होने से पूर्व शोध-विषय के सम्बन्ध में आरम्भिक ज्ञान होना परमावश्यक है। यह ज्ञान आरम्भिक होने पर भी आगे चलकर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। प्रो० पार्क (R. E. Park) ने लिखा है कि शोध-विषय के सम्बन्ध में आरम्भिक ज्ञान शोधकर्त्ता के लिए उतना ही महत्त्व-पूर्ण है जितना कि एक सफल डॉक्टर के लिए रोगी की शारीरिक अवस्थाओं का परिचय। यह आरम्भिक ज्ञान इस दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है कि इसी के आधार पर हम अन्तिम रूप में (finally) यह निश्चित कर सकते हैं कि उस विषय को शोध-कार्य के लिए चुनना ठीक होगा अथवा नहीं। इसी आरम्भिक ज्ञान से हमें शोध-कार्य के पथ पर आने वाली सम्भावित व व्यावहारिक कठिनाइयों का भी आभास हो सकता है। यही आरम्भिक ज्ञान प्राक्कल्पना के निर्माण में भी सहायक सिद्ध होता है। इस आरम्भिक ज्ञान की प्राप्ति शोधकर्त्ता को उस विषय से सम्बद्ध क्षेत्र (field) में घूमने-फिरने व लोगों से ऐसे ही बातचीत करने तथा उस विषय से सम्बद्ध अन्य कृतियों को पढ़ने व विशेषज्ञों के विचारों का अध्ययन करने से हो सकती है। ये सब चीजें, श्रीमती पी० वी० यंग (P. V. Young) के अनुसार, विषय के सम्बन्ध में गहन अन्तर्दृष्टि को प्राप्त करने, सर्वोत्तम पद्धति व प्रविधियों (methods) को निश्चित करने, विषय के सम्बन्ध में नवीन विचारों को उभारने तथा उसके विशिष्ट पक्षों पर विशेष ध्यान देने के सम्बन्ध में उपयोगी सिद्ध होती हैं।

(२) **विषय के चुनाव में सावधानी** (Precautions in the selection of the Topic)—आरम्भिक ज्ञान के आधार पर विषय के चुनाव के सम्बन्ध में भी अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है क्योंकि श्री ऑगबर्न (Ogburn) के अनुसार शोधकर्त्ता द्वारा विषय के चुनाव में अपनाई गई सावधानी की मात्रा उस क्षेत्र में शोधकर्त्ता के योगदान (contribution) की सम्भावनाओं को निर्धारित करती है। अत: श्री ऑगबर्न ने हमें सचेत किया है कि इस प्रकार के विषय को न चुना जाए जो बहुत ही अस्पष्ट हो या जिसके सम्बन्ध में पर्याप्त प्रमाणसिद्ध तथ्य मिलने की सम्भावना न हो या जो विषय शोध-कार्य की पहुँच के बाहर हो।

विषय का चुनाव करते समय इस बात का भी अनुमान लगा लेना चाहिए कि शोध-कार्य में सम्भवतः कितनी यथार्थता आ सकेगी। उदाहरणार्थ, सतीत्व में अन्तर्निहित मनोवैज्ञानिक कारणों को हम जानते हैं, पर पर्याप्त रूप से नहीं; इसी प्रकार प्रजातीय संमिश्रण (race mixture) के बारे में भी हमें कुछ पता है, पर वह पर्याप्त नहीं है। ऐसे विषयों को नहीं चुनना चाहिए क्योंकि ज्ञान से सम्बद्ध 'करीब-करीब ठीक' तथ्यों का संकलन पर्याप्त नहीं होता। इसी प्रकार ऐसे विषय को भी नहीं चुनना चाहिए जिसके विषय में यह सन्देह हो कि उस विषय से सम्बद्ध तथ्यों पर मनोभावों (emotions) का गहरा रंग चढ़ सकता है, क्योंकि मनोभावों से रंगे हुए तथ्य हमें यथार्थ निष्कर्ष तक नहीं पहुँचा सकते। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, हड़ताल व तालाबन्दी, राष्ट्रवाद, जातिवाद (casteism) आदि इसी प्रकार के विषय हैं जिन पर मनोभावों का अत्यधिक बोझा लदा होता है और इसीलिए ऐसे विषयों का चुनाव करने से पूर्व विश्वसनीय तथ्यों के संकलन की सम्भावना व पद्धतियों के विषय में खूब सोच-विचार लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, हड़ताल के दौरान पर अगर शोधकर्त्ता श्रमिक नेता से हड़ताल करने वाले श्रमिकों की संख्या पूछते हैं तो वे यदि १५,००० बताते हैं तो मिल-मालिक केवल ३०० ही बता सकता है। और इनमें से कौन ठीक कह रहा है यह निश्चित करना भी हड़ताल के आवेगात्मक वातावरण में अत्यन्त कठिन है। अतः ऐसे विषयों के चुनाव में सावधानी आवश्यक है।

(३) **शोध के क्षेत्र के निर्धारण में सतर्कता** (Precautions in determining the Scope of Research)—शोध के आरम्भिक स्तर पर अत्यधिक सावधानी तथा विवेकशीलता की आवश्यकता है। यदि शोध के क्षेत्र का निर्धारण उचित ढंग से कर लिया गया है तो उत्तम व यथार्थ अध्ययन-पद्धतियों से पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। इसीलिए विद्वानों के अनुसार क्षेत्र के निर्धारण में सतर्कता न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य भी है। यदि शोध का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है तो शोध-कार्य का जहाज़ अनुसन्धान के महासागर में किसी भी समय भटक सकता है। इसी प्रकार यदि शोध का क्षेत्र अस्पष्ट है तो भी उससे केवल अस्पष्ट निष्कर्षों की ही आशा की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि मैं सम्पूर्ण 'जातिप्रथा' को शोध का क्षेत्र मान लेता हूँ तो मेरा सम्पूर्ण जीवन जातिप्रथा के सम्बन्ध में तथ्यों को इकट्ठा करने में बीत जाएगा और जिन कागजों पर उन तथ्यों का संकलन करूँगा उनका ढेर इतना अधिक होगा कि वह मेरे मृत शरीर को जलाने के लिए पर्याप्त से भी अधिक होगा। अर्थात् उन संकलित तथ्यों के विराट् ढेर से शरीर जल सकता है, पर शोध-निष्कर्ष स्वल्प भी नहीं निकाल सकता। अतः शोध के क्षेत्र को आरम्भ में ही सीमित करने की आवश्यकता है।

(४) **शोध की इकाइयों को परिभाषित करने की आवश्यकता** (Necessity for defining the Units of Research)—व्यावहारिक तौर पर शोधकर्त्ता को एक और विषय का ध्यान रखना चाहिए और वह यह कि जिस विषय को उसने शोध-कार्य के लिए चुना है उसको अत्यधिक स्पष्ट रूप में परिभाषित कर दे जिससे कि किसी भी स्तर पर उसके सम्बन्ध में शोधकर्त्ता या सूचनादाताओं के मन में कोई भ्रान्त धारणा न पनप सके। उदाहरणार्थ, एक शब्द 'बाल-विवाह' को ही लीजिए। यदि हम प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट रूप से परिभाषित न कर दें कि मासिक धर्म आरम्भ होने से पूर्व जितनी भी लड़कियों का विवाह होगा केवल उन्हीं को हम बाल-विवाह के अन्तर्गत सम्मिलित करेंगे, तो कुछ सूचनादाता ७ वर्ष की आयु तक, कुछ १० वर्ष

की आयु तक, तो कुछ १४ वर्ष की आयु तक हुए विवाह को ही वाल-विवाह समझेंगे और इसी के अनुसार सूचना प्रदान करेंगे। इससे शोध-कार्य में यथार्थता नहीं पनप सकेगी। इसी प्रकार बेरोजगार 'व्यक्ति', 'समुदाय', 'वैवाहिक अनुकूलन' (marital adjustment) यहाँ तक कि 'वालक' आदि शब्द ऊपरी तौर पर अत्यधिक सरल व सीधे लगते हैं, पर शोध-कार्य में अस्पष्टता को पनपाने में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है। अतः आरम्भ में ही उन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का परामर्श सभी देते हैं। श्रीमती यंग (Young) ने भी लिखा है कि "स्पष्ट रूप से परिभाषित इकाइयाँ न केवल यथार्थ निरीक्षण के अपितु अध्ययन-कार्य के आगे वढ़ने के साथ-साथ यथार्थ नाप तथा तुलना के भी आधार वन जाती हैं। विना यथार्थ तथा सही परिभाषाओं के हम अपने अध्ययन में केवल कूड़ा-करकट को ही इकट्ठा करते रहेंगे। अस्पष्ट तथा अप्रामाणिक इकाइयों के फलस्वरूप पर्याप्त व्यर्थ की सामग्री का संकलन अवश्यंभावी है।"[22] श्री एम० सी० एलमर ने भी लिखा है कि जहाँ तक सम्भव हो, इकाइयों को समस्त विरोधी या परिवर्तनीय तत्त्वों (conflicting or varying elements) से स्वतन्त्र रखना चाहिए। यदि हमें एक समुदाय के वालकों (boys) की संख्या जाननी हो तो हमें पहले से ही यह स्पष्ट कर लेना होगा कि किस आयु तक के पुरुष-वच्चों को हम 'वालक' की श्रेणी में रखेंगे ? यदि हमने यह निश्चित किया कि नवजात शिशु से २० वर्ष की आयु तक के पुरुष-वच्चों को हम 'वालक' कहेंगे तो हमें अन्य सम्भावित परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी स्पष्ट होना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, यदि २० वर्ष की आयु तक वालक है, तो क्या २० वर्ष की आयु के विवाहित व दो वच्चों के वाप को भी हम 'वालकों' की श्रेणी में रखेंगे ? ऐसे ही हर सम्भावित अवस्थाओं के सम्बन्ध में हमें सचेत रहना होगा।[23]

(५) **भावी कठिनाइयों का बोध** (Understanding of future Difficulties)—शोधकर्त्ता को अध्ययन-कार्य आरम्भ करने से पूर्व ही उन कठिनाइयों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए जो प्रस्तावित शोध में उसके सामने आ सकती हैं। उदाहरणार्थ, यदि पहले से ही शोधकर्त्ता यह पता लगा लेता है कि सूचनादाता साक्षात्कार (interview) के लिए कव मिलेंगे या क्षेत्र (field) तक जाने-आने की क्या कठिनाई होगी तो वास्तविक शोध-कार्य के समय व्यर्थ ही श्रम, समय व धन की वर्वादी न होगी।

(६) **पद्धति का चुनाव** (Selection of Method)—एक और अत्यन्त व्यावहारिक वात, जिस पर कि अनुसन्धानकर्त्ता को ध्यान देना चाहिए, यह है कि विषय की प्रकृति के अनुसार अध्ययन-पद्धतियों का सावधानी से चुनाव कर लिया जाए। केवल कुछ आकर्षक व कठिन पद्धतियों को अपना लेने से ही शोध-कार्य की यथार्थता की गारण्टी नहीं मिल जाती है। इसके लिए विषय की प्रकृति के अनुसार सवसे उपयुक्त पद्धति का चुनाव परम आवश्यक है। एक विषय के लिए जो पद्धति ठीक है, दूसरे के लिए वही विलकुल वेकार सिद्ध हो सकती है। इसीलिए चुनी हुई पद्धति या पद्धतियों

---

22. "Clearly determined units become not only the basis for precise observation but of measurement and comparison as the study progresses. Without exact and accurate definitions we may be adding oranges and horses. Vague and unstandardized units inevitably result in the collection of much useless material."—Kimball Young, *op. cit.*, p. 122.

23. M. C. Elmer, *Social Research*, New York, Prentice Hall Inc., 1939, p. 134.

का परीक्षण करके उसकी उपयोगिता का अनुमान लगाना तथा आवश्यकतानुसार सुधार कर लेना भी लाभकारी होता है। ऐसा करने से वास्तविक शोध-कार्य के दौरान में एक बार अपनाई गई पद्धति को बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती और बिना किसी पद्धतिशास्त्रीय (methodological) अड़चन के शोध-कार्य अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाता है।

(७) **तथ्यों के स्रोत तक पहुँच के सम्बन्ध में अनुमान** (Idea about the accessibility of the Sources of Data)—केवल पद्धतियों का उचित चुनाव कर लेने मात्र से ही शोध-कार्य सफल नहीं हो सकता जब तक तथ्यों के स्रोतों के सम्बन्ध में—अर्थात् कहाँ-कहाँ से विषय से सम्बद्ध आँकड़े व प्रमाण प्राप्त होंगे—इस बात का स्पष्ट अनुमान शोधकर्त्ता को न हो। और फिर केवल स्रोतों का पता होना ही पर्याप्त नहीं है; उन स्रोतों तक शोधकर्त्ता की पहुँच हो भी सकती है या नहीं, इसका अनुमान भी होना आवश्यक है। अतः तथ्यों के स्रोत तथा उन तक पहुँच के सम्बन्ध में शोध-कर्त्ता को पहले से ही स्पष्ट अनुमान होना चाहिए। श्री वी० एम० पामर (V. M. Palmer) ने लिखा है कि कभी-कभी तथ्यों के स्रोत तक पहुँच न होने के कारण बीच में ही शोध-कार्य को काफी समय के लिए रोक देना पड़ता है अथवा विषय का कोई एक पक्ष अछूता रह जाता है।[24] अतः इस सम्बन्ध में पहले से ही सचेत रहना चाहिए।

(८) **पूर्व-अध्ययन व पूर्व-परीक्षण** (Pilot study and pre-testing)—श्री ऐकॉफ (Ackoff) के अनुसार अध्ययन के समय आने वाली कठिनाइयों का अनुमान करने के लिए, निदर्शनों का सही चुनाव करने के लिए, सूचना के स्रोत की खोज करने के लिए, सम्भावित विकल्पों (alternatives) का ज्ञान करने के लिए, विषय की प्रमुख विशेषताओं का अनुमान करने के लिए तथा अध्ययन की अवधि तथा व्यय का अनुमान करने के लिए शोध-विषय का पूर्व-अध्ययन केवल उपयोगी ही नहीं, परम आवश्यक है। इसी प्रकार अध्ययन-पद्धतियों तथा प्रविधियों की उपयोगिता की जाँच करने तथा इनमें सुधार की आवश्यकता का पूर्व-ज्ञान करने के लिए पूर्व-परीक्षण (pre-testing) अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है।[25]

(९) **समय तथा व्यय का अनुमान** (Time estimate and Cost estimate)—सामाजिक शोध में धन तथा समय दोनों बहुत अधिक लगते हैं। अतः शोध-कर्त्ता के लिए यह बहुत ही जरूरी है कि वह इन दोनों के सम्बन्ध में पहले से ही अनुमान लगा ले। ऐसा न करने पर यह हो सकता है कि इनमें से किसी के अभाव से शोध-कार्य बीच में ही रुक जाए अथवा सदा के लिए अधूरा ही रह जाए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पहले से ही समय तथा धन का उचित वितरण न कर लेने से कुछ कम महत्त्वपूर्ण मदों (items) या विषयों पर अधिक समय तथा धन का अपव्यय कर दिया जाता है, जब कि आगे चलकर अधिक महत्त्वपूर्ण मदों या विषयों पर खर्च करने के लिए बहुत कम धन तथा समय शेष रहता है। ऐसा होने पर शोध-कार्य में सन्तुलित प्रगति नहीं हो पाती है। अतः शोध-कार्य के बजट तथा समय-सारिणी (time schedule) का निर्माण आवश्यक है।

(१०) **कार्यकर्त्ताओं का चुनाव तथा प्रशिक्षण** (Selection and training

24. V. M. Palmer, *Field Studies in Sociology*, Chicago : University of Chicago Press, 1928, p. 57.
25. R. L. Ackoff, *The Design of Social Research*, p. 336.

of Personnel)—प्राय: शोध-कार्य में अन्य अनेक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। इनकी योग्यता तथा कार्य-कुशलता पर ही शोध-कार्य की सफलता काफी सीमा तक निर्भर होती है। अत: यह आवश्यक है कि इन कार्यकर्त्ताओं का चुनाव अति सावधानी से किया जाए और उन्हें क्षेत्र (field) में भेजने से पूर्व विषय की प्रकृति, लक्ष्य, पद्धति का सर्वोत्तम प्रयोग, तथ्यों का निरीक्षण व संकलन आदि विषयों में अच्छी तरह से प्रशिक्षित कर लिया जाए।

(११) **शोध-प्रशासन** (Research Administration)—शोध-कार्य प्रारम्भ होने से पूर्व कार्यकर्त्ताओं का संगठन (अर्थात् किस कार्यकर्त्ता को किस कार्य में लगाया जाएगा), शोध-कार्य का संचालन तथा अन्य प्रशासकीय व्यवस्था उपयुक्त रूप में कर लेनी चाहिए। ऐसा न होने पर बीच में ही गड़बड़ी की स्थिति उत्पन्न होने और शोध-कार्य के अटक जाने की सम्भावना होती है।

(१२) **स्वयं को प्रस्तुत करना** (To get oneself ready)—अन्त में, शोध-कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यकता इस बात की है कि शोधकर्त्ता स्वयं भी अपने को तैयार करे। उसकी तैयारी उसके अपने गुणों पर निर्भर रहेगी। पर प्रत्येक दशा में यह आवश्यक होगा कि शोधकर्त्ता अपने में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को पनपाए, जिससे कि शोध-कार्य के किसी भी स्तर पर उसका अपना पक्षपात, मिथ्या-झुकाव (bias), पूर्व-धारणा, आदर्श, मूल्य, उचित-अनुचित या अच्छे-बुरे की मापदण्ड अध्ययन को विकृत न करे।

सामाजिक शोध की पद्धतियाँ
(Methods of Social Research)

सामाजिक शोध का उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति व वृद्धि है। पर ज्ञान की प्राप्ति मनमाने ढंग से सम्भव नहीं है। यह तो केवल वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा ही सम्भव है। ये पद्धतियाँ तर्क पर आधारित हो सकती हैं और प्रयोग पर भी। पर इनका चुनाव शोध के उद्देश्य, अध्ययन-विषय की प्रकृति तथा क्षेत्र पर निर्भर करता है। बहुधा एकाधिक पद्धतियों का उपयोग एकसाथ किया जाता है। मोटे तौर पर इन पद्धतियों को हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) **गुणात्मक पद्धतियाँ** (Qualitative Methods)—सामाजिक घटनाएँ अधिकतर अमूर्त तथा गुणात्मक होती हैं। अत: इनके अध्ययन के लिए प्राचीन काल से ही गुणात्मक पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है। गुणात्मक पद्धतियों का आधार तर्कशास्त्र है। तर्कशास्त्र की पद्धति आगमन तथा निगमन (inductive and deductive) विधियों पर बल देती है और उसीके अनुसार भिन्न-भिन्न अमूर्त तथा गुणात्मक सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। गुणात्मक पद्धतियाँ मुख्य रूप से तीन हैं—(अ) विवरणात्मक साक्षात्कार (descriptive interview), (ब) वैयक्तिक अध्ययन (case study), और (स) निरीक्षण। **विवरणात्मक साक्षात्कार पद्धति** में शोधकर्त्ता अध्ययन-विषय से सम्बद्ध व्यक्तियों से भेंट करके उनसे उस विषयक अपने अनुभवों, भावनाओं, विचारों, क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में एक विवरण प्रस्तुत करने का अनुरोध करता है और उनमें से प्रत्येक के द्वारा कहानी के रूप में बताए गए विवरणों को नोट करके उनमें पाई जाने वाली समानताओं के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। **वैयक्तिक अध्ययन पद्धति** में शोध-विषय से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट इकाइयों को चुन लिया जाता है और फिर उनका विस्तृत अध्ययन करके अलग-अलग तथ्यों का संकलन किया जाता है और फिर उन तथ्यों में

पाई जाने वाली समानताओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। **निरीक्षण-पद्धति** में शोध-विषय के सम्बन्ध में कान से सुनकर व आँखों से देखकर विभिन्न तथ्यों का गुणात्मक विवरण जानने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक शोध में इन तीनों पद्धतियों का अत्यधिक प्रयोग होता है क्योंकि अधिकांश सामाजिक घटनाओं की प्रकृति अमूर्त व जटिल होने के कारण उनका परिमाणात्मक (quantitative) अध्ययन कठिन होता है; विशेषकर इसलिए कि अमूर्त व गुणात्मक घटनाओं का परिमाणात्मक अध्ययन करने के लिए पर्याप्त प्रविधियों (techniques) का अभाव अब भी है। प्रेम, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, वैवाहिक सुख (marital happiness) आदि असंख्य अमूर्त सामाजिक घटनाओं का इसीलिए निश्चित माप सम्भव नहीं होता है और हमें गुणात्मक पद्धतियों पर ही भरोसा करना होता है।

(२) **परिमाणात्मक पद्धतियाँ** (Quantitative Methods)—इन पद्धतियों का प्रयोग उन सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने में किया जाता है जिनको संख्यात्मक रूप में व्यक्त करना या नापना सम्भव होता है। सामाजिक घटनाओं की माप दो प्रकार से की जाती है—एक तो प्रत्यक्ष माप और दूसरी अप्रत्यक्ष माप। प्रत्यक्ष माप सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) द्वारा की जाती है। जैसे—यदि हमें एक कॉलेज में विभिन्न जातियों के सदस्यों की संख्या मालूम करनी है या परिवारों का आकार पता करना है तो हम इन्हें संख्या में स्पष्टरूप से और प्रत्यक्षत: व्यक्त कर सकते हैं। पर कुछ सामाजिक घटनाएँ, जैसे सामाजिक दूरी (social distance), मनोवृत्ति (attitude) आदि ऐसी होती हैं कि जिनकी प्रत्यक्ष माप सम्भव नहीं होती। अत: उनको नापने के लिए समाजशास्त्र में कुछ पैमानों (scales) का, जैसे समाजमितीय पैमाने (socio-metric scales) का विकास किया गया है। इनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से घटनाओं का नाप किया जाता है। परन्तु अप्रत्यक्ष माप से सांख्यिकीय पद्धति द्वारा प्रत्यक्ष माप अधिक यथार्थ तथा व्यक्तिगत प्रभावों से परे होती है।

(३) **पुस्तकालय-पद्धति** (Library Method)—इस पद्धति की आलोचना कुछ लोग यह कहकर करते हैं कि इसके द्वारा आराम-कुर्सी वाले विशेषज्ञ (arm-chair specialist) बनकर घर बैठे सैद्धान्तिक निष्कर्षों को निकाला जा सकता है, यथार्थ शोध के द्वारा ज्ञान का वास्तविक विस्तार नहीं हो सकता। परन्तु यह धारणा सर्वथा गलत है। पुस्तकालयों में विद्यमान पुस्तकों, ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकाशित सामग्री की सहायता से भी महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया जा सकता है। जिसे हम ऐतिहासिक पद्धति (historical method) कहते हैं वह तो पुस्तकालय-पद्धति का ही एक विशिष्ट रूप है। विभिन्न ग्रन्थों आदि की सहायता से ऐतिहासिक अध्ययन करने पर हमें यह पता चलता है कि एक विशेष प्रकार की संस्था या सामाजिक घटना किस समय और किन परिस्थितियों में सम्भव हो सकी थी और उस समय या उन परिस्थितियों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस विशिष्ट संस्था या सामाजिक घटना में किस प्रकार के परिवर्तन होते गए। इस प्रकार विभिन्न सम्बद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके विभिन्न समयों या परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों की एक धारावाही प्रवृत्ति का पता लगाकर विभिन्न सामाजिक घटनाओं के क्रम-विकास सम्बन्धी सामान्य नियमों को खोजा जा सकता है। इस प्रकार ग्रन्थों में संकलित पूर्व-संचित ज्ञान-शृंखला अर्थहीन नहीं होती, अपितु नवीन शोध-कार्यों के लिए एक ठोस आधार प्रदान कर विज्ञान के क्रम-विकास में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। शोध-विषय के सम्बन्ध में पूर्व-ज्ञान प्राप्त करने, विषय की प्रमुख विशेषताओं को समझने, शोध-कार्य में आने

वाली कठिनाइयों का अनुमान लगाने, प्राक्कल्पना का निर्माण करने तथा सर्वोत्तम अध्ययन-पद्धतियों का चुनाव करने के विषय में भी पुस्तकालय-पद्धति की उपयोगिता सभी गम्भीर शोधकर्त्ता स्वीकार करते हैं। पर आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि केवल पुस्तकालय-पद्धति पर ही भरोसा न करके अध्ययन-स्थल पर जाकर वास्तविक निरीक्षण के द्वारा तथ्यों का संकलन कर निष्कर्ष निकाला जाता है।

(४) अध्ययन-स्थल पर जाकर अध्ययन करने की पद्धति (Field study Method)—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पुस्तकालय-पद्धति पर ही पूर्ण निर्भर न रहकर उसकी सहायता से विषय के सम्बन्ध में, प्राक्कल्पना के निर्माण व पद्धतियों के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर अपने को सैद्धान्तिक तौर पर प्रस्तुत कर शोध-कर्त्ता स्वयं अध्ययन-स्थल पर जाकर वास्तविक निरीक्षण, साक्षात्कार आदि के द्वारा तथ्यों का संकलन करता और उसी के आधार पर निष्कर्ष निकालता है। अध्ययन-स्थल पर जाकर इस प्रकार वास्तविक अध्ययन करने की स्थिति की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन वढ़ती जा रही है क्योंकि सामाजिक घटनाओं को निर्देशित तथा नियन्त्रित करने वाले नित नए कारकों का सही ज्ञान इस प्रकार के वास्तविक अध्ययन के विना सम्भव नहीं है।

(५) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—सामाजिक शोध में इस पद्धति का भी प्रचलन उत्तरोत्तर वढ़ता जा रहा है। इसे प्रयोगशाला-पद्धति (laboratory method) भी कहते हैं। इसमें किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों अथवा दशाओं के अन्तर्गत अध्ययन-विषय को रखकर उसका अध्ययन करना पड़ता है। अध्ययन के दौरान में विषय पर किसी प्रकार का वाह्य प्रभाव पड़ने नहीं दिया जाता है और जैसा वह है उसी रूप में उसका अध्ययन कर लिया जाता है। ऐसा भी होता है कि दो समान तरह के समूहों को चुन लिया जाता है और उनमें से एक पर नियन्त्रण रखकर दूसरे में एक कारक को उत्पन्न करके, उसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को देखा जाता है। अव यदि प्रथम समूह से दूसरा समूह भिन्न सिद्ध होता है तो उसका कारण वह कारक है—यह मान लिया जाता है। यद्यपि सामाजिक घटनाओं या समूहों पर इस प्रकार का नियन्त्रण वहुत कठिन है, फिर भी असम्भव नहीं। प्रयोगशाला किसी एक कमरे में ही हो, यह अनिवार्य नहीं; समाजशास्त्र की प्रयोगशाला तो वास्तविक समाज है और उस समाज के विभिन्न अंगों का प्रयोगात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

(६) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)—इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम विभिन्न समुदायों, वर्गों, व्यवसायों, रीति-रिवाजों आदि के विषय में अलग-अलग अध्ययन किया जाता है और फिर उनमें पाए जाने वाले सामान्य तत्त्वों को छाँटकर उनके आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यदि विभिन्न सामाजिक घटनाओं से सम्वद्ध तथ्यों को सावधानी से संकलित किया जाए, उनका उचित ढंग से वर्गीकरण किया जाए तथा उनमें पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं दोनों को ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया जाए तो सामाजिक घटनाओं के कार्य-कारण सम्वन्धों को तथा उनसे सम्वद्ध सामान्य नियमों को ढूँढ़ा जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह परम आवश्यक है कि विषयों का चुनाव और तुलना वैज्ञानिक ढंग से की जाए और अपना निजी अभिमत तथा दृष्टिकोण अथवा आध्यात्मिक, दार्शनिक या मनोभावात्मक (emotional) विचारों को दृढ़ता से दूर रखा जाए जिससे कि तुलनात्मक कार्य और उसके आधार पर प्रतिपादित नियम विकृत न हो जाए।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि उपर्युक्त पद्धतियों में कौनसी पद्धति सबसे अच्छी है ? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सामाजिक शोध मानवीय समाज, सम्बन्ध और उसमें अन्तर्निहित प्रक्रियाओं में व्यवहार-प्रतिमानों से सम्बद्ध है और ये सब असंख्य रूप में तथा विभिन्न दशाओं व परिस्थितियों में प्रगट होती हैं। इस कारण उनका किसी एक पद्धति द्वारा अध्ययन करना न तो उचित होगा और न ही व्यावहारिक (practical)। अतः उपर्युक्त पद्धतियों को एक-दूसरे का पूरक समझकर समय, अवसर, समाज तथा अध्ययन-विषय की माँग के अनुसार एक या अधिक पद्धतियों का पृथक् रूप से या समन्वित उपयोग ही उपयुक्त होगा।

सामाजिक शोध की उपयोगिता या महत्त्व
(Importance or Utility of Social Research)

सामाजिक शोध का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं के अध्ययन से या और भी स्पष्ट रूप में अनुसन्धान से है। अनुसन्धान से बोध पनपता है और वास्तविक बोध ज्ञान का द्योतक है। सामाजिक शोध की यही प्रथम उपयोगिता या महत्त्व है कि यह वह साधन है जिसके द्वारा हमारे ज्ञान की वृद्धि होती है। साथ ही, शोध या अनुसन्धान नवीन वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारे मन की जिज्ञासा को मिटाने का एक साधन भी इस अर्थ में बन जाता है कि इसके द्वारा सामाजिक घटनाओं के अनेक अस्पष्ट या अन्धकारपूर्ण पक्षों के सम्बन्ध में हमें जानकारी प्राप्त होती रहती है। इस जानकारी के दो स्पष्ट पक्ष हैं—प्रथम तो सैद्धान्तिक और दूसरा व्यावहारिक। सैद्धान्तिक तौर पर सामाजिक शोध की उपयोगिता ज्ञान के विकास तथा बोध के विस्तार में निहित है, पर उस ज्ञान की व्यावहारिक जीवन में कोई भी उपयोगिता नहीं हो सकती यह सोचना भी मूर्खता है। वास्तविक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देना किसी भी क्षेत्र में सम्भव है, इस सत्य को आज सभी विद्वान स्वीकार करते हैं। एक विषय के सम्बन्ध में जो व्यक्ति कुछ जानता ही नहीं है, वह उस विषय से सम्बद्ध किसी समस्या को सुलझाने का साहस ही कैसे कर सकता है ? पर वास्तविक ज्ञान उस समस्या के सम्बन्ध में अनेक सम्भावित समाधानों का सुझाव प्रस्तुत कर सकता है। यही ज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता है और सामाजिक शोध में यह उपयोगिता निहित है। सामाजिक शोध के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक महत्त्व या उसकी उपयोगिताओं को हम निम्न प्रकार से भी प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) **अज्ञानता का नाश** (Removal of Ignorance)—सामाजिक शोध विभिन्न सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान कर, उन घटनाओं के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता का नाश करता है। किसी भी विषय में विश्वसनीय बोध प्राप्त करने का अर्थ ही होता है उस विषय के सम्बन्ध में समस्त अन्धकार को दूर कर देना। अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण भी कुछ विषयों के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता ही होता है। जैसे भाषावाद, प्रान्तवाद आदि का जन्म कुछ अन्धविश्वासों और अज्ञानताओं के फलस्वरूप ही हुआ है। इन समस्याओं का समाधान तब तक सम्भव नहीं जब तक हमारी अज्ञानता दूर नहीं होती है। इस दिशा में सामाजिक शोध अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है।

(२) **समाज-कल्याण में सहायक** (Helpful in Social Welfare)—सामाजिक शोध की सहायता से समाज-कल्याण-कार्य को एक वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। लोगों के मन में यह गलत

धारणा बनी हुई है कि समाज-कल्याण-कार्य को कोई भी व्यक्ति या संस्था आयोजित कर सकती है और सफलता भी पा सकती है। पर इस आयोजन का आधार यदि वैज्ञानिक ज्ञान व अनुभव नहीं है तो उसमें सफलता की प्राप्ति केवल एक संयोग (chance) की ही बात होगी। उदाहरणार्थ, यदि हम डकैतों का 'हृदय परिवर्तन' करना चाहते हैं तो इन पर केवल उपदेशों की वर्षा करने मात्र से ही हमारे उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकेगी जब तक हम डकैतों के अन्तर्निहित मनोविज्ञान को भी अच्छी तरह समझ न लेंगे अथवा उन कारणों का पता न लगा लेंगे जो कि डकैतों को जन्म देते हैं। अतः समाज-कल्याण-कार्य को तभी एक ठोस आधार प्राप्त हो सकता है जब कि सामाजिक शोध की सहायता प्राप्त की जाए।

(३) **सामाजिक प्रगति में सहायक** (Helpful in Social Progress)—सामाजिक प्रगति का अर्थ है सामाजिक जीवन में अच्छाई के लिए परिवर्तन (change for good) अर्थात् प्रगति भी एक प्रकार का परिवर्तन है जो कि कल्याणकारी सिद्ध होता है। पर परिवर्तन को कल्याणकारी दिशा में किस प्रकार निर्देशित किया जा सकता है? उसी अवस्था में जबकि परिवर्तन के कारकों तथा परिस्थितियों का हमें वास्तविक ज्ञान हो और हम उस ज्ञान को ऐसे प्रयत्नों में लगाएँ जो सब के लिए या समाज के अधिकांश लोगों के लिए शुभ हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामाजिक प्रगति के लिए जिस सचेत प्रयत्न की आवश्यकता होती है उसे हम सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में अपने वैज्ञानिक ज्ञान पर सुप्रतिष्ठित करें। हमारे कल्याणकारी प्रयत्नों को जब तक वैज्ञानिक आधार प्राप्त न होगा तब तक सामाजिक प्रगति की सम्भावना भी कम ही होगी। सामाजिक शोध इस वैज्ञानिक आधार का एक निर्भरयोग्य साधन है।

(४) **सामाजिक नियन्त्रण में सहायक** (Helpful in Social Control)—सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान सामाजिक नियन्त्रण में भी सहायक सिद्ध होता है। सामाजिक नियन्त्रण तभी प्रभावशील हो सकता है जबकि हमें सामाजिक सम्बन्धों व प्रक्रियाओं (processes) का पूरा-पूरा ज्ञान हो। सामाजिक नियन्त्रण के लिए सर्वप्रथम हमें यह जानना होगा कि समाज में कौन-कौनसी विघटनकारी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं और उनकी वास्तविक प्रकृति क्या है। इस जानकारी के पश्चात् ही उन पर नियन्त्रण करने के साधनों को ढूंढ़ा जा सकता है। इस कार्य में सामाजिक शोध अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकता है।

(५) **सामाजिक विज्ञानों की उन्नति में सहायक** (Helpful in the Development of Social Sciences)—सामाजिक शोध से प्राप्त ज्ञान स्वयं समाजशास्त्र की उन्नति में सहायक होता है। समाजशास्त्र की उन्नति सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक वैज्ञानिक खोज पर ही निर्भर है। सामाजिक शोध उसी वैज्ञानिक खोज का एक निर्भरयोग्य साधन है। स्मरण रहे कि सामाजिक शोध केवल सामाजिक घटनाओं का अध्ययन या अनुसन्धान ही नहीं करता अपितु उस अध्ययन-कार्य को अधिकाधिक यथार्थ बनाने के लिए नवीन यन्त्रों, प्रविधियों आदि का भी आविष्कार करता है। दोनों ही अवस्थाओं में समाजशास्त्र की प्रगति होती है क्योंकि इन आविष्कारों के फलस्वरूप सामाजिक घटनाओं को समझने और उन पर नियन्त्रण पाने की शक्ति बढ़ जाती है। इन आविष्कारों का प्रभाव केवल समाजशास्त्र पर ही नहीं, अपितु अन्य सामाजिक विज्ञानों पर भी पड़ता है क्योंकि ये सभी सामाजिक विज्ञान किसी-न-किसी रूप में मानवीय व्यवहारों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन

करते हैं अर्थात् सामाजिक जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। ये सभी पक्ष एक-दूसरे से पृथक् नहीं अपितु एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और इसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों में श्रम-विभाजन व विशेषीकरण के साथ-साथ अन्त:सम्बन्ध व अन्त:निर्भरता भी होती है। अत: एक की प्रगति दूसरे की प्रगति को भी प्रोत्साहित करती है। सामाजिक शोध में सामाजिक जीवन के सन्बन्ध में जो खोज होती है उसका स्वस्थ प्रभाव सभी सामाजिक विज्ञानों पर पड़ता है और वह उनकी प्रगति में सहायक सिद्ध होती है।

(६) **सैद्धान्तिक उपयोगिता** (Theoretical Utility)—सामाजिक शोध सामाजिक घटनाओं का निष्पक्ष विश्लेषण करता है, समाज व सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की सीमाओं को विस्तृत करता है, सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में विश्वसनीय ज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होता है, सामाजिक जीवन की भावी गतिविधि के सम्बन्ध में हमें सूचित करता है, नवीन ज्ञान की सम्भावनाओं को बढ़ाता है तथा सामाजिक घटनाओं की वास्तविक प्रकृति को उद्घाटित करके उनके सम्बन्ध में हमारे विद्यमान अन्धविश्वासों (dogmatism) को समाप्त करने में सहायक सिद्ध होता है। सामाजिक शोध आगे बढ़ता है और अज्ञानता पीछे भागती है; सामाजिक शोध हमें तो प्रगति व कल्याण की राह दिखाता है, पर साथ ही अन्धविश्वासों व कुसंस्कारों की कब्र खोदता जाता है। इस प्रकार अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए मानवता के लिए सामाजिक शोध एक विश्वसनीय 'गाईड' (guide) बन जाता है, और बन जाता है ज्ञान का साधन एवं विज्ञान का आधार!

---

५ शोध-प्ररचनाएँ

(RESEARCH DESIGNS)

प्रत्येक सामाजिक शोध के कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं और उन उद्देश्यों की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि योजनाबद्ध रूप में शोध-कार्य को आरम्भ नहीं किया गया है। इसी योजना की रूपरेखा को शोध-प्ररचना (research design) कहते हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक सामाजिक शोध की समस्या या उपकल्पना जिस प्रकार की होगी, उसी के अनुसार शोध-प्ररचना का निर्माण किया जाता है जिससे कि शोध-कार्य को एक निश्चित दिशा प्राप्त हो सके और शोधकर्त्ता इधर-उधर भटकने से बच जाए। पर इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पूर्व शोध-प्ररचना के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप में समझ लेना हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

शोध-प्ररचना का अर्थ
(Meaning of Research Design)

जैसा कि पहले ही कहा गया है कि कोई भी सामाजिक शोध बिना किसी लक्ष्य या उद्देश्य के नहीं होता है। इस उद्देश्य या लक्ष्य का विकास और स्पष्टीकरण शोध-कार्य के दौरान नहीं होता, अपितु वास्तविक अध्ययन आरम्भ होने से पूर्व ही इसका निर्धारण कर लिया जाता है। शोध के उद्देश्य के आधार पर अध्ययन-विषय के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने के लिए पहले से ही बनाई गई योजना की रूपरेखा को शोध-प्ररचनाएँ (research designs) कहते हैं। श्री ऐकॉफ (Ackoff) ने प्ररचना का अर्थ समझते हुए लिखा है कि "निर्णय क्रियान्वित करने की स्थिति आने से पूर्व ही निर्णय निर्धारित करने की प्रक्रिया को प्ररचना कहते है।"[1] इस दृष्टिकोण से, उद्देश्य की प्राप्ति के पूर्व ही उद्देश्य का निर्धारण करके शोध-कार्य की जो रूपरेखा बना ली जाती है उसे शोध-प्ररचना (research design) कहते हैं। जब यह शोध-कार्य किसी सामाजिक घटना से सम्बद्ध होता है तो वह सामाजिक शोध की प्ररचना (design of social research) कहलाता है। अतः यह स्पष्ट है कि सामाजिक शोध-प्ररचना के अनेक प्रकार हैं और शोधकर्त्ता अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समझकर इनमें से किसी एक प्रकार को चुन लेता है और वह कौन-सा प्रकार है यह मालूम होते ही शोध-कार्य की प्रकृति व लक्ष्य स्पष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें यह ज्ञात हो जाए कि कोई शोध-प्ररचना अन्वेषणात्मक है तो स्वतः ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी सामाजिक घटना के अन्तर्निहित कारणों

1. "Design is the process of making decisions before the situation arises in which the decision is to be carried out."—R. L. Ackoff, *Design of Social Research*, p. 5.

की खोज करना ही उस शोध का उद्देश्य है। इसी प्रकार शोध-कार्य तथ्यों का विवरण मात्र होगा, अथवा नवीन नियमों को प्रतिपादित किया जाएगा अथवा उस शोध-कार्य में परीक्षण व प्रयोग का अधिक महत्त्व होगा, इन सब बातों को ध्यान में रखकर शोध-कार्य आरम्भ करने से पूर्व जो एक रूपरेखा बनाई जाती है उसी को शोध-प्ररचना (research design) कहते हैं।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि शोध-कार्य के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए उसे एक निश्चित प्रकार (type) के अन्तर्गत लाने के लिए तथा शोध-कार्य में उपस्थित होने वाली स्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए शोध की जो रूपरेखा बनाई जाती है उसी को शोध-प्ररचना कहते हैं।

शोध-प्ररचना के प्रकार
(Types of Research Design)

समस्त शोधों का एक ही आधारभूत उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति विभिन्न प्रकार से हो सकती है और उसी के अनुसार शोध-प्ररचना का रूप भी अलग-अलग हो सकता है। शोध-प्ररचना निम्नलिखित चार प्रकार की होती है :—

१. **अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध-प्ररचना** (Exploratory or Formulative Research Design)—जब किसी शोध-कार्य का उद्देश्य किन्हीं सामाजिक घटना में अन्तर्निहित कारणों को ढूँढ़ निकालना होता है तो उससे सम्बद्ध रूपरेखा को अन्वेषणात्मक शोध-प्ररचना कहते हैं। इस प्रकार की शोध प्ररचना में शोध-कार्य की रूपरेखा इस ढंग से प्रस्तुत की जाती है कि घटना की प्रकृति व धारा-प्रवाहों की वास्तविकताओं की खोज की जा सके। समस्या या विषय के चुनाव के पश्चात् प्राक्कल्पना का सफलतापूर्वक निर्माण करने के लिए इस प्रकार की प्ररचना का बहुत महत्त्व है क्योंकि इसकी सहायता से हमारे लिए विषय का कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए हमें किसी विशेष सामाजिक परिस्थिति में तलाक-प्राप्त (divorced) व्यक्तियों में व्याप्त यौन-व्यभिचार के विषय में अध्ययन करना है तो उसके लिए सबसे पहले उन कारकों का ज्ञान आवश्यक है जो कि उस प्रकार के व्यभिचार को उत्पन्न करते हैं। अन्वेषणात्मक शोध-प्ररचना इन्हीं कारकों को खोज निकालने की एक योजना बन सकती है। इसी प्रकार कभी-कभी समस्या के चुनाव और शोध-कार्य के लिए उसकी उपयुक्तता के सन्बन्ध में हमें अन्य किसी स्रोत से कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है। उस अवस्था में अन्वेषणात्मक शोध-प्ररचना की सहायता से हमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

इस प्रकार की शोध-प्ररचना की सफलता के लिए कुछ **अनिवार्यताओं** (essentials) का पालन करना होता है—(अ) सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन (review of the pertinent literature) इस दिशा में प्रथम अनिवार्यता है क्योंकि इसके बिना विषय के सम्बन्ध में कोई भी आरम्भिक ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता। बिना किसी सैद्धान्तिक आधार के शोध-कार्य में अग्रसर होना अन्धकार में निशाना दागने के समान होगा। अतः सम्बद्ध साहित्य का अध्ययन करके विषय की प्रकृति के बारे में सामान्य ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त लाभकारी सिद्ध होता है। (ब) अनुभव-सर्वेक्षण (experience survey) इस दिशा में दूसरी आवश्यकता है। हमारे लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम उन सभी व्यक्तियों से अपना सम्पर्क स्थापित करें जिनके विषय में हमें यह सूचना मिले कि शोध-विषय के सम्बन्ध में उनको पर्याप्त अनुभव या ज्ञान है—पर अशिक्षा, अवसर का अभाव या अन्य किसी कारण से

वे अपने अनुभव-ज्ञान को लिखित स्वरूप दे नहीं सके हैं। ऐसे लोगों का व्यावहारिक अनुभव हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकता है। अतः इनसे लाभ न उठाने की विलासिता (luxury) एक गम्भीर शोधकर्त्ता कदापि नहीं कर सकता। इसलिए सूचनादाताओं का चुनाव (selection of respondents or informants) इस ढंग से करना चाहिए कि विषय या समस्या के सम्बन्ध में अनुभव व ज्ञान रखने वाले सम्भावित सभी व्यक्ति उस चुनाव में आ जाएँ, चाहे वे समस्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले उत्तरदायी अधिकारी हों या कर्मचारी हों अथवा समस्या को विभिन्न दृष्टि-कोणों से देखने वाले आलोचक हों या समर्थक हों। ऐसा करने से ही विषय के कारणों की खोज वास्तविक रूप में हो सकेगी। (स) अन्तर्दृष्टि-प्रेरक घटनाओं का विश्लेषण (analysis of insight stimulating cases) अन्वेषणात्मक शोध-प्रारचना का तीसरा आवश्यक तत्त्व है। इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन-वस्तु से सम्बद्ध कुछ ऐसे विषय हो सकते हैं जिनका विश्लेषण करने पर अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध में व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि पनप सकती है। इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राक्कल्पना के निर्माण में तथा वास्तविक शोध-कार्य में अत्यधिक सहायता मिलती है। प्रत्येक समुदाय या समूह के जीवन में कुछ दृष्टि-आकर्षक, कुछ अत्यन्त सरल व स्पष्ट, कुछ व्याधिकीय (pathological), कुछ व्यक्तिगत विशिष्ट-गुण-सम्बन्धी घटनाएँ होती हैं जो कि अन्तर्दृष्टि को प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

अन्वेषणात्मक शोध-प्ररचना के मुख्य कार्य (Main Functions of Exploratory Research Design) सात हैं—(क) पूर्वनिर्धारित प्राक्कल्पना का तात्कालिक स्थितियों के सन्दर्भ में परीक्षण करना, (ख) विभिन्न शोध-पद्धतियों के प्रयोग की सम्भावनाओं का स्पष्टीकरण करना, (ग) सामाजिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण समस्याओं की ओर शोधकर्त्ता के ध्यान को आकर्षित करना, (घ) विस्तृत शोध-कार्य के लिए अपरिचित क्षेत्र में व्यवस्थित प्राक्कल्पना का आधार प्राप्त करना, (ङ) शोध-कार्य को एक विश्वसनीय रूप में प्रारम्भ करने में सहायता करना, (च) विज्ञान की सीमाओं में विस्तार करके उसके क्षेत्र का विकास करना, और (छ) अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए शोधकर्त्ता को प्रेरित करना।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि अन्वेषणात्मक शोध-प्ररचना उन आधारों को प्रस्तुत करती है जो कि एक सफल शोध-कार्य के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। श्री सेल्टिज़ (Selltiz) तथा उनके साथियों ने लिखा है, "अन्वेषणात्मक अनुसन्धान उस अनुभव को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है जो कि अधिक निश्चित अनुसन्धान के हेतु सम्बद्ध प्राक्कल्पना के निरूपण में सहायक होगा।"[2]

२. वर्णनात्मक शोध-प्ररचना (Descriptive Research Design)—विषय या समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्यों के आधार पर वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करना वर्णनात्मक शोध-प्ररचना का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि विषय के सम्बन्ध में हमें यथार्थ तथा पूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो जाएँ, क्योंकि इनके बिना अध्ययन-विषय या समस्या के सम्बन्ध में हम जो कुछ भी वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करेंगे वह वैज्ञानिक न होकर केवल दार्शनिक ही होगा। वैज्ञानिक

2. "Exploratory research is necessary to obtain the experience which will be helpful in formulating relevant hypothesis for more definite investigation."—Selltiz, Jahoda, Deutsch, Cook, *Research Methods in Social Relations*, p. 33.

वर्णन का आधार वास्तविक व विश्वसनीय तथ्य ही है। अतः यदि हमें किसी समुदाय की जातीय संरचना, शिक्षा-स्तर, आवास (housing) अवस्था, आयु-समूह, परिवार के प्रकार आदि का वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करना है तो हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम इनसे सम्बद्ध वास्तविक तथ्यों को किसी एक या एकाधिक वैज्ञानिक प्रविधि के द्वारा एकत्रित करें। इसके लिए आवश्यक यह है कि अपने उद्देश्य को सामने रखते हुए एक शोध-प्ररचना (research design) को विकसित किया जाए। जिस शोध-प्ररचना का उद्देश्य वर्णनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना होता है उसे वर्णनात्मक शोध-प्ररचना कहते हैं।

इस प्रकार की शोध-प्ररचना में तथ्यों का संकलन किसी भी वैज्ञानिक प्रविधि (technique) के द्वारा किया जा सकता है। प्रायः साक्षात्कार (interview), अनुसूची व प्रश्नावली (schedule and questionnaire), प्रत्यक्ष निरीक्षण, सहभागी-निरीक्षण (participant observation), सामुदायिक रिकार्ड (community records) का विश्लेषण आदि प्रविधियों को वर्णनात्मक शोध-प्ररचना में सम्मिलित किया जाता है।

वर्णनात्मक शोध-प्ररचना में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है—(अ) सर्वप्रथम तो अध्ययन-विषय के चुनाव में सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है क्योंकि शोध का विषय इस प्रकार का होना चाहिए जिससे सम्बद्ध आवश्यक व निर्भरयोग्य तथ्य हमें प्राप्त हो सकें। वर्णनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने की सर्वप्रथम शर्त यही है। (ब) दूसरी बात यह है कि इन तथ्यों को जिन प्रविधियों (techniques) के द्वारा सबसे अधिक उपयुक्त रूप में संकलित किया जा सके उनका चुनाव भी खूब सावधानी से होना चाहिए। किसी भी शोध-कार्य की यथार्थता प्रविधियों के उचित चुनाव पर निर्भर करती है। वर्णनात्मक शोध-कार्य में इस प्रकार के चुनाव का और भी अधिक महत्त्व इस कारण है कि यदि चुनाव ठीक ढंग से नहीं किया गया तो शोध-कार्य में वैज्ञानिकता पनपने के स्थान पर उसमें दार्शनिक तत्त्वों का अधिक प्रवेश हो जाएगा। (स) मिथ्या-झुकाव आदि से सुरक्षा इस दिशा में तीसरी महत्त्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात है। चूँकि इस प्रकार के शोध में विषय के वर्णनात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है, अतः पक्षपात, मिथ्या-झुकाव (bias), पूर्व-धारणा आदि के वर्णनात्मक विवरण में प्रवेश कर जाने की सम्भावना अधिक रहती है। अपने वर्णन को अधिक रोचक तथा आकर्षक बनाने का लोभ संभालना प्रायः बहुत कठिन हो सकता है और शोधकर्त्ता के वर्णन में अतिशयोक्ति या अतिरंजना का पुट सरलता से देखने को मिलता है। अतः हर प्रकार की स्थिति से बचने की आवश्यकता है। (द) विशिष्ट व आकर्षक तथ्यों के सम्बन्ध में भी अति संतुलित दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। वर्णनात्मक विवरण को एक 'साधारण' रूप प्रदान करने के लिए प्रायः शोधकर्त्ता अपना ध्यान आकर्षक व विशिष्ट तथ्यों पर अधिक केन्द्रित कर सकते हैं। पर यह 'प्रवृत्ति' वैज्ञानिक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। (य) अन्त में, शोध के व्यय में मितव्ययिता करने की भी आवश्यकता होती है। वर्णनात्मक शोध-कार्य प्रायः विस्तृत होते हैं; अतः यह जरूरी है कि शोध-प्रयत्न को सीमित किया जाए। अनावश्यक मदों (items) पर न तो श्रम और न ही धन को बर्बाद करना उचित होता है।

वर्णनात्मक शोध में निम्नलिखित **चरण** (steps) आते हैं—(क) शोध के उद्देश्यों का निरूपण (formulating the objectives of the study) वर्णनात्मक शोध का प्रथम चरण होता है जिसके अन्तर्गत शोध से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों का स्पष्टी-

करण तथा लक्ष्यों को परिभाषित करना सम्मिलित होता है जिससे कि अनावश्यक व असम्बद्ध तथ्यों का संकलन न हो तथा श्रम व धन की बर्बादी से वचा जा सके। (ख) उद्देश्यों को स्पष्ट करने के पश्चात् यह आवश्यक है कि तथ्य-संकलन की प्रविधियों का चुनाव (selection of the techniques of data collection) उचित ढंग से कर लिया जाए क्योंकि यह चुनाव ठीक प्रकार से किए विना विषय से सम्बद्ध निर्भरयोग्य तथ्यों, आँकड़ों अथवा प्रमाणों को एकत्रित करने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। भिन्न-भिन्न शोध-पद्धतियों के अपने-अपने गुण हैं। समस्या तथा उद्देश्य के अनुसार हम कितनी उपयुक्त पद्धति का चुनाव करने में सफल होते हैं, इस बात पर सम्पूर्ण शोध-कार्य की सफलता निर्भर करती है। (ग) निदर्शनों का चुनाव (selection of samples) इस दिशा में तीसरा आवश्यक चरण है क्योंकि समूह के प्रत्येक सदस्य या विषय की प्रत्येक इकाई का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। अतः निदर्शनों का चुनाव अर्थात् सम्पूर्ण जनसंख्या की कुछ प्रतिनिधि इकाइयों का अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन के आधार पर सम्पूर्ण जनसंख्या के विषय में विश्वसनीय निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इन प्रतिनिधि इकाइयों के चुनाव में भी मिथ्या-झुकाव (bias) से वचने की आवश्यकता है। (घ) आँकड़ों का संकलन तथा उनकी जाँच (collection and scrutiny of data) इस दिशा में चौथा चरण माना जाता है। निदर्शनों के चुनाव के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि वैज्ञानिक प्रविधियों की सहायता से आवश्यक आँकड़ों का न केवल संकलन ही किया जाए अपितु उनकी जाँच भी उचित ढंग से हो ताकि वर्णनात्मक विवरण में अनावश्यक वातों का समावेश न हो सके। वास्तविकता तो यह है कि साक्षात्कर्त्ता (interviewer) अथवा निरीक्षणकर्त्ता की ईमानदारी तथा परिश्रम पर शुद्ध तथा यथार्थ सूचनाएँ एकत्र की जा सकती हैं। अतः सामग्री-संकलन के समय भी कार्य-कर्त्ताओं पर नियमित रूप से निगरानी रखनी चाहिए। (ङ) परिणामों का विश्लेषण (analysis of the results) इस दिशा में पंचम चरण है और इसका अर्थ है जिन आँकड़ों अथवा तथ्यों का संकलन किया गया है उनका समानता या भिन्नता के आधार पर विभिन्न समूहों में वर्गीकरण, सारिणीयन तथा अन्य सांख्यिकीय विवेचना। शुद्धता तथा प्रशिक्षण इस कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं। अतः इस स्तर पर अत्यन्त निगरानी रखने की आवश्यकता रहती है। (च) अन्तिम स्तर पर रिपोर्ट का प्रस्तुतीकरण (reporting) आता है जिसमें शोध-विषय के सम्बन्ध में तथ्ययुक्त (factual) विवरण तथा सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाता है। इस स्तर पर भाषा के प्रयोग पर विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है क्योंकि अत्यधिक अलंकारयुक्त भाषा से विषय के विवरण में अतिरंजना पनप सकती है और उसका विभिन्न लोगों के द्वारा विभिन्न अर्थ लगाए जाने का भी डर रहता है। इन समस्त चरणों से सफलतापूर्वक गुजरने के पश्चात् ही वर्णनात्मक शोध-कार्य अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है।

३. निदानात्मक शोध-प्रारचना (Diagnostic Research Design)—शोध-कार्य का मूलभूत उद्देश्य केवल ज्ञान की प्राप्ति तथा ज्ञान की वृद्धि है। पर यह भी हो सकता है कि शोध-कार्य का उद्देश्य किसी समस्या के कारणों के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करके उस समस्या के समाधानों को भी प्रस्तुत करना हो। इसी प्रकार की शोध-प्ररचना को निदानात्मक शोध-प्ररचना कहते हैं। अर्थात् विशिष्ट सामाजिक समस्या के निदान की खोज करने वाले शोध-कार्य को निदानात्मक शोध

कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से स्मरणीय है कि इस प्रकार के शोध में शोध-कर्त्ता समस्या का हल प्रस्तुत करता है, न कि स्वयं उस समस्या को हल करने के प्रयास में जुट जाता है। समस्या को हल करना समाज-सुधारक, प्रशासक तथा नेताओं का काम होता है, शोधकर्त्ता केवल वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा समस्या के कारणों को जान लेने के बाद उसका उचित समाधान किस ढंग से सर्वोत्तम रूप में हो सकता है इस बात की खोज करता है। इसीलिए निदानात्मक शोध-कार्य में समस्या का पूर्ण एवं विस्तृत अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से करके समस्या की गहराई में पहुँचने का प्रयास किया जाता है जिससे कि समस्या के प्रत्येक सम्भावित कारण का पता ठीक ढंग से लग सके। इस प्रकार समस्या के कारणों का ज्ञान सर्वप्रथम है, उसके निदानों की खोज उसके बाद की बात है। इस प्रकार की खोज इस कारण की जाती है क्योंकि समस्या-विशेष का हल तत्काल ही करने की आवश्यकता होती है। सम्भावित हल को ध्यान में रखते हुए इसीलिए प्राक्कल्पना (hypothesis) का निर्माण किया जाता है जिससे कि अध्ययन-कार्य वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निदानात्मक शोध की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है :—

(१) निदानात्मक शोध-कार्य वैज्ञानिक पद्धति का निश्चित रूप से अनुसरण करता है जिसका कि प्रथम चरण प्राक्कल्पना का निर्माण और उसी के आधार पर अध्ययन का संचालन है।

(२) निदानात्मक शोध-कार्य की आवश्यकता सामाजिक व्यवस्था व सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं को तत्काल दूर करने या उपचार की खोज करने से सम्बद्ध होती है।

(३) निदानात्मक शोध में सर्वप्रथम वैज्ञानिक ढंग से समस्या के कारणों का सही रूप में पता करने का प्रयत्न किया जाता है क्योंकि यह माना जाता है कि वास्तविक कारणों के सम्बन्ध में उचित व पर्याप्त ज्ञान के बिना आवश्यक समाधान की खोज असम्भव है।

(४) निदानात्मक शोध किसी विशिष्ट सामाजिक समस्या के निदान की खोज से सम्बद्ध होता है। अर्थात् केवल शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति करना ही इसका उद्देश्य नहीं होता, अपितु उसके हल को भी ढूंढ़ना इसका काम होता है।

(५) निदानात्मक शोधकर्त्ता समस्या का समाधान ढूंढ़ता अवश्य है, पर उस समस्या को हल करना उसका काम नहीं होता। वह तो वैज्ञानिक तौर पर केवल रास्ता बता देता है, उस रास्ते पर चलकर समस्या को सुलझाना समाज-सुधारक, प्रशासक आदि का काम होता है।

उपर्युक्त विवेचना से वर्णनात्मक तथा निदानात्मक शोध में अन्तर स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है। इसको हम फिर इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—(अ) वर्णनात्मक शोध का सम्बन्ध समस्या या विषय जिस रूप में है, उसी से होता है जबकि निदानात्मक शोध का सम्बन्ध किसी सामाजिक समस्या से ही होता है। इस अर्थ में निदानात्मक शोध केवल समस्याओं का ही अध्ययन करता है जबकि वर्णनात्मक शोध किसी भी सामाजिक घटना का, जिसमें सामाजिक समस्या भी आ जाती है, अध्ययन करता है। (ब) वर्णनात्मक शोध का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध समस्या के समाधान से नहीं होता है, जबकि निदानात्मक शोध में निदान की ही खोज की जाती है। (स) वर्णनात्मक अध्ययन में घटना के कारणों को तथ्ययुक्त वर्णन प्रस्तुत करने के हेतु ढूंढ़ा जाता है, पर

निदानात्मक शोध में समाधान ढूंढ़ने के उद्देश्य से कारणों को जानने का प्रयत्न किया जाता है। (द) वर्णनात्मक शोध में विषय का अध्ययन कर ज्ञान की प्राप्ति स्वयं साध्य (end) है जबकि निदानात्मक शोध में ज्ञान की प्राप्ति उपचार ढूंढ़ने का एक साधन (means) बन जाती है।

४. **परीक्षणात्मक शोध-प्ररचना** (Experimental Research Design)—भौतिक विज्ञानों की भाँति समाजशास्त्र भी अपने शोध-कार्यों में परीक्षण-प्रणाली का उपयोग कर अधिकाधिक यथार्थता लाने का प्रयत्न कर रहा है। भौतिक विज्ञानों में जिस भाँति कुछ निश्चित नियंत्रित अवस्थाओं में रखकर विषय का अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार नियंत्रित दशाओं में रखकर निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा सामाजिक घटनाओं का व्यवस्थित अध्ययन करने की रूपरेखा को परीक्षणात्मक शोध-प्ररचना कहते हैं। श्री चैपिन (Chapin) ने लिखा है, "समाजशास्त्रीय शोध में परीक्षणात्मक प्ररचना की अवधारणा नियंत्रण की दशाओं के अन्तर्गत निरीक्षण द्वारा मानवीय सम्बन्धों के व्यवस्थित अध्ययन की ओर संकेत करती है।"[3] और भी संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रयोगशाला-पद्धति (Laboratory Method) के द्वारा विषय का अध्ययन परीक्षणात्मक शोध का ही दूसरा नाम है।

परीक्षणात्मक शोध **तीन प्रकार** (types) के होते हैं—**(अ) पश्चात् परीक्षण** (After-only experiment)—इसके अन्तर्गत सभी दृष्टि से प्रायः समान विशेषताओं व प्रकृति (nature) वाले दो समूहों को चुन लिया जाता है जिनमें से एक समूह नियंत्रित समूह और दूसरा परीक्षणात्मक समूह कहलाता है। नियंत्रित समूह में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जाता है, जबकि परीक्षणात्मक समूह में किसी एक कारक के द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार यदि प्रथम समूह दूसरे समूह से भिन्न हो जाता है तो उसी कारक को उस परिवर्तन का कारण मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, दो समान समूहों में से एक समूह में, जिसे परीक्षणात्मक समूह माना गया है, सह-शिक्षा का प्रसार किया जाए। कुछ समय के पश्चात् उस समूह की तुलना दूसरे से की जाए। यदि दोनों में कुछ अन्तर (जैसे प्रेम-विवाह की अधिक घटनाएँ) देखने को मिलता है तो वह सह-शिक्षा के कारण समझा जाएगा। **(ब) पूर्व-पश्चात् परीक्षण** (Before-after experiment)—इसके अन्तर्गत अध्ययन के लिए केवल एक ही समूह का चुनाव किया जाता है और उसी का अध्ययन एक अवस्था-विशेष के पहले और बाद को किया जाता है। इन दोनों अध्ययनों के अन्तर को देखा जाता है और उसे परिवर्तित परिस्थिति का परिणाम मान लिया जाता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त परिवार प्रणाली का अध्ययन औद्योगीकरण के पूर्व और फिर औद्योगीकरण के पश्चात् किया जाता है और यदि इन दोनों अध्ययनों की तुलना से यह पता चले कि औद्योगीकरण से पूर्व संयुक्त परिवार संगठित अवस्था में था जबकि औद्योगीकरण के पश्चात् उसमें विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गई तो संयुक्त परिवार के विघटन को औद्योगीकरण का परिणाम मान लिया जाएगा। **(स) कार्यान्तर-तथ्य परीक्षण** (Ex-post-facts experiment)—इस प्रकार का परीक्षण किसी ऐतिहासिक घटना का अध्ययन करने के लिए किया जाता है। पर ऐतिहासिक घटनाओं को दोहराना शोधकर्त्ता के वश में नहीं होता। अतः वह दो समूहों

---

3. "The concept of experimental design in sociological research refers to systematic study of human relations by making observation under conditions of control."—Chapin, *Experimental Designs in Sociological Research*, p. 28.

का चुनाव करता है जिसमें से एक में वह घटना (जिसका कि अध्ययन उसे करना है) घटित हो चुकी है जबकि दूसरे में नहीं। इन दोनों समूहों की पुरानी परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि जिस समूह में वह घटना घटित हुई है वह किन कारणों से हुई है। संक्षेप में, ऐतिहासिक घटना-चक्रों का परीक्षण कर वर्तमान घटनाओं या अवस्थाओं के कारणों की खोज कार्यान्तर-तथ्य परीक्षण कहलाता है।

प्रयोगसिद्ध शोध तथा सामाजिक सिद्धान्त में सम्बन्ध

(Relation between Empirical Rasearch and Social Theory)

प्राय: यह समझा जाता है कि प्रयोगसिद्ध शोध का कोई भी सम्वन्ध सामाजिक सिद्धान्तों के साथ नहीं है क्योंकि सिद्धान्त को काल्पनिक विचार (speculation) समझ बैठने की गलती लोग कर बैठते हैं। अतः सिद्धान्त तब तक काल्पनिक बना रहता है जब तक उसे प्रमाणित न किया जाए। प्रमाणित हो जाने के बाद सिद्धान्त ही प्रयोगसिद्ध शोध का एक अंग बन जाता है। इस प्रकार, इस सम्बन्ध में दूसरी गलत धारणा यह है कि विज्ञान का सम्वन्ध केवल तथ्यों से ही है और चूँकि सिद्धान्त तथ्य नहीं है अत: उसका सम्बन्ध केवल दर्शन से है, न कि प्रयोगसिद्ध शोध से; क्योंकि सामाजिक शोध विज्ञान है। पर ये सभी गलत धारणाएँ हैं। इस सम्बन्ध में सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) का कथन है कि (१) सिद्धान्त तथा तथ्य एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे में समाये हुए हैं; (२) सिद्धान्त केवल काल्पनिक विचार नहीं होता है; और (३) वैज्ञानिकों का सम्बन्ध सिद्धान्त तथा तथ्य दोनों से ही होता है।[4] इन सब का एकमात्र कारण यह है कि वैज्ञानिक के लिए सिद्धान्त वास्तव में तथ्यों के बीच पाए जाने वाले अर्थयुक्त सम्बन्धों को दर्शाने वाला होता है। बिना किसी क्रमबद्ध सिद्धान्त के सामाजिक शोध के लिए भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं और भविष्यवाणी करने की योग्यता के बिना विज्ञान की सार्थकता कुछ हो ही नहीं सकती। इस प्रकार सामाजिक शोध का विज्ञान निरीक्षणयोग्य उन तथ्यों पर ही निर्भर है जो कि सैद्धान्तिक तौर पर अर्थयुक्त हैं और सिद्धान्त व तथ्यों के बीच होने वाली निरन्तर अन्तःक्रियाओं के सन्दर्भ में ही सामाजिक शोध की कल्पना की जा सकती है।

सामाजिक शोध तथा सिद्धान्त के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है क्योंकि (१) सिद्धान्त प्रयोगसिद्ध शोध के लिए आवश्यक सामग्री पर शोधकर्त्ता का ध्यान केन्द्रित करता है और यह बताता है कि किन-किन तथ्यों का वास्तव में संकलन करना है; (२) साथ ही, सिद्धान्त के माध्यम से ही हमें उस बोध-गम्य योजना का पता चलता है जिसके द्वारा घटनाओं को व्यवस्थित, वर्गीकृत तथा अन्तःसम्बन्धित किया जा सकता है ; (३) सिद्धान्त ही समस्त तथ्यों का एक संक्षिप्त सार प्रस्तुत करता है जिससे कि तथ्यों के सम्बन्ध में किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव होता है; और (४) सिद्धान्त की सहायता से घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना भी हमारे लिए सरल हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक शोध के क्षेत्र में सामाजिक सिद्धान्तों के कार्य स्पष्ट हैं। सिद्धान्त शोध के क्षेत्र को सीमित

4. "(1) That theory and fact are not diametrically opposed, but inextricably intertwined; (2) that theory is not speculation; and (3) that scientists are very much concerned with both theory and fact."—William J, Goode & Paul K. Hatt, *op. cit.*, p. 8.

कर देता है जिससे कि शोधकर्त्ता का ध्यान इधर-उधर बँट न जाए। एक ही विषय का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से अथवा उसके विभिन्न पहलुओं के सन्दर्भ में किया जा सकता है। सिद्धान्त एक समय में एक पहलू पर शोधकर्त्ता के ध्यान को केन्द्रित कर देता है। जब अनावश्यक तथ्यों का संकलन नहीं होता है तब तथ्यों का वर्गीकरण करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को ढूँढ़ना तथा कुछ निश्चित निष्कर्षों को निकालना शोधकर्त्ता के लिए सरल हो जाता है। यह सिद्धान्त का **दूसरा** कार्य है। सिद्धान्त का **तीसरा** कार्य सम्पूर्ण घटना की विशेषता या प्रकृति को अति संक्षेप में व्यक्त करना है। उदाहरणार्थ,, 'गन्दी बस्तियों में अन्य स्थानों की तुलना में बाल-अपराधों की घटनाएँ अधिक होती हैं' यह सिद्धान्त बाल-अपराधों के कारणों का संक्षिप्त सार कहा जा सकता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर बाल-अपराध के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना भी कठिन नहीं होता है, जैसे हम यह कह सकते हैं कि 'यदि गन्दी बस्तियों का उन्मूलन न किया गया तो बाल-अपराध को समाप्त नहीं किया जा सकेगा।' इस प्रकार तथ्यों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना सिद्धान्त का **चौथा** कार्य है। **अन्त में,** सिद्धान्त हमारे ज्ञान में पाई जाने वाली कमियों का उल्लेख करता है। चूँकि सिद्धान्त घटना के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करता है, अतः यह भी बता सकता है कि उस घटना के सम्बन्ध में हमें क्या मालूम नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि सिद्धान्त गन्दी बस्तियों को बाल-अपराध के कारण के रूप में स्वीकार करता है तो वह यह भी बताता है कि गन्दी बस्तियों की किन अवस्थाओं के सम्बन्ध में और अधिक जानकारी की आवश्यकता है।

पर सिद्धान्त के उपर्युक्त कार्य एक-तरफा नहीं होते हैं। अर्थात् प्रयोगसिद्ध शोध के लिए केवल सिद्धान्त ही उपयोगी होता है, ऐसी बात नहीं है; शोध भी सिद्धान्त के लिए कुछ कार्यों को करता है। इन कार्यों में **सर्वप्रथम** तो यह कि प्रयोगसिद्ध शोध ही सिद्धान्त को परिष्कृत करता है। शोध के द्वारा हम कुछ प्रमाणसिद्ध तथ्यों को इस भाँति संकलित करते हैं जिससे कि एक घटना के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो सके। यह ज्ञान उस घटना के सम्बन्ध में सिद्धान्तों की जाँच करने तथा उनकी कमियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होता है। और भी स्पष्ट रूप में प्रयोगसिद्ध शोध में जिन वास्तविक तथ्यों का संकलन किया जाता है वे तथ्य सिद्धान्तों की सत्यता की परीक्षा कर लेते हैं और उसमें पाई जाने वाली कमियों को दूर करते हैं। प्रयोगसिद्ध शोध का **दूसरा** कार्य यह है कि इसमें जिन तथ्यों का निरीक्षण किया जाता है वे तथ्य नए सिद्धान्तों को भी जन्म दे सकते हैं। इस सत्य को सभी स्वीकार करते हैं कि आकस्मिक तौर पर निरीक्षित एक तथ्य से भी कभी-कभी श्रेष्ठ सिद्धान्त का 'आविष्कार' हो जाता है। कम-से-कम श्री फ्रॉयड (Freud) के सिद्धान्त इस बात का प्रमाण हैं। प्रयोगसिद्ध शोध का **तीसरा** कार्य निरीक्षित तथ्यों के आधार पर विद्यमान सिद्धान्त को या तो गलत प्रमाणित करना या उसमें आवश्यक परिवर्तन करके उसे वैज्ञानिक स्तर पर लाना है। प्रत्येक सिद्धान्त की निरन्तरता इस बात पर निर्भर करती है कि वह तथ्यों के साथ मेल खा जाए, यदि ऐसा नहीं है तो तथ्यों के अनुरूप सिद्धान्त को या तो परिवर्तित करना पड़ता है या उसे त्याग दिया जाता है। चूँकि शोध एक निरन्तर होने वाली क्रिया है, इसलिए नाना प्रकार के तथ्य निरन्तर सामने आते रहते हैं और उसी के अनुसार सिद्धान्तों को त्यागने और फिर से बनाने (rejection and reformulation) की प्रक्रिया चलती रहती है। उदाहरणार्थ, श्री दुर्खीम (Durkheim) ने अनेक तथ्यों को

एकत्रित करके यह प्रमाणित कर दिया कि आत्महत्या के सम्बन्ध में उनसे पहले के प्रचलित सभी सिद्धान्त गलत हैं और 'समूह का दवाव' (group pressure) या सामाजिक कारक आत्महत्या का कारण है। श्री दुर्खीम के वाद होने वाले शोधों से फिर श्री दुर्खीम के सिद्धान्त की अपर्याप्तता भी प्रकट हुई और उसे आवश्यक सुधार के साथ स्वीकार किया गया। अन्त में, शोध-कार्य के दौरान में संकलित तथ्य सिद्धान्तों को पुनःपरिभाषित तथा स्पष्ट (redefine and clarify) करते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। सिद्धान्त में घटना के सम्बन्ध में सामान्य व संक्षिप्त रूपरेखा का वर्णन होता है, जवकि तथ्य उसी के विस्तृत विवरण को अधिक अर्थयुक्त ढंग से प्रस्तुत करता है जिसके फलस्वरूप सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण स्वतः ही होता जाता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रयोगसिद्ध शोध तथा सामाजिक सिद्धान्त के वीच वास्तव में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और व्यावहारिक रूप में वे एक-दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करते हैं।

६

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति व क्षेत्र

(NATURE AND SCOPE OF SOCIAL SURVEY)

सामाजिक सर्वेक्षण को एक समाजशास्त्रीय अध्ययन-पद्धति के रूप में देखा जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा न केवल सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, अपितु समाज-सुधार के उद्देश्य को सामने रखते हुए उन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने का भी प्रयत्न किया जाता है। इस अर्थ में सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक समस्याओं का अध्ययन व समाधान का एक वैज्ञानिक साधन है। वैज्ञानिक इस अर्थ में कि इसमें अध्ययन-कार्य किसी मनमाने ढंग से न होकर वैज्ञानिक विधि के आधार पर होता है और कोई भी निदान या निष्कर्ष वास्तविक निरीक्षण-परीक्षण पर सुप्रतिष्ठित होता है। पर इस सम्बन्ध में और कुछ लिखने से पूर्व यह उचित होगा कि हम सामाजिक सर्वेक्षण के अर्थ को अच्छी तरह समझ लें।

सामाजिक सर्वेक्षण का अर्थ
(Meaning of Social Survey)

'सर्वेक्षण' का शाब्दिक अर्थ ध्यानपूर्वक किसी वस्तु या घटना का निरीक्षण-परीक्षण करना है। यदि यह निरीक्षण-परीक्षण सामाजिक जीवन या सामाजिक घटना से सम्बन्धित है तो उसे मोटे तौर पर सामाजिक सर्वेक्षण कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से **सामाजिक सर्वेक्षण निरीक्षण-परीक्षण की वह वैज्ञानिक पद्धति है जो कि किसी सामाजिक समूह अथवा सामाजिक जीवन के किसी पक्ष या घटना के सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रयुक्त होती है।** सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध किसी सामाजिक दशा, स्थिति अथवा परिस्थिति या समस्या से होता है। 'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी' (Dictionary of Sociology) के अनुसार, "एक समुदाय के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पहलू जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन के सम्बन्ध में तथ्यों के बहुत-कुछ व्यवस्थित व विस्तृत संकलन व विश्लेषण को ही मोटे तौर पर सर्वेक्षण कहते हैं।"[1] वेबस्टर (Webster) शब्दकोष के अनुसार, "वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के लिए किया गया आलोचनात्मक निरीक्षण (inspection) ही सामाजिक सर्वेक्षण कहलाता है।"[2]

1. "A term......used rather loosely to indicate a more or less orderly and comprehensive gathering and analysis of facts about the total life of a community or some phase of it *e.g.* health, education, recreation..........."
—Arthur James Todd, *Dictionary of Sociology* p. 10.

2. "A critical inspection, often official, to provide exact information; often a study of an area with respect to a certain condition or its prevalence, as a survey of schools."—Webster, *Collegiate Dictionary*, p. 110.

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक सर्वेक्षण वास्तव में सामाजिक जीवन के किसी पक्ष, विषय या समस्या के सम्बन्ध में निर्भरयोग्य तथ्यों के संकलन व विश्लेषण करने की एक प्रणाली है जो कि कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों व मान्यताओं (assumptions) पर आधारित होने के कारण प्रयोगसिद्ध निष्कर्षों को निकालने में सहायक सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध केवल सामाजिक समस्याओं अथवा व्याधिकीय (pathological) विषयों से होता है और इसका प्रमुख उद्देश्य वैज्ञानिक तौर पर समस्या के समाधान व समाज-सुधार की परियोजना को प्रस्तुत करना होता है। इस कथन में पर्याप्त सत्यता है, पर अव्याधिकीय (non-pathological) विषयों का अध्ययन करने के सम्बन्ध में सामाजिक सर्वेक्षण पर कोई कठोर निषेध लागू किया गया है अथवा किया जा भी सकता है यह सोचना गलत है। एक समुदाय के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी विशेष पक्ष के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तौर पर तथ्यों के संकलन, विश्लेषण व निष्कर्षीकरण की वैज्ञानिक प्रणाली को भी सामाजिक सर्वेक्षण कहा जाता है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

सामाजिक सर्वेक्षण की परिभाषाएँ
(Definitions of Social Survey)

जैसा कि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सामाजिक सवक्षण की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वानों में एक-मत की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि उनके दृष्टिकोणों में अन्तर होना स्वाभाविक है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक सर्वेक्षण को (अ) एक समुदाय के सामान्य ज़ीवन के एक अध्ययन के रूप में देखा है, तो कुछ विद्वानों ने उसे (ब) व्याधिकीय समस्याओं व समाज-सुधार से सम्बन्धित माना है, तो अन्य कुछ विद्वानों ने सामाजिक सर्वेक्षण को (स) एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में परिभाषित किया है। इनमें से किसी भी दृष्टिकोण को अनुचित अथवा गलत नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि सामाजिक जीवन के विस्तृत व परिवर्तनशील क्षेत्र के सन्दर्भ में सामाजिक सर्वेक्षण को किसी सीमित परिभाषा में बाँधकर उसका पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करना कठिन है। सामाजिक विज्ञान की प्रकृति स्वयं भी प्रगतिशील है और प्रगति की कोई सीमा पहले से ही निर्धारित करना अप्राकृतिक होगा। अतः सामाजिक सर्वेक्षण की परिभाषा की विवेचना उपरोक्त तीनों आधारों पर कर लेना ही उचित होगा—

(अ) सामाजिक सर्वेक्षण सामान्य सामाजिक घटनाओं के एक अध्ययन के रूप में (Social Survey as a study of General Social Phenomena)—प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान आते हैं जो कि अपनी परिभाषा में इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण सामान्य सामाजिक घटनाओं का अध्ययन है। श्री वेल्स (Wells) के शब्दों में, "साधारण तौर पर सामाजिक सर्वेक्षण को किसी विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले एक मानव-समूह की सामाजिक संस्थाओं व क्रियाकलापों (activities) के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[3]

श्री बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है, "एक सामाजिक सर्वेक्षण मोटे तौर पर किसी एक क्षेत्र-विशेष के लोगों के रहन-सहन तथा कार्य करने की दशाओं से

---

3. "The social survey may generally be defined as a study of the social institutions and activities of a group of persons living in a particular locality."—Wells, A. F., *The Local Social Survey in Britain*, 1960, p. 7.

सम्बन्धित तथ्यों को संकलित करना है।"[4] दूसरे शब्दों में, एक क्षेत्र-विशेष में रहने वाले लोगों के रहन-सहन व कार्यकलापों की दशाओं का अध्ययन करने के लिए आवश्यक तथ्यों की संकलन-प्रक्रिया को सामाजिक सर्वेक्षण कहा जाता है।

श्री सिन पाओ यांग (Hsin Pao Yang) के अनुसार, "सामाजिक सर्वेक्षण प्रायः लोगों के एक समूह की रचना, क्रियाकलापों तथा रहन-सहन की दशाओं के सम्बन्ध में एक जाँच-पड़ताल है।"[5]

(ब) सामाजिक सर्वेक्षण व्याधिकीय समस्याओं व समाज-सुधार से सम्बन्धित अध्ययन के रूप में (Social Survey as a study of Pathological Problems and Social Reform)—इस दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान आते हैं जो कि इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक समस्याओं का अध्ययन समाज-सुधार के उद्देश्य से करता है। इस अर्थ में समाज व उसकी समस्याओं का अध्ययन तथा उन समस्याओं के समाधान की खोज करके सामाजिक कल्याण करने के द्विमुखी उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक सर्वेक्षण करता है। श्रीमती यंग (P. V. Young) ने स्पष्ट ही लिखा है कि "सामाजिक सर्वेक्षण (१) समाज-सुधार की किसी क्रियात्मक योजना के निरूपण (formulation) और (२) निश्चित भौगोलिक सीमाओं में व्याप्त तथा निश्चित सामाजिक परिणामों व सामाजिक महत्त्व वाली किसी प्रचलित या तात्कालिक व्याधिकीय अवस्था के सुधार से सम्बन्धित है; (३) इन अवस्थाओं का नाप व तुलना किन्हीं ऐसी परिस्थितियों के साथ हो सके जिन्हें कि आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सके।"[6] इस अर्थ में माप और तुलना की वैज्ञानिक विधियों द्वारा एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के किसी मानव-समूह या समुदाय के जीवन से सम्बन्धित किसी महत्त्वपूर्ण तात्कालिक व्याधिकीय समस्या का अध्ययन व समाज-सुधार की क्रियात्मक योजना का निरूपण ही सामाजिक सर्वेक्षण है।[7]

श्री बर्जेस (Burgess) के मतानुसार, "एक समुदाय का सर्वेक्षण सामाजिक विकास की एक रचनात्मक परियोजना प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया गया उस समुदाय की दशाओं व आवश्यकताओं का वैज्ञानिक अध्ययन है।"[8]

---

4. "A social survey is the collecting of data concerning the living and working conditions, broadly speaking of the people of a given area."—E. S. Bogardus, *Sociology*, 1954, p. 543.

5. "A social survey is usually an enquiry into the composition activities and living conditions of a group of people."—Hsin Pao Yang, *Fact Finding with Rural People*, 1955, p. 3.

6. "In general, social surveys are concerned with (1) the formulation, of a constructive programme of social reform and (2) amelioration of current or immediate conditions of a social pathological nature, which have definite geographic limits and definite social implications and social significance; (3) These conditions can be measured and compared with situations which can be accepted as a model."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, pp. 17-18.

7. The author.

8. A survey of a community has been defined also as "the scientific study of its conditions and needs for the purpose of presenting a constructive programme of social advance."—E. W. Burgess. 'Social Surveys—A Field for Constructive Service by Departments of Sociology', *American Journal of Sociology*, XXI (January, 1916), p. 492.

श्री केलॉग (Kellog) ने भी लिखा है, "सामाजिक सर्वेक्षण प्रायः वे सहकारी अध्ययन-प्रयास माने गए हैं जो कि वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग ऐसी सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करने में करते हैं जो इतनी गम्भीर हैं कि जनमत को तथा समस्या-समाधान की इच्छा को जागृत करते हैं।"[9] और भी स्पष्ट रूप में हम कह सकते हैं कि जनमत को जागृत करने योग्य तथा उसके द्वारा समस्या के समाधान की माँग करने वाले सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक व सहकारी अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण है।

(स) सामाजिक सर्वेक्षण एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में (Social Survey as a Scientific Method)—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान आते हैं जो कि सामाजिक सर्वेक्षण की विवेचना एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में करते हैं। उदाहरणार्थ, श्री मोर्स (Morse) का कथन है, "संक्षेप में, सामाजिक सर्वेक्षण कुछ परिभाषित उद्देश्यों के हेतु किसी विशेष सामाजिक परिस्थिति अथवा समस्या अथवा जनसंख्या का वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित रूप में विश्लेषण करने की केवल एक पद्धति है।"[10]

श्री अब्राम्स (Abrams) ने 'पद्धति' के स्थान पर 'प्रक्रिया' (process) शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार, "सामाजिक सर्वेक्षण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समुदाय की रचना तथा क्रियाओं के सामाजिक पक्ष के सम्बन्ध में गणनात्मक तथ्य संकलित किए जाते हैं।"[11]

श्री मोजर (Moser) ने भी सामाजिक सर्वेक्षण को एक पद्धति या तरीके के रूप में देखा है। उनके मतानुसार, "समाजशास्त्रियों को चाहिए कि वे सर्वेक्षणों को एक तरीके के रूप में और एक अत्यधिक उपयोगी तरीके के रूप में देखें जिसके द्वारा कि अध्ययन-स्थल की खोज, उसके चारों ओर व प्रत्यक्षतः अध्ययन-विषय से सम्बन्धित आँकड़ों को संकलित किया जाता है ताकि समस्या प्रकाश में आए और अध्ययन-योग्य विषयों के सम्बन्ध में सुझाव प्राप्त हो सकें।"[12]

उपरोक्त तीनों श्रेणियों के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत सभी परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें सामाजिक सर्वेक्षण की एक सामान्य परिभाषा का आभास

---

9. "Social surveys have generally been regarded as co-operative undertaking which utilise scientific methods in the study of social problems acute enough to arouse public opinion and a desire to take a hand in their solution."—Paul Kellog, Shelby Harrison and George Palmer, *The Social Survey* (Pamphlet), p. 20.

10. "The social survey is, in brief, simply a method of analysis in scientific and orderly form and for defined purposes of a given social situation or problem or population."—Morse, H. N., *The Social Survey in Town and Country Areas*, 1924, p. 104.

11. "A social survey is a process by which qualitative facts are collected about the social aspects of a community's composition and activities."—Abrams, M., *Social Survey and Social Action*, 1960, p. 107.

12. "The sociologist should look upon surveys as a way, and a supremely useful one, of exploring the field, of collecting data around, as well as directly on the subject of study, so that the problem is brought into focus and the points worth pursuing are suggested."—Moser, *Survey Methods in Social Investigation*, 1958, p. 4.

भी सरलता से ही होता है। हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण वह वैज्ञानिक पद्धति है जिसके द्वारा एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के किसी सामाजिक घटनाओं के अथवा सामूहिक जीवन के विषय में निर्भरयोग्य तथ्यों को संकलित किया जाता है ताकि घटना की वास्तविकताओं का अध्ययन, विश्लेषण तथा निष्कर्षीकरण किया जा सके और यदि वह घटना व्याधिकीय है तो उसके समाधान के लिए आवश्यक परियोजना (programme) का निर्माण कर समाज-सुधार की दिशा में योगदान किया जा सके।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति
(Nature of Social Survey)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति वैज्ञानिक है। इसे आधारभूत रूप में एक वैज्ञानिक पद्धति कहा जा सकता है। क्योंकि यह वह साधन है जिसके द्वारा सामाजिक घटनाओं तथा सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में हम निर्भरयोग्य तथ्यों का संकलन कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं तथा सामाजिक समस्याओं से है। पर इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय शर्त यह है कि सामाजिक सर्वेक्षण एक ही समय में सम्पूर्ण समाज की सभी घटनाओं या समस्याओं का अध्ययन नहीं करता है। इसका अध्ययन-क्षेत्र एक समय में एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित रहता है। श्री हैरीसन (Harrison) के मतानुसार केवल वे ही घटनाएँ सामाजिक सर्वेक्षण द्वारा अध्ययन की जा सकती हैं जो भौगोलिक रूप से सीमित हों। सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है। इसका कारण भी स्पष्ट है और वह यह कि चूंकि सामाजिक सर्वेक्षण में सर्वेक्षणकर्त्ता को स्वयं घटनाओं का निरीक्षण, साक्षात्कार आदि करना पड़ता है, इस कारण असीमित अध्ययन-क्षेत्र को चुनना सम्भव नहीं होता है। अतः अपनी वैज्ञानिक प्रकृति को बनाए रखने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण को अपने अध्ययन-क्षेत्र को सीमित करना ही पड़ता है।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि यह बहुधा सामाजिक समस्या से ही अपने को सम्बन्धित रखता है। सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण को उन समस्याओं से सम्बन्धित आँकड़ों का संकलन करना पड़ता है। पर एक वैज्ञानिक विधि के रूप में सामाजिक सर्वेक्षण केवल आँकड़ों के संकलन तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकता अपितु सूचना या आँकड़ों के संकलन के साथ-साथ उनका विश्लेषण व विवेचना भी करनी पड़ती है। ये सभी कार्य कुछ निश्चित उद्देश्यों को सामने रखकर ही किए जाते हैं। पर इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि सामाजिक सर्वेक्षण केवल व्याधिकीय सामाजिक घटनाओं के अध्ययन तक ही सीमित है ऐसी कोई बात नहीं है। एक निश्चित या सीमित भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत एक मानव-समूह या समुदाय के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन करने के साधन, विधि या पद्धति के रूप में सामाजिक सर्वेक्षण को काम में लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक सर्वेक्षण वैज्ञानिक पद्धति व सिद्धान्त के अनुसार निश्चित सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। श्री मोज़र (Moser) ने लिखा है कि सामाजिक सर्वेक्षण एक ऐसा तरीका है जिसके द्वारा तथ्यों का संकलन किया जाता है जिससे कि समस्या या विषय की यथार्थताओं को समझना हमारे लिए सम्भव हो।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि सामाजिक सर्वेक्षण में कुछ अन्तर्निहित उद्देश्य होता है। ये उद्देश्य तथ्य-संकलन व वर्णन दोनों ही हो सकता है। अधिकांश सर्वेक्षण समाज या समुदाय से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न घटनाओं के विषय में तथ्यों को संकलित करने के उद्देश्य से किया जाता है। पर ये तथ्य तब तक अर्थहीन हैं जब तक उनका वर्णन उचित ढंग से करके उन्हें बोध के योग्य न बनाया जाए। इसीलिए सामाजिक सर्वेक्षण न केवल तथ्यों को संकलित करता है, अपितु उनका वर्णन भी करता है। तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण व वर्णन अध्ययन-विषय की प्रकृति को स्पष्ट करता है और उस विषय से सम्बन्धित प्रचलित सिद्धान्त की परीक्षा भी करता है। यह सामाजिक सर्वेक्षण की वैज्ञानिक प्रकृति का एक स्वाभाविक परिचय है क्योंकि तथ्यों के संकलन, विश्लेषण व वर्णन से घटनाओं में पाए जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्ध स्वतः ही स्पष्ट हो जाते हैं। कार्य-कारण सम्बन्धों का बोध करवाना किसी भी वैज्ञानिक विधि का एक स्वाभाविक गुण है। सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति में भी यह गुण विद्यमान है।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति के सम्बन्ध में काफी संख्यक विद्वानों का मत है कि सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध किसी तात्कालिक व्याधिकीय समस्या या अवस्था से होता है। सामाजिक जीवन में कुछ इस प्रकार की समस्याएँ होती हैं जिनके सम्बन्ध में जनमत प्रवल होता है और उसके समाधान की माँग की जाती है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि उस समस्या के सम्बन्ध में पर्याप्त तथ्यों की खोज की जाए, उन तथ्यों के आधार पर समस्या के कारणों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया जाए और फिर उस समस्या का समाधान करने की एक रचनात्मक परियोजना को प्रस्तुत किया जाए। श्रीमती यंग (P. V. Young) ने इसीलिए लिखा है कि सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में महत्त्व-पूर्ण किसी सामाजिक व्याधिकीय अवस्था में सुधार लाने तथा समाज-सुधार की किसी रचनात्मक परियोजना का निरूपण करने से होता है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति में सुधारात्मक (reformative) तत्त्व का समावेश होता है। पर इस सुधारात्मक प्रकृति का तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक सर्वेक्षण आदर्शात्मक (normative) है। सामाजिक समस्या को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करते हुए सामाजिक सर्वेक्षण का दृष्टिकोण पक्षपातरहित होता है और वह तथ्यों के संकलन या निरूपण में किसी भी वस्तु, स्थिति, व्यक्ति या समूह की तरफदारी नहीं करता है। एक निरपेक्ष या प्रत्यक्षात्मक (positive) वैज्ञानिक विधि के रूप में सामाजिक सर्वेक्षण "क्या है" का वर्णन और विश्लेषण करता है, इसका कोई भी सम्बन्ध 'क्या होना चाहिए" या "क्या होता तो अच्छा होता" से नहीं होता है, अर्थात् अपने अध्ययन, तथ्य-संकलन या विश्लेषण में सामाजिक सर्वेक्षण किसी भी आदर्श को प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करता है। किसी सामाजिक समस्या के सम्बन्ध में कारणों का पता लगाकर उस समस्या को दूर करने के सम्बन्ध में एक यथार्थ योजना को प्रस्तुत करते समय भी सामाजिक सर्वेक्षण अपने को अच्छे-बुरे, सही-गलत, न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक के मानदण्डों (standards) से पृथक् रखता है। वैज्ञानिक आधार पर समाज-सुधार की परियोजना से सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध हो सकता है, पर वह सम्बन्ध वहीं तक सीमित है जहाँ तक कि वैज्ञानिक तटस्थता (scientific neutrality) को बनाए रखने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि समाज-सुधार की परियोजना को लागू करने

या क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व सामाजिक सर्वेक्षण अपने ऊपर नहीं लादता है, यह उत्तरदायित्व प्रशासकों तथा समाज-सुधारकों का होता है। सामाजिक सर्वेक्षण तो किसी विषय, घटना या समस्या के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करने तथा समाज-सुधार के लिए आवश्यक क्रियात्मक सुझाव प्राप्त करने का एक साधन है।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति सामाजिक है, न कि प्राकृतिक। इसका तात्पर्य यह है, जैसा कि उपरोक्त विवेचना से ही स्पष्ट है, कि सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं, सामाजिक तथ्यों या सामाजिक समस्याओं से होता है, न कि प्राकृतिक घटनाओं या समस्याओं से। और भी संक्षेप में, सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध सामाजिक दुनिया से होता है। श्री ओडम (Odum) ने शायद इसीलिए स्पष्टतः लिखा है कि "समाजशास्त्री को केवल वैज्ञानिक ही नहीं, सामाजिक वैज्ञानिक भी होना चाहिए।" इस कथन की सत्यता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि समाजशास्त्री विभिन्न अध्ययन-पद्धतियों (जिनमें सामाजिक सर्वेक्षण भी एक है) द्वारा सामाजिक घटनाओं व समस्याओं के सम्बन्ध में अध्ययन करता है। उसका कोई भी सम्बन्ध भौतिक या प्राकृतिक घटनाओं से प्रत्यक्ष रूप से नहीं है। यद्यपि इन प्राकृतिक या भौतिक घटनाओं का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण के अन्तर्गत आ सकता है, फिर भी सामाजिक तथा गैर-सामाजिक (non-social) घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध और सहसम्बन्धों का अध्ययन मूल रूप से सामाजिक दृष्टिकोण से ही किया जाता है। इसीलिए सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति सामाजिक है, न कि प्राकृतिक।

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति के सम्बन्ध में अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें सैद्धान्तिक (theoretical) तथा व्यावहारिक (applied) दोनों ही प्रकार के उद्देश्य निहित हो सकते हैं। सैद्धान्तिक इस अर्थ में कि सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा संकलित तथ्य एक घटना या समस्या के सम्बन्ध में हमें यथार्थ ज्ञान प्रदान करता है अथवा हमारी जानकारी को विस्तृत करता है। पर साथ ही, इस जानकारी के आधार पर समस्या के समाधान के हेतु या समाज-सुधार की योजना वनाने के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु चूंकि सामाजिक सर्वेक्षण को उपयोगी पाया जा सकता है, इस कारण सामाजिक सर्वेक्षण को व्यावहारिक भी माना जा सकता है।

सामाजिक सर्वेक्षण का अध्ययन-विषय व क्षेत्र
(Subject-matter and Scope of Social Survey)

सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद को मुख्य तौर पर दो श्रेणियों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे विद्वान आते हैं जिनके अनुसार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक समूह या समुदाय के जीवन से सम्बन्धित किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। सर्वश्री वेल्स, बोगार्डस, सिन पाओ यांग आदि विद्वानों द्वारा व्यक्त मतों से यही बात स्पष्ट होती है। उदाहरणार्थ, श्री वेल्स (Wells) के अनुसार सामाजिक सर्वेक्षण किसी विशेष क्षेत्र में रहने वाले मानव-समूह की सामाजिक संस्थाओं तथा क्रियाओं का अध्ययन है, जबकि श्री सिन पाओ यांग के मतानुसार सामाजिक सर्वेक्षण मानव-समूह की रचना, क्रियाओं तथा रहन-सहन की दशाओं के बारे में खोज करता है। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत सामाजिक सर्वेक्षण का अध्ययन-विषय व क्षेत्र

केवल मात्र सामाजिक व्याधिकीय समस्याओं और समाज-सुधार की रचनात्मक परियोजना के प्रतिपादन तक सीमित है। सर्वश्री वर्जेस, केलॉग तथा श्रीमती यंग आदि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणार्थ, श्रीमती यंग के अनुसार सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध समाज-सुधार की किसी क्रियात्मक योजना के निरूपण तथा निश्चित भौगोलिक सीमाओं में पाई जाने वाले किसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक व्याधिकीय समस्या अथवा तात्कालिक परिस्थिति के सुधार से होता है। यदि इस विचार को ही आधार माना जाए तो हम कह सकते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण का क्षेत्र एक समय में एक निश्चित भौगोलिक प्रदेश तक ही सीमित होता है अर्थात् जिस घटना का वह अध्ययन कर रहा है उसका भौगोलिक रूप में सीमित होना आवश्यक है क्योंकि असीमित क्षेत्र में वैज्ञानिक अध्ययन यथार्थ रूप में नहीं हो सकता। इस प्रकार सीमित भौगोलिक क्षेत्र की सभी घटनाओं का अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता है। इसके लिए तीन आवश्यक शर्तें हैं—(अ) वह घटना सामाजिक व्याधिकीय हो, (ब) सामाजिक तौर पर वह समस्या पर्याप्त गम्भीर या महत्त्वपूर्ण हो, और (स) उस व्याधिकीय घटना की माप व तुलना ऐसी ही घटनाओं से की जा सके जिन्हें हम आदर्श प्रारूप (Ideal type) मान चुके हैं।

श्री मोज़र (Moser) ने सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है :—

(१) **जनसंख्यात्मक विशेषताएँ** (Demographic Characteristics)—सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी समूह या समुदाय विशेष की जनसंख्यात्मक विशेषताओं का अध्ययन सम्मिलित है। जनसंख्यात्मक विशेषताओं के अन्तर्गत परिवार की रचना, वैवाहिक स्थिति, जन्म व मृत्यु दर, आयु-संरचना, स्त्री-पुरुष का अनुपात (Sex ratio), जन्म नियन्त्रण की घटनाओं आदि का अध्ययन आता है। इस दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि किसी समूह या समुदाय की जनसंख्या की रचना, स्त्री-पुरुष का विभाजन, जनसंख्या का घनत्व, वितरण, कमी व वृद्धि आदि विषय सामाजिक सर्वेक्षण की अध्ययन-सामग्री हैं।

(२) **सामाजिक पर्यावरण** (Social Environment)—सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्गत श्री मोज़र ने उन सभी सामाजिक व आर्थिक कारकों को सम्मिलित किया है जो कि लोगों के जीवन को सदैव प्रभावित करते रहते हैं। समूह या समुदाय के लोगों के विभिन्न व्यवसाय, उनकी आय, मकानों की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सामाजिक व भौतिक सुख-सुविधाएँ आदि विषय इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और सामाजिक सर्वेक्षण का अध्ययन-विषय हैं। उसी प्रकार लोगों के रहन-सहन के तरीके व दशाएँ भी सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

(३) **सामाजिक क्रियाएँ** (Social Activities)—इसके अन्तर्गत पेशों के अतिरिक्त लोगों द्वारा की जाने वाली अन्य सामाजिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जैसे खाली समय का उपयोग, मनोरंजन सम्बन्धी क्रियाएँ, रेडियो सुनना, अखबार पढ़ना, यात्रा सम्बन्धी आदतें, खर्च करने के सम्बन्ध में आदतें, सामुदायिक भोज, नाच-गाना, खेल-कूद, त्यौहार आदि विषय सामाजिक सर्वेक्षण की अध्ययन-सामग्री बन सकते हैं। सामाजिक जीवन में पाई जाने वाली सामान्य आदतें, व्यवहार-प्रतिमान (behaviour pattern), सामाजिक प्रवृत्तियाँ, दैनिक जीवन का सामान्य प्रतिमान (general pattern of daily life) आदि विषय सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते हैं।

(४) विचार तथा मनोवृत्तियाँ (Opinions and Attitudes)—समुदाय के लोगों का विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों व घटनाओं के प्रति, विचारों तथा मनोवृत्तियों का अध्ययन भी सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। उदाहरणार्थ, छुआछूत, विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, राजनैतिक दल आदि के प्रति लोगों के विचारों तथा मनोवृत्तियों का अध्ययन सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा किया जाता है।

वास्तव में, सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई निश्चित सीमा-रेखा खींचना सम्भव नहीं है क्योंकि सामाजिक अध्ययन व अनुसन्धान का क्षेत्र समाज-विज्ञान में प्रगति के साथ-साथ स्वतः ही विस्तृत होता जाता है। अतः किसी अन्तिम क्षेत्र का निर्धारण अनुचित व अप्राकृतिक दोनों ही होंगे। सामाजिक सर्वेक्षण के अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र को प्रगतिशील मानकर उसे स्वाभाविक गति से विकसित या विस्तृत होने की छूट दे देना ही उचित होगा।

सामाजिक सर्वेक्षण के उद्देश्य या कार्य
(Objects or Roles of Social Survey)

सामाजिक सर्वेक्षण की प्रगतिशील प्रकृति के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इसके उद्देश्यों की परिधि सीमित नहीं है। मोटे तौर पर ज्ञान प्राप्ति, समस्या का समाधान तथा समाज-कल्याण की परियोजना को प्रस्तुत करना सामाजिक सर्वेक्षण के तीन प्रमुख उद्देश्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य व विशिष्ट उद्देश्य भी हो सकते हैं। श्री मोज़र (Moser) के शब्दों में, "सर्वेक्षण जन-जीवन के किसी पक्ष पर प्रशासन सम्बन्धी तथ्यों को जानने की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, अथवा किसी कार्य-कारण सम्बन्ध की खोज करने के लिए अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के किसी पक्ष पर नया प्रकाश डालने के लिए किया जा सकता है।"[13] वास्तव में सामाजिक जीवन के किसी भी पक्ष से सम्बन्धित सूचना एकत्र करना सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य हो सकता है। साथ ही, उस सूचना या ज्ञान के आधार पर किसी सामाजिक समस्या को किस भाँति वैज्ञानिक ढंग से हल किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में एक परियोजना को प्रस्तुत करना भी सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य हो सकता है। इन सभी उद्देश्यों को अथवा **सामाजिक शोध में सामाजिक सर्वेक्षण के कार्य या महत्त्व** (Role of Social Survey in Social Research) को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) सामाजिक तथ्यों का संकलन (Collection of Social Facts)—आवश्यक रूप में सामाजिक सर्वेक्षण एक वैज्ञानिक पद्धति है और उस पद्धति का आधारभूत उद्देश्य एक सामाजिक घटना या समस्या के विषय में निर्भरयोग्य तथ्यों को एकत्रित करना है। सामूहिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं तथा व्यवहारों के सम्बन्ध में गणनात्मक आँकड़ों का संकलन सामाजिक सर्वेक्षण का प्रमुख उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति होने पर सामाजिक शोध (social research) को अत्यधिक लाभ होता है क्योंकि शोध-कार्य की सफलता यथार्थ, गणनात्मक तथा निर्भरयोग्य आँकड़ों, प्रमाणों या तथ्यों के संकलन पर ही निर्भर करती है। इस दृष्टिकोण से

13. "A survey may be conducted simply by a need for administrative facts on some aspect of public life, or be designed to investigate some cause-effect relationship or to throw fresh light on some aspect of sociological theory."—C. A. Moser, *Survey Methods in Social Inevstigation*, p. 112.

सामाजिक शोध-कार्य में सामाजिक सर्वेक्षण का योगदान (contribution) उल्लेखनीय होता है। वास्तव में तथ्यों का संकलन करने के लिए सामाजिक शोध सामाजिक सर्वेक्षण को एक पद्धति के रूप में प्रयोग करता है इसीलिए औद्योगिक विकास की प्रकृति व परिणाम, सामाजिक सुरक्षा, धार्मिक क्रियाकलाप व विचार, मनोरंजन के तरीके, आर्थिक स्थिति, रहन-सहन की दशाएँ, परिवार की रचना, जनसंख्या की प्रकृति, वैवाहिक स्थिति (marital status) आदि विषयों के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित कर सामाजिक सर्वेक्षण शोध-कार्य में निरन्तर सहायता करता रहता है। आर्थिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी सामाजिक सर्वेक्षण के महत्त्व को आज सभी लोग अकपट स्वीकार करते हैं। बाजार सर्वेक्षण (market survey) द्वारा व्यापारिक संस्थाएँ यह जान सकती हैं कि उनके मालों की खपत या बिक्री की सम्भावना किस बाजार में कितनी है; उसी प्रकार उद्योगपति उत्पादन सम्बन्धी कार्य-क्षमता के बारे में जानकारी सर्वेक्षण-विधि द्वारा प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि केवल शोध-कार्यों में ही नहीं, अपितु व्यावहारिक क्षेत्रों में भी सामाजिक सर्वेक्षण का महत्त्व व उपयोगिता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

(२) **सामाजिक समस्याओं का अध्ययन** (Study of Social Problems)—सामाजिक सर्वेक्षण का एक उल्लेखनीय उद्देश्य उन समस्याओं का अध्ययन है जो कि साधारणतया मानव-जीवन को पीड़ित करती हैं। गरीबी, बेरोजगारी, गन्दगी, बीमारी, अभाव, अशिक्षा, अपराध एवं बाल-अपराध, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, आत्म-हत्या, विवाह-विच्छेद, सामाजिक संघर्ष व तनाव आदि ऐसी ही सामाजिक समस्याएँ हैं जोकि मानव के दुःख-दर्द को मुखरित करती हैं। सामाजिक सर्वेक्षण अपने 'हृदय से' इन दुःख-दर्दों को अनुभव करने का प्रयत्न करता है अर्थात् इन समस्याओं के अन्दर तक घुस उनके अन्तर्निहित कारणों को जानने का प्रयत्न करता है जिससे कि उनका समाधान किया जा सके। स्मरण रहे कि सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा सामाजिक समस्याओं के जिन कारणों का पता चलता है वे सामाजिक शोध के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं क्योंकि किसी भी शोध-कार्य में कारणों का पता लगाना प्रथम आवश्यकता है। इस अर्थ में सामाजिक सर्वेक्षण न केवल सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कर उनके समाधान का पथ प्रशस्त करता है अपितु सामाजिक शोध-कार्य में भी अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

(३) **श्रमिक वर्ग की दशाओं का अध्ययन** (Study of the Conditions of Working Class)—आज यह अनुभव किया जाता है कि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अधिकांश गंभीर समस्याओं का दर्शन श्रमिक वर्ग में अत्यन्त स्पष्ट रूप में होता है। इसीलिए सामाजिक सर्वेक्षण का विशेष ध्यान श्रमिक वर्ग की दशाओं तथा समस्याओं पर होता है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—प्रथम तो यह कि श्रमिक वर्ग की दशाओं के अध्ययन के साथ-साथ उच्च वर्गों का भी अध्ययन करना पड़ता है क्योंकि इसके बिना तुलनात्मक तौर पर श्रमिकों की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उच्च वर्गों का जीवन एवं उनकी क्रियाएँ श्रमिक समस्याओं से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। अतः श्रमिक वर्ग की दशाओं के अध्ययन से समुदाय का अध्ययन उसमें आ जाता है। श्रमिक वर्ग को अपने अध्ययन का प्रधान उद्देश्य बनाने का दूसरा कारण यह है कि इसके जीवन की दशाओं से अन्य सभी प्रकार की समस्याएँ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिक वर्ग में व्याप्त बेकारी को ही लें तो हम कह सकते हैं कि जहाँ बेकारी है वहाँ गरीबी होगी, स्वास्थ्य का स्तर भी

निम्न होगा, शिक्षा का प्रसार कम होगा एवं अपराध व बाल-अपराध की सम्भावनाएँ अधिक होंगी अतः सामाजिक सर्वेक्षण श्रमिक वर्ग की समस्याओं के माध्यम से सामाजिक समस्याओं का अध्ययन कर लेने का प्रयास करता है। इस प्रकार के प्रयासों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह सामाजिक शोध-कार्य के लिए एक निर्भरयोग्य आधार बन जाता है।

(४) **कार्य-कारण सम्बन्ध की खोज** (Search for Causal Relationship)—सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करते हुए उन घटनाओं में अन्तर्निहित कारणों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है क्योंकि इसकी प्रथम मान्यता यही है कि प्रत्येक सामाजिक घटना का कोई-न-कोई कारण अवश्य ही होगा। सामाजिक घटना आकस्मिक नहीं होती है। उसमें नियमितता होती है और इसीलिए उसमें अन्तर्निहित कारणों को ढूँढ़ा जा सकता है। इसी कार्य-कारण सम्बन्धों को खोजना सामाजिक सर्वेक्षण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है क्योंकि इसके बिना कोई भी अध्ययन वैज्ञानिक यथार्थता को प्राप्त नहीं कर सकता। सामाजिक सर्वेक्षण के इस उद्देश्य की पूर्ति से सामाजिक शोध-कार्य में अत्यधिक सहायता मिलती है क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान किसी भी शोध-कार्य के लिए परमावश्यक है।

(५) **सामाजिक सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा** (Verification of Social Theories)—सामाजिक सर्वेक्षण का एक और उल्लेखनीय उद्देश्य विद्यमान सामाजिक सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा करना है। इस प्रकार की पुनर्परीक्षा की आवश्यकता इसलिए होती है कि सामाजिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं से होता है और ये सामाजिक घटनाएँ सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित होती हैं जो कि स्वयं परिवर्तन-शील व विकासशील हैं। अतः सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने से सामाजिक घटना की प्रकृति बदल जाती है और उसके बदलने से सामाजिक सिद्धान्त में भी आवश्यक परिवर्तन व परिवर्द्धन की जरूरत होती है। सामाजिक सर्वेक्षण विद्यमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में वास्तविक तथ्यों का संकलन कर इस बात की परीक्षा करता है कि एक घटना के सम्बन्ध में जो पुराने सिद्धान्त हैं वह अब भी ठीक हैं या नहीं, और यदि नहीं हैं तो परिवर्तित परिस्थितियों में खरा उतरने के लिए किस प्रकार का सिद्धान्त उचित होगा। इस दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक शोध की एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है जिसकी सहायता से विद्यमान सिद्धान्तों की कमियों को दूर कर उन्हें नवीनतम रूप प्रदान किया जाता है।

(६) **प्राक्कल्पना का निर्माण तथा परीक्षा** (Formulation and Testing of Hypothesis)—पूर्व-सर्वेक्षण (pilot survey) प्राक्कल्पना के निर्माण में अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। जिस समूह का अध्ययन करना है उसके विषय में एक सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्व-सर्वेक्षण किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त सामान्य ज्ञान प्राक्कल्पना के निर्माण में बहुत मदद करता है। प्राक्कल्पना के निर्माण के बाद वह प्राक्कल्पना वास्तव में ठीक है या नहीं इसका प्रमाण तो वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही मिल सकता है। सामाजिक सर्वेक्षण उन्हीं तथ्यों को एकत्रित करता और प्राक्कल्पना की यथार्थता की परीक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, प्राक्कल्पना ठीक है अथवा गलत इस बात की जाँच करने के उद्देश्य से सामाजिक सर्वेक्षण किया जाता है। चूँकि प्राक्कल्पना की जाँच सामाजिक शोध का भी आधार है, इस कारण सामाजिक सर्वेक्षण इस कार्य में सामाजिक शोध की पर्याप्त सहायता कर सकता है।

(७) **सामाजिक समस्याओं का समाधान व समाज-सुधार** (Solution of

Social Problems and Social Reforms)—उपरोक्त सैद्धान्तिक उद्देश्यों के अतिरिक्त सामाजिक सर्वेक्षण के कुछ व्यावहारिक या कल्याणकारी उद्देश्य भी होते हैं। सामाजिक सर्वेक्षण एक समस्या से सम्बन्धित तथ्यों के आधार पर उसके कारणों को इस उद्देश्य से भी ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है कि उस समस्या का समाधान किया जा सके। इस अर्थ में सामाजिक समस्याओं के समाधान की खोज भी सामाजिक सर्वेक्षण का एक उल्लेखनीय उद्देश्य है। इतना ही नहीं, सामाजिक सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर समाज-कल्याण की एक रचनात्मक परियोजना को प्रस्तुत करना भी सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य होता है। पर स्मरण रहे कि सामाजिक सर्वेक्षण कोई सामाजिक योजना वनाने वाला (social planner) नहीं होता है, वह तो केवल अपने सर्वेक्षण से प्राप्त ज्ञान के आधार पर रचनात्मक योजना वनाने के लिए आवश्यक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है; उसको वास्तविक रूप में क्रियान्वित करने का काम प्रशासकों, राष्ट्र-नेताओं तथा समाज-सुधारकों का होता है। सामाजिक सर्वेक्षण समस्याओं के समाधान व समाज-कल्याण से सम्वन्धित जिन सिद्धान्तों व सुझावों को प्रस्तुत करता है वे सभी सामाजिक शोधकर्त्ता के लिए सहायक सिद्ध होते हैं क्योंकि ये सिद्धान्त सामाजिक घटनाओं के सम्वन्ध में उसकी जानकारी को अधिक स्पष्ट करते हैं।

सामाजिक सर्वेक्षण व सामाजिक शोध का पारस्परिक सम्बन्ध
(Inter-relationship between Social Survey and Research)

सामाजिक सर्वेक्षण व सामाजिक शोध पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक् हैं, यह सोचना गलत होगा। अगर हम यह कहें कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं तव भी शायद अतिशयोक्ति न होगी। सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक तथ्यों का संकलन करता है, उन तथ्यों के आधार पर घटनाओं के कार्य-कारण सम्वन्ध को ढूँढ़ता है, सामाजिक सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा करता है—ये सभी सामाजिक शोध के अनिवार्य अंग हैं जिनके विना सामाजिक शोध की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक सर्वेक्षण की सहायता से ही सामाजिक शोधकर्त्ता अपनी प्राक्कल्पना की सत्यता की जाँच करता है। इस दृष्टिकोण से भी सामाजिक सर्वेक्षण व शोध का सम्बन्ध घनिष्ठ ही प्रतीत होता है। दूसरी ओर, सामाजिक शोध तथ्यों के संकलन की अनेक नवीन प्रविधियों की खोज कर सकता है और सामाजिक घटनाओं के सम्वन्ध में हमारे ज्ञान को विस्तृत करता है। ये दोनों ही स्थितियाँ सामाजिक सर्वेक्षण के लिए सहायक होती हैं। इस प्रकार एक-दूसरे के पूरक के रूप में ये दोनों कार्य करते रहते हैं। यही कारण है कि हम सामाजिक घटना के अध्ययन को व्यक्त करने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण या सामाजिक शोध कोई भी शब्द बहुधा प्रयोग कर लेते हैं। इनके वीच के पारस्परिक सम्बन्धों को हम निम्नलिखित आधारों पर अभिव्यक्त कर सकते हैं—सामाजिक शोध व सामाजिक सर्वेक्षण दोनों ही सामाजिक घटनाओं से सम्वन्धित तथ्यों का अध्ययन करते हैं; दोनों का उद्देश्य सामाजिक घटनाओं या समस्याओं के सम्वन्ध में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करना है जिससे कि उन पर पर मानवीय नियंत्रण उत्तरोत्तर वढ़ सके; दोनों में ही वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा अध्ययन किया जाता है, उदाहरणार्थ दोनों में ही साक्षात्कार, निरीक्षण, प्रश्नावली, अनुसूची, निदर्शन आदि प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है, तथा दोनों में ही नवीन तथ्यों की खोज की जाती है। इन्हीं समानताओं के कारण कई अमेरिकन समाजशास्त्री सामाजिक सर्वेक्षण को 'सर्वेक्षण शोध' (Survey Research) के नाम से पुकारते हैं।

17

सामाजिक सर्वेक्षण तथा सामाजिक शोध में भेद
(Distinction between Social Survey and Research)

उपरोक्त समानताओं को देखकर हमें कदापि यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि सामाजिक सर्वेक्षण व सामाजिक शोध में कोई अन्तर नहीं है। कतिपय समानताओं के बीच इन दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर भी हैं। श्रीमती यंग आदि के विचारों के अनुसार इन अन्तरों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं [14]—

(१) सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध विशिष्ट (specific) लोगों, विशिष्ट स्थानों, विशिष्ट समस्याओं और परिस्थितियों से होता है, जैसे बरेली कालेज के विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता, कानपुर के श्रमिक वर्ग का स्वास्थ्य-स्तर आदि। इसके विपरीत सामाजिक शोध का सम्बन्ध अधिक सामान्य व अधिक अमूर्त्त समस्याओं से होता है[15] जैसे औद्योगिक क्षेत्रों में बाल-अपराध का विस्तार।

(२) सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य किसी समस्या के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके व उसका समाधान ढूँढ़कर तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करना होता है; और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विद्यमान ज्ञान से पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। इसके विपरीत सामाजिक शोध का उद्देश्य दीर्घकालीन होता है और यह अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में अधिक विस्तृत व गहन ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है जिससे कि अधिक शुद्ध विधियों तथा सिद्धान्तों का निरूपण करना सम्भव हो।[16] इस दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण की प्रकृति व्यावहारिक है, जब कि सामाजिक शोध की प्रकृति सैद्धान्तिक है।

(३) सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक घटना या समस्याओं के सम्बन्ध में तथ्यों का संकलन समाज-सुधार या समाज-कल्याण के उद्देश्य से करता है जिससे कि मानव-जीवन के लिए प्रगति का पथ अधिक स्पष्ट हो सके। इसके विपरीत, सामाजिक शोध मानव के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान को विस्तृत करने तथा अध्ययन-प्रविधियों को उन्नत करने के उद्देश्य को सामने रखता है। हो सकता है कि यह ज्ञान अन्त में सामाजिक योजना बनाने वालों के लिए सहायक सिद्ध हो।[17]

(४) सामाजिक सर्वेक्षण के लिए प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु सामाजिक शोध का आधार प्राक्कल्पना (hypothesis) होती है। इसका कारण यह है कि सामाजिक सर्वेक्षण में किसी समस्या से सम्बन्धित प्रत्येक आवश्यक सूचना एकत्रित करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे कि उस समस्या के अन्तर्निहित कारणों का पता चल सके। तथ्यों का इस प्रकार संकलन करने के लिए प्राक्कल्पना की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत सामाजिक शोध में एक समस्या या घटना से सम्बन्धित एक प्राक्कल्पना का निर्माण पहले किया जाता है ताकि वास्तविक तथ्यों के संकलन द्वारा उस प्राक्कल्पना की सत्यता की जाँच की जा सके। किसी विषय से सम्बन्धित एक प्राक्कल्पना सच है या गलत इस बात की जाँच केवल सामाजिक शोध में ही होती है जब कि सामाजिक सर्वेक्षण में संकलित तथ्यों के आधार पर समस्या की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इसीलिए श्री पार्क (Park) ने लिखा है, "सर्वाधिक सीमित अर्थ में मुझे यह कहना चाहिए कि एक सर्वेक्षण कदापि शोध नहीं

14. P. V. Young, *op. cit.*, pp. 41-42, 47—79.
15. *Ibid.*, p. 41.
16. *Ibid.*, pp. 41-42.
17. *Ibid.*, p. 42.

है—यह केवल व्याख्या है। यह प्राक्कल्पना की परीक्षा करने के स्थान पर केवल समस्याओं को परिभाषित करना है।"[18]

(५) सामाजिक सर्वेक्षण का सम्बन्ध मुख्य रूप से व्याधिकीय सामाजिक समस्याओं से होता है, जबकि सामाजिक शोध प्रत्येक सामाजिक घटना से सम्बन्धित है। चूंकि सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य समाज-सुधार या समाज-कल्याण होता है इस कारण यह केवल उन्हीं सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है जो कि समाज-कल्याण के पथ पर बाधा की सृष्टि करने वाली होती हैं। इसके विपरीत, सामाजिक शोध का उद्देश्य इस प्रकार से सीमित नहीं होता है, उसका तो उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति व विस्तार है और ज्ञान की प्राप्ति किसी भी सामाजिक घटना के विषय में हो सकती है। इस दृष्टिकोण से सामाजिक शोध का क्षेत्र सामाजिक सर्वेक्षण से कहीं अधिक विस्तृत, व्यापक व गहन होता है।

(६) उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि सामाजिक सर्वेक्षण में स्थूल अध्ययन (extensive study) और सामाजिक शोध में सूक्ष्म अध्ययन (intensive study) होता है। सामाजिक सर्वेक्षण में समस्या से सम्बन्धित हर सम्भावित सूचनाएँ एकत्रित की जाती हैं किन्तु उनका सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया जाता है क्योंकि समस्या को समझने व उसके सम्बन्ध में समाधान को ढूंढ़ने में अधिक सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत सामाजिक शोध में विशिष्ट तथ्यों का बहुत ही बारीकी से अध्ययन करने की आवश्यकता होती है क्योंकि इसके बिना यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

(७) सामाजिक सर्वेक्षण व्यावसायिक आधार पर सम्पन्न किया जा सकता है जैसे कि कई संस्थाएँ, सरकार आदि सवैतनिक कर्मचारियों से सर्वेक्षण करवाते हैं। इसके विपरीत, सामाजिक शोध व्यावसायिक आधार (occupational basis) पर सम्पन्न नहीं कराया जा सकता है। ज्ञान-पिपासा ही शोध-कार्य के लिए आवश्यक प्रेरणा प्रदान करती है। सामाजिक सर्वेक्षण सामूहिक प्रयास के रूप में आयोजित होते हैं, अतः आजकल इसके अन्तर्गत कई विशिष्ट सेवाएँ संगठित होने लगी हैं जैसे सांख्यिकीय अधिकारी (Statistician), सारिणीकर्त्ता (Tabulator), अध्ययन-स्थल निरीक्षक (Field Supervisor), सर्वेक्षण-प्रशिक्षक (Survey-trainer) आदि। इसलिए सर्वेक्षण के अन्तर्गत इनमें से किसी को जीवन-व्यवसाय के रूप में अपनाया जा सकता है। इंग्लैण्ड व अमेरिका में पिछले कई वर्षों से ऐसी अनेक सर्वेक्षण संस्थाओं का विकास हुआ है जो कि विभिन्न दलों, फर्मों या संस्थाओं के कहने पर उनकी इच्छा के अनुसार विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्र सर्वेक्षण करती तथा उसके लिए पारिश्रमिक लेती हैं। ऐसी संस्थाओं में इंग्लैण्ड की Research Services Ltd. को सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है। भारतवर्ष में अभी तक ऐसी विशिष्ट सर्वेक्षण संस्थाओं का उल्लेखनीय विकास नहीं हो पाया है लेकिन विभिन्न शोध संस्थाओं जैसे Institute of Public Opinion, New Delhi; Gokhle Institute of Research Division of the Planning Commission आदि द्वारा करवाए जाने वाले सर्वेक्षणों में अधिकतर सवैतनिक सर्वेक्षण कार्यकर्त्ता ही कार्य करते हैं। इसके विपरीत सामाजिक शोध को जीवन-व्यवसाय के रूप में अपनाया नहीं जा सकता। इसमें तो

18. "In most limited sense of the word I should say that a survey is never research—it is explanation. It seeks to define problems rather than to test hypothesis."—Park.

किसी विशेष घटना की ओर जिज्ञासा जागृत होने पर ज्ञान-पिपासा की निवृत्ति हेतु शोधकर्त्ता कुछ वर्षों तक कठिन परिश्रम कर शोध-कार्य कर लेता है।

(८) सामाजिक सर्वेक्षण का संगठन प्रायः एक अध्ययन-दल (study team) द्वारा होता है क्योंकि इसका अध्ययन-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है और उस विस्तृत क्षत्र के सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन करना प्रायः एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता है। अतः यह कई व्यक्तियों का एक सामूहिक प्रयास होता है जिसमें एक व्यक्ति सर्वेक्षण का निर्देशक बनता है तो कुछ लोग निरीक्षक बनते हैं, कुछ क्षेत्रीय अनुसन्धानकर्त्ता का कार्यभार संभालते हैं और अन्य कुछ लोग दूसरे कार्य जैसे टाइपिंग, तथ्य-विश्लेषण, सारिणीकरण आदि करते रहते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि देशों में, जहाँ सर्वेक्षण-कार्य को व्यवसाय के रूप में अपनाने वाली विशिष्ट संस्थाओं का विकास हुआ है, सैकड़ों व्यक्ति सामूहिक रूप में सर्वेक्षण-कार्य करते रहते हैं। इसके विपरीत सामाजिक शोध का संगठन व्यक्तिगत रूप में ही होता है क्योंकि विभिन्न दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों को लेकर शोध-कार्य नहीं किया जा सकता। अतः एक व्यक्ति अपनी ज्ञान-पिपासा की निवृत्ति के हेतु शोध-कार्य को व्यक्तिगत तौर पर ही करता है।

(९) श्री गलेन एम० फिशर नें सामाजिक शोध तथा सामाजिक सर्वेक्षण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सामाजिक शोध सामाजिक सर्वेक्षण की अपेक्षा अधिक गहन तथा सूक्ष्म होता है और सामान्य सिद्धान्तों की खोज से अधिक सम्बन्धित रहता है।"[19] सामाजिक शोध का आधारभूत उद्देश्य सैद्धान्तिक तौर पर ज्ञान की प्राप्ति है जबकि सामाजिक सर्वेक्षण व्यावहारिक तौर पर उपयोगी बनने पर विशेष बल देता है।

सैद्धान्तिक व व्यावहारिक आधार पर सामाजिक शोध तथा सामाजिक सर्वेक्षण में जिस अन्तर या भेद का उल्लेख किया जाता है वह अब दिन-प्रतिदिन कमजोर होता जा रहा है क्योंकि आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि सामाजिक शोध पूर्णतया सैद्धान्तिक है यह मत अव्यावहारिक व अनुचित है। सामाजिक शोध ज्ञान की खोज (search for knowledge) में अपने को लगाता है, पर इस खोज का एक निश्चित सम्बन्ध लोगों की आधारभूत आवश्यकताओं तथा कल्याण से होता है। सभी ज्ञान उपयोगी होते हैं और उस ज्ञान का स्रोत समाज-कल्याण की भावना से प्राप्त प्रेरणा ही हुआ करती है। श्री गुन्नर मिरडल (Gunner Myrdal) ने उचित ही लिखा है कि "सभी समाज-विज्ञानों को अपने अध्ययन-कार्य में प्रेरणा समाज को उन्नत करने की अभिलाषा से, न कि केवल उसकी कार्य-प्रणाली के प्रति जिज्ञासा से प्राप्त हुई है।"[20]

सामाजिक सर्वेक्षण के प्रकार
(Types of Social Survey)

विषय-वस्तु, प्रकृति, समयावधि, उद्देश्य आदि के आधार पर सामाजिक

19. "Social research differs form social survey in being more intensive and precise, and more concerned with the discovery of general principles." —(G. M. F.) Fairchild, *Dictionary of Sociology*, 1944, p. 291.

20. "The social sciences have all received their impetus much from the urge to improve society than from simple curiosity about its working." —Gunner Myrdal, *Value in Social Theory*, p. 9.

सवक्षण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख अलग-अलग विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से किया है। उदाहरणार्थ, **श्री वेल्स** (Wells) ने सामाजिक सर्वेक्षण के **दो** प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) **प्रचार-सर्वेक्षण** (Publicity or Sensational Survey)—इस प्रकार के सर्वेक्षण जनता में जागृति उत्पन्न करने अथवा किसी भौतिक या अभौतिक (non-material) वस्तु का प्रचार करने के उद्देश्य से किए जाते हैं। सरकारी योजनाओं को सफल बनाने के लिए इस प्रकार का सर्वेक्षण अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होता है क्योंकि सर्वेक्षण द्वारा जनता के मनोभाव या जन-समाज के रुख का पता चल जाता है और उसी के अनुसार योजना का रूप निश्चित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, परिवार नियोजन के प्रति लोगों का मनोभाव वास्तव में क्या है, यदि इस बात का पता चल जाए तो हम परिवार नियोजन के कार्यक्रम को इस भाँति आयोजित कर सकते हैं कि उससे जनता के मनोभाव या भावनाओं को ठेस न पहुँचे। अत: स्पष्ट है कि प्रचार-सर्वेक्षण के द्वारा किसी विचार, योजना या सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध क्रियाशील कारकों का पता लगाया जाता है जिससे कि उन बाधाओं को दूर करने में मदद मिल सके। (२) **तथ्य-संकलन-सर्वेक्षण** (Fact collecting Survey)—जब किसी सामाजिक घटना या समस्या के सम्बन्ध में केवल तथ्यों को एकत्रित करने के उद्देश्य से ही सर्वेक्षण किया जाता है तो उसे तथ्य-संकलन-सर्वेक्षण कहते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण **दो** प्रकार के हो सकते हैं—**एक** तो वैज्ञानिक और **दूसरा** व्यावहारिक (prcatical)। वैज्ञानिक सर्वेक्षण में किसी घटना के सम्बन्ध में केवल ज्ञान की प्राप्ति अथवा सिद्धान्तों के परीक्षण के हेतु तथ्यों का संकलन किया जाता है जबकि व्यावहारिक सर्वेक्षणों का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या के हल के लिए आवश्यक तथ्यों का संकलन होता है। सामाजिक जीवन व घटनाओं के सम्बन्ध में, समुदाय-विशेष में पाई जाने वाली विभिन्न आदतों, व्यवहार-प्रतिमानों (behaviour-pattern), सामाजिक व आर्थिक दशाओं तथा संस्थागत रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक व यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक सर्वेक्षण उपयोगी सिद्ध होता है। इसके विपरीत व्यावहारिक सर्वेक्षण सामाजिक समस्याओं को हल करने तथा योजना को बनाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

श्री सिन पाओ यांग (Hsin Pao Yang) ने भी सामाजिक सर्वेक्षण के **दो** प्रकारों का उल्लेख किया है—(अ) **प्रसंगात्मक सर्वेक्षण** (Topical Survey)—सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष के प्रसंग में जो विस्तृत सर्वेक्षण किया जाता है उसे प्रसंगात्मक सर्वेक्षण कहते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण की आधारभूत मान्यता (basic assumption) यह है कि किसी समुदाय की सभी घटनाओं या समस्याओं का एकसाथ सामान्य अध्ययन करने की अपेक्षा एक-एक घटना या समस्या का विस्तृत अध्ययन करना वैज्ञानिक यथार्थता के दृष्टिकोण से अधिक लाभदायक होता है क्योंकि इससे उस समस्या का सूक्ष्म अध्ययन हो जाने के कारण एक घटना या समस्या के सभी पक्ष सुस्पष्ट हो जाते हैं। प्रसंगात्मक सर्वेक्षण की विशिष्टता यही है कि इसमें सर्वेक्षण-कर्त्ता का ध्यान इधर-उधर की सामान्य घटनाओं के जंगल में भटकता नहीं फिरता अपितु एक समय में एक विशिष्ट घटना को ही अपने ध्यान का केन्द्र बना लेता है। विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस प्रकार का सर्वेक्षण अत्यधिक लाभदायक होता है। (ब) **सामान्य या विस्तृत सर्वेक्षण** (General or Comprehensive Survey)—किसी सामाजिक स्थिति अथवा अवस्था के कई पक्षों का एक विस्तृत अध्ययन करने वाले सर्वेक्षण सामान्य या विस्तृत सर्वेक्षण कहलाते हैं। ऐसे सर्वेक्षण प्राय: राष्ट्रीय

संस्थानों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठानों के द्वारा किए जाते हैं क्योंकि इनमें अत्यधिक समय, धन तथा कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। मजदूर, दुकानदार, उद्योगपति आदि सामान्य विशेषताओं वाले वर्ग, समुदाय अथवा प्रदेश के लोगों का सामान्य जीवन समझने के लिए इस प्रकार के सर्वेक्षणों का उपयोग अधिक होता है।

श्री हरबर्ट हाईमैन (Herbert Hyman) ने सामाजिक सर्वेक्षण के निम्नलिखित प्रकार बताए हैं—(क) **विवरणात्मक सर्वेक्षण** (Descriptive Survey)—जो सर्वेक्षण किसी सामाजिक घटना, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवहार-प्रतिमान, आदत-प्रतिमान (habit pattern) अथवा सामाजिक प्रक्रिया (process) का विवरणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से किया जाता है उसे विवरणात्मक सर्वेक्षण कहते हैं। कोई निदर्शन (sample) लेकर अथवा समस्त जनसंख्या के अध्ययन के आधार पर परिवर्तनशील कारकों का अध्ययन करना व विवरण प्रस्तुत करना ऐसे सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य होता है। (ख) **व्याख्यात्मक, सैद्धान्तिक या प्रयोगात्मक सर्वेक्षण** (Explanatory, Theoretical or Experimental Survey)—किसी सामाजिक घटना या समस्या में अन्तर्निहित कारकों की व्याख्या करने के लिए अथवा सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने अथवा प्रयोगात्मक विधियों के द्वारा अध्ययन करने वाले सर्वेक्षण इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण स्वयं ही चार प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार को **मूल्यांकनात्मक या परियोजनात्मक सर्वेक्षण** (Evaluative or Programative Survey) कहते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण में किसी सामाजिक घटना के निर्धारण में क्रियात्मक अभिकरण (active agency) द्वारा उत्पन्न कारकों का मूल्यांकन किया जाता है। ऐसे सर्वेक्षण का तात्कालिक प्रयोजन यह होता है कि अध्ययन द्वारा खोजे गए कारकों के ज्ञान के आधार पर सामाजिक घटना या समस्या में आवश्यक सुधार, परिमार्जन या परिवर्तन के लिए परियोजना का निर्माण किया जा सके। इसीलिए इस प्रकार के सर्वेक्षण को परियोजनात्मक सर्वेक्षण भी कहते हैं। दूसरे प्रकार को **निदानात्मक सर्वेक्षण** (Diagnostic Survey) कहते हैं जिसमें किसी समस्या के निदान की खोज की जाती है। दूसरे शब्दों में, समस्या के समाधान के हेतु उस समस्या के कारणों को ढूँढ़ने के लिए जिस सर्वेक्षण का आयोजन किया जाता है उसे निदानात्मक सर्वेक्षण कहते हैं। तीसरे प्रकार को **भविष्य-निर्देशक सर्वेक्षण** (Prediction Survey) कहते हैं जिसमें कि अध्ययन का उद्देश्य एक सामाजिक घटना के भविष्य की गतिविधि के सम्बन्ध में अनुमान करना होता है। उदाहरणार्थ, यदि चुनाव-प्रचार तथा अन्य सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन करके यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया जाए कि चुनाव में कौन विजयी होगा तो वह भविष्य-निर्देशक सर्वेक्षण कहलाएगा। चौथे प्रकार को **द्वैतीयक विश्लेषण-सर्वेक्षण** (Secondary Analysis Survey) कहते हैं। जब एक सर्वेक्षणकर्त्ता अपनी समस्या या विषय पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों का संकलन करने के लिए भूतपूर्व सर्वेक्षणों की सामग्री से लाभ उठाता है और उनके आधार पर नए नियम खोजता है तो यह द्वैतीयक विश्लेषण-सर्वेक्षण कहलाता है। श्री दुर्खीम (Durkheim) द्वारा आत्महत्या के विषय पर किए गए अध्ययन को इसी श्रेणी का सर्वेक्षण माना जाता है क्योंकि आपने आत्महत्या के सम्बन्ध में पहले से एकत्रित तथ्यों का विश्लेषण करके ही उनके आधार पर अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

उपर्युक्त प्रकार के सर्वेक्षणों के अतिरिक्त सर्वेक्षण के अन्य कुछ उल्लेखनीय प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) **जनगणना-सर्वेक्षण** (Census Survey)—इस प्रकार के सर्वेक्षण में किसी विषय या सम्बन्धित सभी व्यक्तियों अर्थात् समस्त जनसंख्या से सम्पर्क स्थापित करके सूचना प्राप्त की जाती है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सर्वेक्षण में सम्पूर्ण जनसंख्या में से कुछ निदर्शनों (samples) को चुनकर अध्ययन करने के स्थान पर सभी को अध्ययन की इकाई मान लिया जाता है और उनसे सूचना एकत्रित करके निष्कर्ष निकाला जाता है। वहुत छोटे या सीमित समुदायों का अध्ययन इसी प्रकार के सर्वेक्षण द्वारा किया जाता है, पर बड़े समुदायों का अध्ययन इस रूप में करने के लिए अत्यधिक धन, समय तथा कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है जिसका भार उठाना सरकार या अन्य किसी सम्पन्न संस्था के द्वारा ही सम्भव होता है। भारतवर्ष में प्रत्येक दसवें वर्ष इस प्रकार का सर्वेक्षण सरकार द्वारा करवाया जाता है जिसे 'जनगणना' (Census) कहते हैं और जिसमें प्रत्येक परिवार तथा व्यक्ति के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जाती है।

(२) **निदर्शन सर्वेक्षण** (Sample Survey)—यह सर्वेक्षण वहुत-कुछ जनगणना-सर्वेक्षण का विपरीत रूप है और वह इस अर्थ में कि इसमें जनसंख्या की प्रत्येक इकाई का अध्ययन न करके केवल कुछ ऐसी इकाइयों का अध्ययन किया जाता है जो कि सम्पूर्ण जनसंख्या का उचित प्रतिनिधित्व कर सकें और इसीलिए इन निदर्शनों (samples) का अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकलता है उसी को सम्पूर्ण जनसंख्या पर लागू कर दिया जाता है। आधुनिक जटिल व विराट् समुदायों का अध्ययन करते समय इसी प्रकार का सर्वेक्षण किया जाता है क्योंकि विस्तृत क्षेत्र के सभी मनुष्यों या इकाइयों का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए सम्पूर्ण जनसंख्या से कुछ प्रतिशत इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुन लिया जाता है और केवल उनका अध्ययन करके सम्पूर्ण के विषय में निष्कर्ष निकाल लिया जाता है।

(३) **नियमित तथा कार्यवाहक सर्वेक्षण** (Regular and Ad-hoc Survey)—जव कोई स्थायी संस्था या विभाग कुछ विषयों पर नियमित रूप से सर्वेक्षण करते रहते हैं तो उसे **नियमित सर्वेक्षण** कहते हैं। उदाहरणार्थ, भारत सरकार के जनगणना विभाग, रिजर्व बैंक आदि के द्वारा जनसंख्या, साख सुविधा, बैंकों की सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में समय-समय पर नियमित रूप से सर्वेक्षण किया जाता है। इसके विपरीत जब किसी तात्कालिक आवश्यकता या उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी अस्थायी बन्दोबस्त के द्वारा सर्वेक्षण किया जाता है तो उसे **कार्यवाहक सर्वेक्षण** कहते हैं। इसमें कोई स्थायी प्रवन्ध किए विना अस्थायी तौर पर किसी अध्ययन-दल (study team) की नियुक्ति करके सामयिक दृष्टि से किसी तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वेक्षण कराया जाता है। किसी योजना को वनाते समय कई वार ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बीच में ही उठ खड़े होते हैं जिनके विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त किए बिना योजना को व्यवस्थित व अन्तिम (final) रूप प्रदान करना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में कार्यवाहक सर्वेक्षण उपयोगी सिद्ध होते हैं।

(४) **अन्तिम और पुनरावर्तक सर्वेक्षण** (Final and Repetitive Survey)—यदि अध्ययन का विषय वहुत कम परिवर्तनशील तथा अत्यधिक सीमित है तो उसकें सम्बन्ध में एक बार अध्ययन करके ही कुछ अन्तिम निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं। ऐसे सर्वेक्षण को **अन्तिम सर्वेक्षण** कहते हैं। पर अधिकांशतः सामाजिक परिस्थितियाँ, तथ्य या दशाएँ परिवर्तनशील होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि एक ही विषय पर बार-बार सर्वेक्षण किए जाएँ ताकि परिवर्तित परिस्थितियों या

दशाओं के सन्दर्भ में पुराने सर्वेक्षणों के निष्कर्षों में आवश्यक सुधार, परिवर्तन या परिवर्द्धन किया जा सके। इस उद्देश्य से एक ही विषय पर बार-बार सर्वेक्षण-कार्य के दोहराये जाने वाले सर्वेक्षण को **पुनरावर्तक सर्वेक्षण** कहते हैं। इस प्रकार के सर्वेक्षण में सर्वेक्षण-कार्य का आधार वही रहता है जैसा कि उससे पहले किए गए सर्वेक्षण का था जिससे कि दोनों की तुलना की जा सके।

(५) **गुणात्मक व गणनात्मक सर्वेक्षण** (Qualitative and Quantitative Survey)—जब किसी गुणात्मक विषय या घटना के सम्बन्ध में सर्वेक्षण किया जाता है जैसे जनमत, पक्षपात, प्रथा, संस्कार, मनोवृत्ति आदि तो उसे **गुणात्मक सर्वेक्षण** कहते हैं। इसके विपरीत जब सर्वेक्षण का विषय गणनात्मक होता है तो उसे **गणनात्मक सर्वेक्षण** कहा जाता है। शिक्षा का विस्तार व शिक्षा का स्तर, जातीय संरचना, आर्थिक स्तर, विवाह-विच्छेद की दरें (rates) आदि ऐसे विषय हैं जिनके विषय में संख्यात्मक तौर पर अर्थात् संख्या में तथ्यों को एकत्रित व अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसीलिए इस प्रकार के सर्वेक्षण को गणनात्मक सर्वेक्षण कहते हैं।

(६) **सार्वजनिक और गुप्त सर्वेक्षण** (Public and Secret Survey)—**सार्वजनिक सर्वेक्षण** उसको कहते हैं जिसके किसी भी तथ्य को जनता से छिपाया नहीं जाता है और सम्पूर्ण सर्वेक्षण-कार्य को खुलेआम करने के पश्चात् उसकी रिपोर्ट को जनता के सूचनार्थ प्रकाशित कर दिया जाता है। शिक्षा-प्रसार, राष्ट्रीय बचत योजना आदि से सम्बन्धित सर्वेक्षण इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इसके विपरीत कुछ इस प्रकार के विषय भी हो सकते हैं जिनसे सम्बन्धित तथ्यों को प्रकाशित करना राष्ट्रीय या प्रशासकीय हित के विपरीत होता है। ऐसे सर्वेक्षण-कार्य में चूँकि गोपनीयता अपनायी जाती है, इस कारण इन्हें **गुप्त सर्वेक्षण** कहते हैं। कई विवादास्पद मामलों में इसी प्रकार के गोपनीय सर्वेक्षण किए जाते हैं। कुछ ऐसे भी विषय होते हैं जिनके सम्बन्ध में सूचनादाता प्रत्यक्ष रूप में सूचनाएँ देते हुए इसलिए घबराते या संकोच करते हैं क्योंकि वे उनके गुप्त जीवन से या किसी बड़े अधिकारी से सम्बन्धित होती हैं। ऐसी स्थिति में सर्वेक्षण गुप्त रीति से किया जाता है और यदि उसके निष्कर्षों को प्रकाशित भी किया जाता है तो बिना कोई नाम या परिचय स्पष्ट किए ही किया जाता है।

(७) **पूर्वगामी सर्वेक्षण** (Pilot Survey)—अपने अध्ययन-विषय तथा अध्ययन-स्थल के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो सर्वेक्षण किया जाता है उसे पूर्वगामी सर्वेक्षण कहते हैं। किसी भी बड़े अध्ययन-कार्य को आरम्भ करने से पूर्व इस प्रकार का सर्वेक्षण बहुत ही सादे व सरल ढंग का तथा आरम्भिक प्रकृति का होता है। अध्ययन-स्थल में यूँ ही घूम-फिरकर, समुदाय की जीवन सम्बन्धी सामान्य बातों को देखकर और लोगों से अनौपचारिक (informal) बातचीत करके इस प्रकार का सर्वेक्षण किया जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं—(अ) अन्वेषणात्मक तथा (ब) अनुमानात्मक। (अ) **अन्वेषणात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण** (Exploratory Pilot Survey) का उद्देश्य घटनाओं के कारणों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण द्वारा सर्वेक्षक यह जानने का प्रयत्न करता है कि भिन्न-भिन्न दशाओं में अध्ययन को किन-किन दिशाओं में मोड़ने से लाभ हो सकता है अथवा किन-किन प्रेरकों को लागू करने से वास्तविक सूचनाएँ प्राप्त करने की सम्भावनाएँ बढ़ जाएँगी। निदर्शनों (samples) आदि के सफल चुनाव के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्वेषणात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण अत्यधिक सहायक

सिद्ध होता है। (ब) **अनुमानात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण** (Estimative Pilot Survey) अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र से सम्बन्धित सभी बातों का प्रारम्भिक अनुमान लगाने के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण से यह अनुमान लग जाता है कि सर्वेक्षण-कार्य में कितना समय तथा धन खर्च होगा, किस समय निरीक्षण करना उचित होगा और किस समय लोगों से साक्षात्कार करना। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में पूर्व-अनुमान हो जाने से धन, समय तथा श्रम किसी की भी बर्बादी नहीं होती है। इसी से स्पष्ट है कि पूर्वगामी सर्वेक्षण की अपनी **उपयोगिताएँ** (utilities) या लाभ हैं जैसे (क) अध्ययन के समय आने वाली कठिनाइयों का अनुमान हो जाता है, (ख) निदर्शन (sample) निर्माण करने में सहायता मिलती है, (ग) सूचना के स्रोतों की खोज हो जाती है, (घ) सूचना के प्रकार का अनुमान हो जाता है, (ङ) भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रयुक्त विकल्पों (alternatives) का ज्ञान हो जाता है, (च) क्षेत्रीय जनसंख्या तथा उसकी विशेषताओं का अनुमान लगाया जा सकता है, (छ) साक्षात्कार की सम्भावनाओं तथा कठिनाइयों का ज्ञान हो जाता है, (ज) अध्ययन की अवधि तथा व्यय का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार पूर्वगामी सर्वेक्षण को वास्तविक सर्वेक्षण की योजना की भिन्न-भिन्न कठिनाइयों तथा परिस्थितियों में से सफलतापूर्वक निकालकर अध्ययन की पूर्णता तक पहुँचाने के लिए आवश्यक बातों का पूर्वज्ञान कराने का प्रमुख साधन कहा जा सकता है। श्री ऐकॉफ (Ackoff) ने भी लिखा है कि पूर्वगामी अध्ययन योजना को क्रियान्वित करने के लिए आवश्यक सम्भावित वैकल्पिक विधियों की ओर संकेत करने के लिए किया जाता है।[21]

सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन का विकास
(Development of Social Survey Movement)

वैसे तो सामाजिक सर्वेक्षण का कार्य किसी-न-किसी रूप में अति प्राचीन काल से ही होता रहा है। उदाहरणार्थ, हेरोडोटस (Herodotus) ने ३०० ई०पू० में मिश्र में जनसंख्या तथा सम्पत्ति के सर्वेक्षण का उल्लेख किया है। भारतवर्ष में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से यह पता चलता है कि उस समय भी सरकारी तौर पर आर्थिक आँकड़ों का संकलन किया जाता था। इसी प्रकार 'आइने-अकबरी' इस बात की साक्षी है कि सम्राट अकबर के शासनकाल में लगान निर्धारित करने के लिए भूमि तथा उपज सम्बन्धी आँकड़े एकत्र किए गए थे। परन्तु आधुनिक मानदण्ड के अनुसार इन्हें सामाजिक सर्वेक्षण की मर्यादा इस कारण नहीं दी जा सकती क्योंकि आँकड़ों के एकत्रीकरण में वैज्ञानिक विधियों का अनुसरण शायद ही किया गया हो।

सही अर्थ में सामाजिक सर्वेक्षण का आरम्भ १८वीं शताब्दी के मध्य से ही आरम्भ हुआ। इस प्रारम्भ का कारण तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं। उस समय औद्योगीकरण के फलस्वरूप विशेषतया मजदूर वर्ग से सम्बन्धित जो सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ सामने आईं उसके प्रति समाज-सुधारकों तथा चिन्तनशील व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन लोगों ने अपने-अपने ढंग से मजदूर वर्ग से सम्बन्धित विविध सर्वेक्षण-कार्य किए और परिणामों को प्रस्तुत किया। परन्तु वैज्ञानिक आधार पर आयोजित सामाजिक सर्वेक्षण पहली बार श्री जॉन हावर्ड

21. "Hence, the pilot study is designed to indicate what are the possible alternative operational procedures."—R. L. Ackoff, *The Design of Social Research*, p. 336.

(John Howard) के द्वारा ही किया गया था। आपने जेलों का सर्वेक्षण करके पहली बार जेल-जीवन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया। अपने सर्वेक्षण में आपने सहभागी निरीक्षण पद्धति (Participant Observation Method) को अपनाया और स्वयं जेलों में रहकर जेलों के अधिकारियों तथा कैदियों से सम्पर्क स्थापित करके जेल-जीवन के सम्बन्ध में वास्तविक सूचनाओं को एकत्रित किया। इस दिशा में दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान फ्रांसिसी समाज-सुधारक श्री ली-प्ले (Le-Play) का रहा। आपने परिवार को अपने अध्ययन की इकाई बनाया और लगभग २० वर्ष तक मजदूरों के घरों में घूम-फिरकर प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा उनके आय-व्यय आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की। साक्षात्कार (Interview) तथा निदर्शन (Sampling) पद्धतियों का सर्वप्रथम प्रयोग श्री ली-प्ले ने किया। साथ ही साथ आपने ही सर्वप्रथम सहकारी अनुसन्धान विधि (Inter-disciplinary Approach) का प्रयोग किया और अपने सर्वेक्षण-कार्य में चिकित्साशास्त्री, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ, इंजीनियर आदि भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों की सहायता ली।

इस दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण योगदान श्री चार्ल्स बूथ (Charles Booth) का है। इंग्लैण्ड में सामाजिक सर्वेक्षण के प्रवर्त्तकों में इनका नाम सबसे प्रसिद्ध है। लन्दन में निर्धनता, वेकारी तथा मजदूरों की हीन दशा को देखकर उनके मन में इन समस्याओं के कारणों को जानने की तीव्र इच्छा हुई और उसी इच्छा की सन्तुष्टि के लिए उन्होंने अपने व्यय से ३४०० गलियों (lanes) में रहने वाले परिवारों की आय-व्यय, स्वास्थ्य, जनसंख्या, आवास, गरीबी तथा सामाजिक स्थिति के विषय में सांख्यिकीय अनुसन्धान किया। आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए स्कूल-निरीक्षकों, प्रबन्धकों, सफाई-इन्स्पेक्टरों, कल्याण-अधिकारियों, मकान-मालिकों, अध्यापकों, पुलिस अधिकारियों तथा मन्त्रियों से सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने सहभागी निरीक्षण पद्धति का भी उपयोग किया। उनकी खोज 'दि लाइफ एण्ड लेबर ऑफ दि पीपुल ऑफ लन्दन' (The Life and Labour of the People of London) के नाम से १७ ग्रन्थों में प्रकाशित हुई।

इसके पश्चात् श्री राउण्ट्री (Rowntree) ने सामाजिक सर्वेक्षण में तुलनात्मक पद्धति का श्रीगणेश किया। उन्होंने पहले यार्क नगर (York City) के मजदूरों की दशा का सर्वेक्षण सन् १८९९ में किया और फिर उसी नगर का सर्वेक्षण सन् १९३६ में फिर से किया और इस प्रकार इन दोनों सर्वेक्षणों के बीच लोगों के रहन-सहन में होने वाले परिवर्तनों तथा उनके कारणों का अनुमान लगाया। उन्होंने जनगणना पद्धति तथा निदर्शन पद्धति द्वारा प्राप्त आँकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन किया। अध्ययन के उपरान्त उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जिनमें 'निर्धनता का चक्रीय प्रतिमान' (Cyclical Pattern of Poverty) तथा 'निर्धनता और प्रगति' (Poverty and Progress) प्रमुख हैं।

प्रसिद्ध संख्याशास्त्री श्री आर्थर बाउले (Arther Bowlley) ने सामाजिक सर्वेक्षण में दैव निदर्शन विधि (Random Sampling Method) का पहली बार उपयोग किया। प्रत्येक २०वें परिवार को अपने निदर्शन में चुनकर उन्होंने अपना अध्ययन किया जिसके निष्कर्ष 'Livelihood and Poverty' के नाम से प्रकाशित हुए।

इंग्लैण्ड से सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन धीरे-धीरे अमेरिका में फैलने लगा और यहाँ पर व्यक्तिगत तथा संस्थागत सर्वेक्षणों का बहुत तेजी से विकास हुआ।

व्यक्तिगत आधार पर किए गए सर्वेक्षणों में श्री जैकब रिस्स (Jacob Riss) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने सन् १८९० में न्यूयार्क नगर में रहने वाले लोगों की निर्धनता, आवास-व्यवस्था आदि का सर्वेक्षण करके महत्त्वपूर्ण आँकड़ों तथा तथ्यों को प्रस्तुत किया। उसी प्रकार अमेरिका के औद्योगिक नगरों में पूँजीपतियों तथा मजदूरों के सम्बन्धों में व्याप्त भ्रष्टाचार का सर्वेक्षण निरीक्षण-पद्धति के द्वारा श्री लिंकन स्टीफेन्स (Lincoln Stiffens) ने किया। संस्थागत सर्वेक्षणों में कई सरकारी सर्वेक्षण अमेरिका में हुए। सन् १९०० में न्यूयार्क राज्य के गवर्नर ने 'New York Tenement House Commission' की नियुक्ति की जिसने नगर में किराये के मकान में रहने वाले लोगों की खराब अवस्थाओं का अध्ययन किया। इसी प्रकार 'न्यूयार्क रीजनल प्लानिंग कमीशन' ने न्यूयार्क नगर के विकास तथा निवासियों की कठिनाइयों का सर्वेक्षण कराया। सन् १९१२ में The Russell Sage Foundation के अन्तर्गत एक सर्वेक्षण विभाग खोला गया जिसके अध्यक्ष श्री हेरीसन (Harrison) थे। इनके निर्देशन में इस संस्था के द्वारा पिट्सबर्ग सर्वे (Pitsburg Survey), स्प्रिंग फील्ड सर्वे (Spring Field Survey) आदि महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण-कार्य किए गए।

भारत में सामाजिक सर्वेक्षण
(Social Survey In India)

दूसरे अविकसित देशों की भाँति भारतवर्ष में भी सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन की प्रगति बहुत धीमी रही है। निर्धनता, अशिक्षा, यातायात तथा संचार के साधनों की अपर्याप्तता, भौगोलिक कठिनाइयाँ, भाषा सम्बन्धी विभेद तथा सरकार व जनता की इस दिशा में उदासीनता आदि कारणों से भारत में सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन कुछ पिछड़ा ही रहा। फिर भी व्यक्तिगत प्रयत्नों तथा सरकारी विभागों द्वारा सामाजिक जीवन के विषय में समय-समय पर आँकड़े तथा सूचनाएँ एकत्रित की जाती रही हैं। अंग्रेजी शासनकाल में इस दिशा में बहुत कम प्रगति हो सकी क्योंकि अंग्रेजी शासकों का उद्देश्य यहाँ के जन-जीवन के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना नहीं अपितु उनका आर्थिक व राजनैतिक शोषण करना था। फिर भी, इस काल में लोगों के सामाजिक-आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ प्रशासनिक उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु जानकारी प्राप्त करने के लिए कई आयोगों की नियुक्ति ब्रिटिश शासकों ने की जिसके फलस्वरुप अकाल, शिक्षा, श्रमिक वर्ग की समस्याओं आदि के सम्वन्ध में कुछ जानकारी हमें प्राप्त होती रही। इस प्रकार के आयोगों (Commissions) द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों (reports) में कुछ उल्लेखनीय रिपोर्टें इस प्रकार हैं—Indian Famine Commission Report, 1860; Report of Royal Commission on Labour, 1928 ; Report of Royal Commission on Agriculture, 1928; Report of the Indian University Commission, 1902 आदि। ब्रिटिश काल में ही भारत में सांख्यिकीय विभागों (statistical departments) की स्थापना हुई। सन् १८७० में सांख्यिकी एकत्रित करने के लिए एक केन्द्रीय सचिवालय खोला गया। सन् १८७० में ही अकाल आयोग की सिफारिशों पर एक ऐसा स्थायी सांख्यिकीय विभाग खोला गया जिसका कार्य मुख्यत: कृषि सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करना था। सन् १८९१ में भारत में प्रथम जनगणना (Census) हुई और तब से प्रति दसवें वर्ष यह काम होता चला आ रहा है। जनगणना रिपोर्ट से भारत के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु आर्थिक दशा, सामाजिक

समस्याओं व सांस्कृतिक प्रतिमानों के सम्बन्ध में भी हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती रही है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन की प्रगति पर्याप्त तेजी के साथ होती जा रही है। भारत एक कल्याणकारी राज्य (welfare state) बनने की ओर प्रयत्नशील है और उसके लिए यह आवश्यक है कि जन-जीवन तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं के सम्बन्ध में अधिकाधिक ज्ञान और समस्याओं को हल करने के प्रति प्रयत्नशीलता सतत बनी रहे। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने भारतीय जन-जीवन से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का योजना-बद्ध ढंग से हल करने का प्रयास आरम्भ किया। पंचवर्षीय योजनाएँ उन्हीं प्रयासों का मूर्त रूप हैं। इन योजनाओं को बनाने तथा उन्हें सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए यह आवश्यक था कि सरकार द्वारा देश-भर में सर्वेक्षण आयोजित किया जाए। इस दिशा में सन् १९५० में भारत सरकार ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण पग उठाया और प्रो० महलनबीस की सिफारिश पर Directorate of National Sample Survey की स्थापना की। इस संस्था के द्वारा भारतीय जन-जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे परिवार का आकार, व्यय का स्वरूप, उपभोग का स्वरूप, पारिवारिक स्थिति, बेरोजगारी आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्यों व आँकड़ों का संकलन होता रहता है। इस संस्था के अतिरिक्त, दिल्ली में बचत सम्बन्धी सर्वेक्षण तथा भिन्न-भिन्न बड़े नगरों जैसे बम्बई, दिल्ली, कानपुर आदि में सामाजिक व आर्थिक अवस्थाओं के सर्वेक्षण National Council of Applied Economic Research (NCAER) नामक संस्था के द्वारा किए गए हैं। जनमत सम्बन्धी सर्वेक्षणों को प्रोत्साहित करने के लिए Indian Institute of Public Opinion की स्थापना की गई है। इस संस्था द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका Monthly Public Opinion Surveys में पिछले सात-आठ वर्षों से सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विषयों पर भारतीय जनमत के तथ्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त Gokhle Institute of Politics and Economics, Indian Institute of Community Development, Statistical Institute of Calcutta आदि संस्थाओं द्वारा महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण-कार्य किए जा रहे हैं। साथ ही, भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों ने भी सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन में अपना सहयोग प्रदान किया है। Tata Institute of Social Sciences, Agra Institute of Social Sciences, Delhi School of Social Works आदि विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा खोली गई प्रमुख संस्थाएँ हैं जो कि पर्याप्त सर्वेक्षण-कार्य कर रही हैं।

सामाजिक सर्वेक्षण में आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Modern Trends in Social Survey)

(१) सामाजिक सर्वेक्षण जन-जीवन की वास्तविकताओं को उद्घाटित करने का एक साधन है। इस साधन की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि एक सर्वेक्षण-कर्त्ता सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में तथ्यों का संकलन कितने यथार्थ रूप में कर पाता है। इस प्रकार की यथार्थता अधिकाधिक कुशल प्रविधियों (techniques) पर ही निर्भर हो सकती है इसलिए सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में आधुनिक प्रवृत्ति पद्धतिशास्त्र को उत्तरोत्तर उन्नत करने की है। प्रयत्न इस बात का किया जा रहा है कि सामाजिक सर्वेक्षण में इस प्रकार की पद्धतियों, प्रविधियों और उपकरणों का प्रयोग किया जाए जिससे कि अमूर्त सामाजिक घटनाओं का अध्ययन अधिक यथार्थ

रूप में सम्भव हो सके और सामाजिक सर्वेक्षण के निष्कर्ष भी प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्षों की भाँति निर्भरयोग्य बन सकें।

(२) सामाजिक सर्वेक्षण में एक और उल्लेखनीय आधुनिक प्रवृत्ति अध्ययन-विषय के क्षेत्र को सीमित करने की है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि केवल एक विराट व आकर्षक अध्ययन-क्षेत्र को चुन लेने मात्र से ही विज्ञान की कोई प्रगति होने की आशा नहीं की जा सकती है। प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में भी एक-दूसरे से सम्बन्धित छोटे-छोटे व सीमित विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत सर्वेक्षण-कार्य को आयोजित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस प्रकार के सर्वेक्षण से प्राप्त निष्कर्षों को एक-दूसरे से मिलाकर सम्पूर्ण क्षेत्र के विषय में निर्भर-योग्य निष्कर्ष अधिक सरलता से निकाला जा सकता है, इस सत्य को आज स्वीकार किया जाता है।

(३) सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में एक और उल्लेखनीय प्रवृत्ति सर्वेक्षण-कार्य को उत्तरोत्तर आयोजित व व्यवस्थित ढंग से करने की है। आज यह माना जाता है कि केवल आँकड़ों का अनियन्त्रित संकलन और उन आँकड़ों के ढेरों से प्राप्त अस्पष्ट निष्कर्ष हमें किसी सत्य की ओर नहीं ले जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सर्वेक्षण को उसके उद्देश्य व विषय की प्रकृति के अनुरूप पूर्णतया आयोजित किया जाए जिससे कि केवल उन्हीं आँकड़ों का संकलन हो जो कि आवश्यक हैं और जिनके आधार पर अध्ययन-विषय की वास्तविकताएँ यथार्थ व सुस्पष्ट रूप में प्रगट हो सकें। अतः अप्रतिबन्धित आँकड़ों का संकलन, और उन्हीं के आधार पर अस्पष्ट निष्कर्षीकरण की प्रवृत्ति को त्यागकर केवल आवश्यक तथ्यों के संकलन और सुस्पष्ट निष्कर्षीकरण की ओर आधुनिक सर्वेक्षणकर्त्ताओं का झुकाव बढ़ता जा रहा है।

(४) उपर्युक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक समय में सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में सबसे उल्लेखनीय प्रवृत्ति सर्वेक्षण का प्रमाणीकरण (standardization) है। यह प्रमाणीकरण प्रविधियों का, अध्ययन-विधियों का तथा अध्ययन-क्षेत्र का किया जा रहा है क्योंकि मनमाने ढंग से किए जाने वाले सर्वेक्षण-कार्य विज्ञान की उन्नति के परिचायक नहीं हैं। इसीलिए प्रमाणीकरण आवश्यक है। संकलित तथ्यों का वर्गीकरण, अवधारणाओं का स्पष्टीकरण, आदर्शात्मक मानदण्डों का बहिष्कार आदि प्रमाणीकरण के ही परिचायक हैं। सर्वेक्षण-प्रविधियों में प्रमाणीकरण लाने का प्रयत्न सांख्यिकीय पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग करके किया जा रहा है। उसी प्रकार प्रश्नावली तथा अनुसूचियों में इस प्रकार की प्रामाणिकता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है जिससे कि इनके द्वारा एकत्रित आँकड़े या तथ्य अधिकाधिक गणनात्मक (quantitative) हों। उसी प्रकार अध्ययन-विषय का भी प्रमाणीकरण अध्ययन-क्षेत्र को सीमित और उद्देश्यों को सुउद्देश्य से परिभाषित करके किया जा रहा है। इतना ही नहीं, दृष्टिकोण का भी प्रमाणीकरण आज हो रहा है; इसका तात्पर्य यह है कि आज प्रातीतिक (subjective) दृष्टिकोण अपनाने के बजाय सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में उत्तरोत्तर वैषयिक (objective) दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया जा रहा है।

(५) इस सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय प्रवृत्ति यह है कि प्रत्येक सामाजिक सर्वेक्षण के एक सुस्पष्ट सामाजिक उद्देश्य को आज निश्चित कर लिया जाता है। आज सर्वेक्षण-कार्य केवल ज्ञानवृद्धि का साधन नहीं रहा है अपितु उसे सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का एक साधन बनाने की ओर प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन होती जा

रही है। अर्थात् सर्वेक्षण के व्यावहारिक पक्ष पर भी आज बल दिया जा रहा है।

(६) सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में एक और विशेषरूप से उल्लेखनीय प्रवृत्ति सहकारी अनुसन्धान पद्धति (Inter-disciplinary Approach) है। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वेक्षण-कार्य में आज विभिन्न विज्ञानों के विशेषज्ञों की सहायता व सहयोग आवश्यकतानुसार लेने में आज का सर्वेक्षणकर्त्ता घबराता नहीं है और न ही विभिन्न विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों को काम में लाने में संकोच करता है। वास्तव में इस प्रकार का समन्वय (coordination) इसलिए भी आवश्यक है कि सामाजिक घटनाओं का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत व जटिल है और किसी भी एक सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए पूर्णतया आत्मनिर्भर रहते हुए सर्वेक्षण-कार्य को सफलतापूर्वक करना सम्भव नहीं है। अतः दूसरों की सहायता आवश्यक है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार का सहयोगी व समन्वित दृष्टिकोण ही वास्तव में वैज्ञानिक प्रगति की आधारशिला वन सकती है।

सर्वेक्षण पद्धति के गुण
(Merits of Survey Method)

सामाजिक अनुसन्धान के कार्य में एकाधिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। उनमें से सर्वेक्षण पद्धति एक है। दूसरी पद्धतियों की तुलना में सर्वेक्षण पद्धति के अपने कुछ गुण हैं जिन्हें कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) सर्वेक्षण पद्धति में अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय के सीधे सम्पर्क में आता है, ऐसा इसलिए होता है कि इस विधि के अन्तर्गत सर्वेक्षणकर्त्ता को अपने विषय से सम्बन्धित परिस्थितियों तथा व्यक्तियों से सीधे तौर पर तथ्यों को एकत्रित करना पड़ता है और उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुसन्धानकर्त्ता को उनके साथ निकट व घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। सर्वेक्षण की सफलता इसी वात पर निर्भर है कि अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित परिस्थितियों तथा व्यक्तियों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने में कितना सफल हो सका है। इस अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि सर्वेक्षण पद्धति न तो दार्शनिक पद्धति है और न ही कोरी पुस्तकीय अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान पर आधारित है।

(२) सर्वेक्षण पद्धति में किसी विषय के प्रति विशिष्ट झुकाव की संभावना कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि इस पद्धति के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता अपने विषय से सम्बन्धित आँकड़ों तथा तथ्यों को उनके यथार्थ रूप में एकत्रित करने का प्रयत्न करता है जिसके फलस्वरूप उसका निष्कर्ष प्रातीतिक न होकर अधिकाधिक वैषयिक होता है।

(३) सामाजिक सर्वेक्षण इस प्रकार की सामाजिक घटनाओं के विषय में भी अध्ययन-कार्य को सम्भव वनाता है जिनके विषय में घर बैठे अध्ययन नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए देश-विभाजन के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों में बसे शरणार्थियों के जीवन में किस प्रकार के परिवर्तन हुए हैं या उनके एक प्रदेश-विशेष में बस जाने के कारण वहाँ के मूल निवासियों के जीवन-प्रतिमान में कौन-कौनसे प्रभाव पड़े हैं इसका अध्ययन घर बैठे सैद्धान्तिक तौर पर नहीं किया जा सकता जब तक कि सामाजिक सर्वेक्षण विधि की सहायता न ली जाए।

(४) सर्वेक्षण पद्धति वैज्ञानिक स्थिति को प्राप्त करने में अधिक सफल हुई है। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयुक्त पद्धतियों के अनुरूप सर्वेक्षण पद्धति में भी अब ऐसी

प्रणालियों का विकास किया जा रहा है जिनके अनुसार आवश्यकतानुसार एक सामाजिक घटना को नियंत्रित किया जा सकता है। वैसे भी सामाजिक सर्वेक्षणकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय या घटना को जैसी वह है उसी रूप में देखने का प्रयत्न करता है जिससे कि घटना का वास्तविक रूप ज्यों का त्यों वना रहता है और घटना के सम्बन्ध में यथार्थ निष्कर्ष निकालना सम्भव होता है।

(५) सर्वेक्षण पद्धति प्रत्यक्ष ज्ञानप्राप्ति का एक अत्यन्त निर्भरयोग्य साधन है। इसका कारण यह है कि इसमें सर्वेक्षणकर्त्ता का अपने विषय से सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता है। यह सीधा सम्पर्क काल्पनिक विचारों को अध्ययन-क्षेत्र के अन्तर्गत आने नहीं देता अथवा इस प्रकार के विचारों की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। यदि हम औद्योगिक नगरों की श्रमिक बस्तियों में बसे श्रमिकों की दशाओं के वारे में अथवा गाँवों के भूमिहीन कृषि-श्रमिकों में व्याप्त निर्धनता के विषय में अथवा शिक्षण संस्थाओं में हरिजन वच्चों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति ही सर्वोत्तम पद्धति है।

सर्वेक्षण पद्धति की सीमाएँ
(Limitations of Survey Method)

सर्वेक्षण पद्धति में उपर्युक्त गुण होने पर भी इसकी कुछ अपनी सीमाएँ भी हैं जिन्हें कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) सर्वेक्षण पद्धति के द्वारा केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है जो कि दृष्टिगोचर योग्य हैं। परन्तु अधिकांश सामाजिक घटनाएँ ऐसी नहीं होती हैं। अर्थात् वे अमूर्त तथा भावात्मक होती हैं। इस प्रकार की भावात्मक व अमूर्त घटनाओं का अध्ययन सर्वेक्षण पद्धति के द्वारा सम्भव नहीं है। उसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक घटना के स्थल पर उपस्थित रहकर घटनाओं का स्वयं निरीक्षण करना प्रत्येक अवस्था में अनुसन्धानकर्त्ता के लिए सम्भव नहीं होता है। और उस अवस्था में सामाजिक सर्वेक्षण की उपयोगिता स्वतः ही घट जाती है।

(२) सामाजिक सर्वेक्षण अधिक व्यय तथा समय साध्य है। सामाजिक सर्वेक्षण में धन और समय दोनों की वहुत जरूरत पड़ती है। सर्वेक्षण-कार्य के लिए नियुक्त कार्यकर्त्ताओं के निवास, वेतन, प्रशिक्षण तथा निरीक्षण आदि की व्यवस्था में और साथ ही प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार व चित्रमय प्रदर्शन आदि में धन वहुत व्यय करना पड़ता है और इसीलिए अनेक सर्वेक्षण-कार्य आर्थिक साधन के अभाव के कारण वीच में ही रुक जाते हैं। उसी प्रकार विस्तृत सर्वेक्षणों में कई-कई वर्ष लग जाते हैं और इस लम्वे समय के दौरान में समान उत्साह व संयम को बनाए रखना कठिन हो जाता है।

(३) सर्वेक्षण की प्रक्रिया में एक पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार खोज करनी पड़ती है जिसके फलस्वरूप कभी-कभी सम्पूर्ण सर्वेक्षण-कार्य यन्त्रवत् चलता रहता है और अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए अपनी बुद्धि के स्वतन्त्र प्रयोग का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है।

(४) सामाजिक सर्वेक्षण के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों की विश्वसनीयता (reliability) पर सन्देह किया जा सकता है क्योंकि सर्वेक्षण के दौरान में व्यक्तिगत पसन्द व नापसन्द, पक्षपात, संस्कार व पूर्वधारणाओं से अपने को पूर्णतया अप्रभावित रखना सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए अत्यधिक कठिन होता है। सर्वेक्षण की सफलता

सर्वेक्षकों की ईमानदारी, कुशलता, तथ्यों की वैषयिकता, सूचनादाताओं के सहयोग और सर्वेक्षण-प्रविधियों की उपयोगिता पर निर्भर है। परन्तु इन सबों की एकसाथ प्राप्ति बहुत ही कठिन है।

(५) सामाजिक घटनाएँ अमूर्त तथा अत्यधिक बिखरी हुई होती हैं और इसीलिए एक सर्वेक्षण के द्वारा उन्हें किसी एक समान सूत्र में बाँधना अत्यन्त कठिन होता है। यही कारण है कि सर्वेक्षण स्वयं असम्बद्ध तथा बिखरे हुए होते हैं। उन्हें एक कड़ी में पिरोकर किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्माण स्वयं एक समस्या बन जाता है। इस समस्या के समाधान के प्रति सामाजिक वैज्ञानिक आज अधिक जागरूक हैं और उनकी सफलता पर ही सामाजिक विज्ञान की प्रगति का पथ अधिक प्रशस्त होने की आशा की जाती है!

———

७. सामाजिक सर्वेक्षण का आयोजन

(PLANNING OF SOCIAL SURVEY)

सामाजिक सर्वेक्षण एक गम्भीर उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और अपने सर्वेक्षण द्वारा निर्भरयोग्य निष्कर्षों को प्रस्तुत करना प्रत्येक सच्चे सर्वेक्षणकर्त्ता का पवित्र कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य का पालन मनमाने ढंग से सर्वेक्षण-कार्य को करके नहीं किया जा सकता। इसके लिए सुनिश्चित आयोजन (Planning) की आवश्यकता है। कहाँ जाना है और कैसे जाना है यह सोचे-समझे बगैर ही जो व्यक्ति घर से चल देता है उसके लिए भटक जाना सरल होता है। यही बात सामाजिक सर्वेक्षण पर भी लागू होती है। क्रमबद्ध आयोजन के बिना सर्वेक्षण में सफलता उतनी ही अनिश्चित है जितना कि योजनाविहीन रूप में किसी व्यापार में धन लगाकर लाभ की आशा करना। श्री पार्टन (Parten) ने सच ही लिखा है कि "किसी सर्वेक्षण की योजना, संगठन तथा संचालन किसी व्यापार को चलाने के समान है। दोनों के लिए विशेष लगन, चतुरता, प्रबन्ध की योजना तथा विशेष अनुभव अथवा उसी प्रकार के काम का प्रशिक्षण आवश्यक है। आरम्भ से अन्त तक सर्वेक्षण की सावधानी के साथ योजना बनाने पर ही उससे प्राप्त फलों पर विश्वास किया जा सकता है और ऐसी दशा में ही निष्कर्ष प्रकाशन के योग्य स्थिति तक पहुँच सकते हैं।"[1] अतः स्पष्ट है कि सर्वेक्षण का आयोजन उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि स्वयं सर्वेक्षण का निष्कर्ष। भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार, "आयोजन वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों के सन्दर्भ में अधिकतम लाभ या उपयोगिता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने साधनों को संगठित करने तथा उन्हें उपयोग में लाने की पद्धति है।"[2] सामाजिक सर्वेक्षणकर्त्ता के पास भी समय तथा धन का साधन असीमित नहीं होता है। सीमित साधनों से ही उसे अपने सर्वेक्षण-कार्य में अधिकतम यथार्थता (exactness) व विश्वसनीयता (reliability) लाने का प्रयत्न करना होता

1. "Designing, organising and conducting a survey is like establishing and running a business enterprise. Both require technical knowledge and skill, administrative ability and specific experience or training in work similar to that being organized........Only by carefully planning the survey from start to finish can reliance be placed upon results and in many cases will the findings even reach the publication stage."—Parten, *Surveys, Polls and Samples*, p. 173.

2. "Planning is essentially a way of organizing and utilizing resources to the maximum advantage in the terms of defined social end."

—Planning Commission, Govt. of India.

है। इस उद्देश्य की पूर्ति सर्वेक्षण का आयोजन किए बिना नहीं हो सकती, विशेषतया इसलिए कि आज हमारा सामाजिक जीवन दिन-प्रतिदिन अत्यन्त विस्तृत व जटिल होता जा रहा है और इस जटिल सामाजिक ढाँचे में विस्तृत प्रयोजनों, जन-जीवन के प्रतिमानों तथा समस्याओं को मनमाने ढंग से समझा नहीं जा सकता है। इसके लिए सुव्यवस्थित तथा सुनिश्चित आयोजन की आवश्यकता है। इस अध्याय में हम उसी के विषय में विवेचना करेंगे। इस सन्दर्भ में हम सर्वप्रथम उन समस्याओं के प्रति पाठक वर्ग का ध्यान आकर्षित करेंगे जिनका कि सामना सामाजिक सर्वेक्षण के आयोजन में सर्वेक्षणकर्त्ता को करना पड़ता है।

सामाजिक सर्वेक्षण के आयोजन सम्बन्धी समस्याएँ
(Planning Problems of Social Survey)

सामाजिक सर्वेक्षण का आयोजन कोई अत्यधिक सरल कार्य नहीं है। इसके लिए सर्वेक्षणकर्त्ता की पर्याप्त कुशलता व दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। फिर भी सर्वेक्षणकर्त्ता को आयोजन सम्बन्धी कुछ समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। वे समस्याएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) सर्वप्रथम समस्या सर्वेक्षण का विषय चुनने से सम्बन्धित है। सामाजिक जीवन का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक तथा जटिल है। इस व्यापकता व जटिलता के बीच सर्वेक्षणयोग्य विषय का चुनाव वास्तव में एक समस्या बन जाता है क्योंकि विषय को चुन लेने मात्र से ही सर्वेक्षण में सफलता के सम्बन्ध में निश्चित नहीं हुआ जा सकता क्योंकि विषय इस प्रकार का होना चाहिए कि सर्वेक्षण-कार्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया बाधा-रहित रूप में आगे बढ़ सके। साथ-ही-साथ विषय इस प्रकार का हो जिसके सम्बन्ध में सूचनाएँ व आँकड़े मिल सकने योग्य हों और साथ ही सर्वेक्षण के द्वारा उस विषय के सम्बन्ध में केवल ज्ञान प्राप्त ही न हो अपितु कुछ सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति भी सम्भव हो। इन सभी विषयों का सन्तुलित ध्यान रखना वास्तव में एक समस्या बन जाता है जिसे कि सुलझाने की आवश्यकता होती है।

(२) सामाजिक सर्वेक्षण प्रायः एकाधिक व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है या यूँ कहिए कि इसके लिए एकाधिक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। इन सभी कार्यकर्त्ताओं को सर्वेक्षण-कार्य के लिए समान रूप से तैयार करना और एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनमें समान निष्ठा व लगन को विकसित करना वास्तव में एक समस्या है और इस समस्या को सुलझाना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इसके बिना सर्वेक्षण के उद्देश्य की पूर्ति सम्भव नहीं होती है।

(३) इस दिशा में तीसरी समस्या सूचना प्राप्त करने के सम्बन्ध में है। सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में यथार्थ सूचना मिलनी बहुत मुश्किल हो जाती है। सूचनादाता प्रायः अपने निजी विचार, भावनाओं, मिथ्या झुकाव (bias) तथा पूर्व-धारणाओं से रंगे होते हैं और इस रंग को हटाकर वास्तविक सूचना उनसे प्राप्त करना एक समस्या बन जाती है। सरकारी विभागों से सूचना प्राप्त करना और भी कठिन होता है और सर्वेक्षण-कार्य को आयोजित करने से पूर्व इस कठिनाई के सम्बन्ध में अत्यधिक सचेत रहने की आवश्यकता होती है।

(४) एक और समस्या धन तथा समय से सम्बन्धित होती है। सर्वेक्षण-कार्य में पर्याप्त धन तथा काफी समय की आवश्यकता होती है और इन दोनों को पर्याप्त मात्रा में जुटाना किसी भी सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए एक समस्या बन जाती है। आवश्यक धन तथा समय जिस मात्रा में निश्चित रूप में उपलब्ध है उसे ध्यान में रखते हुए ही

सर्वेक्षण की योजना वनाना लाभप्रद सिद्ध होता है। ऐसा न करने पर सर्वेक्षण-कार्य किसी भी स्तर पर आकर एकाएक रुक सकता है।

(५) सर्वेक्षण के आयोजन में एक और भारी समस्या अध्ययन-पद्धतियों से सम्बन्धित है। सर्वेक्षण-कार्य के लिए कौन-कौनसी पद्धतियाँ प्रविधियाँ व उपकरण सबसे उपयोगी सिद्ध होगा यह विचार व निर्णय भी कोई सरल काम नहीं है। ऐसा देखा जाता है कि पद्धतियों के चुनाव में सामान्य गलती हो जाने के कारण सम्पूर्ण सर्वेक्षण-कार्य निष्फल हो गया है। अतः पद्धति सम्बन्धी समस्या को पर्याप्त सावधानी से सुलझा लेने की आवश्यकता सदा ही वनी रहती है और सर्वेक्षणकर्त्ता को आरम्भ में ही इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देना होता है।

(६) समय, धन तथा मानव-शक्ति का सन्तुलित वितरण सामाजिक सर्वेक्षण के आयोजन की एक और उल्लेखनीय समस्या है। केवल पर्याप्त समय, धन तथा कार्यकर्त्ताओं का होना ही सर्वेक्षण-कार्य की सफलता की कोई गारण्टी नहीं है जव तक कि हम इन सबका सन्तुलित वितरण सम्पूर्ण सर्वेक्षण-प्रक्रिया में करने में सफल नहीं होते हैं। किस कार्य में कितने व्यक्तियों को लगाकर न्यूनतम समय व खर्चे से अधिकतम निर्भर-योग्य तथ्यों का संकलन सम्भव है इस वात का पूर्वज्ञान होना परमावश्यक है। यदि कम महत्त्वपूर्ण विषयों पर अधिक धन तथा जनशक्ति का अपव्यय किया जाए तो सर्वेक्षण की सफलता दूर का सपना वन जाती है। अतः व्यय के सम्बन्ध में चाहे वह धन, समय या जनशक्ति का व्यय हो, सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक हो जाता है और इस आवश्यकता की पूर्ति न होने पर यही एक समस्या का रूप धारण कर लेता है।

(७) इस सम्बन्ध में अन्तिम समस्या सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न विशेषज्ञों की सहयोगिता प्राप्त करने से सम्बन्धित है। सामाजिक सर्वेक्षण में प्रायः नाना प्रकार के विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़ती है; विशेषकर सर्वेक्षण की योजना वनाने के सम्बन्ध में उनके विचारों का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक होता है; पर इसे प्राप्त करना सरल नहीं होता है। इस प्रकार के विशेषज्ञ स्वयं अत्यधिक व्यस्त जीवन व्यतीत करते हैं और उन्हें आवश्यकतानुसार एक स्थान पर एकत्रित करना एक समस्या वन जाता है। वे प्रायः अपना अधिक समय नहीं दे पाते हैं और जल्दवाजी में उनके द्वारा किए गए निर्देशन अधिक फलप्रद प्रमाणित नहीं होते हैं।

सर्वेक्षण का आयोजन
(Planning of Survey)

सामाजिक सर्वेक्षण के आयोजन में उपर्युक्त समस्याएँ होते हुए भी सर्वेक्षण का आयोजन बुद्धिमत्तापूर्वक किया जाता है और सर्वेक्षण के उद्देश्य की पूर्ति भी की जाती है। इस प्रकार के आयोजन के प्रमुख चरण निम्नलिखित होते हैं :—

(१) समस्या का चुनाव
(Selection of the Topic)

किसी भी सर्वेक्षण की योजना वनाने से पूर्व यह आवश्यक है कि उस समस्या का चुनाव किया जाए जिसके सम्बन्ध में सर्वेक्षण करना है। विषय का चुनाव सामाजिक सर्वेक्षण का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है क्योंकि इसी पर सर्वेक्षण की सफलता या विफलता पर्याप्त सीमा तक निर्भर करती है। विषय के चुनाव के लिए निम्नलिखित

बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

(अ) सर्वेक्षण का विषय इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमें अनुसन्धान-कर्त्ता की रुचि हो। विषय में गहरी रुचि होने से सर्वेक्षणकर्त्ता अधिक लगन व परिश्रम से कार्य कर सकेगा और साथ ही विषय की गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न कर सकता है। यदि समस्या का अध्ययन कठिन भी है तो भी उसमें अपनी रुचि के कारण सर्वेक्षणकर्त्ता अधिक परिश्रम करने का प्रयत्न करता है और प्रत्येक कठिनाई को पार करने के प्रति प्रयत्नशील रहता है।

(ब) सर्वेक्षण का विषय ऐसा होना चाहिए जिसके सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत पूर्वज्ञान हमें हो, इस प्रकार का पूर्वज्ञान सर्वेक्षण को सुनिश्चित ढंग से आयोजित करने में अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। इसके विपरीत एकदम नवीन तथा असम्बद्ध विषय पर सही-सही विचार होना कठिन हो जाता है। प्रायः यह देखा जाता है कि सर्वेक्षणकर्त्ता का झुकाव नए विषयों को चुनने के प्रति अधिक होता है जिसके फलस्वरूप हजारों सर्वेक्षणकर्त्ताओं का परिश्रम असंख्य असम्बद्ध विषयों के सर्वेक्षण में बिखर गया है। इस प्रकार के बिखरे सर्वेक्षण से विज्ञान या समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता। अतः श्री बोगार्डस का कथन है कि असम्बद्ध विषयों की सर्वेक्षण-प्रवृत्ति को त्यागकर विज्ञान की प्रगति के लिए सम्बद्ध विषयों का सर्वेक्षण अधिक आवश्यक है।

(स) सर्वेक्षण-विषय का साधन-सीमा के अन्तर्गत होना भी आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि विषय इतना विस्तृत न हो कि उसका सर्वेक्षण यथार्थ रूप से सम्भव न हो सके। प्रायः यह देखा जाता है कि सर्वेक्षणकर्त्ता कुछ खोज निकालने की अभिलाषा से इतने विस्तृत विषय का चुनाव कर बैठते हैं कि आगे चलकर अथाह समुद्र में फँस जाने की भाँति सर्वेक्षण-कार्य में स्वयं छटपटाते रहते हैं। अतः विषय का चुनाव सर्वेक्षण के दृष्टिकोण से व्यावहारिक है या नहीं, यह जान लेना आवश्यक है; इसके लिए केवल काल्पनिक विचार पर्याप्त नहीं है।

(द) विषय का चुनाव करते समय उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में भी सचेत रहना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि विषय का चुनाव करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि उस विषय के सम्बन्ध में सर्वेक्षण होने पर ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक हो सकती है। अति संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना परमावश्यक है। सामाजिक सर्वेक्षण समाज-सुधार व सामाजिक प्रगति में भी सहायक सिद्ध हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए विषय का चुनाव करना चाहिए।

(२) उद्देश्य का निर्धारण
(Determination of Purpose)

सर्वेक्षण-विषय का चुनाव कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वेक्षण के उद्देश्य को भी निश्चित कर लिया जाए। जब तक सर्वेक्षण का उद्देश्य स्पष्ट रूप से निश्चित नहीं किया जाता तब तक सर्वेक्षणकर्त्ताओं की नियुक्ति, समय तथा धन के खर्च के विषय में कोई अनुमान लगाना और सर्वेक्षण को ठीक ढंग से आयोजित करना सम्भव नहीं होता है। वास्तविकता तो यह है कि उद्देश्य स्पष्ट होने से सर्वेक्षण की प्ररचना (Design of Survey) बनाने में सुविधा होती है और सूचना एकत्रित करने के स्रोतों के विषय में आवश्यक व्यवस्था की जा सकती है। सर्वेक्षण का

उद्देश्य सामान्य (general) हो सकता है और विशिष्ट (particular) भी। जब सर्वेक्षण-कार्य किसी ऐसे उद्देश्य से किया जाता है जिसका कि सम्बन्ध सामान्य जन-जीवन से है तो उसे सामान्य उद्देश्य वाला सर्वेक्षण कहा जाता है। इसके विपरीत जब सर्वेक्षण का उद्देश्य किसी विशेष समूह या वर्ग के किसी विशिष्ट पक्ष के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना होता है तो उसे विशिष्ट उद्देश्य वाला सर्वेक्षण कहा जाता है। सर्वेक्षण के सफल आयोजन के लिए इन दोनों प्रकार के उद्देश्यों में से किसी एक का चुनाव आवश्यक है क्योंकि उद्देश्य के अनुसार ही अध्ययन-पद्धति, प्रविधियों व उपकरणों तथा संकलित की जाने वाली सामग्री का पूर्वानुमान व आयोजन सरल हो जाता है। अतः उद्देश्यों में हेर-फेर करते रहना उचित नहीं होता है क्योंकि ऐसा करने पर सर्वेक्षण की सम्पूर्ण संरचना, पद्धतिशास्त्र आदि में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता हो जाती है।

(३) अध्ययन-क्षेत्र को परिभाषित व परिसीमित करना
(Definition and Delimitation of the Field of Study)

सर्वेक्षण के लिए विषय का चुनाव और उद्देश्य का निर्धारण हो जाने के पश्चात् यह आवश्यक है कि विषय के विभिन्न पक्षों को, जहाँ तक सम्भव हो, स्पष्टतया परिभाषित व परिसीमित कर लिया जाए। ऐसा करने पर सर्वेक्षण-कार्य के भटक जाने की सम्भावना कम हो जाती है और सर्वेक्षण के निष्कर्षों में यथार्थता पनपने की आशा अधिक हो जाती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम पहले से ही इस बात का अनुमान लगा लें कि सर्वेक्षण-कार्य में हमें वास्तव में क्या और कितना करना है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सर्वेक्षण के सम्भावित परिणामों (results) या निष्कर्षों के सम्बद्ध में हम पहले से ही अनुमान लगा लें। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि सर्वेक्षण के विषय के किसी भी पक्ष या पहलू के सम्बन्ध में हमारे मस्तिष्क में कोई गलत धारणा या अस्पष्टता किसी भी रूप में न हो। अनेक सर्वेक्षण-कार्य विषय की अस्पष्टता तथा क्षेत्र की असीमितता के कारण असफल हो जाते हैं। एक ही विषय के असंख्य पक्ष हो सकते हैं और उन सबके विषय में अनन्त काल तक अध्ययन किया जा सकता है, पर ऐसा करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः उचित यही है कि एक विषय के किस पक्ष या पक्षों का हमें सर्वेक्षण करना है यह हम पहले से ही निश्चित कर लें ताकि उन्हीं पक्षों पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके और 'केवल' उन्हीं पक्षों से सम्बन्धित तथ्यों या आँकड़ों का संकलन किया जाए। ऐसा न करने पर समय, धन तथा परिश्रम का केवल अपव्यय करके जिन तथ्यों या आँकड़ों के पहाड़ का संकलन हम करते हैं वह हमें किसी भी निश्चित परिणाम तक पहुँचाने में सफल नहीं होता है। श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने उचित ही लिखा है कि "इससे बढ़कर अपव्ययी व निष्फल अथवा अनुभवहीन अनुसन्धानकर्त्ता का लक्षण और कुछ नहीं हो सकता कि आँकड़ों का उत्साहपूर्वक संकलन इस सिद्धान्त के आधार पर करना आरम्भ कर दिया जाए कि यदि केवल पर्याप्त तथा विभिन्न प्रकार के आँकड़ों को एकत्रित कर लिया जाए तो उनके परिणामों के आधार पर किसी भी या समस्त प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है।"[3] वास्तव में इसका उल्टा ही होता है। अतः आँख मूँदकर सभी

3. "Nothing is more wasteful and futile, or more characteristic of the inexperienced researcher than the tendency to engage in an enthusiastic gathering of data on the theory that, if only enough and sufficiently varied data are collected, any or all questions can be answered from the results."—George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans, Green and Co., New York, 1951, p. 36.

प्रकार के आँकड़ों को एकत्रित करने का प्रलोभन त्यागकर अध्ययन-क्षेत्र को परिसीमित करना अति आवश्यक है।

उसी प्रकार जिस विषय का हमें सर्वेक्षण करना है उसकी विभिन्न इकाइयों को स्पष्ट रूप में परिभाषित करना भी बहुत जरूरी है। उदाहरणार्थ, यदि हमें श्रमिक वस्तियों का सर्वेक्षण करना है तो हमें पहले से ही यह निश्चित कर लेना पड़ेगा कि हम श्रमिक किन्हें कहेंगे और श्रमिक वस्तियों से हमारा यथार्थ तात्पर्य क्या है। क्या श्रमिक वर्ग के अन्तगत केवल उन्हीं व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाएगा जो कि किसी मिल या कारखाने में काम करते हैं अथवा उसके अन्तर्गत मेहनत मजदूरी करके रोज कमाने-खाने वाले मजदूरों को भी सम्मिलित कर लिया जाएगा ? क्या वेरोजगार व्यक्तियों की झोंपड़ियों को भी श्रमिक वस्तियों के अन्तर्गत मान लिया जाएगा अथवा नहीं ? इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर सर्वेक्षण-कर्त्ता के दिमाग में पहले से ही होना चाहिए ताकि वह उसी के अनुसार प्रश्नावली (Questionnaire) आदि बना सके।

(४) प्रारम्भिक तैय्यारियाँ
(Preliminary Preparations)

सर्वेक्षण-क्षेत्र को स्पष्टतया परिभाषित व परिसीमित करने के पश्चात् सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए कुछ प्रारम्भिक तैय्यारियाँ आवश्यक रहती हैं। इन तैय्यारियों में सर्वप्रथम आवश्यकता इस वात की है कि सर्वेक्षणकर्त्ता अपने विषय से सम्वन्धित अन्य उपलव्ध पुस्तकों आदि का अध्ययन करें जिससे कि विषय के सम्वन्ध में अधिकाधिक स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाए। इस प्रकार का अध्ययन केवल प्रारम्भिक ज्ञान के लिए ही आवश्यक नहीं है अपितु वह यह भी वताता है कि उस अध्ययन में कौनसी पद्धतियाँ सवसे उपयुक्त होंगी, प्राक्कल्पना का निर्माण प्रभावपूर्ण रूप में किस ढंग से किया जा सकता है तथा विषय के किन पक्षों पर बल देना हितकर सिद्ध होगा। श्री चार्ल्स केटरिंग (Charles F. Kettering) का मत है कि इस प्रकार का अध्ययन वास्तव में हमारे मन में कुछ पूर्वधारणाओं को पनपा देता है जो कि सर्वेक्षण-कार्य के लिए हितकर नहीं होता और इस अर्थ में विज्ञान की प्रगति को रोकता है। परन्तु श्रीमती यंग (Young) आदि आधुनिक विशेषज्ञ इस मत से सहमत नहीं हैं, उनका कथन है कि प्रारम्भिक तैय्यारियों के विना सर्वेक्षण की सफलता सदा सन्देह-युक्त ही रहती है।

प्रारम्भिक तैय्यारियों में एक और आवश्यकता यह है कि सर्वेक्षणकर्त्ता विषय से सम्वन्धित अन्य विशेषज्ञों से मिलकर उनके विचारों तथा दृष्टिकोणों से भी अपने को परिचित करें। उसी प्रकार अध्ययन-क्षेत्र में जाकर वहाँ के लोगों से अनौपचारिक तौर पर अलाप-आलोचना करके विषय के सम्वन्ध में पर्याप्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा सकती है।

प्रारम्भिक तैय्यारियों में सर्वेक्षण के दौरान में आने वाली कठिनाइयों का अनुमान कर लेना भी सम्मिलित है; इस प्रकार की कठिनाइयों का पूर्वज्ञान हो जाने से उन्हें दूर करने के उपायों के सम्वन्ध में हम पहले से ही सचेत हो जाते हैं और यह कठिनाइयाँ सर्वेक्षण-कार्य में वाधक नहीं बन पाती हैं।

प्रारम्भिक तैय्यारियों में एक और आवश्यकता इस वात की है कि हम सूचना के स्रोतों तक अपनी पहुँच के बारे में पहले से ही अनुमान लगा लें। सर्वेक्षण का

आयोजन कितना ही त्रुटिहीन क्यों न हो, यदि सूचना के स्रोतों तक हमारी पहुँच अपर्याप्त है तो सक्षर्वेण-कार्य में कदापि सफलता प्राप्त ही नहीं हो सकती अतः अपने सवक्षण-विषय से सम्बन्धित आँकड़े या सूचनाएँ हमें वास्तव में प्राप्त हो भी सकेंगे या नहीं इसका अनुमान हमें पहले से ही लगा लेना चाहिए।

(५) निदर्शन का चुनाव (Selection of Sample)

प्रारम्भिक तैय्यारियों के पश्चात् निदर्शन का चुनाव सर्वेक्षण के आयोजन का एक अनिवार्य अंग है। निदर्शन का चुनाव उन सर्वेक्षणों में और भी जरूरी है जहाँ कि हमें अनेक व्यक्तियों अथवा घटनाओं का अध्ययन करना है; अर्थात् हमारा अध्ययन-विषय एक बड़ा जनसमूह, समुदाय या वर्ग है। सर्वेक्षण में समय तथा साधन असीमित नहीं होते हैं। सीमित समय तथा साधनों को लेकर यह सम्भव नहीं होता है कि एक विराट समुदाय की सभी इकाइयों का अध्ययन किया जाए। अतः आवश्यकता इस बात की होती है कि उन समस्त इकाइयों में से बुद्धिमत्तापूर्वक व सावधानी से कुछ ऐसी इकाइयों को चुन लिया जाए जो कि समग्ररूप में सम्पूर्ण समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व कर सकें, यही निदर्शन का चुनाव है। इससे समय तथा धन दोनों की बचत होती है और साथ ही विषय के सम्बन्ध में गहन अध्ययन सम्भव होता है। पर इसके लिए इस बात की सावधानी रखनी होती है कि प्रत्येक अवस्था में प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों (samples) का ही चुनाव किया जाए क्योंकि ऐसा होने पर ही उन कुछ इकाइयों का अध्ययन करके हम सम्पूर्ण समुदाय की विशेषता के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकते तथा कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाल सकते हैं। प्रोफेसर हैमिल्टन (Hamilton) ने लिखा है कि सर्वेक्षण की बहुत-कुछ सफलता बुद्धिमत्तापूर्वक चुने गए निदर्शनों पर निर्भर करती है क्योंकि निदर्शन सर्वेक्षण के क्षेत्र को परिसीमित व सुस्पष्ट करता, व्यय को घटाता और समय तथा परिश्रम की बचत करके हमारा ध्यान केवल आवश्यक विषयों पर ही केन्द्रित करता है। इस दृष्टिकोण से निदर्शन का चुनाव अति आवश्यक हो जाता है। पर यदि निदर्शन के आधार पर अध्ययन करना है तो यह निश्चय करना भी आवश्यक है कि निदर्शन का आकार (size) क्या होगा। जिस समुदाय में समस्या से सम्बन्धित तथ्यों में अधिक एकरूपता पाई जाती है वहाँ थोड़ी-सी प्रतिनिधित्वपूर्ण इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुन लेने से ही काम चल सकता है। पर जहाँ समुदाय में भिन्नताएँ पाई जाती हैं वहाँ अधिक संख्या में निदर्शनों का चुनाव करके ही उसे प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाया जा सकता है। प्रत्येक दशा में इकाइयाँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनमें समस्त समूह की विशेषताएँ हों और जो कि सम्पूर्ण समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप में कर सकें। निदर्शन के चुनाव की अनेक पद्धतियाँ हैं जिनके विषय में हम अगले एक अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि निदर्शनों की सफलता सर्वेक्षणकर्त्ता की अपनी अन्तर्दृष्टि, दूरदर्शिता तथा प्राविधिक (technical) कुशलता पर बहुत-कुछ निर्भर करती है।

(६) बजट का निर्माण (Preparation of Budget)

प्रत्येक सर्वेक्षण में व्यय होता ही है और इस अर्थ में सर्वेक्षण धन-सापेक्ष है। परन्तु यह मानी हुई बात है कि किसी भी सर्वेक्षण पर असीमित धन व्यय नहीं

किया जा सकता अतः सर्वेक्षण की लागत को एक सीमा के अन्दर रखने की आवश्यकता सदैव ही अनुभव की जाती है। इसके लिए बजट का निर्माण आवश्यक है। एक सर्वेक्षण में, प्रोफेसर वार्नर (Warner) के अनुसार, बजट का निर्माण उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि अध्ययन-पद्धतियों का निर्धारण, क्योंकि एक संतुलित सर्वेक्षण बजट-सर्वेक्षण की सफलता का एक आधार बन जाता है और विभिन्न मदों पर उनके महत्त्व व आवश्यकता के अनुसार व्यय करने के सम्बन्ध में हमारे मार्ग-दर्शक के रूप में निरन्तर हमारे साथ रहता है। एक सर्वेक्षण पर कितना धन आवश्यक होगा यह सर्वेक्षण के क्षेत्र, प्रकृति, उद्देश्य तथा उसमें लगने वाले समय पर निर्भर रहता है और इसीलिए धन की मात्रा का निश्चय इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए करना होता है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो कई बार धन के अभाव से सर्वेक्षण-कार्य बीच में ही बन्द कर देना पड़ता है और इस प्रकार सारा परिश्रम तथा समय की बरबादी होती है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि व्यय के विषय में पूर्वानुमान करते समय मितव्ययिता (economy) से काम लिया जाता है जो कार्य आरम्भ करने के बाद आर्थिक परेशानी का कारण बन जाती है। मितव्ययिता का अर्थ खर्चों को मनमाने ढंग से इतना कम कर देना नहीं है कि जो कुछ महत्त्वपूर्ण है उसपर आवश्यक व्यय करने के लिए कुछ रह न जाए या खर्चा कम पड़ जाए। सर्वेक्षण में व्यय पुस्तकों, स्टेशनरी, कर्मचारियों का वेतन, यात्रा आदि मदों पर होता है। इस सब पर होने वाले व्यय का ठीक-ठीक अनुमान कर लेना चाहिए और कम से कम १० प्रतिशत रकम आकस्मिक खर्चों के लिए अलग से सुरक्षित रख लेनी चाहिए।

खर्च का अनुमान करने या बजट के निर्माण के लिए कोई निश्चित तरीका नहीं हो सकता, वह तो विषय की प्रकृति व तत्कालीन परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। साधारणतया समस्त योजना को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटकर प्रत्येक पर समान व्यय का अनुमान किया जाता है। वे तीन भाग इस प्रकार हैं—(अ) सर्वेक्षण की योजना तथा अनुसूची, प्रश्नावली आदि प्रपत्रों को छपवाना; (ब) अध्ययन-क्षेत्र पर जाँच करना, आँकड़े संकलित करना तथा सम्पादन-कार्य और (स) वर्गीकरण, सारिणीयन, विश्लेषण तथा रिपोर्ट का प्रकाशन। इन तीनों पर समान व्यय होगा या कम-ज्यादा इसका निर्धारण स्वयं सर्वेक्षणकर्त्ता अपनी सूझ-समझ व दूरदर्शिता के आधार पर करता है। पर प्रत्येक अवस्था में लागत का अनुमान सावधानीपूर्वक कर लेना अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होता है।

(७) समय-सूची का निर्माण
(Preparation of Time Schedule)

केवल व्यय के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु समय के सम्बन्ध में भी अनुमान लगा लेना अनुसन्धान-कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। जिस सर्वेक्षण या अनुसन्धान का उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना है उसमें समय का कोई अधिक महत्त्व नहीं होता है, फिर भी अनुसन्धानकर्त्ता असीमित व अनिश्चित काल तक अपना अध्ययन-कार्य चलाता रहे यह भी उसके लिए लाभप्रद नहीं हो सकता क्योंकि समय की दीर्घता के अनुसार व्यय का आकार भी बढ़ता जाता है और उत्साह व लगन कम होती जाती है। अतः ऐसे अनुसन्धान में भी समय के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक अनुसन्धानों में तो यह महत्त्व अत्यधिक होता है। सामाजिक समस्याओं पर सर्वेक्षण करने में यह आवश्यक होता है कि सर्वेक्षण-कार्य

निर्धारित समय के अन्दर पूर्ण हो जाए ताकि समस्या नियंत्रण से बाहर जाने से पूर्व ही उसका समाधान किया जा सके। ऐसी स्थिति में यदि सर्वेक्षण-कार्य निश्चित अवधि में पूरा नहीं होता है तो व्यावहारिक दृष्टि से सर्वेक्षण का कोई लाभ नहीं होता। उदाहरणार्थ, यदि हरिजन-कल्याण-कार्य को आयोजित करने के लिए एक समुदाय में बसे हरिजनों की अवस्थाओं का सर्वेक्षण किया जा रहा है तो यह आवश्यक है कि उस सर्वेक्षण को एक निश्चित समय के अन्दर पूरा कर दिया जाए। यदि बहुत लम्बे समय तक सर्वेक्षण चलता रहेगा तो हरिजन-कल्याण एक दूर का सपना बन जाएगा। उसी प्रकार चुनाव में जनता का झुकाव या जनमत जानने के लिए जो सर्वेक्षण किए जाते हैं वे यदि निश्चित अवधि में समाप्त न हों और सर्वेक्षण-रिपोर्ट प्राप्त होने से पूर्व ही वास्तविक चुनाव परिणाम भी घोषित हो जाए तो ऐसे सर्वेक्षण का मूल्य भला क्या रह जाता है इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। इसीलिए कभी-कभी अत्यधिक कम समय के अन्दर रिपोर्ट प्रस्तुत करने की आवश्यकता होने पर सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए तार, टेलीफोन, बेतार यंत्र (wireless set) आदि अत्यन्त तीव्र सन्देशवाहन के साधनों की भी सहायता लेनी पड़ती है।

समय का अनुमान लगाते समय सम्पूर्ण सर्वेक्षण की एक समय-सारिणी अथवा समय-सूची बना लेनी चाहिए जिसमें सर्वेक्षण के प्रत्येक क्रम अथवा चरण में लगने वाले सम्भावित समय का उल्लेख होना चाहिए। इस प्रकार समय का अनुमान लगाने के लिए पूर्वगामी सर्वेक्षण (pilot survey) अत्यन्त सहायक होते हैं। साथ ही, कुछ समय तक सर्वेक्षण-कार्य को चलाने के बाद समय का अनुमान हो ही जाता है। पर इस सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि आरम्भ में सर्वेक्षण-कार्य को हम जिस तीव्र गति से करते हैं, आगे चलकर न तो गति में तीव्रता होती है और न ही उत्साह व लगन में पहले जैसी गहनता। श्री पार्टन (Parten) ने उचित ही लिखा है, "बहुत कम लोग एक नए सर्वेक्षण-कार्य के प्रारम्भिक दिनों की तीव्रगति पर लगातार काम कर सकते हैं। बीमारी, थकावट, छुट्टियाँ, बहुत गर्म अथवा बहुत ठण्डा मौसम, कार्यकर्त्ताओं को निकालना, गलतियाँ, साधनों की पूर्ति में कमी तथा अन्य अनेक ऐसे कारक हैं जो सर्वोत्तम योजनाओं की गति को भी धीमी कर देते हैं। एक सन्तोषजनक समय-सूची (time schedule), जहाँ तक सम्भव है, इनमें से अधिकाधिक आकस्मिक घटनाओं के लिए समय हाथ में रखती है, पर साथ ही अनदेखी (unforeseen) घटनाओं के लिए भी कुछ समय निर्धारित करती है।"[4]

समय का हिसाब लगाने के लिए उसी भाँति कोई निश्चित विधि नहीं है जैसा कि व्यय सम्बन्धी अनुमान लगाने के लिए कोई निश्चित नियम प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। एक सर्वेक्षण में कितना समय लगेगा यह बहुत-कुछ जिन आँकड़ों व सूचनाओं को एकत्रित करना है उनकी प्रकृति, कार्यकर्त्ताओं की संख्या तथा कार्यक्षमता, सूचनादाताओं का सहयोग, प्रश्नावली व अनुसूची के आकार, सूचनादाताओं के भौगोलिक वितरण, सूचना भेजने, सारिणीयन, विश्लेषण व रिपोर्ट के मुद्रण की उपलब्ध

4. "Few people can continue to work at the pace established during the early days at a new job. Sickness, fatigue, holidays, extremely hot and cold weather, dismissals, errors, lack of supplies and many other factors tend to slow down the best of plans. A satisfactory time schedule takes into account as many of those contingencies as possible, but it should also show some time for the unforeseen."—Parten, *Surveys, Polls and Samples*, p. 179.

व्यवस्थाओं पर निर्भर करता है। अमेरिका की प्रसिद्ध सर्वेक्षण संस्था National Opinion Research Centre (N.O.R.C.) के अनुसार एक औसत आकार के सर्वेक्षण में छः सप्ताह से तीन महीने तक का समय सर्वेक्षण के आरम्भ से आँकड़ों के अन्तिम रूप तक पहुँचने में लगता है, दो या तीन सप्ताह अन्तिम सूचना आने तथा एक सप्ताह से एक महीने तक आँकड़ों के सारिणीयन तथा प्रतिशतों (percentages) को निकालने में लग जाता है।

(८) अध्ययन-पद्धति का चुनाव
(Selection of Method of Study)

सामाजिक सर्वेक्षण में एकाधिक अध्ययन-पद्धतियों का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। पर एक सर्वेक्षण-विशेष में हम निश्चित रूप से किस अध्ययन-पद्धति को अपनाएँगे वह सर्वेक्षण की प्रकृति व क्षेत्र, उपलब्ध धन तथा समय आदि पर निर्भर करेगा। सर्वेक्षण-कार्य आरम्भ करने से पूर्व यह भी निश्चित करना आवश्यक है कि हम सहभागी निरीक्षण पद्धति (participant observation method) अथवा असहभागी निरीक्षण पद्धति को अपनाएँगे, सूचना प्राप्ति के लिए अनुसूची (Schedule) का प्रयोग किया जाएगा अथवा प्रश्नावली (Questionnaire) का। उसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन-अध्ययन पद्धति को अपनाया जाएगा अथवा नहीं, साक्षात्कार की प्रकृति व प्रकार क्या होगा, इन सब बातों को भी पहले से ही निश्चित कर लेना लाभप्रद सिद्ध होता है। पद्धतियों के चुनाव में कभी-कभी काफी समय लग जाता है, पर इसे समय की बर्बादी नहीं मानना चाहिए अपितु इससे आगे चलकर अनेक परेशानियों से हम बच जाते हैं और बार-बार एक पद्धति को छोड़ दूसरे को अपनाने का निराशाजनक प्रयोग हमें नहीं करना पड़ता है। अध्ययन-पद्धति ऐसी चुनी जानी चाहिए जिसके द्वारा थोड़े प्रयास और धन से अधिक-से-अधिक सूचनाएँ प्राप्त की जा सकें। सूचनादाता यदि बहुत दूर-दूर और बिखरे हुए रहते हैं, पर साथ ही शिक्षित हैं तो प्रश्नावली का उपयोग अधिक उपयुक्त है। पर यदि वे अनपढ़ हैं तो प्रत्येक दशा में अनुसूची या साक्षात्कार-विधि का प्रयोग करना होगा। उसी प्रकार यदि स्वच्छता, आवास आदि का सर्वेक्षण करना है तो निरीक्षण पद्धति का प्रयोग लाभप्रद होगा। पर यदि प्रथा, परम्परा, सार्वजनिक उत्सव आदि का सर्वेक्षण करना है तो सहभागी निरीक्षण पद्धति अत्यन्त फलप्रद सिद्ध होगी। अतः स्पष्ट है कि बुद्धिमत्तापूर्वक चुनी हुई अध्ययन-पद्धति सर्वेक्षण की सफलता का एक निश्चित आधार बन सकती है।

(९) अध्ययन के उपकरणों का निर्माण
(Preparation of Study Tools)

अध्ययन-पद्धतियों का चुनाव कर लेने के पश्चात् उनसे सम्बन्धित उपकरणों व प्रपत्रों का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है। चाहे अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं ही सूचना एकत्रित करने का उत्तरदायित्व संभाले अथवा उसे अन्य कार्यकर्त्ताओं में भी बाँट दे, प्रत्येक दशा में अध्ययन के उपकरणों का निर्माण करना ही पड़ेगा। इन उपकरणों में अनुसूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार निर्देशिका (interview guide) आदि प्रमुख हैं। जब तक इनसे सम्बन्धित प्रपत्रों को सावधानीपूर्वक व वैज्ञानिक ढंग से तैयार न कर लिया जाएगा तब तक सर्वेक्षण-कार्य को व्यवस्थित ढंग से संचालित नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रश्नावली या अनुसूची का निर्माण बहुत संतुलित,

स्पष्ट तथा सरल भाषा में होना चाहिए। प्रश्न यथासम्भव कम किन्तु विषय के महत्त्व-पूर्ण पक्षों को स्पष्ट करता हुआ होना चाहिए। साथ ही प्रश्न ऐसे होने चाहिएँ जिनका उत्तर संक्षेप में, और संख्यात्मक रूप में व बिना पक्षपात के दिया जा सके। सम्बन्धित प्रश्न एक-दूसरे के पूरक होने चाहिएँ जिससे कि संकलित तथ्यों में क्रम-बद्धता बनी रहे। प्रश्नावली या अनुसूची को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करना भी आवश्यक है। अध्ययन के इन उपकरणों का निर्माण करने में किसी भी प्रकार की लापरवाही नहीं बरतनी चाहिए क्योंकि सर्वेक्षण-कार्य को संतुलित ढंग से आगे बढ़ाने के लिए और सफलता के स्तर तक पहुँचाने के लिए इन उपकरणों का सही निर्माण आवश्यक है।

(१०) कार्यकर्त्ताओं का चुनाव तथा प्रशिक्षण
(Selection and Training of Investigators)

बहुधा सर्वेक्षण-कार्य में एकाधिक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। सर्वेक्षण की प्रक्रिया में इन कार्यकर्त्ताओं का भी अत्यधिक महत्त्व होता है। सर्वेक्षण-कार्य की सफलता बहुत-कुछ इन कार्यकर्त्ताओं की ईमानदारी, योग्यता, लगन तथा परिश्रम करने की इच्छा पर निर्भर करती है। अतः इन कार्यकर्त्ताओं का चुनाव सर्वेक्षण के आयोजन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अध्ययन-क्षेत्र में जाकर सूचनाएँ एकत्रित करने के लिए पर्याप्त धैर्य, लगन, परिश्रम व दूरदृष्टि की आवश्यकता होती है इसीलिए ऐसे कार्यकर्त्ताओं का चुनाव करना चाहिए जिनमें कि ये गुण हैं और जो कि अपने विषय में कुछ-न-कुछ अनुभवी हैं। उदाहरणार्थ, सांख्यिकीय (statistical) कार्य के लिए ऐसे कुशल कार्यकर्त्ताओं का चुनाव करना चाहिए जो कि गणित में योग्यता व रुचि रखते हों तथा जिन्हें सांख्यकीय कार्य का अनुभव हो। इतना ही नहीं, सर्वेक्षण-कार्य में सभी कार्यकर्त्ताओं को एक सामान्य लक्ष्य की ओर एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए आगे बढ़ना होता है। इसके लिए कार्यकर्त्ताओं के उचित प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करनी होती है। किस कार्यकर्त्ता को क्या और किस ढंग से करना है, किस प्रकार कार्य को आरम्भ करके आगे बढ़ना है, और किस तरह काम करने पर अधिकतम सफलता की आशा की जा सकती है, इन समस्त विषयों के सम्बन्ध में कार्यकर्त्ताओं को उचित ढंग से प्रशिक्षित करना परमावश्यक है। स्मरण रहे कि ये कार्यकर्त्ता ही सूचना व आँकड़ों को एकत्रित करते हैं, उनका सम्पादन, वर्गीकरण व सारिणीयन करने तथा उसीके आधार पर उनका विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। अतः वे जितने अधिक योग्य तथा प्रशिक्षित होंगे, सर्वेक्षण की यथार्थता (exactness) उतनी ही अधिक होगी। कार्यकर्त्ताओं के चुनाव व प्रशिक्षण में ढील डालने पर सर्वेक्षण का एक विकृत रूप प्रगट हो सकता है।

(११) सर्वेक्षण का संगठन
(Organization of Survey)

सम्पूर्ण सर्वेक्षण-कार्य को सुचारु ढंग से संचालित करने के लिए एक उचित संगठन की आवश्यकता होती है। बड़े सर्वेक्षण में प्रायः एक केन्द्रीय कार्यालय स्थापित करना पड़ता है जहाँ कि सर्वेक्षण सम्बन्धी नीति का निर्धारण होता है और जहाँ से सर्वेक्षण-कार्य का संचालन किया जाता है। साथ ही, सर्वेक्षण में विभिन्न प्रकार के कार्यकर्त्ताओं की सहायता लेनी पड़ती है जिनमें कि साधारण लिपिकों (clerks) से लेकर क्षेत्र-कार्यकर्त्ता (field staff) तथा सारिणीयन व अन्य विश्लेषणात्मक कार्य

करने वाले लोग सम्मिलित होते हैं। इनका उचित ढंग से संगठन करना भी सर्वेक्षण की सफलता के लिए आवश्यक होता है। सर्वेक्षण-कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ाने के लिए प्रायः एक सर्वेक्षण समिति का भी निर्माण किया जाता है। यह समिति सर्वेक्षण-कार्य के विभिन्न हितों का निर्धारण, संचालन तथा नियंत्रण करती है। सम्बन्धित विभागों या सरकार से सम्बन्ध स्थापित करके आवश्यक सूचनाएँ, आर्थिक सहायता आदि प्राप्त करने तथा सर्वेक्षण-कार्य को प्रारम्भ से अन्त तक सुसंचालित करने की पूर्ण जिम्मेदारी इस समिति की होती है। इस समिति में एक सर्वेक्षण-निर्देशक (Survey Director), एक प्रमुख सर्वेक्षक (Chief Investigator) तथा कुछ विभागीय (departmental) प्रतिनिधि होते हैं। यह समिति सर्वेक्षण-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए भिन्न-भिन्न उपसमितियाँ जैसे कार्यक्रम कमेटी, बजट कमेटी, निदर्शन (sampling) कमेटी, निरीक्षण कमेटी, तथ्य-विश्लेषण कमेटी, रिपोर्ट कमेटी आदि बना देती है। इस प्रकार का संगठन सर्वेक्षण-कार्य का एक ठोस आधार बना देता है।

(१२) पूर्व-परीक्षण तथा पूर्वगामी सर्वेक्षण (Pre-test and Pilot Survey)

सामाजिक सर्वेक्षण करने का काम एक अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और इसके लिए सुनिश्चित आयोजन की आवश्यकता है। इस आयोजन (planning) के प्रत्येक स्तर पर अनुसन्धानकर्त्ता को इस बात का निरन्तर ध्यान रखना पड़ता है कि कोई भी इस प्रकार का जोखिम (risk) न लिया जाए जिससे कि वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुँचने में कोई सन्देह हो। इसीलिए उसे सर्वेक्षण-कार्य के आरम्भ से ही हर पग पर सतर्कता बरतते हुए कुछ ऐसे उपायों को अपनाना पड़ता है जिससे कि सर्वेक्षण-कार्य में अधिकाधिक शुद्धता व सफलता प्राप्त करना सम्भव हो। पूर्व-परीक्षण और पूर्वगामी सर्वेक्षण ऐसे ही दो उपाय हैं जिनके द्वारा अध्ययन-कार्य के लिए चुने गए उपकरणों की उपयुक्तता और कार्यकर्त्ताओं की योग्यता व सामर्थ्य की परीक्षा वास्तविक सर्वेक्षण-कार्य आरम्भ होने से पहले ही कर ली जाती है ताकि आगे चलकर या बीच में किसी निराशाजनक असफलता या त्रुटि का सामना न करना पड़े। पूर्व-परीक्षण तथा पूर्वगामी सर्वेक्षण एक प्रकार का रिहर्सल होता है जिससे कि कार्यकर्त्ताओं को व्यावहारिक शिक्षा तो मिलती ही है, पर साथ ही सर्वेक्षण के आयोजन तथा उपकरणों में जो दोष या त्रुटि है एवं सर्वेक्षण-कार्य के दौरान जो कठिनाइयाँ आ सकती हैं उनके बारे में भी स्पष्ट अनुमान हो जाता है। इसीलिए सम्पूर्ण सर्वेक्षण की प्रक्रिया में पूर्व-परीक्षण तथा पूर्वगामी सर्वेक्षण का उतना ही महत्त्व है जितना कि एक सफल नाटक को प्रदर्शित करने से पूर्व नाटक के रिहर्सल का। अतः इनके विषय में जान लेना परम आवश्यक होगा। इस अध्याय में इन दोनों की विवेचना हम अलग-अलग करेंगे।

पूर्व-परीक्षण (Pre-testing)

पूर्व-परीक्षण क्या है ? (What is Pre-testing ?)

श्री ऐकॉफ (Ackoff) के अनुसार, "अनुसन्धान के विभिन्न पक्षों, यंत्रों या उपकरणों अथवा योजनाओं के विकल्पों (alternatives) का एक नियंत्रित अध्ययन

ही पूर्व-परीक्षण है जिसका कि उद्देश्य यह निश्चित करना होता है कि कौनसा विकल्प सबसे अधिक कुशल है।"[5] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि पूर्व-परीक्षण वह प्रक्रिया, तरीका अथवा आरम्भिक अध्ययन-कार्य है जिसके द्वारा हम इस बात की पहले से ही जाँच कर लेते हैं कि अपने अध्ययन-कार्य की जो रूपरेखा हमने बनाई है और जिन पद्धतियों तथा यंत्रों (उपकरणों) को काम में लाने जा रहे हैं वे वास्तव में ठीक भी हैं अथवा नहीं और उनकी सहायता से हम वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए आवश्यक सामग्री या तथ्यों व सूचनाओं को एकत्रित करने में सफल होंगे भी या नहीं। हम अपने पूर्व-ज्ञान और अनुभव के आधार पर ही सर्वेक्षण-कार्य की रूपरेखा तैयार करते हैं और तथ्यों को संकलित करने के लिए कुछ पद्धतियों व प्रविधियों को भी चुनते हैं। पर हो सकता है कि व्यावहारिक क्षेत्र में इसे लागू करने पर हमें यह पता चले कि इनमें से कुछ तो बिल्कुल ही बेकार के हैं, कुछ में थोड़ा-बहुत सुधार करने से ही काम चल सकता है और कुछ के स्थान पर दूसरे विकल्पों (alternatives) को चुनना अधिक लाभदायक होगा। पूर्व-परीक्षण की प्रक्रिया में यही सब बातें आ जाती हैं जो कि हम वास्तविक अध्ययन-कार्य आरम्भ करने से पहले ही कर लेते हैं। इस अर्थ में पूर्व-परीक्षण वह तरीका है जिसके द्वारा हम अपने अध्ययन के लिए तैयार की गई योजना, पद्धति व यंत्रों (जैसे अनुसूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार गाईड आदि) की उपयुक्तता की परीक्षा करते हैं और यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि अध्ययन के लिए किस प्रकार के यंत्रों अथवा पद्धतियों का प्रयोग सबसे अधिक लाभदायक होगा; किन यंत्रों, पद्धतियों आदि में क्या सुधार करना आवश्यक होगा तथा किन चीजों को त्यागकर उनके स्थान पर दूसरों को चुनना उचित होगा। इस विधि के द्वारा सर्वेक्षण-कार्य में आगे आने वाली परिस्थितियों में अपने पद्धतिशास्त्र की सफलता की परीक्षा पहले से ही कर ली जाती है।

अतः हम कह सकते हैं कि पूर्व-परीक्षण वह विधि है जिसमें वास्तविक अध्ययन-कार्य से पहले ही पद्धतियों तथा प्रविधियों को बहुत छोटे पैमाने में लागू करके उनके दोष-त्रुटियों को मालूम करने का प्रयत्न किया जाता है ताकि आगे चलकर कोई जोखिम न उठाना पड़े। पूर्व-परीक्षण के अन्तर्गत केवल पद्धतियों एवं प्रविधियों की ही नहीं अपितु निदर्शनों (samples) तथा तथ्यों या सूचनाओं के स्रोतों की यथार्थता (exactness) की भी जाँच की जाती है जिससे कि यह पता चल जाए कि निदर्शनों का चुनाव ठीक से हुआ है या नहीं, एवं जिन स्रोतों से हम सूचनाओं को एकत्रित करेंगे वे निर्भरयोग्य हैं अथवा नहीं। इस अर्थ में, पूर्व-परीक्षण बहुत-कुछ कालेजों में होने वाले कालेजस्तर की परीक्षाओं (home examinations) की भाँति होता है जिसके द्वारा यह अनुमान हो जाता है कि कौन-कौनसे विद्यार्थी विश्वविद्यालय की परीक्षा में भी सफल रहेंगे।

पूर्व-परीक्षण कैसे ?

(How to Pre-test ?

पूर्व-परीक्षण में सम्पूर्ण अध्ययन-क्षेत्र को उपयोग में नहीं लिया जाता है बल्कि पद्धतियों एवं प्रविधियों को एक सीमित क्षेत्र पर ही लागू करके यह देख लिया जाता है कि वे ठीक हैं अथवा नहीं। डा० वाजपेयी ने लिखा है कि पूर्व-

5. "The pre-test is a controlled study of alternative research specifications, instruments or plans in order to determine which alternative is the most efficient."—R. L. Ackoff, *The Design of Social Research*, p. 340.

परीक्षण में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि जो भी निदर्शन (sample) चुना जाए वह वास्तविक निदर्शन (sample) का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके। अर्थात् हमने जिन लोगों को वास्तविक रूप से अध्ययन करने के लिए चुना है उनमें से ही कुछ ऐसे लोगों को पूर्व-परीक्षण के लिए चुनना चाहिए जो कि सम्पूर्ण समूह की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व कर सकें। इस प्रकार चुने हुए कुछ व्यक्तियों पर ही पद्धति व प्रविधियों को लागू करके देखना होगा कि वे सन्तोषजनक हैं अथवा नहीं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इन चुने हुए व्यक्तियों से सूचना एकत्रित करने के लिए जो भी प्रश्नावली या अनुसूची हम प्रयोग में लाएँ वह वही होनी चाहिए जो असली सर्वेक्षण में हमें प्रयोग करनी है। यदि पूर्व-परीक्षण के द्वारा हमें अपने सर्वेक्षण की योजना अथवा पद्धति और प्रविधि (अनुसूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार सारिणी) में कोई दोष या त्रुटि दिखाई दे तो उसे तुरन्त ठीक कर लेना चाहिए। यदि इसके कारण कोई बहुत बड़ा संशोधन और परिवर्तन किया गया हो तो फिर से उसकी परीक्षा आवश्यक होगी। हो सकता है कि पूर्व-परीक्षण के फलस्वरूप हमें कुछ पद्धतियों व प्रविधियों को बिलकुल त्याग देना होगा और उनके स्थान पर दूसरों को ग्रहण करना होगा। उस अवस्था में भी नई पद्धति या प्रविधियों की उपयुक्तता की परीक्षा फिर से कर लेनी चाहिए। मामूली संशोधन या सुधारों की फिर से परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार पूर्व-परीक्षण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिए।

पूर्व-परीक्षण की उपयोगिता
(Utility of Pre-testing)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट ही है कि पूर्व-परीक्षण की अपनी कुछ उपयोगिताएँ हैं जिन्हें कि हम क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) पूर्व-परीक्षण अनेक विकल्पों (alternatives) के बीच सबसे उपयुक्त को चुनने में मदद करता है। किसी भी सर्वेक्षण के लिए अनेक सम्भावित पद्धतियाँ, उपकरण तथा यंत्र आदि हो सकते हैं। उनमें से कुछ को हम अपनी समझ, सूझ या अनुभव के आधार पर अपने अध्ययन के लिए चुन लेते हैं अर्थात् अपने अध्ययन में उन्हें उपयोग में लाने की बात सोचते हैं। पर हो सकता है कि व्यावहारिक तौर पर जो सबसे अधिक उपयुक्त है, उसे हमने नहीं चुना है। पूर्व-परीक्षण हमारी इस गलती को पकड़ लेता है और हमें उसके स्थान पर सर्वोत्तम विकल्प को चुनने में एवं अनावश्यकों को त्यागने में हमारी मदद करता है।

(२) पूर्व-परीक्षण से हमें यह भी पता चल जाता है कि कौनसी पद्धति या उपकरण में थोड़ा-बहुत संशोधन या सुधार करने से वह दोषरहित हो जाएगा। अर्थात् पूर्व-परीक्षण हमें हमारे दोष-त्रुटियों से अवगत करता है और हमें यह मौका देता है कि हम उन्हें पहले ही सुधार लें।

(३) पूर्व-परीक्षण हमें तथ्यों के उन स्रोतों के प्रति भी जागरूक कर देता है जो निर्भरयोग्य नहीं हैं। इससे बेकार तथ्यों के संकलन से हम बच जाते हैं और हमारे अध्ययन-कार्य में यथार्थता पनपती है।

(४) पूर्व-परीक्षण हमें सर्वेक्षण के अनेक जोखिम (risk) से बचा देता है और सर्वेक्षण-कार्य को सफलता की ओर ले जाने में हमारी मदद करता है। सर्वेक्षण की

सफलता उचित और निर्भरयोग्य पद्धतियों, प्रविधियों तथा दोषरहित उपकरणों पर निर्भर करती है। पूर्व-परीक्षण से हमें इनकी कमियाँ पता लग जाती हैं और हम वास्तविक सर्वेक्षण-कार्य में कूदने से पहले ही उन कमियों को दूर कर सकते हैं।

(५) पूर्व-परीक्षण द्वारा हम इस बात का भी अन्दाजा लगा सकते हैं कि जिन अध्ययन-उपकरणों (प्रश्नावली, अनुसूची आदि) का प्रयोग हम कर रहे हैं वे वास्तविक रूप में कितने उपयोगी हैं और उनके द्वारा किस प्रकार और किस सीमा तक तथ्यों को एकत्रित करना हमारे लिए सम्भव होगा। इस बात का अनुमान लग जाने से हम उसी के अनुसार अध्ययन-कार्य में अपने प्रयत्नों को हेरफेर कर सकते हैं जिससे कि वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना सम्भव हो।

(६) पूर्व-परीक्षण में इस बात की भी जाँच हो जाती है कि हमने जिस तरीके से एवं जितनी संख्या में निदर्शनों (samples) को चुना है, वे ठीक व पर्याप्त हैं अथवा नहीं। यदि नहीं तो हम उन्हें फिर से किसी अन्य पद्धति के अनुसार पर्याप्त संख्या में चुन सकते हैं। सर्वेक्षण-कार्य कितना वैज्ञानिक होगा वह इस बात पर निर्भर करता है कि निदर्शनों का चुनाव कितना सही है। पूर्व-परीक्षण से इस बात का पता चल जाता है।

(७) पूर्व-परीक्षण हमें इस बात के लिए भी तैयार करता है कि हम अपनी पद्धतियों, उपकरणों तथा यंत्रों को किस भाँति काम में लाकर सर्वोत्तम लाभ उठा सकते हैं। पूर्व-परीक्षण के दौरान हम अनुसूची, प्रश्नावली आदि में अन्तर्निहित भाव को अच्छी तरह समझ जाते हैं और फिर उनको सही ढंग से काम में ला सकते हैं।

संक्षेप में, हम श्री ऐकॉफ (Ackoff) के शब्दों में कह सकते हैं कि "पूर्व-परीक्षण हमारे अध्ययन के पद्धतिशास्त्र की उपयुक्तता एवं दोष-त्रुटियों के समझने की वह विधि है जो अनुसन्धान की रचना से सम्बन्धित मौलिक तथा आधारभूत ज्ञान प्रदान करता है।"[6]

पूर्वगामी सर्वेक्षण
(Pilot Survey)

पूर्वगामी सर्वेक्षण क्या है ?
(What is Pilot Survey ?)

पूर्वगामी सर्वेक्षण को **'अग्रगामी सर्वेक्षण'** अथवा **'अग्रिम सर्वेक्षण'** भी कहते हैं। इसी से इस प्रकार के सर्वेक्षण का अर्थ भी बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। अग्रगामी या पूर्वगामी का साहित्यिक अर्थ है आगे-आगे चलने वाला। पूर्वगामी सर्वेक्षण भी वास्तविक या मूल-सर्वेक्षण के आगे किया जाता है।

श्री ऐकॉफ (Ackoff) ने लिखा है कि एक अनुसन्धान के समस्त व्यावहारिक पक्षों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से मूल-सर्वेक्षण के पहले अत्यन्त छोटे पैमाने में जो सर्वेक्षण किया जाता है उसे पूर्वगामी सर्वेक्षण कहते हैं।

किसी भी बड़े सर्वेक्षण-कार्य के अन्धकार में एकाएक नहीं कूदा जाता क्योंकि इससे भविष्य में अनेक प्रकार के जोखिमों (risks) को उठाना पड़ता है। इनसे बचने के लिए वास्तविक या मूल सर्वेक्षण-कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व अपने अध्ययन-क्षेत्र

6. "Pre-test is a methodological proving ground which is capable of yielding basic and fundamental knowledge of design operation."—*Ibid.*, p. 344.

एव अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए, कार्यकर्त्ताओं को उनके कार्य के लिए रिहर्सल दिलवाने के लिए, सर्वेक्षण के आयोजन में दोष-त्रुटियों को जानने के लिए एवं सर्वेक्षण-कार्य में आने वाली व्यावहारिक कठिनाइयों से परिचित होने के लिए सर्वेक्षणकर्त्ता अध्ययन-क्षेत्र में जाकर कुछ निदर्शनों (samples) को लेकर अत्यन्त छोटे पैमाने में एक सर्वेक्षण करता है। इसी को पूर्वगामी सर्वेक्षण कहते हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि—अध्ययन-विषय तथा अध्ययन-स्थल की समस्त वास्तविकताओं एवं भावी कठिनाइयों से परिचित होने के लिए वास्तविक या मूल-सर्वेक्षण से पूर्व जो लघु सर्वेक्षण किया जाता है, उसी को पूर्वगामी सर्वेक्षण कहते हैं।

किन परिस्थितियों में पूर्वगामी सर्वेक्षण आयोजित किया जाना चाहिए
(When to arrange a Pilot Survey)

पूर्वगामी सर्वेक्षण करने में कुछ अतिरिक्त धन, समय तथा जन-शक्ति व्यय होती है। इसीलिए प्रत्येक सर्वेक्षण के पूर्व पूर्वगामी सर्वेक्षण नहीं किया जाता, अपितु कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही इसका आयोजन किया जाना चाहिए। वे परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) पूर्वगामी सर्वेक्षण का आयोजन उस अवस्था में अवश्य करना चाहिए जब कि मूल-अध्ययन या सर्वेक्षण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उसके विषय में कोई निश्चित अनुमान लगाना कठिन प्रतीत हो रहा है। बड़े अध्ययन-कार्य में पूर्वगामी सवक्षण परमावश्यक है।

(२) पूर्वगामी सर्वेक्षण उस अवस्था में भी आयोजित किया जाना चाहिए जब कि अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में एक आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। किसी भी आधार के अभाव में सर्वेक्षण-कार्य कदापि सफल नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में पूर्वगामी सर्वेक्षण के द्वारा प्रारम्भिक आधार को ढूंढ़ना आवश्यक हो जाता है।

(३) जब सर्वेक्षणकर्त्ता को यह मालूम करने की आवश्यकता हो कि अध्ययन को किन-किन दिशाओं में मोड़ने से वैज्ञानिक निष्कर्षों तक पहुँचना सरल होगा, उस परिस्थिति में भी पूर्वगामी सर्वेक्षण को आयोजित करना उसके लिए आवश्यक होगा।

(४) उसी प्रकार जब सर्वेक्षणकर्त्ता को अधिक सफलतापूर्वक व प्रभावपूर्ण ढंग से सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए सूचनादाताओं से परिचित होने, उनके विचार, भावनाओं, पसन्द व नापसन्द को जानने की जरूरत होती है उस अवस्था में भी पूर्वगामी सर्वेक्षण का आयोजन किया जाना चाहिए।

(५) ऐसे अनेक सर्वेक्षण होते हैं जिनको करने के लिए सरकार या अन्य संस्थाओं द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है और इस सहायता को प्राप्त करने के लिए उस संस्थान को न केवल प्रस्तावित सर्वेक्षण की एक रूपरेखा भेजनी होती है अपितु खर्च तथा समय के सम्बन्ध में भी एक अनुमान पेश करना होता है। ऐसी परिस्थिति में भी पूर्वगामी सर्वेक्षण का आयोजन परमावश्यक हो जाता है क्योंकि इस प्रकार के सर्वेक्षण से अध्ययन-विषय तथा अध्ययन-स्थल के सम्बन्ध में एक प्रारम्भिक

ज्ञान के साथ-साथ यह भी अनुमान लग जाता है कि मूल सर्वेक्षण-कार्य में कितना समय तथा धन खर्च होगा।

पूर्वगामी सर्वेक्षण की प्रकृति व प्रकार
(Nature and Types of Pilot Survey)

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अपने अध्ययन-विषय तथा अध्ययन-स्थल के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो सर्वेक्षण किया जाता है उसे पूर्वगामी सर्वेक्षण कहते हैं। किसी भी बड़े अध्ययन-कार्य को आरम्भ करने से पूर्व इस प्रकार का सर्वेक्षण बहुत ही सादे व सरल ढंग का तथा आरम्भिक प्रकृति का होता है। अध्ययन-स्थल में यूँ ही घूम-फिरकर, समुदाय के जीवन सम्बन्धी सामान्य बातों को देखकर और लोगों से अनौपचारिक (informal) बातचीत करके इस प्रकार का सर्वेक्षण किया जाता है।

पूर्वगामी सर्वेक्षण मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) अन्वेषणात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण (Exploratory Pilot Survey)

(२) अनुमानात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण (Estimative Pilot Survey)

इन दोनों के विषय में अब हम अलग-अलग विवेचना करेंगे।

(१) **अन्वेषणात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण** (Exploratory Pilot Survey) का उद्देश्य घटनाओं के कारणों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण द्वारा सर्वेक्षक यह जानने का प्रयत्न करता है कि भिन्न-भिन्न दशाओं में अध्ययन को किन-किन दिशाओं में मोड़ने से लाभ हो सकता है अथवा किन-किन प्रेरकों को लागू करने से वास्तविक सूचनाएँ प्राप्त करने की सम्भावनाएँ बढ़ जाएँगी। निदर्शनों (samples) आदि के सफल चुनाव के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्वेषणात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है।

(२) **अनुमानात्मक पूर्वगामी सर्वेक्षण** (Estimative Pilot Survey) अध्ययन-विषय तथा क्षेत्र से सम्बन्धित सभी बातों का प्रारम्भिक अनुमान लगाने के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार के सर्वेक्षण से यह अनुमान लग जाता है कि सर्वेक्षण-कार्य में कितना समय तथा धन खर्च होगा, किस समय निरीक्षण करना उचित होगा और किस समय लोगों से साक्षात्कार करना। इसी प्रकार अन्य सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में पूर्व-अनुमान हो जाने से धन, समय तथा श्रम किसी की भी बर्बादी नहीं होती है।

पूर्वगामी सर्वेक्षण की उपयोगिताएँ
(Utilities of Pilot Survey)

इस प्रकार के सर्वेक्षण की प्रकृति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वगामी सर्वेक्षण की अपनी कुछ उपयोगिताएँ या लाभ हैं जिन्हें कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) पूर्वगामी सर्वेक्षण हमें अपने अध्ययन-विषय व अध्ययन-क्षेत्र के सम्बन्ध में वह आधारभूत प्रारम्भिक ज्ञान प्रदान करता है जिससे कि सर्वेक्षण का आयोजन सफलतापूर्वक करना हमारे लिए सरल हो जाता है।

(२) पूर्वगामी सर्वेक्षण से अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में जो प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त होता है उससे अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित एक कार्यनिर्वाही या कामचलाऊ प्राक्कल्पना (उपकल्पना) का निर्माण करना सरल हो जाता है।

(३) पूर्वगामी सर्वेक्षण से हमें स्पष्ट रूप से यह पता चल जाता है कि हमने अपने अध्ययन के जिन लक्ष्यों का निर्धारण किया है उनकी प्राप्ति व्यावहारिक रूप से सम्भव है अथवा नहीं। बहुधा ऐसा भी होता है कि हम सैद्धान्तिक तौर पर जिन उद्देश्यों या लक्ष्यों को निश्चित करते हैं, उनकी प्राप्ति वास्तविक रूप में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर नहीं हो सकती। उस अवस्था में अध्ययन-कार्य आरम्भ करने के काफी बाद हमें अपना कार्य बीच में ही छोड़ देना पड़ता है और काफी धन, समय तथा शक्ति बेकार चली जाती है। पूर्वगामी सर्वेक्षण इस सम्भावना को बहुत कम कर देता है।

(४) पूर्वगामी सर्वेक्षण कर लेने से समुदाय की प्रकृति व क्षेत्रीय विशेषताओं के सम्बन्ध में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है उसके आधार पर निदर्शन की प्रकृति तथा आकार को निश्चित करने में अत्यन्त सहायता मिलती है।

(५) पूर्वगामी सर्वेक्षण से सूचनाओं अथवा तथ्यों के स्रोतों की खोज हो जाती है और हमें यह पता चल जाता है कि सम्भवतः किन-किन स्रोतों से हमें किस-किस प्रकार के तथ्य प्राप्त हो सकेंगे। सर्वेक्षण की सफलता तथ्यों के निर्भरयोग्य स्रोतों पर बहुत-कुछ निर्भर करती है।

(६) पूर्वगामी सर्वेक्षण कर लेने से सूचनादाताओं का प्रारम्भिक परिचय मिल जाता है और हमें उनके विचार, आदर्श, पसन्द और नापसन्द का भी अन्दाजा हो जाता है। इससे साक्षात्कार आदि के द्वारा उनसे सूचना एकत्रित करने में बड़ी मदद मिलती है। साथ ही, यह पता चल जाता है कि किस समय निरीक्षण करना उचित होगा और किस समय लोगों से साक्षात्कार (interview) करना।

(७) मूल सर्वेक्षण-कार्य को ठीक ढंग से करने के लिए कितना समय, धन तथा जन-शक्ति (man-power) खर्च होगी, इसका भी अनुमान पूर्वगामी सर्वेक्षण से लग जाता है। धन और समय का अभाव भी एक सर्वेक्षण-कार्य को बीच में रोक देने को बाध्य करता है। पूर्वगामी सर्वेक्षण इस सम्भावना को कम करता है।

(८) पूर्वगामी सर्वेक्षण की एक और उल्लेखनीय उपयोगिता यह है कि वास्तविक सर्वेक्षण के समय आने वाली कठिनाइयों का ज्ञान पूर्वगामी सर्वेक्षण से हो जाता है और हम उन कठिनाइयों का सामना करने के लिए पहले से ही अपने को तैयार कर सकते हैं।

(९) पूर्वगामी सर्वेक्षण से कार्यकर्त्ताओं को उस क्षेत्र विशेष में काम करने का व्यावहारिक प्रशिक्षण मिल जाता है और उनकी झिझक जाती रहती है। साथ ही कार्यकर्त्ताओं और समुदाय के लोगों के बीच से अपरिचितता का पर्दा हट जाता है। और ये दोनों ही बातें तथ्यों के प्रभावपूर्ण संकलन तथा सर्वेक्षण की सफलता के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार पूर्वगामी सर्वेक्षण को वास्तविक सर्वेक्षण की योजना की भिन्न-भिन्न कठिनाइयों तथा परिस्थितियों में से सफलतापूर्वक निकालकर अध्ययन की पूर्णता तक पहुँचाने के लिए आवश्यक बातों का पूर्व-ज्ञान कराने का एक प्रमुख साधन कहा जा सकता है।

पूर्व-परीक्षण और पूर्वगामी सर्वेक्षण में अन्तर
(Distinction between Pre-test and Pilot Survey)

(१) पूर्व-परीक्षण का सम्बन्ध विशेष रूप से पद्धतिशास्त्र से होता है अर्थात् पूर्व-परीक्षण के अन्तर्गत हम इस बात की जाँच करते हैं कि अपने अध्ययन-कार्य के लिए हमने जिन पद्धतियों व प्रविधियों, उपकरणों या यंत्रों को चुना है वे निर्भरयोग्य हैं अथवा नहीं, उनमें किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता है या नहीं, एवं उनमें से कुछ को त्यागकर उनसे अधिक प्रभावशाली पद्धति, उपकरण आदि को चुना जा सकता है अथवा नहीं। इसके विपरीत, पूर्वगामी सर्वेक्षण का सम्बन्ध सम्पूर्ण अध्ययन से होता है।

(२) इस अर्थ में पूर्व-परीक्षण का क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि यह प्रमुख रूप से पद्धति व प्रविधियों से सम्बन्धित होता है, जबकि पूर्वगामी सर्वेक्षण का क्षेत्र विस्तृत होता है क्योंकि यह तो स्वयं एक लघु सर्वेक्षण होता है।

(३) पूर्व-परीक्षण का उद्देश्य उपकरण, यंत्रों, निदर्शनों आदि की उपयुक्तता की जाँच करना होता है जबकि पूर्वगामी सर्वेक्षण का उद्देश्य अध्ययन-विषय तथा अध्ययन-स्थल के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करना होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्व-परीक्षण हमें सूचनाओं के स्रोतों तथा पद्धतियों व उपकरणों की त्रुटियों तथा उपयोगिताओं के सम्बन्ध में जानकारी देकर सर्वोत्तम विकल्पों (alternatives) को चुनने में सहायक सिद्ध होता है, जबकि पूर्वगामी सर्वेक्षण हमें समस्त सम्भावित परिस्थितियों व कठिनाइयों का ज्ञान कराता है और हमारी समस्त त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करके उन्हें सुधारने का अवसर प्रदान करता है।

(१३) अध्ययन-साधनों का वितरण
(Distribution of Study Means)

पूर्व-परीक्षण और पूर्वगामी सर्वेक्षण के अनुसार आवश्यक सुधार, परिवर्तन या परिवर्द्धन कर लेने के पश्चात् कार्यकर्त्ताओं को वास्तविक अध्ययन-कार्य के लिए भेजने की आवश्यकता होती है; पर वास्तविक अध्ययन-कार्य करने के लिए उन्हें आवश्यक सभी माल-मसाले सहित भेजना चाहिए। प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार निर्देशिका आदि की आवश्यक प्रतियों के अतिरिक्त पाँच या दस प्रतियाँ आकस्मिक प्रयोग के लिए प्रत्येक कार्यकर्त्ता को और अधिक देनी चाहिएँ। अध्ययन की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक कार्यकर्त्ता को स्टेशनरी, क्षेत्रीय मानचित्र, कैमरा, टेपरिकार्डर आदि उपकरण वितरित कर देने चाहिएँ ताकि आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करके आवश्यक सूचनाओं तथा आँकड़ों को एकत्रित किया जा सके।

(१४) समुदाय को तैयार करना
(Preparing the Community)

वास्तविक सर्वेक्षण-कार्य आरम्भ करने से पूर्व एक और कार्य शेष रह जाता है जिसे कर लेना अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। सर्वेक्षण-विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों की प्राप्ति एक समुदाय-विशेष में रहने वाले लोगों से होती है। अतः सूचना देने के लिए लोगों को मानसिक तौर पर तैयार करना आवश्यक हो जाता है। सर्वेक्षण-कर्त्ता उस क्षेत्र में नया होता है इसीलिए एक अपरिचित को सचना देने में विशेषकर

सामुदायिक या व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित गुप्त तथ्यों को उद्घाटित करने में समुदाय के लोग संकोच का अनुभव करते हैं या डरते हैं। अतः इस संकोच या डर को दूर करके उनमें विश्वास की भावना को जागृत करना सर्वेक्षण की सफलता के लिए परमावश्यक है। इसीलिए यह जरूरी हो जाता है कि सूचना एकत्रित करने के वास्तविक कार्य के आरम्भ होने से पूर्व सन्देशवाहन के साधनों जैसे समाचारपत्र, पत्रिका, सिनेमा, प्रदर्शनी, सार्वजनिक सभा आदि के माध्यम से समुदाय में सर्वेक्षण के अनुकूल वातावरण को उत्पन्न किया जाए। साथ ही, क्षेत्रीय नेताओं तथा प्रत्येक वर्ग के प्रभावशाली व्यक्तियों से मिलकर उन्हें सर्वेक्षण के उद्देश्य आदि से अवगत करा देना चाहिए ताकि उनके माध्यम से आम जनता में विश्वास की भावना उत्पन्न करके उनकी शक्ति या सहयोग प्राप्त करना सरल हो। सर्वेक्षण की सफलता सूचनादाताओं के सहयोग पर ही निर्भर रहती है, इस सत्य को न भूलते हुए उन्हें इसके लिए तैयार करना जरूरी हो जाता है।

(१५) तथ्यों का संकलन
(Collection of Data)

समुदाय को सर्वेक्षण-कार्य के लिए तैयार करने के पश्चात् हमारा वास्तविक सर्वेक्षण-कार्य प्रारम्भ होता है और इस स्तर का सर्वप्रथम चरण तथ्यों का संकलन होता है। इन तथ्यों का संकलन प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार, निरीक्षण आदि पद्धतियों के माध्यम से किया जाता है। सही सूचना प्राप्त करने के लिए सूचनादाताओं से मेल-मिलाप बढ़ाना आवश्यक हो जाता है ताकि वे किसी भी बात को न छिपाकर स्पष्ट व यथार्थ सूचनाएँ देने के लिए तत्पर हो जाएँ। साथ ही यह भी आवश्यक है कि कार्यकर्त्ताओं के क्रिया-कलापों पर कड़ी नजर रक्खी जाए जिससे वि वे ठीक रास्ते पर रहते हुए तथ्यों का संकलन करते रहें। उनपर समय-समय पर इस प्रकार का रचनात्मक दवाव डाला जाए कि वे सूचना-संकलन में निष्पक्ष रहकर भावनात्मक प्रभावों से बचते हुए कार्य करते रहें; इतना ही नहीं, एकत्रित सूचना की विश्वसनीयता की परीक्षा भी बीच-बीच में करते रहना चाहिए। इस प्रकार सूचनादाताओं से प्राथमिक तथ्यों (Primary data) को एकत्रित करने के अतिरिक्त सम्बन्धित सरकारी, गैर-सरकारी, व्यक्तिगत, प्रकाशित अथवा अप्रकाशित पुस्तकों, रिकार्डों, पत्र, डायरियों आदि से द्वैतीयक तथ्यों (Secondary data) को भी एकत्रित किया जाना चाहिए।

(१६) तथ्यों का सम्पादन
(Editing of Data)

तथ्यों के सम्पादन से तात्पर्य एकत्रित तथ्यों व सूचनाओं का निरीक्षण कर उनमें पाई जाने वाली कमियों को पूरा करना, गलतियों को सुधारना तथा समस्त तथ्यों को क्रमवद्ध करना होता है। उदाहरणार्थ, अनुसूची या प्रश्नावली का निरीक्षण करने पर प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ प्रश्नों के उत्तर अस्पष्ट हैं, तो कुछ के अधूरे और अन्य कुछ प्रश्नों के खाने बिना भरे ही रह गए हैं। सम्पादन के इस स्तर पर इन सभी कमियों को दूर कर दिया जाता है। थोड़ी-बहुत गलती तो सम्पादक स्वयं अपनी सूझ-बूझ व अनुभव के आधार पर ठीक कर लेता है या उत्तरों को सुधार लेता है, पर यदि उत्तर सन्देहास्पद और अधिक त्रुटिपूर्ण हैं तो पुनः वास्तविक अनुसन्धान करके उन्हें ठीक कर लिया जाता है। इसी प्रकार द्वैतीयक तथ्यों (Secondary data) का भी सम्पादन किया जाता है। सम्पादन-कार्य के दौरान में निम्नलिखित कार्य

किया जाता है—(अ) **सूचनाओं को व्यवस्थित तथा क्रमवद्ध रूप में लगाना** सम्पादक का प्रथम कार्य होता है ताकि विभिन्न स्थानों तथा स्रोतों (sources) से प्राप्त तथ्य व सामग्री एक क्रम से लग जाए और यह भी पता लग जाए कि किन स्रोतों से अभी सूचना आनी बाकी है अथवा नहीं। (ब) इसके पश्चात् **उत्तरों की जाँच** (testing the entries) की जाती है। इस जाँच के द्वारा प्रश्न का गलत उत्तर, जोड़ आदि की गलती, गलत खाने में उत्तर भरा जाना, बिना भरा खाना, अंकों की गलती आदि का पता लगाया जाता है। (स) सम्पादन-प्रक्रिया के दौरान **अनावश्यक तथ्यों को हटा देने का काम** भी होता है ताकि अध्ययन में अवांछित सामग्री का प्रवेश न हो सके। (द) **कोड नम्बर डालना** (codification) सम्पादक का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य होता है जिसका कि महत्त्व बड़े सर्वेक्षण में अत्यधिक होता है। इसके अन्तर्गत एक ही प्रश्न के चार, पाँच या अधिक सम्भावित उत्तरों को शब्दों या वाक्यों में न व्यक्त करके समय की वचत करने व वर्गीकरण में सुविधा के लिए उन्हें १, २, ३, ४ आदि संख्याओं में व्यक्त कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि एक प्रश्न यह है कि "आप किन अवस्थाओं में स्त्रियों द्वारा नौकरी किए जाने के पक्ष में राय देंगे ?" तो इस प्रश्न के एकाधिक सम्भावित उत्तर हो सकते हैं जैसे—परिवार की आर्थिक स्थिति खराव होने पर, खर्चा चलाने के लिए अन्य कोई संरक्षक न होने पर, पति की मृत्यु हो जाने पर, आकस्मिक वेरोजगारी या दुर्घटना की स्थिति होने पर और आत्म-निर्भर वनने की इच्छा द्वारा प्रेरित होने पर। कोड नम्बर डालने की प्रक्रिया में इनमें से प्रत्येक उत्तर को क्रमशः १, २, ३, ४ और ५ की संख्याओं द्वारा व्यक्त कर दिया जाता है।

संकलित तथ्यों तथा आँकड़ों का सम्पादन किस ढंग से किया जाएगा और कव किया जाएगा इसका निर्धारण पहले से ही कर लेना लाभप्रद होता है, नहीं तो आगे चलकर पर्याप्त परेशानी उत्पन्न हो सकती है। किसी भी अवस्था में सम्पादन-कार्य के लिए सभी सूचनाएँ आ जाने अथवा समस्त आँकड़ों का संकलन हो जाने तक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए; कुछ सामग्री एकत्रित हो जाने के वाद ही सम्पादन-कार्य प्रारम्भ कर देना अत्यन्त सुविधाजनक सिद्ध होता है।

(१७) तथ्यों का वर्गीकरण व सारिणीयन (Classification and Tabulation of Data)

सम्पादन-कार्य के पश्चात् संकलित तथ्यों का वर्गीकरण किया जाता है जिससे कि बिखरी हुई सामग्री को समानताओं व भिन्नताओं के आधार पर कुछ निश्चित श्रेणियों के अन्तर्गत लाया जा सके। वर्गीकरण करने का मुख्य उद्देश्य तथ्यों को श्रेणी-बद्ध करके सम्पूर्ण सामग्री को संक्षिप्त रूप दे देना होता है। सर्वेक्षण के दौरान में भिन्न तथ्यों को एकत्रित किया जाता है उन्हें यदि एक जगह एकत्रित किया जाए तो वे पर्वत समान हो जाएँगे। तथ्यों के इस प्रकार के पर्वत से कोई भी सुनिश्चित निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता है इसीलिए उनका वर्गीकरण करना आवश्यक होता है जिससे कि उनका आकार छोटा हो जाए और समग्र तथ्य कुछ निश्चित श्रेणियों में समा जाएँ। वर्गीकृत किए गए तथ्यों को और भी अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करने तथा उन्हें और अधिक वोधगम्य करने के लिए उनका सारिणीयन करना भी आवश्यक हो जाता है। वर्गीकरण के परिणामों को संख्यात्मक तालिकाओं के रूप में संक्षिप्त करना ही सारिणीयन है और उसका उद्देश्य तथ्यों की तुलना तथा सम्बन्ध का ज्ञान करना

होता है। इन्हीं सारिणियों के आधार पर तथ्यों का चित्रमय प्रदर्शन (Diagrammatic presentation) भी किया जा सकता है और किया जाता भी है।

(१८) तथ्यों का विश्लेषण तथा निष्कर्षीकरण
(Analysis and Generalization of Data)

वर्गीकरण व सारिणीयन का कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् उन्हीं के आधार पर तथ्यों का विश्लेषण किया जा सकता है। विभिन्न तथ्यों की तुलना तथा उनमें पाए जाने वाले सहसम्बन्धों के आधार पर तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है और उसी विश्लेषण के आधार पर कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाला जाता है अर्थात् समस्या से सम्बन्धित परिणामों का पता लगाया जाता है। इन सामान्य निष्कर्षों के आधार पर न केवल विषय के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है अपितु सर्वेक्षण के व्यावहारिक उद्देश्य की भी पूर्ति होती है। अतः तथ्यों के विश्लेषण व निष्कर्षीकरण के इस स्तर पर समस्या के कार्य-कारण सम्बन्ध के प्रति जानने के लिए विशेष रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता होती है क्योंकि इसी कार्य-कारण सम्बन्ध के ज्ञान के आधार पर सामाजिक समस्याओं का समाधान सम्भव हो सकता है।

(१९) रिपोर्ट का निर्माण व प्रकाशन
(Preparation and Publication of Report)

सर्वेक्षण-प्रक्रिया का अन्तिम चरण रिपोर्ट को तैयार करना और उसको प्रकाशित करना है। प्रत्येक सर्वेक्षण में प्राप्त सूचनाएँ तथा उनके विश्लेषण पर आधारित निष्कर्षों को एक रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित किया जाता है ताकि सम्बन्धित व्यक्तियों को उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हो जाए। रिपोर्ट का निर्माण व प्रकाशन यद्यपि सर्वेक्षण-कार्य पूरा हो जाने के बाद ही हो सकता है, तथापि उसके आकार, स्वरूप, अन्तर्वस्तु आदि की योजना पहले से ही बनानी पड़ती है। रिपोर्ट में भाषा तथा विचारों की स्पष्टता, सरलता तथा शुद्धता का होना परमावश्यक है ताकि उसके सम्बन्ध में किसी के मन में कोई गलत धारणा न पनप जाए। सर्वेक्षणकर्त्ता को रिपोर्ट में अपना सुझाव इस प्रकार का देना चाहिए जो कि व्यावहारिक हो और देश या समुदाय में उपलब्ध साधनों की सीमा के अन्दर हो अर्थात् सुझाव इस प्रकार का न हो जिसे कि उपलब्ध साधनों (धन आदि) की सहायता से क्रियान्वित करना राष्ट्र के लिए सम्भव ही न हो। इसीलिए सुझावों की मात्रा तथा सीमा भी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार होनी चाहिए। रिपोर्ट क्रमों के अनुसार तथा आकर्षक होनी चाहिए। शीर्षक तालिकाएँ, पद-सूची, रेखा-चित्र आदि व्यवस्थित क्रम के अनुसार यथास्थान प्रदर्शित करने चाहिएँ। संलग्न पत्रादि भी यथास्थान रखने चाहिएँ।

किसी भी सर्वेक्षण-कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उपरोक्त प्रत्येक चरण पर सर्वेक्षण की प्रकृति, क्षेत्र तथा उद्देश्य के आधार पर विचार करके एक योजना बना लेना परमावश्यक है। इसका कारण यह है कि सर्वेक्षण की योजना जितनी ही सही, व्यावहारिक, त्रुटिरहित तथा अनुसन्धान के उपयुक्त होगी, सर्वेक्षण का कार्य भी उतनी ही सुविधाजनक ढंग से संचालित करना सम्भव होगा और सर्वेक्षण-कार्य के बीच में ही उसे रोक देने या अन्य किसी रूप में बाधा प्राप्त होकर निराशाजनक परिस्थितियों में फँस जाने की सम्भावनाएँ कम हो जाएँगी। पर योजना कितनी व्यावहारिक व त्रुटिरहित होगी यह सर्वेक्षणकर्त्ता की योग्यता, अनुभव, दूरदर्शिता, सामान्य ज्ञान तथा सूझ-बूझ पर निर्भर करता है। परन्तु जितना ही अनुभवी तथा योग्य सर्वेक्षणकर्त्ता

क्यों न हो समस्त परिस्थितियों व सम्भावित कठिनाइयों का पहले से ही बिलकुल सही-सही अनुमान लगा लेना अत्यन्त कठिन होता है। इसीलिए सर्वेक्षण के आयोजन में लचक होनी चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसमें हेर-फेर किया जा सके। सर्वेक्षण के दौरान में भी सर्वेक्षणकर्त्ता को बराबर सतर्कतापूर्वक जाँच करते रहना चाहिए कि काम योजना के अनुसार हो रहा है अथवा नहीं। जहाँ उसे योजना तथा वास्तविक सर्वेक्षण में अन्तर दिखाई पड़े, अथवा पूर्वनिश्चित योजना ठीक-ठीक काम न करती जान पड़े वहाँ उसे सामयिक परिस्थिति के अनुसार योजना में तुरन्त आवश्यक परिवर्तन या परिवर्द्धन कर लेना चाहिए। सर्वेक्षण की जो योजना एक बार बना ली गई है वही अन्तिम है यह सोचना न तो व्यावहारिक है और न ही लाभप्रद। इसलिए आवश्यक परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत रहना सर्वेक्षण-कार्य की सुव्यवस्थित प्रगति व सफल समाप्ति के लिए आवश्यक है। एक योग्य सर्वेक्षणकर्त्ता इस सत्य को कभी भूलता नहीं!

---

८ सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता या शोधकर्त्ता के आवश्यक गुण

(ESSENTIAL QUALITIES OF A SOCIAL INVESTIGATOR OR A RESEARCH WORKER)

सामाजिक अनुसन्धान या शोधकार्य कोई सरल व सीधा कार्य नहीं है और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति इसे कर भी नहीं सकता। केवल कुछ पुस्तकीय ज्ञान ही शोध-कार्य के लिए पर्याप्त नहीं है, इसके लिए अन्य अनेक वाह्य तथा आन्तरिक गुणों का होना परमावश्यक है। इसका कारण भी स्पष्ट है। सामाजिक अनुसन्धान या शोध सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित होता है और सामाजिक घटनाएँ अमूर्त, परिवर्तनशील, जटिल तथा व्यक्ति-प्रधान होती हैं। इसीलिए इनका अध्ययन प्राकृतिक घटनाओं के अध्ययन से कहीं अधिक कठिन होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन का तात्पर्य वास्तव में मानव द्वारा मानव के ही विषय में अध्ययन है। इसका सरल अर्थ यही हुआ कि जिस समस्या या विषय के सम्बन्ध में शोधकर्त्ता अनुसन्धान करता है उस समस्या या विषय का वह स्वयं एक अंग होता है। अतः उसके लिए पूर्णतया निष्पक्ष, तटस्थ व उदासीन रहकर अध्ययन करना अत्यन्त कठिन होता है। प्रत्येक पग पर उसके अपने ही विचार, विश्वास, पूर्वधारणा, आदर्श आदि उसका रास्ता रोकते रहते हैं या उसे विपथगामी कर देते हैं। इसलिए अनुसन्धान के निष्कर्षों में त्रुटियों की सम्भावना सदा ही बनी रहती है। इन समस्त परिस्थितियों या कारकों के प्रभाव से अपने को विमुक्त रखते हुए अनुसन्धानकर्त्ता को शोधकार्य को यथार्थता (exactness) की स्थिति तक पहुँचाने के लिए, विशेष योग्यता तथा ज्ञान की आवश्यकता होती है। उत्तम अनुसन्धानकर्त्ता या शोधकर्त्ता के गुणों तथा योग्यताओं की निश्चित सूची तो नहीं बनाई जा सकती परन्तु कुछ सामान्य बातों का उल्लेख अवश्य ही किया जा सकता है। इस अध्याय में हम उन्हीं के विषय में विवेचना करेंगे।

शारीरिक व व्यक्तिगत गुण
(Physical and Personal Qualities)

सामाजिक शोध एक शिक्षा-सम्बन्धी कार्य है, इसलिए इसका कोई भी सम्बन्ध शोधकर्त्ता की शारीरिक विशेषताओं से नहीं होता—यह विश्वास अनेक लोगों का है। पर यह गलत है। अनुसन्धान-कार्य की सफलता में शारीरिक गुणों का भी अपना महत्त्व होता है जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा—

(अ) आकर्षक व्यक्तित्व (Attractive Personality)—हँसमुख चेहरा, अच्छी आदतें, तथा आकर्षक व्यवहार-प्रतिमान रखने वाला व्यक्ति किसी भी सूचना-दाता से सत्य और विश्वसनीय तथ्य प्राप्त करने में सफल हो सकता है। आकर्षक

व्यक्तित्व का एक स्वाभाविक प्रभाव लोगों पर पड़ता ही है और इसका शोधकर्त्ता के द्वारा पूरा-पूरा फायदा उठाने का अर्थ होगा अधिक सत्य, ठोस तथा महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सरलतापूर्वक संकलन। एक शोधकार्य की सफलता सत्य व यथार्थ तथ्यों, सूचनाओं या आँकड़ों पर कितनी अधिक निर्भर है, यह समझाने की शायद आवश्यकता नहीं है।

(ब) स्वास्थ्य (Health)—एक सफल शोधकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसका स्वास्थ्य उत्तम हो। शोधकार्य आरामकुर्सी पर बैठकर नहीं हो जाता। इसके लिए कठोर परिश्रम व दौड़-धूप करने की आवश्यकता होती है जो कि एक उत्तम स्वास्थ्य वाला व्यक्ति ही कर सकता है। दुर्बल या रोगग्रस्त व्यक्ति का सारा समय तो अपने ही स्वास्थ्य का उपचार करने में लग जाता है, वह शोधकार्य भला कब और कैसे करेगा ? भारतवर्ष में यातायात व संचार के साधनों की अपर्याप्तता, जन-शिक्षा का स्तर अत्यधिक निम्न होना, शोध सम्बन्धी अन्य सुविधाओं की कमी आदि कारणों से यहाँ तो शोधकर्त्ता को और भी कठोर परिश्रम करना पड़ता है। अतः उत्तम स्वास्थ्य का होना जरूरी है। इसके अतिरिक्त उत्तम स्वास्थ्य स्वयं ही आकर्षक व्यक्तित्व का एक अंग बनकर तथ्यों को एकत्रित करने में सहायक सिद्ध होता है।

(स) अध्यवसाय (Persistence)—एक सफल शोधकर्त्ता को अध्यवसायी अर्थात् साधनाशील होना चाहिए। वह किसी भी अवस्था में हिम्मत न हारे—यह उसके लिए आवश्यक है। शोधकार्य के दौरान में असंख्य ऊँची-नीची परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, अनेक निराशाजनक अवस्थाओं से परिचय होता है और कितनी ही अस्वाभाविक घटनाएँ बाधा उत्पन्न करती हैं। इन सब के बीच शोधकर्त्ता का अपना अध्यवसाय या साधनाशीलता उसे मार्ग दिखाकर आगे ले जाती है। शोधकार्य के दौरान में यह देखा जाता है कि एक ही सूचनादाता के पास एकाधिक बार जाने के उपरान्त भी या तो वह मिल नहीं पाता या अपने निजी कार्य में व्यस्त होने के कारण प्रश्नों का उत्तर देने के लिए समय नहीं दे पाता है। यदि समय देता भी है तो प्रश्नों के उत्तर को किसी प्रकार से समाप्त करके शोधकर्त्ता को टालने का प्रयत्न करता है। इन सब परिस्थितियों के बीच भी धैर्य को बनाए रखना अत्यन्त कठिन होता है। अतः स्पष्ट है कि शोधकर्त्ता के लिए साधनाशील होना अत्यन्त आवश्यक है।

(द) सहनशीलता (Tolerance)—एक उत्तम शोधकर्त्ता में सहनशीलता का गुण भी अत्यावश्यक है। प्रत्येक प्रकार के कष्टों को झेलने के लिए तत्पर रहकर ही शोधकार्य में सफल होने की आशा की जा सकती है। अनुसन्धान के दौरान में कई सूचनादाता शोधकर्त्ता के प्रति अति कटु व्यवहार करते हैं, उसे नाना प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ सुनाते हैं तथा स्पष्ट भाषा में किसी भी प्रकार का सहयोग न देने की घोषणा कर बैठते हैं। इन व्यवहारों को सहन करने की शक्ति यदि शोधकर्त्ता में नहीं है तो उसे अपना कार्य बीच में ही रोककर घर बैठना पड़ेगा।

बौद्धिक गुण
(Intellectual Qualities)

केवल उपरोक्त शारीरिक व व्यक्तिगत गुणों का होना ही उत्तम अनुसन्धान-कर्त्ता या शोधकर्त्ता के लिए पर्याप्त नहीं है जब तक कि वह कुछ बौद्धिक गुणों का भी अधिकारी नहीं है। ये बौद्धिक गुण इस प्रकार के हैं—

(क) रचनात्मक कल्पनाशक्ति (Creative Imagination)—शोधकर्त्ता की

कल्पनाशक्ति अत्यन्त प्रबल होनी चाहिए। वह बुद्धिमान हो, केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है जब तक कि एक अनुसन्धान-कार्य में अन्तर्निहित समस्त सम्भावित परिस्थितियों के विषय में पहले से ही कल्पना कर लेने की शक्ति उसमें नहीं है। इस प्रकार की पूर्वकल्पना के बिना शोधकार्य का सफल आयोजन करना शोधकर्त्ता के लिए कदापि सम्भव नहीं हो सकता। साथ ही, प्रखर कल्पनाशक्ति के बिना शोधकर्त्ता सामाजिक समस्याओं में न तो गहरा पैंठ सकता है और न ही अपने अध्ययन-कार्य में व्यावहारिकता ला सकता है। अतः दूरदर्शिता व अन्तर्दृष्टि दोनों का ही होना आवश्यक है।

(ख) **शीघ्र निर्णय लेने की योग्यता** (Ability to take Prompt Decision) शोधकर्त्ता के लिए इस योग्यता का होना अति आवश्यक है कि वह प्रत्येक समस्या व परिस्थितियों में अपने निर्णय का शीघ्र निर्माण कर सके। शोधकर्त्ता को अपरिचित स्थितियों में काम करना पड़ता है, इसीलिए यदि उन परिस्थितियों में आवश्यकतानुसार लाभप्रद निर्णय करने की योग्यता उसमें नहीं है तो वह सफल शोधकर्त्ता नहीं बन सकता। अतः कोई भी विषम परिस्थिति सामने आ जाने पर बिना असमंजस में पड़े निर्णय लेने की क्षमता अत्यावश्यक है।

(ग) **सांख्यिकीय योग्यता** (Statistical Ability)—सामाजिक शोधकर्त्ता को तथ्यों के वर्गीकरण, सारिणीयन तथा ग्राफ (graph) आदि बनाने में संख्याओं से खेलना पड़ता है। यह बहुत नीरस काम है, पर साथ ही इसके बिना शोधकार्य में यथार्थता आ नहीं सकती। अतः शोधकर्त्ता में सांख्यिकीय योग्यता का होना परमावश्यक है। सर्वश्री स्पार तथा स्वेन्सन (Spahr and Swenson) ने तो परिशुद्धता कायम रखने की शक्ति को शोधकर्त्ता का परमावश्यक गुण माना है। इस गुण का विकास सांख्यिकीय योग्यता पर ही निर्भर है।

(घ) **विचारों की स्पष्टता** (Clarity of Thinking)—शोधकर्त्ता के लिए बुद्धिमान तथा विचारशील होना परमावश्यक है। उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह जटिल परिस्थितियों तथा तथ्यों को समझकर उनके सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत कर सके। इस योग्यता के बिना न तो वह तथ्यों की विश्लेषणात्मक विवेचना स्पष्ट रूप में कर सकता है और न ही अपनी रिपोर्ट में समस्या या उसके समाधानों के सम्बन्ध में स्पष्ट विचारों को प्रस्तुत कर सकता है। विचारों की स्पष्टता विषय के सम्बन्ध में गहन अध्ययन के पश्चात् ही प्रायः विकसित हो सकती है।

(ङ) **तर्कशक्ति** (Arguing Power)—सामाजिक शोध में अलग-अलग विचारों के तथा विभिन्न मानसिक स्थितियों के लोगों से सूचना प्राप्त करनी पड़ती है। इसलिए यह आवश्यक है कि शोधकर्त्ता में पर्याप्त तर्कशक्ति हो ताकि इन विभिन्न सूचनाओं को एक तार्किक ढंग से जोड़कर वह कुछ सामान्य निष्कर्षों को निकाल सके। अध्ययन-क्षेत्र में सूचनादाता प्रायः शोधकर्त्ता से अनेक टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछ बैठते हैं। यदि तार्किक ढंग से इन सब प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर शोधकर्त्ता देने में असफल होता है तो उसे एक हास्यास्पद परिस्थिति का सामना करना पड़ता है और तथ्यों का संकलन ठीक से नहीं हो पाता। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए भी शोधकर्त्ता में तर्कशक्ति होना आवश्यक है।

(च) **बौद्धिक ईमानदारी** (Intellectual Honesty)—शोधकर्त्ता के लिए बौद्धिक ईमानदारी अति आवश्यक है। इसका सर्वप्रमुख कारण यह है कि शोधकर्त्ता जिन सामाजिक घटनाओं का अनुसन्धान करता है उसका वह भी एक अंग होता है। और

इसीलिए उन घटनाओं के सम्बन्ध में जो विचार वह व्यक्त करता है या जो कुछ वह निरीक्षण करता है वह उसकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं, आदर्शों तथा मूल्यों के द्वारा कुछ-न-कुछ रंग जाने की सम्भावना सदा ही बनी रहती है। ऐसी स्थिति में यदि शोधकर्त्ता में बौद्धिक ईमानदारी का अभाव है तो उसका शोधकार्य कदापि परिशुद्ध नहीं हो सकता है। बौद्धिक ईमानदारी न होने पर वह उन्हीं घटनाओं को देखेगा जो कि उसकी भावनाओं के अनुकूल हैं तथा ऐसे ही विचारों को व्यक्त करेगा जिन्हें कि अधिकतर लोग पसन्द करेंगे। इसके विपरीत बौद्धिक ईमानदारी होने पर समाज में प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध भी घटना-विशेष की वास्तविकताओं को प्रस्तुत करने में और उनके विषय में अपनी स्वतन्त्र राय देने में शोधकर्त्ता घबराएगा नहीं। बौद्धिक ईमानदारी ही शोधकर्त्ता के मन से राज-भय, जाति-भय तथा बदनामी का भय मिटा सकती है और उसी अवस्था में वह वास्तविक तथ्यों को तोड़-मोड़कर प्रस्तुत करने के प्रयत्नों से अपने को दूर रख सकता है।

व्यवहार सम्बन्धी गुण
(Behavioural Qualities)

शारीरिक तथा मानसिक योग्यताओं के साथ-साथ व्यवहार सम्बन्धी कुशलताओं का भी होना एक सफल शोधकर्त्ता के लिए परमावश्यक है क्योंकि उसे वास्तविक व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करके, उनमें विश्वास की भावना जाग्रत करके और उन्हें अपने अध्ययन के उद्देश्यों के प्रति आकर्षित करके ही अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में तथ्यों को एकत्रित करना पड़ता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शोधकर्त्ता का व्यवहार-प्रतिमान वास्तव में आकर्षक व प्रभावपूर्ण हो। यह तभी हो सकता है जबकि उसमें व्यवहार सम्बन्धी निम्नलिखित गुण हों :—

(अ) परिमार्जित व्यवहार (Refined Manners)—व्यवहार सम्बन्धी गुणों में शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार का स्थान सर्वप्रथम है। यदि किसी भी व्यक्ति का व्यवहार शिष्ट तथा परिमार्जित है तो वह दूसरे लोगों को सहज ही अपना मित्र बना सकता है और इस काम में सफल होने पर वह किसी भी प्रकार के तथ्यों को या सूचनाओं को उनसे प्राप्त कर सकता है। इसीलिए परिस्थिति को समझते हुए शोधकर्त्ता को परिमार्जित व्यवहार करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। उदाहरणार्थ ग्रामीण समाज में शोधकार्य करते हुए शोधकर्त्ता को तड़क-भड़कपूर्ण व औपचारिक व्यवहार को त्यागकर विनम्र व सौहार्दपूर्ण व्यवहार करना होगा।

(ब) व्यवहार में अनुकूलनशीलता (Adaptability of Behaviour)—सामाजिक शोध के दौरान में शोधकर्त्ता को भिन्न-भिन्न प्रकार से अलग-अलग रुचियों, विचारों तथा व्यवसायों के लोगों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। इसीलिए एक ही प्रकार का व्यवहार सबको समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता। गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति को कभी भी बचपना पसन्द नहीं होगा, इसके विपरीत कौतुकप्रिय व्यक्ति के लिए गम्भीर व्यवहार अत्यन्त अरुचिकर होगा। पर शोधकर्त्ता को तो दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों से सूचनाएँ एकत्रित करनी होती हैं। अतः उसके व्यवहार में ऐसा लचकपन जरूर होना चाहिए कि वह आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के साथ अपना अनुकूलन सफलतापूर्वक कर सके और अपने व्यवहार द्वारा उन्हें बहुत-कुछ समान रूप से प्रभावित करके उनसे तथ्यों का संग्रह कर सके। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक प्रश्न का उत्तर देने के दौरान में सूचनादाता व्यर्थ की गप्पें भी हाँकने लगता है। ऐसे अवसर पर भी शोधकर्त्ता को अत्यन्त चतुरता के साथ

सूचनादाता को अप्रसन्न न करते हुए अपना कार्य निकालना होता है। उसी प्रकार, विषय के सम्बन्ध में अनुकूल व प्रतिकूल विचार रखने वाले दोनों पक्षों के लोगों के प्रति समान अलगाव के साथ और समान आदर के साथ उनके विचारों को सुनने की योग्यता जिस शोधकर्त्ता में है वही वास्तव में एक सफल शोधकर्त्ता है।

(स) सन्तुलित वार्तालाप (Balanced Talk)—अनुसूची को भरवाने या साक्षात्कार करने के दौरान में शोधकर्त्ता को सूचनादाताओं से बातचीत करनी पड़ती है। इस वार्तालाप के स्वरूप का भी प्रभाव सूचनादाताओं पर पड़ता है। यदि शोधकर्त्ता अहंकारपूर्ण तथा असन्तुलित भाषा में बातचीत करता है और आदेशसूचक स्वर में सूचना की माँग करता है तो इससे स्वभावतः ही सूचनादाता के मन में एक विरक्ति की भावना व चिड़चिड़ाहट पनप सकती है जिसके फलस्वरूप वह या तो सूचना देने से इनकार कर सकता है या फिर वास्तविक तथ्यों को छिपाकर इधर-उधर की बातों में उसे टालने का प्रयत्न करता है। अतः सन्तुलित वार्तालाप बहुत जरूरी है। सूचनादाता के मन को या भावनाओं को ठेस पहुँचे ऐसा कुछ भी कहना एक शोधकर्त्ता के लिए बहुत महँगा पड़ सकता है।

(द) सतर्कता (Alertness)—सामाजिक शोधकार्य के दौरान में शोधकर्त्ता को चारों ओर से अत्यन्त सतर्क तथा सावधान रहने की आवश्यकता होती है। उसे इस बात के प्रति सदैव सचेत रहना चाहिए कि शोधकार्य के किसी भी स्तर पर उसे गलत सूचना देकर कोई उसे पथभ्रष्ट तो नहीं कर रहा है। कई बार ऐसा होता है कि कुछ व्यक्ति शोधकर्त्ता के अत्यन्त शुभचिन्तक बनने का ढोंग रचते हैं और सब कुछ असत्य बताकर उसे असफलता की ओर ढकेल देने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः प्रभावशाली स्वार्थ-समूह के सदस्य होते हैं और अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए ही सत्य को छिपाते हैं। अतः इस प्रकार के व्यक्तियों को प्रसन्न रखते हुए उनके प्रति यथासम्भव सतर्कता को बरतना शोधकर्त्ता का एक आवश्यक गुण होना चाहिए।

(य) आत्म-नियंत्रण (Self-control)—सामाजिक शोधकार्य में आत्म-नियंत्रण शोधकर्त्ता की एक उल्लेखनीय विशेषता बन जाती है। इसका कारण यह है कि शोधकार्य के दौरान में अनेक विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन परिस्थितियों में यदि शोधकर्त्ता आत्म-नियंत्रण को खो बैठे तो सम्पूर्ण शोधकार्य ही छिन्न-भिन्न हो जाए। हो सकता है कि सूचनादाताओं से उसे ऐसे शब्दों या अपशब्दों को सुनना पड़े जो कि उसके आन्तरिक विचारों, भावनाओं तथा आदर्शों को कटु आघात करें, फिर भी उसे आत्म-नियंत्रण रखते हुए केवल सत्य की खोज में लगा रहना चाहिए। उसे किसी भी अवस्था में उत्तेजित नहीं होना चाहिए क्योंकि उत्तेजना उसे एक ही पल में वास्तविकता से दूर ले जा सकती है और साथ ही वह दूसरों के लिए आलोचना का एक विषय भी बन सकता है। यह दोनों ही स्थितियाँ सफल अनुसन्धान के लिए घातक सिद्ध हो सकती हैं। अतः आत्म-नियंत्रण का गुण होना आवश्यक है।

अध्ययन-विषय से सम्बन्धित गुण
(Qualities related to Subject of Study)

उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त अनुसन्धानकर्त्ता में अध्ययन-विषय से सम्बन्धित कुछ गुणों का होना भी आवश्यक है। ये गुण निम्नलिखित हैं :—

(क) विषय में रुचि (Interest in the Subject)—शोधकर्त्ता अपने कार्य

में तभी सफल हो सकता है जब कि अध्ययन-विषय में उसकी व्यक्तिगत गहरी रुचि हो। विषय में रुचि शोधकर्त्ता में लगन तथा अथक परिश्रम करने की प्रेरणा जुटाती है और उसे उत्साह के साथ अपने काम में लगे रहने को प्रेरित करती है। जिस विषय या समस्या में गहरी रुचि होती है उसे समझने में भी सुविधा रहती है। साथ ही, यदि समस्या का अध्ययन कठिन भी होता है तो भी उसमें अपनी आन्तरिक रुचि होने के कारण शोधकर्त्ता उसे सफल बनाने के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करने का प्रयत्न करता तथा हर कठिनाई का साहस के साथ सामना करता है।

(ख) विषय में पारंगत होना (Mastery over the Subject)—शोध की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जिस विषय या समस्या का शोधकर्त्ता अध्ययन कर रहा है उसके बारे में उसे पूर्ण ज्ञान हो अन्यथा उसके द्वारा संकलित तथ्य अपूर्ण, दोषयुक्त एवं अनुपयोगी हो सकते हैं। विषय के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस विषय से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य का गहन अध्ययन कर लेना शोधकर्त्ता के लिए आवश्यक होता है। विषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान न होने से इस बात की सम्भावना रहती है कि शोधकर्त्ता विषय के उन पक्षों को कम महत्त्व दे सकता है जो कि वास्तव में महत्त्वपूर्ण हैं जब कि अपना अधिकांश समय, धन तथा परिश्रम को कम महत्त्वपूर्ण पक्षों के अध्ययन में व्यर्थ ही व्यय कर देता है।

(ग) समस्या पर एकाग्रता (Concentration on Problem)—सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सह-सम्बन्धित होते हैं कि निर्धारित समस्या से विचलित हो जाने की बहुत सम्भावना होती है इसीलिए समस्या पर एकाग्रता का गुण शोधकर्त्ता में होना आवश्यक है। बहुधा ऐसा भी होता है कि शोधकार्य के दौरान में समुदाय के जीवन से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट, आकर्षक या रहस्यपूर्ण घटनाओं के प्रति शोधकर्त्ता का ध्यान अधिक आकर्षित होता है और वह उन्हीं में फँस जाता है जब कि वास्तविक विषय पर उसकी एकाग्रता टूट जाती है जिसके फलस्वरूप शोधकार्य की सन्तुलित प्रगति रुक जाती है। अतः मूल समस्या या विषय पर शोधकर्त्ता की एकाग्रता आवश्यक है।

अध्ययन-स्थल में किए जाने वाले क्रिया सम्बन्धी गुण (Qualities related to Field Work)

शोध में वास्तविक रूप से अध्ययन-स्थल पर जाकर तथ्यों व सूचनाओं को एकत्रित करने की आवश्यकता होती है। इस कारण इससे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न व्यावहारिक क्रियाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में अनुसन्धान-कर्त्ता के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया जा सकता है :—

(अ) अध्ययन-पद्धतियों तथा उपकरणों का ज्ञान (Knowledge of Methods and Tools of Research)—एक शोधकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसे इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान हो कि किस प्रकार के शोधकार्य में कौन-कौनसी पद्धतियों तथा उपकरणों से काम लेना उपयोगी होता है। उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि प्रत्येक पद्धति की कौन-कौनसी सीमाएँ हैं और उस पद्धति को काम में लाने से अध्ययन-कार्य में किन-किन त्रुटियों के पनपने की सम्भावना होती है। इस प्रकार का ज्ञान न केवल सबसे उपयुक्त पद्धतियों तथा उपकरणों का चुनाव करने में मदद करके पर्याप्त परिश्रम, धन तथा समय की बचत करने में सहायक होता है बल्कि उचित समय पर शोधकार्य में पनपने वाली सम्भावित त्रुटियों को सुधारने के प्रति शोधकर्त्ता को सजग भी रखता है। इसीलिए शोधकार्य में साक्षात्कार अनुसूची

अधिक उपयुक्त होगी अथवा प्रश्नावली, प्रत्यक्ष निरीक्षण से सत्य प्रगट होगा अथवा व्यक्तिगत जीवन-अध्ययन हमें सत्य से परिचित कराएगा, अध्ययन निदर्शन के द्वारा किया जाएगा अथवा जनगणना-विधि सम्भव होगी, प्रश्नावली या अनुसूची में किन-किन प्रश्नों के रहने से अध्ययन में अधिकाधिक यथार्थता पनप सकेगी आदि सभी विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान शोधकर्त्ता में अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

(ब) व्यक्ति, समय तथा स्थान का बोध (Understanding of Person, Time and Place)—अध्ययन-स्थल में जाकर अनायास, बिना पूर्वनिर्णय के किसी भी व्यक्ति से किसी भी समय व कहीं पर भी मिलकर सूचना प्राप्त करने की चेष्टा निष्फल या सन्देहयुक्त परिणामों को उत्पन्न करने वाली होती है। शोधकर्त्ता को इस बात का सामान्य ज्ञान होना चाहिए कि किस व्यक्ति से पूछने पर विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों को प्राप्त करना सुविधाजनक होगा, किस समय व किस स्थान पर उनसे मिलने पर वे उत्तर देने के लिए सहर्ष तैयार हो जाएँगे अर्थात् सूचना प्राप्त करने के सम्बन्ध में उनका पूर्ण व सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा। शोधकर्त्ता को यह जानना चाहिए कि अदरक के व्यापारी से जहाज की खबर नहीं मिल सकती, सार्वजनिक उत्सव के समय सूचनादाताओं से उनके पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ जाना नहीं जा सकता और थाने के पास खड़े एक चोर से उसके कारनामों के बारे में पूछना मूर्खता होगी। इसीलिए व्यक्ति, समय तथा स्थान के सम्बन्ध में बोधशक्ति का होना शोधकर्त्ता के लिए एक आवश्यक गुण है।

(स) प्रशिक्षण तथा अनुभव (Training and Experience)—किसी भी व्यक्ति को अध्ययन-स्थल में सूचना संकलन हेतु छोड़ देने मात्र से ही तथ्यों का संकलन सम्भव नहीं होता जब तक कि उसे अध्ययन-स्थल पर काम करने का अनुभव न हो या उसे इस कार्य के लिए वास्तविक रूप में प्रशिक्षित न किया गया हो। अपने प्रशिक्षण व अनुभव के आधार पर अध्ययन-पद्धतियों, अध्ययन-कार्य में आने वाली कठिनाइयों आदि से पूर्णतया परिचित शोधकर्त्ता ही शोधकार्य को सुव्यवस्थित कर अन्तिम लक्ष्य तक ले जाने में सफल हो सकता है।

(द) संगठन शक्ति (Organizational Capacity)—एक सफल व योग्य शोधकर्त्ता में संगठन शक्ति का होना भी परमावश्यक है। शोधकार्य कोई चलते-फिरते किए जाने योग्य कार्य नहीं है। उसके लिए सुव्यवस्थित आयोजन तथा उत्तम संगठन की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने की योग्यता या शक्ति शोधकर्त्ता में होनी चाहिए। सामाजिक अनुसन्धानों में प्रायः एकाधिक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। इन कार्यकर्त्ताओं में किसे कौनसा कार्य सौंपने पर सर्वोत्तम परिणामों की प्राप्ति सम्भव है इस बात का ज्ञान शोधकर्त्ता को होना चाहिए। आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि सामाजिक शोधकार्य में अन्तःवैज्ञानिक पद्धति (Inter-Disciplinary Approach) अपनायी जा रही है जिससे कि विभिन्न विज्ञानों के विशेषज्ञों की सहायता व सहयोग प्राप्त करना आवश्यक होता है। अतः शोधकर्त्ता को यह ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकार उनका अधिकाधिक सहयोग व सहायता अपने लाभ के लिए प्राप्त की जा सकती है—यह भी शोधकर्त्ता की संगठन शक्ति पर निर्भर करता है।

(य) साधन सम्पन्नता (Resourcefulness)—आधुनिक शोधकार्य में धन के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के साधनों जैसे मानचित्र, कैमरा, टेपरिकार्डर आदि की भी आवश्यकता होती है अतः शोधकर्त्ता के लिए यह आवश्यक है कि ये सभी

साधन न केवल उसे उपलब्ध हैं वल्कि उनको उपयोग में लाने का सही ढंग भी उसे मालूम है। कभी-कभी सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी विभागों के अधिकारियों से सहायता लेने की आवश्यकता पड़ जाती है अत: यह आवश्यक है कि शोधकर्त्ता की इन अधिकारियों तक पहुँच हो। इस प्रकार की पहुँच भी शोधकार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है और यह शोधकर्त्ता के साधन सम्पन्न होने की द्योतक है।

वैज्ञानिक भावना सम्बन्धी गुण
(Qualities related to Scientific Spirit)

अनुसन्धानकर्त्ता में सफलता के लिए वैज्ञानिक भावना का होना अत्यावश्यक है। यह वैज्ञानिक भावना स्वयं ही निम्नलिखित गुणों पर आधारित है :—

(क) **जिज्ञासा (Curiosity)**—शोधकर्त्ता में इस गुण का होना अत्यन्त आवश्यक इस अर्थ में है कि इसी के आधार पर कुछ जानने की इच्छा, रहस्य को उद्घाटित करने की प्रेरणा तथा नवीनता के प्रति आकर्षण की जागृति होती है और ये सभी तत्त्व शोधकार्य में मदद करने वाले होते हैं। शोधकार्य का एक उद्देश्य नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है और जिज्ञासा की प्रवृत्ति के विना इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती।

(ख) **वैषयिक दृष्टिकोण (Objective Point of View)**—वैषयिक दृष्टि-कोण का होना वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक है। यदि शोधकर्त्ता में यह गुण न हुआ तो वह वास्तविक घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में देखने में अवश्य ही असफल रहेगा क्योंकि वैषयिक दृष्टिकोण के अभाव का तात्पर्य यह होगा कि शोधकार्य पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (bias) द्वारा प्रभावित है। वैषयिक दृष्टिकोण की आवश्यकता सत्य निष्कर्ष के लिए भी पड़ती है क्योंकि इसके विना निरीक्षण-परीक्षण की क्रिया विकृत हो जाने की सम्भावना होती है और सत्यता की जाँच अत्यन्त कठिन हो जाती है। अत: स्पष्ट है कि वैषयिक दृष्टिकोण का होना शोधकर्त्ता के लिए एक महत्त्वपूर्ण गुण है क्योंकि शोधकार्य को विकृत करने वाले सभी व्यक्तियों, विचारों, आदर्शों तथा भावनाओं से निरन्तर अलगाव रखते हुए सत्य की खोज करना वैषयिक दृष्टिकोण के आधार पर ही सम्भव है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि एक सफल व उत्तम अनुसन्धानकर्त्ता के लिए एकाधिक गुणों से सम्पन्न होना परमावश्यक है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सभी अनुसन्धानकर्त्ता या शोधकर्त्ता सर्वगुणसम्पन्न होते हैं और न ही आवश्यक गुणों की कोई अन्तिम सूची तैयार की जाती है। पर इतना कहा जा सकता है कि शोधकार्य कोई साधारण कार्य नहीं है इस कारण साधारण व्यक्तियों द्वारा उसे सुसम्पन्न नहीं कराया जा सकता है। उसके लिए अनुभवी, योग्य, कुशल व उद्योगी व्यक्तियों की आवश्यकता है और उपरोक्त गुण ऐसे व्यक्तियों के लिए सफलता की सोपान बन जाते हैं और उन्हें लक्ष्य की ओर हाथ पकड़कर ले जाने के साधन बन जाते हैं।

———

६ सामाजिक अनुसन्धान व शोध की प्रविधियाँ

(TECHNIQUES OF SOCIAL INVESTIGATION AND RESEARCH)

सामाजिक घटनाओं के प्रयोगसिद्ध (empirical) अध्ययन का ही दूसरा नाम सामाजिक शोध और सामाजिक अनुसन्धान है। प्रयोगसिद्ध अध्ययन तब तक सम्भव नहीं जब तक कि एक या एकाधिक निश्चित व सुव्यवस्थित अध्ययन-प्रणालियों को अपनाया न जाए। इन्हीं को पद्धतियाँ कहते हैं; ये पद्धतियाँ आधारभूत रूप में सभी विज्ञानों में समान या एक जैसी होती हैं; केवल अध्ययन-वस्तु की प्रकृति के अनुरूप इनके रूप या स्वरूप में कुछ आवश्यक परिवर्तन प्रत्येक विज्ञान में कर लिया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पद्धति (method) वह प्रणाली (procedure) है जिसके अनुसार अध्ययन-कार्य का संगठन, तथ्यों की विवेचना तथा निष्कर्षों का निर्धारण किया जाता है। पर यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि विषय से सम्बन्धित तथ्यों का संकलन सुव्यवस्थित तरीकों से नहीं किया है। इन्हीं तरीकों को प्रविधियाँ (techniques) कहते हैं। निम्नलिखित विवेचना से इन बातों का अधिक स्पष्टीकरण हो सकेगा।

पद्धति क्या है ?
(What is Method ?)

पद्धति का तात्पर्य उस प्रणाली से है जिसे कि एक वैज्ञानिक अपनी अध्ययन-वस्तु के सम्बन्ध में तथ्ययुक्त (factual) निष्कर्ष निकालने के लिए उपयोग में लाता है। तथ्ययुक्त निष्कर्ष निकालने का कोई संक्षिप्त मार्ग (short-cut) नहीं है। इसके लिए निरीक्षण, वर्गीकरण, प्रयोग, परीक्षण, तुलना तथा निष्कर्षीकरण के कठिन मार्ग को ही अपनाना पड़ता है। इन सब को मिलाकर जिस अध्ययन-प्रणाली की प्राप्ति होती है उसी को वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं। यह प्रणाली अथवा पद्धति सभी विज्ञानों में एक-सी होती है क्योंकि प्रत्येक विज्ञान का आधारभूत कार्य (function) तथ्ययुक्त निष्कर्ष निकालना और उसी आधार पर नियमों को प्रतिपादित करना होता है और ऐसा करने के लिए निरीक्षण, परीक्षण, वर्गीकरण, तुलना आदि के कठिन मार्ग से गुजरना ही पड़ता है। श्री उल्फ (Wolfe) ने लिखा है कि "कोई भी अनुसन्धान-प्रणाली, जिसके द्वारा विज्ञान का निर्माण हुआ हो और उसका विकास हो रहा हो, वैज्ञानिक पद्धति कहलाने की अधिकारी है।"[1] सर्वश्री बर्टरैण्ड (Bertrand) तथा उनके साथियों के अनुसार, "प्रकृति में नियमितता के निर्धारण और वर्गीकरण में प्रयुक्त प्रणाली को

1. "Any mode of investigation by which science has been built up and is being developed is entitled to be called a scientific method."—A. Wolfe, *Essentials of Scientific Method*, p. 20.

वैज्ञानिक पद्धति कहा जाता है।"[2] सर्वश्री गुड और हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है कि जब विज्ञान की इन आधारभूत बातों को समाजशास्त्र के क्षेत्र में लागू किया जाता है तो उसे समाजशास्त्र की अध्ययन-पद्धति कहते हैं।[3]

श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) के मतानुसार "वैज्ञानिक पद्धति में निम्नलिखित लक्षण पाए जाते हैं—(अ) तथ्यों का सतर्क एवं शुद्ध वर्गीकरण तथा उनके सह-सम्बन्ध व अनुक्रम का निरीक्षण, (ब) रचनात्मक कल्पना की सहायता से वैज्ञानिक नियमों की खोज, (स) आत्म-आलोचना तथा समान दृष्टिकोण वाले सभी व्यक्तियों के लिए (अर्थात् सभी वैज्ञानिकों के लिए) समान रूप से सिद्ध अन्तिम कसौटी प्रस्तुत करना।"[4] इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक या एकाधिक प्रणालियों को, अध्ययन-वस्तु की प्रकृति के अनुसार, अपनाया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सर्वेक्षण तथा शोध की पद्धतियों को मोटे तौर पर हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) सामान्य पद्धति (general method) जो कि सभी विज्ञानों में, चाहे वह प्राकृतिक विज्ञान हो अथवा सामाजिक, सामान्य अर्थात् एक-सी होती है और इस सामान्य पद्धति के अन्तर्गत चार प्रमुख स्तर या चरण होते हैं—(अ) प्राक्कल्पना का निर्माण, (ब) तथ्यों का निरीक्षण, संग्रह एवं लेखन, (स) इस प्रकार प्राप्त सामग्री का श्रेणियों तथा/अथवा अनुक्रमों में वर्गीकरण, तथा (द) वैज्ञानिक निष्कर्षीकरण तथा सामान्य नियमों का प्रतिपादन।[5] वैज्ञानिक अध्ययन में इस पद्धति का अनुसरण सभी विज्ञानों द्वारा किया जाता है, इसीलिए इसे सामान्य पद्धति कहते हैं। पर चूँकि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है इस कारण अध्ययन-विषय की प्रकृति के अनुसार (२) कुछ विशिष्ट पद्धतियों (specific or particular methods) को भी अपनाने की आवश्यकता होती है। जैसे, ऐतिहासिक पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, तुलनात्मक पद्धति, सर्वेक्षण पद्धति आदि। इनके सम्बन्ध में हम आगे विवेचना करेंगे।

सामाजिक अनुसन्धान व शोध की पद्धतियाँ
(Methods of Social Investigation and Research)

सामाजिक शोध तथा अनुसन्धान का उद्देश्य कुछ वैज्ञानिक निष्कर्षों को निकालकर ज्ञान की वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति कुछ वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करने पर ही सम्भव हो सकती है। मोटे तौर पर इन पद्धतियों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

---

2. "The procedure followed in determining and classification regularity in nature is called scientific method."—Bertrand and associates, *Rural Sociology*, p. 4.

3. "........the application of the fundamentals of science to the field of sociology. This is essentially what we mean by method."—William J. Goode & Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, New York, 1952, p. 5.

4. "The scientific method is marked by the following features : (a) careful and accurate classification of facts and observation of their correlation and sequence, (b) the discovery of scientific laws by aid of the creative imagination, (c) self-criticism and the final touch stone of equal validity for all normally constituted mind."—Karl Pearson, *The Grammar of Science*, p. 6.

5. Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, pp. 96—101.

(१) **निगमन तथा आगमन पद्धति** (Deductive and Inductive Method)—अध्ययन की निगमन प्रणाली के अनुसार हम सामान्य सत्य के आधार पर विशिष्ट सत्य का निरूपण करते हैं अर्थात् सामान्य सत्य के आधार पर हम विशिष्ट सत्य का अनुमान लगाते हैं और तर्कों के आधार पर उसका अनुमोदन होता है तथा इस प्रकार जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वही हमारे नियम होते हैं। इस प्रकार निगमन पद्धति के अन्तर्गत मौलिक मान्यताओं व धारणाओं के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं और इन निष्कर्षों में तर्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम इस सामान्य सत्य को स्वीकार करें कि मनुष्य एक मरणशील प्राणी है तो हम यह विशिष्ट निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि श्याम मनोहर एक मरणशील प्राणी है क्योंकि वह भी एक मनुष्य है। अतः स्पष्ट है कि मानव-स्वभाव व व्यवहार के सम्बन्ध में जो सामान्य मान्यताएँ हैं उनके आधार पर इस निगमन पद्धति की सहायता से हम अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों को निकाल सकते हैं। **आगमन पद्धति** में अध्ययन-कार्य निगमन प्रणाली के विपरीत ढंग से किया जाता है। अर्थात् आगमन पद्धति के अन्तर्गत हम विशिष्ट से सामान्य, सूक्ष्म से व्यापक सत्य की प्रतिस्थापना करते हैं। उदाहरणार्थ, विभिन्न व्यक्तियों की मृत्यु देखकर हम मनुष्य के मरणशील होने का निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में अनुभवों के आधार पर नियम बनाए जाते हैं और इसीलिए इसे अनुभव पद्धति भी कहा गया है। कुछ लोग तो इसे ऐतिहासिक प्रणाली (historical method) भी कहते हैं क्योंकि भूतकाल की विभिन्न घटनाओं और व्यवहारों के अनुक्रम (sequence) के अध्ययन के आधार पर सामाजिक नियमों का प्रतिपादन आगमन पद्धति के अन्तर्गत ही किया जाता है।

(२) **सांख्यिकीय पद्धति** (Statistical Method)—सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में सांख्यिकीय पद्धति एक अत्यन्त निर्भरयोग्य पद्धति है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में होता था, पर अब सामाजिक विज्ञानों में भी यह एक अत्यन्त लोकप्रिय पद्धति वन गई है क्योंकि इस पद्धति की सहायता से अनुसन्धान-कार्यों से प्राप्त परिणामों को अधिक यथार्थ व वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रो० लॉविट (Lovitt) ने लिखा है कि सांख्यिकीय पद्धति के अन्तर्गत किसी घटना की व्याख्या, विवरण तथा तुलना के लिए संख्यात्मक तथ्यों (numerical data) का संकलन, उनका वर्गीकरण व सारिणीयन किया जाता है। सांख्यिकीय पद्धति में व्यक्तिगत इकाई के स्तर पर अध्ययन की तुलना में सामूहिक अध्ययन (collective study) अधिक सरलता से किया जा सकता है। साथ ही, चूंकि इस पद्धति में संख्यात्मक तथ्यों को ही निष्कर्ष का आधार माना जाता है, इस कारण अन्य किसी भी पद्धति की तुलना में इसके निष्कर्ष या नियम अधिक यथार्थ हो सकते हैं, बशर्ते कि वे संख्यात्मक तथ्य सही हों। इस पद्धति में सर्वप्रथम हम अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित संख्यात्मक तथ्यों या आँकड़ों को एकत्रित करते हैं और फिर उन संकलित आँकड़ों को व्यवस्थित व संगठित करते हैं अर्थात् संगृहीत आँकड़ों का सम्पादन (editing the collected data), उनका वर्गीकरण व सारिणीयन (tabulation) या संकेतीकरण (codification) करते हैं; इसके पश्चात् उन तथ्यों का विश्लेषण करते हुए एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस प्रकार इस पद्धति में आरम्भ से अन्त तक संख्यात्मक तथ्यों को ही अध्ययन व निष्कर्ष का आधार माना जाता है और इसीलिए घटनाओं का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन (objective evaluation) सम्भव होता है। परन्तु इस पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसकी सहायता से

केवल उन्हीं घटनाओं का अध्ययन सम्भव है जिनको हम संख्या में व्यक्त कर सकते हैं।

(३) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—भूतकाल के तथ्यों या घटनाओं के सन्दर्भ में वर्तमान को समझने की विधि ही ऐतिहासिक पद्धति का आधार है। कुछ लोग यह कहकर इस पद्धति की आलोचना करते हैं कि यह 'आरामकुर्सी वाले विशेषज्ञों' (arm-chair specialists) की पद्धति है जो कि घर बैठे-बैठे केवल ऐतिहासिक ग्रन्थों व सामग्रियों की सहायता से सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकालते हैं। परन्तु यह धारणा सर्वथा गलत है। विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यों व घटनाओं का अध्ययन करने पर हमें यह पता चलता है कि एक विशेष प्रकार की संस्था या सामाजिक घटना किस समय और किन परिस्थितियों में सम्भव हो सकी थी और उस समय या उन परिस्थितियों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप उस विशिष्ट संस्था या सामाजिक घटना में किस प्रकार के परिवर्तन होते गए। इस प्रकार विभिन्न समयों या परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों की एक धारावाही प्रवृत्ति का पता चलाकर विभिन्न सामाजिक घटनाओं के क्रम-विकास सम्बन्धी सामान्य नियमों को खोजा जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक ग्रन्थों में संकलित पूर्व-संचित ज्ञान-शृंखला अर्थहीन नहीं होती, अपितु नवीन शोध-कार्यों के लिए एक ठोस आधार प्रदान कर विज्ञान के क्रम-विकास में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। साथ ही अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में पूर्व-ज्ञान प्राप्त करने, विषय की प्रमुख विशेषताओं को समझने, अध्ययन-कार्य में आने वाली कठिनाइयों का अनुमान लगाने, प्राक्कल्पना का निर्माण करने तथा सर्वोत्तम अध्ययन पद्धतियों का चुनाव करने के विषय में भी ऐतिहासिक पद्धति की उपयोगिता सभी गम्भीर शोधकर्त्ता स्वीकार करते हैं। पर आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि केवल पुस्तताकालय-पद्धति पर ही भरोसा न करके अध्ययन-स्थल में जाकर वास्तविक निरीक्षण के द्वारा तथ्यों का संकलन कर निष्कर्ष निकाला जाता है।

(४) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)—सामाजिक शोध में इस पद्धति का भी प्रचलन उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इसे प्रयोगशाला-पद्धति (Laboratory Method) भी कहते हैं। इसमें किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों अथवा दशाओं के अन्तर्गत अध्ययन-विषय को रखकर उसका अध्ययन करना पड़ता है। अध्ययन के दौरान विषय पर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव पड़ने नहीं दिया जाता है और जैसा वह है उसी रूप में उसका अध्ययन कर लिया जाता है। ऐसा भी होता है कि दो समान तरह के समूहों को चुन लिया जाता है और उनमें से एक पर नियन्त्रण रखकर दूसरे में एक कारक को उत्पन्न करके, उसके परिणामस्वरूप होने वाले परिवर्तनों को देखा जाता है। अब यदि प्रथम समूह से दूसरा समूह भिन्न सिद्ध होता है तो उसका कारण वह कारक है, यह मान लिया जाता है। यद्यपि सामाजिक घटनाओं या समूहों पर इस प्रकार का नियन्त्रण बहुत कठिन है, फिर भी असम्भव नहीं। प्रयोगशाला किसी एक कमरे में ही हो, यह अनिवार्य नहीं; समाजशास्त्र की प्रयोगशाला तो वास्तविक समाज है और उस समाज के विभिन्न अंगों का प्रयोगात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

(५) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)—इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम विभिन्न समुदायों, वर्गों, व्यवस्थाओं, रीति-रिवाजों आदि के विषय में अलग-अलग अध्ययन किया जाता है और फिर उनमें पाए जाने वाले सामान्य तत्त्वों को छाँटकर उनके आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यदि विभिन्न सामाजिक

घटनाओं से सम्बद्ध तथ्यों को सावधानी से संकलित किया जाए, उनका उचित ढंग से वर्गीकरण किया जाए तथा उनमें पाई जाने वाली समानताओं और भिन्नताओं दोनों को ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किया जाए तो सामाजिक घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्धों को तथा उनसे सम्बद्ध सामान्य नियमों को ढूँढ़ा जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह परम आवश्यक है कि विषयों का चुनाव और तुलना वैज्ञानिक ढंग से की जाए और अपनी निजी अभिमति तथा दृष्टिकोण अथवा आध्यात्मिक, दार्शनिक या मनोभावात्मक (emotional) विचारों को दृढ़ता से दूर रखा जाए जिससे कि तुलनात्मक कार्य और उसके आधार पर प्रतिपादित नियम विकृत न हो जाएँ।

(६) **संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति** (Structural-Functional Method)—इस पद्धति की प्रमुख मान्यता यह है कि समाज कोई अखण्ड व्यवस्था नहीं है अपितु इसका निर्माण अनेक इकाइयों द्वारा होता है और ये इकाइयाँ एक निश्चित ढंग से व्यवस्थित (arranged) होती हैं। इस व्यवस्था के फलस्वरूप उत्पन्न समाज के ढाँचे या बाहरी रूपरेखा को ही संरचना (structure) कहते हैं, पर सामाजिक संरचना को बनाने वाली ये इकाइयाँ या निर्मायक तत्त्व व्यर्थ के नहीं होते बल्कि उनमें से प्रत्येक इकाई का कोई-न-कोई प्रकार्य (function) होता है और इन्हीं प्रकार्यों के फलस्वरूप सामाजिक संरचना की निरन्तरता व अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार संरचना (structure) और प्रकार्य (function) एक-दूसरे पर अत्यधिक निर्भर हैं और वह इस रूप में कि प्रकार्य संरचना के अस्तित्व व निरन्तरता के लिए आवश्यक है और संरचना के बिना प्रकार्य सम्भव नहीं क्योंकि कोई भी क्रिया शून्य में नहीं होती। इसीलिए यदि संरचना में परिवर्तन होगा तो निर्मायक तत्त्वों के प्रकार्यों व प्रकार्यात्मक सम्बन्धों में भी परिवर्तन होगा। इन मान्यताओं के अन्तर्गत संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति में अध्ययनकर्त्ता समाज के विभिन्न निर्मायक तत्त्वों, समाज-संरचना में इन तत्त्वों का स्थान या स्थिति तथा उनके प्रकार्यों को जानने का प्रयत्न करता है तथा उनके पारस्परिक प्रकार्यात्मक सम्बन्धों के सन्दर्भ में अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है।

सामाजिक सर्वेक्षण की इन पद्धतियों के विषय में हम आगे के कुछ अध्यायों में अलग-अलग व विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

सामाजिक अनुसन्धान की प्रविधियाँ
(Techniques of Social Investigation)

किसी भी सामाजिक अनुसन्धान का उद्देश्य एक घटना-विशेष के सम्बन्ध में वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना होता है। वैज्ञानिक निष्कर्ष कोई अट्कलपच्चू निष्कर्ष नहीं अपितु **वास्तविक तथ्यों** (actual facts) पर आधारित यथार्थ (exact) व निश्चित निष्कर्ष होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसन्धान की बुनियादी शर्त अध्ययन-विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का संकलन है। वास्तविक तथ्यों को काल्पनिक ढंग से एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए तो कुछ प्रमाण-सिद्ध तरीकों का होना आवश्यक है। सामाजिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक वास्तविक तथ्यों को एकत्रित करने के लिए काम में लाए गए निश्चित व प्रमाण-सिद्ध तरीकों को ही प्रविधि कहते हैं। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

प्रविधि का अर्थ
(Meaning of Technique)

वैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या के लिए जिन वास्तविक तथ्यों की आवश्यकता होती है उन्हें एकत्रित करने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता जिस विधि या तरीके को अपनाता है उसे प्रविधि कहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **प्रविधि वास्तव में वह साधन है जिसके माध्यम से अनुसन्धान के लिए आवश्यक वास्तविक तथ्यों, सूचनाओं तथा आँकड़ों का संकलन किया जाता है।**

प्रो० मोज़र (Moser) ने लिखा है, "प्रविधियाँ एक सामाजिक वैज्ञानिक के लिए वे मान्य व सुव्यवस्थित तरीके हैं जिन्हें वह अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित विश्वसनीय (reliable) तथ्यों को प्राप्त करने के लिए उपयोग में लाता है।"

उपरोक्त परिभाषा में इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है कि सामाजिक विज्ञानों में प्रविधि का एक निश्चित अर्थ है और उस अर्थ के अनुसार प्रविधि वह निश्चित तरीका है जो कि एक सामाजिक वैज्ञानिक को उसके अध्ययन-विषय से सम्बन्धित निर्भरयोग्य तथ्यों को इकट्ठा करने में मदद करता है।

प्रविधि के अर्थ को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए निम्नलिखित बातों को अर्थात् प्रविधि की निम्नलिखित **विशेषताओं** को याद रखना आवश्यक होगा—

(१) प्रविधि अध्ययन-विषय से सम्बन्धित विश्वसनीय तथ्यों, सूचनाओं या आँकड़ों को एकत्रित करने का एक तरीका है।

(२) प्रविधि मनमाने ढंग से अपनाया गया तरीका नहीं, अपितु एक सुव्यवस्थित व परीक्षित (tested) तरीका होता है। इसीलिए कुछ विद्वान प्रविधि को तथ्यों के संकलन का स्वीकृत या मान्य तरीका मानते हैं।

(३) प्रविधि का सम्बन्ध सम्पूर्ण अनुसन्धान से नहीं होता; इसका सम्बन्ध तो वहीं तक सीमित होता है जहाँ तक कि निर्भरयोग्य तथ्यों, सूचनाओं आदि को एकत्रित किया जाता है।

(४) प्रविधि सभी विज्ञानों के लिए समान नहीं होती। प्रत्येक विज्ञान अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग प्रविधियों को अपनाता है।

(५) एक ही विज्ञान की अनेक प्रविधियाँ हो सकती हैं और होती भी हैं। इनमें से किस प्रविधि या प्रविधियों को एक अनुसन्धान-कार्य में उपयोग में लाया जाएगा यह अध्ययन-विषय की प्रकृति, क्षेत्र तथा उद्देश्य एवं कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता के पास उपलब्ध साधनों पर निर्भर करता है।

(६) प्रविधि कोई स्थिर तरीका नहीं है। समय-समय पर किसी भी मौजूदा प्रविधि में आवश्यक परिवर्तन व परिमार्जन हो सकता है अथवा नई प्रविधियों को जन्म दिया जा सकता है।

सामाजिक अनुसन्धान की प्रविधियाँ
(Techniques of Social Investigation)

सामाजिक अनुसन्धान का आधार विश्वसनीय तथ्य, सूचनाएँ, आँकड़े आदि हैं। इनको एकत्रित करने की कुछ प्रविधियों को समाजशास्त्र ने अपने अध्ययन-विषय में सामाजिक घटनाओं की प्रकृति के अनुसार विकसित किया है। इन प्रविधियों का

एक संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) प्रश्नावली (Questionnaire)—जब काफी बड़े क्षेत्र में सूचनादाता फैले हुए होते हैं और उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना सम्भव नहीं होता है तो उनसे सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए प्रश्नावली की सहायता ली जाती है। प्रश्नावली में विषय से सम्बन्धित सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रश्न इस प्रकार सरल व संक्षिप्त रूपों में लिखे जाते हैं कि प्रश्नों का उत्तर अधिकतर 'हाँ', 'नहीं' अथवा संख्या में दिया जा सके। प्रश्नों की इस अनुसूची को डाक द्वारा एक अनुरोध-पत्र के साथ भेज दिया जाता है कि सूचनादाता कृपया प्रश्नों का उत्तर भरकर प्रश्नावली को लौटा दे।

(२) अनुसूची (Schedule)—अनुसूची भी एक प्रकार की प्रश्नावली होती है, पर अन्तर केवल इतना है कि प्रश्नावली को डाक द्वारा भेजकर सूचना एकत्रित की जाती है जबकि अनुसूची को स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं सूचनादाता से मिलकर उत्तरों को भरता है या भरवाता है। प्रश्नावली के द्वारा केवल शिक्षित सूचनादाताओं से ही सूचना प्राप्त की जा सकती है जबकि अनुसूची सभी प्रकार के लोगों से सूचना प्राप्त करने का एक साधन है।

(३) साक्षात्कार (Interview)—साक्षात्कार वह व्यवस्थित विधि है जिसके द्वारा विषय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से भेंट करके विषय के सम्बन्ध में उनके विचारों, भावनाओं तथा अनुभवों को, और साथ ही उनके आन्तरिक जीवन को जानने का प्रयत्न किया जाता है। साक्षात्कार में कुछ पूर्वनिर्धारित प्रश्नों को पूछकर उन्हें लिख लिया जाता है ताकि विषय के सम्बन्ध में अधिकाधिक सूचना प्राप्त हो अथवा समस्या पर आवश्यक प्रकाश पड़े।

(४) निरीक्षण (Observation)—अध्ययन-विषय से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं या तथ्यों को अध्ययन-स्थल पर जाकर वास्तविक निरीक्षण के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। यह निरीक्षण सहभागी (participant) हो सकता है और असहभागी (non-participant) भी। सहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं अध्ययन किए जाने वाले समुदाय या समूह का एक सदस्य बनकर उन्हीं के बीच रहते हुए अपने विषय से सम्बन्धित सूचनाओं को प्राप्त करता रहता है। इसके विपरीत असहभागी निरीक्षण में वह एक बाहरी सदस्य के रूप में समय-समय पर निरीक्षण के द्वारा सूचनाओं को एकत्रित करता रहता है।

(५) निदर्शन (Sampling)—इस प्रविधि के द्वारा सूचना प्राप्ति में सुविधा हो इस उद्देश्य से एक विस्तृत समूह में से कुछ प्रतिनिधित्वपूर्ण इकाइयों को चुनकर उनका अध्ययन इस सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है कि उनका अध्ययन करने से सम्पूर्ण समूह का अध्ययन करना होगा। इस प्रविधि को अपनाना विशेष करके उस समय अत्यन्त हितकर सिद्ध होता है जबकि अध्ययन-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो और बहुत अधिक लोगों से सूचना को प्राप्त करना हो। निदर्शन-प्रविधि से समय व धन दोनों की ही बचत हो जाती है।

(६) मनोवृत्तिमापक पैमाने (Scales for Measurement of Attitudes)—सामाजिक शोध व सर्वेक्षण में प्रायः अध्ययन-विषय की प्रकृति इस प्रकार की होती है कि विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों या घटनाओं के प्रति लोगों की मनोवृत्ति को जानना आवश्यक हो जाता है। मनोवृत्ति एक अमूर्त घटना है, इसे नापना अत्यधिक कठिन है, इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ मनोवृत्तिमापक पैमानों को खोज

निकाला गया है। इन पैमानों की सहायता से विभिन्न स्थितियों में मनोवृत्ति, सामाजिक दूरी आदि को नापना सम्भव हो गया है।

(७) **समाजमिति** (Sociometry)—यह एक नवीनतम यन्त्र है जिसके द्वारा संस्थात्मक एवं समूह-व्यवहार को नापा जाता है। इस प्रकार के पैमाने मनोवृत्तिमापक पैमानों के ही समान होते हैं, यद्यपि कुछ मूल बातों में भिन्नता है। मनोवृत्तिमापक पैमानों का उपयोग अमूर्त मनोवृत्तियों को मापने एवं उनका गणनात्मक अध्ययन करने में किया जाता है जबकि समाजमितिक पैमानों का उपयोग समाज की ऐसी घटनाओं को नापने में किया जाता है जो मनोवृत्ति की अपेक्षा अधिक निरीक्षण-योग्य हैं, चाहे वे जटिल भले ही हों। इन पैमानों के द्वारा विशेष करके निरीक्षण-योग्य संस्थात्मक व्यवहारों को नापा जाता है।

उपरोक्त विवरण सामाजिक अनुसन्धान की प्रविधियों की एक अति संक्षिप्त रूपरेखा मात्र है। इनमें से अधिकांश प्रविधियों के विषय में हम अगले एक-एक अध्याय में पृथक् रूप में तथा विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

पद्धति व प्रविधि में अन्तर
(Distinction between Method and Technique)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर 'पद्धति' (Method) एवं 'प्रविधि' (technique) की अवधारणा को समझ लेने के पश्चात् अब इन दोनों में पाए जाने वाले निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) पद्धति वह प्रणाली है जिसके द्वारा वैज्ञानिक अपने अध्ययन-विषय की विवेचना करता है। दूसरे शब्दों में पद्धति अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली है। इसके विपरीत प्रविधि वह तरीका है जिससे अध्ययन-विषय से सम्बन्धित सूचनाओं तथा आँकड़ों को प्राप्त किया जाता है।

(२) पद्धति सभी विज्ञानों में समान भी हो सकती है, यद्यपि अलग-अलग विज्ञान कुछ विशिष्ट पद्धतियों को विकसित कर लेते हैं। इसके विपरीत सूचनाओं तथा आँकड़ों को प्राप्त करने की प्रविधियाँ अलग-अलग विज्ञानों में बहुधा भिन्न-भिन्न ही होती हैं, विशेषकर प्राकृतिक विज्ञानों की प्रविधियाँ सामाजिक विज्ञानों की प्रविधियों से बिल्कुल भिन्न होती हैं जबकि सामान्य पद्धति सभी विज्ञानों में चाहे वह सामाजिक हो अथवा प्राकृतिक बहुत-कुछ एकसमान होती है। इस अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि सभी विज्ञानों की एकता उनकी अध्ययन-पद्धति में होती है, न कि प्रविधियों में। एक उदाहरण द्वारा इस बात को और भी स्पष्ट किया जा सकता है, समाजशास्त्र अपने अध्ययन-कार्य के लिए जिन वैज्ञानिक पद्धतियों को काम में लगाता है, उनका प्रयोग अन्य विज्ञानों में भी होता है। उदाहरणार्थ, सांख्यिकीय पद्धति को ही लीजिए। इस पद्धति का उपयोग सभी विज्ञानों द्वारा किया जाता है और सभी विज्ञान इस पद्धति की आधारभूत मान्यताओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं। उसी प्रकार सामान्य वैज्ञानिक पद्धति सभी विज्ञानों में समान है और वह इस अर्थ में कि सभी विज्ञानों में अनुसन्धानकर्त्ता सर्वप्रथम एक कार्यनिर्वाही प्राक्कल्पना (Hypothesis) का निर्माण करता है, उसके बाद अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों को निरीक्षण आदि के माध्यम से एकत्रित करता है, फिर संकलित तथ्यों का वर्गीकरण व संगठन करता है और अन्त में तथ्यों का विश्लेषण तथा व्याख्या करके उसी आधार पर एक वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालता व नियमों को प्रतिपादित

करता है। इस प्रकार पद्धतियों के मामले में सभी विज्ञानों में एकसमानता देखने को मिलती है। परन्तु यह बात प्रविधियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती क्योंकि प्रविधियों को सूचनाओं व आँकड़ों को एकत्रित करने के एक साधन के रूप में काम में लाया जाता है और चूंकि इन सूचनाओं या तथ्यों की प्रकृति प्रत्येक विज्ञान में अलग-अलग होती है, इस कारण प्रत्येक विज्ञान अपनी सुविधानुसार अलग-अलग प्रविधियों को चुन सकता है और चुनता भी है।

(३) पद्धति का सम्बन्ध एक शोध या अनुसन्धान-कार्य की सम्पूर्ण प्ररचना (design) तथा प्रतिमान से होता है। हम यह जानते हैं कि शोध (research) के उद्देश्य के आधार पर अध्ययन-विषय के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने के लिए पहले से ही एक योजना की रूपरेखा बना ली जाती है और उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैज्ञानिक पद्धति या पद्धतियों को चुना जाता है और एक बार यह निश्चित हो जाने के बाद कि उस अनुसन्धान-कार्य के लिए कौनसी पद्धति या पद्धतियाँ उपयुक्त होंगी, फिर उसे बदला नहीं जाता। इस प्रकार पद्धति का सम्बन्ध शोध-कार्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया से होता है क्योंकि इसका साथ प्राक्कल्पना के निर्माण से लेकर वैज्ञानिक नियम के प्रतिपादन तक बराबर बना रहता है। इस रूप में हम यह कह सकते हैं कि पद्धति अनुसन्धान के प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त होती है। परन्तु प्रविधि का क्षेत्र सीमित है क्योंकि यह केवल उस साधन की द्योतक है जिसके द्वारा अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों तथा सूचनाओं को एकत्रित तथा व्यवस्थित किया जाता है अर्थात् शोध या अनुसन्धान-कार्य में प्रविधि का प्रवेश उसी स्तर पर होता है जबकि अनुसन्धान-कर्त्ता तथ्यों को एकत्रित करने का प्रयत्न करता है और जैसे ही तथ्यों के संकलन व संगठन का कार्य पूरा हो जाता है वैसे ही शोध-कार्य में प्रविधि की आवश्यकता भी स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि प्रविधि का सम्बन्ध, पद्धति की भाँति अनुसन्धान की सम्पूर्ण प्रक्रिया से नहीं अपितु केवल कुछ अंश से ही होता है।

(४) पद्धति व प्रविधि में एक और आधारभूत अन्तर यह है कि पद्धति स्वयं में स्वतन्त्र है जबकि प्रविधि दूसरे पर आश्रित होती है और वह इस अर्थ में कि प्रविधि का निर्धारण पद्धति के द्वारा अथवा पद्धति के अनुसार होता है, न कि प्रविधियों के अनुसार पद्धतियों का। अनुसन्धान के उद्देश्यों व प्रकृति को ध्यान में रखते हुए सर्व-प्रथम पद्धति या पद्धतियों का चुनाव किया जाता है, तब कहीं इस बात का निर्धारण होता है कि उस पद्धति या पद्धतियों से मेल खाती हुई किन प्रविधियों को तथ्यों को एकत्रित करने के काम में लगाया जाए। उदाहरणार्थ, यदि अनुसन्धान-कार्य के लिए ऐतिहासिक पद्धति को चुना गया है तो उसी के अनुसार ऐसी प्रविधियों को भी चुनना होगा जो कि इस पद्धति के अनुकूल तथ्यों के संकलन में सहायक सिद्ध हो सकें। अतः यह स्पष्ट है कि अनुसन्धान-कार्य में पद्धति प्रथम आवश्यकता है जबकि प्रविधि उसकी एक पूरक मात्र।

(५) चूंकि प्रविधि का निर्धारण पद्धति के द्वारा या पद्धति के अनुसार होता है, इस कारण जब पद्धति बदलती है तो प्रविधि में भी आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है; इसके विपरीत प्रविधि के बदलने पर पद्धति में परिवर्तन कदापि आवश्यक नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि हम एक अनुसन्धान-कार्य में तुलनात्मक पद्धति को किसी कारणवश छोड़कर ऐतिहासिक पद्धति को अपना लेते हैं तो हमारे लिए यह अनिवार्य होगा कि सम्बन्धित प्रविधियों को भी बदल दें वरन् आवश्यक तथ्यों व सूचनाओं का संकलन हमारे लिए सम्भव न होगा। परन्तु अनुसन्धान-कार्य

के दौरान अगर हम यह अनुभव करते हैं कि किसी प्रविधि को छोड़कर दूसरी किसी प्रविधि या प्रविधियों को अपनाना आवश्यक है तो उसके लिए पद्धति को बदलने की कोई जरूरत नहीं होगी। इस प्रकार परिवर्तन के मामले में पद्धति प्रविधि पर निर्भर नहीं है जबकि प्रविधि पूर्णतया पद्धति पर निर्भरशील है।

(६) उपरोक्त अन्तर को एक-दूसरे ढंग से भी प्रस्तुत किया जा सकता है और वह इस रूप में कि एक प्रविधि का अन्त हो सकता है अथवा उसमें आवश्यक संशोधन व परिमार्जन भी किया जा सकता है, जबकि वैज्ञाकि पद्धति का रूप बहुत-कुछ उसी प्रकार का बना रहता है। उदाहरण के लिए एक मोटरकार के इंजन को 'स्टार्ट' करने की पद्धति पहले जो थी, आज भी वही है, पर 'स्टार्ट' करने की प्रविधि में आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक परिमार्जन (improvement) देखने को मिलता है। महले मोटरकार के इंजन को, उसमें हैण्डल डालकर और उसे घुमाकर 'स्टार्ट' करना पड़ता था, पर अब वही प्रविधि इतनी उन्नत हो गई है कि ड्राइवर के सीट पर बैठे-बैठे केवल एक बटन दबाकर ही स्टार्ट किया जा सकता है।

(७) पद्धति विशेषकर सामान्य पद्धति बहुत-कुछ स्थिर होती है और यह एक स्तर के बाद दूसरे स्तर से गुजरती हुई आगे बढ़ती है और इन स्तरों या चरणों में प्रायः उलट-फेर नहीं किया जा सकता। परन्तु प्रबिधियों के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती है क्योंकि अध्ययन-क्षेत्र, अध्ययन-वस्तु की प्रकृति, सूचनादाताओं की प्रकृति आदि के अनुसार प्रविधियों में पर्याप्त हेर-फेर की गुँजाइश सदा ही रहती है।

(८) अध्ययन की पद्धति यह निश्चित करती है कि कोई ज्ञान कला है अथवा विज्ञान। यदि अध्ययन करने में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया गया है तो अध्ययन से प्राप्त ज्ञान विज्ञान कहलाएगा। परन्तु यह विशेषता प्रविधियों में स्पष्ट रूप में देखने को नहीं मिलती है। प्रविधियों के आधार पर कोई ज्ञान कला है अथवा विज्ञान, यह मालूम नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि प्रविधि, पद्धति की भाँति अध्ययन की सम्पूर्ण प्रक्रिया की द्योतक नहीं है। इसीलिए इसके द्वारा केवल तथ्यों की, न कि तथ्ययुक्त ज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है। यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो यह अन्तर या भेद पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

उपरोक्त भेद या अन्तरों के आधार पर यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि प्रविधि की अपेक्षा पद्धति अथवा पद्धति की अपेक्षा प्रविधि अधिक महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के सन्दर्भ में यदि वास्तव में देखा जाए तो यह स्पष्ट होगा कि पद्धति व प्रविधि दोनों का ही अपना-अपना महत्त्व है। पद्धति का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है कि इसके बिना वैज्ञानिक शोध या अनुसन्धान कदापि सम्भव नहीं। उसी भाँति प्रविधि का महत्त्व इस रूप में सामने आता है कि सम्पूर्ण अनुसन्धान-कार्य के क्षेत्र में प्रविधि पद्धति की पूरक व सहयोगी है और उस रूप में वैज्ञानिक निष्कर्ष के लिए आवश्यक तथ्यों व सूचनाओं को एकत्रित करने में प्रविधियाँ अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। इन्हीं दो के सहयोग के कारण वैज्ञानिक अध्ययन आज अपने सार्थक रूप में सुपरिचित है।

———

१० तथ्यों का संकलन व उपयोग

(COLLECTION AND HANDLING OF DATA)

समाजशास्त्र के जन्मदाता श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) के अनुसार समाज और संस्कृति के विकास के किसी भी स्तर पर मनुष्य अपने जीवन से सम्बन्धित कुछ-न-कुछ समस्याओं से सदा ही घिरा रहा है और हमेशा ही उसने अपने ढंग से उन समस्याओं को समझने व सुलझाने का प्रयत्न अवश्य ही किया है। परन्तु इन समस्याओं को समझने और सुलझाने के 'ढंग' या तरीके, श्री कॉम्ट के अनुसार, प्रत्येक स्तर पर एक-से नहीं रहे हैं। विल्कुल आरम्भिक स्तर पर लोग प्रत्येक घटना के कारण के रूप में किसी-न-किसी अलौकिक शक्ति या ईश्वर को मानते थे। अर्थात् उनका विश्वास था कि जो कुछ भी घटना घटित हो रही है उन सबका कारण कोई-न-कोई अलौकिक शक्ति है। इसलिए उस घटना या समस्या को हल करने के लिए उस अलौकिक शक्ति की आराधना, पूजा या प्रार्थना आवश्यक है। इस स्तर के वाद जव मनुष्य के मस्तिष्क का कुछ और विकास हुआ तो उसने अलौकिक शक्ति को घटनाओं का कारण मानना छोड़कर अपनी कल्पनाओं के आधार पर घटनाओं के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया। अर्थात् दार्शनिक आधार पर विभिन्न घटनाओं को समझने तथा हल करने का प्रयत्न किया गया। अत: स्पष्ट है कि इन दोनों ही स्तरों पर वैज्ञानिक तरीके से समस्याओं या घटनाओं को समझने और सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। इसका तात्पर्य यही हुआ कि उस समय घटनाओं या समस्याओं का विश्लेषण व व्याख्या वास्तविक तथ्यों व आँकड़ों (facts and figures) पर आधारित नहीं होते थे और इसीलिए तथ्यों के संकलन का सामाजिक अध्ययनों में कोई भी महत्त्व नहीं था। इसके वाद मनुष्य वैज्ञानिक स्तर में प्रवेश करता है अर्थात् सामाजिक घटनाओं या समस्याओं के अध्ययन में वैज्ञानिक तरीकों को अपनाता है। इस स्तर पर यह विश्वास किया जाने लगा कि प्राकृतिक घटनाओं की भाँति सामाजिक घटनाएँ भी कुछ निश्चित नियमों के अनुसार घटित होती हैं और उन नियमों को एक घटना से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों के निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग व वर्गीकरण द्वारा ढूँढ़ निकाला जा सकता है। यहीं पर आकर तथ्यों के संकलन का महत्त्व सर्वप्रथम अनुभव किया गया। इस अध्याय में हम उन्हीं तथ्यों के संकलन व उपयोग के वारे में विवेचना करेंगे। पर उससे भी पूर्व यह समझ लेना आवश्यक होगा कि तथ्यों का संकलन हम क्यों करते हैं ?

तथ्यों का संकलन क्यों ?
(Why Collection of Data ?)

श्री कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने सच ही कहा है कि "सत्य तक पहुँचने के लिए कोई संक्षिप्त रास्ता नहीं है; विश्व की घटनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त

करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति के द्वार से गुजरने के सिवा और कोई दूसरा चारा नहीं।"[1] इसका सरल अर्थ यही है कि किसी भी घटना अथवा समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का एक ही रास्ता है कि हम वैज्ञानिक पद्धति को अपनाएँ। वैज्ञानिक पद्धति कोई मनमाना तरीका या पद्धति नहीं है। यह पद्धति कुछ निश्चित नियमों पर आधारित है। अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किसी निष्कर्ष पर एकाएक पहुँचा नहीं जा सकता। वहाँ तक पहुँचने के लिए कई स्तरों (steps) में से गुजरना पड़ता है। श्री कॉम्ट के अनुसार वैज्ञानिक पद्धति के ये स्तर या चरण इस प्रकार हैं—(अ) सर्वप्रथम हम किसी अध्ययन-विषय का चुनाव करते हैं, (ब) उसके बाद उस विषय या समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक निरीक्षण (observation) द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले तथ्यों का संकलन करते हैं, (स) फिर उन तथ्यों का समानताओं के आधार पर कुछ श्रेणियों में वर्गीकरण करते हैं, (द) इसके बाद उन तथ्यों की पुनः परीक्षा करते हैं और (य) अन्त में, उन परीक्षित तथ्यों के आधार पर नियमों का प्रतिपादन करते हैं।

प्रो० पौलाईन यंग (Pauline Young) ने वैज्ञानिक पद्धति के चार चरणों का उल्लेख किया है और वे हैं—(क) कार्यवाहक प्राक्कल्पना (hypothesis) का निर्माण, (ख) तथ्यों का निरीक्षण, संकलन तथा लेखन, (ग) लिखित तथ्यों का श्रेणियों और/या अनुक्रमों में वर्गीकरण तथा (घ) वैज्ञानिक विश्लेषण तथा नियमों का प्रतिपादन।

उपरोक्त दोनों ही विद्वानों द्वारा उल्लेखित वैज्ञानिक पद्धति के प्रमुख चरणों पर निगाह डालते ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि वैज्ञानिक तौर पर किसी भी समस्या या घटना के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने तथा उससे सम्बन्धित किसी भी नियम को ढूँढ़ने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि वास्तविक निरीक्षण द्वारा तथा अन्य स्रोतों (sources) से उस घटना या समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्यों का संकलन किया जाए। तथ्यों के संकलन के बिना वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य एक भी कदम आगे नहीं बढ़ सकता। समस्त सर्वेक्षण तथा शोध (research) का आधार तथ्यों का संकलन है। इस प्रकार संकलित तथ्यों का हम वर्गीकरण (classification) करते हैं और फिर कहीं उन वर्गीकृत तथ्यों का विश्लेषण करके हम किसी सामान्य निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक सर्वेक्षण या सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में तथ्यों का संकलन प्रथम आवश्यकता है। तथ्यों के संकलन का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट है, फिर भी निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी अच्छी तरह समझ में आ जाएगी।

तथ्यों के संकलन का महत्त्व
(Importance of Collection of Data)

तथ्यों के संकलन का महत्त्व इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि तथ्यों के बिना सामाजिक सर्वेक्षण असम्भव है। फिर भी इसके महत्त्व को हम सिलसिलेवार इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) किसी भी सामाजिक सर्वेक्षण, शोध अथवा अध्ययन का आदि और अन्त

1. "There is no short-cut to truth; no way to gain knowledge of the universe except through this gateway of scientific method."—Karl Pearson, *The Grammar of Science*, A & C Black, London, 1911, p. 1.

तथ्यों के संकलन पर ही निर्भर होता है। स्पष्ट है कि सर्वेक्षण का सर्वप्रमुख कार्य तथ्यों के संकलन से ही आरम्भ होता है, उन्हीं संकलित तथ्यों का हम वर्गीकरण करते हैं, फिर उन तथ्यों की पुनर्परीक्षा करते हैं और अन्त में उन परीक्षित तथ्यों के आधार पर ही नियमों या निष्कर्षों को निकालते हैं। इस प्रकार सर्वेक्षण के आदि से अन्त तक सर्वेक्षणकर्त्ता को समस्या या घटना के सम्वन्ध में संकलित तथ्यों पर ही निर्भर रहना होता है। तथ्यों के संकलन का यही सर्वप्रमुख महत्त्व है।

(२) तथ्यों के संकलन के बिना वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किसी भी घटना या समस्या का अध्ययन नहीं किया जा सकता। किसी भी घटना के लिए ईश्वर या अलौकिक शक्ति को कारण मानना अथवा दार्शनिक या काल्पनिक आधार पर किसी समस्या को समझने का प्रयत्न करना कदापि वैज्ञानिक नहीं है। वास्तविक सत्य तक पहुँचना अथवा यथार्थ ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा ही सम्भव हो सकता है और वैज्ञानिक पद्धति का एक आधारभूत चरण (step) तथ्यों का संकलन है। तथ्यों के संकलन का यह दूसरा उल्लेखनीय महत्त्व है।

(३) तथ्यों के संकलन का एक और महत्त्व यह है कि इसके बिना किसी भी घटना या समस्या के सम्बन्ध में वास्तविक कारणों को खोजा नहीं जा सकता। वास्तविक तथ्यों के आधार पर ही किसी भी घटना के कार्य-कारण सम्वन्ध को ढूँढ़ा जा सकता है अर्थात् कोई घटना किन कारणों से घटित होती है यह बात हमें उस घटना से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों का संकलन करने पर ही पता लग सकती है। किसी भी घटना को समझने के लिए उस घटना के कारणों का पता लगाना आवश्यक होता है और तथ्यों का संकलन इस आवश्यकता की पूर्ति करता है।

(४) तथ्यों का संकलन इस अर्थ में भी महत्त्वपूर्ण है कि इसी के आधार पर किसी समस्या को हल करने का उपाय ढूँढ़ निकालना हमारे लिए सरल हो जाता है क्योंकि तथ्यों के संकलन से समस्या का वास्तविक कारण स्पष्ट हो जाता है और वास्तविक कारण पता लग जाने से उस समस्या का यथार्थ हल निकालना भी हमारे लिए आसान हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि संकलित तथ्यों के आधार पर हमें यह पता लग जाए कि बच्चों को अपराधी बनाने में टूटे हुए परिवार और निर्धनता प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं तो हम बाल-अपराध को कम करने के लिए परिवार को टूटने से बचाने तथा निर्धनता को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठा सकते हैं।

(५) तथ्यों के संकलन का एक और महत्त्व यह है कि इससे समाज की वर्तमान अवस्था से परिचित होने का भी अवसर मिलता है और हमें सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं का भी ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ भूमिहीन किसानों के सम्बन्ध में तथ्यों का संकलन करने पर हमें इस प्रकार के किसानों की वर्तमान स्थिति के बारे में सही जानकारी प्राप्त हो सकती है। तथ्यों के संकलन के बिना वर्तमान स्थिति का अन्दाजा कदापि सम्भव नहीं है।

(६) तथ्यों का संकलन उचित ढंग से करने पर हमें सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों की प्रकृति तथा दिशा के बारे में सही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ, सरकारी तौर पर देश की जनसंख्या के सम्बन्ध में जो तथ्यों या आँकड़ों का संकलन किया जाता है उसके आधार पर हमें यह पता चल जाता है कि देश की आबादी घट रही है अथवा बढ़ रही है और यदि बढ़ रही है तो किस गति से। तथ्यों के संकलन के बिना सामाजिक परिवर्तन के बारे में यह ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है।

(७) तथ्यों का संकलन नियोजित परिवर्तन (planned change) करने में सहायक सिद्ध होता है। जैसा कि उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि तथ्यों के संकलन से सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों में होने वाले परिवर्तनों की प्रकृति व दिशा का सही ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान हमें इस काम में मदद करता है कि हम भविष्य के लिए किस प्रकार की योजना बनाएँ। इससे समाज में सुचिन्तित एवं सुनियोजित (well-thought and well-planned) परिवर्तन लाना सरल हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें संकलित तथ्यों के आधार पर यह पता चल जाता है कि देश की जनसंख्या किस रफ्तार से बढ़ रही है तो हम भविष्य के लिए इस प्रकार की योजना बना सकते हैं जिससे कि देश की जनसंख्या में एक निश्चित दर से कमी हो सके अर्थात् जन्मदर (birth rate) को एक निश्चित सीमा तक घटाने के लिए हम आवश्यक योजना को सोच-विचारकर बना सकते हैं।

(८) तथ्यों का संकलन सरकारी काम-काज या शासन-प्रबन्ध को ठीक से संचालित करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। तथ्यों का सही संकलन हो जाने पर सरकार को विभिन्न विषयों या परिस्थितियों के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी प्राप्त हो जाती है और उसे शासन सम्बन्धी आवश्यक कदम उठाने में बड़ी मदद मिलती है। इसीलिए सरकार समय-समय पर विभिन्न आयोग (commission), कमेटी आदि की नियुक्ति करती है जो कि तथ्यों का संकलन करके अपनी रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत करती है और सरकार उन्हीं के आधार पर प्रशासनिक कदम उठाती है अथवा अपनी भविष्य-नीति का निर्धारण करती है। शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में समस्त राजकीय काम-काज तथ्यों के संकलन पर ही आधारित होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से तथ्यों के संकलन का यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय महत्त्व है।

(९) सामाजिक सर्वेक्षण और शोध (survey and research) के क्षेत्र में तथ्यों के संकलन का एक वास्तविक महत्त्व यह है कि तथ्यों के संकलन के आधार पर विभिन्न घटनाओं तथा परिस्थितियों में तुलनात्मक अध्ययन करना हमारे लिए सरल हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक क्षेत्र विशेष में सरकारी नोकरी में लगी विभिन्न जातियों के सम्बन्ध में तथ्यों का संकलन कर लेने पर हम यह निश्चित रूप से बता सकते हैं कि सरकारी नौकरी के क्षेत्र में तुलनात्मक रूप में किस जाति के सदस्यों की स्थिति सबसे अच्छी है, किसकी स्थिति मध्यम है और किसकी स्थिति सबसे खराब। यह तो रहा वर्तमान समय की ही विभिन्न परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन। उसी प्रकार विभिन्न समय में संकलित तथ्यों के आधार पर हम यह भी पता लगा सकते हैं कि विभिन्न समय में एक या एकाधिक घटना, परिस्थिति अथवा समूह की तुलनात्मक रूप में क्या स्थिति रही है। उदाहरणार्थ, संकलित तथ्य हमें यह बता सकता है कि उत्तर प्रदेश में सन् १९६५ से १९७० के दौरान उच्च जातियों के ४६ प्रतिशत संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ है जबकि उसी अवधि में निम्न जातियों के संयुक्त परिवारों के केवल २७ प्रतिशत विघटित हुए हैं। तथ्यों के संकलन का यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय महत्त्व है क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन बहुधा ठोस निष्कर्षों तक पहुँचने तथा सामाजिक नियमों को प्रतिपादित करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

तथ्यों के संकलन के स्रोत
(Sources of Collection of Data)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि किसी भी अनुसन्धान व शोध के लिए तथ्यों का संकलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये तथ्य हमें आप-से-आप आकाश से टपकते हुए नजर नहीं आते कि हम उन्हें अनायास ही एकत्र कर लें। तथ्यों को तो सचेत प्रयत्न व अथक परिश्रम के द्वारा विभिन्न स्रोतों (sources) से संकलित करना पड़ता है। इन स्रोतों को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—**प्रथम** तो प्राथमिक या क्षेत्रीय स्रोत (Primary of Field Sources) तथा **द्वितीय, द्वैतीयक** अथवा प्रलेखीय स्रोत। प्रथम स्रोत का नाम क्षेत्रीय स्रोत इसलिए पड़ा है क्योंकि इसके अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता को अपने **अध्ययन-क्षेत्र में कार्य** (Field Work) करना पड़ता है और उसी के दौरान निरीक्षण (Observation) प्रश्नावली (Questionnaire), अनुसूची (Schedule) तथा साक्षात्कार (Interview) के माध्यम से अपने अध्ययन-विषय से सम्बन्धित तथ्यों का संकलन करना पड़ता है। दूसरी ओर, द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोत के अन्तर्गत विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थ, आत्म-कथा, सर्वेक्षण रिपोर्ट, यात्रा वर्णन, पत्र, डायरी, ऐतिहासिक प्रलेख, सरकारी या दफ्तरी रिकार्ड या आँकड़े आदि सम्मिलित हैं। इनमें अधिक निर्भरयोग्य स्रोत **सरकारी या दफ्तरी रिकार्ड** (Official Records) ही होते हैं। इन दोनों प्रकार के स्रोतों के बारे में हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

तथ्यों का उपयोग
(Handling of Data)

तथ्यों के ढेर मात्र से ही वैज्ञानिक का कोई भला नहीं होता जब तक कि वह उन तथ्यों को ठीक ढंग से काम में नहीं लाता है। तथ्यों का ठीक-ठीक उपयोग (handling) ही अनुसन्धानकर्त्ता को किसी वैज्ञानिक निष्कर्ष तक ले जाता है। इसके लिए भी कई स्तरों में से होकर गुजरना पड़ता है। **पहला स्तर** वर्गीकरण (Classification) का और **दूसरा** सारिणीयन (Tabulation) का होता है। जब हम तथ्यों को उनमें पाई जाने वाली समानता व विभिन्नता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में व्यवस्थित रूप में विभाजित करते हैं तो वह **वर्गीकरण** कहलाता है और जब इस प्रकार वर्गीकृत तथ्यों को एक तालिका के रूप में कुछ स्तम्भों तथा पंक्तियों में व्यवस्थित कर देते हैं तो वह **सारिणीयन** कहलाता है। ये दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि इनके बिना न तो तथ्यों का व्यवस्थित रूप प्रगट होता है और न ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझकर किसी सामान्य निष्कर्ष तक पहुँचना सम्भव होता है।

तथ्यों का वर्गीकरण व सारिणीयन कर लेने के बाद तथ्यों को और भी सरल व आकर्षक रूप प्रदान करने के लिए **तथ्यों का चित्रमय तथा बिन्दु-रेखीय प्रदर्शन** (diagrammatic and graphic presentation of data) तथ्यों के उपयोग की शृंखला में एक और आवश्यक कड़ी है। इससे तथ्यों को शीघ्र सरलता से समझना तथा उनके विषय में निश्चित निष्कर्ष निकालना और भी सहज हो जाता है।

इसके पश्चात् सांख्यिकीय (statistical) नियमों के अनुसार विभिन्न तथ्यों **के माध्य प्रवृत्तियों तथा विचलन का माप** (Measures of central tendency and variability) किया जाता है और उनके अन्तःसम्बन्धों (correlation) को मालूम किया जाता है।

इसके बाद अन्त में **तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या** (analysis and interpretation) की जाती है। किसी भी विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि एकत्रित तथ्यों को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण व व्याख्या की जाए ताकि अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव हो। तथ्यों के संकलन व उपयोग की यही परम सार्थकता भी है। इसीलिए अगले अनेक अध्यायों में तथ्यों के वर्गीकरण व सारिणीयन से लेकर तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक विवेचना की गई है क्योंकि इसके बिना सामाजिक अनुसन्धान व शोध की कोई भी पुस्तक अधूरी ही रह जाएगी।

११

सूचना के स्रोत—सरकारी रिकार्ड तथा क्षेत्र-कार्य

(SOURCES OF INFORMATION—OFFICIAL RECORDS AND FIELD WORK)

अथवा

तथ्यों के प्रकार तथा स्रोत

(TYPES AND SOURCES OF DATA)

वास्तविक सूचना या तथ्यों के विना सामाजिक अनुसन्धान या शोध वास्तव में एक अपंग प्राणी की भाँति है। अनुसन्धान या शोध की सफलता इसी बात पर निर्भर रहती है कि अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में कितने वास्तविक निर्भरयोग्य सूचनाओं और तथ्यों को एकत्रित करने में सफल होता है। यह सफलता सूचना प्राप्त करने के स्रोतों की विश्वसनीयता पर निर्भर करती है। अतः सूचना या तथ्यों के स्रोत के महत्त्व को सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र में कम नहीं किया जा सकता। साथ ही, ये सूचनाएँ या तथ्य एक ही प्रकार के नहीं होते हैं। इनमें भी प्रकार भेद हैं और इन प्रकारों के विषय में भी स्पष्ट ज्ञान का होना एक सफल अनुसन्धानकर्त्ता के लिए आवश्यक है। किस स्रोत से किस प्रकार की सूचना उसे प्राप्त हो सकती है, इस बात की स्पष्ट जानकारी न होने पर अनुसन्धान-कर्त्ता केवल इधर-उधर भटकता ही रहेगा और उसका काफी समय तथा श्रम व्यर्थ चला जाएगा। अतः सूचना या तथ्यों के प्रकार तथा स्रोतों के वारे में ज्ञान आवश्यक है। यह अध्याय उन्हीं के वारे में है।

सूचना या तथ्यों के प्रकार

(Types of Information or Data)

सामाजिक अनुसन्धान या शोध में विभिन्न प्रकार की सूचनाओं या तथ्यों की आवश्यकता होती है। इन्हें मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्राथमिक तथ्य या सूचनाएँ तथा (२) द्वैतीयक तथ्य या सूचनाएँ। यहाँ हम इन दोनों के विषय में कुछ विस्तार में विवेचना करेंगे।

प्राथमिक तथ्य या सूचनाएँ
(Primary Data or Information)

प्राथमिक तथ्य वे मौलिक सूचनाएँ या आँकड़े होते हैं जो कि एक अनुसन्धान-कर्त्ता वास्तविक अध्ययन-स्थल (field) में जाकर विषय या समस्या से सम्बन्धित

जीवित व्यक्तियों से साक्षात्कार (interview) करके अथवा अनुसूची या/और प्रश्नावली की सहायता से एकत्रित करता है अथवा प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा प्राप्त करता है। प्राथमिक तथ्य प्राथमिक इस अर्थ में होते हैं कि उन्हें अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-उपकरणों की सहायता से प्रथम बार एकत्रित करता है अथवा निरीक्षण करता है। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने के दो प्रमुख स्रोत (sources) हो सकते हैं—एक तो जीवित व्यक्तियों से और दूसरा प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा। प्रथम स्रोत के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जो कि अध्ययन-विषय या समस्या के सम्बन्ध में ज्ञान रखते हैं अथवा दीर्घ समय से उसके घनिष्ठ सम्पर्क में हैं। श्री पामर (Palmer) के अनुसार ऐसे व्यक्ति न केवल एक विषय की विद्यमान अवस्थाओं को बताने की योग्यता रखते हैं अपितु एक सामाजिक प्रक्रिया में अन्तर्निहित महत्त्वपूर्ण चरण व निरीक्षणयोग्य झुकावों (trends) के सम्बन्ध में भी संकेत कर सकते हैं।[1] यदि इन व्यक्तियों के चुनाव में सावधानी बरती जाए और विभिन्न पेशों व व्यापारों में लगे व्यक्तियों, उस क्षेत्र के पुराने निवासियों, सामुदायिक नेताओं आदि से सूचनाएँ एकत्रित की जाएँ तो वे अध्ययन-कार्य के महत्त्वपूर्ण अंग बन सकते हैं।

प्राथमिक तथ्यों का दूसरा स्रोत प्रत्यक्ष निरीक्षण है। इस प्रकार के निरीक्षणों के द्वारा एक समुदाय या समूह के जीवन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को एकत्रित किया जा सकता है यदि निरीक्षण के दौरान में अनुसन्धानकर्त्ता ने पक्षपात या मिथ्या-झुकाव (bias) का कोई चश्मा न पहन रक्खा हो। व्यक्ति के व्यवहार सम्बन्धी तथ्यों को एकत्रित करने के लिए प्रत्यक्ष निरीक्षण एक अति उत्तम स्रोत है। सहभागी निरीक्षण के द्वारा तो सामुदायिक जीवन से सम्बन्धित अति आन्तरिक व गुप्त बातों को भी जाना जा सकता है। इन स्रोतों के विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

द्वैतीयक तथ्य
(Secondary Data)

द्वैतीयक तथ्य वे सूचनाएँ और/अथवा आँकड़े हैं जो कि अनुसन्धानकर्त्ता को प्रकाशित व अप्रकाशित प्रलेखों (documents), रिपोर्ट, सांख्यिकी (statistics), पाण्डुलिपि, पत्र-डायरी आदि से प्राप्त होते हैं। द्वैतीयक तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषता यह होती है कि ये तथ्य, सूचनाएँ या आँकड़े स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता के नहीं होते, वे तो दूसरे किसी व्यक्ति या संस्था के होते हैं जिन्हें कि अनुसन्धानकर्त्ता अपने कार्य में उपयोग करने के लिए एकत्रित कर लेता है। द्वैतीयक तथ्यों के भी दो प्रमुख स्रोत होते हैं—एक तो व्यक्तिगत प्रलेख (personal documents) जैसे आत्मकथा, डायरी, पत्र आदि और दूसरा सार्वजनिक प्रलेख (public documents) जैसे रिकार्ड, पुस्तकें, जनगणना रिपोर्ट, विशिष्ट कमेटियों की रिपोर्ट, समाचारपत्र व पत्रिकाओं में प्रकाशित सूचनाएँ आदि। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) के शिलालेख, स्तूप, विभिन्न खुदाइयों से प्राप्त अस्थिपिंजर, भौतिक वस्तु आदि ऐतिहासिक स्रोत से प्राप्त तथ्य या सूचनाएँ भी द्वैतीयक तथ्यों के अन्तर्गत आते हैं।[2] इन समस्त स्रोतों का स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचना से स्वतः ही हो सकेगा।

---

1. V. M. Palmer, *Field Studies in Sociology*, University of Chicago Press, Chicago, 1928, p. 57.

2. George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans, Green and Co., New York, 1951, p. 122.

सूचना के स्रोत
(Sources of Information)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सूचनाएँ या तथ्य दो प्रकार के होते हैं, एक तो प्राथमिक और दूसरा द्वैतीयक। दोनों प्रकार के तथ्यों को अलग-अलग स्रोतों से प्राप्त किया जाता है क्योंकि दोनों की प्रकृति अलग-अलग होती है। इन स्रोतों के विषय में अब हम कुछ विस्तार में विवेचना करेंगे।

श्रीमती यंग के अनुसार सूचनाओं के स्रोतों को दो मोटे भागों में विभाजित किया जाता है—(१) प्रलेखीय स्रोत (Documentary Source) और (२) क्षेत्रीय स्रोत (Field Source)।[3] प्रलेखीय स्रोत के अन्तर्गत आपने पुस्तक, रिकार्ड, पाण्डु-लिपि, डायरी, पत्र आदि को सम्मिलित किया है जबकि क्षेत्रीय स्रोत में एक विषय के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी रखने वाले अथवा अध्ययन-विषय से सम्बन्धित व्यक्तियों को सम्मिलित किया है।

प्रोफेसर बैगले (Bagley) के अनुसार सूचनाओं के दो प्रमुख स्रोत हैं—(अ) प्राथमिक (Primary) स्रोत और (ब) द्वैतीयक (Secondary) स्रोत।[4] प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत अध्ययन-विषय से सम्बन्धित वास्तविक व्यक्ति व प्रत्यक्ष निरीक्षण आता है, जबकि द्वैतीयक स्रोत के अन्तर्गत सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित या अप्रकाशित अथवा लिखित प्रलेख सम्मिलित हैं।

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने सूचनाओं के स्रोतों को निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया है[5]—

(१) **ऐतिहासिक स्रोत** (Historical Source)
- (अ) प्रलेख, कागजात, शिलालेख आदि।
- (ब) भूतत्वीय स्तरें, खुदाई से प्राप्त वस्तुएँ।

(२) **क्षेत्रीय स्रोत** (Field Source)
- (क) जीवित व्यक्तियों से प्राप्त विशिष्ट सूचनाएँ।
- (ख) क्रियाशील व्यवहारों का प्रत्यक्ष निरीक्षण।

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) के अनुसार ऐतिहासिक स्रोत उन रिकार्डों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कि भूतकाल की घटनाएँ अपने पीछे छोड़ गई हैं जिनको कि उन साधनों द्वारा सुरक्षित रक्खा गया है जो कि मानव से परे हैं।[6] उदाहरणार्थ मोहन-जोदड़ो, हड़प्पा आदि की खुदाई से जो विविध अवशेष प्राप्त हुए हैं उनको प्रकृति ने ही सुरक्षित रक्खा था पर उससे सिन्धु-घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध में कितने ही अद्‌भुत रहस्य उद्‌घाटित हुए हैं। ऐतिहासिक स्रोतों का वास्तविक महत्त्व इसी में

3. Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 127
4. W. A. Bagley, *Facts and How to Find Them*, Pitman Publishing Corporation, London, 1938, p. 202.
5. *Op. cit.*, p. 122
6. "Historical sources represent the records which past events have left behind them, and which are recorded and stored by devices external to human beings."—*Ibid.*, p. 122.

अन्तर्निहित है। इसी महत्त्व को दर्शाते हुए प्रोफेसर मैज (Madge) ने लिखा है कि "इतिहासवेत्ता को समाजशास्त्रियों की श्रेणी से बहिष्कृत कर देना कोई बुद्धिमत्ता का काम नहीं है, तथा केवल मूर्ख समाजशास्त्री ही प्रलेखों (Documents) के उपयोग का त्याग करते हैं चाहे वे समकालीन हों अथवा प्राचीन।" श्री मैज (Madge) ने यह भी लिखा है कि "किसी संस्था का उसके पिछले इतिहास से असम्बन्धित एकान्तिक अध्ययन उतना ही अवास्तविक है जितना कि उसे सामाजिक परिस्थिति, जिसमें कि वह घटना घटित हुई है, के बाहर अध्ययन करना है।"

ऐतिहासिक स्रोतों के अतिरिक्त उपरोक्त विद्वानों के विचारों के आधार पर सूचनाओं के दो प्रमुख स्रोतों का उल्लेख किया जा सकता है—(१) प्राथमिक या क्षेत्रीय स्रोत, तथा (२) द्वैतीयक अथवा प्रलेखीय स्रोत। इन स्रोतों की अलग-अलग कुछ विस्तारपूर्वक विवेचना यहाँ आवश्यक होगी।

प्राथमिक या क्षेत्रीय स्रोत
(Primary or Field Sources)

प्राथमिक या क्षेत्रीय स्रोत उन स्रोतों को कहते हैं जिनसे कि सर्वेक्षण या शोध-कर्त्ता प्रथम बार स्वयं मूल तथ्यों या सूचनाओं को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक विषय से सम्बन्धित जीवित व्यक्ति व घटनाएँ ही प्राथमिक स्रोत होते हैं जिनसे कि अनुसन्धानकर्त्ता अपनी आवश्यकतानुसार तथ्यों को एकत्रित कर लेता है।

श्रीमती यंग (Young) के अनुसार प्राथमिक या क्षेत्रीय सूचना स्रोत निम्न-लिखित हैं—प्रत्यक्ष निरीक्षण, साक्षात्कार, प्रश्नावली तथा अन्य व्यक्ति। इनके विषय में हम संक्षेप में इस प्रकार विवेचना कर सकते हैं—

(१) **प्रत्यक्ष निरीक्षण** (Direct Observation)—तथ्यों को एकत्रित करने का एक प्राथमिक स्रोत प्रत्यक्ष निरीक्षण है अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं अध्ययन-स्थल पर जाकर अपने विषय से सम्बन्धित घटनाओं, वस्तुओं तथा व्यवहारों का स्वयं निरीक्षण करके सूचना एकत्रित करता है। समुदाय के रहन-सहन, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार, भाषा, व्यवहार तथा समस्याओं से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों या सूचनाओं को प्राप्त करने का एक निर्भरयोग्य स्रोत प्रत्यक्ष निरीक्षण ही है; यदि निरीक्षण के दौरान में अनुसन्धानकर्त्ता अपने को पक्षपात की भावना तथा मिथ्या-झुकाव (bias) से दूर रखने में समर्थ होता है। यह निरीक्षण सहभागी (participant) (अर्थात् सामूहिक जीवन में स्वयं एक इकाई बनकर और प्रत्यक्षतः भाग लेकर निरीक्षण करना) हो सकता है और असहभागी (अर्थात् कभी-कभी जाकर सामुदायिक जीवन व व्यवहार को देखना) भी।

(२) **प्रश्नावली** (Questionnaire —जब अध्ययन-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि अनुसन्धानकर्त्ता के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह विषय से सम्बन्धित अपने प्रश्नों का उत्तर सूचनादाताओं से स्वयं सम्बन्ध स्थापित करके प्राप्त नहीं कर सकता तो वह प्रश्नों की एक सूची डाक द्वारा सूचनादाताओं के पास इस अनुरोध के साथ भेज देता है कि उन प्रश्नों का उत्तर भरकर उसे लौटा दिया जावे। इसी को प्रश्नावली कहते हैं और प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने का यह एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होता है। प्रश्नावली एक ऐसा साधन है जिसकी सहायता से बड़े से बड़े क्षेत्र में फैले हुए सूचनादाताओं से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना और महत्त्वपूर्ण सूचनाओं

को एकत्रित करना सम्भव होता है। पर यह स्रोत तभी सफलतापूर्वक कार्य करता है जबकि सूचनादाता पढ़े-लिखे हों और उनमें अनुसन्धान-कार्यों के प्रति सहयोग की भावना हो। भारत में इसी का अभाव होने के कारण यह स्रोत अधिक प्रभावपूर्ण प्रमाणित नहीं होता है।

(३) अनुसूची (Schedule)—यह भी एक प्रकार की प्रश्नावली ही है, पर इसे डाक द्वारा न भेजकर सूचनादाताओं के पास स्वयं जाकर इसे भरवा लिया जाता है अथवा अनुसन्धानकर्त्ता सूचनादाता से प्रश्न पूछ-पूछकर उत्तर भर लेता है। यह स्रोत तभी लाभप्रद सिद्ध होता है जब कि अध्ययन-क्षेत्र बहुत विस्तृत न हो। पर इसके द्वारा अशिक्षित व्यक्तियों से भी सूचना प्राप्त की जा सकती है।

(४) साक्षात्कार (Interview)—प्राथमिक सूचनाओं को प्राप्त करने का एक और उल्लेखनीय साधन सम्बन्धित स्थानीय व्यक्तियों से स्वयं मिलकर व उनसे बातचीत करके विषय से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करना है। स्थानीय व्यक्ति उस विषय के साथ अधिक समय से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होने के कारण उसके विषय में अधिक निर्भरयोग्य व वास्तविक जानकारी रखते हैं और इसीलिए उनसे साक्षात्कार करके न केवल अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं या तथ्यों को एकत्रित किया जा सकता है अपितु सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता और सूचनादाता ही आते हैं। अनुसन्धानकर्त्ता जो कुछ देखता-सुनता है और सूचनादाता जो कुछ कहता है या लिखित रूप में प्रश्नों का जो कुछ उत्तर देता है, वह विषय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य या सूचनाएँ होती हैं।

द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोत
(Secondary or Documentary Sources)

द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोत वे स्रोत हैं जो कि प्रकाशित या अप्रकाशित समस्त लिखित सामग्री का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसके माध्यम से अनुसन्धानकर्त्ता को अपने विषय से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ, आँकड़े आदि प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जनगणना-रिपोर्ट से हमें देश की जनसंख्या आदि विषयों के सम्बन्ध में जो गणनात्मक (quantitative) तथा वैषयिक आँकड़े व सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं, उन्हें एकत्रित करना किसी भी व्यक्तिगत या सामूहिक अनुसन्धानकर्त्ता के लिए सम्भव नहीं है। उसी प्रकार एक विषय से सम्बन्धित एक व्यक्ति के पत्रों तथा डायरी से उस व्यक्ति के आन्तरिक जीवन, मनोभाव तथा अन्य अनेक बातों का जिस रूप में हमें पता लगता है वह अन्य किसी भी प्राथमिक स्रोत से हमें कदापि नहीं मिल सकता। साथ ही द्वैतीयक स्रोतों से प्राप्त सूचनाएँ अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में अनेक ऐसी प्राथमिक व गहन जानकारी को प्रस्तुत करती हैं तथा उस विषय की एक ऐसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं कि उसे जाने बिना नवीन शोधकार्य को सफलतापूर्वक उसके लक्ष्य तक पहुँचाना अत्यधिक कठिन होता है। इसीलिए श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) का सुझाव है कि एक प्रस्तावित अनुसन्धान को आरम्भ करने से पूर्व उससे सम्बन्धित समस्त प्रलेखीय स्रोतों का सदैव सावधानीपूर्वक सर्वेक्षण कर लेना चाहिए। एक ही कार्य को दुबारा करने की गलती करने, अध्ययन-पद्धति के सम्बन्ध में सुझाव प्राप्त करने, त्रुटियों से बचने, कठिनाइयों से अवगत होने आदि के लिए यह काम महत्त्वपूर्ण

है। साथ ही, यदि हम अपने परिणामों की तुलना अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओं के परिणामों के साथ करना चाहते हैं तो भी हमें प्रलेखीय स्रोतों के माध्यम से उनके द्वारा अपनाई गई पद्धतियों से परिचित होना आवश्यक होगा।[7]

द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोतों के अन्तर्गत विद्वानों द्वारा लिखित ग्रन्थ, सर्वेक्षण रिपोर्ट, संस्मरण, यात्रा-वर्णन, पत्र, डायरी, ऐतिहासिक प्रलेख, सरकारी आँकड़े तथा रिकार्ड, अन्य अप्रकाशित रिकार्ड आदि सम्मिलित हैं। इन सभी स्रोतों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—**प्रथम** व्यक्तिगत प्रलेखीय स्रोत तथा **दूसरा** सार्वजनिक प्रलेखीय स्रोत। इन दोनों स्रोतों की कुछ विस्तार में विवेचना कर लेना उचित होगा।

(१) व्यक्तिगत प्रलेख
(Personal Documents)

व्यक्तिगत प्रलेखों में वह समस्त लिखित सामग्री सम्मिलित है जो कि एक व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपने विषय में अथवा सामाजिक घटनाओं के विषय में उसके अपने दृष्टिकोण से लिखी गई हो। यह कोई जरूरी नहीं है कि उन्हें लिखते समय लिखने वाले का दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो अथवा सामाजिक शोध या अनुसन्धान सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही उसे उसने लिखा हो। अधिकांशतया ऐसा नहीं होता है और इन व्यक्तिगत प्रलेखों में लेखक के अपने दृष्टिकोण, मनोभाव, विचार व आदर्श ही मूर्त होते हैं। फिर भी यदि उसके द्वारा लेखक के अपने मनोभाव या आन्तरिक जीवन अथवा किसी सामाजिक संस्था या घटना के वर्णन पर प्रकाश पड़ता है तो वह स्वत: ही सामाजिक अनुसन्धान व शोध के लिए महत्त्वपूर्ण आधार बन जाता है क्योंकि इन प्रलेखों द्वारा न केवल लेखक की व्यक्तिगत स्थिति या जीवन पर ही प्रकाश पड़ता है अपितु उस समाज या सामाजिक जीवन व प्रक्रियाओं का भी स्पष्टीकरण होता है जिसका कि लेखक भी एक इकाई या अंग है। श्री आलपोर्ट (Allport) के अनुसार व्यक्तिगत प्रलेखों को लिखने के १३ सम्भावित कारण होते हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) अपने किसी कार्य के औचित्य को सिद्ध करने के लिए, (२) अपने दोषों की स्वीकृति के लिए, (३) घटनाओं के क्रमबद्ध वर्णन की इच्छा को चरितार्थ करने के लिए, (४) साहित्यिकता का आनन्द लेने के लिए अर्थात् व्यक्तिगत अनुभवों को साहित्यिक रूप देने के लिए, (५) व्यक्तिगत प्रलेखों में अनुसन्धान के लिए, (६) मानसिक तनाव से छुटकारा पाने के लिए, (७) धन प्राप्ति के लिए, (८) किसी सौंपे हुए कार्य की पूर्ति के लिए (कभी-कभी इस प्रकार के प्रलेख दूसरों की आज्ञानुसार लिखे जाते हैं), (९) चिकित्सा सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने के लिए जैसे मानसिक चिकित्सा के लिए पिछली घटनाओं तथा अनुभवों का वर्णन, (१०) अपनी योग्यताओं को प्रदर्शित करने के लिए, (११) किसी सिद्धान्त या 'वाद' (ism) को लोकप्रिय बनाने के लिए, (१२) जनसेवा तथा कल्याण के लिए, और (१३) अमरत्व प्राप्त करने के लिए।

---

7. "This is important in order to avoid duplication of work, and to suggest methods of approach-pitfalls to avoid, the difficulties involved, etc. Furthermore, if we are to compare our findings with those of other investigators, a careful study of the procedure in other cases is necessary."—*Ibid.*, pp. 122-123.

व्यक्तिगत प्रलेखों को मोटे तौर पर निम्नलिखित चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है :—

(१) **जीवन-इतिहास** (Life History)—प्रोफेसर मैज (Madge) के विचारानुसार वास्तविक अर्थ में जीवन-इतिहास का अभिप्राय विस्तृत आत्मकथा से है। सामान्य अर्थ में इसका प्रयोग पर्याप्त ढीले-ढाले तौर पर होता है और किसी भी जीवन सम्बन्धी सामग्री के लिए 'जीवन-इतिहास' वाक्यांश का प्रयोग कर लिया जाता है। कुछ भी हो, जीवनी अथवा आत्मकथाएँ प्राय: प्रख्यात व्यक्तियों अथवा महापुरुषों के द्वारा लिखी जाती हैं या तैयार की जाती हैं। कुछ भी हो, इन आत्मकथाओं से केवल लेखक के व्यक्तिगत जीवन की ही नहीं बल्कि उसके समाज तथा समूह के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं तथा परिस्थितियों की झाँकी देखने को मिलती है। सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि इन जीवनियों में ऐसी अनेक आन्तरिक या गुप्त बातों का भी उल्लेख रहता है जिसे कि हम अन्य किसी भी रूप में जान नहीं सकते हैं। उदाहरणार्थ, श्री चर्चिल की जीवनी द्वितीय महायुद्ध की एक ज्वलन्त झाँकी है, महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथाएँ वास्तव में भारत के स्वतन्त्रता संग्राम की आत्मकथाएँ, भारतीय संस्कृति, समस्या व दर्शन की आत्मकथाएँ हैं। इनका अध्ययन करने पर तत्कालीन भारतवर्ष की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों व घटनाओं के सम्बन्ध में असंख्य महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ व तथ्य प्राप्त होते हैं।

जीवन-इतिहास तीन प्रकार के होते हैं—(i) **स्वत:लिखित आत्मकथा** (Spontaneous Autobiography) वह आत्मचरित है जो कि एक व्यक्ति स्वत: अपनी इच्छा से अपने जीवन की घटनाओं का रिकार्ड रखने के लिए लिखता है। अनेक दिन बाद भी पुरानी बातों को याद करके दु:ख-सुख को अनुभव करने और आत्म-विश्लेषण करने के लिए ही इस प्रकार की जीवनी लिखी जाती है और इसीलिए यह अधिकतर निष्पक्ष होती है। (ii) **ऐच्छिक आत्मकथा** (Volunteered Self-record) वे आत्मकथाएँ हैं जो कि किसी प्रकाशक या अन्य व्यक्ति के कहने से एक व्यक्ति ऐच्छिक तौर पर लिखता है। (iii) **संकलित जीवन-इतिहास** (Compiled Life History) वे जीवनियाँ हैं जो कि किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा लिखी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मूलव्यक्ति स्वयं अपनी जीवन-कथा नहीं लिखता है बल्कि उसके द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिए गए व्याख्यान, लिखित रचनाएँ, साक्षात्कार के समय कही गई बातें, पत्र आदि के माध्यम से प्राप्त सामग्री को संकलित करके कोई दूसरा व्यक्ति उसकी जीवनी को तैयार करता है।

जीवन-इतिहास चाहे वह किसी प्रकार का भी क्यों न हो सामाजिक शोध या अनुसन्धान में उसका अत्यधिक महत्त्व होता है। इसका कारण यह है कि जीवनियों में व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी नीरस घटनाओं का ही वर्णन नहीं होता अपितु उनके माध्यम से अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं, संस्थाओं तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का भी पता चलता है। इतना ही नहीं, अपनी आत्मकथा लिखने वाला व्यक्ति तत्कालीन अनेक सामाजिक समस्याओं का अति रोचक व महत्त्वपूर्ण वर्णन करने के साथ-साथ अनेक रचनात्मक व व्यावहारिक सुझावों को भी प्रस्तुत करता है। तत्कालीन सामाजिक घटनाओं, समस्याओं तथा प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में लेखक के व्यक्तिगत मनोभाव व दृष्टिकोण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का एक अति उत्तम साधन आत्मकथाएँ होती हैं जिनका कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्व होता

है। जीवनियाँ इतिहास की अपेक्षा सरल, रोचक तथा स्पष्ट होती हैं।

उपरोक्त महत्त्व होते हुए भी जीवनियों की अपनी कुछ सीमाएँ व दोष भी होते हैं। आत्मकथाओं में प्रायः लेखक केवल अपने व्यक्तित्व को ही बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत नहीं करते अपितु विभिन्न सामाजिक घटनाओं को भी अपने ढंग से पर्याप्त रंग चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं। जब वे इस सम्बन्ध में सचेत रहते हैं कि उनकी जीवन-कथा प्रकाशित होगी तो वे स्वभावतः ही ऐसे तथ्यों को छुपा जाते हैं जो कि उनके व्यक्तित्व को जनता की निगाह में गिरा देने वाले होते हैं। उसी प्रकार सामाजिक व राजनैतिक नेता अपनी आत्मकथा में अपनी ही पार्टी या समूह में व्याप्त भ्रष्टाचारों को बहुत कम महत्त्व देते हैं और पार्टी के सिद्धान्तों को सर्वोत्तम प्रमाणित करने के लिए गलत तथ्यों को भी प्रस्तुत करने में संकोच नहीं करते। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि अपने व्यक्तित्व तथा पार्टी के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए ही आत्मकथा लिखी गई है। ऐसा भी होता है कि प्रकाशक धन कमाने के लिए जीवन की रोचक तथा आकर्षक घटनाओं को ही अत्यधिक महत्त्व देता है या लेखक स्वयं केवल ऐसी घटना को ही जीवनी में सम्मिलित करता है जो कि उसके दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। ऐसी दशाओं में वास्तविकताओं से परिचित होने के सौभाग्य से हम वंचित ही रह जाते हैं।

(२) डायरी (Diary)—बहुत से लोगों को डायरी लिखने का शौक होता है जिसमें कि वे प्रतिदिन या विभिन्न अवसरों पर अपनी जीवन सम्बन्धी घटनाओं को तथा उनके प्रति अपनी भावनाओं तथा प्रतिक्रियाओं को लिखते हैं। इन डायरियों में न केवल वह अपने जीवन के सम्बन्ध में लिखता है बल्कि उनके विषय में भी लिखता है जिनके कि सम्पर्क में वह रहता है या केवल कुछ समय के लिए ही सम्पर्क में आने का अवसर उसे प्राप्त होता है। डायरी उसकी अपनी चीज होती है इसलिए वह अत्यन्त गोपनीय बातों को भी उसमें सच्चाई के साथ लिपिबद्ध कर देता है। एक घटना या व्यक्ति के सम्बन्ध में वह जो कुछ दिल से अनुभव करता है उसी की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति उसकी डायरी में मिलती है। इसीलिए अत्यन्त गोपनीय तथा अति आन्तरिक तथ्यों, विचारों तथा भावनाओं को जानने का डायरी से बढ़कर दूसरा कोई साधन नहीं है। क्रमबद्ध रूप में लिखी हुई डायरी जीवन-इतिहास का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण तथा विश्वसनीय आधार है।

सामाजिक शोध या अनुसन्धान के क्षेत्र में डायरियों का अपना महत्त्व है। इसका कारण यह है कि डायरियाँ आत्मकथाओं की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती हैं क्योंकि बहुधा डायरियों को प्रकाशित करने के उद्देश्य से नहीं लिखा जाता है। इसीलिए अत्यन्त गोपनीय विषयों को भी सच्चाई से लिख लिया जाता है क्योंकि लेखक को जनता के जान लेने का भय नहीं होता है। दूसरों की निगाहों में गिरने का भय न रहने के कारण घटनाओं के वर्णन में किसी भी प्रकार का तोड़-मोड़ करने अथवा अपने विचारों को आकर्षक बनाने का मिथ्या प्रयत्न लेखक नहीं करता है। कभी-कभी तो डायरियाँ इसलिए भी लिखी जाती हैं कि बहुत-सी भावनाएँ व विचार, जिन्हें हम दूसरों के सामने कहने में संकोच करते हैं, डायरी में लिखकर अपने मन का भार हल्का कर लेते हैं। इसीलिए डायरियाँ व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी अनेक रहस्यों को उद्घाटित करती हैं और अनेक घटनाओं के सम्बन्ध में विश्वसनीय तथ्यों को प्रस्तुत करके शोधकार्य में सहायक सिद्ध होती हैं।

उपरोक्त महत्त्व के होते हुए भी डायरियों की अपनी कुछ सीमाएँ अथवा दोष भी होते हैं। इनका पहला दोष यह है कि वे जीवन के नाटकीय तथा संघर्षात्मक

अंकों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रकट करती हैं। जबकि जीवन के शान्तिपूर्ण व स्वाभाविक पक्षों को उनमें स्थान नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि डायरियों को रोज थोड़ा-थोड़ा करके लिखा जाता है इसलिए उसमें क्रमवद्धता का अभाव होता है। एक घटना को दूसरी घटना से जोड़ना अथवा दो विभिन्न समयों में घटित होने वाली एक ही प्रकार की घटना की तुलनात्मक विशेषता को दर्शाना डायरी में उल्लेखित विवरणों के आधार पर अत्यन्त कठिन होता है। डायरियों का तीसरा दोष यह है कि इनमें घटनाओं का संकेत मात्र मिलता है क्योंकि डायरी स्वयं अपने लिए लिखी जाती है और इसीलिए घटनाओं को विस्तार में समझाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। अतः उसको समझने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता को अपने अनुमानों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में **चौथी** कमी का भी उल्लेख किया जा सकता है और वह यह कि डायरी के अनेक लेखक डायरी में कल्पना व साहित्यिक भाषा की सहायता लेते हैं जिससे कि घटनाओं की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। डायरियों की **पाँचवीं** कमी यह होती है कि डायरियाँ प्रायः लगातार नहीं लिखी जाती हैं, कुछ समय तक लिखने के पश्चात् बन्द कर दिया जाता है या बीच-बीच में लिखा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि घटनाओं के वर्णन में क्रमवद्धता नष्ट हो जाती है। इन दोषों के होते हुए भी इतना मानना ही पड़ेगा कि डायरियों के माध्यम से हमें व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित अनेक आन्तरिक तथा गोपनीय तथ्य व सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। इस स्रोत द्वारा प्राप्त सूचनाएँ अन्य प्रलेखों की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय होती हैं।

(३) पत्र (Letters)—पत्र व्यक्तिगत होते हैं और इसीलिए इनके माध्यम से हमें एक व्यक्ति के आन्तरिक विचारों, भावनाओं तथा दृष्टिकोणों का पता चलता है। अपने पत्रों में लेखक प्रायः अकपट रूप में अपने विचारों को प्रस्तुत करता है इसीलिए उसमें व्यक्त उसके कथन पर्याप्त विश्वसनीय होते हैं। तलाक, पारिवारिक तनाव, प्रेम, मित्रता, वैवाहिक सम्बन्ध, यौन जीवन (Sex Life) आदि महत्त्वपूर्ण कोमल सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकताओं पर पत्र पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

पर पत्रों की अपनी कुछ **सीमाएँ व दोष** भी होते हैं और उनमें से **सर्वप्रथम** यह कि व्यक्तिगत (personal) पत्रों को प्राप्त करना बहुत कठिन होता है। अपने आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित पत्रों को, विशेषकर उन पत्रों को जिनमें कि वैवाहिक जीवन व यौन जीवन का विवरण होता है, लोग नष्ट कर डालते हैं अथवा रहते हुए भी उन्हें देने से इनकार कर देते हैं। पत्रों का **दूसरा** दोष यह है कि उनमें घटनाओं का विस्तृत विवरण नहीं मिलता है, उसके लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। **तीसरा** दोष यह है कि घटना की क्रमवद्धता को एक पक्ष के पत्रों से मालूम नहीं किया जा सकता। इसके लिए पत्र और उनके उत्तर दोनों का ही होना आवश्यक है जो कि प्रायः मिल नहीं पाता है। पत्रों का **चौथा** व अन्तिम दोष यह है कि पत्रों में व्यक्त विचार या वर्णन केवल तभी विश्वसनीय होता है जब कि पत्र पाने और पत्र लिखने वाले का पारस्परिक सम्बन्ध आन्तरिक व घनिष्ठ हो। यदि ऐसा नहीं है तो पत्रों में बनावटीपन व औपचारिकता आ ही जाती है।

(४) संस्मरण (Memoirs)—मनुष्यों के द्वारा यात्राओं, जीवन-घटनाओं अथवा महत्त्वपूर्ण परिस्थितियों के विषय में लिखे गए संस्मरण भी सामाजिक अनुसन्धान में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं। प्राचीन काल में इस प्रकार के यात्रा-वर्णनों तथा संस्मरणों ने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करके तत्कालीन

सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करने में अत्यधिक सहायता की है। सर्वश्री मेगास्थनीज़, ह्यूनसाँग, फाहियान, इब्नबतूता के वर्णन अब भी भारतीय इतिहास की अमूल्य निधि हैं। इनके वर्णनों से उस समय के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में हमें जो जानकारी प्राप्त होती है वह वास्तव में महत्त्वपूर्ण है।

परन्तु संस्मरण की अपनी कुछ ऐसी सीमाएँ व दोष हैं जिनके कारण सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता को इनसे अधिक लाभ नहीं होता है। उन दोषों में सबसे उल्लेखनीय दोष यह है कि इन संस्मरणों में लेखक के व्यक्तिगत विचारों तथा कल्पनाओं का इतना अधिक पुट होता है कि वह वास्तविक घटनाओं का उचित प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता है। इन संस्मरणों को लिखने वाले प्रायः अधिक रोचक, रोमांचकर व आकर्षक घटनाओं को ही अपने विवरण के लिए चुन लेते हैं और साथ ही उसमें अपना रंग चढ़ाकर उन्हें प्रस्तुत करते हैं।

व्यक्तिगत प्रलेखों का महत्त्व (Importance of Personal Documents)—उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसन्धान व शोधकार्य में व्यक्तिगत प्रलेखों का अपना महत्त्व है। व्यक्तिगत जीवन व घटनाओं के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु सामाजिक प्रक्रियाओं को भी समझने में इनकी सहायता अत्यावश्यक है। इन प्रलेखों द्वारा विचारों तथा मनोवृत्तियों का जितना स्पष्टीकरण सम्भव होता है उतना अन्य किसी साधन के द्वारा नहीं। व्यक्तिगत मनोभाव व दृष्टिकोण को ठीक से जान लेने से सामाजिक अनुसन्धान में घटनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में अत्यन्त सहायता मिलती है। व्यक्तिगत प्रलेखों का एक और उल्लेखनीय महत्त्व यह है कि इनसे प्राप्त सूचनाएँ व तथ्य तुलनात्मक रूप में अधिक विश्वसनीय होते हैं, विशेषकर उन अवस्थाओं में जब कि लेखक का उद्देश्य अपने लेखों को प्रकाशित करना नहीं होता है। वास्तविक तथ्यों का ज्ञान उनके मूलरूप में व्यक्तिगत प्रलेखों द्वारा हमें जितनी सरलता से प्राप्त हो जाता है, उतना और किसी स्रोत से नहीं।

व्यक्तिगत प्रलेखों की सीमाएँ (Limitations of Personal Documents)—उपरोक्त महत्त्व के होते हुए भी व्यक्तिगत प्रलेख दोषरहित नहीं होते हैं इनकी भी अपनी कुछ सीमाएँ होती हैं जिन्हें कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—(१) व्यक्तिगत प्रलेखों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय कठिनाई यह है कि इन्हें सरलता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत प्रलेख निजी जीवन (personal life) से सम्बन्धित होने के कारण उसमें ऐसी अनेक गोपनीय सूचनाएँ होती हैं जिन्हें कि लेखक दूसरों को देने में हिचकिचाते हैं क्योंकि उन्हें यह डर रहता है कि शायद उससे वे दूसरों की निगाहों में गिर जाएँगे। (२) इस सम्बन्ध में एक और दोष या सीमा का भी उल्लेख किया जा सकता है और वह यह है कि व्यक्तिगत प्रलेखों में जो कुछ लिखा है वह सच है अथवा नहीं इस बात की जाँच करना कठिन होता है क्योंकि ये सभी पिछली घटनाएँ होती हैं और साथ ही लेखक के आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित भी। इनमें वर्णित तथ्य बहुधा केवल प्रकाशन या प्रदर्शन के लिए नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त इस लिखित सामग्री में जो साहित्यिक, काल्पनिक व आदर्शात्मक पुट रहता है उसके कारण भी तथ्यों की यथार्थता घट जाती है। (३) व्यक्तिगत प्रलेखों से प्राप्त तथ्य या सूचनाएँ प्रायः विकृत भी हो जाती हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि कोई लेखक इन प्रलेखों को प्रस्तुत करते समय पक्षपात की भावना व मिथ्या-झुकाव (bias) से अपने को पूर्णतया विमुक्त नहीं रख पाता है। वह अपने आदर्श, सिद्धान्त, मूल्य या

'वाद' (ism) को ही सर्वोत्तम मान बैठने की गलती करता है। संक्षेप में हम सकते हैं कि व्यक्तिगत प्रलेखों में वैज्ञानिक अलगाव (scientific detachment) का नितान्त अभाव होता है। श्री गोट्सचाक (Gottschalk) के मतानुसार यदि हम इस सम्बन्ध में निःसन्देह हो जाएँ कि (अ) घटना के वर्णन में लेखक का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ निहित नहीं है, (ब) घटना को किसी भी रूप में विकृत करने से उसका हित होने के बजाय अहित होने की सम्भावना है, (स) लेखक यह जानता है कि जिस घटना का वह वर्णन कर रहा है उसकी वास्तविकताओं को इतने लोग जानते हैं कि यदि उसने घटना को तनिक भी विकृत किया तो उसका भण्डाफोड़ हो जाएगा और (द) लेखक ऐसा कुछ वर्णन कर रहा है जो कि सामान्य स्थिति में उसके लिए सम्भव नहीं है तो हम व्यक्तिगत प्रलेखों में वर्णित सूचनाओं व तथ्यों को विश्वसनीय मान सकते हैं। (४) व्यक्तिगत प्रलेखों की एक और उल्लेखनीय सीमा यह है कि इनसे प्राप्त सूचनाएँ सम्बन्धित समाज या समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती हैं क्योंकि इनका आधार मौलिक रूप में व्यक्तिगत ही होता है। ये सूचनाएँ व्यक्तिगत जीवन व घटनाओं की, न कि सामाजिक या सामुदायिक जीवन व घटनाओं की झाँकी प्रस्तुत करती हैं और इसीलिए सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में इन्हें कहाँ तक उपयोग किया जा सकता है यह गम्भीरतापूर्वक सोचने का विषय है।

(२) सार्वजनिक प्रलेख
(Public Documents)

तथ्य या सूचना प्राप्त करने का जो प्रलेखीय स्रोत (documentay source) है उसका दूसरा प्रकार-भेद सार्वजनिक प्रलेख है। सार्वजनिक प्रलेख वास्तव में वे रिकार्ड होते हैं जिन्हें कि कोई सरकारी या गैर-सरकारी संस्था तैयार करती है। ये दो प्रकार के होते हैं— एक तो अप्रकाशित सार्वजनिक प्रलेख जैसे विभिन्न कम्पनियों, सरकारी विभागों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा तैयार रिकार्ड जो कि आम जनता के लिए नहीं होता है और प्रायः उन्हें गोपनीय (confidential) रक्खा जाता है। दूसरे, प्रकाशित सार्वजनिक रिकार्ड जैसे किसी कमेटी द्वारा सार्वजनिक हित से सम्बन्धित किसी विषय के सम्बन्ध में तैयार की गई रिपोर्ट जो कि हर आम-खास के लिए उपलब्ध हो सकती है। इन दोनों प्रकार के प्रलेखों को निम्नलिखित उपभागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **रिकार्ड** (Record)—विभिन्न सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं को अपने प्रतिदिन के काम-काज के लिए अथवा प्रशासकीय (administrative) आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु अनेक आँकड़ों तथा सूचनाओं का रिकार्ड रखना पड़ता है। इसके अध्ययन से अनेक सामाजिक घटनाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ, प्रोबेशन दफ्तर (Probation Office) में प्रोबेशन पर छोड़े गए अपराधियों का जो रिकार्ड रहता है उससे इन अपराधियों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेखनीय व महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं जो कि उनके विषय में किसी भी शोधकार्य का आधार बन सकती हैं। इस प्रकार के रिकार्डों के अतिरिक्त दस्तावेज, वहीखाता, सभाओं, समितियों व कान्फ्रेंसों की रिपोर्ट, लोक-सभा तथा अन्य समितियों की कार्यवाही के रिकार्ड भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं और सामाजिक अनुसन्धान-कार्य में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं क्योंकि इनसे प्राप्त सूचनाएँ विश्वसनीय होती हैं। पर कठिनाई यह होती है कि ये रिकार्ड प्रायः मिल नहीं पाते हैं।

(२) **प्रकाशित आँकड़े** (Published Statistics)—सरकार तथा गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा अनेक प्रकार के आँकड़े संकलित तथा प्रकाशित किए जाते हैं। भारत सरकार के द्वारा प्रतिवर्ष प्रकाशित 'भारत १९७०, १९७१' आदि में अनेक महत्त्वपूर्ण आँकड़ों का संकलन देखने को मिलता है। उसी प्रकार विभिन्न Chamber of Commerce आदि अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित आँकड़ों को प्रकाशित करते रहते हैं। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाले Year Books में भी विविध विषयों पर आँकड़ों का उत्तम संकलन देखने को मिलता है।

(३) **पत्र-पत्रिकाओं की रिपोर्ट** (Report of the Newspapers etc.)—समाचारपत्र व पत्रिकाओं में समय-समय पर सामाजिक जीवन व घटनाओं से सम्बन्धित अनेक प्रकार की रिपोर्ट तथा सूचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं जिनका कि उपयोग आवश्यकतानुसार सामाजिक शोधकार्य में किया जा सकता है। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेख जनमत के झुकाव को जानने का एक अति उत्तम साधन हैं।

(४) **अन्य सामग्री** (Other materials)—अन्य बहुत-से प्रकाशित प्रलेख भी तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा घटनाओं को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ कहानी, उपन्यास, ग्राम्य गीत, चित्र आदि की सहायता से हम जन-जीवन सम्बन्धी अनेक वास्तविकताओं को जान सकते हैं क्योंकि इन सबके रचयिता किसी न किसी सामाजिक घटना या समस्या को अपने प्रलेख का आधार बनाते हैं।

द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोतों का उपयोग
(Utilization of Secondary or Documentary Sources)

द्वैतीयक या प्रलेखीय स्रोतों से प्राप्त तथ्यों (data) या सूचनाओं को बिना समझे-बूझे काम में लाना अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता है। अतः इन स्रोतों से उपलब्ध तथ्यों को उपयोग में लाने से पूर्व उनकी विश्वसनीयता (reliability) के सम्बन्ध में निःसन्देह हो लेना आवश्यक है। सरकारी विभागों द्वारा प्रकाशित आँकड़े भी काल्पनिक हो सकते हैं। लेखक ने एक विभागीय अधिकारी को यह कहते हुए सुना है कि "पिछले कुछ वर्षों के आँकड़ों के आधार पर ही वर्तमान आँकड़ों को, बिना वास्तविक सूचनाओं को प्राप्त किए, प्रस्तुत करना कोई कठिन काम नहीं है क्योंकि वे आँकड़े गलत हैं यह प्रमाणित करने के लिए कम-से-कम एक साल का समय चाहिए और उस दौरान में आँकड़ों में और आगे परिवर्तन हो चुके होते हैं।" अतः इन स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं या आँकड़ों की हर सम्भावित उपायों से पुनर्परीक्षा कर लेना आवश्यक होता है। इस पुनर्परीक्षा का एक उपाय तथ्यों का आलोचनात्मक विवेचन है। प्रो० चैपिन (Chapin) ने समालोचना के सिद्धान्तों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है[8] :—

(१) सर्वप्रथम प्रलेखों (documents) की उनके बाह्य या वैषयिक विशेषताओं के सन्दर्भ में समालोचना करनी चाहिए—

(अ) लेखक की आलोचनात्मक परीक्षा होनी चाहिए।

(ब) स्रोतों का आलोचनात्मक वर्गीकरण कर लेना चाहिए।

(स) अनुसन्धानकर्त्ता को अतिछिद्रान्वेषण से बचना चाहिए, नहीं तो वह

8. F. S. Chapin, *Field Work and Social Research*, Century, 1920, pp. 37-38.

उसी-भर का हो जाएगा और सूचनाओं को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के साधन के रूप में उपयोग नहीं कर पाएगा।

(२) इसके पश्चात् प्रलेखों की उनकी आन्तरिक या प्रातीतिक (subjective) विशेषताओं के सन्दर्भ में समालोचना करनी चाहिए। इस प्रकार की आलोचना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह विश्लेषणात्मक समालोचना है।

(क) एक कथन (statement) से लेखक का क्या तात्पर्य है? उस कथन का साहित्यिक अर्थ नहीं, वास्तविक अर्थ क्या है?

(ख) क्या वह कथन सत्यनिष्ठा के साथ (in good faith) कहा गया है?

(i) क्या पाठक को धोखा देने में लेखक का कोई स्वार्थ था?

(ii) क्या असत्य कहने के सम्बन्ध में लेखक पर दवाव डाला गया?

(iii) क्या असत्य कहने के सम्बन्ध में लेखक सहानुभूति अथवा विरोधभाव द्वारा प्रभावित था?

(iv) क्या झूठे-अभिमान (vanity) ने लेखक को प्रभावित किया?

(v) क्या वह जनमत द्वारा प्रभावित था?

(vi) क्या सत्य को विकृत करने का कोई साहित्यिक या नाटकीय (dramatic) इरादे का कोई प्रमाण है?

(ग) क्या कथन यथार्थ (accurate) अथवा ठीक है? या और भी विशिष्ट रूप में—

(i) क्या अपने मानसिक दोष या अस्वाभाविकता के कारण लेखक एक तुच्छ निरीक्षक (poor observer) था?

(ii) क्या समय तथा स्थान के विषय में लेखक की स्थिति खराव होने के कारण वह ठीक से निरीक्षण न कर सका?

(iii) क्या वह लापरवाह या उदासीन था?

(iv) क्या तथ्य इस प्रकार का था कि उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण सम्भव न था?

(v) क्या लेखक एक मूक-दर्शक या एक प्रशिक्षित निरीक्षक (trained observer) था?

(घ) जब यह प्रतीत हो कि लेखक कोई मूल निरीक्षक नहीं था, तब उसके सूचना के स्रोतों की सत्यता व यथार्थता की जाँच कर लेना आवश्यक है।

(३) विशिष्ट तथ्यों की जाँच तुलनात्मक विधि द्वारा कर लेनी चाहिए जो कि सहमति और असहमति (contradictions) दोनों को ही ध्यान में रखता है और हर सम्भावित आधारों पर निष्कर्ष निकालता है।

उपरोक्त आधारों पर परीक्षणात्मक जाँच (test checking) कर लेने से द्वैतीयक स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं व आँकड़ों की विश्वसनीयता के सम्बन्ध में निश्चित हुआ जा सकता है और अनुसन्धान-कार्य में अधिकाधिक परिशुद्धता व यथार्थता पनपने की सम्भावना रहती है।

भारत में सांख्यिकी
(Statistics in India)

भारत में उपलब्ध सांख्यिकीय सामग्री अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में बिल्कुल ही न के समान कही जा सकती है। अंग्रेजी शासनकाल में तो यह स्थिति और भी शोचनीय थी और इस दिशा में कुछ सरकारी प्रयत्नों के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय प्रगति देखने को नहीं मिली। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में सरकारी प्रयत्न दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है, पर गैर-सरकारी प्रयत्न अब भी निराशा के अन्धकार से निकल नहीं पाया है। इसका प्रमुख कारण साधनों (resources) की कमी है। प्रायः धनाभाव के कारण आँकड़ों को एकत्रित करने के कार्य को कोई व्यक्ति या निजी (Private) संस्था अपने ऊपर नहीं ले पाती है। शिक्षा के क्षेत्र में भी इस देश में पक्षपात व सिफारिशों का बोलबाला है। अतः निजी स्तर पर जो अनुसन्धान-कार्य होते हैं उनमें से केवल उन्हीं इने-गिने लोगों के कार्य को प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त होता है जो शिक्षा संस्थान और सरकारी विभागों में उच्च पदों पर आसीन हैं अथवा कोई उच्च पदाधिकारी या 'नेता' उसे आगे ढकेलने वाला है। फिर भी पहले की तुलना में अब सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप इस दिशा में दिन-प्रतिदिन प्रगति होने की सम्भावना है ही!

भारत में सांख्यिकी के प्रमुख स्रोत
(Principal Sources of Statistics in India)

भारतीय संविधान की धारा २४६ के अनुसार केन्द्रीय सरकार सुरक्षा, रेलवे, बैंकिंग तथा मुद्रा, जनसंख्या एवं विदेशी व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों का संग्रह करने के सम्बन्ध में उत्तरदायी है जबकि भिन्न-भिन्न राज्य सरकारें कृषि, पशुधन, वन तथा शिक्षा सम्बन्धी आँकड़ों को संकलित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती हैं।

भारत सरकार के विभिन्न विभाग भारतीय जीवन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की सांख्यिकीय सामग्री एकत्रित करते रहते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा संकलित आँकड़ों के प्रमुख प्रकार के स्रोतों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) प्रशासकीय सांख्यिकी (Administrative Statistics), (ब) उत्पादन सम्बन्धी सांख्यिकी (Production Statistics), (स) सांख्यिकीय अनुसन्धान (Statistical Research) तथा (द) राष्ट्रीय निदर्शन सर्वेक्षण (National Sample Survey)। प्रशासकीय सांख्यिकी केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा एकत्रित की जाती है। उत्पादन सम्बन्धी सांख्यिकी उत्पादन-केन्द्रों तथा कार्यालयों के द्वारा एकत्रित किए जाते हैं। सांख्यिकी सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य करने के लिए सरकारी संस्थाएँ विभिन्न मंत्रालयों (ministries) के अधीन स्थापित की गई हैं। राष्ट्रीय निदर्शन सर्वेक्षण देश-भर में विस्तृत सर्वेक्षणों के द्वारा सामाजिक व आर्थिक जीवन सम्बन्धी सांख्यिकी एकत्रित करता तथा पुस्तक, बुलेटिन आदि में उन्हें प्रकाशित करता है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत में सांख्यिकी के प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के विभिन्न विभागों या मंत्रालयों द्वारा प्रकाशित सांख्यिकी।

(२) गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा संकलित व प्रकाशित सांख्यिकी।

(३) व्यक्तिगत सर्वेक्षणों द्वारा प्राप्त सांख्यिकी।

इस प्रकार सरकारी, गैर-सरकारी तथा व्यक्तिगत स्रोत भारत में सांख्यिकी के तीन प्रमुख स्रोत हैं। इनके विषय में अब हम संक्षेप में विवेचना करेंगे :—

सरकारी स्रोत
(Governmental or Official Sources)

सरकारी स्रोतों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो केन्द्रीय सरकार तथा दूसरा राज्य सरकार। इन स्रोतों द्वारा प्रकाशित सांख्यिकी के विषय में अलग-अलग विवेचना कर लेना उपयोगी होगा।

(क) **केन्द्रीय मंत्रालयों** (ministries) द्वारा प्रकाशित सामग्री इस प्रकार है—

(१) **अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकीय निदेशालय** (Directorate of Economics and Statistics) भारत में सांख्यिकी का एक प्रमुख स्रोत है। यह निदेशालय केन्द्रीय सरकार के कृषि तथा खाद्य मंत्रालय (Ministry of Agriculture and Food) के अधीन कार्य करता है। कृषि तथा खाद्य-पदार्थों से सम्बन्धित अखिल भारतीय आँकड़ों तथा सूचनाओं का संग्रह इसी संस्था के द्वारा होता है। यह निदेशालय अपने द्वारा एकत्रित आँकड़ों तथा सूचनाओं को निम्नलिखित मासिक तथा वार्षिक पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित करता है—(अ) Agricultural Statistics in India (Monthly), (ब) Abstract of Agricultural Statistics (Annual) तथा (स) Agricultural Wages in India (Annual)।

(२) **रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया** (Reserve Bank of India) वित्त मंत्रालय (Finance Ministry) के अधीन ऋण तथा वित्त सम्बन्धी आँकड़ों तथा सूचनाओं को एकत्रित करता तथा निम्नलिखित पत्रिकाओं में प्रकाशित करता है—(अ) Statistical Supplement (Weekly) तथा (ब) Statistical Statement relating to Cooperative Movement in India (Annual)।

(३) **वाणिज्य तथा उद्योग मंत्रालय** (Ministry of Commerce and Trade) अपने साप्ताहिक प्रकाशन *Indian Trade Journal* के माध्यम से मंत्रालय द्वारा संगृहित वाणिज्य तथा उद्योग सम्बन्धी आँकड़ों तथा सूचनाओं को प्रकाशित करता है।

(४) **श्रम मंत्रालय** (Labour Ministry) श्रमिकों से सम्बन्धित आँकड़ों तथा सूचनाओं को एकत्रित करता है जिनका कि प्रकाशन *Indian Labour Gazette* (Monthly) में किया जाता है।

(५) **रेल मंत्रालय** (Railway Ministry) द्वारा प्रकाशित Monthly Railway Statistics में भारतीय रेल परिवहन सम्बन्धी आँकड़े व सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

(६) **परिवहन विभाग** (Transport Deptt.) भारतीय परिवहन सम्बन्धी सांख्यिकी संकलित करता तथा उन्हें Traffic Survey में प्रकाशित करता है।

(७) **शिक्षा मंत्रालय** (Education Ministry) भारत में शिक्षा सम्बन्धी आँकड़ों तथा सूचनाओं को एकत्रित करने तथा उन्हें Education in India (Annual) में प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है।

(८) **सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय** (Ministry of Information and Broadcasting) भी अखिल भारतीय सामान्य आँकड़ों तथा सूचनाओं को एकत्रित व प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है। सन् १९५३ से अब तक लगातार प्रतिवर्ष भारत (INDIA—A Reference Annual) शीर्षक से एक पुस्तक को उक्त मंत्रालय का प्रकाशन विभाग (Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting. Govt. of India, Delhi-6) प्रकाशित करता आ रहा है जिसमें कि भारतीय भूमि तथा जनता, सामाजिक प्रतिमान, राष्ट्रीय प्रतीक, सरकार, प्रतिरक्षा, शिक्षा, सांस्कृतिक क्रिया-कलाप, वैज्ञानिक अनुसन्धान, स्वास्थ्य, समाज-कल्याण, अनुसूचित जाति व जनजातियाँ, सामूहिक संचार (mass communication), आर्थिक संरचना, योजना, सामुदायिक विकास (community development), वित्त, कृषि, भूमि-सुधार, सहकारी आन्दोलन, सिंचाई तथा शक्ति, उद्योग, वाणिज्य, परिवहन, संचार, श्रम, आवास आदि विषयों से सम्बन्धित नवीनतम आँकड़े व सूचनाएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक ही पुस्तक में भारतीय समाज के सभी पक्षों के सम्बन्ध में सरकारी आँकड़ों की प्राप्ति को इस प्रकाशन ने जितना सुलभ व लाभप्रद किया है उतना और किसी प्रकाशन ने नहीं किया।

(९) **गृह मंत्रालय** (Home Ministry) के अन्तर्गत भारत के रजिस्ट्रार जनरल का कार्यालय (Office of the Registrar General of India) भारतीय सांख्यिकी में सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। सन् १९४८ के जनगणना अधिनियम (Census Act, 1948) के अनुसार यह विभाग देश-भर में दसवर्षीय जनगणना (Decennial Census) का प्रबन्ध करता है और उससे प्राप्त सूचनाओं व आँकड़ों को (अ) Census cf India Report और (व) Census of India Papers नामक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करता है।

(१०) **केन्द्रीय सांख्यिकीय संस्थान** (Central Statistical Organization) केन्द्रीय सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों द्वारा एकत्रित सांख्यिकीय सूचना को समन्वयात्मक दृष्टि से व्यवस्थित करके संजोने का काम करता है। अखिल भारतीय आँकड़ों को संकलित करने व प्रकाशित करने का उत्तरदायित्व इसी संस्था का होता है। इसी संस्था के द्वारा विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सांख्यिकी वार्षिक, मासिक तथा साप्ताहिक पुस्तिकाओं व पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित किए जाते हैं।

(११) **राष्ट्रीय निदर्शन सर्वेक्षण निदेशालय** (Directorate of National Sample Survey)—इस निदेशालय की स्थापना प्रो० महलनवीस की सिफारिशों पर सन् १९५० में भारत सरकार द्वारा की गई है जो कि अब भारतीय सांख्यिकी या सूचनाओं व आँकड़ों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया है। यह विशेषतया पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में योजना आयोग (Planning Commission) की सहायता करने के लिए उसके निर्देशानुसार आवश्यक आँकड़ों तथा सूचनाओं को सर्वेक्षण-पद्धति द्वारा एकत्रित करता है। इसके तत्वावधान में अब तक परिवार के आकार, व्यय का स्वरूप, उपभोग का स्वरूप, मकानों की स्थिति, ग्रामीण व नागरिक बेरोजगारी, ग्रामीण आय, भूमिहीन, कृषि-मजदूर आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण आँकड़ों तथा सूचनाओं को प्राप्त किया गया है।

(ख) सरकारी स्रोतों के अन्तर्गत दूसरा स्रोत राज्य सरकार के विभिन्न विभाग हैं जो कि स्वास्थ्य, शिक्षा, बेरोजगारी, रोजगार की स्थिति, श्रमिक दशा, आवास, सामाजिक सुरक्षा व कल्याण, अपराध आदि विषयों से सम्बन्धित आँकड़ों

तथा सूचनाओं को एकत्रित करते व प्रकाशित भी करते रहते हैं। राज्य स्तर पर भी भिन्न-भिन्न विभागों द्वारा संकलित सामग्री का समन्वय करने के लिए सांख्यिकीय विभाग (Statistical Bureau) होता है जो कि केन्द्रीय सांख्यिकीय संस्थान (Central Statistical Organization) से संलग्न होता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न समय पर नियुक्त कमेटियों की रिपोर्टें भी सांख्यिकी का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

गैर-सरकारी स्रोत
(Non-official Sources)

केवल सरकारी स्रोतों से ही नहीं अपितु गैर-सरकारी स्रोतों से भी भारत में सांख्यिकी प्राप्त होते हैं। (१) सरकारी सहायता से या बिना सहायता के भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा स्थापित संस्थान (Institutes) विभिन्न विषयों से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सांख्यिकीय सूचनाएँ एकत्रित करते रहते हैं। Gokhle Institute of Politics and Economics, Indian Institute of Community Development, Statistical Institute of Calcutta, Tata Institute of Social Sciences, Agra Institute of Social Sciences, Delhi School of Social Work आदि इसी प्रकार के संस्थान हैं।

(२) विभिन्न राज्यों के Chamber of Commerce and Industries के द्वारा भी उद्योगों तथा वाणिज्य के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण आँकड़ों को एकत्रित व प्रकाशित किया जाता है।

(३) भारत के कुछ प्रकाशक इस प्रकार की पुस्तकें जैसे Indian Year Book आदि समय-समय पर प्रकाशित करते रहते हैं जिनमें कि वे भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित आँकड़ों तथा सूचनाओं का उल्लेख करते हैं। यद्यपि इन आँकड़ों को वे स्वयं सर्वेक्षण के द्वारा प्राप्त नहीं करते अपितु सरकारी रिपोर्ट, पुस्तक आदि से सामग्री इकट्ठी करके उन्हें प्रकाशित करते हैं, फिर भी सांख्यिकीय स्रोत के रूप में इनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

(४) विभिन्न समाचारपत्र व पत्रिकाएँ भी अपने रिपोर्टरों की सहायता से अनेक प्रकार के आँकड़े तथा सूचनाएँ एकत्रित करके उन्हें प्रकाशित करती रहती हैं। इस स्रोत से प्राप्त सांख्यिकी का भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सकता है।

व्यक्तिगत स्रोत
(Individual or Personal Sources)

अनेक विद्वानों द्वारा व्यक्तिगत आधार (individual basis) पर किए गए सर्वेक्षणों की रिपोर्टों या पुस्तकों से भी हमें महत्त्वपूर्ण सांख्यिकीय सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, श्री अग्रवाल (S. N. Agarwal) द्वारा लिखित Attitude Towards Family Planning in India, श्री पण्डित (C. G. Pandit) द्वारा लिखित Nutrition in India, श्री दास (Nabagopal Das) की Unemployment, Full Employment and India, श्री गोपाल (M. H. Gopal) की Studies in Indian Public Finance आदि पुस्तकें महत्त्वपूर्ण आँकड़ों तथा सूचनाओं से भरपूर हैं।

भारत में सांख्यिकी के दोष
(Shortcomings of Statistics in India)

यह सच है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में सांख्यिकी के स्रोतों का निरन्तर विकास तथा परिमाजन होता जा रहा है, फिर भी कुछ आधारभूत दोष अब भी विद्यमान हैं जिनका यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। वे दोष निम्नलिखित हैं :—

(१) **सीमित सामग्री** (Limited Data)—सामाजिक, आर्थिक आदि जन-जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित जो भी सांख्यिकी आज हमें उपलब्ध है वह सम्पूर्ण तथा पर्याप्त नहीं है। यह दावा हम नहीं कर सकते कि किसी भी पक्ष के सम्बन्ध में समस्त सूचनाएँ व आँकड़े हमें प्राप्त हैं। उसी प्रकार सामाजिक जीवन के ऐसे कुछ पक्ष भी हैं जिनके विषय में कोई भी सांख्यिकीय तथ्य अब तक एकत्रित नहीं किए गए हैं। उदाहरणार्थ, हम यह यथार्थ रूप में नहीं जानते हैं कि इस देश में प्रतिवर्ष कितने बाल-विवाह अथवा अन्तर्जातीय विवाह होते हैं, कितनी पाठ्य-पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित होती हैं अथवा कितने श्रमिक गाँव छोड़कर प्रतिवर्ष नगर में आ बसते हैं। इस प्रकार अपर्याप्त आँकड़े या आँकड़ों का अभाव भारत में सांख्यिकी का एक उल्लेखनीय दोष बन गया है।

(२) **नवीनतम सूचनाओं का अभाव** (Lack of up-to-date Informations) —भारत में सांख्यिकी का एक और दोष यह है कि उपलब्ध आँकड़ों से हमें नवीनतम सूचना नहीं मिलती है अर्थात् हाल की स्थिति हम जान नहीं पाते हैं। सरकारी प्रकाशनों में भी प्रायः अनेक विषयों के सम्बन्ध में तीन-चार वर्ष पुराने आँकड़ों का उल्लेख मिलता है। इससे सही स्थिति का हमें ज्ञान नहीं हो पाता है। उसी प्रकार जनगणना प्रति दस वर्ष के बाद की जाती है और उसके भी बाद वास्तविक 'जनगणना-रिपोर्ट' प्रकाशित होने में और दो-चार साल लग जाना मामूली बात होती है। इस प्रकार जब वास्तविक 'जनगणना-रिपोर्ट' हम तक पहुँच पाती है तब तक जनसंख्यात्मक दृष्टि से भारत की वास्तविक स्थिति कुछ और ही होती है जिसे कि केवल अनुमान के द्वारा ही जाना जा सकता है।

(३) **क्रमबद्धता का अभाव** (Lack of Systemization)—भारत में प्रकाशित सांख्यिकीय सामग्री में प्रायः क्रमबद्धता का अभाव होता है। बहुत से आँकड़े केवल जिला स्तर पर या राज्य स्तर पर एकत्रित किए जाते हैं और उन्हें समन्वित करके अखिल भारतीय आँकड़ों को आँकने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। कई बार आँकड़ों को कुछ समय तक एकत्रित करने के पश्चात् उसपर फिर कभी ध्यान ही नहीं दिया जाता है। इन सबके कारण किन्हीं-किन्हीं स्थितियों का क्रमबद्ध ज्ञान हमें नहीं हो पाता है।

(४) **विश्सनीयता का अभाव** (Lack of Reliability)—भारत में सांख्यिकी का एक और खेदपूर्ण दोष यह है कि सरकारी स्रोतों से प्राप्त अथवा सरकारी विभागों द्वारा प्रकाशित आँकड़े भी पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते हैं। कभी-कभी तो विभिन्न अवसरों पर सरकारी प्रवक्ताओं द्वारा एक ही विषय तथा एक ही अवधि से सम्बन्धित आँकड़ों में इतना अधिक अन्तर होता है कि यह सोचना पड़ता है कि वे सरकारी आँकड़े हैं या जुबानी जमा-खर्च के ब्यौरे। अपनी लोकप्रियता को बनाए रखने के लिए प्रायः सरकारी प्रकाशनों में अवांछित घटनाओं से सम्बन्धित आँकड़ों को बहुत घटाकर और वांछित घटनाओं से सम्बन्धित तथ्यों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रकाशित

किया जाता है। रेल-दुर्घटना में अगर सौ व्यक्तियों की मृत्यु हुई है तो सरकारी विज्ञप्ति में मुश्किल से १५ मृत्युओं का उल्लेख मिलता है। उसी प्रकार पुलिस विभाग द्वारा अपराधों की संख्या बहुत घटाकर बताई जाती है क्योंकि अधिक अपराध इस विभाग की अकुशलता व प्रभावहीनता के परिचायक हैं। अतः अनुमान पर अधिक भरोसा किया जाता है।

(५) **उपलब्धता का अभाव** (Lack of Availability)—इस सम्बन्ध में एक और कमी यह है कि अधिकतर सरकारी सूचनाएँ व आँकड़े सरलता से मिल ही नहीं पाते हैं और अधिकारियों की लापरवाही के कारण सरकारी फाइलों के ढेर में दबे पड़े रहते हैं। अधिक कहने-सुनने पर इन अधिकारियों द्वारा यह कहकर टाल दिया जाता है कि अमुक सूचनाएँ या आँकड़े 'गोपनीय' (confidential) हैं। अनेक जिला सूचना दफ्तरों में अधिकारी वर्ग आराम की नींद लेते रहते हैं और उनसे किसी भी प्रकार की सूचना मांगने पर जो कुछ सूचना वह देते हैं वह वास्तव में अनुशोचना का ही विषय बन जाता है। वास्तव में अनुमान से खानापूरी करके आँकड़े ऊपर भेज दिए जाते हैं जिनके आधार पर निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं, पर वह गलत निष्कर्ष भी सब को सरलता से बताया नहीं जाता है।

(६) **प्रकाशन की समस्या** (Problem of Publication)—सूचनाएँ तथा आँकड़े अधिक दिनों तक सरकारी फाइलों में दबे पड़े रहने के कारण पुराने हो जाते हैं और जब उनका वास्तविक प्रकाशन होता है तो वे किसी काम के ही नहीं रह जाते।

(७) **पत्र-पत्रिकाओं का अभाव** (Lack of Newspapers and Magazines)—समाजशास्त्रीय अनुसन्धान-सामग्री को प्रकाशित करने वाले पत्र-पत्रिकाओं का भी इस देश में अत्यन्त अभाव है जिसके कारण आधुनिकतम (latest) अनुसन्धानों या सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त सूचनाएँ व आँकड़े हम तक पहुँच नहीं पाते हैं। जो इनी-गिनी पत्रिकाएँ यहाँ प्रकाशित होती हैं उनमें प्रख्यात दो-चार विद्वानों का नाम व काम सम्मिलित करना अनिवार्य माना जाता है क्योंकि इसके बिना पत्रिका की प्रतिष्ठा घट जाने का डर सम्पादक-मण्डली को सदा लगा रहता है। यह प्रवृत्ति वास्तव में घातक सिद्ध हुई है।

दोषों को सुधारने के उपाय
(How to correct the Shortcomings)

भारत में सांख्यिकीय सामग्री के उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाए जा सकते हैं :—

(१) **सम्बन्धित सरकारी विभागों में कार्यकुशलता को बढ़ाने का प्रयत्न करना** (Efforts for increasing efficiency of Govt. departments)—सरकारी स्रोत भारत में सांख्यिकी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत है, पर सरकारी विभागों की लापरवाही व लेट-लतीफी के कारण यह स्रोत प्रभावपूर्ण रूप में उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाता है। अतः उन पर कड़े नियंत्रण व निगरानी की आवश्यकता है। उन्हें उनके महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में अधिक जागरूक रहने के लिए तैयार करना होगा जिससे कि अनुमान के आधार पर खानापूरी करने और प्राप्त आँकड़ों को भी प्रकाशित करने में अत्यधिक देर करने की प्रवृत्ति कम हो जाए। इन विभागों द्वारा संकलित तथ्यों की विश्वसनीयता की जाँच करने की कुछ-न-कुछ व्यवस्था अवश्य ही होनी चाहिए।

(२) **शोध-कार्यों को प्रोत्साहन** (Encouragement of Research Work)—विश्वसनीय सांख्यिकीय सामग्री को एकत्रित करवाने के लिए यह आवश्यक है कि स्नातकोत्तर (post-graduate) स्तर पर सामाजिक अनुसन्धान व सर्वेक्षण-कार्यों को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए सबसे वड़ी आवश्यकता आर्थिक सहायता की है जिसके अभाव में अनेक अनुसन्धान-कार्य या तो आरम्भ ही नहीं हो पाते हैं या आरम्भ होने के बाद बीच में ही रुक जाते हैं। उचित आर्थिक सहायता मिलने पर प्रत्येक स्नातकोत्तर संस्थाओं में एक-एक अनुसन्धान-केन्द्र (Research Centre) खोलना सम्भव होगा। इन केन्द्रों का संचालन करने में समाज-विज्ञान के अध्यापकों तथा सम्बन्धित विभागों के सरकारी व गैर-सरकारी अधिकारियों एवं विशेषज्ञों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए ताकि सबकी सहायता से विश्वसनीय व महत्त्वपूर्ण आँकड़ों तथा सूचनाओं को एकत्रित करना सरल हो।

(३) **समन्वय समितियों की स्थापना** (Establishment of Coordination Committees)—भारतवर्ष में प्रायः एक ही विषय से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों या प्रदेशों में एकत्रित आँकड़े उचित संगठनात्मक व्यवस्था न होने के कारण बिखरे पड़े रहते हैं और इसीलिए अनुपयोगी होते हैं अतः आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न अनुसन्धान व सर्वेक्षण-कार्यों के निष्कर्षों में समन्वय लाने के लिए राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय स्तर पर समन्वय समितियों की स्थापना की जाए। इससे बिखरे हुए कार्य एक सूत्र में गुँथ जाएँगे और वास्तव में उपयोगी सिद्ध होंगे।

(४) **सांख्यिकीय प्रयोगशालाओं की स्थापना** (Establishment of Statistical Laboratories)—सरकारी सहायता से भिन्न-भिन्न स्थानों पर कम से कम प्रत्येक जिले में एक सांख्यिकीय प्रगोगशाला की स्थापना होनी चाहिए। इन प्रयोगशालाओं में स्थानीय या क्षेत्रीय आँकड़ों की विवेचना की व्यवस्था होनी चाहिए। यह प्रयोगशालाएँ प्रशिक्षण-केन्द्रों का कार्य भी कर सकती हैं।

(५) **शोध या सर्वेक्षण-उपकरणों का विकास** (Development of Research or Survey Tools)—विश्वसनीय आँकड़े तभी प्राप्त हो सकते हैं जबकि आँकड़ों को एकत्रित करने के उपकरण या साधन त्रुटिरहित हों। अतः आवश्यकता इस बात की है कि विशेषज्ञों को केवल नए सर्वेक्षण या अनुसन्धान करने पर ही जोर नहीं देना चाहिए अपितु साथ-साथ शोध या सर्वेक्षण-उपकरणों में किस भाँति उत्तरोत्तर उन्नति लाई जा सकती है इस सम्बन्ध में भी गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिए। इसके लिए एक केन्द्रीय समिति की भी स्थापना लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याओं के विषय में सर्वेक्षण करने के लिए प्रमाणित अनुसन्धान-उपकरणों जैसे प्रश्नावली, अनुसूची आदि को तैयार करने का काम इस समिति का होना चाहिए।

(६) **प्रकाशन की व्यवस्था** (Arrangement for Publication)—गतिशील समाजों में यदि समय पर एकत्रित आँकड़ों व सूचनाओं को प्रकाशित नहीं किया गया तो बाद में वे बिल्कुल बेकार हो जाते हैं क्योंकि अधिक समय गुजर जाने से सम्बन्धित सामाजिक स्थितियाँ बदल जाती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि अधिक समय बीतने से पहले ही अनुसन्धान व सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त आँकड़ों तथा सूचनाओं को प्रकाशित करने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा विशेष तत्परता बरतने की आवश्यकता है।

(७) **विश्वसनीयता की जाँच** (Test of Reliability)—सांख्यिकीय

सामग्री को वास्तव में उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक सरकारी तथा गैर-सरकारी आँकड़ों की विश्वसनीयता की जाँच करने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए, इसके लिए यह आवश्यक है कि एक ही विषय पर दो व्यक्ति या संस्थाएँ आँकड़ों को एकत्रित करें और दोनों के परिणामों की जाँच की जाए।

यदि उपरोक्त उपायों को अपनाया गया तो यह आशा की जा सकती है कि भारत में सांख्यिकीय आँकड़ों तथा सामग्रियों का संकलन अधिक यथार्थ रूप में तथा शीघ्रता से किया जा सकेगा और इस प्रकार एकत्रित सामग्री वास्तव में उपयोगी सिद्ध होगी। किसी भी प्रगतिशील देश की योजनाबद्ध प्रगति के लिए सांख्यिकीय सामग्री का अत्यन्त महत्त्व है। इस सत्य को स्वीकार करते हुए उपरोक्त उपायों को अपनाना अत्यावश्यक है।

भारत में जनगणना सम्बन्धी तथ्य
(The Census Data in India)

जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों या तथ्यों को दुनिया के सभी देशों द्वारा एकत्रित किया जाता है। क्योंकि इसके बिना देश की आर्थिक, सामाजिक, यहाँ तक कि राजनैतिक स्थिति का सही अनुमान नहीं हो सकता। साधारण लोग जनगणना का अर्थ 'देश के लोगों की गिनती' समझते हैं। पर वास्तव में यह बात नहीं है। जनगणना सरकार द्वारा आयोजित वह संगठित व विशाल गणना है जिसके द्वारा वह अपने देश के लोगों की संख्या एवं उनके जीवन से सम्बन्धित अन्य अनेक प्रकार के तथ्यों या आँकड़ों को एकत्रित करती है।

१९६१ की जनगणना की उल्लेखनीय बातें
(Main features of 1961 Census)

(१) यह जनगणना १० फरवरी १९६१ से ५ मार्च १९६१ तक प्रशिक्षित (trained) कार्यकर्त्ताओं द्वारा की गई।

(२) १९६१ की जनगणना में जनगणना अनुसूची के अतिरिक्त मकान सूची, पारिवारिक सूची तथा किसान व टैक्नीकल शिक्षा पाए हुए व्यक्तियों के फार्म भी तैयार किए गए। इस प्रकार इन सब विषयों में अधिक विस्तार में जानकारी प्राप्त की गई।

(३) देश की समस्त जनसंख्या को दो भागों में बाँटा गया—(अ) काम करने वाले और (ब) काम न करने वाले। काम करने वालों को ५ वर्गों में बाँटा गया था—मालिक, नौकर, अकेला काम करने वाले, पारिवारिक उद्योगों में बिना वेतन काम करने वाले, तथा काम करने वाले बच्चे व स्त्रियाँ। उसी प्रकार काम न करने वालों को ६ वर्गों में बाँटा गया—पूर्ण विद्यार्थी, घरेलू काम-काज में लगे व्यक्ति, आश्रित बच्चे व अशक्त व्यक्ति, अवकाश प्राप्त व्यक्ति, भिखारी, दण्डित कैदी आदि (जिसमें पागलखानों या आश्रमों में रहने वाले भी सम्मिलित थे)।

(४) तकनीकी शिक्षा पाए हुए लोगों के बारे में विस्तार में सूचना एकत्रित की गई।

(५) उसी प्रकार सैनिकों, भूतपूर्व सैनिकों [तथा उनके कुटुम्बों के बारे में विस्तारपूर्वक सूचना एकत्रित की गई थी।]

स्मरण रहे कि जनगणना सम्बन्धी कार्यों को नियमित करने के लिए एक 'जनगणना अधिनियम, १९४९' पास कर दिया गया था और इस कार्य के लिए स्थायी रजिस्ट्रार जनरल एवं जनगणना आयुक्त भी हैं।

जनगणना से प्राप्त कुछ तथ्य
(Some Census Data)

'जनगणना रिपोर्ट' से हमें अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं जिसे कि हम अपने अनुसन्धान का आधार बना सकते हैं। १९६१ की जनगणना रिपोर्ट में उल्लेखित निम्नलिखित तालिकाएँ (सारिणियाँ) इस तथ्य को प्रमाणित कर सकेंगी :—

सारिणी संख्या १

१९०१-६१ तक भारत की जनसंख्या

वर्ष	जनसंख्या	वृद्धि या कमी का प्रतिशत
१९०१	२३६,२८१,२४५	
१९११	२५२,१२२,४१०	+ ५·७३
१९२१	२५१,३५२,२६१	— ०·३१
१९३१	२७९,०१५,४९८	+११·०१
१९४१	३१८,७०१,०१२	+१४·२२
१९५१	३६१,१२९,६२२	+१३·३१
१९६१	४३९,२३५,०८२	+२१·५०

उपरोक्त आँकड़ों से यह पता चलता है कि भारत की जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है, एवं उसे रोकना राष्ट्रीय हित के लिए कितना आवश्यक है।

उसी प्रकार धर्म के सम्बन्ध में भी १९६१ की जनगणना से महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। भारत के निवासी विभिन्न धर्मावलम्वी हैं। इस जनगणना के अनुसार कुल भारतवासियों में हिन्दू ८३·५० प्रतिशत, मुसलमान १०·७० प्रतिशत, ईसाई २·४४ प्रतिशत, सिख ·७९ प्रतिशत, जैन १०·४६ प्रतिशत, बौद्ध ०·७४ प्रतिशत तथा अन्य धर्मावलम्बी ०·३७ प्रतिशत हैं।

गाँव और शहर में जनसंख्या का बंटवारा किस प्रकार का है, इसके सम्बन्ध में भी उपरोक्त जनगणना से हमें निश्चित सूचना प्राप्त होती है। कुल ४३·९२ करोड़ भारतवासियों में ३६·०७ करोड़ अर्थात ८२ प्रतिशत जनसंख्या ५,६७,३३८ गाँवों में तथा ७·८९ करोड़ अर्थात् १८ प्रतिशत जनसंख्या भारत के २,७०० शहरों में निवास करती है। इस दिशा में झुकाव शहर की तरफ ज्यादा है जैसा कि अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट होगा :—

सारिणी संख्या २

ग्रामीण-नागरिक जनसंख्या (१९२१—१९६१)

कुल जनसंख्या का प्रतिशत	१९२१	१९३१	१९४१	१९५१	१९६१
ग्रामीण	८८·८	८८·०	८६·१	८२·७	८२·०
नागरिक	११·२	१२·२	१३·९	१७·३	१८·०

शिक्षा के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण आँकड़े हमें १९६१ की जनगणना से प्राप्त होते हैं जैसे :—

सारिणी संख्या ३

भारत में शिक्षित जनसंख्या

शिक्षित व्यक्तियों की संख्या			कुल जनसंख्या का प्रतिशत		
पुरुष	स्त्रियाँ	कुल	पुरुष	स्त्रियाँ	कुल
७,७९,४६,२७४	२,७५,७९,७२३	१०,५५,२५,९९७	३४·५	१३·०	२४·०

१९६१ की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जातियों की सदस्य-संख्या ६,४४,१७,३३६ है जबकि अनुसूचित जनजातियों की सदस्य-संख्या ३,०१,७२,२२१ है। इनमें अनुसूचित जातियों की सर्वाधिक सदस्य-संख्या (१,५३,९९,८८१) उत्तर प्रदेश में है जबकि अनुसूचित जनजातियों की सर्वाधिक सदस्य-संख्या (६६,७८,४१०) मध्य प्रदेश में है।

१९६१ की जनगणना के अनुसार काम करने वाले एवं काम न करने वालों का विभाजन इस प्रकार है :—

सारिणी संख्या ४

जनसंख्या का कार्यों के आधार पर विभाजन

पेशा	पुरुष	स्त्रियाँ
१. किसान	६६,४०६,७६५	३३,१०३,१६८
२. कृषि मजदूर	१७,३११,४७४	१४,१७०,८३१
३. खान, वागीचा, जंगल आदि में काम करने वाले	४,००३,०५८	१,१८७,२४१
४. घरेलू काम-काज करने वाले	७,३६५,६५०	४,६६५,४३७
५. अन्य उद्योगों में काम करने वाले	७,१६८,०१५	७८८,५९९
६. निर्माण कार्य करने वाले	१,८१२,८३०	२४२,६१९
७. व्यापार वाणिज्य करने वाले	६,८२४,७९९	८१५,२४६
८. यातायात तथा संचार सेवाओं में काम करने वाले	२,९३८,४४१	६४,७४९
९. अन्य सेवाओं में लगे लोग	१५,१८४,६२१	४,३६३,७८९
१०. काम न करने वाले लोग	९६,८२७,९१४	१५३,०६४,९७५

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सरकारी तथ्यों का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत 'जनगणना रिपोर्ट' है जो कि अनेक गम्भीर सर्वेक्षण-कार्य का आधार वन सकता है। जनगणना का यह महत्त्व निम्न-लिखित विवेचना से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

सन् १९७१ की जनगणना

(Census of 1971)

प्रत्येक दस वर्ष के बाद होने वाली जनगणना सन् १९६१ के बाद अब सन् १९७१ में १० मार्च से आरम्भ की गई थी। इस अवसर पर राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि (V. V. Giri) ने सन् १९७१ की जनगणना को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है क्योंकि इसी के साथ इस देश में जनगणना करने के कार्य का सौ वर्ष पूरा हो जाएगा। इस जनगणना की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) यह जनगणना १० मार्च १९७१ से ३ अप्रैल १९७१ तक प्रशिक्षित (trained) कार्यकर्त्ताओं द्वारा की गई।

(२) सन् १९७१ की जनगणना में केवल जनसंख्या की गिनती मात्र न होकर समाज के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सामने लाने का भी कार्य हुआ है।

(३) इस कार्य के लिए १२ लाख से भी अधिक प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं को लगाया गया था।

(४) इस जनगणना की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसमें हिसाब लगाने के लिए पहली बार मशीनों (computers) की सहायता ली गई थी।

(५) इस बार एक विशेष कार्ड, जिसका नाम "Degree Holder and Technical Personnel Card" था, प्रयोग किया गया था जिसकी सहायता से शिक्षित एवं प्रशिक्षित लोगों के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ एकत्रित की गईं और यह पता लगाया गया कि उनमें रोजगारी एवं वेरोजगारी की स्थिति क्या है।

(६) साथ ही, इस बार सर्वप्रथम देश के अन्दर ही क्रियाशील स्थानान्तरण (internal migration) की प्रवृत्ति, जो कि आजकल अत्यधिक है, का पता लगाया गया अर्थात् इस वात का पता किया गया कि किस सीमा तक लोग एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को आते-जाते हैं।

(७) इस बार सम्पूर्ण जनगणना का कार्य अपेक्षाकृत कम समय के अन्दर समाप्त किया गया और ३१ मार्च के बाद १ अप्रैल को फिर से इस बात की जाँच की गई कि जनगणना के दौरान कितने लोग मर गए और कितने बच्चों का जन्म हुआ ताकि अन्तिम आँकड़े जनसंख्या का वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकें।

१९७१ की जनगणना के आँकड़े
(Data of 1971 Census)

सन् १९७१ की जनगणना के आँकड़ों के अनुसार देश की आवादी ५४,७९,४९,८०९ (अर्थात् प्राय: ५४ करोड़ ८० लाख) है। इस वर्ष १ अप्रैल तक देश में पुरुषों की संख्या २८·४ करोड़ तथा स्त्रियों की संख्या २६·४ करोड़ है। इस प्रकार पुरुषों की संख्या महिलाओं की अपेक्षा प्राय: दो करोड़ अधिक है।

सन् १९६१ से १९७१ के दशक में आवादी में वृद्धि की दर २४·८० प्रतिशत रही जबकि सन् १९५१ से १९६१ तक के दशक में जनसंख्या में वृद्धि की दर २१·५ प्रतिशत थी। देश में जनसंख्या का घनत्व १७८ व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है। देश में पुरुषों तथा महिलाओं का अनुपात १००० : ९३० है तथा साक्षरता की दर २९·४५ प्रतिशत है जिसमें ३९·४५ प्रतिशत पुरुष तथा १८·७० प्रतिशत महिलाओं का है।

सरकारी अनुमान के विपरीत इस बार की जनसंख्या १ करोड़ ४० लाख कम रही। इससे पता चलता है कि परिवार नियोजन का प्रभाव अनुमान से अधिक हुआ है। पर इस सम्वन्ध में कोई निश्चित वात वाद को ही वताई जा सकेगी।

भारत की जनसंख्या विश्व की कुल अनुमानित जनसंख्या ३ अरव ७१ करोड़ का सातवाँ भाग अर्थात् १५ प्रतिशत है। चीन की आवादी ७५ करोड़ है। यही देश जनसंख्या में भारत से आगे है। भारत के वाद सोवियत संघ (रूस) का नम्बर है जिसकी आवादी २४ करोड़ ३० लाख है।

राज्यों की आबादी में उत्तर प्रदेश अपनी ८,८३,४१,१४४ जनसंख्या के साथ

सबसे आगे है। इसके बाद क्रमशः बिहार की आबादी ५,६३,५३,३६९, महाराष्ट्र की ५,०४,१२,२३५, प० बंगाल की ४,४३,१२,०११, आन्ध्रप्रदेश की ४,३५,०२,७०८ तथा मध्य प्रदेश की ४,१६,५४,११९ है। जनसंख्या के आकार के दृष्टिकोण से उत्तर प्रदेश, बिहार तथा महाराष्ट्र अपने १९६१ के प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्थान पर ही हैं, जबकि पश्चिम बंगाल पाँचवें स्थान से चढ़कर चौथे स्थान पर आ गया है। आन्ध्र प्रदेश जो पहले चौथे स्थान पर था अब पाँचवें पर उतर आया है, मध्य प्रदेश सातवें से चढ़कर छठवें स्थान पर, जिस पर पहले तामिलनाडु था, आ गया है जबकि तामिलनाडु सातवें स्थान पर चला गया है।

उत्तर प्रदेश में देश की कुल जनसंख्या का १६·१४ प्रतिशत, बिहार में १०·३१ प्रतिशत, महाराष्ट्र में ९·२० प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में ८·१२ प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश में ७·९३ प्रतिशत तथा मध्य प्रदेश में ७·५८ प्रतिशत जनता निवास कर रही है।

केन्द्रशासित क्षेत्रों में सबसे अधिक जनसंख्या दिल्ली की ४०,६५,६९८ अर्थात् कुल जनसंख्या का ०·७४ प्रतिशत है।

इस बार भी देश का सर्वाधिक घना बसा हुआ राज्य केरल ही है जहाँ कि जनसंख्या का घनत्व ५४९ व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर है। इसके बाद क्रमशः पश्चिम बंगाल (५०४), बिहार (३२४), तामिलनाडु (३१७), उत्तर प्रदेश (३००) तथा पंजाब (२६९) का स्थान है। केन्द्रशासित क्षेत्रों में प्रथम तीन स्थान क्रमशः दिल्ली (२७३८), चंडीगढ़ (२२५७) तथा लक्कादिव, मिनिकोय व अमिन्दिवी (९९४) के हैं।

देश के शहरों में कलकत्ता सबसे अधिक संख्या में लोगों को बसाए हुए है। इस शहर की आबादी ७०,४०,३४५ है। अभी तक उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार पूना की आबादी ११,२३,३९९ हो जाने से यह शहर अब एक महानगरी (metropolitan city) की स्थिति पर पहुँच गया है। अन्य प्रमुख शहरों की जनसंख्या इस प्रकार है—वृहत्तर बम्बई ५९,३१,९८९, मद्रास २४,७०,२३८, हैदराबाद १७,९८,९१०, अहमदाबाद १७,४६,१११, बंगलौर १६,४८,२३२ तथा कानपुर १२,७३,०४२।

नई जनगणना के आँकड़ों के अनुसार देश में शहरी आबादी १९६१ में १८·० प्रतिशत थी जो बढ़कर १९७१ में १९·९ प्रतिशत हो गई।

आँकड़ों के अनुसार इस समय भारत की कुल आबादी ५४ करोड़ ८० लाख में से शहरी आबादी १० करोड़ ९१ लाख है।

यद्यपि आँकड़ों के अनुसार शहरी आबादी में वृद्धि हुई है तथापि अभी भी देश की ८० प्रतिशत (४३·८९ करोड़) आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रह रही है।

जनगणना आयुक्त एवं महा पंजीयन अधिकारी श्री ए० चन्द्रशेखर ने एक प्रेस गोष्ठी में कहा कि विकसित देशों के मुकाबले भारत में शहरीकरण का स्तर बहुत नीचा है। ब्रिटेन में शहरीकरण का औसत ७८·८७ प्रतिशत, कनाडा में ७३·५८ प्र.श., अमेरिका में ६९·८६ प्र.श., सोवियत संघ में ५५·८५ प्र.श. है।

भारतीय राज्यों में महाराष्ट्र के शहरीकरण का औसत सबसे अधिक ३१·२० प्रतिशत है। तामिलनाडु का ३०·२८ तथा गुजरात का २८·१३ प्रतिशत है।

केन्द्रशासित चंडीगढ़ का शहरीकरण ९०·६७ तथा दिल्ली का ८९·७५ प्रतिशत है किन्तु इन क्षेत्रों का गठन मूलतः ही शहरी है।

पाँच हजार से अधिक आबादी वाले शहरों की संख्या २४६८ है।

श्री ए० चन्द्रशेखर ने बताया कि शहर की आबादी का ५२·४१ प्रतिशत भाग

१४७ बड़े शहरों में रह रहा है जिनकी आबादी एक लाख से अधिक है।

श्री चन्द्रशेखर ने कहा कि पहली बार एक लाख से अधिक वाले शहरों की आवादी कुल आवादी के आधे भाग से अधिक हुई है। पिछली १९६१ की जनगणना में शहरी आवादी का ४८ प्रतिशत एक लाख से अधिक के शहरों में था।

सबसे अधिक आवादी कलकत्ता की ७० लाख, बम्बई की ५९ लाख, दिल्ली की ४० लाख, मद्रास की २५ लाख, हैदराबाद की १८ लाख, बंगलौर की १६ लाख, अहमदाबाद की १७ लाख और कानपुर की १२ लाख से अधिक है।

विश्व के सबसे अधिक आवादी वाले २५ शहरों में तीन शहर आते हैं, इनमें कलकत्ता का सातवां, बम्बई का १२वां और दिल्ली का २१वां स्थान है।

१९७१ की जनगणना में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या—'उत्तर प्रदेश जनगणना निदेशालय द्वारा प्रसारित किए गए आँकड़ों के अनुसार सन् १९७१ की जनगणना में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ८,८३,४१,१४४ है जिन में पुरुषों की संख्या ४·६९ करोड़ तथा महिलाओं की संख्या ४·१४ करोड़ है। यहाँ पिछले दशक में आबादी में १९·७३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है जो सभी राज्यों से कम है। इस वृद्धि को इस रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस राज्य में पिछले दशक में १,२१,२७५ प्रतिमास की दर से आवादी वढ़ी है।

सम्पूर्ण भारत की भाँति उत्तर प्रदेश में भी पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या कम है। इस राज्य में इस समय १००० पुरुषों के मुकाबले में ८७९ महिलाएँ हैं। पिछले दशक में महिलाओं की संख्या १०० पुरुषों पर २६ की दर से घटी है।

उत्तर प्रदेश में आवादी का घनत्व २५० व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर से बढ़कर ३०० व्यक्ति प्रतिवर्ग किलोमीटर हो गया है।

राज्य में पिछले दस सालों में ३·९९ प्रतिशत साक्षरता बढ़ी है और इस प्रकार इस समय उत्तर प्रदेश में साक्षरता २१·६४ प्रतिशत हो गई है।

जनगणना का महत्त्व
(Importance of Census)

भारत जैसे देशों में जहाँ कि सांख्यिकीय सामग्री को प्राप्त करने के स्रोत या साधन सीमित व दोषपूर्ण हैं वहाँ जनगणना के महत्त्व को शायद ही कम किया जा सकता है। जनगणना के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों के विषय में विश्वसनीय आँकड़े व सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। जनगणना की रिपोर्ट का अध्ययन करने पर हमें अपने देश के परिवार के आकार, गाँव व शहर में जनसंख्या का वितरण, स्त्री-पुरुष का अनुपात, विभिन्न भाषा बोलने वालों की संख्या, विभिन्न धर्मों के समर्थकों की संख्या, विभिन्न पेशों में लगी हुई श्रमशक्ति, शिक्षा का स्तर, आयु का वितरण, जन्म तथा मृत्युदर, वैवाहिक स्थिति, जनसंख्या की वृद्धि की दर, औसत आयु आदि के विषय में बहुत-कुछ यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकती है। परोक्ष रूप में जनगणना से हमें विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं का भी आभास होता है। इन सब दृष्टिकोणों से जनगणना का अत्यधिक महत्त्व है और इसीलिए यह कहा गया है कि जनगणना योजनबद्ध विकास की कुंजी है। इस बात का और भी स्पष्टीकरण निम्नलिखित विवेचना से हो सकेगा—

(१) राजनैतिक महत्त्व (Political Importance)—राजनैतिक तथा

प्रशासनिक दृष्टि से जनगणना का बहुत महत्त्व है। इसका कारण यह है कि 'जनणगना रिपोर्ट' से देश के विभिन्न भागों की जनसंख्यात्मक, आर्थिक व सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है जो कि शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी उचित व्यवस्था करने में सहायक सिद्ध होता है। उसी प्रकार मृत्युदर तथा जन्मदर सम्बन्धी सूचनाओं के आधार पर चिकित्सा, परिवार नियोजन आदि के सम्बन्ध में आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जा सकती है। शिक्षा से सम्बन्धित आँकड़े शिक्षा के स्तर को और उन्नत करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त भाषा सम्बन्धी सूचना भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन में सहायक सिद्ध होती है। समाज की दुर्बल जातियों की वास्तविक स्थिति का पता 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त हो सकता है जिसके आधार पर उनके कल्याण के लिए आवश्यक पग उठाना चाहिए। जनगणना के आधार पर जिन सामाजिक समस्याओं का आभास होता है उसी के अनुसार उनके निराकरण के लिए योजनाओं का बनाना सरल हो जाता है।

(२) **समाजशास्त्रीय महत्त्व** (Sociological Importance)—जनगणना व उसकी रिपोर्ट समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अत्यन्त उपयोगी है। अनेकों समाज-सुधार कार्यक्रमों का तथा सामाजिक अनुसन्धान या शोध-कार्य का प्रारम्भ 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर होता है। उदाहरणार्थ, यदि 'जनगणना रिपोर्ट' से यह पता चलता है कि भारत में काफी संख्या में बाल-विवाह होते हैं तो बाल-विवाह के कारणों तथा परिणामों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने के लिए समाज-वैज्ञानिक तत्पर हो सकते हैं। दूसरी ओर समाज-सुधारक बाल-विवाह को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठा सकते हैं। उसी प्रकार जनगणना के आधार पर पारिवारिक संगठन, वैवाहिक स्थिति, स्त्री-शिक्षा आदि पर सूचना प्राप्त करके भिन्न-भिन्न सामाजिक शोध-कार्यों को आयोजित किया जा सकता है अथवा सामाजिक योजनाओं को बनाने के लिए कदम उठाए जा सकते हैं। परिवार नियोजन की धारणा 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त तथ्यों पर आधारित है।

(३) **आर्थिक महत्त्व** (Economic Importance)—आर्थिक दृष्टिकोण से भी जनगणना के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। जनगणना की रिपोर्ट से जनसंख्या का झुकाव अर्थात् वृद्धि या कमी का पता लगता है और उसी के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देश में जनसंख्या का आकार भविष्य में क्या होगा। इसी अनुमान के आधार पर जनसंख्या को रोकने या उसे बढ़ाने के लिए आवश्यक योजनाओं का निर्माण किया जाता है। इतना ही नहीं, जनसंख्या के झुकाव के आधार पर भविष्य में देश की आर्थिक स्थिति, निर्धनता, रोजगारी या बेरोजगारी, प्रतिव्यक्ति आय आदि का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है जो कि आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसी प्रकार 'जनगणना रिपोर्ट' से विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों में लगी श्रमशक्ति का पता चलता है और इस जानकारी के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि किस उद्योग या व्यवसाय में श्रमशक्ति की अधिक खपत सम्भव है। जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर खाद्य पूर्ति सम्बन्धी योजना बनाने में अत्यधिक मदद मिलती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नियोजन में 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त आँकड़े व सूचनाएँ अत्यधिक सहायक होती हैं।

(४) **व्यापारिक महत्त्व** (Importance in Business)—व्यापार में लगे व्यक्तियों के लिए भी जनगणना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इस अर्थ में सिद्ध होती है कि 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर विभिन्न वस्तुओं की माँग तथा पूर्ति

का अनुमान करना सरल होता है। यदि चीजों की पूर्ति की अपेक्षा जनसंख्या की वृद्धि अधिक तेजी से हो रही है तो चीजों की कमी होना स्वाभाविक होगा। उस स्थिति में व्यापारी चीजों के दाम वढ़ा सकता है। 'जनगणना रिपोर्ट' से यह भी पता चलता है कि किस क्षेत्र में किस विशेषता वाले लोग निवास करते हैं। इससे व्यापारियों को विभिन्न वस्तुओं के बाजारों तथा उन वस्तुओं की सम्भावित खपत के वारे में एक अनुमानित जानकारी प्राप्त हो जाती है। प्रतिव्यक्ति व्यय का अनुमान करके ही वस्तुओं को आयात किया जाता है। यह अनुमान भी 'जनगणना रिपोर्ट' के आधार पर ही किया जाता है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न संस्थानों के लिए 'जनगणना रिपोर्ट' से प्राप्त आँकड़े व सूचनाएँ अत्यन्त उपयोगी होती हैं क्योंकि उन्हीं के आधार पर वे आयात तथा निर्यात सम्वन्धी क्रियाकलापों को संचालित करते हैं।

(५) अन्य महत्त्व (Other Importance)—जनगणना की रिपोर्ट अन्य अनेक लोगों तथा संस्थानों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, वीमा कम्पनी जनसंख्या तथा आय-व्यय के प्रतिमानों के आधार पर अपनी व्यावसायिक प्रगति का अनुमान लगा सकती है। आयु, लिंग, शिक्षा-स्तर आदि से सम्वन्धित सूचनाओं या तथ्यों के आधार पर ही विभिन्न प्रकार के उपचार-साधनों को अपनाया जाता है। उसी प्रकार 'जनगणना रिपोर्ट' से ही बेरोजगारी की समस्या की गम्भीरता को समझकर उसके लिए आवश्यक कदम उठाया जा सकता है।

सन् १९७१ की जनगणना के अवसर पर अपने सन्देश में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत के लिए जनगणना के महत्त्व की चर्चा करते हुए कहा है कि "भारत इस समय लोगों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में होने वाले स्वत: स्फूरित परिवर्तनों के प्रवेशद्वार पर है। इन सव परिवर्तनों को जनता की स्थिति के सम्वन्ध में ज्ञान तथा उनकी आवश्यकताओं के सही मूल्यांकन पर आधारित करना होगा। जनगणना इसी प्रकार का एक मूल्यांकन है।" इसी अवसर पर राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि का सन्देश यह है कि "भारत की दसवर्षीय जनगणना राष्ट्रीय महत्त्व वाला एक अति विशाल कार्य है। यह एक प्रकार की राष्ट्रीय जाँच-पड़ताल है। आधुनिक युग में जनगणना, नीति निर्धारण करने तथा विकास योजनाओं को वनाने का, एक अनिवार्य साधन है। जनगणना केवल व्यक्तियों की गिनती नहीं अपितु एक वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल है जिसका कि उद्देश्य सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक पृष्ठभूमि में मनुष्य का एक परिपूर्ण व तथ्ययुक्त चित्र प्रस्तुत करना है।" जनगणना का वास्तविक महत्त्व भी इसी प्रस्तुतीकरण में निहित है।

———

१२

निरीक्षण
(OBSERVATION)

निरीक्षण-प्रविधि सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित अनुसन्धान-कार्यों के सन्दर्भ में कोई नवीन प्रविधि नहीं है। सामाजिक विज्ञानों की बात तो और है, प्राकृतिक विज्ञानों में तो इस प्रविधि का सम्भवतः शुरू से ही प्रयोग होता आया है। **प्रो० गुड** एवं हॉट ने उचित ही लिखा है कि "विज्ञान निरीक्षण से प्रारम्भ होता है, और फिर सत्यापन के लिए अंतिम रूप से निरीक्षण पर ही लौटकर आना पड़ता है।"[1] प्रो० गुड एवं हॉट का उपरोक्त कथन उचित ही है। वास्तव में कोई भी वैज्ञानिक किसी भी घटना या अवस्था को उस समय तक स्वीकार नहीं करता, जब तक कि वह स्वयं उसका अपनी इन्द्रियों से निरीक्षण (observation) न कर ले।

सामाजिक विज्ञानों के बारे में भी यही तथ्य सत्य है। कोई भी सामाजिक अनुसन्धान-कार्य तब तक अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर पाता, जब तक कि उसमें निरीक्षण-प्रविधि का प्रयोग न किया गया हो। इसी निरीक्षण-प्रविधि का, समाज-वैज्ञानिकों द्वारा, अपने ही साथी एवं स्वजातीय मनुष्यों एवं स्त्रियों तथा संस्थाओं के निरीक्षण हेतु प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्र के पिता श्री अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) जब समाजशास्त्र की रूपरेखा बना रहे थे, तब उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक आधारों का विषय बनाना है तो निरीक्षण-प्रविधि द्वारा उसकी विषय-वस्तु का अध्ययन होना चाहिए। उन्होंने प्रत्यक्ष निरीक्षण (direct observation) द्वारा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन पर बल दिया। तभी से निरीक्षण-प्रविधि समाजशास्त्र की महत्त्वपूर्ण अध्ययन-प्रविधि बन गई। सम्भवतः इससे पूर्व भी सामाजिक विज्ञानों में इस प्रविधि का प्रयोग होता आया है। **प्रो० मोजर** ने इसीलिए इसको वैज्ञानिक अनुसन्धान की 'शास्त्रीय पद्धति' (Classical Method) कहा है। इसके पूर्व, कि निरीक्षण-प्रविधि के महत्त्व, कार्य-प्रणाली आदि के बारे में अध्ययन किया जाए, पहले निरीक्षण-प्रविधि के अर्थ का ज्ञान अधिक उचित रहेगा। यह विवरण निम्नलिखित है :—

निरीक्षण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Observation)

निरीक्षण शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द 'observation' का पर्यायवाची है, जिसका अर्थ होता है 'देखना', 'अवलोकन करना' या 'निरीक्षण करना'। किन्तु

1. "Science begins with observation and must ultimately return to observation for its final validation."—William J. Goode and Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Co. Inc., New York, 1952, p. 119.

सामाजिक अनुसन्धान की एक व्यवस्थित पद्धति के रूप में निरीक्षण का एक अपना पृथक् ही अर्थ है। यदि संक्षेप में कहा जाए तो निरीक्षण का अर्थ है **'कार्यकारण अथवा पारस्परिक सम्बन्ध को जानने के लिए स्वाभाविक रूप से घटित होने वाली घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण'**।

डा० पी० वी० यंग के अनुसार, "निरीक्षण को नेत्रों द्वारा सामूहिक व्यवहार एवं जटिल सामाजिक संस्थाओं के साथ-ही-साथ सम्पूर्णता की रचना करने वाली पृथक् इकाइयों के अध्ययन की विचारपूर्ण पद्धति के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।"[2] प्रो० सी० ए० मोजर ने निरीक्षण के बारे में कहा है कि "ठोस अर्थ में निरीक्षण में कानों तथा वाणी की अपेक्षा आँखों के प्रयोग की स्वतन्त्रता है।"[3] **ऑक्सफोर्ड कन्साइज शब्दकोष** में निरीक्षण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, "घटनाएँ कार्यकारण अथवा पारस्परिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में, जिस रूप में वे उपस्थित होती हैं, का यथार्थ निरीक्षण एवं वर्णन है।"[4]

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट ही है कि निरीक्षण-प्रविधि प्राथमिक सामग्री (Primary Data) के संग्रहण की प्रत्यक्ष प्रविधि है। निरीक्षण का तात्पर्य उस प्रविधि से है जिसमें नेत्रों द्वारा नवीन अथवा प्राथमिक तथ्यों का विचार-पूर्वक संकलन किया जाता हो, साथ ही इस प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता अध्ययन के अन्तर्गत आए समूह के दैनिक जीवन में भाग लेते हुए अथवा उससे दूर बैठकर उनके सामाजिक एवं व्यक्तिगत व्यवहारों का अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा निरीक्षण करता है।

निरीक्षण-प्रविधि की विशेषताएँ
(Characteristics of Observation Technique)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर निरीक्षण-प्रविधि की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

१. मानवीय इन्द्रियों का पूर्ण उपयोग (Full Use of Human Senses)—निरीक्षण-प्रविधि में मानवीय ज्ञानेन्द्रियों का पूर्ण उपयोग होता है। यद्यपि निरीक्षण में हम कानों एवं वाक्शक्ति का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु इनका उपयोग अपेक्षाकृत कम होता है। इसमें विशेषकर नेत्रों के प्रयोग पर अधिक महत्त्व दिया जाता है। निरीक्षणकर्त्ता जो भी कुछ देखता है—वही संकलित कर लेता है।

२. उद्देश्यपूर्ण एवं सूक्ष्म अध्ययन (Deliberate and Minute Study)—निरीक्षण-प्रविधि में निरीक्षण सदैव ही उद्देश्यपूर्ण एवं सूक्ष्म होता है। इस रूप से

2. "Observation—a deliberate study through the eye may be used as one of the methods for scrutinizing collective behaviour and complex social institutions as well as the separate units composing a totality."—P. V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, London, 1954, p. 199.

3. "........In the strict sense observation implies the use of the eyes rather than of the ears and the voice."—C. A. Moser, *Survey Methods in Social Investigation*, p. 168

4. "........Accurate watching, noting of phenomena as they occur in nature with regard to cause and effect or mutual relations."—Oxford Concise Dictionary, quoted by C. A. Moser, *Survey Methods in Social Investigation*, London, 1961, p. 169.

यह सामान्य निरीक्षण से भिन्न है। प्रत्येक मनुष्य हर समय सदैव ही कुछ-न-कुछ देखता रहता है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसे निरीक्षण नहीं कहा जा सकता। निरीक्षण का तो एक विशेष उद्देश्य होता है, और इसीलिए वह अति सूक्ष्म एवं गहन भी होता है। अनेकों प्रकार की सामाजिक व सांस्कृतिक घटनाएं तो सभी मनुष्यों के समक्ष घटित होती ही हैं, पर आश्चर्य की बात यह है कि एक सामाजिक वैज्ञानिक उसमें से अपने सिद्धान्त ढूंढ़ लेता है, जबकि दूसरे व्यक्ति को उसमें कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती हैं।

३. **प्रत्यक्ष अध्ययन** (Direct Study)—निरीक्षण-प्रविधि की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्यक्ष अध्ययन किया जाता है। अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं ही अनुसन्धान-क्षेत्र में जाता है, निरीक्षण करता है और आँकड़ों का संकलन करता है। यही प्रत्यक्ष अध्ययन है।

४. **पारस्परिक एवं कार्यकारण सम्बन्ध का पता लगाना** (To know about Mutual and Cause-effect Relationship)—निरीक्षण-प्रविधि की एक अन्य विशेषता यह है कि इसका उद्देश्य 'पारस्परिक एवं कार्यकारण सम्बन्धों' को मालूम करना है। यद्यपि किसी भी प्रकार के गहन या उद्देश्यपूर्ण-निरीक्षण को हम 'निरीक्षण' कह सकते हैं, परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के रूप में इसका उद्देश्य कार्यकारण सम्बन्ध का पता लगाना होता है।

५. **सामूहिक व्यवहार का अध्ययन** (Study of the Collective Behaviour)—निरीक्षण-प्रविधि की अंतिम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस प्रविधि का प्रयोग 'सामूहिक व्यवहार' के अध्ययन के लिए किया जाता है। 'वैयक्तिक व्यवहार' की जिस प्रकार सबसे अच्छी प्रविधि 'वैयक्तिक अध्ययन' (Case-Study) है, उसी प्रकार सामूहिक व्यवहार के अध्ययन की सबसे उत्तम प्रविधि 'निरीक्षण प्रविधि' है।

निरीक्षण के प्रकार
(Kinds of Observation)

अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से निरीक्षण को प्रायः कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रमुख रूप से निरीक्षण का निम्नवत् वर्गीकरण किया जा सकता है :—

१. **अनियन्त्रित निरीक्षण** (Un-controlled Observation)
२. **नियन्त्रित निरीक्षण** (Controlled Observation)
३. **सहभागी निरीक्षण** (Praticipant Observation)
४. **असहभागी निरीक्षण** (Non-Participant Observation)
५. **अर्द्ध-सहभागी निरीक्षण** (Quasi-Participant Observation)
६. **सामूहिक निरीक्षण** (Mass Observation)

इनका विस्तृत विवरण निम्नलिखित है :—

१. अनियन्त्रित निरीक्षण (Un-controlled Observation)

अनियन्त्रित निरीक्षण ऐसे निरीक्षण को कहा जा सकता है जबकि उन लोगों पर, जिनका कि हम निरीक्षण कर रहे हैं, निरीक्षण करते समय किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे। दूसरे शब्दों में, जब प्राकृतिक पर्यावरण एवं अवस्था में किन्हीं क्रियाओं का निरीक्षण किया जाता है, साथ ही क्रियाएँ किसी भी बाह्य शक्तियों द्वारा संचालित एवं प्रभावित नहीं की जातीं, तो ऐसे निरीक्षण को अनियन्त्रित निरीक्षण कहा जाएगा।

डा० पी० वी० यंग ने अनियन्त्रित निरीक्षण का अर्थ बताते हुए कहा है, कि "अनियन्त्रित निरीक्षणों में हमें वास्तविक जीवन की परिस्थितियों की सूक्ष्म परीक्षा करनी होती है, जिनमें यथार्थता के यन्त्रों के प्रयोग अथवा निरीक्षण की हुई घटना की शुद्धता की जाँच का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता।"[5] डा० यंग के कथन से स्पष्ट ही है कि अनियन्त्रित निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता घटनाओं एवं सामाजिक परिस्थितियों का केवल निरीक्षण ही करता है, और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में ज्ञान का संकलन करता है। निरीक्षणकर्त्ता निरीक्षण की हुई घटना को परखता नहीं है।

वास्तव में सामाजिक अनुसन्धान में यह प्रविधि अर्थात् अनियन्त्रित निरीक्षण अत्यधिक प्रयुक्त होती है। प्रो० गुड एवं हॉट ने तो यहाँ तक कहा है कि, "मनुष्य के पास सामाजिक सम्बन्धों के बारे में जो कुछ भी ज्ञान है, उसका अधिकांश अनियन्त्रित निरीक्षण के द्वारा ही प्राप्त हुआ है, चाहे वह निरीक्षण सहभागी हो, या असहभागी।"[6] स्पष्ट ही है कि अनियन्त्रित निरीक्षण सामाजिक घटनाओं के अध्ययन की एक सुदृढ़ प्रविधि है।

अनियन्त्रित निरीक्षण की उपयोगिता (Importance of Un-controlled Observation)

जहाँ तक सामाजिक अनुसन्धान में अनियन्त्रित निरीक्षण की उपयोगिता का प्रश्न है प्रायः कोई भी इस तथ्य से मुंह न छिपाएगा कि सामाजिक अनुसन्धान में अनियन्त्रित निरीक्षण की अत्यधिक उपयोगिता है। अधिकतर सामाजिक अनुसन्धान-कार्य इसी प्रकार के निरीक्षण द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं और इसका मुख्य कारण यह है कि सामाजिक घटना की कुछ इस प्रकार की प्रकृति होती है कि नियन्त्रित निरीक्षण सदैव सम्भव नहीं हो पाता। ज्यादातर सामाजिक घटनाओं की वास्तविकता परखने के लिए घटनास्थल पर ही उनका अध्ययन किया जा सकता है। यही मुख्य कारण है कि आज भी अधिकतर सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण इसी अनियन्त्रित निरीक्षण के आधार पर होता है।

---

5. "In non-controlled observation we resort to careful scrutiny of real life situations making no attempt to use instruments of precision or check for accuracy of phenomena observed."—P. V. Young, *op. cit.*, p. 201.

6. "Most of the knowledge which people have about social relation is derived from uncontrolled observation whether participant or non-participant." —William J. Goode and Paul K. Hatt, *op. cit.*, p. 121.

अनियन्त्रित निरीक्षण के मुख्य दोष
(Main Defects of Un-controlled Observation)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो ही गया होगा कि (१) इस प्रकार के निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं होता, और इस नियन्त्रण के अभाव में निरीक्षणकर्त्ता कुछ भी भूल या गलती कर सकता है। (२) चूंकि वह उस समस्या के बारे में सब-कुछ जानता है जिसका कि वह अध्ययन कर रहा है, अतः उसी समस्या का अध्ययन करने पर उसमें भावात्मक विश्वास पैदा हो जाता है, जो कि निष्कर्षों को त्रुटिपूर्ण बना देता है। (३) इस पकार अनियन्त्रित निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता का व्यक्तिगत पक्षपात अनावश्यक रूप से प्रवेश पा लेता है जिससे कि निष्कर्षों में भी वैज्ञानिकता नहीं आ पाती। प्रो० बर्नार्ड ने इस सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि "आँकड़े इतने वास्तविक एवं सजीव होते हैं और उनके बारे में हमारी भावनाएँ इतनी दृढ़ होती हैं कि कभी-कभी हम अपनी भावनाओं की शक्ति को ही ज्ञान का विस्तार समझने की गलती कर बैठते हैं।"[7]

२. नियन्त्रित निरीक्षण
(Controlled Observation)

जिस प्रकार सामाजिक विज्ञानों का शनैः-शनैः विकास होता आया है, उसी प्रकार सामाजिक अनुसन्धान-प्रविधियों का भी उत्तरोत्तर विकास होता गया है। नियन्त्रित निरीक्षण भी अनियन्त्रित निरीक्षण के विकसित स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में अनियन्त्रित निरीक्षण के अनेक दोषों एवं कमियों के कारण ही इस पद्धति का सूत्रपात हुआ। इस प्रविधि में अनेक साधनों द्वारा निरीक्षण को नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार के निरीक्षण की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें निरीक्षणकर्त्ता पर तो नियन्त्रण होता ही है, साथ ही साथ निरीक्षण करने वाली सामाजिक घटना पर भी नियन्त्रण किया जाता है। इसमें पहले अध्ययन अर्थात् निरीक्षण की सम्पूर्ण योजना तैयार की जाती है—और तब निरीक्षण किया जाता है। अनेक साधनों द्वारा सूचनाएँ इकट्ठी होती रहती हैं—और एक प्रकार से निरीक्षणकर्त्ता एक मशीन की भाँति उन साधनों द्वारा स्वचालित होता रहता है। इस प्रकार के अनेकों अध्ययन किए जाते रहे हैं जिनमें कि इस प्रविधि का प्रयोग होता आया है। थाईलैंड के सारापी जिले में लोगों के स्वास्थ्य की दशाओं का अध्ययन डी० डी० टी० पाउडर छिड़कने के बाद फिर किया गया था। (घटना पर नियन्त्रण)।

इस पद्धति में नियन्त्रण दो प्रकार से कार्य रूप में परिणत किया जाता है :—

(अ) सामाजिक घटना पर नियन्त्रण (Control over Social Phenomena)—इस प्रविधि में निरीक्षण करने वाली घटना को नियन्त्रित किया जाता है। इसको हम सामाजिक प्रयोग (social experiment) भी कह सकते हैं। जिस प्रकार भौतिक वैज्ञानिक (physical scientist) भौतिक दुनिया की परिस्थितियों को प्रयोगशाला की नियन्त्रित अवस्थाओं या दशाओं के अन्तर्गत लाकर अपने अध्ययन-विषय का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्री भी सामाजिक घटनाओं को

---

7. "The data are so real and vivid and therefore our feelings about them are so strong that we sometimes tend to mistake the strength of our emotions for extensiveness of knowledge."—Jessie Bernards, *Fields and Methods of Sociology*, p. 173.

सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत ही नियन्त्रित करने तथा अध्ययन-कार्य को संचालित करने का प्रयत्न करता है, यद्यपि यह कोई आसान कार्य नहीं है। इसके लिए सामाजिक वैज्ञानिक को अत्यन्त सूझ-बूझ, कुशलता एवं अनुभव से कार्य लेना पड़ता है। इस प्रविधि के द्वारा किए गए कुछ अध्ययनों में थकान का अध्ययन, समय तथा गति का अध्ययन, उत्पादकता का अध्ययन आदि अर्द्ध-सामाजिक विषय विशेष रूप में उल्लेखनीय है। समाजशास्त्रीय क्षेत्र में बालकों के व्यवहारों से सम्बन्धित कई अध्ययनों का उल्लेख किया जा सकता है।

(ब) **निरीक्षणकर्त्ता पर नियन्त्रण** (Control over Observer)—नियन्त्रित निरीक्षण की दूसरी प्रविधि स्वयं निरीक्षणकर्त्ता पर नियन्त्रण है। इसके अन्तर्गत निरीक्षण के विषय या सामाजिक घटना पर नियन्त्रण न रखकर स्वयं निरीक्षणकर्त्ता को कुछ साधनों द्वारा नियन्त्रित व संचालित किया जाता है। यह मानी हुई बात है कि यदि निरीक्षणकर्त्ता सामाजिक घटनाओं को उनके वास्तविक एवं सत्य रूप में देखना चाहता है और यदि वह यह भी चाहता है कि उसके अध्ययन पर किसी भी प्रकार का निजी पक्षपात या/और कोई व्यक्तिगत प्रभाव की छाया न पड़े तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने लिए कुछ नियन्त्रणों को स्वीकार करे। यह नियन्त्रण कई साधनों या यन्त्रों के प्रयोग से हो सकता है। जैसे निरीक्षण की विस्तृत योजना पहले ही बना लेना, अनुसूची व प्रश्नावली का प्रयोग, विस्तृत क्षेत्रीय नोट्स, मानचित्र का प्रयोग एवं अन्य यन्त्र जैसे डायरी, फोटोग्राफ्स, कैमरा, टेपरिकार्डर, सिनेमा-फिल्म आदि का प्रयोग।

अधिकतर विद्वानों ने इस प्रविधि की मुक्त कंठ से सराहना की है। प्रो० गुड एवं हॉट का मत है कि चूंकि सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता के लिए अनुसन्धान-विषय पर नियन्त्रण रख सकना अत्यन्त कठिन होता है, अतः कम से कम उसे अपने ऊपर तो नियन्त्रण रखना ही चाहिए।

नियन्त्रित और अनियन्त्रित निरीक्षण में अन्तर

(Distinction between Controlled and Un-controlled Observation)

नियन्त्रित एवं अनियन्त्रित निरीक्षण की उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम इन दोनों में निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) नियन्त्रित निरीक्षण में उन अवस्थाओं या घटकों पर नियन्त्रण किया जाता है जिनका कि हमें अध्ययन करना है। इसके अन्तर्गत हो सकता है कि हम कुछ बालकों को अपनी इच्छानुसार कुछ इच्छित परिस्थितियों में रखकर उनके व्यवहारों का अध्ययन करें। अर्थात् 'बालक' और 'परिस्थिति' दोनों पर ही हमारा नियन्त्रण होता है। इसके विपरीत, अनियन्त्रित निरीक्षण में इनमें से किसी पर भी हमारा नियन्त्रण नहीं होता। इसमें लोग जैसे भी एवं जैसी भी परिस्थिति में हैं उसी रूप में उनका अध्ययन किया जाता है।

(२) इस रूप में नियन्त्रित निरीक्षण कृत्रिम है जब कि अनियन्त्रित निरीक्षण स्वाभाविक है। अनियन्त्रित निरीक्षण में चूंकि परिस्थिति और व्यक्ति दोनों ही अपनी स्वाभाविक स्थिति में होते हैं, इसलिए इस प्रकार के निरीक्षण से जीवन की विभिन्न वास्तविक परिस्थितियों में मनुष्य के स्वाभाविक व्यवहारों या क्रियाकलापों का अध्ययन होता है, पर नियन्त्रित निरीक्षण में कृत्रिम नियन्त्रण होने के कारण यह स्वाभाविकता नष्ट हो जाने की आशंका सदा ही रहती है।

(३) नियन्त्रित निरीक्षण में स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता पर भी नियन्त्रण रखा जाता है और उसे कुछ निश्चित ढंग व प्रविधियों द्वारा ही निरीक्षण-कार्य करने की छूट होती है। इसके विपरीत, अनियन्त्रित निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता पर कोई भी नियन्त्रण नहीं होता और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक समुदाय में घूमने-फिरने और सूचनाओं को एकत्रित करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(४) नियन्त्रित निरीक्षण में कुछ साधनों तथा यन्त्रों को काम में लाया जाता है जैसे निरीक्षण-अनुसूची (Observation Schedule), क्षेत्रीय नोट्स, मानचित्र आदि। इसके विपरीत, अनियन्त्रित निरीक्षण में किसी भी कृत्रिम साधन का उपयोग नहीं किया जाता।

(५) नियन्त्रित निरीक्षण में निरीक्षण की एक योजना पहले से ही बना ली जाती है और उसी के अनुसार निरीक्षण-कार्य को आयोजित किया जाता है। इसके विपरीत, अनियन्त्रित निरीक्षण में कोई खास योजना बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इसमें तो घटनाओं या परिस्थितियों को उसी रूप में देखना होता है जैसी कि वे स्वाभाविक रूप में हैं।

(६) नियन्त्रित निरीक्षण चूंकि कृत्रिम होता है, इस कारण इसके द्वारा घटनाओं का गहन और सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक सम्भव नहीं होता। साथ ही, समूह या समुदाय के जीवन से सम्बन्धित गुप्त तथ्यों को भी खोजा नहीं जा सकता। पर अनियन्त्रित निरीक्षण (जिसका कि एक प्रकार सहभागी निरीक्षण है) के द्वारा घटनाओं का गहन व सूक्ष्म अध्ययन तथा गोपनीय पक्ष का भी ज्ञान सम्भव है।

(७) नियन्त्रित निरीक्षण में चूंकि निरीक्षण करने वाले पर भी नियन्त्रण रक्खा जाता है, इस कारण इसमें निरीक्षण के परिणामों पर उसके अपने व्यक्तिगत आदर्श, मूल्य, मिथ्या-झुकाव (bias), पक्षपात आदि की छाप नहीं पड़ने पाती। पर अनियन्त्रित निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता अपनी व्यक्तिगत पसन्द, पक्षपात, आदर्श आदि के द्वारा निरीक्षण के परिणामों को विकृत कर सकता है।

३. सहभागी निरीक्षण
(Participant Observation)

'सहभागी निरीक्षण' (Participant Observation) शब्द का प्रयोग सबसे पहले श्री लिंडमैन ने १९२४ में प्रकाशित अपनी 'Social Discovery' नामक पुस्तक में किया था, यद्यपि इससे पूर्व भी इस प्रविधि का प्रयोग होता रहता था। प्रो० लिंड-मैन ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में सहभागी निरीक्षण के पक्ष में दलील पेश करते हुए लिखा है कि "सहभागी निरीक्षण इस सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी भी घटना का विश्लेषण तभी शुद्ध हो सकता है, जब वह बाह्य तथा आन्तरिक दृष्टिकोण से मिलकर बना हो। इस प्रकार उस व्यक्ति का दृष्टिकोण, जिसने घटना में भाग लिया तथा जिसकी इच्छाएँ एवं स्वार्थ उसमें किसी-न-किसी रूप में निहित थे, उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से निश्चय ही कहीं अधिक यथार्थ व भिन्न होगा जो सहभागी न होकर केवल ऊपरी द्रष्टा या विवेचनकर्त्ता के रूप में रहा है।"

सहभागी निरीक्षण का अर्थ (Meaning of Participant Observation)—जहाँ तक सहभागी निरीक्षण के अर्थ का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता उस समूह में, जिसका कि उसे अध्ययन करना है, जाकर बस जाता है, उस समूह की सभी क्रियाओं में, समूह के सदस्य के रूप में

भागीदार बनता है और साथ ही साथ निरीक्षण भी करता है। इसीलिए इसे सहभागी निरीक्षण कहा गया है। इस प्रकार के निरीक्षण में जैसा कि प्रो० जॉन मैज का कथन है कि जब निरीक्षणकर्त्ता के हृदय की धड़कनें समूह के अन्य व्यक्तियों के हृदयों की धड़कनों से मिल जाती हैं और वह बाहर से आया हुआ कोई अनजाना नहीं रह जाता, तो यह जानना चाहिए कि उसने सहभागी निरीक्षणकर्त्ता कहलाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। प्रो० गुड एवं हॉट ने भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है, "इस कार्य-प्रणाली का उस समय प्रयोग किया जाता है जबकि अनुसन्धानकर्त्ता अपने को समूह के सदस्य स्वीकृत हो जाने के योग्य बना लेता है।"[8]

वास्तव में सहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता उस समूह में बसकर अपने को इस प्रकार घुला-मिला लेता है कि कभी-कभी तो उसको अपने अस्तित्व का ध्यान भी नहीं रह जाता, अर्थात् वह पूर्ण रूप से समूह का सदस्य बन जाता है। फिर भी निरीक्षणकर्त्ता को सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि वह एक अनुसन्धानकर्त्ता है जो कि इस समूह में अस्थायी तौर पर रहने आया है, और इसीलिए उसको समूह के रीतिरिवाज एवं कार्यकलापों में भाग लेते समय सदैव ही सत्य खोजने के लिए सजग रहना होता है। श्री सिन पाओ यांग ने भी इसी तथ्य को दोहराया है।[9]

जहाँ तक समूह की जागरूकता का प्रश्न है, अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता या निरीक्षणकर्त्ता को समूह को अपने प्रति जागरूक करना चाहिए या नहीं, इस बारे में दो परस्पर विरोधी मत हैं। अमेरिकन समाजशास्त्रियों के मतानुसार निरीक्षणकर्त्ता को समूह की क्रियाओं में भाग तो हर दशा में लेना चाहिए, पर अपना न तो परिचय ही देना चाहिए और न ही अपना मूल उद्देश्य स्पष्ट करना चाहिए। उसे तो इस चालाकी एवं होशियारी से काम करना चाहिए कि समूह वाले उसको अपने समूह का विश्वासपात्र सदस्य समझ लें। ऐसा करने से उसको वास्तविक सामूहिक व्यवहार निरीक्षण करने का अवसर प्राप्त होगा। बहुत से मानवशास्त्रियों एवं अन्य अनुसन्धान-कर्त्ताओं ने इस प्रविधि से अनेकों निरीक्षण किए हैं। श्री जॉन हॉवर्ड (John Howard) जेलों के अध्ययन एवं कैदियों के अध्ययन के लिए कई साल जेलों में कैदियों के साथ रहे, यहाँ तक कि जेल में ही उनकी मृत्यु भी हो गई। प्रसिद्ध मानवशास्त्री श्री मैलिनोवस्की (Malinowski) ने पश्चिमी प्रशान्त महासागर के तट पर रहने वाली आग्रोनॉट (Agronauts) जनजाति का एवं श्री रेमण्ड फर्थ (Raymond Firth) ने 'टिकोपिया' का अध्ययन इसी प्रविधि द्वारा किया था। इसी प्रकार के अन्य अध्ययनों में सर्वश्री बूथ (Charles Booth) एवं ली-प्ले (Le-Play) के नाम उल्लेखनीय हैं।

दूसरा मत, जिसके कि समर्थक भारतीय समाजशास्त्री हैं, उपरोक्त मत का विरोधी है। इस मत के अनुसार निरीक्षणकर्त्ता को अपना परिचय एवं मूल उद्देश्य

8. "This procedure is used when the investigator can so disguise himself as to be accepted as a member of the group."—Goode & Hatt, *Ibid.*, p, 121.

9. "The participant observer is an outsider who temporarily becomes an insider. He thereby secures a better insight into the situation he is investigating, as he is not personally involved and can remain detatched, while at the same time taking part in the group activities and sharing their feelings and prejudices."—Hsin Pao Yang, *Fact Finding with Rural People*, p. 30.

समूह के सदस्यों से छिपाना उचित नहीं है। भारतीय समाजशास्त्रियों का मत है कि अनुसन्धानकर्त्ता को समूह के सदस्यों के सामने अपना वास्तविक परिचय अवश्य देना चाहिए और सत्यता के आधार पर समूह में अपना स्थान बनाना चाहिए। इसके पक्ष में दलील देते हुए इस मत के समर्थक यह कहते हैं कि यदि अनुसन्धानकर्त्ता अपना वास्तविक परिचय दिए बिना ही समूह की क्रियाओं का निरीक्षण करेगा तो समूह के सदस्यों को उस पर सन्देह हो जाएगा और समूह के सदस्य अपने व्यवहार में परिवर्तन लाना आरम्भ कर देंगे और इस प्रकार वास्तविक व्यवहार का निरीक्षण संभव नहीं हो पाएगा। इतना ही नहीं, नैतिकता की दृष्टि से भी यह उचित है कि निरीक्षणकर्त्ता अपने उद्देश्य के बारे में झूठी बातें समूह से न कहे।

श्री बी० डी० पाल ने एक समाजशास्त्री या मानवशास्त्री के लिए समूह के कार्यों में कई प्रकार से भाग लेने के तरीके बताए हैं जैसे खेत जोतने में सहायता देना, मकान बनाने में मदद देना, धनुष-बाण से शिकार करने वाली जनजाति के लिए अपनी बन्दूक से शिकार करके उनकी भोजन समस्या हल करना, जहाँ सड़क हो वहाँ लोगों को अपनी कार में बिठाकर ले जाना व रास्ते में बातचीत करना, उनमें फोटोग्राफ व चित्र बाँटना, त्यौहारों के अवसर पर भोजन या धन वितरित करना, कोई बाजा बजाना या अपने घर पर लोगों को आकर गपशप करने देना, बच्चों को गुड़िया व खिलौने बाँटना, आदि-आदि। इन सब प्रयत्नों द्वारा निरीक्षण-कार्य को सरल बनाया जा सकता है।

सहभागी निरीक्षण के गुण (Merits of Participant Observation)—हम यह कह सकते हैं कि सहभागी निरीक्षण सामाजिक अनुसन्धानों के लिए अनेक दृष्टियों से उपयोगी एवं लाभदायक है। इसके कुछ प्रमुख गुण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं :—

१. **प्रत्यक्ष अध्ययन** (Direct Study)—सहभागी निरीक्षण-प्रविधि का सर्व-प्रमुख गुण यह है कि इसमें सामाजिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अध्ययन सम्भव है। इस प्रविधि में, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, निरीक्षणकर्त्ता, अध्ययन के अन्तर्गत सम्मिलित किए गए समुदाय के मध्य, एक अस्थायी सदस्य के रूप में निवास करता है एवं उन लोगों के विविध क्रियाकलापों में सम्मिलित होकर, उस समुदाय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बारे में भी अपनी जानकारी को विकसित करता है। और इस प्रकार घनिष्ठ एवं औपचारिक सम्बन्धों के स्थापित होने के कारण वह सामुदायिक व्यवहार का प्रत्यक्ष अध्ययन अर्थात् निरीक्षण करता है।

२. **अति गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन** (Most Intensive and Minute Study)—सहभागी निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता को समस्या का अति गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि, जिसका कि वह अध्ययन करता है, पहले उसको भी वही होना पड़ता है—अर्थात् पहले उसको उस घटना में, जिसका कि वह अध्ययन कर रहा है, सहभागी होना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक वेश्यालय का सबसे अच्छा अध्ययन, एक बाहरी व्यक्ति के बजाय वहाँ का ऐजेण्ट या कोई वेश्या स्वयं कर सकती है। स्पष्ट ही है कि इस प्रविधि के द्वारा सामाजिक घटना का अति सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन सम्भव है।

३. **वास्तविक व्यवहार का अध्ययन** (Study of Actual Behaviour)—सहभागी निरीक्षण-प्रविधि से वास्तविक व्यवहार के अध्ययन का भी अच्छा अवसर प्राप्त होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि एक बाहर से आए हुए अजनबी व्यक्ति

को कोई भी सूचनादाता अपने जीवन के सारे रहस्य नहीं बता देता, साथ ही वह जो भी सूचना देता है, अधिकतर कृत्रिम भी होती है। सहभागी निरीक्षण-प्रविधि में इस प्रकार की कठिनाई से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

४. संग्रहीत सूचनाओं की परीक्षा सम्भव (Examination of Collected Informations possible)—सहभागी निरीक्षण द्वारा संग्रहीत सूचनाओं के अधिक शुद्ध एवं विश्वसनीय होने की आशा रहती हैं; क्योंकि इसकी शुद्धता की परीक्षा सदैव ही की जा सकती है। निरीक्षणकर्त्ता चूँकि व्यक्तिगत रूप से समुदाय की विभिन्न परिस्थितियों में भाग लेता ही रहता है, अतः आशंका होने पर पुनः वैसी ही परिस्थिति आने पर उसकी जाँच की जा सकती है।

५. अति सरल अध्ययन (Easy Study)—निरीक्षण की एक आवश्यक शर्त यह है कि सम्वन्धित व्यक्ति निरीक्षणकर्त्ता को निरीक्षण करने का अवसर प्रदान करे। अतः असहभागी निरीक्षण की अपेक्षा सहभागी निरीक्षण अति सरल होता है, क्योंकि इसमें निरीक्षणकर्त्ता एक निरीक्षक के रूप में न जाकर वहीं पर बस जाता है। और इस प्रकार सम्वन्धित व्यक्ति या समूह निरीक्षणकर्त्ता का विरोध नहीं करता, क्योंकि उसे अजनबी व्यक्ति का भय नहीं होता।

सहभागी निरीक्षण के दोष एवं सीमाएँ (Demerits and Limitations of Participant Observation)—सहभागी निरीक्षण के उपरोक्त अनेक गुणों के अतिरिक्त इस प्रविधि के अनेक दोष एवं सीमाएँ भी हैं। इनका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. पूर्ण सहभागिता सम्भव नहीं (Full participation not possible)—कुछ विद्वानों का विचार है कि सहभागी निरीक्षण में कभी-कभी पूर्ण सहभागिता केवल कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी हो जाती है। प्रो० रेडिन (Redin) एवं श्री हरष्कोविट्स ने इसीलिए इस पद्धति को अव्यावहारिक कहा है। इतना ही नहीं, कलकत्ता विश्वविद्यालय के श्री एम० एन० बसु का कथन है कि "एक क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता कुछ व्यावहारिक कारणों से समुदाय के जीवन में कभी भी पूर्णरूपेण भाग नहीं ले सकता। वह समुदाय की क्रियाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, लेकिन उसका ध्यान अवश्य ही समूह के प्रति उसकी मूल विचारधारा के कारण कुछ सीमा तक हट जाता है क्योंकि अपनी आयु, लिंग व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भिन्नता के कारण वह समूह के जीवन में पूर्णतः भाग नहीं ले सकता। समूह के साथ बहुत घनिष्ठ या व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना उसके लिए एक बाधा बन जाता है क्योंकि उसे लोगों की कई कोमल समस्याओं व झगड़ों में किसी-न-किसी का पक्ष लेना पड़ता है।"[10]

---

10. "A field worker can never participate fully in the life of a community he studies for some practical considerations. A field worker focusses on the activity of the people, he studies but his attention is inevitably diverted to some extent from his original focus of thinking about the people......he cannot have full participation due to his age, sex and difference of cultural background. Very close identification or personal bond with the community becomes an obstacle to a field worker for finding out the avenues of enquiry of the people as he is to side in quarrels and sometimes on delicate issues etc. of the people among whom he works."—M. N. Basu, *Field Methods in Anthropology and other Social Sciences*, 1961, Book Land Private Ltd., Calcutta, pp. 20-21.

२. समूह के व्यवहार में परिवर्तन (Change in Group Behaviour)—कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता के कारण ही समूह के व्यक्तियों के व्यवहार में भी परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि अनुसन्धानकर्त्ता किसी स्कूल का अध्यापक या पंचायत का सरपंच चुन लिया जाता है, तो इस रूप में उसके प्रति लोगों का व्यवहार अवश्य ही प्रभावित होगा और वह वास्तविक निरीक्षण नहीं कर पाएगा।

३. 'अपरिचित मूल्य' के लाभ सम्भव नहीं (Advantages of 'Stranger Value' not possible)—समाज की क्रियाओं से घनिष्ठ सम्पर्क भी कभी-कभी उनके सूक्ष्म निरीक्षण में बाधक सिद्ध होता है, क्योंकि समूह के सदस्य के रूप में हम अनेक घटनाओं को यूँ ही सामान्य समझकर छोड़ देते है। समूह से एकदम अपरिचित होने पर हमको वहाँ की प्रत्येक क्रिया नवीन एवं आकर्षक लगती है। और इस प्रकार अति सूक्ष्म अध्ययन सम्भव नहीं हो पाता है। स्पष्ट ही है कि सहभागी निरीक्षण में हमें 'अपरिचित मूल्य' के लाभ प्राप्त नहीं हो पाते।

४. अत्यधिक खर्चीली प्रणाली (Most Expensive Method)—इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि सहभागी निरीक्षण-प्रविधि अत्यधिक खर्चीली है, साथ ही अधिक समय खर्च करने वाली भी है। वास्तव में निरीक्षणकर्त्ता इस सम्बन्ध में व्यय और समय की मात्रा का पहले से अनुमान नहीं लगा पाता।

५. वैषयिकता सम्भव नहीं (Objectivity not possible)—सहभागी निरीक्षण में वैषयिकता सम्भव नहीं हो पाती। समूह के सदस्य होने पर वह समूह से अपना भावात्मक एकीकरण कर लेता है। एक निष्पक्ष द्रष्टा के स्थान पर वह अपने को समूह का एक अंग मान लेता है; और इस प्रकार उसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। साथ ही वह अनेक घटनाओं का मूल्यांकन करते समय अपना पक्षपात समाविष्ट कर लेता है। यह स्थिति वैज्ञानिक खोज के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

४. असहभागी निरीक्षण (Non-Participant Observation)

असहभागी निरीक्षण भी अनियन्त्रित निरीक्षण का एक प्रमुख स्वरूप है। इस प्रकार के निरीक्षण में, अनुसन्धानकर्त्ता समूह या समुदाय का, जिसका कि उसे अध्ययन करना है, निरीक्षण एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति वैज्ञानिक भावना से करता है। इस प्रकार के निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता समुदाय या समूह का न तो अस्थायी सदस्य ही बनता है और न ही उसकी क्रियाओं में भागीदार बनता है। दूर से ही जो कुछ भी वह निरीक्षण करता है, उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयास करता है। अनुसन्धानकर्त्ता सामूहिक जीवन में स्वयं प्रवेश करने के बजाय उसके बाह्य पहलुओं का ही निरीक्षण करता है। एक प्रकार से निष्पक्ष एवं स्वतन्त्रतापूर्वक अध्ययन इस प्रकार की प्रविधि की विशेषता है।

असहभागी निरीक्षण के लाभ (Merits of Non-Participant Observation)—सहभागी निरीक्षण की भाँति असहभागी निरीक्षण के भी अनेक लाभ हैं जिन्हें कि इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) असहभागी निरीक्षण में वैषयिकता या यथार्थता आने की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि इस प्रकार के निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता चूंकि अपने को

समूह के कार्यों में बिलकुल घुलमिला नहीं देता, अतः पक्षपात की भी सम्भावना नहीं रहती।

(२) असहभागी निरीक्षण की द्वितीय उपयोगिता विश्वसनीय सूचनाओं की प्राप्ति की दृष्टि से है। प्रश्न पूछकर सूचनाओं का संग्रह करने में, सूचनादाता द्वारा सत्य छिपा देने की सम्भावना रहती है। परन्तु इस पद्धति में तो निरीक्षणकर्त्ता स्वयं ही सब कुछ देख लेता है।

(३) असहभागी निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता को अधिक आदर एवं सहयोग भी मिलना सम्भव होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह अपना परिचय जब समूह के सदस्यों को देता है तो स्वतः ही समूह के सदस्य उसका आदर करने लगते हैं।

(४) सहभागी निरीक्षण की अपेक्षा असहभागी निरीक्षण में कम समय एवं कम धन की अपेक्षाकृत आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यह प्रविधि भी काफी उपयोगी है।

असहभागी निरीक्षण के दोष एवं सीमाएँ (Demerits and Limitations of Non-Participant Observation)—इसमें सन्देह नहीं कि असहभागी निरीक्षण के कई लाभ हैं, फिर भी इसमें अनेक दोष हैं। सबसे **प्रथम** दोष यह है कि असहभागी निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता कई घटनाओं एवं क्रियाओं का महत्त्व समझने में असफल होता है क्योंकि वह घटनाओं को अपने दृष्टिकोण से देखता है, न कि भाग लेने वालों की दृष्टि से। इसलिए घटनाओं का वास्तविक महत्त्व छिप जाता है। **दूसरे**, पूर्णतः विशुद्ध असहभागी निरीक्षण असम्भव भी है। प्रो० गुड एवं हॉट ने कहा है कि "जैसा कि छात्र समझ सकते हैं विशुद्ध असहभागी निरीक्षण कठिन है।"[11] **तृतीयतः**, एक अजनबी व्यक्ति के प्रति समुदाय वालों का सन्देहास्पद होना भी स्वाभाविक है। इस कारण समुदाय के सदस्यों के व्यवहारों में कृत्रिमता पनप जाती है।

सहभागी और असहभागी निरीक्षण में अन्तर
(Distinction between Participant and Non-Participant Observation)

सहभागी और असहभागी निरीक्षण की उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम इन दोनों में निम्नलिखित अन्तरों का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) सहभागी निरीक्षण एक वह प्रकार है जिसमें अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं उस समुदाय में जाकर बस जाता है जिसका कि उसे अध्ययन करना है। इसके विपरीत असहभागी निरीक्षण में अवलोकनकर्त्ता उस समुदाय में जाकर बस नहीं जाता अपितु कभी-कभी आवश्यकतानुसार वहाँ जाकर एक तटस्थ दर्शक के रूप में निरीक्षण करता है।

(२) सहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता न केवल जाकर उस समुदाय में बस जाता है, अपितु उसकी एक अभिन्न इकाई भी बन जाता है और उस रूप में समुदाय के समस्त क्रियाकलापों, उत्सवों, संस्कारों आदि में भाग भी लेता है। परन्तु असहभागी निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता एक बाहर का आदमी (an outsider) ही बना रहता है और समुदाय के क्रियाकलापों में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेता।

---

11. "As the students can understand, purely non-participant observation is difficult."—Goode & Hatt, *op. cit.*, p. 122.

(३) सहभागी निरीक्षण में समुदाय के जीवन के गहरे स्तर तक पहुँचकर उसका गहन, आन्तरिक एवं सूक्ष्म अध्ययन करना सम्भव है। इसके विपरीत असहभागी निरीक्षण के द्वारा सामुदायिक जीवन के केवल बाह्य पक्षों अर्थात् ऊपर-ही-ऊपर दिखाई देने वाली घटनाओं का ही अध्ययन किया जा सकता है।

(४) सहभागी निरीक्षण के द्वारा एक समुदाय या समूह के गुप्त पक्षों के सम्बन्ध में भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जब कि असहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता एक अजनबी होने के कारण सभी गुप्त पक्ष उसके लिए गुप्त ही रह जाते हैं।

(५) सहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं ही विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में बार-बार भाग लेता है। अतः संकलित सूचनाओं की शुद्धता की परीक्षा करने का अवसर उसे कई बार मिलता है। पर असहभागी निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता कभी-कभी समुदाय में जाता है। अतः सूचनाओं की शुद्धता की परीक्षा करने का अधिक अवसर उसे नहीं मिलता।

(६) सहभागी निरीक्षण में चूँकि अनुसन्धानकर्त्ता सामुदायिक जीवन में घुल-मिल जाता है और वहाँ के लोगों को यह जानने नहीं देता कि उनका अध्ययन किया जा रहा है, इसलिए घटनाओं का निरीक्षण उनके सरल स्वाभाविक रूप में सम्भव होता है। इसके विपरीत, असहभागी निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता एक अपरिचित व्यक्ति होता है और किसी भी अपरिचित व्यक्ति के सम्मुख कोई भी आदमी अपने सरल-स्वाभाविक रूप को प्रगट नहीं करता। जब लोगों को यह पता हो जाता है कि बाहर का कोई आदमी उनके व्यवहार को देख रहा है तो सहज ही उनके व्यवहार, क्रियाकलापों में अनेक कृत्रिमताएँ पनप जाती हैं। अतः असहभागी निरीक्षण के द्वारा घटनाओं को उनके स्वाभाविक रूप में देखना कठिन होता है।

(७) अन्त में, सहभागी निरीक्षण-प्रविधि अत्यधिक खर्चीली है और साथ ही अधिक समय खर्च करने वाली भी है क्योंकि अनुसन्धानकर्त्ता को कई महीने और कभी-कभी कई साल उस समुदाय में जाकर रहना पड़ता है। इसकी तुलना में असहभागी निरीक्षण में कम समय और कम धन की जरूरत पड़ती है क्योंकि अनुसन्धानकर्त्ता को निरीक्षण के लिए कभी-कभी समुदाय में जाना पड़ता है।

५. अर्द्ध-सहभागी निरीक्षण
(Quasi-Participant Observation)

जैसे कि उपरोक्त दोनों प्रकार के निरीक्षणों की सीमाओं से स्पष्ट है कि पूर्ण सहभागी या पूर्ण असहभागी निरीक्षण कभी-कभी सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए प्रो० गुड एवं हॉट ने इन दोनों के मध्यवर्ती मार्ग को अपनाया है जिसको कि 'अर्द्ध-सहभागी निरीक्षण' की संज्ञा दी है। इस प्रकार के निरीक्षण में अनुसन्धानकर्त्ता अध्ययन किए जाने वाले समुदाय के कुछ साधारण कार्यों में भाग भी लेता है, यद्यपि अधिकांशतः वह तटस्थ भाव से बिना भाग लिए उसका निरीक्षण करता है। प्रो० विलियम ह्वाइट का कहना है कि हमारे समाज की जटिलता के कारण पूर्ण एकीकरण का दृष्टिकोण अव्यावहारिक रहता है। एक वर्ग के साथ एकीकरण से उसका सम्बन्ध अन्य वर्गों से समाप्त हो जाता है। इसलिए अर्द्ध-तटस्थ नीति ही बनाए रखना अधिक उत्तम होता है। जैसे सामाजिक उत्सवों में भाग लेना, गेंद फेंकना, खेलना, साथ-साथ खाना-पीना, और फिर भी यह स्थिति बनाए रखना कि हमारा मुख्य उद्देश्य

अनुसन्धान है। वास्तव में इस प्रकार के निरीक्षण में पहले वर्णित किए गए दोनों ही प्रकार के निरीक्षणों के लाभ प्राप्त होने की सम्भावना रहती है।

६. सामूहिक निरीक्षण
(Mass Observation)

नियन्त्रित व अनियन्त्रित निरीक्षण-प्रविधियों का एक सुन्दर मिश्रण हमें 'सामूहिक निरीक्षण' नामक प्रविधि में प्राप्त होता है। इस प्रविधि में एक ही समस्या या सामाजिक घटना का निरीक्षण कई अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा होता है, जो कि उस सामाजिक घटना के विभिन्न पहलुओं के विशेषज्ञ होते हैं। सर्वश्री सिन पाओ यांग के शब्दों में "यह नियन्त्रित व अनियन्त्रित निरीक्षण का सम्मिश्रण होता है। इसमें कई व्यक्ति मिलकर सामग्री एकत्रित करते हैं और बाद में एक केन्द्रीय व्यक्ति द्वारा उन सबकी देन का संकलन एवं उससे निष्कर्ष निकाला जाता है।"[12]

सन् १९४४ में जमैका में वहाँ की स्थानीय दशाओं के अध्ययन के लिए इस प्रविधि को प्रयोग में लाया गया था। वहाँ पर प्रत्येक माह सामुदायिक जीवन के किसी एक विशेष पहलू के अध्ययन पर ध्यान डाला जाता था। इसके लिए अनुसन्धानकर्त्ताओं को जिलों में आँकड़े संकलित करने के लिए भेजा जाता था। आँकड़े संकलित होने पर केन्द्रीय कार्यालय में भेजे जाते थे, वहाँ स्टाफ की मीटिंग में उन पर विचार होकर फिर से निष्कर्ष निकाले जाते थे।

इस प्रकार इस प्रविधि में एक या कुछ निरीक्षणकर्त्ताओं पर बोझ न पड़कर अनेक लोग इस प्रविधि में कार्य करते हैं, और इस प्रकार अधिक धन की भी आवश्यकता पड़ती है यद्यपि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि अनुसन्धान-कार्य बहुत उत्तम होता है।

निरीक्षण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता
(Reliability and Validity of Observation)

सामाजिक अनुसन्धान की प्रायः सभी पद्धतियों में निरीक्षण-प्रविधि सबसे विश्वसनीय एवं प्रामाणिक मानी जाती है और इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता क्षेत्र में स्वयं जाकर निरीक्षण करता है। मानव को सबसे अधिक अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर ही विश्वास है। सबसे अधिक सत्यता उसी वस्तु में या तथ्य में हो सकती है जो कि स्वयं अपनी आँखों से देखा या कानों से सुना गया हो। परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि निरीक्षण ही किसी घटना की सत्यता का अचूक प्रमाण नहीं। निरीक्षण में भी त्रुटि हो सकती है। हमारी आँखें भी हमें धोखा दे सकती हैं। इतना ही नहीं, हम अन्य अनेक प्रकार से भी गलती कर सकते हैं। यह गलतियाँ क्या-क्या हो सकतीं है—निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाएँगी। दूसरे शब्दों में निरीक्षण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं—

१. ज्ञानेन्द्रियों की सीमाएँ (Limitations of our senses)—यह तो

12. "Mass observation is a combination of controlled and uncontrolled observation.......Mass observation depends on the observing and recording of information by a number of people and the pooling and treatment of their contribution by a central person."—Hsin Pao Yang, *op. cit.*

सर्वविदित ही है कि निरीक्षण-प्रविधि में मानव की ज्ञानेन्द्रिय—विशेषकर नेत्रों को ही अधिकतर काम में लाया जाता है। परन्तु अनेक प्रयोगों द्वारा यह अब सिद्ध हो चुका है कि हमारे नेत्रों की शक्ति भी अचूक नहीं होती—वे भी गलती कर बैठते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ अक्सर अनिश्चित एवं पक्षपातपूर्ण ढंग से कार्य करती हैं। प्रो० ब्लेकबर्न का कथन है कि "मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह बात सिद्ध हो चुकी है कि कोई व्यक्ति किसी विशेष अवसर पर क्या देखता है, यह बहुत-कुछ उस समय उसके मन एवं शरीर की दशा, उसकी ताजगी, आराम, बाधाओं से मुक्ति, आत्मविश्वास की मात्रा आदि बातों पर निर्भर है।" निरीक्षण की विश्वसनीयता में ज्ञानेन्द्रियों की सीमाएँ स्पष्ट ही है।

२. **व्यवहार की कृत्रिमता** (Artificiality of Behaviour)—निरीक्षण की विश्वसनीयता के लिए यह भी आवश्यक है कि हमने जिन व्यवहारों का निरीक्षण किया हो, वे कृत्रिमता लिए हुए न हों, क्योंकि जब कभी भी उस विशेष व्यक्ति या समुदाय को, जिसका कि निरीक्षण करना है, यह मालूम हो जाता है कि उनके व्यवहारों का निरीक्षण किया जा रहा है, वे अपना व्यवहार कृत्रिम बनाने का प्रयत्न करते हैं। और इस रूप में हमारा निरीक्षण भी विश्वसनीय नहीं हो पाता।

३. **निरीक्षण एवं निर्वचन** (Observation and Interpretation)—निरीक्षण की विश्वसनीयता में एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारक निर्वचन है। श्री जॉन मैंज का इस सम्बन्ध में कथन है कि कोई भी वस्तु, जो हमारी ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती है, कोई-न-कोई अर्थ प्रकट करती है तथा हम उसे पूर्वज्ञान से सम्बन्धित कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि घटना का निर्वचन अधिकांशतः पूर्वज्ञान के आधार पर, न कि निरीक्षण के आधार पर किया जाता है। जैसे यदि किसी कम्पनी के बन्द फाटक पर कुछ लिखा हुआ हो और वह इतना दूर हो कि धुँधला दिखाई देता हो तो हम यही कहेंगे कि इस पर 'बिना आज्ञा अन्दर आना मना है' लिखा है, चाहे लिखा कुछ और ही हो।

४. **निरीक्षणकर्त्ता का व्यक्तिगत पक्षपात** (Personal Bias of the Observer)—वास्तव में इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं कि निरीक्षण में निरीक्षणकर्त्ता का अपना स्वयं का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण पार्ट अदा करता है। अक्सर देखा जाता है कि एक ही समस्या का निरीक्षण अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। ऐसा करने का कारण उनका अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व ही है। यह स्वाभाविक ही है कि किसी भी घटना के निर्वचन में हमारे दृष्टिकोण, हमारे विचार, हमारी संस्कृति, अनुभव एवं ज्ञान का अवश्य ही हाथ होगा। शायद कहने की आवश्यकता नहीं, ये सभी व्यक्तिगत पक्षपात के कारण हैं जो कि निरीक्षण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करते हैं।

५. **घटना की अपर्याप्तता** (Uncompleteness of the Phenomena)—घटना की अपर्याप्तता अथवा अपूर्णता भी प्रायः निरीक्षण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न कर देती है। मान लीजिए कि हमारा निरीक्षण सही है, तो भी सही निष्कर्षों के लिए घटना का पर्याप्त प्रतिनिधित्वपूर्ण होना आवश्यक है, क्योंकि हो सकता है कि हमने जिन घटनाओं का निरीक्षण किया हो, वे कुछ विशेष परिस्थितियों में घटी हों एवं कुछ सही सामान्य घटनाएँ हम निरीक्षण न कर पाए हों, हमारा उन पर ध्यान न गया हो या हमने कोई आधी घटना के निरीक्षण के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल लिया हो। यह सब बातें वास्तव में निरीक्षण से प्राप्त हुए

निष्कर्षों की वैधता को चुनौती देती हैं जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान में अपेक्षित नहीं है।

निरीक्षण की विश्वसनीयता के लिए कुछ उपाय
(Some Remedies for Reliability in Observation)

अभी हम निरीक्षण की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता में आने वाली कुछ मुख्य बाधाओं का वर्णन कर चुके हैं। निम्नलिखित विवरण में उन्हीं बाधाओं को दूर करने के लिए कुछ प्रमुख उपायों का वर्णन किया जा रहा है—

१. निरीक्षण योजना (Observation Plan)—निरीक्षण को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता को निरीक्षण की योजना तैयार करने के बाद ही निरीक्षण-कार्य शुरू करना चाहिए। अनुसन्धानकर्त्ता को अपनी इस निरीक्षण-योजना में सारी बातें पहले से ही निश्चित कर लेनी चाहिएँ जैसे उसे किन-किन तथ्यों का निरीक्षण करना है एवं किस प्रकार। साथ ही, घटना को अनेक पहलुओं में विभाजित कर लेना चाहिए और उनका अध्ययन प्रमाणित पद्धतियों द्वारा समान रूप से किया जाना चाहिए। इस रूप में यदि निरीक्षण सम्पन्न किया जाए तो अवश्य ही निरीक्षण अधिक अच्छा रहेगा।

२. अनुसूची का प्रयोग (Use of Schedules)—यदि निरीक्षणकर्त्ता निरीक्षण करते समय अनुसूची जैसे साधनों की सहायता से निरीक्षण सम्पन्न करता है तो अवश्य ही निरीक्षण अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होगा। निरीक्षण-कार्य के लिए अनुसूची, सामान्य अनुसूची से भिन्न होती है। इस अनुसूची में रिक्त तालिकाएँ होती हैं। निरीक्षणकर्त्ता उनमें सूचना भरता जाता है। इस अनुसूची में केवल इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि निरीक्षण की योजना इस प्रकार की हो कि वह सम्बन्धित विषय पर पूर्ण सूचना प्राप्त करने में समर्थ हो। इसीलिए प्राप्त की जाने वाली सूचना का समुचित वर्गीकरण कर लिया जाता है और विभिन्न तालिकाएँ इस प्रकार बनाई जाती हैं कि सूचना दर्ज करने तथा बाद में उसका विवेचन करने में आसानी हो। वास्तव में जहाँ अनेक (एक से अधिक) कार्यकर्त्ता अनुसन्धान-कार्य में लगे हुए हों वहाँ पर निरीक्षण को वैषयिक बनाने के लिए अनुसूची का प्रयोग अत्यावश्यक है।

३. प्राक्कल्पना का निर्माण (Formulation of Hypothesis)—वास्तव में प्राक्कल्पना के निर्माण से भी विधिवत् निरीक्षण में सहायता मिलती है, क्योंकि इससे अनुसन्धान विशिष्ट तथा केन्द्रित हो जाता है। कार्यकर्त्ता इधर-उधर नहीं भटकता। यदि कभी निश्चित प्राक्कल्पना का निर्माण किसी कारणवश न भी हो सके तो एक निश्चित समस्या एवं निश्चित अध्ययन-क्षेत्र का चुनाव तो अवश्य ही कर लेना चाहिए क्योंकि इससे अध्ययन में निश्चितता (certainty) आ जाती है।

४. वैज्ञानिक यन्त्रों का प्रयोग (Use of Scientific Instruments)—विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक संयन्त्रों के प्रयोग से भी निरीक्षण अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक हो सकता है। फोटो फिल्म, टेपरिकार्डर, सिनेमा आदि अनेक यन्त्र ऐसे हैं जिनका प्रयोग करने से व्यक्तिगत अभिनति आने की सम्भावना नहीं रहती है। साथ ही निरीक्षणकर्त्ता की गलती भी इससे मालूम हो सकती है। यद्यपि इस प्रविधि में यह कमी है कि यदि लोगों को यह पता चल जाता है कि उनके व्यवहारों एवं कार्यों की फिल्म ली जा रही है, तो वह अपने व्यवहार में कृत्रिमता ले आते हैं, जिससे कि निष्कर्ष गलत भी हो सकते हैं।

५. समाजमितिक पैमानों का प्रयोग (Use of Socio-metric Scales)—सामाजिक अनुसन्धान-कार्यों में अब समाजमितिक पैमानों का भी प्रयोग होने लगा है जिससे परिणामों में अधिक सत्यता एवं शुद्धता आने की सम्भावना रहती है। इन पैमानों द्वारा विभिन्न प्रकार के गुणात्मक सामाजिक तथ्यों की ठीक-ठीक माप बना ली गई है जिनसे कि निरीक्षणता में निरीक्षणकर्त्ता का व्यक्तिगत पक्षपात नहीं आने पाता।

६. सामूहिक निरीक्षण (Mass Observation)—सामूहिक निरीक्षण द्वारा भी निरीक्षण के अधिकाधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होने की सम्भावना रहती है क्योंकि जैसा कि विस्तार में बताया ही जा चुका है कि इसमें अनेक क्षेत्रों के विशेषज्ञों द्वारा निरीक्षण किया जाता है। अतः अधिक त्रुटियों की सम्भावना नहीं रहती है।

निरीक्षण-प्रविधि का महत्त्व
(Importance of Observation Technique)

निरीक्षण-प्रविधि के गुणों का वर्णन करना वास्तव में एक अत्यन्त ही कठिन कार्य है क्योंकि वास्तव में सर्वप्रचलित एवं सर्वमान्य विधि होने के कारण आजकल अनुसन्धान-कार्यों में इसकी उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। संक्षेप में इसके कुछ मुख्य गुण इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं :—

१. सरल एवं प्राथमिक प्रविधि (Easy and Preliminary Technique)—निरीक्षण-प्रविधि का सबसे प्रमुख गुण उसकी सरलता है; और किसी भी प्रविधि में प्रायः किसी न किसी प्रकार के विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती है। परन्तु इस प्रविधि में निरीक्षण करना अत्यन्त सरल है। इतना ही नहीं, यह प्रविधि सबसे अधिक प्राथमिक भी है। मानव स्वभाव से ही निरीक्षण करता आया है। इस प्रविधि का भी प्रार्दुभाव इसी आधार पर हुआ है।

२. यथार्थता एवं विश्वसनीयता (Accuracy and Reliability)—निरीक्षण प्रविधि के प्रयोग से अनुसन्धान से प्राप्त हुए निष्कर्षों में अत्यधिक यथार्थता एवं विश्वसनीयता होती है। यद्यपि इसमें भी अनेक अशुद्धियाँ हैं परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रविधि द्वारा प्राप्त सूचना अन्य पद्धतियों द्वारा प्राप्त की हुई सूचना से कहीं अधिक विश्वसनीय एवं यथार्थ होती है।

३. प्राक्कल्पना के निर्माण में सहायक (Helpful in the formulation of Hypothesis)—प्राक्कल्पनाओं के निर्माण में भी निरीक्षण-प्रविधि अत्यधिक सहायक होती है। निरीक्षणकर्त्ता अनेक घटनाओं का निरीक्षण करता रहता है और इस प्रकार उसका अनुभव बढ़ता जाता है। शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुभवों का स्रोत प्राक्कल्पनाओं के निर्माण का मुख्य साधन है।

४. सर्वाधिक प्रचलित प्रविधि (Most Popular Technique)—इसमें कोई सन्देह नहीं है निरीक्षण-प्रविधि सर्वाधिक प्रचलित पद्धति है। प्रायः प्रत्येक प्रकार के विज्ञानों में अनुसन्धान-कार्यों में इस प्रविधि का प्रयोग होता है। इस रूप में यह और भी अधिक परिमार्जित प्रविधि है। अतः इस प्रविधि का अत्यधिक महत्त्व है।

५. सत्यापन की सुविधा (Facility of Verification)—निरीक्षण-प्रविधि की एक मुख्य बात यह है कि इस प्रविधि से प्राप्त सूचनाओं के सत्यापन को भी

आसानी से आँका जा सकता है। अनुसन्धानकर्त्ता एक ही सामाजिक घटना को कई बार निरीक्षण करके उस घटना का सत्यापन परख सकता है। सम्भवतः अन्य प्रविधि में यह सुविधा आसानी से प्राप्त नहीं होती है।

निरीक्षण-प्रविधि की सीमाएँ
(Limitations of Observation Technique)

इसमें प्रायः लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि निरीक्षण-प्रविधि का सामाजिक अनुसन्धान में अपना एक पृथक् महत्त्व है, फिर भी इस प्रविधि की कुछ सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(१) **निरीक्षणकर्त्ता का मिथ्या-झुकाव** (Bias of the Observer)—इस प्रविधि में निरीक्षणकर्त्ता अपने विचार आदि सभी के प्रयोगों में स्वतन्त्र-सा ही होता है। तथ्यों, घटनाओं के देखने में व्यक्ति अपना दृष्टिकोण प्रयोग में लाता है। जिस संस्कृति में एक व्यक्ति पला है, उसके आदर्श, मूल्य, आचार आदि उसे अवश्य ही प्रभावित करते हैं जो कि वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए अत्यन्त ही हानिकारक है।

(२) **व्यवहारों में कृत्रिमता** (Artificiality in Behaviours)—अधिकतर लोगों में यह प्रवृत्ति होती है कि जब कोई उनके कार्यों या व्यवहारों का निरीक्षण करना चाहता है तो वे अपने व्यवहारों में अवश्य ही कृत्रिमता ले आते हैं। वे अपने-आपको सामान्य जीवन से अलग प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं और यह स्थिति तभी दूर की जा सकती है, जबकि लोगों को यह पता भी न चले कि उनका निरीक्षण किया जा रहा है। परन्तु यह स्थिति कठिन है।

(३) डा० पी० वी० यंग ने निरीक्षण-प्रविधि की कुछ सामान्य कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए कहा है कि **"समस्त घटनाएँ निरीक्षण का अवसर नहीं देतीं, जो घटनाएँ निरीक्षण का अवसर देती भी हैं, उनमें निरीक्षणकर्त्ता पास में नहीं होता तथा समस्त घटनाएँ निरीक्षण-प्रविधि द्वारा अध्ययन किए जाने योग्य भी नहीं होतीं।"**[13]

डॉ० यंग का कथन उचित ही है। **प्रथम** तो कुछ घटनाएँ इस प्रकार की होती हैं कि जिनका निरीक्षण करना प्रायः निषिद्ध होता है। यदि किसी प्रेमी-प्रेमिका के व्यक्तिगत एवं व्यावहारिक जीवन का निरीक्षण करना हो तो शायद कोई भी व्यक्ति इसके लिए तैयार नहीं होगा। **द्वितीय** कठिनाई इस प्रकार की है कि कोई निश्चित समय एवं स्थान नहीं है। यदि किसी को गृह-कलह के कारणों/दशाओं का अध्ययन करना हो तो यह निश्चित नहीं कि कब पत्नी एवं पति में झगड़ा होगा। हो सकता है जब झगड़ा हो तब निरीक्षणकर्त्ता उपस्थित न हो और ऐसा होता ही है। डॉ० यंग के अनुसार **अन्तिम** कठिनाई और भी जटिल है। आपके अनुसार कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनका कि निरीक्षण ही असम्भव है। अनेक प्रकार के सामाजिक अनुसन्धान अमूर्त तथ्यों से सम्बन्धित रहते हैं। ये अमूर्त तथ्य व्यक्ति के विचार, उद्वेग, भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि हो सकते हैं। इनका निरीक्षण वास्तव में सम्भव ही नहीं है। इसी

---

13. "Not all occurrences are, of course, open to observation; not all occurrences open to observation can be observed when an observer is at hand; not all occurrences land themselves to study by observational techniques." —P. V. Young, *op. cit.*, p. 154.

प्रकार भूतकालीन घटनाओं का भी निरीक्षण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निरीक्षण-प्रविधि की यह सीमा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

निरीक्षण-प्रविधि की अनेकों सीमाएँ होते हुए भी इस तथ्य से प्रायः इनकार नहीं किया जा सकता कि निरीक्षण-प्रविधि का सामाजिक अनुसन्धान में एक अपना ही महत्त्व है। विशेषकर समाजशास्त्रीय अध्ययनों के क्षेत्र में निरीक्षण-प्रविधि से अधिक सरल, विश्वसनीय, निरन्तर उपयोगी एवं सत्यापन सुविधा प्रदान करने वाली और कोई प्रविधि नहीं है। समयानुसार इस प्रविधि का उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और होता रहेगा।

---

१३ अनुसूची
(SCHEDULE)

सामाजिक अनुसन्धान के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता अध्ययन-विषय से सम्वन्धित सामाजिक तथ्यों का संकलन है। अनुसन्धानकर्त्ता इन तथ्यों को विभिन्न सूचना-स्रोतों (sources of information) से एकत्रित करता है। इन स्रोतों को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—**प्रथम** तो प्राथमिक स्रोत और दूसरा द्वैतीयक स्रोत। प्राथमिक स्रोत के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता अध्ययन-विषय से सम्वन्धित घटनाओं को स्वयं देख-सुनकर अर्थात् निरीक्षण (observation) कर और सम्वन्धित व्यक्तियों से मिलकर उनसे बात-चीत कर एकत्रित करता है। द्वैतीयक स्रोत के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता अध्ययन-विषय से सम्वन्धित लिखित प्रलेखों (written documents) का अध्ययन कर तथ्यों को एकत्रित करता है। पर इस द्वैतीयक स्रोत से हम अध्ययन-विषय से सम्बन्धित बीती हुई (past) घटनाओं के सम्बन्ध में ही जान सकते हैं। वर्तमान स्थिति का पता तो हमें स्वयं निरीक्षण करके और सम्वन्धित व्यक्तियों से सूचना एकत्रित करके ही लग सकता है। अध्ययन-विषय से काफी अरसे से सम्वन्धित व्यक्ति न केवल महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को प्रदान करते हैं अपितु सामाजिक प्रक्रिया के धारा-प्रवाह से भी हमारा परिचय करवाते हैं। पर सम्वन्धित व्यक्तियों से इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को मनमाने ढंग से एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसके लिए कोई व्यवस्थित तरीका होना चाहिए जिससे कि केवल उन्हीं तथ्यों को एकत्रित करना सम्भव हो जो कि हमारे अध्ययन-विषय की वास्तविकताओं को सही और संक्षेप में व्यक्त कर सकें और व्यर्थ की सामग्री का ढेर इकट्ठा न होने पाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन-जिन उपकरणों (tools) का प्रयोग अनुसन्धानकर्त्ता करता है उनमें से अनुसूची (Schedule) एक है। अनुसूची वास्तव में प्रश्नों की एक लिखित सूची है जिसे कि अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन-विषय की प्रकृति व उद्देश्य को ध्यान में रखकर तैयार करता है जिससे कि उन प्रश्नों का उत्तर सम्वन्धित व्यक्तियों से मालूम किया जा सके और इस प्रकार आवश्यक सूचना एकत्रित करने की प्रक्रिया को एक व्यवस्थित रूप मिले।

अनुसूची की परिभाषा
(Definition of Schedule)

सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) के अनुसार, "अनुसूची उन प्रश्नों के एक समूह का नाम है जो साक्षात्कारकर्त्ता द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति से

आमने-सामने की स्थिति में पूछे और भरे जाते हैं।"[1]

श्री बोगार्डस (Bogardus) ने अनुसूची को परिभाषित करते हुए लिखा है, "अनुसूची उन तथ्यों को प्राप्त करने की एक औपचारिक प्रणाली का प्रतिनिधित्व करती है जो वैषयिक रूप में हैं तथा सरलता से प्रत्यक्षयोग्य हैं।"[2]

श्री मैककोर्मिक (McCormic) के शब्दों में, "अनुसूची उन प्रश्नों की एक सूची से अधिक कुछ नहीं है जिनका उत्तर देना प्राक्कल्पना या प्राक्कल्पनाओं की जाँच के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि **अनुसूची सूचनादाताओं से प्रत्यक्षतः व औपचारिक रूप में पूछे जाने वाले उन प्रश्नों की एक आयोजित व व्यवस्थित (planned and organized) सूची है जो कि अध्ययन-विषय की वास्तविकताओं को प्रकट करने वाले तथ्यों या सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं।** और भी स्पष्ट रूप में, अनुसूची एक ऐसा प्रपत्र (proforma) होता है जिसमें कि कुछ प्रश्नों को खूब सोच-विचारकर एक सिलसिले से लिख लिया जाता है और यह आशा की जाती है कि अगर उन प्रश्नों का सही-सही उत्तर मिल गया तो अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में कुछ ऐसे तथ्य या सूचनाएँ एकत्रित हो जाएँगी कि उनसे अध्ययन-विषय की वास्तविकताओं पर प्रकाश पड़ेगा। इस प्रपत्र (proforma) को आवश्यक संख्या में छपवा लिया जाता है और एक-एक अनुसूची एक-एक सूचनादाता द्वारा दिए गए उत्तरों को लिखने के लिए प्रयोग की जाती है। इस अनुसूची को लेकर स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता सूचनादाताओं के पास जाता है और उनसे पूछ-पूछकर प्रश्नों के उत्तर को स्वयं लिख लेता है अथवा सूचनादाता को लिख देने के लिए व्यक्तिगत रूप में अनुरोध करता है।

अनुसूची का उद्देश्य
(Object of Schedule)

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अनुसूची का प्राथमिक उद्देश्य प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से ऐसे तथ्यों को एकत्रित करना है जो कि अध्ययन-विषय की वास्तविकता को प्रगट करें अथवा प्राक्कल्पना की जाँच करने में सहायक सिद्ध हों। इसका उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्तियों से प्रत्यक्षतः मिलकर आमने-सामने (face to face) की स्थिति में उनसे सूचना एकत्रित करना है। इस प्राथमिक उद्देश्य के अतिरिक्त अनुसूची के निम्नलिखित अन्य उद्देश्यों का भी उल्लेख किया जा सकता है यद्यपि वे भी उपरोक्त उद्देश्य के ही प्रतिरूप हैं :—

(१) प्रामाणिक तथा वैषयिक अध्ययन (Valid and Objective Study)

1. "Schedule is the name usually applied to a set of questions which are asked and filled in by an interviewer in a face to face situation with another person."—William J. Goode & Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company Inc., New York, 1952, p. 133.

2. "The schedule represents a formal method for securing facts that are in objective form and easily discernible......the schedule is filled out by the investigator himself."—Emory S. Bogardus, *Introduction to Social Research* (1936), p. 45.

3. "The schedule is nothing more than a list of the questions which it seems necessary to answer in order to test the hypothesis or hypotheses."—Thomas Carson McCormic, *Elementary Social Statistics* (1941), p. 37.

—अनुसूची का उद्देश्य अध्ययन एवं निरीक्षण को अधिकाधिक प्रामाणिक तथा वैषयिक बनाना है। अनुसूची के अनुसार प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं व्यक्तिगत रूप में जाकर लोगों से मिलता है, उन्हें अध्ययन-विषय व अध्ययन के उद्देश्यों से परिचित करवाता है, अनुसूची के प्रत्येक प्रश्न की व्याख्या और उसके सही उत्तर की याचना करता है। इन सबका परिणाम यह होता है कि उत्तरदाताओं को समान प्रश्नों का विभिन्न अर्थ लगाने एवं उनका पृथक्-पृथक् उत्तर देने का अवसर नहीं मिलता और वे सही उत्तर दे पाते हैं। इससे अध्ययन प्रामाणिक व वैषयिक होता है।

(२) **सूचनाओं का अपूर्ण संकलन से बचाव** (Guard against incomplete Collection of Informations)—अनुसूची का एक और उद्देश्य उत्तरदाताओं से सूचना संकलन की प्रक्रिया को क्रमबद्ध तथा पूर्ण बनाना है। अनुसूची अपनी स्मरण-शक्ति पर आवश्यक रूप में भरोसा करने के जोखिम से अनुसन्धानकर्त्ता को बचाती है। यह हो सकता है कि बिना अनुसूची के साक्षात्कार या निरीक्षण करने पर वह विषय से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना बिलकुल ही भूल जाए अथवा उत्तरदाताओं द्वारा कही हुई बातों को बाद तक याद न रख सके। उस अवस्था में या तो सूचनादाताओं के पास फिर उसे जाना पड़ेगा या अपनी कल्पना पर भरोसा करना पड़ेगा। ये दोनों ही स्थितियाँ अध्ययन में यथार्थता लाने में बाधक सिद्ध होंगी। अनुसूची का प्रयोग इस विपत्ति से बचाता है। इसीलिए अनुसूची को 'याद दिलाने वाला' (Memory Tickler) भी कहा जाता है।

(३) **सूचनाओं का व्यवस्थित या क्रमबद्ध संकलन** (Systematic Collection of Data)—अनुसूची में सभी प्रश्नों को खूब सोच-विचारकर व्यवस्थित व क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अतः उनके उत्तर में जो सूचनाएँ प्राप्त होती हैं उनमें भी एक व्यवस्था व क्रमबद्धता होती है जिसके कारण आगे चलकर उनके वर्गीकरण व विश्लेषण में अधिक कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार अनुसूची का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य वर्गीकरण, सारिणीयन, विश्लेषण व व्याख्या के कार्य को सरल बनाना होता है। अगर अनुसूची की सहायता न ली गई तो सूचनादाता अपनी-अपनी बातें अपने-अपने ढंग से वर्णनात्मक या कहानी के रूप में कहता है। इस रूप में प्राप्त की गई सूचना को वर्गीकृत करने तथा विवेचना करने में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता है। अनुसूची का उद्देश्य इस परेशानी से हमें बचाना है।

(४) **अनावश्यक तथ्यों का बहिष्कार** (Discarding unnecessary Data)—अनुसूची जहाँ एक ओर किसी आवश्यक सामग्री को छूटने नहीं देती वहाँ दूसरी ओर किसी अनावश्यक व असम्बन्धित तथ्यों को भी अध्ययन में सम्मिलित होने का अवसर नहीं देती। अनुसूची में प्रश्नों को सम्मिलित करने से पूर्व इस बात का खूब ध्यान रक्खा जाता है कि प्रत्येक प्रश्न निश्चित रूप में अध्ययन के उद्देश्य के अनुकूल ही हो और ऐसा कोई प्रश्न न सम्मिलित किया जाए जिससे कि व्यर्थ की सामग्री एकत्रित हो जाए। इस प्रकार अनुसूची का एक उद्देश्य अनावश्यक तथ्यों के संकलन से बचना तथा आवश्यक सूचनाओं के प्रति अनुसन्धानकर्त्ता को सचेत रखना है।

उत्तम अनुसूची की विशेषताएँ
(Characteristics of a Good Schedule)

अनुसूची प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित करने का एक साधन है। इसकी सफलता इसीलिए प्रश्न तथा उत्तर पर निर्भर है अर्थात् प्रश्न इस

प्रकार का हो जिससे कि वास्तविक तथ्य मालूम किया जा सकता है और उन प्रश्नों को सही अर्थ में सभी सूचनादाता समझ सकें और सही उत्तर दे सकें। इस प्रकार उत्तम अनुसूची की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ होती हैं—सही सन्देशवाहन तथा सही उत्तर। इन दोनों विशेषताओं की विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) **सही सन्देशवाहन** (Accurate Communication)—इसका तात्पर्य यह है कि उत्तम अनुसूची में इस ढंग से प्रश्नों को पूछा जाता है, ऐसी भाषा का प्रयोग किया जाता है कि उन प्रश्नों के सम्बन्ध में किसी भी सूचनादाता के मन में कोई अस्पष्ट या गलत धारणा पनपने की गुंजाइश नहीं रहती अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता वास्तव में जो कुछ पूछना चाहता है सूचनादाता उसे उसी रूप में समझता है। यदि अनुसूची के प्रश्नों में यह विशेषता है तो वह एक उत्तम अनुसूची ही होगी। एक उत्तम अनुसूची में भाषा इतनी सरस, सुस्पष्ट, भ्रमरहित तथा एकअर्थक होती है ताकि किसी के लिए उसके वास्तविक अर्थ को समझने में किसी भी प्रकार का कष्ट न हो। अनुसूची वास्तविक तथ्यों को संकलित करने का एक साधन होती है इसलिए उसे वास्तविक भाव को वास्तविक रूप में व्यक्त करने योग्य भी होना चाहिए।

(२) **सही प्रत्युत्तर** (Accurate Response)—एक उत्तम अनुसूची की यह भी पहचान है कि अनुसूची इस प्रकार की हो कि सूचनादाता वही उत्तर दे जो अनुसन्धानकर्त्ता के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सूचनादाता केवल ऐसे ही तथ्यों या सूचनाओं को दे जो कि अनुसन्धानकर्त्ता की प्राक्कल्पना के अनुकूल हों। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि वे जो कुछ भी सूचना दें वह वास्तव में वास्तविक हो, दुविधायुक्त न हो और समस्या की वास्तविकताओं पर प्रकाश डालने में सहायक हो, चाहे उनकी वह सूचना अनुसन्धानकर्त्ता की प्राक्कल्पना को सही प्रमाणित करे या गलत। उत्तर यदि सन्देहजनक, अस्पष्ट या बहुअर्थक हुआ तो उससे अनुसन्धानकर्त्ता के भटक जाने की सम्भावना होती है। इसलिए एक उत्तम अनुसूची में प्रश्न इस प्रकार पूछे जाते हैं कि स्पष्ट, सन्देहरहित तथा एकअर्थक उत्तर प्राप्त किया जा सके।

सही सन्देशवाहन तथा सही प्रत्युत्तर तभी सम्भव होगा जब कि अनुसूची में निम्नलिखित गुण विद्यमान होंगे—(१) अनुसूची का आकार तथा रूप आकर्षक हो। (२) समस्त प्रश्न स्पष्ट, सरल, भ्रमरहित तथा एकअर्थक हों। (३) प्रश्न ऐसे हों कि जिनका उत्तर देने में सूचनादाता को किसी प्रकार का संकोच या झिझक न हो। (४) प्रश्न अध्ययन-विषय की प्रकृति तथा उद्देश्य से सम्बन्धित हों जिससे कि उनके उत्तर में जो भी सूचना मिले उसके द्वारा प्राक्कल्पना की जाँच की जा सके। प्रश्न इस प्रकार के हों कि उनके उत्तर में प्राप्त सूचना सारिणीयन तथा सांख्यिकीय विवेचना के योग्य हो। (५) प्रश्नों की व्यवस्था इस क्रम से हो कि उससे प्राप्त सूचनाओं में परस्पर अन्तःसम्बन्ध तथा क्रमबद्धता बनी रहे। (६) अनुसूची जहाँ तक सम्भव हो संक्षिप्त हो, विशेषकर उसमें सम्मिलित प्रश्न इतने लम्बे न हों कि सूचनादाता उत्तर देते-देते ऊब जाए।

अनुसूची के प्रकार
(Types of Schedule)

विभिन्न विद्वानों द्वारा अनुसूची के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है परन्तु मुख्य रूप से वे निम्नलिखित हैं –

(१) **निरीक्षण-अनुसूची** (Observation Schedule)—जब अनुसन्धान में

निरीक्षण-प्रविधि का प्रयोग किया जाता है तो निरीक्षण-कार्य को व्यवस्थित तथा क्रमवद्ध करने के लिए निरीक्षण-अनुसूची का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार की अनुसूची में प्रश्नों का समावेश नहीं बल्कि कुछ इस प्रकार की मोटी-मोटी वातों का समावेश होता है जो कि निरीक्षण के दौरान में सामने आ सकती हैं या जिनके वारे में निरीक्षण के द्वारा सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। निरीक्षणकर्त्ता इस प्रकार की अनुसूची को निरीक्षण के दौरान में अपने पास रखता है तथा सम्वन्धित घटनाओं को देखकर अनुसूची को भरता जाता है। इस प्रकार निरीक्षण-अनुसूची में, अध्ययन-क्षेत्र में प्रश्न पूछकर सूचनाओं को एकत्रित नहीं करना पड़ता वल्कि, स्थिति का वास्तविक निरीक्षण करके उससे सम्वन्धित तथ्यों को स्वयं लिख लेना पड़ता है। इसमें सूचना प्राप्त करने के लिए किसी से कुछ पूछा नहीं जाता वल्कि स्वयं देखा जाता है।

(२) **मूल्यांकन अनुसूची** (Rating Schedule)—जव किसी घटना अथवा वस्तु से सम्वन्धित विषयों के सम्वन्ध में उत्तरदाता की प्रवृत्ति, राय, पसन्द आदि की सांख्यिकीय माप करनी होती है तो इस प्रकार की अनुसूची का प्रयोग किया जाता है। मनोविज्ञान तथा सामाजिक अनुसन्धान में इस अनुसूची का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि हमें परिवार नियोजन कार्यक्रम को असफल वनाने वाले कारकों का, अथवा जाति-प्रथा को निर्वल बनाने वाले कारकों का मूल्यांकन करना है तो मूल्यांकन अनुसूची अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकती है क्योंकि इसके द्वारा असफलता के कारकों के विषय में विभिन्न सूचनादाता की राय, विचार आदि से सम्वन्धित सूचनाओं को एकत्रित किया जा सकता है।

(३) **संस्था सर्वेक्षण अनुसूची** (Institution Survey Schedule)—इस प्रकार की अनुसूची के द्वारा किसी संस्था से सम्वन्धित समस्याओं का मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार की अनुसूची का निर्माण किसी विशिष्ट संस्था अथवा एक संस्था के विशिष्ट पहलू के अध्ययन के लिए किया जाता है। जब यह अनुसूची किसी संस्था के सामने आने वाली समस्त समस्याओं के मूल्यांकन करने के उद्देश्य से बनाई जाती है तो वह काफी लम्वी होती है। क्योंकि उस संस्था से सम्वन्धित प्रत्येक समस्या के प्रत्येक पक्ष के वारे में आवश्यक प्रश्नों को अनुसूची में सम्मिलित करना पड़ता है।

(४) **साक्षात्कार अनुसूची** (Interview Schedule)—साक्षात्कार को व्यवस्थित तथा क्रमवद्ध रूप में संचालित करने के लिए इस प्रकार की अनुसूची का प्रयोग किया जाता है। सहायक सूचनाओं की प्राप्ति के लिए एवं संकलित सूचना की परीक्षा के लिए भी यह अनुसूची उपयोगी है। व्यक्तिगत रूप से सूचनादाता से मिलकर सम्वन्धित प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना ही इस प्रकार की अनुसूची का प्रमुख उद्देश्य होता है। इस प्रकार की अनुसूची से लाभ यह होता है कि साक्षात्कार के दौरान में सूचनादाता से कहानी-किस्सों के रूप में वर्णनात्मक सूचनाएँ नहीं अपितु वर्गीकरण व सारिणीयन के उपयुक्त तथ्य एकत्रित किए जा सकते हैं।

(५) **प्रलेखीय अनुसूची** (Documentary Schedule)—इस प्रकार की अनुसूची का उपयोग लिखित प्रलेखों जैसे आत्मकथा, डायरी, सरकारी तथा गैर-सरकारी रिकार्ड और ऐसे ही अन्य लिखित स्रोतों से सूचना एकत्रित करने के लिए किया जाता है। समग्र की इकाइयों के विषय में प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करने के लिए आवश्यक सूचना एकत्रित करने के लिए भी प्रलेखीय अनुसूची अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार की अनुसूची में जिन प्रश्नों को सम्मिलित किया जाता है उनके

उत्तर आत्मकथा, डायरी, दस्तावेज, दफ्तरी रिकार्ड आदि में से ढूँढ़कर लिखे जाते हैं। इस अनुसूची की सफलता के लिए इसी कारण सम्वन्धित सभी प्रलेखों तथा रिकार्डों को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करना तथा देखना पड़ता है।

अनुसूची निर्माण की प्रक्रिया
(Process of preparing Schedule)

यह सच है कि अनुसूची कुछ प्रश्नों की एक सूची मात्र होती है; पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनुसूची का निर्माण कोई सरल कार्य है। पर्याप्त सोच-विचार के बाद अत्यन्त सावधानीपूर्वक इसका निर्माण अनुसन्धानकर्त्ता को करना पड़ता है। इसीलिए अनुसूची निर्माण की प्रक्रिया कई स्तरों में से गुजरती है। वे चरण इस प्रकार हैं—

(१) **प्रथम चरण**—प्रथम चरण में अनुसूची निर्माण से सम्वन्धित पूर्ववर्ती विचार (prior considerations) आते हैं। अनुसूची निर्माण के पहले यह निश्चय करना आवश्यक है कि अनुसूची में अध्ययन-विषय से सम्वन्धित किन-किन पहलुओं और मदों (items) का समावेश करना अध्ययन के उद्देश्य के दृष्टिकोण से आवश्यक है। यह काम सफलतापूर्वक तभी किया जा सकता है जबकि अनुसन्धानकर्त्ता को समस्या का प्रारम्भिक ज्ञान हो। इसके लिए समस्या या अध्ययन-विषय के सम्वन्ध में पूर्ववर्ती (prior) विचार परमावश्यक है जिससे कि यह पता चल जाए कि विषय के कौन-कौनसे पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कौन-कौनसे कम महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं क्योंकि उसी के अनुसार प्रश्न भी अधिक या कम पूछे जाएँगे। पहले से ऐसा कर लेने से अनुसूची में प्रश्नों का एक सन्तुलित अनुपात वनाए रखना सम्भव होता है और उसमें अनावश्यक प्रश्नों का जमाव नहीं हो पाता है। साथ ही, पूर्ववर्ती विचार और समस्या के सम्वन्ध में आवश्यक जानकारी इसलिए भी आवश्यक होती है कि कभी-कभी अनुसन्धानकर्त्ता विषय के सम्वन्ध में एक सन्तुलित धारणा को पनपाए बिना ही अनुसूची में उन सभी मदों एवं पहलुओं को सम्मिलित करना चाहते हैं जो उन्हें महत्त्वपूर्ण तथा रुचिकर प्रतीत होते हैं। यह प्रवृत्ति समय, शक्ति एवं धन के अपव्यय का कारण वनती है। अतः इस स्थिति से बचने के लिए एक सन्तुलित प्रश्न-सूची को वनाना आवश्यक है क्योंकि इसके बिना यह सम्भव है कि कुछ महत्त्वहीन पक्षों को अनुसूची में अधिक मान्यता मिल जाए जवकि कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष बिल्कुल ही छूट जाएँ। अतः सर्वप्रथम अनुसन्धान-विषय से सम्वन्धित पूर्वज्ञान के आधार पर उसे विभिन्न पहलुओं में इस प्रकार विभाजित कर लेना चाहिए कि कोई भी महत्त्वपूर्ण पक्ष छूट न जाए और कोई भी महत्त्वहीन पक्ष सम्मिलित होने का अवसर न पाए।

(२) **द्वितीय चरण**—समस्या या अध्ययन-विषय को विभिन्न पहलुओं में विभाजित कर लेने के पश्चात् प्रत्येक पहलू को विभिन्न उपविभागों में विभाजित कर लेना होता है और साथ ही यह भी निश्चित करना होता है कि प्रत्येक उपविभाग के सम्बन्ध में किस-किस प्रकार की सूचनाएँ आवश्यक हैं ताकि उस उपविभाग से सम्वन्धित सभी विषय स्पष्ट हो जाएँ अथवा उन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सके। ऐसा करने से पूर्व दो वातों का ध्यान हमें विशेष रूप से रखना होगा—पहला तो यह कि किस प्रकार के प्रश्नों को अनुसूची में सम्मिलित करने पर एक पहलू-विशेष पर अधिकतम प्रकाश पड़ सकेगा और दूसरा यह कि इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर से प्राप्त सूचनाओं का अनुसन्धान के उद्देश्य की पूर्ति में किस सीमा तक उपयोग हो

सकेगा। इस प्रकार इस स्तर पर अध्ययन-विषय के विभिन्न पहलुओं के उपभागों तथा उनसे सम्बन्धित प्रश्नों के विस्तार, प्रकृति तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में निश्चित कर लेना होता है।

(३) **तृतीय चरण**—तीसरे स्तर पर प्रश्नों का निर्माण किया जाता है। पर जल्दवाजी में प्रश्नों के निर्माण से सदा बचना चाहिए क्योंकि प्रश्नों की प्रकृति पर ही यह निर्भर करेगा कि उत्तरदाता उन प्रश्नों को सही अर्थ में समझकर सही उत्तर दे सकेगा या नहीं। अतः आवश्यक है कि प्रश्नों की भाषा किसी भी अवस्था में जटिल, अस्पष्ट, सन्देहयुक्त, बहुअर्थक और सूचनादाता की भावनाओं को ठेस पहुँचाने वाली न हो। प्रश्न ऐसा भी न हो कि सूचनादाता के मन में झुँझलाहट, विरक्ति या क्रोध उत्पन्न हो अथवा प्रश्न ऐसा न हो कि उसका उत्तर देने में उसे संकोच या डर का अनुभव हो। सरल, स्पष्ट तथा ठीक ढंग से पूछे गए विनम्र प्रश्न उत्तरदाता से सही उत्तरों को स्वतः ही प्राप्त कर लेते हैं, जब कि गलत ढंग से पूछे गए अटकलपच्चू प्रश्न उत्तरदाता के मन में झुँझलाहट उत्पन्न करते हैं और वह या तो इधर-उधर की वातें कहकर प्रश्नों की यूँही खानापूरी करता है अथवा सूचना देने से बिल्कुल ही इनकार कर देता है। अव्यवस्थित व बिखरे हुए प्रश्न न तो सही उत्तर प्राप्त कर सकते हैं और न ही उनके उत्तरों से अध्ययन-विषय की वास्तविकताएँ प्रगट हो पाती हैं। साथ ही जल्दवाजी में ऐसा भी हो सकता है कि अनुसूची में कई ऐसे प्रश्नों का समावेश हो जाए जिनका अध्ययन-विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो। अनुसूची में सम्मिलित प्रश्नों की आधारभूत विशेषता यह होनी चाहिए कि प्रश्न इस प्रकार के हों कि सभी उत्तरदाता उन्हें एक ही अर्थ में समझें और उसी के अनुसार उत्तर दें और उन उत्तरों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अध्ययन के उद्देश्य से हो अर्थात् वे उत्तर समस्या या विषय को समझने में उपयोगी हों।

(४) **चतुर्थ चरण**—इस चरण में वनाए गए प्रश्नों को एक सिलसिले से या क्रमवद्ध रूप में लगाया जाता है। इसकी कई उपयोगिताएँ हैं। सर्वप्रथम तो यह कि प्रश्नों को इस प्रकार क्रम से लगा लेने से उत्तरों के माध्यम से तथ्यों की प्राप्ति उसी सिलसिले से होती है जिस सिलसिले से हमें तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या करना तथा रिपोर्ट प्रस्तुत करना है। प्रश्नों को एक क्रम से लगा लेने से दूसरा फायदा यह होता है कि सूचनादाताओं से उत्तर मिलने में भी आसानी होती है। उत्तर देने के लिए भी एक मानसिक तैयारी की आवश्यकता होती है और इसीलिए अगर आरम्भ में ही कुछ गम्भीर प्रश्न पूछे जाएँ तो उत्तरदाता घबड़ा जाता है और अनुसन्धान-कर्त्ता से अपना पीछा छुड़ाने के लिए व्याकुल हो उठता है। ऐसी अवस्था में बहुत ही सरल, सीधे व संक्षिप्त प्रश्नों से आरम्भ करके यदि क्रमशः गम्भीर प्रश्नों की ओर आगे वढ़ा जाए तो उत्तरदाता को उत्तर देने के लिए आवश्यक मानसिक तैयारी कर लेने का अवसर मिल जाता है और वह स्वयं अध्ययन-विषय में रुचि लेने लगता है। इससे सही उत्तर प्राप्त हो जाते हैं। प्रश्नों को इस प्रकार एक क्रम से लगाते समय इस वात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई ऐसा प्रश्न तो सम्मिलित नहीं किया जा रहा है जिसका उत्तर नहीं मिल सकता; ऐसे प्रश्नों को निकाल देना चाहिए।

(५) **अन्तिम चरण**—इस स्तर पर अनुसूची की वैधता (validity) की जाँच की जाती है अर्थात् यह देखा जाता है कि जिस उद्देश्य से प्रश्नों का निर्माण किया गया है, उन प्रश्नों से वास्तव में उन उद्देश्यों की पूर्ति हो भी सकेगी या नहीं। इस प्रकार की जाँच कर लेना आवश्यक है क्योंकि व्यावहारिक रूप में यह देखा गया

हैं कि प्रश्नों के निर्माण में कितनी ही सावधानी क्यों न बरती जाए, कुछ-न-कुछ ऐसी गलतियाँ या कमियाँ रह ही जाती हैं जिनके कारण सही उत्तर प्राप्त करने में कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। अतः इस कठिनाई को पहले ही दूर कर लेना श्रेयस्कर होता है। इसी उद्देश्य से अनुसूची को अन्तिम रूप देने से पूर्व थोड़े से व्यक्तियों से अनुसूची के प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करके यह जांच कर लेनी चाहिए कि लोग प्रश्नों को उनके यथार्थ अर्थ में और एक ही अर्थ में समझकर सही उत्तर देने में समर्थ हैं अथवा नहीं। यदि नहीं, तो आवश्यकतानुसार प्रश्नों में हेर-फेर कर लेना उचित होता है। इस प्रकार का हेर-फेर कुछ प्रश्नों को बिल्कुल हटाकर या उनकी भाषा बदलकर, उनके क्रम में परिवर्तन करके अथवा नए प्रश्नों को जोड़कर किया जा सकता है। इस प्रकार अनुसूची की कमियों को दूर कर लेने से आगे चलकर अनेक परेशानियों से बचा जा सकता है।

अनुसूची का भौतिक स्वरूप
(Physical Features of Schedule)

अनुसन्धानकर्त्ता को सूचनादाताओं से उत्तर प्राप्त करने के लिए उनके सम्मुख अनुसूची को प्रस्तुत करना पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि अनुसूची का भौतिक स्वरूप आकर्षक हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है अर्थात् अनुसूची के भौतिक स्वरूप में निम्नलिखित बातों का समावेश हो :—

(१) **कागज (Paper)**—अनुसूची का कागज घटिया किस्म का नहीं होना चाहिए। अच्छे किस्म के कागज को प्रयोग में लाने से न केवल अनुसूची का 'शो' (show) बढ़ जाता है अपितु लिखने में भी सुविधा होती है। अगर कागज घटिया किस्म का हुआ तो प्रश्नों का उत्तर लिखते समय या तो स्याही फैल जाती है या लिखाई अस्पष्ट होती है। दोनों ही स्थितियों में आगे चलकर उत्तरों को कुछ का कुछ समझने की गलती हो सकती है, विशेषकर संख्या में व्यक्त सूचना को गलत समझने पर उसका प्रभाव अध्ययन के निष्कर्ष पर भी पड़ेगा।

(२) **अनुसूची का आकार (Size of the Schedule)**—प्रायः अनुसूची का आकार प्रश्नों की संख्या और अनुसूची में सम्मिलित की गई रिक्त (blank) सारिणियों के आकार पर निर्भर करता है। फिर भी अनुसूची का आकार बहुत छोटा या बहुत बड़ा होना असुविधाजनक है। यदि अनुसूची का कागज बहुत लम्बा है तो ले जाने, ले आने में असुविधा होती है और बार-बार मोड़ने से फट जाने का भी डर रहता है। उसी प्रकार अगर कागज बहुत छोटा हुआ तो उत्तरों को लिखने में बहुत असुविधा होती है। इसीलिए अनुसूची का प्रामाणिक आकार ८"×११" माना जाता है।

(३) **हाशिया (Margin)**—अनुसूची के बायीं ओर कम-से-कम $\frac{३}{२}$" तथा दाहिनी ओर $\frac{१}{४}$" या $\frac{१}{३}$" का हाशिया अवश्य छोड़ देना चाहिए। इससे अनुसूची अधिक आकर्षक बन जाती है और साथ ही आवश्यकता पड़ने पर टिप्पणी आदि भी हाशिया में लिखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त हाशिया रहने से कागजों को पंच (punch) करके फाइल करने में भी आसानी रहती है।

(४) **जगह छोड़ना (Spacing)**—प्रश्नों को छापते समय उचित जगह छोड़-छोड़कर छापना चाहिए। अक्षर बहुत गिचपिच होने से पढ़ने में कठिनाई होती है।

उसी प्रकार दो प्रश्नों के बीच पर्याप्त जगह छूटी होनी चाहिए। उसी प्रकार प्रत्येक प्रश्न का उत्तर लिखने के लिए आवश्यक जगह छोड़ना जरूरी है।

(५) छपाई (Printing)—जहाँ तक सम्भव हो अनुसूची को छपवा लेना चाहिए। छपाई साफ और सुन्दर 'टाइप' में हो यह भी जरूरी है। पर यदि धनाभाव के कारण छपवाना सम्भव न हो तो साफ़-साफ 'साइक्लोस्टाईल' करवा लिया जा सकता है। किसी भी अवस्था में छपाई साफ-सुथरी ही होनी चाहिए।

(६) चित्रों का उपयोग (Use of Pictures)—प्रश्नों को अधिक आकर्षक तथा बोधगम्य वनाने के लिए कभी-कभी प्रश्नों के साथ-साथ चित्रों का भी उपयोग किया जाता है। यदि ऐसा किया गया तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चित्रों में किसी भी प्रकार की अश्लीलता को स्थान न मिले, जिससे कि उत्तरदाताओं की भावनाओं को ठेस पहुँचे। आकर्षक वनाने का अर्थ अश्लीलता का आश्रय लेना नहीं है। आजकल अनुसूची में चित्रों का उपयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

अनुसूची की अन्तर्वस्तु
(The Content of Schedule)

अनुसूची की अन्तर्वस्तु से तात्पर्य यह है कि अनुसूची में आरम्भ से अन्त तक किन-किन बातों या विषयों का समावेश होता है। इन्हें हम निम्नलिखित तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

(१) प्रारम्भिक सूचनाएँ (Introductory Informations)—इसके अन्तर्गत अनुसूची का वह शुरू का हिस्सा आता है जिसमें कि अनुसन्धान तथा उत्तरदाताओं के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी प्राप्त करने से सम्बन्धित प्रश्नों का समावेश होता है। अनुसूची का यह भाग लगभग सभी प्रकार की अनुसूचियों में समान ही होता है। इसके अन्तर्गत अध्ययन-विषय का नाम, अध्ययन करने वाले संगठन का नाम, क्रम संख्या, सूचनादाता का नाम, पता, आयु, लिंग, शिक्षा, जाति, साक्षात्कार का स्थान, तारीख तथा समय आदि से सम्बन्धित प्रश्न या खाने (columns) होते हैं।

(२) मुख्य प्रश्न व सारिणियाँ (Main Questions and Tables)—यही अनुसूची की मुख्य अन्तर्वस्तु होती है क्योंकि इसी भाग में अनुसन्धान-विषय के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित प्रश्न तथा रिक्त सारिणियाँ (जिन्हें कि उत्तरदाता को भरना होता है अथवा उससे पूछकर अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं भरता है) होती हैं। ये प्रश्न तथा रिक्त सारिणियाँ उन तथ्यों के संकलन में सहायक होती हैं जिनकी मदद से प्राक्कल्पना की जाँच की जाती है।

(३) अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए निर्देश (Instructions for Investigators)—अनुसूची के अन्त में या पृथक् रूप से अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिए कुछ ऐसे निर्देश दिए जाते हैं जिनकी सहायता से यथार्थ तथ्यों का संकलन सरल तथा एक तरह का हो सके। यद्यपि अनुसन्धानकर्त्ता प्रशिक्षित होते हैं फिर भी लिखित तौर पर दिए गए ये निर्देश उनका निरन्तर मार्ग प्रदर्शन करते रहते हैं।

अनुसूची के प्रश्न
(Questions of Schedule)

अनुसूची वास्तव में विभिन्न प्रकार के प्रश्नों की ही एक सूची होती है, पर इसमें सम्मिलित किए जाने वाले सभी प्रश्न एक प्रकार के नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों

में विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का समावेश एक अनुसूची में हो सकता है जिन्हें कि हम निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) **विमुक्त प्रश्न** (Open end Question)—इस प्रकार के प्रश्नों की विशेषता यह है कि उत्तरदाता को किसी भी तरह से अपने मत को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होती है और इसलिए ऐसे प्रश्नों के उत्तरों में भाषा आदि की कोई समानता नहीं होती है। ऐसे प्रश्नों का प्रयोग प्रायः उत्तरदाता से सुझाव माँगने के लिए किया जाता है और इसीलिए इनके उत्तर काफी लम्बे तथा विविध प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का उदाहरण निम्नवत् है :—

(अ) आप हरिजनों की स्थिति को उन्नत करने के लिए क्या सुझाव देंगे ?

(ब) भारत में एक आदर्श पत्नी को कैसा होना चाहिए ?

(२) **संयोजित प्रश्न** (Structured Question)—जब प्रश्नों के सम्भावित उत्तरों को भी एक सिलसिले से प्रश्न के सामने सजा दिया जाता है और उत्तरदाता को उन्हीं दिए हुए उत्तरों में से एक को अपने उत्तर के रूप में चुनना होता है तो उसे आयोजित प्रश्न कहते हैं। ऐसे प्रश्नों का उत्तर या तो एक निश्चित संख्या होती है अथवा निश्चित वाक्यांश होता है। इस प्रकार के प्रश्नों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि उनका सांख्यिकीय वर्गीकरण, सारिणीयन आदि अत्यन्त सरलता से किया जा सकता है। उत्तर भी प्रश्नों के साथ रहने के कारण उत्तरदाता को उत्तर देने में काफी सहूलियत रहती है। इस प्रकार के प्रश्नों के उदाहरण निम्नलिखित है :—

(अ) आपके कितने बच्चे हैं ? एक/ दो/तीन/चार/···

(ब) आपके बच्चे कहाँ पढ़ते हैं ? नर्सरी/प्राइमरी स्कूल/उच्च माध्यमिक स्कूल/कालेज।

(स) आपके बच्चे किस प्रकार के परिवार के सदस्य हैं ? एकांकी परिवार/ संयुक्त परिवार।

(३) **दोहरे प्रश्न** (Dichotomous Question)—जब किसी प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं और उन उत्तरों को भी अनुसूची में प्रश्नों के सामने लिख दिया जाता है तो उन्हें दोहरे प्रश्न कहते हैं। इन दोहरे प्रश्नों में एक का उत्तर प्रायः सकारात्मक होता है और दूसरे का नकारात्मक। संयोजित प्रश्नों की भाँति इनका भी वर्गीकरण व सारिणीयन सरलता से हो सकता है। दोहरे प्रश्नों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(अ) क्या आप अनुसूचित जाति के सदस्य हैं ? हाँ/नहीं।

(ब) क्या आप अखबार रोज पढ़ते हैं। हाँ/नहीं।

(स) आप कहाँ की बनी चीजों को इस्तेमाल करना पसन्द करते हैं ?- स्वदेशी/विदेशी।

(४) **बहुवैकल्पिक प्रश्न** (Multiple Choice Question)—इस प्रकार के प्रश्नों के साथ कई सम्भावित उत्तर दिए रहते हैं तथा उत्तरदाता को उनमें से कोई एक या एकाधिक उत्तर छाँटना पड़ता है। इस अर्थ में इस प्रकार का प्रश्न संयोजित प्रश्न से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है, पर दोनों में अन्तर केवल इतना है कि संयोजित प्रश्नों में उत्तरदाता को दिए हुए उत्तरों में से केवल एक को ही चुनना पड़ता है जबकि बहुवैकल्पिक प्रश्नों में एकाधिक उत्तरों को भी चुना जा सकता है। इसीलिए बहुवैकल्पिक प्रश्नों के सभी सम्भावित उत्तरों को सावधानीपूर्वक लिख दिया जाता है

और अन्त में एक उत्तर "अन्य कोई" के नाम से और जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार के प्रश्न का एक उदाहरण निम्नवत् है :—

आप अपने वर्तमान पेशे को क्यों पसन्द करते हैं ? आकर्षक वेतन/नौकरी की सुरक्षा/भविष्य में उन्नति की आशा/ऊपरी आमदनी/मालिक द्वारा दी गई सुविधाओं का आकर्षण/अन्य कोई।

(५) निर्देशक प्रश्न (Leading Question)—जब किसी प्रश्न में सूचनादाता को कोई निश्चित उत्तर प्रदान करने के लिए संकेत किया जाता है तो उसे निर्देशक प्रश्न कहते हैं। जहाँ तक सम्भव हो सके इस प्रकार के प्रश्नों से बचना चाहिए क्योंकि जब अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में उत्तर की ओर संकेत करता है तो सूचनादाता स्वभावत: उसी ओर झुक जाते हैं और उनसे वास्तविक सूचना प्राप्त नहीं हो पाती है। निर्देशक प्रश्न के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

(अ) क्या आप इस बात से सहमत हैं कि लड़कियाँ कालेज में ही फैशन करना सीखती हैं ? (व) क्या सरकार के लिए यह उचित न होगा कि अनाज के भाव को तेज होने से रोकने के लिए बड़े-बड़े गल्ला व्यापारियों पर कड़ी निगरानी रखे ?

(६) सन्देहपूर्ण प्रश्न (Ambiguous Question)—जब प्रश्न की भाषा इस प्रकार की होती है कि प्रश्नों के सम्बन्ध में उत्तरदाता के मन में सन्देह उत्पन्न होता है या प्रत्येक सूचनादाता उसका अर्थ अपने-अपने ढंग से लगा सकता है तो उसे सन्देहपूर्ण प्रश्न कहते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों को अनुसूची में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। क्योंकि सन्देहजनक प्रश्न सन्देहजनक उत्तरों को एकत्रित करता है और सन्देहजनक उत्तरों से केवल सन्देहजनक निष्कर्ष ही निकल सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि केवल यह पूछा जाए कि "आपकी आयु क्या है ?" तो यह प्रश्न सन्देहपूर्ण प्रश्न होगा क्योंकि इस प्रश्न को लोग तीन सम्भावित रूपों में समझकर उसका उत्तर दे सकते हैं : (अ) वर्तमान वास्तविक आयु, (ब) पिछले जन्म-दिन पर व्यक्ति की आयु, (स) पिछले जन्म-दिन और वर्तमान समय के बीच एक अनुमानित आयु। अत: स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रश्नों से एक ही प्रकार के प्रामाणिक उत्तर प्राप्त नहीं होते हैं।

(७) अस्पष्ट प्रश्न (Vague Question)—जब कोई प्रश्न किसी निर्दिष्ट उत्तर को प्राप्त करने में असफल रहता है तो उसे अस्पष्ट प्रश्न कहते हैं। उदाहरणार्थ, यह पूछना कि "क्या आप सुशिक्षित हैं ?"—एक अस्पष्ट प्रश्न है। इसकी अपेक्षा यह पूछना अधिक उचित है कि "आपने कहाँ तक शिक्षा प्राप्त की है ?" इसी प्रकार यह पूछना कि "आपके मकान की दशा कैसी है ?"—एक अस्पष्ट प्रश्न है। पूछना चाहिए, "आपके मकान में हवा, रोशनी, बरामदा, आँगन, पाखाना, स्नानगृह आदि की व्यवस्था है अथवा नहीं ?"

(८) श्रेणीबद्ध प्रश्न (Ranking Item Question)—जब उत्तरदाता को किसी प्रश्न के दिए हुए सम्भावित उत्तरों में से एक-दो उत्तरों को नहीं अपितु सभी उत्तरों को चुनना तथा उन्हें अपनी पसन्द के अनुसार एक क्रम से सजा देना होता है तो उसे श्रेणीबद्ध प्रश्न कहते हैं। इस प्रकार के प्रश्नों में अनुसूची में छपे हुए उत्तरों के क्रम का बहुत प्रभाव पड़ता है।

किस प्रकार के प्रश्नों को सम्मिलित करना चाहिए
(What Type of Questions are to be included)

एक अनुसूची में किस प्रकार के प्रश्नों को सम्मिलित किया जाएगा यह बहुत-कुछ निर्भर करता है अध्ययन की प्रकृति तथा उद्देश्य, उत्तरदाताओं के स्वभाव, कार्यकर्त्ताओं की योग्यता तथा सूचना की जाँच की सुविधाओं पर। पर सामान्य रूप से किसी भी प्रश्न को अनुसूची में स्थान देने से पूर्व यह सोच लेना चाहिए कि उससे अध्ययन के उद्देश्य के अनुकूल स्पष्ट, सांख्यिकीय विवेचना के योग्य तथा प्रामाणिक उत्तर ही प्राप्त हों। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन प्रश्नों को अनुसूची में सम्मिलित किया जा रहा है उनमें निम्नलिखित विशेषताएँ भी हों :—

(१) प्रश्न छोटे, सरल तथा उत्तर देने में सहज हों। पर प्रश्न इतना छोटा न हो कि उससे कोई अर्थ ही न निकाल सके।

(२) प्रश्न सूचनादाता के ज्ञानस्तर से सम्बन्धित होना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक मिल के साधारण श्रमिक से मिल के आय-व्यय के सम्बन्ध में प्रश्न करना निरर्थक है।

(३) प्रश्न सारिणीयन के योग्य हो। इससे अध्ययन में अधिकाधिक वैषयिकता पनपती है और वर्णनात्मक विवरण से बचा जा सकता है।

(४) अनुसन्धान के उद्देश्य से सम्बन्धित प्रश्नों को ही अनुसूची में सम्मिलित करना चाहिए। जो भी प्रश्न इस प्रकार का नहीं है उससे बचना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों से अनुसूची बोझिल हो जाती है और अनावश्यक सूचनाएँ एकत्रित हो जाती हैं।

(५) यदि प्रत्यक्ष प्रश्नों से सही उत्तर पाने की आशा न हो तो अप्रत्यक्ष (indirect) प्रश्नों को पूछना चाहिए। "क्या आप नास्तिक हैं ?" यह प्रश्न पूछने के स्थान पर अच्छा हो कि यह पूछा जाए—"क्या आप मन्दिर जाते हैं ?"

(६) प्रश्न एक-दूसरे से सम्बन्धित और सम्पूर्ण क्रम में एक-दूसरे के पूरक हों। उदाहरणार्थ, यदि हम एक स्थान पर मकान के सम्बन्ध में प्रश्न कर रहे हैं तो अनुसूची के उस भाग में मकान से सम्बन्धित सभी प्रश्नों को ऐसे क्रम से रखना चाहिए कि उन सबके उत्तर एकसाथ मिलकर मकान का एक सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर सकें।

(७) ऐसे प्रश्न भी दिए जाने चाहिएँ जिनसे एक प्रश्न के उत्तर की, दूसरे प्रश्न या प्रश्नों के उत्तर की सहायता से, जाँच की जा सके। जैसे आय के साथ-साथ व्यय, बचत और ऋण सम्बन्धी सूचनाएँ भी प्राप्त करने के लिए प्रश्न पूछे जाने चाहिएँ।

(८) जो प्रश्न व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित नहीं हैं तथा पक्षपातरहित हैं, ऐसे प्रश्नों को पूछना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसे पक्ष होते हैं जहाँ पर कि वह किसी भी बाहर वाले का प्रवेश सहन नहीं करता। यदि ऐसे प्रश्न पूछे गए तो सूचनादाता यथार्थ स्थिति को छिपाने का प्रयत्न करेगा। इसलिए गुप्त जीवन से सम्बन्धित सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए अप्रत्यक्ष प्रश्नों का प्रयोग करना चाहिए।

(९) अनुसूची के प्रश्न ऐसे होने चाहिएँ जिनका उत्तर देने के लिए लिखने का काम कम से कम करना पड़े। अतः यदि उत्तरों में व्यवस्था व संक्षिप्तता लानी

हो तो उत्तर चेकमार्क (✓), क्रास मार्क (×) अथवा संख्या में अथवा 'हां' या 'नहीं' में लिखने योग्य ही प्रश्न होने चाहिएँ।

(१०) जब विचारों अथवा भावनाओं से सम्बन्धित प्रश्न करना हो तो 'क्यों, क्या, कब, कैसे' वाले प्रश्न भी कर लेना चाहिए जिससे उन विचारों अथवा भावनाओं की पृष्ठभूमि का भी पता लग जाए।

किस प्रकार के प्रश्नों को सम्मिलित नहीं करना चाहिए
(What Type of Questions are not to be included)

कुछ इस प्रकार के भी प्रश्न होते हैं जो कि गलत, अस्पष्ट या अधूरी सूचनाओं को ही एकत्रित करते हैं। ऐसी सूचनाओं से कोई लाभ नहीं होता अपितु भटक जाने की आशा होती है। अतः इस प्रकार के प्रश्नों से बचना चाहिए—

(१) अनुसूची में सन्देहपूर्ण (ambiguous) प्रश्नों को सम्मिलित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर भी भ्रम उत्पन्न करने वाले होते हैं और प्रत्येक उत्तरदाता का उत्तर भी अलग-अलग होता है।

(२) उसी प्रकार अनिर्दिष्ट या अस्पष्ट (vague) प्रश्नों को भी अनुसूची में स्थान नहीं देना चाहिए। "अपने मोहल्ले में क्या आप अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं?"—एक अस्पष्ट प्रश्न है क्योंकि सुरक्षा की प्रकृति व सीमा के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। अतः ऐसे प्रश्नों को और भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।

(३) निर्देशक (leading) प्रश्नों से भी यथासम्भव बचना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों में उत्तर का संकेत भी होता है और सूचनादाता उसी संकेत के अनुसार उत्तर देते हैं। इससे वास्तविकता का पता नहीं चलता है।

(४) बहुअर्थक प्रश्नों को भी अनुसूची में सम्मिलित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर में कदापि प्रामाणिकता की आशा ही नहीं की जा सकती।

(५) प्राक्कल्पनात्मक प्रश्नों (hypothetical questions) से भी बचने की आवश्यकता होती है। जैसा कि यह पूछना अनुपयुक्त है, "क्या आप अपनी गिरी हुई आर्थिक स्थिति को उन्नत करना चाहेंगे?" ऐसा भला कौन होगा जो ऐसा करना नहीं चाहेगा, अतः यह प्रश्न व्यर्थ का ही है।

(६) व्यक्ति के गुप्त जीवन सम्बन्धी प्रश्नों को प्रत्यक्ष तौर पर कभी न पूछना चाहिए। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से या तो सूचनादाता साफ इनकार कर देगा अथवा वास्तविकता को छिपाकर उत्तर देगा। "क्या आप वेश्यागमन के आदी हैं?" क्या आप घूस लेते हैं?" "क्या आपके परिवार में कोई अपराधी है?" आदि प्रश्नों से बचना चाहिए।

(७) बहुत लम्बे तथा जटिल प्रश्नों को भी अनुसूची में स्थान नहीं देना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों को उत्तरदाता सरलता से समझ नहीं पाता है और इसीलिए जैसा समझ में आता है उसी के अनुसार जो कुछ भी उत्तर वह देता है वह वास्तविक सूचना नहीं होती है।

(८) उत्तरदाता को असमंजस में डालने वाले प्रश्नों से भी सदा बचना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि दफ्तर के एक कर्मचारी से यह पूछा जाए कि "क्या आपने अपने अफसर को घूस लेते हुए देखा है?" तो प्रश्न उसे असमंजस में डाल देगा क्योंकि वह यह निश्चित नहीं कर पाएगा कि सच कहना उचित होगा अथवा नहीं।

(९) यदि कोई सूचना अन्य निर्भरयोग्य साधन से प्राप्त हो सकती है तो उससे सम्बन्धित प्रश्नों को भी अनुसूची में सम्मिलित नहीं करना चाहिए क्योंकि निरीक्षण आदि के द्वारा प्राप्त सूचनाएँ अधिक निर्भरयोग्य होती हैं।

(१०) उन प्रश्नों को भी अनुसूची में सम्मिलित नहीं करना चाहिए जो कि अनुसन्धान के उद्देश्य से स्पष्टत: सम्बन्धित न हों क्योंकि इस प्रकार के उद्देश्यविहीन प्रश्नों से अध्ययन का तो कुछ भला नहीं होता, केवल धन, समय व परिश्रम का ही अपव्यय मात्र होता है।

(११) समाज में सर्वमान्य या स्वीकृत आदर्शों से सम्बन्धित प्रश्नों से भी बचना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर में लोग प्राय: वही कहते हैं जो कि सर्वमान्य आदर्शों के अनुकूल है। उदाहरणार्थ, यदि आप यह पूछते हैं कि "वेश्यावृत्ति समाज के लिए अच्छी है या बुरी ?" तो इसके उत्तर में अधिकतर लोग वेश्यावृत्ति को बुरा ही कहेंगे क्योंकि यही स्वीकृत आदर्श है।

अनुसूची द्वारा सूचना प्राप्ति
(Collecting Information through Schedule)

केवल अनुसूची को बना लेने से ही ठीक-ठीक सूचनाएँ या तथ्य एकत्रित नहीं हो जाते हैं इसके लिए तो आवश्यक संगठन व सावधानी बरतने की भी आवश्यकता है। अनुसूची द्वारा सूचना की प्राप्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि सूचनादाता से हमारा साक्षात्कार सफल हो। इस अर्थ में साक्षात्कार अनुसूची द्वारा सूचना प्राप्ति का एक आधार है। फिर भी अनुसूची के द्वारा सूचना प्राप्त करने के लिए कुछ स्तरों में से गुजरना आवश्यक हो जाता है जिसे कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) **उत्तरदाताओं का चुनाव** (Selection of Respondents)—अनुसूची का निर्माण कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि उन लोगों का चुनाव कर लिया जाए जिनसे कि साक्षात्कार करके अनुसूची भरने का काम करना है। यह चुनाव जनगणना-पद्धति अथवा निदर्शन-प्रणाली के आधार पर किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि या तो हम अध्ययन किए जाने वाले समुदाय या समूह के सभी व्यक्तियों से साक्षात्कार करके अनुसूची भर सकते हैं अथवा उस समग्र (universe) में से जिन्हें निदर्शन (sample) के रूप में चुना गया है उनसे साक्षात्कार कर अनुसूची के माध्यम से सूचना प्राप्त करते हैं। कुछ भी हो जिनसे साक्षात्कार करना है उनके नाम, पता आदि की एक सूची पहले से ही तैयार कर लेनी चाहिए ताकि उनका पता लगाने में सरलता हो और चुने गए कोई भी व्यक्ति छूट न जाएँ।

(२) **कार्यकर्त्ताओं का चुनाव** (Selection of Investigators)—यदि अध्ययन का क्षेत्र बहुत छोटा है तो स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता ही चुने हुए व्यक्तियों से साक्षात्कार कर सूचना को प्राप्त करता है, पर यदि कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत है तो इस काम के लिए एकाधिक कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है। इन कार्यकर्त्ताओं का चुनाव भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिए, साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि केवल ईमानदार, परिश्रमी, सुशिक्षित, योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति ही इस काम के लिए चुने जाएँ। यदि ऐसा नहीं किया गया तो ये कार्यकर्त्ता लापरवाही से काम लेते हैं और या तो वास्तविक साक्षात्कार किए बिना ही कुछ अनुसूचियों को स्वयं ही भर लेते हैं अथवा साक्षात्कार करके केवल आसान-आसान कुछ प्रश्नों का उत्तर उत्तरदाताओं से पूछकर बाकी प्रश्नों के उत्तर उसी आधार पर स्वयं लिख देते हैं।

(३) **कार्यकर्त्ताओं का प्रशिक्षण** (Training of Investigators)—अनुसूची को भरने के लिए कार्यकर्त्ताओं को अध्ययन-क्षेत्र में भेजने से पहले यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें उस काम के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित कर दिया जाए। कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए या तो कुछ गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं अथवा अल्पकालीन प्रशिक्षण शिविर (Training Camp) का प्रबन्ध किया जाता है। इस प्रशिक्षण प्रक्रिया के निम्नलिखित चरण होते हैं—(अ) सबसे पहले कार्यकर्त्ताओं को अध्ययन-विषय की प्रकृति, क्षेत्र तथा उद्देश्य को समझाया जाता है। (ब) इसके पश्चात् प्रत्येक को आवश्यक संख्या में अनुसूचियाँ दे दी जाती हैं। (स) इसके बाद प्रशिक्षण देने वाला स्वयं एक अनुसूची को लेकर आरम्भ से अन्त तक एक-एक प्रश्न को पढ़ता है, उसके प्रत्येक शब्द को समझाता है तथा सम्पूर्ण प्रश्न का स्पष्टीकरण करता है। (द) इसके पश्चात् कार्यकर्त्ताओं को यह समझाया जाता है कि किस प्रकार अनुसूची भरनी चाहिए और इसके लिए किन-किन चिह्नों (signs) आदि का प्रयोग करना चाहिए। (य) यदि अनुसूची में कोड नम्बरों तथा संकेताक्षरों की व्यवस्था की गई है तो उनके बारे में भी कार्यकर्त्ताओं को समझा दिया जाता है। (र) इसके पश्चात् कार्यकर्त्ताओं को साक्षात्कार करने की विधि को समझा दिया जाता है और उन्हें पहले से ही यह बता दिया जाता है कि साक्षात्कार करते समय उन्हें सम्भवतः किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और उन्हें दूर करने के क्या उपाय हैं। (ल) साक्षात्कार से साधारणतया किस प्रकार की सूचना प्राप्त होने की सम्भावना है इसके सम्बन्ध में भी कार्यकर्त्ताओं को पूर्वज्ञान करवा देना होता है। (व) अन्त में कार्यकर्त्ताओं को वास्तविक अध्ययन-क्षेत्र में काम करने के लिए छोड़कर उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण देना होता है और इस दौरान में यह ध्यान रखना होता है कि वे अपने काम में लापरवाही तो नहीं कर रहे हैं। लापरवाह व्यक्तियों को आरम्भ में ही निकाल देना उचित होता है।

(४) **सूचना संकलन** (Collection of Data)—कार्यकर्त्ताओं को आवश्यक प्रशिक्षण देने के पश्चात् उन्हें क्षेत्र में सूचना संकलन के लिए भेज दिया जाता है। ये कार्यकर्त्ता उत्तरदाता से साक्षात्कार करके अनुसूची को भरने का वास्तविक कार्य आरम्भ करते हैं। पर इसके लिए भी निम्नलिखित क्रमिक प्रक्रिया करनी पड़ती है—

(क) **उत्तरदाता से सम्पर्क** (Contacting the Respondent)—उत्तरदाता से सम्पर्क स्थापित करने की प्रकृति साक्षात्कार की सफलता या विफलता को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण होती है। यदि आरम्भ में ही अनुसन्धानकर्त्ता के प्रति उत्तरदाता के मन में कोई प्रतिकूल भावना पनप जाती है तो फिर उससे सूचना प्राप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः प्रथम साक्षात्कार खूब समझ बूझकर, अवसर देखकर तथा उचित ढंग से करना चाहिए। अपनी व्यवहार-कुशलता, नम्रता और प्रभावपूर्ण भाषा आदि के द्वारा आरम्भ में ही अनुसन्धानकर्त्ता को एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देनी होती है कि उत्तरदाता प्रथम साक्षात्कार में ही उत्तर देने से इनकार न कर सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि अनुसन्धानकर्त्ता को उत्तरदाता का स्वभाव, पेशा, कर्म-व्यस्तता, खाली समय आदि के विषय में कुछ प्रारम्भिक ज्ञान हो। प्रश्न उससे तभी पूछना चाहिए जबकि वह व्यस्त न हो, थका न हो, घर में आराम कर रहा हो अथवा अपने विशिष्ट-मित्रों के साथ बातचीत कर रहा हो। वह खाली हो और साथ ही प्रसन्न-चित्त भी हो और उस फुर्सत के समय में अनुसन्धानकर्त्ता को कुछ समय देने के लिए राजी हो; ऐसे अवसर पर प्रश्न पूछना लाभदायक सिद्ध होता है।

उत्तरदाता कब समय दे सकेंगे यह पूछ लेने पर अर्थात् पहले से समय ले लेने पर भी उत्तरदाता का अच्छा सहयोग मिल जाता है और प्रारम्भिक परिचय की समस्या भी हल हो जाती है। कभी-कभी किसी प्रभावशाली व्यक्ति अथवा उत्तरदाता के किसी मित्र के द्वारा परिचय करवा देने पर भी उत्तरदाता का सहयोग सरलता से प्राप्त हो जाता है।

(ख) साक्षात्कार (Interview)—सूचनादाता से सम्पर्क स्थापित कर लेने के पश्चात् वास्तविक साक्षात्कार आरम्भ होता है जो स्वयं सरल कार्य नहीं होता है। इस साक्षात्कार के दौरान में अनुसन्धानकर्त्ता को केवल एक के बाद दूसरे प्रश्न की झड़ी न लगा देनी चाहिए बल्कि बीच-बीच में कुछ इधर-उधर की बातें करके भी उत्तरदाता की रुचि को जागृत रखना चाहिए। कोई-कोई अत्यन्त अनुभवी अनुसन्धानकर्त्ता तो मौका समझकर हँसी-मजाक के बीच-बीच प्रश्नों के उत्तरों को ऐसी सफाई से जान लेते हैं कि उत्तरदाता के लिए वह साक्षात्कार एक बोझ न बनकर एक स्मरणीय घटना बन जाती है और वे अनुसन्धानकर्त्ता को फिर आने का अनुरोध करते हैं। हर अवस्था में यद्यपि हँसी-मजाक फलप्रद सिद्ध नहीं होता है फिर भी किसी न किसी रूप में साक्षात्कार को सजीव बनाने में अनुसन्धानकर्त्ता जिस सीमा तक सफल होता है उसी सीमा तक उसे सही उत्तर भी प्राप्त होते हैं।

(ग) सूचना प्राप्ति (Getting Information)—साक्षात्कार के दौरान में सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि सही उत्तर देने के लिए उत्तरदाता को किस प्रकार आदि से अन्त तक सचेत रक्खा जाए। प्रायः यह देखा जाता है कि यदि आरम्भ में ही अनुसन्धानकर्त्ता उत्तरदाता के मन में विश्वास उत्पन्न करने में सफल होता है तो सही उत्तर पाना भी बहुत कठिन नहीं होता है। फिर भी यह आवश्यक है कि इस समय अनुसन्धानकर्त्ता अत्यन्त सतर्कता व सावधानी बरते और इस बात का ध्यान रखे कि उत्तर देते हुए उत्तरदाता का उद्देश्य कहीं अनुसन्धानकर्त्ता को टालना तो नहीं है। यदि किसी भी स्तर पर उसे यह पता लगे कि उत्तरदाता सही सूचना नहीं दे रहा है तो प्रश्नों को पूछना उस समय के लिए बन्द कर देना चाहिए और कोई कारण दर्शाकर फिर कभी साक्षात्कार का समय निश्चित करना चाहिए। कभी-कभी यथार्थ सूचना इसलिए भी नहीं मिलती है कि किन्हीं-किन्हीं प्रश्नों को उत्तरदाता ठीक से समझ नहीं पाता है अतः यह आवश्यक है कि उत्तरदाता को प्रश्नों की अधिक-से-अधिक स्पष्ट व्याख्या अथवा अर्थ समझा देना चाहिए ताकि किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में उसके मन में किसी प्रकार का भी संदेह न रह जाए।

(५) अनुसूचियों की जाँच (Checking of Schedules)—जब अनुसन्धान-कार्य बड़े पैमाने में होता है तो विभिन्न कार्यकर्त्ता अपनी-अपनी अनुसूचियों को भरकर मुख्य अनुसन्धानकर्त्ता के पास भेज देते हैं। इस प्रकार से प्राप्त अनुसूचियों की एक बार फिर से अच्छी तरह जाँच कर लेना अति आवश्यक होता है। इस जाँच के लिए अनुसन्धानकर्त्ता प्रत्येक कार्यकर्त्ता के द्वारा भेजी गई अनुसूचियों में से कुछ अनुसूचियों को निदर्शन के रूप में छाँट लेता है; और स्वयं अध्ययन-क्षेत्र में जाकर भरे हुए प्रश्नों की जाँच करता है। यदि इस जाँच द्वारा प्राप्त उत्तर पहले संकलित उत्तरों से बहुत ज्यादा भिन्न प्रतीत होते हैं तो सम्पूर्ण संकलित सूचना को रद्द कर देना चाहिए और नए सिरे से पुनः सूचना एकत्रित करवाने की व्यवस्था करवानी चाहिए। पर यदि जाँच से प्राप्त उत्तर और पूर्वसंकलित उत्तरों में केवल थोड़ा-बहुत अन्तर है तो वह समय के परिवतन का परिणाम भी हो सकता है—यह मानकर पूर्वसंकलित सूचनाओं

को ही स्वीकार कर लेना चाहिए। पर इस प्रकार की दुवारा जाँच करने में वहुत अधिक विलम्व नहीं करना चाहिए। अतः कार्यकर्त्ताओं को यह चाहिए कि अनुसूचियों को अपने पास इकट्ठा करने के वजाय थोड़ा-थोड़ा करके मुख्य अनुसन्धानकर्त्ता के पास भेजते जाएँ जिससे कि साथ-साथ अनुसूचियों की जाँच होती रहे।

(६) **अनुसूची का सम्पादन** (Editing of Schedule)—अनुसूचियों की जाँच कर लेने के पश्चात् अनुसूचियों के सम्पादन का कार्य करना पड़ता है जो कि किसी भी अर्थ में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सम्पादन-कार्य में निम्नलिखित प्रक्रियाएँ होती हैं—

(अ) **अनुसूचियों को व्यवस्थित करके रखना**—जव भरी हुई अनुसूचियाँ वापिस आ जाती हैं तो उन्हें व्यवस्थित ढंग से लगा लेना आवश्यक हो जाता है जिससे कि आगे चलकर तथ्यों का वर्गीकरण, सारिणीयन आदि कार्यों में सफलता हो। अनुसूचियों को व्यवस्थित करने के लिए उनका वर्गीकरण आवश्यक होता है। यह वर्गीकरण कार्यकर्त्ताओं के आधार पर कर लिया जाता है और प्रत्येक कार्यकर्त्ताओं के द्वारा भेजी गई अनुसूचियों की अलग-अलग फाइल वना ली जाती है और प्रत्येक फाइल पर एक चिट लगा दी जाती है जिसपर कार्यकर्त्ता का नाम, क्षेत्र के कुल उत्तरदाताओं की संख्या, जिन उत्तरदाताओं से वास्तविक रूप से सूचना प्राप्त हुई है उनकी संख्या तथा जिनसे नहीं हुई है उनकी संख्या आदि लिख दी जाती है। जिन अनुसूचियों की फिर से जाँच की गई है उन्हें भी विशेष रूप से चिह्नित करके मूल अनुसूची के साथ नत्थी कर देना चाहिए।

(ब) **प्रविष्टियों की जाँच**—सम्पादक का दूसरा कार्य प्रत्येक अनुसूची के प्रत्येक प्रश्न के उत्तरों के खानों की जाँच करना है। अर्थात् सम्पादक को यह देख लेना होता है कि सभी खाने ठीक-ठीक भरे हैं या नहीं। यदि कोई खाना छूट गया है या कोई उत्तर गलत स्थान पर लिखा गया है अथवा अन्य कोई त्रुटि हो गई है तो सम्पादक को आवश्यक कार्यवाही करके उस त्रुटि को दूर करने का प्रयत्न करना होता है। यदि अशुद्धि को वह स्वयं ठीक कर सकता है तो उसे ठीक कर देता है, पर किसी भी विषय में तनिक भी सन्देह होने पर वह अनुसूची को सम्वन्धित कार्यकर्त्ता को लौटा देता है और यह निर्देश देता है कि फिर से उत्तरदाता से मिलकर वास्तविक सूचना को प्राप्त कर ले।

(स) **गन्दी तथा खराब लिखी अनुसूचियों का पुनरुद्धार**—आवश्यक सावधानी वरतने पर भी कुछ अनुसूचियाँ वहुत ही गन्दी लिखावट में लिखी होती हैं, अथवा पेन्सिल से लिखे होने के कारण स्पष्टतया पढ़ने में नहीं आतीं। यह भी हो सकता है कि कार्यकर्त्ता ने स्वयं अपने संक्षिप्त शब्द लिखे हों तथा बाद में उन्हें ठीक करना भूल गया हो, इस प्रकार की सभी अनुसूचियों को दुबारा लिखने की व्यवस्था करनी होती है जिससे वर्गीकरण या सारिणीयन में सुविधा हो। यदि कोई लिखावट विल्कुल ही समझ में नहीं आ रही है अथवा अनुसूची बहुत ही बुरी तरह से फट गई हो तो उसी कार्यकर्त्ता के पास फिर से भेज दी जाती है जिससे कि वास्तविक सूचना ठीक-ठीक प्राप्त की जा सके।

(द) **संकेतन**—सारिणीयन के कार्य को सरल वनाने के लिए सम्पादक को संकेतन अर्थात् कोड नम्वर डालने का कार्य भी करना पड़ता है। इसके अन्तर्गत समस्त उत्तरों का कुछ निश्चित भागों में वर्गीकरण करना आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक वर्ग का एक नम्वर होता है जो उत्तर के स्थान पर डाल दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को उसके व्यवसाय के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है

तो वह उत्तर में (१) नौकरी, (२) स्वतन्त्र व्यापार, (३) खेती-बारी, (४) स्वतन्त्र पेशा जैसे डाक्टर, वकील आदि का उल्लेख कर सकता है। प्रत्येक प्रकार के उत्तर के लिए एक नम्बर निश्चित किया जा सकता है और संकेतन कार्य के अन्तर्गत सम्पादक यही करता है।

अनुसूची की उपयोगिता
(Importance or Utility of Schedule)

अनुसूची को सामाजिक अनुसन्धान की एक अत्यन्त उपयोगी प्रविधि माना जाता है क्योंकि इसके निम्नलिखित गुण, उपयोगिता या महत्त्व है :—

(१) **यथार्थ तथा ठोस सूचनाओं की प्राप्ति**—अनुसूची के प्रयोग द्वारा अध्ययन-विषय से सम्बन्धित ठोस एवं यथार्थ सूचनाएँ एकत्रित की जा सकती हैं। क्योंकि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता सूचना को एकत्रित करने के साथ-साथ तथ्यों का वास्तविक निरीक्षण भी करता जाता है। अतः उसे सत्य को ढूँढ़ने और असत्य को त्याग देने का अवसर मिलता है। इस प्रकार समग्र के बारे में अनुसन्धानकर्त्ता को पूर्ण व सही सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

(२) **प्रश्नों का स्पष्ट तथा वास्तविक उत्तर**—अनुसूची द्वारा अध्ययन करने का दूसरा प्रमुख लाभ यह है कि इसके द्वारा प्रश्नों का स्पष्ट एवं वास्तविक उत्तर प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उत्तर प्राप्त करते समय उत्तरदाता के पास स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता होता है और किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में कोई भी अस्पष्टता व सन्देह होने पर अनुसन्धानकर्त्ता से उसका स्पष्टीकरण प्राप्त हो जाता है। अनुसन्धानकर्त्ता का एक प्रमुख कार्य प्रश्नों को सही अर्थ में समझाना होता है जिसके फलस्वरूप प्रश्नों का स्पष्ट एवं सही उत्तर भी सम्भव होता है।

(३) **व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण संकोच आदि का निराकरण**—कभी-कभी उत्तरदाताओं से इसलिए भी सही उत्तर प्राप्त नहीं हो पाता है कि उत्तरदाता के मन में कोई भ्रम, सन्देह, संकोच का भय घर कर गया है। अनुसूची-प्रविधि में इनका निराकरण इसलिए सम्भव होता है कि अनुसन्धानकर्त्ता व्यक्तिगत रूप में उपस्थित रहता है और वास्तविक परिस्थिति को समझाकर भय, सन्देह, भ्रम आदि को दूर कर सकता है। साथ ही साथ व्यक्तिगत रूप से उपस्थित रहने पर उत्तरदाता के मन में विश्वास पनपता है और वास्तविक सूचनाएँ प्राप्त करने में बहुत मदद मिलती है। व्यक्तिगत सम्पर्क से निकटता का अनुभव होने लगता है और उत्तरदाता कोई बात छिपाने का प्रयत्न नहीं करता है।

(४) **अनुसन्धानकर्त्ता के व्यक्तित्व का पूरा-पूरा लाभ**—अनुसूची-प्रविधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता उत्तरदाताओं पर अपने व्यक्तित्व का पूरा प्रभाव डाल सकता है। वह इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न कर सकता है कि वास्तविकता को छिपाना उत्तरदाता के लिए वास्तव में कठिन हो जाए। व्यक्तित्व के प्रभाव से उत्तरदाता अनुसन्धान में विशेष रुचि भी ले सकता है और साथ ही ऐसी गुप्त बातों को भी बताने में संकोच नहीं करता जो कि अन्य परिस्थिति में वह कभी किसी से न कहता।

(५) **अनुसन्धानकर्त्ता की अवलोकन शक्ति में वृद्धि**—अनुसूची के उपयोग द्वारा अनुसन्धानकर्त्ता की निरीक्षण शक्ति में अत्यधिक वृद्धि होती है। एक ही प्रकार के प्रश्नों को विभिन्न व्यक्तियों से पूछने और उनके विभिन्न उत्तरों के लिखने से अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में उसकी अन्तर्दृष्टि बढ़ती जाती है और यह अन्तर्दृष्टि

निरीक्षण की शक्ति में वृद्धि करती है।

(६) तथ्यसंग्रह की प्रक्रिया को संक्षिप्त करता है—अनुसूची को स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता भरता है और उत्तर भरने के इस काम में वह सांकेतिक शब्दों का भी प्रयोग कर सकता है। इससे अनेक प्रश्नों का उत्तर बहुत कम समय में मिल जाता है और तथ्य संकलन की प्रक्रिया संक्षिप्त हो जाती है।

(७) लेखबध्य सामग्री— अनुसूची का एक उल्लेखनीय लाभ यह है कि जो कुछ भी तथ्य इसके द्वारा एकत्रित होता है वह सब लिखित रूप में हमारे पास संरक्षित रहता है और किसी भी अवस्था में हमें अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति पर विश्वास नहीं करना पड़ता है। साथ ही साथ प्रश्नों की अनुसूची पहले से ही बनी रहने के कारण कोई भी आवश्यक सूचना छूट जाने का कोई भय नहीं रहता।

(८) अधिक प्रत्युत्तर—अनुसूची का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इस प्रविधि का प्रयोग करने पर लोगों से मिलने वाले उत्तरों का प्रतिशत बढ़ जाता है। डाक द्वारा भेजी गई प्रश्नावलियों में से अनेक प्रश्नावलियों को उत्तरदाता भरकर लौटाते ही नहीं हैं। पर चूंकि अनुसूची-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता व्यक्तिगत रूप में उपस्थित रहता है इसलिए उत्तरदाता उतना ज्यादा टाल नहीं पाते हैं। और इस प्रकार अधिक से अधिक अनुसूचियों को भरना सम्भव हो जाता है।

(९) अन्त में अनुसूची-प्रविधि में मानवीय तथ्य आरम्भ से अन्त तक छाया हुआ होता है जिसके कारण सूचना एकत्रित करने की प्रक्रिया अधिक सरस, रोचक तथा आकर्षक हो जाती है। इसका कारण यह है कि इस प्रविधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता और उत्तरदाता एक-दूसरे के निकट आते हैं और एक-दूसरे की उपस्थिति से कुछ लेते और कुछ देते हैं। यह लेन-देन की प्रक्रिया वास्तविक अनुसन्धान को एक मानवीय अनुसन्धान बनाने में सहायक होती है।

अनुसूची की सीमाएँ
(Limitations of Schedule)

उपरोक्त अनेक गुण होने के बावजूद भी अनुसूची-प्रविधि की अपनी कुछ सीमाएँ हैं जिन्हें कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :—

(१) सार्वभौमिक प्रश्नों की समस्या—अनुसूची को बनाते समय सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि विषय से सम्बन्धित सार्वभौमिक प्रश्नों को किस प्रकार रक्खा जाए या उनका निर्माण किया जाए। यहाँ सार्वभौमिक प्रश्नों से तात्पर्य उन प्रश्नों से है जिनका कि सभी उत्तरदाता एक ही अर्थ लगाएँगे और उसके यथार्थ अर्थ को समझकर सही उत्तर देंगे। इस प्रकार के प्रश्नों का निर्माण अत्यन्त कठिन है।

(२) सीमित क्षेत्र—अनुसूची के द्वारा बहुत विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें सूचना एकत्रित करने के लिए उसे सूचनादाता के पास व्यक्तिगत रूप से जाना पड़ता है। सीमित साधनों के द्वारा सीमित क्षेत्र में ही अध्ययन किया जा सकता है। अतः विस्तृत अध्ययन के लिए अनुसूची बेकार सिद्ध होती है।

(३) अत्यधिक महँगी—अनुसूची-प्रविधि अत्यधिक महँगी होती है क्योंकि साक्षात्कार की व्यवस्था करने, सूचना एकत्रित करने, कार्यकर्त्ताओं को रखने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने में काफी धन व्यय करना पड़ता है जो कि सामान्यतया लोग नहीं कर पाते हैं।

(४) **सम्पर्क की समस्या**—आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति हर समय किसी न किसी व्यक्तिगत कार्य में उलझा रहता है। उसकी कार्यव्यस्तता आज बहुत बढ़ गई है इसीलिए अनुसूची भरने के लिए वह अनुसंधानकर्त्ता को प्राय: समय नहीं दे पाता है और यदि देता भी है तो जल्दी से जल्दी अनुसन्धानकर्त्ता को टालने का प्रयत्न करता है। सम्पर्क की समस्या उस समय और भी गम्भीर हो जाती है जबकि अनुसूची बहुत लम्बी होती है और अधिकांशत: ऐसा ही होता है।

(५) **मिथ्या-झुकाव का पनपना**—उत्तर देते समय अनुसन्धानकर्त्ता की उपस्थिति मिथ्या-झुकाव को पनपाने में सहायक होती है। प्राय: उत्तरदाता वही उत्तर देता है जो कि उसकी समझ में अनुसन्धानकर्त्ता उससे आशा करते हैं। कभी-कभी तो कार्यकर्त्ता स्वयं ही उत्तर देने में सूचनादाता की सहायता करते जाते हैं और उस अवस्था में सूचनादाता ठीक-ठीक राय प्रकट करने के स्थान पर अनुसन्धानकर्त्ता के सुझावों की ओर अधिक झुक जाता है; इससे वास्तविक सूचनाएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं और अनुसन्धान के निष्कर्ष पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

अनुसूची के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Schedule)

अनुसूचियों की वास्तविक प्रकृति को और भी स्पष्ट रूप में समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ बनी-बनाई अनुसूचियों को यहाँ प्रस्तुत करें। इस प्रकार की कुछ अनुसूचियाँ इस प्रकार हैं :—

उदाहरण नं० १ :

साक्षात्कार अनुसूची

रबर फैक्ट्री के श्रमिकों का एक सामाजिक-आर्थिक अध्ययन

सामान्य

(क) क्रम संख्या.........
(ख) स्थान............
(ग) दिनांक............
(घ) समय..............
(ङ) नाम...............
(च) आयु...............
(छ) जाति..............
(ज) धर्म...............
(झ) शिक्षा-स्तर.........
(ञ) वैवाहिक स्थिति—विवाहित / अविवाहित / विधवा / विधुर / तलाक प्राप्त
(ट) आप फैक्ट्री में किस पद पर काम कर रहे हैं.........
(ठ) आप कहाँ के रहने वाले हैं—प्रान्त............शहर...............जिला........

आवास की दशाएँ

१. आपका मकान किस प्रकार का है ? कच्चा/पक्का/अर्द्धपक्का
२. आप किस प्रकार के मकान में रहते हैं ? सरकार द्वारा प्रदान किए गए मकान में/मिल-मालिकों द्वारा प्रदान किए गए मकान में/निजी मकान में/किराए के मकान में
३. आपके मकान में कमरों की संख्या कितनी है ?.........
४. जिस मकान में आप रहते हैं, उसमें हवा, पानी, रोशनी आदि की कैसी व्यवस्था है ? सामान्य/खराब/अच्छी
५. आपके मकान में टूट-फूट की मरम्मत किसके द्वारा करवाई जाती है ? सरकार द्वारा/मिल-मालिकों द्वारा/मकान-मालिक द्वारा/स्वयं के द्वारा

आर्थिक दशा

६. आपकी प्रतिमाह आमदनी कितनी है ?......
   (अ) मुख्य व्यवसाय से आय......
   (ब) अन्य सहायक आय.......
७. प्रतिमाह आप किन-किन वस्तुओं पर कितना-कितना रुपया व्यय करते हैं ?

खर्च की मदें	रुपये
(क) भोजन	...100
(ख) वस्त्र	50
(ग) मकान	10
(घ) बीमारी	10
(ङ) शिक्षा	20
(च) मनोरंजन	20
(छ) मादक पदार्थ	5
(ज) अन्य	...30
कुल योग	.245

८. क्या आप ऋणग्रस्त हैं ? हाँ/नहीं
   यदि हाँ तो कितना......
९. आप ऋण कहाँ से प्राप्त करते हैं ?
   (अ) महाजन से ।
   (ब) किस्तों पर ।
   (स) रिश्तेदारों से ।
   (द) मिल-मालिक से ।

(य) को-आपरेटिव सोसाइटी से।
(र) अन्य किसी साधन से।

१०. आपकी ऋणग्रस्तता के क्या कारण हैं ?
(क) विवाह
(ख) घरेलू आवश्यकताएँ
(ग) वीमारी
(घ) कृषि
(ङ) मुकदमेवाजी
(च) शिक्षा
(छ) अन्य..........

११. आप ऋण किस प्रकार प्राप्त करते हैं ? कागज लिखकर/वस्तुएँ गिरवी रखकर/जमानत पर

१२. आप ऋण का भुगतान किस प्रकार करते हैं ? व्याज सहित किस्तों में/व्याज सहित इक ही बार/व्याज-रहित निश्चित धनराशि में

शिक्षा और मनोरंजन

१३. आपने कहाँ तक शिक्षा प्राप्त की है ?..........

१४. आपके परिवार में कितने शिक्षित सदस्य हैं ? प्राइमरी तक स्त्री.........पुरुष...। मिडिल तक स्त्री...पुरुष...। हाईस्कूल तक स्त्री...पुरुष...। इण्टर तक स्त्री...पुरुष...। अन्य—स्त्री...पुरुष...

१५. क्या आप शिक्षा में रुचि रखते हैं ? हाँ/नहीं

१६. यदि आपके पारिवारिक सदस्य अशिक्षित हैं तो उसका मुख्य कारण क्या है ?............

१७. क्या आप अपने वच्चों को उच्च शिक्षा दिलाना चाहते हैं ? हाँ/नहीं

१८. भविष्य में आप अपने लड़कों को क्या वनाना चाहते हैं ? प्रोफेसर/वकील/इंजीनियर/डाक्टर/व्यवसायी/अन्य

१९. आपके बच्चों को क्या-क्या शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं ? स्कूल की सुविधा/वजीफे की सुविधा/पुस्तकालय की सुविधा/पुस्तकों की सुविधा/अन्य

२०. क्या आप मनोरंजन के साधनों का उपयोग करते हैं ? हाँ/नहीं

२१. आप मनोरंजन के लिए क्या-क्या साधन अपनाते हैं ? सिनेमा/समाचार-पत्र/खेल/संगीत/बात-चीत करना/अन्य

२२. आप पर मनोरंजन के साधनों का कैसा प्रभाव पड़ता है ? अच्छा/खराब/सामान्य

२३. आपके वच्चों को तथा आपको मनोरंजन की क्या-क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं ? खेल की/मैदान की/पुस्तकालय की/संगीत की/सिनेमा की/अन्य

स्वास्थ्य एवं सफाई

२४. आपका तथा आपके परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य कैसा है ? अच्छा/सामान्य/खराब

२५. आप किस तरह के भोजन का उपयोग करते हैं ? संतुलित भोजन का/सामान्य भोजन का/निम्न कोटि का

२६. यदि आपका तथा आपके परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य खराव है, तो उसके क्या कारण हैं ? संतुलित भोजन का न मिलना/बीमारी/चिंता/अन्य

२७. स्वास्थ्य के लिए आपको चिकित्सा सम्वन्धी क्या-क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं ? अस्पताल की सुविधा/अन्य

२८. आपके घर में सफाई की व्यवस्था कैसी है ? सामान्य/खराब/अच्छी

पारिवारिक जीवन

२९. आपके परिवार के सदस्यों की संख्या कितनी है ?

१८ साल से कम	१८ साल से अधिक
लड़के............	पुरुष.............
लड़कियाँ.........	स्त्री............

३०. आप किस तरह के परिवार में रहते हैं ? एकांकी परिवार में/केन्द्रीय परिवार में/संयुक्त परिवार में

३१. यदि आप विवाहित हैं तो आपकी कितनी पत्नियाँ हैं ?......

३२. आपके परिवार में किसकी वात सबसे ज्यादा मानी जाती है ? स्त्री की/पुरुष की/वच्चों की

३३. आपके परिवार में स्त्री-पुरुष के मुख्य कार्य क्या हैं ?
(अ) पुरुष............
(ब) स्त्री............

३४. क्या आप परिवार नियोजन के पक्ष में हैं ? हाँ/नहीं
यदि हाँ, तो क्यों ?............
यदि ना, तो क्यों ?

३५. आप परिवार नियोजन के कैसे साधनों में विश्वास रखते हैं ? कृत्रिम साधनों में/प्राकृतिक साधनों में

३६. आपके परिवार में वच्चों तथा माता-पिता का आपसी सम्बन्ध कैसा है ? शान्ति का/सहयोग का/तनावपूर्ण

३७. समाज में आपकी स्थिति कैसी है ? संतोषजनक/सामान्य/असंतोषजनक

मादक पदार्थों का सेवन तथा अन्य सामाजिक बुराइयाँ

३८. क्या आप मादक पदार्थों का सेवन करते हैं ? हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो किन-किन का—सिगरेट/बीड़ी/तम्वाकू/अन्य

३९. क्या आप नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं ? हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो किन-किन का—शराव/गाँजा/सुलफा/भांग/अन्य

४०. यदि आप शराव पीते हैं तो इसका प्रयोग कभी-कभी करते हैं या रोज ?

४१. आपके मादक एवं नशीले पदार्थों के सेवन के क्या कारण हैं ? आदत/स्फूर्ति/कठोर परिश्रम/दुःख-दर्द भूलने के लिए/अन्य

४२. क्या आप सामाजिक बुराइयों में संलग्न हैं ? हाँ/नहीं । यदि हाँ, तो किन-किन में—

जुआ/वेश्यावृत्ति/असामाजिक यौन-सम्बन्ध/अन्य

४३. आपके सामाजिक बुराइयों में संलग्न होने के क्या कारण हैं ?

अकेला होना/घर का बुरा वातावरण/मकान में जगह का कम होना/यौन-इच्छा की पूर्ति न होना/अन्य

काम करने की दशाएँ

४४. आपकी फैक्ट्री में श्रमिक और मिल-मालिकों का सम्बन्ध कैसा है ?

शान्ति का/तनावपूर्ण/असंतोषपूर्ण

४५. आप फैक्ट्री में कितने घण्टे काम करते हैं ?

४६. आपको वेतन नियमित रूप से मिलता है या नहीं ?

४७. आपको अपनी फैक्ट्री का वातावरण कैसा लगता है ? अच्छा/बुरा/सामान्य

कल्याणकारी सुविधाएँ

४८. फैक्ट्री द्वारा आपको कौन-कौनसी सुविधाएँ प्रदान की गई ?

कैण्टीन की सुविधा/मनोरंजन की सुविधा/चिकित्सा की सुविधा/मकान की सुविधा/प्रोवीडेण्ट-फण्ड की सुविधा/बोनस की सुविधा/यातायात की सुविधा/को-आपरेटिव सोसाइटी की सुविधा/अन्य

४९. क्या आपकी फैक्ट्री में श्रमिक संघ है ? हाँ/नहीं

५०. श्रमिक संघ के द्वारा आपको क्या-क्या सुविधाएँ प्रदान की गई हैं ?

... ...

... ...

५१. क्या आप श्रमिक संघ के सदस्य हैं ? हाँ/नहीं

५२. यदि आप श्रमिक संघ के सदस्य हैं तो किस रूप में ?

क्रियाशील/निष्क्रिय सदस्य के रूप में

५३. क्या आपने कभी फैक्ट्री की हड़तालों में भाग लिया है ? हाँ/नहीं

५४. सरकार ने आपको क्या-क्या सुविधाएँ प्रदान की है ?

... ...

... ...

५५. कृपया आप अपनी समस्याएँ बतलाइए एवं उनके निराकरण तथा अपने कल्याण हेतु स्पष्ट सुझाव दीजिए ।

... ...

... ...

... ...

... ...

उदाहरण नं० २ :

साक्षात्कार अनुसूची

रामनगर की खण्डेलवाल जाति में पाए जाने वाले रीति-रिवाजों एवं संस्कारों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

(क) क्रम संख्या····················
(ख) स्थान·······················
(ग) दिनांक······················
(घ) समय·······················
(ङ) नाम·······················
(च) आयु······················
(छ) जाति/उपजाति··············
(ज) धर्म·······················
(झ) शिक्षा-स्तर··················
(ञ) वैवाहिक स्थिति—विवाहित / अविवाहित / विधवा / विधुर/तलाक प्राप्त

(१) आपके परिवार में कितने सदस्य हैं ?

१८ वर्ष से कम	१८ वर्ष से अधिक
लड़के············	पुरुष············
लड़कियाँ·········	स्त्री············

(२) [क] क्या आप सन्तान प्राप्ति की इच्छा रखते हैं ?
हाँ / नहीं / तटस्थ
[ख] आपके यहाँ शिशु-जन्म कहाँ होता है ? पिता के घर/पति के घर
[ग] इसके लिए आप कौनसा स्थान प्रायः चुनते हैं ? घर/अस्पताल/नर्सिंग होम
[घ] शिशु-जन्म के अवसर पर किसी रिश्तेदार का विशेष महत्त्व होता है या नहीं ? हाँ/नहीं
यदि हाँ, तो किस-किस का···············
[ङ] इस अवसर पर कुछ लेने-देने के मामले में मीठे झगड़े होते हैं ? हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो किनके बीच—स्वयं और विशेष सम्बन्धी के बीच/स्वयं और घर में काम करने वाले नौकर-चाकर आदि के बीच

(३) [अ] आपके परिवार में नामकरण संस्कार किस आयु में होता है ?······
[ब] इस अवसर पर किसी रिश्तेदार का विशेष महत्त्व होता है अथवा नहीं ? हाँ/नहीं
यदि हाँ, तो किस-किस का············
[स] क्या आप अपने बच्चे का वही नाम रखते हैं जो पण्डितजी बताते हैं ? हाँ/नहीं

(४) [क] क्या आप इन अवसरों को खूब धूमधाम से मनाए जाने के पक्ष में हैं ? हाँ/नहीं

[ख] आपके मतानुसार मुण्डन और शिशु-जन्म के बीच कितना अन्तर होना चाहिए ?············

क्यों ?············

(५) [अ] बच्चे की कितनी आयु में आप अन्नप्राशन संस्कार करते हैं ?······

[ब] इस अवसर पर आप किसको अधिक महत्त्व देते हैं ? लड़के के अन्नप्राशन को/लड़की के अन्नप्राशन को/लड़का अथवा लड़की दोनों के अन्नप्राशन को समान महत्त्व।

[स] इस अवसर पर किन सम्बन्धियों का विशेष महत्त्व है ?······

(६) [क] क्या आप बच्चों के विद्यारम्भ के समय पर कोई उत्सव मनाते हैं ? हाँ/नहीं

यदि हाँ, तो किस प्रकार का—हवन करवाना/प्रसाद/बाँटना/सरस्वती देवी की पूजा करना/अन्य

[ख] क्या इस अवसर पर किसी रिश्तेदार का विशेष महत्त्व होता है ? हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो किसका ?······

(७) [क] आपके परिवार में साधारणतया किस आयु में विवाह होता है ?

लड़कों के विवाह की आयु·········

लड़कियों के विवाह की आयु·······

[ख] क्या विवाह-साथी के चुनाव के मामले में आपका निर्णय मान लिया जाता है ? हाँ/नहीं/कभी-कभी

[ग] क्या विवाह से पूर्व लड़के या लड़की को देखकर विवाह तय किया जाता है ? हाँ/नहीं

[घ] यदि हाँ, तो यह देखने का काम कौन करता है ? परिवार के बड़े-बूढ़े/भाई, बहन या भाभी/स्वयं लड़का या लड़की/कोई मित्र/सहेली/अन्य कोई

[ङ] क्या आप दहेज लेना या देना उचित समझते हैं ?

हाँ/नहीं/तटस्थ

यदि हाँ, तो किस रूप में—

नकद/वस्तुओं के रूप में/आभूषण/नेशनल सेविंग सर्टीफिकेट आदि के रूप में/अन्य किसी रूप में

[च] क्या आप बाल-विवाह के पक्ष में हैं ? हाँ/नहीं/तटस्थ

यदि हाँ, तो क्यों···············

यदि ना, तो क्यों···············

[छ] आपकी राय में विवाह के समय लड़के और लड़की की आयु में कितना अन्तर होना चाहिए ?·········

[ज] क्या आपके परिवार में कोई अन्तर्जातीय विवाह हुआ है ? हाँ/नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह विवाह आपकी सहमति से हुआ है ? हाँ/नहीं

[झ] आप किस प्रकार के विवाह को अच्छा समझते हैं ? अन्तर्विवाह/अन्तर्जातीय विवाह

[ञ] क्या आप विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में राय देंगे ? हाँ/नहीं/तटस्थ

(८) विवाह के तरीकों में आप कौन-कौनसे परिवर्तनों का आभास करते हैं ?

[अ] ....
[ब] ....
[स] ....
[द] ....

(९) [क] आपके परिवार में किस त्यौहार को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है ?

१. ....
२. ....
३. ....

[ख] क्या आप यह अनुभव करते हैं कि उपरोक्त पर्व, उत्सव, संस्कार आदि महँगे पड़ते हैं ?
हाँ/नहीं/तटस्थ

(१०) अन्य कोई बात जो आप बताना चाहते हैं............

———

१४ प्रश्नावली

(QUESTIONNAIRE)

अनुसूची की भांति प्रश्नावली भी प्रश्नों की एक आयोजित व क्रमवद्ध सूची है जिसका कि उद्देश्य अध्ययन-विषय से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों (Primary data) को संकलित करना होता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रश्नावली व अनुसूची में केवल अन्तर इतना ही है कि अनुसूची-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं सूचनादाता से मिलकर प्रश्नों के उत्तर को भरता है जवकि प्रश्नावली को डाक द्वारा सूचनादाताओं के पास भेज दिया जाता है और उनसे यह अनुरोध किया जाता है कि वे प्रश्नों का उत्तर स्वयं लिखकर फिर डाक द्वारा ही प्रश्नावली को अनुसन्धानकर्त्ता के पास भेज दे। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्यतः प्रश्नावली भी उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जिनपर कि अनुसूची। फिर भी, जैसा कि श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने लिखा है, प्रश्नावली का निर्माण करते समय अन्य अनेक वातों का ध्यान रखना पड़ता है, विशेषकर इसलिए कि इसमें प्रश्नों का उत्तर अनुसन्धानकर्त्ता के प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुरोध तथा सहायता के विना ही भरना होता है।[1] प्रश्नावली-प्रविधि में इस सीमा के अतिरिक्त भी अन्य कई दोष हैं। पर, जैसा कि सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है, इन दोषों के बावजूद भी डाक द्वारा प्रेषित स्वयं भरी जाने वाली प्रश्नावली समाजशास्त्रीय शोध में एक उपयोगी प्रविधि है। जब तक इस प्रविधि का प्रयोग उपयुक्त तरीके से किया जाता रहेगा, इसमें वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकेगा।[2] परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पहले यह आवश्यक है कि हम प्रश्नावली के वास्तविक अर्थ को समझ लें। अग्रलिखित विवेचना से इसी का स्पष्टीकरण होगा।

---

1. "There are, however, a number of additional considerations which should be kept in mind in the construction of questionnaires, especially when they are to be filled out without the direct personal solicitation and aid of an investigator."—George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans Green and Co., New York, 1951, p. 182.

2. "Inspite of many abuses, the mailed self-administering questionnaire remains a useful technique in sociological research. So long as this method is employed in appropriate research designs, it can frequently be rewarding."—William J. Goode and Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company, Inc., 1952, p. 170.

प्रश्नावली का अर्थ तथा परिभाषा
(Meaning and Definition of Questionnaire)

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि एक विषय से सम्बन्धित व्यक्तियों से सूचना प्राप्त करने के लिए बनाए गए प्रश्नों की एक क्रमबद्ध सूची को प्रश्नावली कहते हैं जिसे कि डाक द्वारा भेजकर सूचना एकत्रित की जाती है। पर विभिन्न विद्वानों ने इसके अर्थ को अपने-अपने ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है। सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) के अनुसार, "सामान्य रूप से प्रश्नावली से तात्पर्य प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की उस प्रविधि से है जिसमें एक पत्रक का प्रयोग किया जाता है जिसे उत्तरदाता स्वयं भरता है।"[3]

श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने लिखा है कि "मूलत: प्रश्नावली प्रेरणाओं का एक समूह है जिसे कि शिक्षित लोगों के सम्मुख, उन प्रेरणाओं के अन्तर्गत उनके मौखिक व्यवहारों का निरीक्षण करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है।"[4]

प्रश्नावली की परिभाषा करते हुए श्री पोप (Pope) ने लिखा है, "एक प्रश्नावली को प्रश्नों के एक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका उत्तर सूचनादाता को बिना एक अनुसन्धानकर्त्ता अथवा प्रगणक (enumerator) की व्यक्तिगत सहायता के देना होता है।"[5]

श्री विलसन गी (Wilson Gee) के मतानुसार, "प्रश्नावली बड़ी संख्या में लोगों से अथवा छोटे चुने हुए एक समूह से, जिसके कि सदस्य विस्तृत क्षेत्र में छिटके हुए हैं, सीमित मात्रा में सूचना प्राप्त करने की एक सुविधाजनक प्रणाली है।"[6]

श्री बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है कि "प्रश्नावली विभिन्न व्यक्तियों को उत्तर देने के लिए दी गई प्रश्नों की एक तालिका है।"[7] जबकि प्रो० सिन पाओ यांग (Hsin Pao Yang) के अनुसार, "अपने सरलतम रूप में प्रश्नावली प्रश्नों की एक अनुसूची है जो कि अनुसूचित अथवा सर्वेक्षण निदर्शन के रूप में निर्वाचित

---

3. "In general the word questionnaire refers to a device for securing answers to questions by using a form which the respondent fills in himself." —*Ibid.*, p. 133.

4. "Fundamentally, the questionnaire is a set of stimuli to which literate people are exposed in order to observe their verbal behaviour under these stimuli."—George A. Lundberg, *op. cit.*, p. 183.

5. "A questionnaire may be defined as a set of questions to be answered by the informant without the personal aid of an investigator or enumerator."—J. D. Pope, in Research Method and Procedure in Agriculture Economics (Social Science Research Council, New York, 1928), p. 63.

6. "It does constitute a convenient method of obtaining a limited amount of information from a large number of persons or from a small selected group which is widely scattered."—Wilson Gee, *Social Science Research Method* (1950), p. 314.

7. "A questionnaire is a list of questions to a number of persons for them to answer. It secures standardized results that can be tabulated and treated statistically."—Emory S. Bogardus, *Sociology*, p. 549.

व्यक्तियों के पास डाक द्वारा भेजी जाती है।"[8]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रश्नावली एक विशेष प्रकार की अनुसूची है जिसे कि अध्ययन-विषय से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने के लिए निदर्शन के रूप में चुने हुए व्यक्तियों के पास डाक द्वारा इस अनुरोध के साथ भेज दिया जाता है कि वे उन प्रश्नों का उत्तर स्वयं लिखकर प्रश्नावली को वापस भेज दें क्योंकि ये उत्तरदातागण या तो संख्या में इतने अधिक हैं अथवा इतने अधिक बिखरे हुए हैं कि व्यक्तिगत सम्पर्क के द्वारा उनसे सूचना एकत्रित नहीं की जा सकती।

प्रश्नावली के प्रकार
(Types of Questionnaire)

प्रश्नावलियों को रचना के आधार पर, प्रश्नों की प्रकृति अथवा तथ्यों की प्रकृति के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकारों में विभाजित किया जाता है। श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने प्रश्नावलियों के दो प्रकार वताए हैं—(अ) तथ्य सम्बन्धी प्रश्नावली (Questionnaire of Fact) जिसे कि सामाजिक तथ्यों से सम्बन्धित सामग्री को एकत्रित करने के लिए प्रयोग किया जाता है, और (ब) मत तथा मनोवृत्ति सम्बन्धी प्रश्नावली (Questionnaire of Opinion and Attitude) जिसका प्रयोग उत्तरदाताओं की राय अथवा अभिरुचि से सम्बन्धित सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।[9]

श्रीमती यंग (Young) ने प्रश्नावली के दो प्रकारों का उल्लेख किया है—(क) संरचित प्रश्नावली (Structured Questionnaire), जिसकी रचना अनुसन्धान आरम्भ करने से पूर्व कर ली जाती है, और (ख) असंरचित प्रश्नावली (Non-structured Questionnaire) जिसमें कि प्रश्नों का निर्माण पहले से नहीं किया जाता है अपितु केवल अध्ययन-विषय, क्षेत्र आदि के सम्वन्ध में उल्लेख रहता है।[10] उसी प्रकार प्रश्नों की प्रकृति के आधार पर भी प्रश्नावलियों के भिन्न-भिन्न प्रकारों जैसे वन्द प्रश्नावली, खुली प्रश्नावली, चित्रमय प्रश्नावली आदि का उल्लेख किया जाता है। इन सभी प्रकार की प्रश्नावलियों के सम्वन्ध में कुछ संक्षेप में विवेचन कर लेना आवश्यक होगा।

(१) संरचित प्रश्नावली (Structured Questionnaire)—संरचित प्रश्नावली वह होती है जिसकी रचना अनुसन्धान आरम्भ करने से पूर्व कर ली जाती है और बाद में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जाता है। श्रीमती यंग ने लिखा है कि "संरचित प्रश्नावली वह होती है जिसमें कि निश्चित, ठोस तथा पूर्वनिर्धारित प्रश्नों के अतिरिक्त ऐसे आवश्यक सीमित प्रश्न भी रहते हैं जो अपर्याप्त उत्तरों के स्पष्टीकरण करने या अधिक विस्तृत प्रत्युत्तर पाने के लिए आवश्यक होते हैं। प्रश्नों का

---

8. "The questionnaire provides the quickest and easiest method of gathering data from large and widely scattered groups of people. In its simplest form the questionnaire consists of a schedule of questions sent by mail to persons on a list or in a survev sample."—Hsin Pao Yang, *Fact Finding with Rural People* (1953), pp. 51-52.

9. G. A. Lundberg, *op. cit.*, p. 183.

10. P. V. Young, *Scientific Social Survey and Research*, 1960, pp. 177-180.

प्रकार चाहे प्रतिबन्धित हो या अप्रतिवन्धित, महत्त्वपूर्ण वात तो यह है कि उन प्रश्नों को पहले से ही, न कि साक्षात्कार के दौरान में, लिखित रूप दे दिया जाता है।"[11] ऐसी प्रश्नावलियों का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कि अध्ययन-क्षेत्र वहुत विस्तृत हो, प्राथमिक सूचनाओं को एकत्रित करना हो या संकलित सूचनाओं की पुनर्परीक्षा करनी हो। अध्ययन का उद्देश्य सामाजिक या आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करना, मतों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना अथवा किसी प्रशासनीय नीति या परिवर्तन के सम्बन्ध में अध्ययन करना हो सकता है। उद्देश्य कुछ भी हो, विस्तृत क्षेत्र से पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार सूचना एकत्रित करने के लिए संरचित प्रश्नावली सर्वोत्तम है। इस प्रकार की प्रश्नावली का सवसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि इसमें प्रश्नों को पहले से ही वना लिए जाने के कारण वे सुचिन्तित तथा क्रमवद्ध होते हैं और साथ ही सभी उत्तरदाता के लिए समान भी होते हैं जिसके फलस्वरूप प्रामाणिक सूचनाओं को प्राप्त करना सरल हो जाता है। डॉ० डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar) के द्वारा कानपुर नगर के सामाजिक सर्वेक्षण 'Social Contours of an Industrial City—Kanpur' में इसी प्रकार की प्रश्नावली का प्रयोग किया गया था।

(२) **असंरचित प्रश्नावली** (Non-structured Questionnaire)—इस प्रकार की प्रश्नावली में किसी प्रकार के प्रश्नों का निर्माण पहले से नहीं किया जाता है बल्कि केवल उन विषयों आदि का उल्लेख होता है जिनके कि सम्बन्ध में उत्तरदाताओं से सूचना प्राप्त करनी है। इस प्रकार असंरचित प्रश्नावली एक साक्षात्कार निर्देशक (Interview Guide) के ही समान है। प्रश्नावली में साक्षात्कार नहीं किया जाता है। इसलिए असंरिचत प्रश्नावली को वास्तव में प्रश्नावली ही नहीं कहा जा सकता। फिर भी श्रीमती यंग (Young) आदि ने इसे प्रश्नावली का ही एक स्वरूप माना है।

(३) **बन्द, सीमित या प्रतिबन्धित प्रश्नावली** (Closed Questionnaire)—इस प्रकार की प्रश्नावली में प्रत्येक प्रश्न के सामने उसके सम्भावित उत्तर भी साथ लिखे रहते हैं और उत्तरदाता को अपना उत्तर केवल इन्हीं में से छाँटना होता है। इस प्रकार प्रश्नों के उत्तर सीमित कर दिए जाते हैं और उत्तरदाता को अपना स्वतन्त्र मत देने की छूट नहीं दी जाती है। उसे केवल पूर्वनिर्धारित उत्तरों में से ही किसी एक के साथ अपनी सहमति प्रगट करनी होती है। इस प्रकार की प्रश्नावली के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(क) राष्ट्रीय एकता को वढ़ाने के लिए आप किस साधन को सवसे उपयुक्त समझते हैं—(अ) रेडियो (व) समाचारपत्र (स) टेलीविजन (द) पोस्टर (य) हैण्डविल (र) भाषण।

(ख) पारिवारिक तनाव का आपके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है—

(अ) मानसिक क्लेश

(व) परिवार को छोड़ जाने की इच्छा

---

11. "Structured questionnaires are those in which there are definite, concrete, and pre-ordained questions with additional questions limited to those necessary to clarify inadequate answers or to elicit a more detailed response."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 177,

(स) आत्महत्या की इच्छा

(द) सम्वन्धित व्यक्ति को रास्ते से हटा देने की इच्छा

(य) सम्वन्धित व्यक्ति को घर से निकाल देने की इच्छा

(र) शराब में डूब जाने की इच्छा

इस प्रकार की प्रश्नावलियों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इनसे प्राप्त सामग्री का वर्गीकरण करने में बहुत सुविधा रहती है, क्योंकि सूचनादाताओं के उत्तर पहले दिए गए सम्भावित उत्तरों में से ही होते हैं।

(४) **खुली, असीमित अथवा अप्रतिबन्धित प्रश्नावली** (Open Questionnaire)—जिन प्रश्नावलियों में उत्तरदाता को अपने उत्तर को व्यक्त करने में पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है उसे खुली, असीमित अथवा अप्रतिबन्धित प्रश्नावली कहते हैं। इस प्रकार की प्रश्नावलियों में सम्भावित उत्तर नहीं दिए जाते हैं बल्कि उत्तरदाताओं से यह आशा की जाती है कि वे अपनी इच्छानुसार अपने उत्तरों को प्रगट करें। इसीलिए प्रश्नों के आगे कुछ भी लिखा नहीं जाता, केवल कुछ खाली जगह छोड़ दी जाती है। उदाहरणार्थ—

(क) गाँव-पंचायतों की सफलता के लिए आप क्या सुझाव देना चाहेंगे—

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

(ख) वेश्यावृत्ति की समस्या को किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है—

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

(ग) आपके विचार में कॉलेज के विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के क्या कारण हैं—

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

इस प्रकार की प्रश्नावलियों में उत्तरदाता को यह अवसर मिल जाता है कि वह अपनी वास्तविक आन्तरिक भावनाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक अभिव्यक्ति कर सके। इससे उत्तरदाता के व्यक्तित्व का प्रत्येक गुण, जो विषय से सम्बन्धित होता है, अपने यथार्थ रूप में प्रगट हो जाता है। गुणात्मक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के लिए खुली प्रश्नावली बहुत उपयोगी है।

(५) **चित्रमय प्रश्नावली** (Pictorial Questionnaire)—इस प्रकार की प्रश्नावली में प्रश्नों के सम्भावित उत्तर चित्रों के द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। उन चित्रों के द्वारा प्रगट होने वाले उत्तरों में से जो चित्र सूचनादाता की सम्मति व्यक्त करता है उसी पर वह निशान लगा देता है। इस प्रकार के चित्रों के होने से प्रश्नावली में नवीनता व आकर्षण दोनों ही गुण उत्पन्न हो जाते हैं और अत्यधिक व्यस्त आदमी भी इन चित्रों की ओर आकर्षित होकर उत्तर देने को प्रेरित होते हैं क्योंकि इसमें

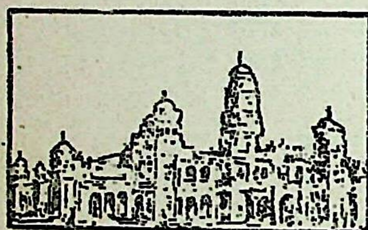
कम-से-कम समय एवं प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की प्रश्नावली में सम्मिलित किए जाने वाले चित्रमय प्रश्नों के उदाहरण इस प्रकार हैं :—

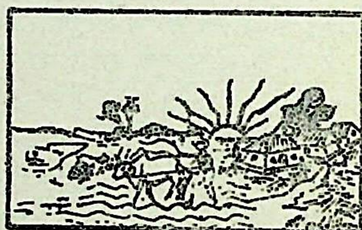
उदाहरण :—

(क) आपका परिवार कितना बड़ा है ?



(ख) आप गाँव में रहना पसन्द करते हैं अथवा शहर में ?





ऐसी प्रश्नावलियाँ अशिक्षित, बच्चे तथा कम बुद्धिमान व्यक्तियों से जानकारी प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होती हैं। चित्रों की भाषा समझना प्रायः सभी के लिए सरल होता है। साथ-ही-साथ इस प्रकार की प्रश्नावलियों के उत्तरों की जाँच करना सरल होता है।

(६) **मिश्रित प्रश्नावली (Mixed Questionnaire)**—मिश्रित प्रश्नावलियों में ऊपर लिखी गई कई प्रकार की प्रश्नावलियों का मिश्रण रहता है। प्रायः प्रतिबन्धित व अप्रतिबन्धित प्रकार के प्रश्नों को मिलाकर जो प्रश्नावली बनाई जाती है यह मिश्रित प्रश्नावली कहलाती है। आज सामाजिक सर्वेक्षणों में प्रायः इसी प्रकार की प्रश्नावलियों का प्रयोग किया जाता है क्योंकि विभिन्न प्रकार के सामाजिक तथ्यों के सम्बन्ध में सूचनाएँ किसी एक निश्चित प्रकार के प्रश्नों के द्वारा ही सम्भव नहीं हैं इसीलिए आवश्यकतानुसार प्रतिवन्धित व अप्रतिवन्धित प्रश्नों, यहाँ तक कि चित्रमय प्रश्नों, का भी उपयोग किया जा सकता है।

प्रश्नावलियों के उपयोगी होने की अनिवार्यताएँ
(Essentials of Questionnaires being Useful)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम-से-कम खर्च करके विशाल एवं विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए उत्तरदाताओं से सूचना प्राप्त करने के लिए प्रश्नावली-प्रविधि सरलतम है। परन्तु केवल यह गुण ही प्रश्नावलियों की उपयोगिता की कोई गारण्टी नहीं है। इसके लिए यह आवश्यक है कि अन्य कुछ परिस्थितियाँ भी अनुकूल हों तभी प्रश्नावलियों की सहायता से वास्तविक सूचनाओं को प्राप्त करना सम्भव होता है। यह अनिवार्य परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) उत्तरदाताओं का शिक्षित होना (Educated Respondents)—प्रश्नावली की सफलता के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि उत्तरदाता शिक्षित हों ताकि वे स्वयं प्रश्नों को पढ़ सकें और उनका उत्तर लिख सकें। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते हैं तो प्रश्नावली-प्रविधि के द्वारा सूचनाओं को एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसी आवश्यकता के कारण इस प्रविधि का प्रयोग उस अवस्था में प्राय: नहीं हो पाता है जबकि निदर्शनों का चुनाव करके अध्ययन किया जा रहा है; क्योंकि निदर्शन में तो शिक्षित व अशिक्षित दोनों ही प्रकार के लोग आ सकते हैं।

(२) उत्तर देने की इच्छा (Willingness to reply)—केवल उत्तरदाताओं के शिक्षित होने पर ही प्रश्नावली की उपयोगिता सिद्ध नहीं हो सकती है जब तक कि उनमें उत्तर देने की इच्छा को जागृत करने में हम सफल नहीं होते हैं। यह काम इसलिए कठिन है क्योंकि उत्तर प्राप्त करने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता उत्तरदाता से सम्पर्क स्थापित नहीं करता है। उसका तो एक मात्र सहारा वह अनुरोध-पत्र होता है जो कि प्रश्नावली के साथ उत्तरदाता के पास भेजा जाता है। यदि यह पत्र उत्तरदाताओं में उत्तर देने की इच्छा को जागृत न कर पाए तो प्रश्नावली-प्रविधि विफल हो जाती है। यही कारण है कि व्यावहारिक रूप में यह देखा जाता है कि जितनी प्रश्नावलियों को उत्तर प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है उनमें से बहुत कम प्रश्नावलियाँ उत्तर-सहित लौटकर आती हैं।

(३) विषय के सम्बन्ध में उत्तरदाताओं का ज्ञान (Informants' familiarity with Subject)—प्रश्नावली-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता उत्तरों को प्राप्त करने के लिए स्वयं नहीं जाता है। इसीलिए उसे यह मौका नहीं मिलता है कि वह सूचनादाता को अध्ययन-विषय की प्रकृति, क्षेत्र, उद्देश्य तथा प्रश्नों के वास्तविक सम्बन्ध में कुछ भी कह सके। अत: यह जरूरी हो जाता है कि विषय के सम्बन्ध में स्वयं उत्तरदाताओं को कुछ-न-कुछ ज्ञान हो। यद्यपि शिक्षित व्यक्तियों से इस प्रकार के सामान्य ज्ञान की आशा की जा सकती है फिर भी अनेक क्षेत्रों में यह आशा पूर्ण नहीं हो पाती है और उस अवस्था में प्रश्नावली की सफलता सन्देहजनक होती है।

(४) सहायक सूचनाओं की प्राप्ति (Securing Supplementary Informations)—प्रश्नावली की उपयोगिता अधिकतर इस बात पर निर्भर करती है कि हमें विषय से सम्बन्धित अन्य सहायक सूचनाएँ किस सीमा तक प्राप्त हो सकती हैं। इसका कारण यह है कि प्रश्नावली द्वारा विषय के बारे में गहन एवं विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त नहीं की जा सकतीं और न ही इसके द्वारा समस्या की गहराई में ही पहुँचा जा सकता है क्योंकि प्रश्नावलियाँ उत्तरदाताओं के द्वारा उनकी इच्छानुसार भरी होती हैं और चूंकि अनुसन्धानकर्त्ता भी उसके सामने नहीं होता है इसलिए वह बहुत से प्रश्नों का वास्तविक अर्थ समझता नहीं है और मनमाने ढंग से उत्तर लिख देता है। अत: सहायक सूचनाओं के द्वारा इनकी जाँच करने की आवश्यकता होती है।

अच्छी प्रश्नावली की विशेषताएँ
(Features of a Good Questionnaire)

श्री ए० एल० बाउले (A. L. Bowley) ने एक उत्तम प्रश्नावली की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है—

(१) तुलनात्मक दृष्टि से प्रश्नों की संख्या कम होनी चाहिए।

(२) ऐसे प्रश्नों का होना श्रेष्ठ है जिनका कि उत्तर संख्या में अथवा 'हाँ' या

'नहीं' में दिया जा सकता है।

(३) प्रश्न इतने सरल, सीधे तथा एकअर्थक हों कि शीघ्र समझे जा सकें।

(४) प्रश्नों की रचना इस प्रकार की जाए कि उनका उत्तर देते समय मिथ्या-झुकाव के प्रवेश की सम्भावना न्यूनतम हो।

(५) प्रश्न अशिष्टतापूर्ण अथवा धृष्टतापूर्ण एवं परीक्षात्मक नहीं होने चाहिएँ।

(६) प्रश्न जहाँ तक सम्भव हो एक-दूसरे को पुष्ट करने वाले हों।

(७) प्रश्न इस प्रकार का हो कि इच्छित सूचना प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त की जा सके।

प्रश्नावली की रचना करते समय ध्यान में रखने योग्य बातें
(Essential considerations while framing Questionnaire)

एक प्रश्नावली की रचना करते समय हमें निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) प्रश्नावली की रचना करने का काम तभी आरम्भ करना चाहिए जब कि अध्ययन-विषय के विभिन्न पक्षों का तुलनात्मक महत्त्व हमारे लिए स्पष्ट हो जाए जिससे कि विभिन्न पक्षों के महत्त्व के अनुपात में ही हम प्रश्नावली में प्रश्नों को सम्मिलित कर सकें। इसके बिना सन्तुलित प्रश्नावली की रचना सम्भव नहीं।

(२) प्रश्नों का उत्तर लिखने के लिए आवश्यकतानुसार पर्याप्त खाली जगह प्रत्येक प्रश्न के सामने होनी चाहिए।

(३) भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। दो अर्थ वाले शब्दों, अप्रचलित शब्दों, तकनीकी शब्दों एवं भावात्मक शब्दों के प्रयोग से सचेततापूर्वक बचना चाहिए।

(४) प्रश्न सरल और सीधे हों ताकि उत्तरदाता उसे आसानी से समझ सके क्योंकि प्रश्नों का उत्तर उसे बिना अनुसन्धानकर्त्ता की मदद से ही लिखना होता है।

(५) प्रश्नावली में इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अध्ययन की प्रत्येक इकाई की स्पष्ट व्याख्या भी दे दी जाए। जैसे 'बच्चा', 'युवक' और 'वयस्क' शब्दों की व्याख्या किए बिना अगर हम उन्हें प्रश्नों में प्रयोग करेंगे तो अलग-अलग उत्तरदाता अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर देंगे। कोई केवल ३ वर्ष की आयु वालों को बच्चा मानेगा, कोई ७ वर्ष तक की और कोई १४ वर्ष तक की आयु वालों को इसी श्रेणी में सम्मिलित करेगा क्योंकि वास्तविक स्थिति बताने वाला अनुसन्धान-कर्त्ता वहाँ नहीं होगा।

(६) प्रश्नावली शिक्षित व्यक्तियों को भेजी जाती है, अतः यह आवश्यक है कि उनकी प्रकृति को देखते हुए ही प्रश्नों की संख्या को निश्चित करना चाहिए। यदि उत्तरदातागण अधिक व्यस्त प्रकृति (busy personalities) के हों, तो अपेक्षाकृत कम प्रश्नों को ही प्रश्नावली में सम्मिलित करना चाहिए। वैसे भी कम प्रश्नों का होना ही उचित है।

(७) प्रश्न इस प्रकार के न हों जिससे कि उत्तरदाताओं की भावनाओं को ठेस पहुँचे। साथ ही ऐसे प्रश्नों को भी प्रश्नावली में स्थान नहीं मिलना चाहिए जिससे कि उत्तरदाता के मन में उत्तर न देने की भावना उत्पन्न हो।

(८) प्रश्नावली की रचना का एक आवश्यक अंग प्रश्नावली के साथ भेजा जाने वाला पत्र—सहगामी पत्र (accompanying letter) होता है। इसकी रचना

भी वड़ी सावधानी से करनी चाहिए और उसकी मार्फत उत्तरदाताओं को अध्ययन के उद्देश्य से परिचित करवाते हुए सूचना भेजने का विनम्र अनुरोध करना चाहिए और यह विश्वास दिलाना चाहिए कि उनके द्वारा दी गई सूचना को गुप्त रक्खा जाएगा और केवल शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकता के लिए प्रयोग किया जाएगा।

(६) प्रश्नावली की रचना करते समय उसके भौतिक पक्ष भी पर ध्यान देना चाहिए। जैसे प्रश्नावली का आकार वहुत छोटा या वहुत वड़ा न हो, सुन्दर व स्पष्ट रूप में वह छपा हो, कागज का रंग आकर्षक हो तथा प्रश्न एक सिलसिले से व्यवस्थित हों। वास्तव में, प्रश्नावली को हम जितने व्यवस्थित व सन्तुलित ढंग से प्रस्तुत कर सकेंगे, उतनी सफलता हमें सूचनाओं को एकत्रित करने में प्राप्त होगी।

प्रश्नावली वनाने की प्रविधि का जो वर्णन अव हम आगे के पृष्ठों में करेंगे उससे उपरोक्त सभी वातें और भी स्पष्ट हो जाएँगी।

प्रश्नावली के निर्माण की प्रविधि
(Technique of constructing Questionnaire)

यह सच है कि प्रश्नावली प्राथमिक तथ्यों (primary data) को एकत्रित करने का एक प्रभावपूर्ण साधन है। पर इस साधन की सफलता अधिकतर इस वात पर निर्भर रहती है कि प्रश्नावली के निर्माण में कितनी सतर्कता को अपनाया गया है। इस सतर्कता की आवश्यकता प्रश्नावली-प्रविधि में इसलिए अधिक होती है क्योंकि इसमें उत्तरदाता को विना अनुसन्धानकर्त्ता की मदद से प्रश्नों का उत्तर देना होता है। इसीलिए यदि कभी भी कोई अस्पष्टता या कमी रह गई तो उत्तर भी अस्पष्ट तथा अपूर्ण ही होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्नावली का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह इतनी सरल व स्पष्ट हो कि विभिन्न प्रकार के उत्तरदाता उसे विना अनुसन्धानकर्त्ता की सहायता से समझ सकें एवं वांछित उत्तर लिखकर भेज सकें। इसके लिए निम्नलिखित वातों का ध्यान रखना चाहिए।

विषय का सावधानीपूर्वक विश्लेषण
(Careful Analysis of the Subject)

एक सफल प्रश्नावली तभी वन सकती है, जवकि अनुसन्धानकर्त्ता प्रश्नावली वनाने से पूर्व विषय का सावधानीपूर्वक विश्लेषण कर ले। इस विश्लेषण के अन्तर्गत निम्नलिखित वातें आती हैं—

(अ) समस्या के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण (Analysis of the various Aspects of the Problem)—प्रश्नावली के निर्माण में सवसे पहले समस्या के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करना पड़ता है जिससे कि उन पक्षों का तुलनात्मक महत्त्व स्पष्ट हो जाए और अनुसन्धानकर्त्ता को यह पता चल जाए कि समस्या के किन-किन पक्षों के किन-किन विषयों के सम्वन्ध में उसे प्रश्नावली के आधार पर सूचना प्राप्त हो सकती है। इसी विश्लेषण के आधार पर यह निश्चय करना पड़ता है कि किन-किन पहलुओं से सम्वन्धित किन-किन प्रश्नों को प्रश्नावली में स्थान दिया जा सकता है। ऐसा कर लेने से एक सन्तुलित प्रश्नावली का निर्माण सम्भव होता है और इस वात की सम्भावना न्यूनतम होती है कि समस्या का कोई भी आवश्यक पक्ष इस प्रकार छूट नहीं जाता है कि उस पर कोई भी प्रश्न न किया गया हो। साथ ही अधिक

महत्त्वपूर्ण पक्षों के सम्बन्ध में अधिक प्रश्नों का तथा कम महत्त्वपूर्ण पक्षों के सम्बन्ध में कम प्रश्नों का बँटवारा भी ठीक ढंग से हो जाता है। सम्पूर्ण विषय से सम्बन्धित सन्तुलित संख्या में प्रश्नों को प्रश्नावली में सम्मिलित करने के लिए यह आवश्यक है कि (क) प्रश्नों के निर्माण में विषय के सम्बन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता के पूर्व-अनुभवों का सदुपयोग करना चाहिए जिससे कि आवश्यक सभी प्रश्न प्रश्नावली में सम्मिलित हो जाएँ, (ख) विषय से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य के पूर्ण अध्ययन के आधार पर प्रश्नों का निर्माण करना चाहिए, (ग) विषय से सम्बन्धित विशेषज्ञों एवं मित्रों आदि के ज्ञान का भी उपयोग प्रश्नों के निर्माण में करना चाहिए, और (घ) प्रश्नों के निर्माण में स्थानीय परिस्थिति को समझने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव और पूर्व-ज्ञान से भी लाभ उठाना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न स्रोतों से समस्या के बारे में पर्याप्त जानकारी हासिल करके समस्या के विभिन्न पक्षों का उचित विश्लेषण करने के पश्चात् ही प्रश्नावली का निर्माण करना चाहिए।

(ब) **उपयोगी प्रश्न** (Useful Questions)—प्रश्नावली में किसी भी प्रश्न को स्थान देने से पहले यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह प्रश्न अध्ययन-विषय या उसके किसी विशेष पक्ष पर प्रकाश डालने में कितना योग दे सकता है। प्रश्नावली में प्रत्येक प्रश्न इतना उपयोगी होना चाहिए कि उसका अभाव हमें खटके। यदि किसी प्रश्न का मूल्य प्रश्नावली में बहुत कम है तो उसकी तुलना इस पर खर्च होने वाले अतिरिक्त व्यय एवं समय से करनी चाहिए और इस तुलना से यदि उस प्रश्न की उपयोगिता कम मालूम पड़े तो उसे निकाल देना चाहिए। अनावश्यक प्रश्नों में व्यर्थ ही समय तथा धन नष्ट होता है और सूचनादाताओं से उन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना भी कठिन होता है। अतः केवल उपयोगी प्रश्नों को ही प्रश्नावली में स्थान देना चाहिए।

प्रश्नों की प्रकृति तथा भाषा
(Nature and Wording of Questions)

किन उपयोगी प्रश्नों को प्रश्नावली में स्थान देना है, केवल इतना निश्चित कर लेने मात्र से ही एक उत्तम प्रश्नावली का निर्माण नहीं हो जाता है, जब तक कि प्रश्नों की प्रकृति तथा भाषा पर भी आवश्यक ध्यान न दिया जाए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—

(१) **भाषा की स्पष्टता एवं विशिष्टता** (Clear and Specific Language)—प्रश्नावली में उत्तरदाता को प्रत्येक प्रश्न को स्वयं समझकर उत्तर देना पड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि प्रश्न इतने स्पष्ट हों कि उत्तरदाता को उन्हें समझने में कठिनाई न हो। प्रश्नों की भाषा इस प्रकार होनी चाहिए कि उनका अर्थ अत्यन्त स्पष्ट और सुनिश्चित हो। प्रश्नों में विशिष्ट शब्दों, विभागीय शब्दों तथा शब्दों के संक्षिप्त रूप (abbreviations) का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार अप्रचलित शब्दों, दोषपूर्ण वाक्य-विन्यास, भावात्मक शब्द, सापेक्षिक शब्द (जैसे अधिक, प्रायः बहुधा, आदि) बहुअर्थक शब्द, पारिभाषिक शब्दावलियों (technical terms) से यथासम्भव दूर रहना चाहिए। सूचनादाता के मन में असमंजस उत्पन्न करने वाले प्रश्नों को प्रश्नावली में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, "क्या आप अच्छे पढ़े-लिखे हैं ?" यह प्रश्न पूछने के स्थान पर "आपने किस कक्षा तक शिक्षा ग्रहण की है ?" पूछना अधिक अच्छा है क्योंकि 'अच्छे पढ़े-लिखे' होने का अभिप्राय अलग-अलग सूचनादाता के लिए पृथक्-पृथक् होगा।

(२) **प्रश्नों की सरलता** (Simple Questions)—यह भी आवश्यक है कि प्रश्नावली में सम्मिलित किए गए प्रश्न सरल हों जिससे कि सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति भी उसके अर्थ को सरलता से समझ सकें। प्रश्नों की सरलता इसलिए और भी आवश्यक है क्योंकि प्रश्नावली के प्रश्नों का उत्तर सूचनादाता को बिना अनुसन्धानकर्त्ता की सहायता से देना होता है।

(३) **इकाइयों की स्पष्ट परिभाषा** (Clear Definitions of Units)—यथार्थ उत्तर पाने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रश्नों की इकाइयों की स्पष्ट परिभाषा भी दे दी जाए। ऐसा न करने से प्रत्येक उत्तरदाता इन इकाइयों को अपने-अपने दृष्टिकोण तथा सूझ-बूझ से अलग-अलग रूप में परिभाषित करेगा और इसीलिए उनसे प्राप्त उत्तरों में पर्याप्त भिन्नता पनपने की सम्भावना होगी। अतः इकाइयों की स्पष्ट परिभाषा आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि हम यह प्रश्न करते हैं कि "आपके परिवार में कितने वयस्क सदस्य हैं ?' तो यह स्पष्ट कर देना होगा कि वयस्क (adult) से तात्पर्य उन लोगों से है जो कि १८ वर्ष की आयु से अधिक हैं। ऐसा कर देने से 'वयस्क' शब्द को सभी सूचनादाता एक ही अर्थ में समझेंगे। उसी प्रकार पारिभाषिक शब्दावलियों की व्याख्या भी कर देनी चाहिए जैसे 'अर्द्ध वेकार' (under employment), 'कार्यशील जनसंख्या' (working population) आदि के तात्पर्य को समझा देना चाहिए।

(४) **कम प्रश्न** (Few Questions)—प्रश्नावली के प्रश्नों का उत्तर देने के सम्बन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता उत्तरदाताओं पर अपना व्यक्तिगत प्रभाव नहीं डाल सकता। इसीलिए यदि प्रश्नों की संख्या बहुत अधिक हुई तो प्रश्नावली को भरकर लौटाने का उत्साह सूचनादाता अपने में अनुभव नहीं करेगा। साथ ही, अधिक प्रश्न होने से समय, धन तथा परिश्रम का भी दुरुपयोग होता है। अतः प्रश्नों की संख्या न्यूनतम ही होनी चाहिए। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जिन विषयों पर प्रश्न पूछना आवश्यक है उसकी अवहेलना की जाए।

(५) **सांख्यिकीय विवेचन के योग्य प्रश्न** (Questions subject to statistical treatment)—साथ ही, प्रश्नों को सम्मिलित करते समय इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न ऐसे हों जिनके उत्तरों का उचित वर्गीकरण, सारिणीयन आदि सम्भव हो। अतः अधिकांश प्रश्न ऐसे हों जिनका उत्तर संख्या में या 'हाँ/नहीं' में हो। इससे अध्ययन-कार्य में वस्तुनिष्ठता (objectivity) पनपती है।

(६) **सही सूचना प्राप्त करने योग्य प्रश्न** (Questions stimulating true informations)—प्रश्नों को इस ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए कि उत्तरदाताओं के द्वारा सही स्थिति को छिपाने की सम्भावना न्यूनतम हो। श्रेष्ठ प्रश्न वही है जो कि सही सूचना प्राप्त करने में सफल होता है। उदाहरणार्थ, "तुम्हें वेश्यागमन का शौक क्यों है ?" इस प्रश्न का सही उत्तर प्राप्त करना कठिन है। अतः ऐसे प्रश्नों से वचना ही उचित होता है।

(७) **कुछ विशिष्ट प्रकार के प्रश्नों से बचाव** (Avoiding some particular type of Questions)—कुछ इस प्रकार के प्रश्न होते हैं जिनके सम्बन्ध में वैषयिक उत्तर प्राप्त करना कठिन होता है। अतः उन्हें प्रश्नावली में सम्मिलित करना उचित नहीं होता। गुप्त व गहन सूचनाएँ प्राप्त करने के लिए किए गए प्रश्न, पथ-प्रदर्शक प्रश्न, प्राक्कल्पनात्मक प्रश्न, वैयक्तिक प्रश्न, भावात्मक प्रश्न, रूढ़ियुक्त प्रश्न आदि इसी प्रकार के कुछ प्रश्न हैं जिनसे बचना आवश्यक है। कभी-कभी तो ऐसा

देखा जाता है कि गुप्त व वैयक्तिक जीवन से ही सम्बन्धित केवल दो-चार प्रश्नों का समावेश प्रश्नावली में कर देने पर सम्पूर्ण प्रश्नावली का ही उत्तर प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। पति-पत्नी के गुप्त सम्बन्धों, व्यापारिक रहस्यों आदि से सम्बन्धित प्रश्नों से इसी कारण बचने की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार ऐसे प्रश्नों से बचना चाहिए जिनमें प्रातीतिक मूल्यांकन (subjective evaluation) करने वाले शब्दों जैसे 'अच्छा', 'बुरा' आदि का समावेश हो। इससे अध्ययन में वस्तुनिष्ठता पनप नहीं पाती है। इसके अतिरिक्त व्यंगात्मक प्रश्नों से भी दूर रहने की आवश्यकता है। ऐसा न करने पर सूचनादाता के मन में विरक्ति व विरोध की भावना पनप जाती है। अनुसन्धानकर्त्ता का काम तो वास्तविकता की खोज करना है, न कि किसी के आन्तरिक जीवन को ठेस पहुँचाना।

प्रश्नावली का भौतिक पक्ष
(Physical Aspect of Questionnaire)

केवल प्रश्नों की प्रकृति व शब्दावली पर ही प्रश्नावली की सफलता निर्भर नहीं है। इसके कुछ भौतिक पक्ष भी कम महत्त्व के नहीं हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(क) प्रश्नावली का आकार (Size of Questionnaire)—प्रश्नावली को उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका आकार न तो बहुत बड़ा हो और न ही बहुत छोटा। बहुत बड़े आकार की प्रश्नावली को देखकर ही उत्तरदाता घबड़ा जाता है और साथ ही ऐसी प्रश्नावलियों को बार-बार मोड़ने से फटने या अन्य प्रकार से नष्ट हो जाने की सम्भावना होती है। सामान्यत: $८\frac{१}{२}" \times ११"$ के कागज पर ही प्रश्नावली छपवाई जाती है। पर जनगणना आदि के अवसर पर बड़े आकार की प्रश्नावली ही प्रयोग में लाई जाती है।

(ख) छपाई और रंग (Printing and Colour)—प्रश्नावली को आकर्षक बनाने के लिए छपाई तथा कागज के रंग का भी अत्यन्त ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि इन सबका प्रभाव मनोवैज्ञानिक तौर पर सूचनादाता पर पड़ता है। खराब कागज फट भी जल्दी जाता है इसलिए वर्गीकरण आदि के समय में काफी कठिनाई हो सकती है। उसी प्रकार कागज उत्तम प्रकार का न होने से उत्तर लिखते समय स्याही फैल जाती है। इससे भी बाद को बहुत असुविधा होती है। उसी प्रकार यदि छपाई अच्छी नहीं है तो उसे पढ़ने में उत्तरदाता को कष्ट हो सकता है और उसकी उत्तर देने की रुचि कम हो सकती है। प्रश्नावली-प्रविधि में रंग, छपाई आदि के द्वारा प्रश्नावली को आकर्षक बनाने से कुछ सीमा तक अनुसन्धानकर्त्ता की अनुपस्थिति की पूर्ति हो जाती है।

(ग) प्रश्नावली की लम्बाई (Length of Questionnaire)—एक प्रश्नावली में प्रश्नों की संख्या इतनी नहीं होनी चाहिए कि सम्पूर्ण प्रश्नावली अनेक पृष्ठों में छप सके। अधिक लम्बी प्रश्नावली को भरने में उत्तरदाता का बहुत अधिक समय लगता है और इसीलिए वह ऐसी प्रश्नावली से घबड़ाता है; इसीलिए यह आवश्यक है कि प्रश्नावली इतनी लम्बी न हो कि उसे भरने में उत्तरदाता ऊब जाएँ। कम-से-कम और संक्षिप्त प्रश्नों वाली प्रश्नावली अधिक उपयोगी मानी जाती है यद्यपि पचास पृष्ठों तक की प्रश्नावलियाँ भी सफलतापूर्वक प्रयोग में लाई जा चुकी हैं। फिर भी यदि प्रश्नावली की लम्बाई इतनी है कि अधिक-से-अधिक आधे घण्टे में उसे भरा जा सके, तो उसे एक उत्तम प्रश्नावली माना जाता है।

(घ) मदों की व्यवस्था (Arrangement of Items)—यदि प्रश्नों की संख्या अधिक भी है और यदि उन प्रश्नों को सुव्यवस्थित ढंग से सजा दिया गया है तो प्रश्नावली की लम्बाई खटकती नहीं है। इसीलिए यदि प्रश्नों की संख्या अधिक है तो उन्हें कुछ समूह में बाँट देना चाहिए और प्रत्येक समूह के प्रश्नों को व्यवस्थित रूप में इस प्रकार लगा देना चाहिए कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित जान पड़ें। इससे प्रश्नों का एक स्वाभाविक वहाव प्रश्नावली में देखने को मिलता है और उत्तरदाता उसी वहाव में वहता चला जाता है और उसे प्रश्नों का उत्तर देने में परेशानी नहीं होती। प्रत्येक प्रश्न-समूह का शीर्षक, उपशीर्षक आदि देने से भी प्रश्नावली व्यवस्थित व आकर्षक वन जाती है और प्रश्नों को एक क्रम से लिखने से न केवल विषय का स्पष्टीकरण होता जाता है अपितु वर्गीकरण आदि के काम में पर्याप्त सहायता मिलती है।

प्रश्नावली की पूर्व-जाँच
(Pretesting of Questionnaire)

हर तरफ से सावधानी वरतने पर भी प्रत्येक प्रश्नावली में कुछ-न-कुछ त्रुटि अवश्य ही रह जाती है और इन त्रुटियों का तव तक पता नहीं चलता जव तक कि प्रश्नावली को व्यावहारिक प्रयोग में न लाया जाए। यदि वहुत वाद में इन त्रुटियों का पता चला तो उन्हें सुधारने में वहुत परेशानी होती है। इसीलिए वास्तविक रूप में सूचना एकत्रित करने के लिए प्रश्नावली को प्रयोग में लाने के लिए उसकी पूर्व-परीक्षा कर लेना आवश्यक होता है। इसीलिए प्रश्नावली को अन्तिम रूप देने और सूचनादाताओं के पास उसे भेजने से पूर्व अध्ययन-क्षेत्र से ही किसी छोटे समूह को सैम्पल (sample) के रूप में चुनकर प्रश्नावली का प्रयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार के परीक्षण से जो भी दोष पता चलते हैं उन्हें दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाना चाहिए अर्थात् आवश्यकतानुसार प्रश्नावली में परिवर्तन व परिवर्द्धन कर देना चाहिए। यदि बहुत ज्यादा त्रुटियों का पता चलता है तो प्रश्नावली को फिर से वनाना चाहिए।

सहगामी पत्र
(Accompanying Letter)

पूर्वपरीक्षा करने के वाद प्रश्नावली में आवश्यक परिवर्तन व परिवर्द्धन करके उसे अन्तिम रूप दिया जाता है और फिर वास्तविक सूचनादाताओं के पास डाक द्वारा उसे भेज दिया जाता है। पर ऐसा करते समय प्रत्येक प्रश्नावली के साथ एक व्यक्तिगत पत्र संलग्न कर देना चाहिए जिसमें सूचनादाता को अनुसन्धान-कार्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में वताते हुए उनको सहयोग प्रदान करने के लिए अनुरोध करना चाहिए। इसके लिए सवसे प्रथम आवश्यकता इस वात की है कि यह पत्र बहुत ही अच्छे कागज पर साफ व सुन्दर टाइप से आकर्षक शीर्षक सहित छपा हो ताकि वह पत्र सूचनादाता को अपनी तरफ आकर्षित करने में निश्चय ही सफल हो। यदि यह सहगामी पत्र इस काम में सफल हुआ तो वह व्यक्तिगत साक्षात्कार की ही भाँति उपयोगी सिद्ध होगा और सूचनादाता तथा अनुसन्धानकर्त्ता को एक-दूसरे के निकट लाकर उन्हें व्यक्तिगत सम्वन्धों में बाँधने का काम करेगा। इसी सहगामी पत्र का प्राथमिक प्रभाव यह होता है कि उसी के आधार पर अनुसन्धान की प्रकृति, महत्त्व आदि के सम्वन्ध में कुछ तात्कालिक निष्कर्ष निकालने में सूचनादाता को अत्यन्त सुविधा होती है और

उसकी इस जिज्ञासा की भी पूर्ति होती है कि 'सूचना किसे चाहिए' और 'किस लिए चाहिए'।

इस पत्र में किस प्रकार का अनुरोध किया जाए यह दूसरी समस्या है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सहगामी पत्र में सहयोग की याचना इस रूप में प्रस्तुत की जाए कि अपना समय तथा उत्साह नष्ट करके और उस समय के दौरान में किए जाने वाले अन्य मनोरंजक क्रियाओं से अपने को वंचित करके भी प्रश्नावली को भरने के सम्बन्ध में सूचनादाता के मन में कोई हिचक अवशेष न रह जाए। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यह है कि पत्र के द्वारा हमें सूचनादाता के मन से समस्त प्रकार के सन्देह व डर को इस प्रकार मिटा देना पड़ता है कि वह प्रश्नावली को भरने के लिए स्वत: प्रेरित हो। इसीलिए यह उचित है कि पत्र के आरम्भ में ही यह स्पष्ट शब्दों में कह देना चहिए कि केवल अनुसन्धान-कार्य के लिए अथवा ज्ञान के विस्तार के लिए सूचनाओं की याचना की जा रही है और उन सूचनाओं का किसी भी रूप में दुरुपयोग नहीं किया जाएगा।

इस प्रकार विश्वास उत्पन्न करने के बाद पत्र में यह लिखना चाहिए कि उस पत्र के साथ एक प्रश्नावली भेजी जा रही है जिसके प्रश्नों का उत्तर अपनी सुविधानुसार भरकर प्रश्नावली को वापस भेज देने की कृपा करें। यह भी लिख देना लाभदायक सिद्ध होता है कि वे अपना नाम प्रश्नावली में न लिखें ताकि उनके नाम के साथ उनके द्वारा दिए गए उत्तरों को जोड़ा न जा सके।

शीघ्र जवाब पाने के लिए और साथ ही अधिक संख्या में भरी हुई प्रश्नावलियों को प्राप्त करने के लिए टिकट सहित जवाबी लिफाफा प्रश्नावली के साथ भेज देना चाहिए। इस प्रकार के जवाबी लिफाफे का भी एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव सूचनादाता पर पड़ता है और वह यह सोचता है कि जब अनुसन्धानकर्त्ता ने इतना पैसा खर्च किया है तो उसे जवाब दे ही दिया जाए। टिकट सहित जवाबी लिफाफा भेजने पर भी सभी लोग प्रश्नावली को भरकर नहीं भेजते हैं और उस अवस्था में पर्याप्त पैसा यूँही बर्बाद होता है। इस बर्बादी को रोकने के लिए 'व्यापारी जवाबी लिफाफा (Business Reply Envelope) सबसे उत्तम होता है।

श्री स्लेटो (Sletto) के अनुसार कभी-कभी सहगामी पत्र में सूचनादाता की रुचि को चुनौती देने का भी बड़ा अच्छा फल प्राप्त होता है। आपने स्वयं शिक्षा सम्बन्धी परिवर्तनों का अध्ययन करते समय अपने सहगामी पत्र में ये लिखा था कि "बहुत से लोग यह विश्वास करते हैं कि इस प्रकार का अध्ययन सफल हो ही नहीं सकता क्योंकि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी अपने-आपको लेकर ही इतने ज्यादा व्यस्त हैं कि इस प्रकार की लम्बी प्रश्नावलियों का उत्तर देने के प्रति वे अत्यधिक उदासीन हैं।" इस चुनौती से बड़ा अच्छा फल प्राप्त हुआ और पर्याप्त संख्या में प्रश्नावलियों को भरकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने लौटाया।

प्रश्नावलियाँ भेजने में सावधानी
(Precautions in despatching the Questionnaires)

सहगामी पत्र ठीक-ठीक तैयार हो जाने के बाद प्रश्नावली के साथ उसे लगाकर सूचनादाताओं को भेज देना चाहिए। ऐसा करते हुए कुछ विशेष बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—(अ) प्रश्नावली सहगामी पत्र के साथ भेजते समय इस सम्बन्ध में नि:सन्देह हो जाना चाहिए कि सही पते पर उन्हें भेजा जा रहा है। (ब) सभी

प्रश्नावलियों को एक ही दिन भेजना चाहिए इससे लगभग दो-चार दिन के अन्तर में भरी हुई प्रश्नावलियों के लौटने की सम्भावना बढ़ जाती है। (स) प्रश्नावलियाँ ऐसे दिन भेजी जानी चाहिएँ कि वे साप्ताहिक अवकाश के एक-दो दिन पूर्व सूचनादाताओं को मिलें। इससे रविवार की छुट्टी में वे धैर्य और शांति के साथ प्रश्नावली को पढ़ने तथा प्रश्नों का उत्तर देने के लिए आवश्यक समय को निकाल सकेंगे। (द) प्रश्नावली के साथ उत्तर भेजने के लिए आवश्यक लिफाफा आदि जरूर भेज देना चाहिए।

अनुगामी पत्र
(Follow-up Letters)

सूचनादाताओं के द्वारा बहुत कम प्रश्नावलियाँ भरकर लौटाई जाती हैं, विशेष करके प्रथम सहगामी पत्र के पाने के तुरन्त बाद ही प्रश्नावलियों को लौटाया नहीं जाता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि प्रश्नावली भेजने के पश्चात् निश्चित समय तक उत्तर की प्रतीक्षा करने के उपरान्त पुनः सूचनादाता से अनुगामी पत्रों के द्वारा यह अनुरोध किया जाए कि वे प्रश्नावलियों को भरकर लौटा दें। कितने दिन बाद ऐसा पत्र भेजना चाहिए यह बहुत-कुछ निर्भर करता है सूचनादाताओं की प्रकृति तथा प्रश्नावलियों के लौटने की दर पर। पर प्रायः १५ दिन पश्चात् पहला अनुगामी पत्र भेजना उचित माना जाता है। इसके पश्चात् एक-एक सप्ताह के बाद अनुगामी पत्र भेजने चाहिएँ। आवश्यकता पड़ने पर तार या टेलीफोन का भी उपयोग किया जा सकता है।

प्रश्नावली-प्रविधि में उत्तर न पाने की समस्या
(Problem of Non-response in Questionnaire Technique)

सहगामी पत्र सहित प्रश्नावली को भेज देने मात्र से ही इस बात की गारण्टी नहीं हो जाती है कि उत्तरदाता उन प्रश्नावलियों को भरकर अवश्य ही लौटा देंगे। वास्तविक स्थिति यह होती है कि प्रश्नावली भेजने और कई अनुगामी पत्रों द्वारा याद दिलाने के बाद भी उत्तरदाताओं से प्रश्नावलियाँ भरकर वापस नहीं आती हैं और अध्ययन का कार्य या तो अधूरा रह जाता है या फिर से निदर्शनों को चुनकर उनसे सूचना भेजने के लिए अनुरोध करना पड़ता है। एक नहीं अपितु एकाधिक कारणों से सूचनादाताओं से या तो उत्तर प्राप्त नहीं होता है या बहुत कम संख्या में प्रश्नावलियाँ लौटकर आती हैं। इन कारकों की विवेचना यहाँ कर लेना आवश्यक होगा।

उत्तर प्राप्त न होने के कारक
(Factors influencing no-response)

वे कारक जो कि सूचनादाताओं से उत्तर की प्राप्ति न होने को प्रभावित करते हैं निम्नलिखित हैं—

(१) सूचनादाता से सम्बन्धित कारक (Factors related to Informants)—सूचनादाताओं को भेजी हुई प्रश्नावलियाँ प्रायः कुछ ऐसे कारणों से भी लौटकर नहीं आती हैं जो कि स्वयं सूचनादाताओं से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि जिस पते पर प्रश्नावली भेजी गई है वहाँ से किसी दूसरी जगह को सूचनादाता के चले जाने के कारण वह प्रश्नावली उसे प्राप्त ही न हो, अनुसन्धान-

कर्त्ता को यह पता ही न हो कि सूचनादाता की मृत्यु हो चुकी है अथवा जो पता मालूम है वह सूचनादाता का वास्तविक पता नहीं है; इन सभी परिस्थितियों में उत्तर पाने की आशा नहीं की जा सकती। उसी प्रकार लम्बे अरसे के लिए सूचनादाता का घर से बाहर चला जाना, अपनी व्यस्तता के कारण प्रश्नावली को भरने की बात भूल जाना, किसी अज्ञात कारण से प्रश्नावली भरने को इच्छुक ही न होना, विषय के बारे में अज्ञानता तथा शिक्षा का निम्न स्तर भी सूचनादाता से सम्बन्धित ऐसे कारक हैं जिनके कारण प्रश्नावली भेजने के बाद फिर लौटकर वापस नहीं आती।

(२) **वर्ग सम्बन्धी विशेषताएँ** (Group Characteristics)—अध्ययन किए जाने वाले समूह के विशिष्ट गुणों का भी प्रत्युत्तरों (responses) की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। सूचनादाताओं का लिंग, आयु, शिक्षा, आर्थिक स्थिति, पेशा, तथा रहन-सहन का स्तर उत्तरों की संख्या को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं। श्री डेविड स्टार्च (David Starch) के अध्ययन से पता चलता है कि उच्च आय तथा निम्न आय वाले वर्गों में प्रश्नावली लौटाने की प्रवृत्ति कम होती है जबकि मध्यम वर्ग में अधिक। निम्न आय वाले वर्गों में सन्देहशीलता, अशिक्षा, विचारों की संकीर्णता आदि के कारण उत्तर भरकर प्रश्नावली न लौटाने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है जब कि उच्च आय-समूहों में कर्म-व्यस्तता, आय-कर सम्बन्धी डर, लापरवाही आदि कारण उन्हें उत्तर देने से रोकते हैं।

(३) **अनुसन्धान-संस्था की प्रस्थिति** (Status of Research Organization)—जिस संस्था अथवा संगठन के तत्वावधान में अध्ययन हो रहा है उसकी ख्याति अनुसन्धान-क्षेत्र में है अथवा नहीं, यह बात भी प्रत्युत्तरों की मात्रा को प्रभावित करती है। यदि उस संस्था की प्रस्थिति (status) ऊँची है तो लोग अधिक संख्या में प्रश्नावलियों को भरकर लौटाते हैं, जबकि एक अज्ञात, अप्रसिद्ध संगठन की प्रश्नावलियों को भरकर भेजने को लोग समय का अपव्यय मात्र मानते हैं जिसके कारण उत्तर सहित प्रश्नावली लौटकर मिलने की सम्भावना बहुत कम रहती है।

(४) **समस्या या विषय का महत्त्व** (Importance of the Problem or Subject-Matter)—अध्ययन-विषय या समस्या भी प्रत्युत्तरों को प्रभावित करने वाला महत्त्वपूर्ण कारक है। यदि अध्ययन-विषय तात्कालिक परिस्थितियों में जनता के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तो ऐसी समस्या से सम्बन्धित प्रश्नावली के अधिक संख्या में लौट आने की सम्भावना होती है। यदि समस्या प्रत्यक्ष रूप से सूचनादाताओं से सम्बन्धित है तो प्रत्युत्तरों का प्रतिशत और भी अधिक होता है। इसके विपरीत यदि उत्तरदाताओं के दृष्टिकोण से अध्ययन-विषय सामान्य व महत्त्वहीन है तो उत्तरसहित प्रश्नावलियों के लौटने की सम्भावना कम होती है।

(५) **प्रश्नावली का आकार** (Size of Questionnaire)—साधारणतया यह देखा जाता है कि बड़े आकार की प्रश्नावली की अपेक्षा छोटे आकार की प्रश्नावली में प्रत्युत्तरों का प्रतिशत अधिक होता है। अधिक प्रश्नों को देखकर सूचनादाता घबड़ा जाता है क्योंकि उन प्रश्नों का उत्तर देने में उसका पर्याप्त समय लगता है और उसे असुविधा होती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि प्रश्नावली का आकार न तो अधिक बड़ा हो और न ही अधिक छोटा।

(६) **प्रश्नावली की प्रकृति** (Nature of Questionnaire)—सरल, संक्षिप्त व आकर्षक प्रश्नावलियों का एक स्वस्थ मनोवैज्ञानिक प्रभाव सूचनादाता पर पड़ता है और उसे उत्तर देने के लिए प्रेरित करता है। इसलिए ऐसी प्रश्नावलियों के प्रत्युत्तर

शीघ्र एवं अधिक संख्या में आने की सम्भावना रहती है। इसके विपरीत जो प्रश्नावली अनावश्यक रूप से लम्बी, अस्पष्ट, कठिन एवं अनाकर्षक होती है, उसके लौटने की सम्भावना कम होती है। अत: उत्तरों के प्रतिशत को प्रभावित करने वाले कारकों में प्रश्नावली की प्रकृति एक उल्लेखनीय महत्त्व रखती है।

(७) **प्रश्नों का अनुक्रम** (Sequence of Questionnaire)—प्रो० फ्रेजन (Frajen) के अनुसार प्रत्युत्तरों की मात्रा को प्रभावित करने में प्रश्नावली की लम्बाई का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि प्रश्नों के अनुक्रम का। प्रश्नावली में सम्मिलित प्रश्नों में यदि सम्वद्धता का अभाव है, एक ही विषय से सम्वन्धित प्रश्नों को एक सिलसिले से न लिखकर यदि उन्हें जहाँ-तहाँ विखरा दिया गया है और प्रश्नावली में अध्ययन-विषय का क्रमशः स्पष्टीकरण न होकर वह असम्वन्धित प्रश्नों का एक ढेर मात्र वन गया है, तो प्रत्युत्तरों की मात्रा वहुत कम होती है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक प्रश्न पूर्वप्रश्न से इस प्रकार सम्वन्धित है कि वे समस्या के सन्दर्भ में एक-दूसरे की पुष्टि करने वाले व अध्ययन-विषय का स्पष्टीकरण करने वाले हैं तो निश्चय ही प्रश्नावलियों के अधिक मात्रा में भरकर लौट आने की सम्भावना होती है।

(८) **समस्या के प्रति उत्तरदाताओं की मनोवृत्ति** (Attitude of the Respondents towards the Problem)—समस्या के प्रति उत्तरदाताओं की मनोवृत्ति का भी प्रभाव प्रत्युत्तरों के प्रतिशत पर पड़ता है। सर्वश्री काट्ज़ तथा कैंट्रिल (Catz and Cantril) के मतानुसार जो लोग प्रश्नावलियों को भरकर लौटाते हैं उनमें एक वहुत ऊँचा प्रतिशत उन लोगों का होता है जो समस्या के पक्ष अथवा विपक्ष में तीव्र मनोभाव रखते हैं। इसके विपरीत समस्या के प्रति निष्पक्ष या उदासीन भाव रखने वाले लोग वहुत कम उत्तर सहित प्रश्नावलियों को लौटाते हैं। इस प्रकार प्रश्नावली-प्रविधि के अन्तर्गत अध्ययन में केवल एक विशेष वर्ग का ही प्रतिनिधित्व हो पाता है। यह इस प्रणाली का एक उल्लेखनीय दोष वन गया है।

प्रत्युत्तर प्राप्त करने की प्रविधियाँ
(Techniques of getting Response)

चूँकि प्रश्नावलियों के उत्तर सहित लौटने पर ही अनुसन्धान की सफलता वहुत-कुछ निर्भर करती है, अत: प्रयत्न यह किया जाता है कि अधिक-से-अधिक संख्या में प्रत्युत्तर प्राप्त हो जाएँ। इसके लिए निम्नलिखित प्रविधियों या तरीकों को अपनाया जाता है—

(१) **सहयोग की प्रार्थना** (Appeal for Cooperation)—सूचनादाता प्रश्नावलियों को भरकर भेज दें, इस सम्बन्ध में उनसे सहयोग की अपील करना प्रत्युत्तर प्राप्त करने का एक सरल व सीधा तरीका है। यह अपील प्रत्येक प्रश्नावली के साथ भेजे जाने वाले एक सहगामी पत्र (accompanying letter) के माध्यम से की जाती है। इस पत्र में अनुसन्धान-कार्य में सूचनादाता के महत्त्व को समझाने में यदि अनुसन्धानकर्त्ता सफल होता है तो अधिक प्रत्युत्तर की आशा की जाती है। इसीलिए यह अपील प्रभावपूर्ण भाषा में इस प्रकार की होनी चाहिए कि उससे उत्तरदाता को विषय का एक सामान्य परिचय ऐसे आकर्षक रूप में मिले कि वह उत्तर देने को प्रेरित हो जाए।

(२) **सहायता प्रविधि** (Assistance Technique)—सूचनादाताओं को

किसी प्रकार की सहायता या आर्थिक लाभ पहुँचाने का लालच देकर भी प्रत्युत्तरों को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस प्रकार की विधि में (अ) आर्थिक प्रोत्साहन सर्वप्रथम है जिसके अन्तर्गत सूचनादाताओं को यह वचन दिया जाता है कि यदि उन्होंने प्रश्नावली को भरकर भेज दिया तो उन्हें एक निश्चित धनराशि भेंट की जाएगी। इसे लिफाफे में प्रश्नावली के साथ भेजा जा सकता है अथवा प्रश्नावली के ठीक भर-कर भेजने पर देने का वायदा किया जा सकता है। प्रो० हैनकॉक (Hancock) के अध्ययन के अनुसार धनराशि को अग्रिम (in advance) भेज देने से सर्वाधिक प्रत्युत्तर पाने की सम्भावना होती है, जबकि बाद में भेजने का वायदा करने पर उससे कम प्रत्युत्तर, और कुछ न देने पर सबसे कम प्रत्युत्तर प्राप्त हो पाते हैं। (ब) सहायता प्रविधि के अन्तर्गत दूसरा तरीका लॉटरी विधि है। यह विधि भी प्रत्युत्तरों को प्रभावित करने में बहुत सहायक सिद्ध हुई है। इस विधि में उत्तरदाताओं को यह सूचना दे दी जाती है कि जो लोग प्रश्नावली को भरकर लौटाएँगे उन सबके नाम से लॉटरी निकाली जाएगी और अमुक-अमुक पुरस्कार दिए जाएँगे। यदि पुरस्कार आकर्षक हुए तो प्रत्युत्तरों की मात्रा बढ़ जाती है। (स) प्रश्नावली को भरकर लौटाने के लिए डाक टिकट लगा हुआ जवाबी लिफाफा भेजना भी एक अन्य तरीका है। 'यदि उत्तर न भेजा गया तो डाक टिकट पर खर्च किया गया पैसा बर्बाद होगा'—यह भावना भी अनेक लोगों को उत्तर देने को प्रोत्साहित करती है। 'व्यापारिक जवाबी लिफाफा' (Business Reply Envelope) भेजने से इस प्रकार का कोई प्रभाव उत्तरदाताओं पर नहीं पड़ता है।

(३) **अनुगामी प्रविधि** (Follow-up Technique)—अनुभव के आधार पर देखा गया है कि डाक टिकट लगा हुआ जवाबी लिफाफा प्रश्नावली के साथ भेजने पर भी सूचनादाता उसे भरकर नहीं लौटाते। ऐसी स्थिति में कुछ समय बीत जाने के बाद सूचनादाता को पुनः याद दिलाने के लिए अनुगामी पत्र प्रविधि का उपयोग किया जाता है। प्रश्नावली भेजने के कुछ दिनों पश्चात् उनका वापस आना आरम्भ हो जाता है, पर धीरे-धीरे उनकी संख्या कम होती जाती है। जब यह संख्या बहुत कम हो जाए तो प्रथम तकाज़े का पत्र (reminder) भेजना चाहिए। प्रो० लिण्डसे (Lindsay) के मतानुसार तकाज़े के पत्रों का प्रथम दौर प्रश्नावली भेजने के २३ दिन पश्चात्, दूसरा दौर पहले दौर के एक सप्ताह के पश्चात् और तीसरा दौर दूसरे दौर के दो सप्ताह के पश्चात् भेजना उचित होता है। पहला अनुगामी पत्र पोस्टकार्ड पर भेजा जाता है जिसमें सूचनादाताओं को केवल स्मरण दिलाया जाता है कि उनके पास भेजी गई प्रश्नावली को उनको भरकर लौटाना है जो कि अब तक अनुसन्धानकर्ता को लौटकर नहीं मिली है। दूसरे पत्र को भेजते समय उसके साथ प्रश्नावली की एक प्रति भी भेज दी जाती है और पत्र में लिख दिया जाता है कि अनुसन्धानकर्त्ता को डर है कि कहीं पहले भेजी गई प्रश्नावली खो गई हो अथवा पहुँची ही नहीं हो, इसीलिए एक दूसरी प्रश्नावली भेजी जा रही है जिसे कि उत्तरदाता कृपया भरकर भेज दें। तीसरा तकाज़ा (third reminder) रजिस्टर्ड पोस्ट, तार या टेलीफोन द्वारा किया जा सकता है। इसपर भी अगर उत्तर न आए तो समझ लेना चाहिए कि अब उत्तर पाने की कोई आशा नहीं हैं। प्रायः तीन तकाज़ों के बाद अधिकांश प्रश्नावलियाँ लौट आती हैं। उदाहरणार्थ, प्रो० स्टैण्टन (Stanton) ने ९ पृष्ठ की प्रश्नावली के ६४ प्रतिशत उत्तर तीन तकाज़ों को भेजकर प्राप्त किए थे।

(४) **उपयुक्त समय तथा पते पर प्रश्नावलियाँ पहुँचना** (Timely and right delivery of Questionnaires)—अधिक प्रत्युत्तर पाने की एक और प्रविधि यह है कि इस सम्बन्ध में पर्याप्त सावधानी वरती जाए कि प्रश्नावलियाँ ठीक समय पर और सही पते पर पहुँच जाएँ। यदि प्रश्नावलियाँ उत्तरदाताओं के पास सप्ताह के प्रारम्भिक व्यस्त दिनों में पहुँचती हैं तो उत्तरदाता के व्यस्त कार्यक्रम के कारण या तो प्रश्नावली ही उनसे खो जाती है अथवा वे उसे भरकर भेजने की वात ही भूल जाते हैं। इसके विपरीत यह देखा गया है कि साप्ताहिक छुट्टी से एक-दो दिन पहले पहुँचने वाली प्रश्नावलियों के उत्तर सहित लौटने की सम्भावना अत्यधिक होती है क्योंकि रविवार में प्रश्नावली को धैर्यपूर्वक पढ़ने और उत्तर लिखने का समय उन्हें मिल ही जाता है। उसी प्रकार प्रश्नावलियों का उत्तरदाता तक ठीक-ठीक पहुँच जाना भी प्रत्युत्तरों की मात्रा को प्रभावित करता है। कभी-कभी प्रश्नावलियाँ इसलिए भी लौटकर नहीं आतीं क्योंकि पता गलत होने के कारण, उत्तरदाता के द्वारा मकान वदल देने के कारण अथवा लम्वी छुट्टी में वाहर कहीं चले जाने के कारण प्रश्नावलियाँ उत्तरदाताओं तक पहुँच ही नहीं पाती हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से पता कर लेना चाहिए कि प्रश्नावली उत्तरदाता तक पहुँची भी या नहीं। एक निश्चित समय के अन्दर प्रत्युत्तर न पाने पर रजिस्टर्ड डाक द्वारा पत्र भेजने पर सही स्थिति का पता लग सकता है।

प्रश्नावली की विश्वसनीयता
(Reliability of Questionnaire)

एकाधिक अनुगामी पत्र भेजकर अधिकांश प्रश्नावलियों को उत्तर सहित प्राप्त किया जा सकता है, पर उसके बाद भी यह समस्या बनी ही रहती है कि जो कुछ भी सूचनाएँ उत्तरदाताओं ने दी हैं उन पर कहाँ तक निर्भर किया जा सकता है—सभी सूचनादाताओं ने प्रश्नों को समान अर्थ में समझा भी है अथवा नहीं। यदि अधिकतर सूचनादाताओं ने प्रश्नों के अलग-अलग अर्थ लगाए हैं और उसी रूप में उन प्रश्नों का उत्तर लिख भेजा है तो प्रश्नावली की विश्वसनीयता पर शंका की जानी चाहिए। इस अर्थ में प्रश्नावली की विश्वसनीयता का तात्पर्य यह है कि अधिकांश सूचनादाताओं ने प्रश्नों को उसी अर्थ में समझा है जिस अर्थ में अनुसन्धान-कर्त्ता ने उन्हें प्रश्नावली में सम्मिलित किया है और उसी अर्थ में समझकर सही उत्तर दिया है। पर ऐसा प्राय: नहीं होता है और प्रश्नावलियों के उत्तरों में अशुद्धता पनप जाती है। अत: यह आवश्यक है कि हम प्रश्नावली में इस अशुद्धता के स्रोतों को अथवा विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाले कारकों को भी समझ लें जिससे कि इनसे वचा जा सके।

प्रश्नावली की विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors effecting the Reliability of Questionnaire)

प्रश्नावली की विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं अर्थात् प्रश्नावली में अशुद्ध अथवा असत्य सूचना निम्नलिखित स्रोतों से उत्पन्न हो सकती है—

(१) **गलत प्रकार के प्रश्न** (Wrong Questions)—प्रश्नावली में अशुद्ध सूचना का प्रवेश वहुधा इसलिए होता है कि पूछे गए प्रश्न में कोई न कोई दोष है।

अस्पष्ट प्रश्न, पारिभाषिक शब्दों से भरपूर प्रश्न, प्राक्कल्पनात्मक प्रश्न, बहुअर्थक प्रश्न, गुप्त जीवन से सम्बन्धित प्रश्न, व्यंगात्मक प्रश्न, प्रातीतिक मूल्यांकनात्मक (evaluative) प्रश्न आदि कुछ इस प्रकार के प्रश्न हैं जिनके प्रश्नावली में सम्मिलित हो जाने से शुद्ध या सत्य सूचना प्राप्त करना बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि ऐसे प्रश्नों का उत्तर सूचनादाता अपने-अपने ढंग से देते हैं—कोई-कोई सत्य को बिल्कुल ही छिपाते हैं तो कोई-कोई सत्य को तोड़-मोड़कर विकृत कर देते हैं। ऐसी दशा में प्रश्नावली अविश्वसनीय हो जाती है।

(२) **मिथ्या-झुकाव वाले निदर्शन** (Biased Sample)—यदि सूचनादाताओं को चुनते समय अनुसन्धानकर्त्ता मिथ्या-झुकाव या पक्षपात की भावना से प्रभावित हुआ है तो यह निश्चय है कि जो कुछ सूचना उसे प्रश्नावलियों के माध्यम से प्राप्त होगी वह समग्र (universe) का उचित प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। प्रश्नावली-प्रविधि में निदर्शन (sample) का प्रतिनिधित्वपूर्ण न होना स्वाभाविक ही होता है क्योंकि इस प्रविधि का प्रयोग केवल शिक्षितों तक सीमित है और अशिक्षित वर्ग स्वतः ही छूट जाता है। इतना ही नहीं, प्रश्नावली-प्रविधि में कभी-कभी बहुत कम प्रश्नावलियाँ उत्तर सहित लौटकर मिलती हैं जिसके फलस्वरूप प्राप्त सूचना प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं बन पाती है। भारत जैसे देशों में, जहाँ कि अशिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत पर्याप्त अधिक है, प्रश्नावली-प्रविधि द्वारा प्राप्त सूचना सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने में असफल ही रहती है क्योंकि अशिक्षित वर्ग की बात उसमें सम्मिलित नहीं हो पाती।

(३) **पक्षपातपूर्ण उत्तर** (Biased Responses)—कुछ विद्वानों का मत है कि अनुसूची-प्रविधि की तुलना में प्रश्नावली-प्रविधि द्वारा कम सही उत्तर प्राप्त किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि प्रश्नावली में जो कुछ सूचना उसे देनी है, उसको उसे अपने हाथ से लिखकर देना पड़ता है जिसके कारण सदा यह डर बना रहता है कि कहीं अनुसन्धानकर्त्ता उसका दुरुपयोग न करे। इस डर को सहगामी पत्र द्वारा पूर्णतया दूर नहीं किया जा सकता। इसीलिए उत्तरों में बनावटीपन या पक्षपात की भावना होती ही है। इतना ही नहीं, यह देखा गया है कि प्रश्नों का उत्तर वे लोग ही अधिक लिखकर भेजते हैं जो कि अध्ययन-विषय के घोर पक्ष या विपक्ष में हैं। यह स्वाभाविक ही है कि जब ऐसे लोग सूचनाएँ भेजते हैं तो उनकी वह सूचनाएँ पक्षपातपूर्ण ही होती हैं क्योंकि उनमें या तो पूर्ण विरोध-भाव या पूर्ण सहमति-सूचक भाव ही झलकता है। इस रूप में भी सही सूचना प्राप्त नहीं हो पाती है।

विश्वसनीयता की परख
(Test of Reliability)

प्रश्नावली द्वारा प्राप्त सूचनाएँ कहाँ तक विश्वसनीय हैं इस बात की परख निम्नलिखित विधियों से हो सकती है—

(१) **पुनः प्रश्नावली भेजना** (Sending again the Questionnaire)—उत्तरों की विश्वसनीयता की परख करने के लिए वही प्रश्नावली कुछ समय पश्चात् उन्हीं सूचनादाताओं के पास फिर से भेजी जा सकती है और यदि पहले और पुनः प्राप्त उत्तरों में पर्याप्त अन्तर है तो प्रश्नावली द्वारा प्राप्त सूचनाओं को अविश्वसनीय माना जाता है। पर इस प्रकार की परख तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब

उत्तरदाता की सामाजिक तथा मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हुआ हो और विषय तथा सूचना पर समय का कोई प्रभाव न पड़ा हो ।

(२) **अन्य समान वर्ग का अध्ययन** (Study of Similar Group)—प्रश्नावली की विश्वसनीयता की परख करने के लिए वही प्रश्नावली एक दूसरे समान वर्ग के पास भेजी जाए तथा दोनों सूचनाओं की परस्पर तुलना की जाए और यह जानने की कोशिश की जाए कि उत्तरों में कहाँ तक समानता है । यदि इस विवेचना से यह पता चलता है कि दोनों प्रकार की सूचनाओं में पर्याप्त अन्तर है तो यह मान लेना चाहिए कि प्रश्नावली अविश्वसनीय है ।

(३) **उपनिदर्शन का प्रयोग** (Use of Sub-sample)—विश्वसनीयता की परख करने की तीसरी विधि यह है कि प्रधान निदर्शन में से एक उपनिदर्शन चुनकर अनुसूची प्रविधि द्वारा सूचनाओं को एकत्रित किया जाए । उससे प्राप्त परिणामों के साथ प्रधान निदर्शन के परिणामों की तुलना की जाए । यदि इस तुलना से दोनों परिणामों में बहुत-कुछ समानता दिखाई दे तो प्रश्नावली को विश्वसनीय माना जाएगा ।

(४) **अन्य अनुसन्धान-प्रविधियों का उपयोग** (Use of Other Research Techniques)—प्रश्नावली की प्रामाणिकता को परखने के लिए अन्य अध्ययन-प्रविधियों को भी कसौटी के रूप में उपयोग किया जा सकता है । समान प्रश्नों के आधार पर साक्षात्कार अथवा निरीक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों के साथ प्रश्नावली-प्रविधि द्वारा उपलब्ध सूचनाओं की तुलना की जा सकती है और उस तुलना द्वारा समानता अथवा अन्तर की मात्रा के आधार पर विश्वसनीयता की मात्रा का अनुमान किया जा सकता है ।

(५) **पूर्वज्ञान** (Existing Knowledge)—कभी-कभी विश्वसनीयता की परख पूर्वज्ञान के आधार पर भी की जाती है । उदाहरणार्थ, यदि प्रश्नावली द्वारा हमें ऐसी सूचना प्राप्त होती है जो कि समस्या तथा क्षेत्र से सम्बन्धित पूर्वज्ञान के विपरीत है अथवा ऐसे आँकड़े हों जो कि किसी विशेष परिस्थिति में असम्भव जान पड़ें तो प्रश्नावली की विश्वसनीयता में सन्देह किया जा सकता है ।

यह सच है कि प्रश्नावली की विश्वसनीयता की परख उपरोक्त प्रविधियों से की जा सकती है फिर भी इन प्रविधियों को पूर्णरूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । इसका कारण यह है कि अधिकांश प्रविधियों में विश्वसनीयता की परख करने के लिए फिर से अध्ययन करने की आवश्यकता होती है । दो बार एक ही विषय का अध्ययन करने पर समान परिणामों की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि सामाजिक अनुसन्धान में समय का तत्त्व (time element) परिणामों को प्रभावित करता है । इसके अलावा भी दोनों अध्ययनों में अन्तर के अन्य कारण भी हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, एक विषय के सम्बन्ध में लोगों की राय समय के साथ-साथ बदल सकती है । उसी प्रकार पूर्वज्ञान के आधार पर भी विश्वसनीयता की परख सन्देहजनक है क्योंकि हो सकता है कि वह पूर्वज्ञान स्वयं ही गलत हो । इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रश्नावली की विश्वसनीयता की परख में अपने को अधिक न उलझाकर प्रश्नों के निर्माण तथा प्रश्नावली के प्रयोग में अधिक-से-अधिक सावधानी बरतने पर विश्वसनीय परिणामों की आशा की जा सकती है ।

अनुसूची तथा प्रश्नावली के निर्माण में सामान्य त्रुटियाँ
(Common Errors in the construction of Questionnaire and Schedule)

अनुसूची तथा प्रश्नावली के निर्माण व प्रयोग में भी कुछ सामान्य गलतियाँ पनप जाती हैं जिनके विषय में यहाँ विवेचना कर लेना उपयोगी होगा—

(१) गलत भाषा का प्रयोग (Use of Wrong Language)—अनुसूची व प्रश्नावली के निर्माण में सबसे उल्लेखनीय गलती भाषा से सम्बन्धित होती है। है। प्रायः भाषा के महत्त्व को हम समझ नहीं पाते और अपनी इच्छानुसार कोई भी शब्द या वाक्य का प्रयोग कर लेते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि प्रश्न अस्पष्ट, जटिल तथा बहुअर्थक बन जाता है जिसके फलस्वरूप निर्भरयोग्य सूचनाएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं; उसी प्रकार पारिभाषिक शब्दों का, सापेक्षिक व भावात्मक शब्दों का प्रयोग करके भी हम एक महान् गलती कर बैठते हैं।

(२) प्रश्नों की क्रम सम्बन्धी त्रुटियाँ (Mistakes related to sequence of the Questions)—अनुसूची तथा प्रश्नावली को बनाते समय हम एक और गलती यह करते हैं कि प्रश्नों के क्रमों का कोई ध्यान नहीं रखते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यथार्थ सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए प्रश्न को एक सिलसिले से सजाना परमावश्यक है। यदि प्रश्नों में कोई क्रमबद्धता नहीं है, वे एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं हैं और उनके माध्यम से विषय का स्पष्टीकरण नहीं होता है तो निर्भरयोग्य सूचनाओं को प्राप्त करना बहुत कठिन हो जाता है। फिर भी अक्सर प्रश्न को असम्बद्ध रूप में प्रस्तुत करने की गलती हम बहुधा कर बैठते हैं।

(३) गलत प्रकार के प्रश्नों को सम्मिलित करना (Inclusion of Wrong Type of Questions)—इस सम्बन्ध में एक और सामान्य गलती हम यह करते हैं कि प्रश्नावली या अनुसूची में इस प्रकार के प्रश्न को भी स्थान दे देते हैं जिसको कि वास्तव में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। सन्देहयुक्त प्रश्न, पथ-प्रदर्शक प्रश्न, गुप्त जीवन से सम्बन्धित प्रश्न, विरोधी भावना उत्पन्न करने वाले प्रश्न, आदर्शात्मक प्रश्न, व्यक्तिगत प्रश्न तथा प्राक्कल्पनात्मक प्रश्न को अनुसूची या प्रश्नावली में सम्मिलित करने की गलती का तात्पर्य अनुसूची या प्रश्नावली को अविश्वसनीय बना देना है।

(४) पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण (Prejudicial Approach)—इस सम्बन्ध में एक और गलती उस समय होती है, जब कि अध्ययन-विषय के प्रति अनुसन्धानकर्त्ता का कोई पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण होता है। ऐसा होने पर उस पक्षपात का कुछ न कुछ प्रभाव प्रश्नों के निर्माण पर और कुछ विशिष्ट प्रकार के प्रश्नों को सम्मिलित किए जाने पर पड़ता है। अपने पक्षपात के कारण अनुसन्धानकर्त्ता कुछ ऐसे विशेष प्रकार के प्रश्नों को अपनी अनुसूची या प्रश्नावली में सम्मिलित कर लेता है जिनका कि कोई विशेष महत्त्व अनुसन्धान में नहीं है अथवा प्रश्नों को इस भाँति तोड़-मोड़कर प्रस्तुत करता है कि सूचनादाता वही जवाब दे जैसा कि अनुसन्धानकर्त्ता चाहता है। इस प्रकार की गलती करने पर यथार्थ निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता।

(५) अनुसूचियों एवं प्रश्नावलियों के स्वरूप में अपूर्णताएँ (Imperfections in the Design of the Schedules and Questionnaires)—जब अनुसूची या प्रश्नावली के स्वरूप में कोई कमी रह जाती है तो भी वांछित सूचनाओं को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार की अपूर्णता तभी होती है जब कि अध्ययन

के अन्तिम उद्देश्य के सम्बन्ध में अनुसन्धानकर्त्ता का ज्ञान अपूर्ण व अव्यवस्थित होता है। प्रोफेसर डेमिंग (W. E. Deming ने लिखा है कि किसी भाँति अध्ययन-विषय से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर पा लेना ही पर्याप्त नहीं है। वे प्रश्न इस प्रकार के हों कि उनके द्वारा समस्या की जड़ों तक पहुँचना सम्भव हो और समस्या के अन्तर्निहित कारणों का पता लगाया जा सके ताकि इन कारणों का विभेदीकरण किया जा सके।[12] परन्तु अनुसूची व प्रश्नावली में प्रश्नों को सम्मिलित करते समय हम इस बात को भूल जाने की गलती करते हैं।

(६) अप्रतिनिधित्वपूर्ण सूचनादाताओं का चुनाव (Unrepresentative Selection of Respondents)—इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी गलती हम यह करते हैं कि सूचनादाताओं का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखते हैं कि वे सूचनादाता सम्पूर्ण समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व कर भी सकेंगे या नहीं। यह मानी हुई बात है कि यदि सूचनादाता प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हैं तो अध्ययन के परिणामों की यथार्थता की आशा नहीं की जा सकती। सूचनादाताओं की संख्या चाहे कम हो या अधिक, वे सब मिलकर समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व कर रहे हैं—इसका ध्यान रखना परमावश्यक है। लापरवाही से सम्पूर्ण जनसंख्या का अध्ययन करने की अपेक्षा प्रतिनिधित्वपूर्ण कुछ लोगों का अध्ययन कहीं अधिक उत्तम माना जाता है।

(७) स्थितियों एवं घटनाओं की गलत व्याख्या (Misinterpretation of Situations and Events)—अनुसूची या प्रश्नावली में अनुसन्धानकर्त्ता अध्ययन-विषय से सम्बन्धित स्थितियों एवं घटनाओं की गलत व्याख्या करता है या अध्ययन-इकाइयों का उचित स्पष्टीकरण नहीं करता है तो सूचनादाता परिस्थिति को ठीक से समझ नहीं पाते हैं और उनसे यथार्थ सूचनाएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं। ऐसा भी हो सकता है कि सूचनादाता अपने किसी स्वार्थ या हित से प्रेरित होकर स्थितियों एवं घटनाओं के सम्बन्ध में गलत सूचनाएँ प्रदान करे। प्रोफेसर ऑगबर्न ने अपने एक अनुभव की चर्चा करते हुए यह लिखा है कि एक मिल में श्रमिकों द्वारा की गई हड़ताल की स्थिति को जानने के लिए जब उन्होंने श्रमिकों के नेता से यह पूछा कि कितने लोग हड़ताल पर हैं, तो उत्तर मिला—१५,००० । यही प्रश्न मिल-मालिक से करने पर उन्होंने बताया कि केवल ३०० श्रमिक हड़ताल पर हैं।

(८) प्रत्युत्तरों में भिन्नताएँ (Variability in Responses)—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सभी सूचनादाता किन्हीं प्रश्नों को एक ही अर्थ में समझकर उसी अनुसार उत्तर देने में असमर्थ रहते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रश्नावली या अनुसूची में ऐसे शब्दों का गलती से प्रयोग किया जाता है जिनके कि एकाधिक अर्थ हो सकते हैं और इसीलिए प्रत्येक सूचनादाता प्रश्नों को अपने-अपने ढंग से समझकर अलग-अलग उत्तर देते हैं। अनुसूची या प्रश्नावली से प्राप्त सूचनाओं की वास्तविक उपयोगिता तभी है जबकि सभी उत्तरदाताओं के लिए सभी प्रश्न एक ही अर्थ वाले हों। प्रोफेसर डेमिंग (Deming) ने लिखा है कि प्रत्युत्तरों में भिन्नता जिस अनुपात में बढ़ती जाती है उसी अनुपात में प्रश्नावली या अनुसूची की विश्वसनीयता घटती जाती है।

---

12. "It is not sufficient merely to elicit answers to questions somehow or other related to the subject. The questions must attack the root of the problem by discovering what are the significant underlying causes so that these causes can be differentiated." —W. E. Deming

अनुसूची व प्रश्नावली में सामान्य आधारभूत कठिनाइयाँ
(Basic Difficulties common to Schedule and Questionnaire)

सूचनादाताओं से सूचना एकत्रित करने के साधन के रूप में अनुसूची प्रश्नावली-प्रविधि में कुछ सामान्य आधारभूत कठिनाइयों का सामना प्रत्येक अनुसन्धानकर्त्ता को करना पड़ता है। इन कठिनाइयों की विवेचना हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) **भाषा सम्बन्धी कठिनाई** (Difficulty relating to Language)—किसी भी अनुसूची या प्रश्नावली के निर्माण में भाषा सम्बन्धी कठिनाई सर्वप्रथम अनुसन्धानकर्त्ता के सामने आकर खड़ी हो जाती है। समस्या यह होती है कि किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाए कि विषय में अन्तर्निहित भाव न बदले और साथ ही सभी सूचनादाता उसे समझ भी लें। भाषा के थोड़े-से हेर-फेर से अन्तर्निहित भाव बिलकुल बदल जाता है और वास्तविक सूचना प्राप्त करना कठिन हो जाता है। भाषा सरल व स्पष्ट हो, पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न हो, अप्रचलित शब्दों, भावात्मक व सापेक्षिक शब्दों से बचा जाए—इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है जो कि प्रायः एक कठिन काम होता है। पर इस कठिनाई का सामना कितनी सफलतापूर्वक किया जा रहा है इस पर प्रश्नावली या अनुसूची की सफलता बहुत-कुछ निर्भर करती है क्योंकि प्रश्नों की भाषा तथा शैली सूचनादाताओं द्वारा दिए जाने वाले उत्तरों की प्रकृति को प्रभावित करती है।

(२) **सार्वभौमिक प्रश्न सम्बन्धी कठिनाई** (Difficulty relating to Universal Question)—अनुसूची तथा प्रश्नावली के निर्माण तथा प्रयोग में एक और कठिनाई सार्वभौमिक प्रश्नों को सम्मिलित करने से सम्बन्धित होती है। ऐसे सामान्य प्रश्नों का निर्माण अत्यन्त कठिन है जिनको कि सभी सूचनादाता एक ही अर्थ में समझें तथा उसी एक अर्थ में प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दें। यह स्वाभाविक ही है कि एक ही विषय के प्रति विभिन्न व्यक्तियों का दृष्टिकोण अलग-अलग होता है और इसीलिए कितनी ही सावधानी से प्रश्नों का निर्माण क्यों न किया जाए उन प्रश्नों का अर्थ विभिन्न सूचनादाता अपने-अपने दृष्टिकोण से ही समझते और प्रश्नों का उत्तर देते हैं। यह भिन्नता वर्गीकरण व सारिणीयन के कार्य को कठिन बना देती है।

(३) **सामान्य प्रश्नों की समस्या** (Problem of Uniform Questions)—प्रश्नावली व अनुसूची में सभी उत्तरदाताओं के सम्मुख एक ही प्रकार के प्रश्नों को प्रस्तुत करना पड़ता है। पर इस सम्बन्ध में कठिनाई यह होती है कि प्रत्येक सांस्कृतिक वर्ग के लिए एक ही भाषा तथा प्रकृति के प्रश्नों के माध्यम से यथार्थ तथा उपयुक्त सूचना प्राप्त नहीं की जा सकती। सूचनादाताओं में अनेक प्रकार की विविधताएँ होती हैं, जैसे कुछ पढ़े-लिखे होते हैं तो कुछ अनपढ़, कुछ लोग कम शिक्षित होते हैं तो कुछ लोग सुशिक्षित। इन सभी के लिए एक ही प्रकार का प्रश्न अनुपयोगी होता है। वास्तविक व यथार्थ उत्तर प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से अलग-अलग तरह के प्रश्न पृथक्-पृथक् शैली में पूछना आवश्यक हो जाता है। अतः प्रश्नावली व अनुसूची में सार्वभौमिक प्रश्नों का निर्माण कर लेने से भी कोई लाभ नहीं होता।

(४) **प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन की चुनाव सम्बन्धी कठिनाई** (Difficulty related to Selection of Representative Sample)—अनुसूची तथा प्रश्नावली

में एक और कठिनाई यह होती है कि सूचना एकत्रित करने के लिए प्रतिनिधित्वपूर्ण सूचनादाताओं का चुनाव कैसे किया जाए। सभी सूचनादाताओं के नाम व पते का निर्भरयोग्य सूची प्रायः उपलब्ध नहीं हो पाती है और जो सूची उपलब्ध होती है वह अधूरी, पुरानी या अनुपयुक्त होती है जिसके कारण निदर्शन का चुनाव दोषपूर्ण हो जाता है। साथ ही, निम्न वर्गों के लोगों के नाम व पतों की सूची उपलब्ध करना या बनाना बहुत कठिन होता है जिसके कारण प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन का चुनाव नहीं हो पाता है। कई बार चुने हुए सूचनादाता या तो मकान बदल देते हैं, या शहर छोड़कर चले जाते हैं जिसके कारण उनसे सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता अथवा वे जान-बूझकर सूचना देने से इनकार कर देते हैं। ऐसी अवस्था में उनके स्थान पर दूसरे सूचनादाताओं को चुनना पड़ता है जो कि प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं भी हो सकते हैं। इस प्रकार एक सूचनादाता के स्थान पर दूसरे को चुनने से धन तथा समय का भी अपव्यय होता है।

(५) पूर्ण सूचना प्राप्त करने के सम्बन्ध में कठिनाई (Difficulty in securing Complete Information)—अनुसूची तथा प्रश्नावली-प्रविधि में एक और कठिनाई यह होती है कि सूचनादाताओं से पूर्ण सूचना प्राप्त करना प्रायः असम्भव-सा होता है। आज का मनुष्य बहुत व्यस्त है, अपने ही जीवन सम्बन्धी उलझनों में वह इस प्रकार जकड़ा हुआ होता है कि फालतू बोझ अपने ऊपर लादना वह पसन्द नहीं करता है। अनुसूची या प्रश्नावली में एकाधिक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए भी इसीलिए वह उत्साह का अनुभव नहीं करता। प्रश्नावली या अनुसूची के प्रश्नों का उत्तर देने में सूचनादाता कोई व्यक्तिगत दिलचस्पी नहीं रखता और न ही उससे उसके किसी स्वार्थ की पूर्ति होने की सम्भावना होती है। इसलिए प्रश्नों का उत्तर देने में वह एक प्रकार की बेगार ही टालता है और पर्याप्त लापरवाही भी बरतता है। फलतः जो कुछ वह बताता है वह सम्पूर्ण सूचना नहीं होती है और उसके आधार पर अध्ययन के निष्कर्ष भी अधूरे ही रह जाते हैं।

(६) मिथ्या-झुकाव सहित सूचना (Biased Information)—अनुभव से पता चलता है कि प्रश्नावली तथा अनुसूची के प्रश्नों का उत्तर वे सूचनादाता ही अधिक देते हैं जो कि अध्ययन-विषय के घोर विरोधी या कट्टर समर्थक हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इन सूचनादाताओं से प्राप्त सूचनाओं में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव (Bias) का तत्त्व अत्यधिक होता है। घोर विरोधी भाव रखने वाले व्यक्ति विषय की कमजोरियों को खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करते हैं जबकि उसके कट्टर समर्थक विषय की महिमा को अतिरंजित रूप में प्रगट करने का प्रयास करते हैं। दोनों ही दशाओं में मिथ्या-झुकाव सहित सूचनाएँ ही प्राप्त होती हैं और उनके आधार पर विषय की वास्तविकता का पता लगाना कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं, स्वयं सूचनादाता के संकोच, स्वार्थ, डर या लापरवाही के कारण भी मिथ्या-झुकावपूर्ण सूचना प्राप्त हो सकती है।

(७) अस्पष्ट लेख तथा रिक्त स्थान से सम्बन्धित कठिनाई (Difficulty related to Illegible writing and Blank Spaces)—अनुसूची व प्रश्नावली-प्रविधि में एक और कठिनाई का सामना अनुसन्धानकर्त्ता को तब करना पड़ता है जब कि उत्तर इस प्रकार लिखा गया है कि उसे पढ़ा नहीं जा सकता अथवा कुछ खानों को बिना भरे ही छोड़ दिया गया है। यह एक सामान्य परेशानी का विषय है। अनुसूची भरते समय जल्दी में अनुसन्धानकर्त्ता कुछ का कुछ लिख बैठता है या सांकेतिक शब्दों

का प्रयोग करता है जिन्हें कि वाद में वह स्वयं ही समझ नहीं पाता अथवा पेंसिल से उत्तर भरने के कारण वह वाद को फीका पड़ जाता है। उसी प्रकार प्रश्नावली को भरते समय सूचनादाता लापरवाही में या जल्दी में इतना घसीटकर लिखता है कि उसकी लिखाई समझना एक समस्या वन जाती है। उसी प्रकार जल्दी में कुछ खानों को विना भरे ही छोड़ देना भी एक सामान्य गलती है जो कि अनुसन्धानकर्त्ता के लिए एक कठिन समस्या वन जाती है। कुछ ऐसे भी प्रश्न हो सकते हैं जिनका उत्तर सूचनादाता देना ही न चाहते हों। उस अवस्था में भी वह खाना रिक्त ही छूट जाता हैं। इन रिक्त स्थानों को यूँ ही छोड़ देने से हो सकता है कि कुछ विषयों पर अपूर्ण व अपर्याप्त सूचना ही उपलव्ध हो जो कि अनुसन्धान की एक कमी वन जाए।

(८) **विश्वसनीयता की परख में कठिनाई** (Difficulty in testing the Reliability)—अनुसूची तथा प्रश्नावली-प्रविधि में एक और उल्लेखनीय कठिनाई यह है कि इस प्रकार का कोई निर्भरयोग्य साधन अनुसन्धानकर्त्ता के पास नहीं होता है जिसके आधार पर वह यह परीक्षा कर सके कि जो कुछ भी सूचनाएँ उसे उत्तर-दाताओं से प्राप्त हुई हैं वे सही व विश्वसनीय हैं अथवा नहीं। विश्वसनीयता की परख करने की कुछ विधियों का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, पर वे पूर्णतया निर्भरयोग्य हैं यह कहा नहीं जा सकता। सवसे सामान्य विधि यह है कि किसी दूसरे तरीके से उसी विषय से सम्बन्धित सूचना को प्राप्त किया जाए और फिर दोनों प्रकार की सूचनाओं की तुलना की जाए। यदि दोनों प्रकार की सूचनाओं में समानता है तो विश्वसनीयता के सम्वन्ध में निःसन्देह हुआ जा सकता है। पर कठिनाई यह होती है कि परिवर्तनशील समाज में जहाँ कि न केवल सामाजिक परिस्थितियाँ व कारक वदलते रहते हैं अपितु मनुष्य का निजी दृष्टिकोण, विचार, मत आदि भी वदल जाते हैं वहाँ दोनों अध्ययनों के परिणामों में वहुत-कुछ समानता की आशा नहीं की जा सकती। तो फिर परख किस प्रकार से की जाए—यह कठिनाई बनी ही रहती है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनुसूची व प्रश्नावली-प्रविधि के प्रयोग में कुछ कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं और उन्हें अपने रास्ते से हटाने व यथार्थ निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त कार्यकुशलता, चतुराई, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा दूरदृष्टि की आवश्यकता होती है।

अनुसूची तथा प्रश्नावली में अन्तर

(Distinction between Schedule and Questionnaire)

अनुसूची व प्रश्नावली दोनों ही अध्ययन-विषय से सम्वन्धित प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने के उद्देश्य से पूछे गए प्रश्नों की एक सूची होती है। इस अर्थ में दोनों ही किसी समस्या या अध्ययन-विषय से सम्वन्धित प्रश्नों की एक व्यवस्थित व सुचिन्तित सूची होती होती है और दोनों का ही उद्देश्य प्राथमिक तथ्यों (primary data) को एकत्रित करना होता है। इसके अतिरिक्त प्रश्नों के निर्माण, किन प्रश्नों को सम्मिलित करना चाहिए और किन प्रश्नों से वचना चाहिए आदि विषयों से सम्वन्धित सिद्धान्त अनुसूची व प्रश्नावली दोनों में ही समान होते हैं। पर इन सव समानताओं के होते हुए भी अनुसूची तथा प्रश्नावली में कुछ आधारभूत भिन्नताएँ भी हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) अनुसूची में प्रश्नों के उत्तर लिखने का काम स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता अथवा क्षेत्र-कार्यकर्त्ता को करना पड़ता है। सूचनादाता तो केवल अनुसन्धानकर्त्ता से प्रश्न का अर्थ समझकर मौखिक रूप से सूचना दे देता है। इसके विपरीत, प्रश्नावली में

प्रश्नों के उत्तर लिखने का काम भी स्वयं सूचनादाता ही करता है। इस काम में उसे अनुसन्धानकर्त्ता से कोई मदद नहीं मिलती है।

(२) अनुसूची प्रविधि में सूचना प्राप्त करने के लिए स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता अथवा क्षेत्र-कार्यकर्त्ता को सूचनादाता से साक्षात्कार करके सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, अनुसन्धानकर्त्ता को व्यक्तिगत रूप में सूचनादाता के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है। इसके विपरीत, प्रश्नावलियों को डाक द्वारा सूचनादाता के पास पहुँचा दिया जाता है। अनुसन्धानकर्त्ता को व्यक्तिगत रूप में पहुँचने की आवश्यकता नहीं होती है।

(३) अनुसूची में प्रश्नों को समझने के लिए सूचनादाता आवश्यकतानुसार अनुसन्धानकर्त्ता की सहायता ले सकता है क्योंकि उत्तर देते समय वह सूचनादाता के सम्मुख उपस्थित रहता है। पर प्रश्नावली के प्रश्नों का उत्तर देते समय सूचनादाता को इस प्रकार की कोई सहायता नहीं मिल पाती है। वह प्रश्न को स्वयं जितना या जिस रूप में समझ पाता है उसी रूप में उसका उत्तर भर देता है।

(४) अनुसूची में स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता या क्षेत्र-कार्यकर्त्ता (Field Worker) के उपस्थित होने के कारण प्रश्नों का स्पष्टीकरण करने के लिए व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ (notes) लिखने की आवश्यकता नहीं होती है। पर प्रश्नावली में चूंकि प्रश्नों को समझाने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता या क्षेत्र-कार्यकर्त्ता स्वयं उपस्थित नहीं रहते हैं, इस कारण प्रश्नों का स्पष्टीकरण करने के लिए नीचे व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ दी जाती हैं ताकि सूचनादाता प्रश्नों को ठीक-ठीक समझकर उत्तर दे सके।

(५) अनुसूची का प्रयोग केवल सीमित क्षेत्र में सूचना एकत्रित करने के लिए किया जा सकता है क्योंकि इसमें सूचनादाताओं से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती है और इस प्रकार का सम्पर्क स्थापित करना उस अवस्था में सम्भव नहीं होता यदि सूचनादाता संख्या में अत्यधिक हैं तथा विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं। इसके विपरीत, प्रश्नावली का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में बिखरे हुए सूचनादाताओं से भी सूचना प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है क्योंकि इसे डाक द्वारा सूचनादाताओं के पास भेज दिया जाता है।

(६) अनुसूची की सहायता से प्रत्येक सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक (educational) स्तर के लोगों से सूचना प्राप्त की जा सकती है क्योंकि इसमें स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता सूचनादाता को प्रश्न समझाकर उनसे उत्तर प्राप्त कर सकता है। चूंकि यह उत्तर सूचनादाता को मौखिक रूप में देना होता है इसके कारण इसके लिए शिक्षित होना आवश्यक नहीं होता। इसके विपरीत, प्रश्नावली के द्वारा केवल शिक्षित व्यक्तियों से ही सूचना प्राप्त की जा सकती है क्योंकि प्रश्नावली के प्रश्नों को सूचनादाता को स्वयं समझना तथा उनका उत्तर लिखना पड़ता है।

(७) अनुसूची में सूचनादाता स्वतन्त्र होकर यथार्थ एवं सही उत्तर प्रदान नहीं कर पाता है क्योंकि उसके सामने अनुसन्धानकर्त्ता उपस्थित रहता है। अतः अनेक बातों को कहने में उसे संकोच हो सकता है। पर प्रश्नावली को भरते समय अनुसन्धानकर्त्ता के अनुपस्थित होने के कारण सूचनादाता निःसंकोच होकर अपनी इच्छानुसार उत्तर देता है। इससे बिलकुल सही अथवा बिलकुल गलत दोनों ही प्रकार के उत्तर पाने की सम्भावना रहती है।

(८) अनुसूची में प्रतिनिधित्वपूर्ण (representative) निदर्शन का चुनाव करने

में कोई कठिनाई नहीं होती है क्योंकि निदर्शन के अन्तर्गत शिक्षित, अशिक्षित, सभी प्रकार के लोगों को सम्मिलित किया जा सकता है। इसके विपरीत, प्रश्नावली में प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन (Sample) का चुनाव एक समस्या बन जाती है क्योंकि हमें केवल शिक्षित लोगों को ही निदर्शन के रूप में चुनना होता है।

(९) अनुसूची में प्रत्युत्तर (response) की सम्भावना अधिक रहती है क्योंकि अनुसन्धानकर्त्ता अपनी व्यक्तिगत उपस्थिति, बातचीत, अनुरोध आदि के द्वारा सूचनादाता को उत्तर देने के लिए प्रेरित कर सकता है। पर प्रश्नावली में प्रत्युत्तर की सम्भावना कम होती है क्योंकि इसमें पत्र ही सहयोग की प्रार्थना करने का एक मात्र साधन होता है जो कि प्रभावपूर्ण नहीं भी सिद्ध हो सकता है।

(१०) अन्त में, अनुसूची सूचना प्राप्ति का एक महँगा और अधिक समय लेने वाला साधन है क्योंकि इसमें व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने का प्रश्न आता है। इसके विपरीत, विस्तृत क्षेत्र से भी सूचना प्राप्ति के साधन के रूप में प्रश्नावली तुलनात्मक रूप में कम खर्चीला व सरल साधन है।

प्रश्नावली-प्रविधि का महत्त्व व गुण
(Importance of Questionnaire Technique)

अनुसन्धान-कार्य के लिए प्राथमिक तथ्यों को एकत्रित करने की जो प्रविधियाँ प्रचलित हैं उनमें प्रश्नावली-प्रविधि का अपना महत्त्व है क्योंकि इसके कुछ गुण तथ्यों को एकत्रित करने के कार्य को सरल बना देते हैं। इनके विषय में संक्षेप में हम इस प्रकार विवेचना कर सकते हैं—

(१) **विस्तृत जनसंख्या का अध्ययन** (Study of Larger Population)—प्रश्नावली-प्रविधि की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि इसकी सहायता से विशाल क्षेत्र में बिखरे हुए लोगों का अध्ययन करना सरल होता है। किसी अन्य प्रविधि की सहायता से इतनी अधिक जनसंख्या का सफल अध्ययन नहीं किया जा सकता। अन्य प्रविधि द्वारा विशाल जनसंख्या का अध्ययन करने में समय, धन तथा परिश्रम तो अत्यधिक खर्च होता ही है, साथ ही एक सूचनादाता के पास से दूसरे सूचनादाता के पास भटकते हुए सूचनाओं को एकत्रित करना बहुत कठिन होता है। प्रश्नावली-प्रविधि इन समस्त परेशानियों से अनुसन्धानकर्त्ता की रक्षा करती हैं।

(२) **निम्नतम व्यय** (Minimum Expenses)—प्रश्नावली-प्रविधि का एक और लाभ यह भी है कि इस प्रविधि को अपनाने से अध्ययन-कार्य पर होने वाला व्यय बहुत कम आता है। इसका कारण यह है कि इस प्रविधि में किसी प्रकार के क्षेत्र-कार्यकर्त्ताओं को नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए उन पर होने वाले व्यय की बचत हो जाती है। इस प्रविधि के अन्तर्गत केवल प्रश्नावलियों को छपवाने और उन्हें सूचनादाताओं के पास डाक द्वारा भेजने आदि का ही व्यय होता है, जो अधिक नहीं होता। अन्य प्रविधियों में अध्ययन-क्षेत्र में वृद्धि के साथ खर्चा जिस अनुपात में बढ़ता है उसकी तुलना में प्रश्नावली-प्रविधि में वृद्धि नाम-मात्र की होती है।

(३) **सूचनाओं का शीघ्र प्राप्त होना** (Early receipt of Informations)—प्रश्नावली-प्रविधि के द्वारा सूचनाओं को कम से कम समय के अन्दर प्राप्त करना सम्भव होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। इस प्रविधि में प्रश्नावलियों को छपवा-

कर उन्हें एकसाथ ही सूचनादाता के पास भेज दिया जाता है और साधारणतया कुछ दिनों के हेरफेर में वे प्रश्नावलियाँ उत्तर सहित पुनः वापस भी मिल जाती हैं। इसके विपरीत, अनुसूची, साक्षात्कार आदि प्रविधियों के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता को एक-एक सूचनादाता के पास व्यक्तिगत रूप से जाकर सूचना एकत्रित करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, अध्ययन-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ उसपर लगने वाले समय की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है, लेकिन प्रश्नावली में ऐसा नहीं होता है क्योंकि थोड़ी-सी प्रश्नावलियों के उत्तर सहित लौट आने में जितना समय लगता है उससे कई गुना अधिक प्रश्नावलियों के भरकर लौट आने में भी उतना ही समय लगता है।

(४) **सूचना को बार-बार प्राप्त करने में सुविधा** (Easy to get repetitive Information)—कुछ अनुसन्धान ऐसे होते हैं जिनमें उत्तरदाताओं से एक निश्चित समय के बाद भी कई बार सूचना प्राप्त करनी होती है; जैसे पारिवारिक बजट सम्बन्धी आँकड़े। ऐसे समस्त अनुसन्धानों में प्रश्नावली-प्रविधि सबसे अच्छी रहती है क्योंकि इसमें कुल लागत कम आती है।

(५) **स्वतन्त्र तथा प्रामाणिक सूचना** (Free and Valid Information)—प्रश्नावली-प्रविधि से एक और लाभ यह होता है कि इसमें सूचनादाता को सूचना देने के मामले में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। अनुसूची, साक्षात्कार आदि प्रविधियों में अनुसन्धानकर्त्ता उत्तर देने के समय में सूचनादाता के समक्ष उपस्थित रहता है। इस उपस्थिति के कारण कुछ विषयों पर सूचनादाता अपना स्वतन्त्र विचार प्रगट करने में हिचकिचाता है। फलतः वास्तविक परिस्थिति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती है। इसके विपरीत प्रश्नावली-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता व्यक्तिगत रूप में सामने नहीं होता है इसलिए सूचनादाता स्वतन्त्र रूप से विचारपूर्वक निःसंकोच होकर उत्तर दे पाता है जिसके फलस्वरूप वास्तविक व प्रामाणिक सूचना प्राप्त हो पाती है। इस प्रविधि का यह गुण है कि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता के व्यक्तित्व का प्रभाव सूचनादाता पर नहीं पड़ता है और न ही उसके विचार सूचनादाता के विचारों को पथभ्रष्ट करने में सफल होते हैं। ऐसी स्थिति में पक्षपात रहित, विश्वसनीय व प्रामाणिक सूचनाओं को प्राप्त करने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं।

(६) **सुगमता** (Convenience)—प्रश्नावली-प्रविधि के अन्तर्गत सूचनाओं को एकत्रित करना सरल है क्योंकि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता को अधिक परिश्रम, धन तथा समय नहीं लगाना पड़ता है और साथ ही सूचनादाता भी अपनी सुविधा व रुचि के अनुकूल समय पर प्रश्नों के उत्तर को लिखने की सुविधा प्राप्त कर पाता है और उसे अनुसन्धानकर्त्ता के सामने एक निश्चित समय पर बैठकर उत्तर देने के लिए तैयारी नहीं करनी पड़ती है।

(७) **स्वयं-प्रशासित** (Self-administered)—प्रश्नावली-प्रविधि की एक और उल्लेखनीय उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा सूचना प्राप्त करने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता को न तो स्वयं अध्ययन-क्षेत्र में उपस्थित होना पड़ता है और न ही कार्यकर्त्ताओं के संगठन में दिमाग को उलझाना पड़ता है। इसमें तो प्रश्नावलियों को छपवाकर डाक द्वारा ठीक पते पर भेज देने मात्र से सूचनाओं के संग्रहणकार्य का चक्र आप-से-आप चलने लगता है। इसलिए कहा जाता है कि प्रश्नावली-प्रविधि एक स्वयं-संगठित व स्वयं-प्रशासित व्यवस्था है।

प्रश्नावली की सीमाएँ
(Limitations of Questionnaire)

यह सच है कि प्रश्नावली-प्रविधि एक अत्यन्त उपयोगी प्रविधि है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह कोई दोष रहित प्रविधि है। प्रश्नावली-प्रविधि की भी अपनी कुछ आधारभूत कमियाँ व सीमाएँ हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन सम्भव न होना (Representative Sampling not Possible)—प्रश्नावली-प्रविधि की सबसे बड़ी कमी यह है कि इसके अन्तर्गत प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों का चुनाव नहीं किया जा सकता है क्योंकि इसका प्रयोग केवल शिक्षित व्यक्तियों से सूचना प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अधिकांश सामाजिक अनुसन्धानों में शिक्षित व अशिक्षित दोनों प्रकार के लोगों से सूचना प्राप्त करने की आवश्यकता होती है जोकि प्रश्नावली-प्रविधि के अन्तर्गत सम्भव नहीं होता है।

(२) अपूर्ण सूचना (Incomplete Information)—प्रश्नावली को भरने में प्रायः सूचनादाता अधिक दिलचस्पी नहीं लेते हैं क्योंकि उससे उनके किसी स्वार्थसिद्धि की आशा नहीं रहती है और न ही अनुसन्धानकर्त्ता की उपस्थिति का कोई प्रभाव उन पर पड़ने की सम्भावना होती है। इसीलिए अक्सर केवल बला टालने के लिए लापरवाही से प्रश्नों के उत्तर भर दिए जाते हैं जोकि पूर्ण व स्पष्ट नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में, उत्तर प्रायः अधूरे रह जाते हैं और उनके आधार पर यह पता लगाना कठिन होता है कि सूचनादाता क्या कहना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रोफेसर एलमर (Elmer) ने प्रश्नावली-प्रविधि को सामाजिक अनुसन्धान की एक अधूरी प्रविधि कहा है। प्रो० एब्राहम फ्लेसनर (A. Flesner) ने भी लिखा है कि यह एक वैज्ञानिक प्रविधि नहीं है बल्कि सूचना या गैर-सूचना (कोई नहीं जानता कि इनमें से वास्तव में किसकी प्राप्ति होती है) प्राप्त करने की एक सस्ती, सुलभ तथा द्रुतगामी प्रविधि है। शब्दों का बिलकुल एक ही अर्थ सबके लिए कदापि नहीं हो सकता और इसीलिए यह जानने का कोई उपाय नहीं होता कि प्रश्नों के उत्तर विश्लेषणात्मक हैं अथवा व्यंगात्मक।

(३) प्रत्युत्तर प्राप्ति की समस्या (Problem of Response)—प्रायः यह देखा जाता है कि पत्र द्वारा कई बार याद दिलाने पर भी भेजी गई प्रश्नावलियों में से कम संख्या में प्रश्नावलियाँ उत्तर सहित लौटकर आती हैं जिसके फलस्वरूप प्रत्युत्तर की समस्या इसलिए पैदा हो जाती है कि उत्तर पाने के लिए पत्र लिखने के अतिरिक्त अनुसन्धानकर्त्ता के पास और कोई रास्ता नहीं होता। इसलिए कई पत्र भेजने के बाद भी उत्तर न मिलने पर उसे चुप बैठ जाना पड़ता है और उस अवस्था में जितनी सूचना उसे प्राप्त होती है वह अध्ययन-विषय की वास्तविकता को पूर्णतया प्रगट नहीं कर पाती है। प्रोफेसर राव (Rao) ने राष्ट्रीय आय सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने के लिए कई हजार प्रश्नावलियाँ भेजीं परन्तु कई अनुगामी पत्रों के पश्चात् भी बहुत कम प्रश्नावलियाँ उत्तर सहित लौटकर आईं।

(४) भावात्मक प्रेरणा का अभाव (Lack of emotional stimulation)—प्रश्नावली-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता सूचनादाता से कई मील दूर होता है। जिसके फलस्वरूप अनुसन्धानकर्त्ता अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा सूचनादाता को वास्तविक तथ्यों को प्रगट करने के लिए भावात्मक प्रेरणा नहीं दे पाता है और प्रश्नों का उत्तर देना सूचनादाता के लिए एक औपचारिक विधि (formality) मात्र रह जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रश्नावली के द्वारा अपूर्ण तथा अपर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त

होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

(५) उत्तर लिखने में अनुसन्धानकर्त्ता की सहायता का अभाव (Lack of assistance of the Investigator in answering the Questions)—प्रश्नावलियों में केवल इस प्रकार के प्रश्नों को शायद ही सम्मिलित किया जा सकता है जिन्हें कि सभी उत्तरदाता सरलतापूर्वक और सही तौर पर समझ लें। ऐसे बहुत से प्रश्न होते हैं जिन्हें कि कोई-न-कोई उत्तरदाता ठीक से नहीं समझ पाता है और उस अवस्था में यथार्थ सूचना पाने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन प्रश्नों को सही तौर पर कोई उन्हें समझा दे। पर इस प्रकार की कोई भी सहायता अनुसन्धानकर्त्ता से उत्तरदाता को प्रश्नावली-प्रविधि के अन्तर्गत नहीं मिल पाती है जिसके कारण या तो उत्तर गलत दिया जाता है अथवा न समझे हुए प्रश्नों को यों ही खाली छोड़ दिया जाता है।

(६) सार्वभौमिक प्रश्नों का निर्माण असम्भव (Impossibility of Uniform Questions)—प्रश्नावली में, अनुसूची की भाँति ही ऐसे प्रामाणिक सार्वभौमिक प्रश्नों का निर्माण सम्भव नहीं होता है जोकि प्रत्येक प्रकार के समूह, सांस्कृतिक प्रतिमान में पलने वाले लोगों तथा सभी आर्थिक व सामाजिक स्तरों के लोगों के लिए उपयुक्त हों। इसका परिणाम यह होता है कि अलग-अलग आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समूह के लोग एक ही प्रश्न का अपने-अपने दृष्टिकोण से अलग-अलग अर्थ लगाते हैं और उनके उत्तरों में इतनी विविधता होती है कि उनके आधार पर वैज्ञानिक निष्कर्ष असम्भव-सा हो जाता है।

(७) खराब लेख (Bad Handwriting)—प्रश्नावली-प्रविधि में प्रश्नों का उत्तर सूचनादाता स्वयं लिखता है, पर यह लिखावट अधिकांश क्षेत्रों में बहुत ज्यादा खराब होती है क्योंकि प्रश्नों के उत्तर प्रायः जल्दबाजी में दिए जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनको पढ़ना और उनके अर्थ को समझना स्वयं ही एक समस्या बन जाती है। कुछ लोग तो पेंसिल से ही उत्तर भर देते हैं जो कि समय बीतने के साथ-साथ अस्पष्ट हो जाते हैं और उनको पढ़ना कठिन होता है। उसी प्रकार उत्तरों में काट-छाँट और पुनर्लेखन (overwriting) से भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ अस्पष्ट होने के कारण उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाती हैं।

(८) गहन अध्ययन असम्भव (Deeper Study Impossible)—प्रश्नावली-प्रविधि का उपयोग साधारण अध्ययन के हेतु समस्याओं से सम्बन्धित सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए किया जा सकता है। यदि किसी गहन समस्या का कुछ समय तक निरन्तर अध्ययन करना हो तो यह प्रविधि प्रायः अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। प्रश्नावली द्वारा प्राप्त तथ्य केवल कुछ मोटे-मोटे तथ्यों को एकत्रित करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रश्नावली को भरने में एक-आध घण्टा समय लगता है। इतने कम समय में गहन एवम् विस्तृत सूचना प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त कि कुछ सहायक सूचनाएँ हमें प्राप्त हो जाएँ, प्रश्नावली से और कोई लाभ हमें नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा किसी व्यक्ति के विचारों, मनोभावों, मूल्यों तथा उसके आन्तरिक जीवन में गहराई तक जिस भांति पैठना सम्भव होता है वैसा प्रश्नावली-प्रविधि से कहीं भी सम्भव नहीं है। श्री पार्टन (Parten) ने उचित ही कहा है कि "इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सर्वोत्तम प्रश्नावली की अपेक्षा उत्तम

साक्षात्कार के द्वारा अधिक गहन अध्ययन किया जा सकता है।"[13]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि प्रश्नावली की उपयोगिता के सम्बन्ध में विद्वानों में विरोधी मत देखने को मिलते है। श्री सीज़र (O. E. Ceser) ने लिखा है कि प्रश्नावली द्वारा प्राप्त उत्तरों से यह पता लगाना असम्भव है कि कौन-सा उत्तर सूचनादाता का लापरवाहीपूर्ण अनुमान है और कौनसा जानबूझकर दी गई गलत सूचना। श्री सी. लूथर फ्राई (C. Luther Fry) ने भी लिखा है कि उत्तरदाता प्रायः प्रश्नावली को एक व्यर्थ की चीज तथा उनके समय को बर्बाद करने वाली समझते हैं और इसीलिए इसके द्वारा वास्तविक सूचनाओं को प्राप्त नहीं किया जा सकता। पर एलवर्ट इलिस (Albert Ellis) का मत है कि प्रेम तथा वैवाहिक सम्बन्धों से सम्बन्धित अनुसन्धानों में प्रश्लावली-प्रविधि तथ्यों को एकत्रित करने में साक्षात्कार-प्रविधि की ही भाँति सन्तोषप्रद है। प्रोफेसर के० डेविस (K. Davis) ने भी लिखा है कि व्यक्तिगत साक्षात्कार के दौरान में स्त्रियाँ अपने यौन-जीवन से सम्बन्धित सूचनाएँ देने में प्रायः संकोच करती हैं, पर प्रश्नावली के माध्यम से उन्हीं सूचनाओं को प्राप्त करना बहुत कठिन नहीं होता है। विद्वानों के उपरोक्त कथनों से प्रश्नावली-प्रविधि के दोष व गुण दोनों ही प्रकट होते हैं और यही वास्तविक स्थिति भी है। पर पर्याप्त सावधानी, लगन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बनाए रखने पर इस प्रविधि को अधि-काधिक उपयोगी वनाया जा सकता है। इसीलिए अपनी सव कमियों के वीच भी यह एक अत्यन्त लोकप्रिय प्रविधि वन गई है। इसका कारण, जैसा कि श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) ने लिखा है, यह है कि इस प्रविधि में कम समय के अन्दर कम से कम खर्च मे अधिक विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन सम्भव होता है और साथ ही इसकी अवैयक्तिक प्रकृति (impersonal nature) के कारण यह अनुसन्धानकर्त्ता की व्यक्तिगत उपस्थिति के फलस्वरूप पड़ने वाले अनावश्यक प्रभावों से सूचनादाता की रक्षा करती है एवं अनुसन्धानकर्त्ता के लिए सूचनादाता का इस भांति अज्ञात बना रहना आन्तरिक व गुप्त सूचनाओं को प्राप्त करने में सहायक ही सिद्ध होता है। प्रश्नावली-प्रविधि की लोकप्रियता का शायद यही रहस्य है।

---

13. "On this matter there can be little doubt that good interview can probe far more deeply than the best questionnaire."
—Parten.

१५ साक्षात्कार

(INTERVIEW)

अध्याय १२ में निरीक्षण-प्रविधि की कुछ मुख्य सीमाओं का वर्णन करते हुए यह समस्या सामने आई थी कि व्यक्तियों की भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ और उद्वेगों का अध्ययन किस प्रकार किया जाए। साक्षात्कार-प्रविधि ही इसका निदान प्रस्तुत करती है। सामाजिक अनुसन्धान की सर्वाधिक प्रचलित प्रविधियों में सम्भवतः इस प्रविधि का स्थान सर्वोपरि है। इस प्रविधि की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता अपनी अध्ययन-वस्तु—मनुष्य—से आमने-सामने के सम्बन्ध (face to face relationship) स्थापित कर वार्तालाप कर सकता है और इस प्रकार मनुष्य की भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का क्रमबद्ध अध्ययन कर सकता है। प्रो० ऑलपोर्ट ने इस प्रविधि की उत्पत्ति के बारे में कहा है कि "यदि हम यह जानना चाहते हैं कि लोग क्या महसूस करते हैं, क्या अनुभव रखते हैं, और क्या याद रखते हैं, उनकी भावनाएँ एवं उनके उद्देश्य क्या हैं, तो उनसे स्वयं से क्यों नहीं पूछते ?" वास्तव में साक्षात्कार-प्रविधि की उत्पत्ति यहीं से प्रारम्भ होती है। यह साक्षात्कार-प्रविधि क्या है, इसकी क्या प्रक्रिया है आदि बातें हम आगे चलकर समझाएँगे। सर्वप्रथम हम साक्षात्कार के अर्थ एवं परिभाषा का वर्णन यहाँ करेंगे।

साक्षात्कार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Interview)

साक्षात्कार-प्रविधि में, जैसा कि नाम से ही प्रायः स्पष्ट है, साक्षात्कार द्वारा ही सूचनाएँ संकलित की जाती हैं। श्री मनेन्द्रनाथ बसु के अनुसार "एक साक्षात्कार को कुछ विषयों को लेकर व्यक्तियों के आमने-सामने का मिलन कहा जा सकता है।"[1] वास्तव में साक्षात्कार-प्रविधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता किसी व्यक्ति या समूह को, जिससे कि सूचना प्राप्त करनी है, सामने-सामने बैठाकर, कुछ प्रश्न पूछकर, अध्ययन-विषय से सम्बन्धित सूचनाएँ संकलित करने का प्रयत्न करता है। साक्षात्कार-प्रविधि का अर्थ और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें निम्नलिखित परिभाषाओं का अध्ययन करना पड़ेगा।

डॉ० पी० वी० यंग के शब्दों में, "साक्षात्कार को एक ऐसी क्रमबद्ध पद्धति के रूप में माना जा सकता है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के आन्तरिक जीवन

1. "An interview can be defined as a meeting of persons face to face on some points."—M. N. Basu, *Field Methods in Anthropology and other Social Sciences*, p. 21.

में थोड़ा-बहुत कल्पनात्मक रूप से प्रवेश करता है जो कि उसके लिए सामान्यतया तुलनात्मक रूप से अपरिचित है।"[2]

श्री सिन पाओ यांग ने साक्षात्कार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "साक्षात्कार क्षेत्रीय कार्य की एक ऐसी प्रविधि है, जो कि एक व्यक्ति या व्यक्तियों के व्यवहार की निगरानी करने, कथनों को अंकित करने, व सामाजिक या सामूहिक अन्तःक्रिया के वास्तविक परिणामों का निरीक्षण करने के लिए प्रयोग में ली जाती है।"[3]

श्री वी० एम० पामर ने और भी स्पष्ट रूप में साक्षात्कार का अर्थ बताते हुए कहा है कि "साक्षात्कार दो व्यक्तियों के बीच एक सामाजिक स्थिति है, जिनमें निहित मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि दोनों व्यक्ति परस्पर प्रति-उत्तर करते रहें, यद्यपि साक्षात्कार के सामाजिक शोध के उद्देश्य में सम्बन्धित दलों से बहुत-कुछ भिन्न उत्तर प्राप्त होने चाहिएँ।"[4]

प्रो० गुड एवं हॉट ने तो इसीलिए साक्षात्कार को मूल रूप में एक सामाजिक प्रक्रिया (social process) माना है।[5]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साक्षात्कार व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा सूचना एकत्रित करने एवं उन्हें लिखने की एक ऐसी क्रमबद्ध प्रविधि है, जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर परस्पर आमने-सामने होकर, बातचीत, संवाद या उत्तर-प्रति-उत्तर करते हैं।

साक्षात्कार-प्रविधि की कुछ विशेषताएँ
(Some Characteristics of Interview Technique)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर साक्षात्कार-प्रविधि की कुछ प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है जो कि इस प्रकार है—

१. **दो या दो से अधिक व्यक्ति** (Two or more persons)—साक्षात्कार-प्रविधि की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों का निकटतम सम्पर्क एवं वार्तालाप होता है, और यह एक आवश्यक शर्त भी है।

---

2. "The interview may be regarded as a systematic method by which one person enters more or less imaginatively into the inner life of another who is generally a comparative stranger to him."—P. V. Young, *Scientific Social Survey and Research*, Asia Publishing House, 1953, p. 242.

3. "The interview is a technique of field work which is used to watch the behaviour of an individual or individuals, to record statements, to observe the concrete results of social or group inter-action. It is, therefore, a social process, it usually involves inter-action between two persons."—Hsin Pao Yang, *Fact Finding with the Rural People*, p 38.

4. "The interview constitutes a social situation between two persons, the psychological process involved requiring both individuals mutually respond though the social research purpose of the interview calls for a very different response from the two parties concerned."—V. M. Palmer, *Field Studies in Sociology*, 1928, p. 170.

5. "........Interviewing is fundamentally a process of social interaction."—William J. Goode and Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company Inc., 1952, p, 186.

२. आमने-सामने के प्राथमिक सम्बन्ध (Face to face relations)—इस प्रविधि की दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें आमने-सामने के प्राथमिक सम्बन्ध (primary relations) स्थापित किए जाते हैं।

३. विशिष्ट उद्देश्य (Specific Object)—तीसरी मुख्य विशेषता 'विशिष्ट उद्देश्य' है। अर्थात् दो या दो से अधिक व्यक्तियों के आमने-सामने के सम्बन्ध किसी विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही स्थापित किए जाते हैं।

४. सामग्री संकलन (Collection of Data)—साक्षात्कार-प्रविधि का चतुर्थ उद्देश्य जो कि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, यह है कि इस प्रविधि द्वारा सामाजिक अनुसन्धानों एवं सामाजिक अध्ययन हेतु सामग्री का संकलन किया जाता है।

साक्षात्कार के प्रमुख उद्देश्य
(Main Objects of Interview)

साक्षात्कार-प्रविधि का अर्थ समझने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि उसके उद्देश्यों को समझा जाए। ये उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

१. प्राक्कल्पनाओं का प्रमुख साधन (Main Source of Hypotheses)—साक्षात्कार का एक उद्देश्य प्राक्कल्पनाओं के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री को एकत्रित करना है। साक्षात्कार करने से अनुसन्धानकर्त्ता को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भावनाएँ, विचार, मनोवृत्तियों आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता है। साथ ही, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य अनुभव होते हैं। शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक क्रियाओं एवं व्यक्तिगत अन्तःक्रियाओं के बारे में प्राक्कल्पना निर्माण करने के लिए साक्षात्कार के अतिरिक्त अन्य कोई प्रविधि अधिक उत्तम नहीं हो सकती।

२. प्रत्यक्ष सम्पर्क एवं आमने-सामने के सम्पर्क द्वारा सूचना (Information through direct and face to face contact)—साक्षात्कार का दूसरा प्रमुख उद्देश्य प्रत्यक्ष एवं आमने-सामने के सम्पर्क स्थापना द्वारा सूचना का संकलन करना है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इस प्रविधि में दो या दो से अधिक व्यक्तियों का प्रत्यक्ष अथवा आमने-सामने का सम्पर्क स्थापित किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार के प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा व्यक्ति से उसकी अनेक आन्तरिक बातें, भावनाओं, उद्वेगों, मनोवृत्तियों आदि का भी अध्ययन सम्भव है जो कि सामाजिक अनुसन्धान-कार्यों में अति महत्त्वपूर्ण है।

३. निरीक्षण का अवसर पाना (To seek opportunity for Observation)—साक्षात्कार का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य यह है कि इससे निरीक्षण का एक अच्छा अवसर प्राप्त होता है। यदि कोई व्यक्ति अजनबी-सा आपके घर पर आपके परिवार का निरीक्षण करने पहुँच जाए तो शायद आपको बुरा महसूस हो। परन्तु साक्षात्कार करने के बहाने अनुसन्धानकर्त्ता आपके पास जाता है और साक्षात्कार करने के साथ-साथ आपके घर का वातावरण, पासपड़ोस, घर के सदस्यों का व्यवहार आदि सब-कुछ निरीक्षण कर लेता है। इस प्रकार साक्षात्कारकर्त्ता को निरीक्षण एवं साक्षात्कार दोनों ही पद्धतियों के लाभ प्राप्त होने का सुन्दर सुअवसर प्राप्त हो जाता है।

४. आन्तरिक एवं व्यक्तिगत सूचना (Internal and Personal Information)—साक्षात्कार-प्रविधि द्वारा हमें अनेकों व्यक्तिगत एवं आन्तरिक तथ्यों को

अध्ययन करने में भी सहायता प्राप्त होती है। अनेक गुणात्मक तथ्य जैसे व्यक्तिगत विचार, भावनाएँ, लोकविश्वास, व्यक्तिगत उद्वेग, मनोवृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ, जो कि मानव के आन्तरिक जगत् में विद्यमान रहते हैं, साक्षात्कार-प्रविधि द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

साक्षात्कार के प्रकार
(Types of Interview)

साक्षात्कारों को अनेक प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। यदि हम साक्षात्कार को कुछ आधारों पर वर्गीकृत करने का प्रयत्न करें तो अधिक उत्तम रहेगा। यह वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता—

(अ) कार्यों के आधार पर वर्गीकरण (Classification according to functions)—कार्यों के आधार पर साक्षात्कार निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं—

१. कारक परीक्षक साक्षात्कार (Diagnostic Interview)—कारक परीक्षक साक्षात्कार उसे कहते हैं, जब साक्षात्कार का उद्देश्य किसी गम्भीर सामाजिक घटना या समस्या के कारकों की खोज करना होता है। इस प्रकार का साक्षात्कार समस्या के कारणों की खोज के लिए किया जाता है।

२. उपचार साक्षात्कार (Treatment Interview)—जब किसी साक्षात्कार का उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या को दूर करने के उपचार से सम्बन्धित सुझावों की खोज करना होता है तो उसे उपचार साक्षात्कार कहा जा सकता है।

३. खोज सम्बन्धी साक्षात्कार (Research Interview)—खोज सम्बन्धी साक्षात्कार में भी विभिन्न सामाजिक विषयों एवं घटनाओं से सम्बन्धित कारकों की खोज करने का प्रयत्न किया जाता है।

(ब) औपचारिकता के आधार पर वर्गीकरण (Classification according to formality)—औपचारिकता के आधार पर साक्षात्कार को निम्नलिखित प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. औपचारिक साक्षात्कार (Formal Interview)—औपचारिक साक्षात्कार को नियन्त्रित साक्षात्कार (Structured Interview) भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्त्ता अनुसूची, जो कि पूर्वनिर्मित होती है, में दिए गए प्रश्नों को ही पूछता है और साक्षात्कारदाता द्वारा दिए गए उत्तरों को नोट कर लेता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में प्रमुख बात यह है कि साक्षात्कारकर्त्ता के ऊपर विशेष नियन्त्रण होता है, उसको अनुसूची के अतिरिक्त और प्रश्न पूछने की न तो स्वतन्त्रता ही होती है और न ही वह अनुसूची की शब्दावली की भाषा आदि में परिवर्तन करने को स्वतन्त्र है। इसको नियोजित साक्षात्कार भी कहा जाता है।

२. अनौपचारिक साक्षात्कार (Informal Interview)—इस साक्षात्कार को अनियन्त्रित या स्वतन्त्र साक्षात्कार भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में किसी भी विशेष अनुसूची की सहायता नहीं ली जाती है। साक्षात्कारकर्त्ता, साक्षात्कारदाता से कुछ मुख्य प्रश्न या किसी विषय पर उसके विचार पूछता है और उत्तरदाता एक वर्णन या कहानी के रूप में अपने विचारों का वर्णन करता है। साक्षात्कारकर्त्ता इसी वर्णन अथवा विवेचन के आधार पर ही निष्कर्ष निकालता है। इस प्रकार के साक्षात्कार का प्रयोग विशेषकर पूर्वगामी अध्ययनों एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययनों के लिए किया जाता है।

(स) **सूचनादाताओं की संख्या के आधार पर वर्गीकरण** (Classification according to number of Informants)—प्रत्येक साक्षात्कार में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का भाग लेना आवश्यक होता है। अतः सूचनादाताओं की संख्या के आधार पर भी साक्षात्कार को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है—

१. **व्यक्तिगत साक्षात्कार** (Personal Interview)—व्यक्तिगत साक्षात्कार में, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, साक्षात्कारकर्त्ता एक समय में एक ही व्यक्ति से साक्षात्कार करता है। श्री सिन पायो यांग के अनुसार "व्यक्तिगत साक्षात्कार एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के साथ मिलाता है।" इस प्रकार के साक्षात्कार में साक्षात्कार-कर्त्ता, साक्षात्कारदाता से प्रश्न पूछता चला जाता है; साक्षात्कारदाता उसका उत्तर देता चला जाता है। कभी-कभी दोनों ही प्रश्नोत्तर करने लगते हैं।

प्रायः व्यक्तिगत साक्षात्कार से अनेक लाभ होने की सम्भावना रहती है। प्रथम तो अन्य पद्धतियों की तुलना में इस पद्धति से कहीं अधिक सत्य सूचनाएँ प्राप्त करने की सम्भावना रहती है, क्योंकि साक्षात्कारकर्त्ता उत्तरदाता के अनेक गलत उत्तरों को उसी समय टोककर ठीक कर सकता है। दूसरे, इस प्रकार के साक्षात्कार द्वारा अनुसूची में दिए गए प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर सम्भव होते हैं, क्योंकि साक्षात्कार-कर्त्ता स्वयं प्रश्न पूछता है। इसके अतिरिक्त, अनुसूची में यदि किसी प्रश्न की भाषा कठिन हो, तो साक्षात्कारकर्त्ता उसे सरल करके समझा भी सकता है। इतना ही नहीं, व्यक्तिगत साक्षात्कार से अनेक भावुक एवं संवेदनशील प्रश्नों के उत्तर भी प्राप्त होने की सम्भावना होती है क्योंकि साक्षात्कारकर्त्ता उन प्रश्नों को उत्तरदाता के समक्ष अति कोमल रूप में प्रस्तुत करता है।

उपरोक्त लाभों के साथ-साथ व्यक्तिगत साक्षात्कार की कुछ सीमाएँ भी हैं। प्रथम तो व्यक्तिगत साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्त्ता का व्यक्तिगत पक्षपात समाविष्ट हो जाता है। साथ ही यह अत्यधिक खर्चीली एवं समय नष्ट करने वाली प्रविधि है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत साक्षात्कार ही अत्यधिक प्रचलित प्रविधि है।

२. **सामूहिक साक्षात्कार** (Group Interview)—व्यक्तिगत साक्षात्कार के विपरीत, सामूहिक साक्षात्कार में एक समय में एक से अधिक व्यक्तियों का साक्षात्कार लिया जाता है। साक्षात्कारकर्त्ता व्यक्तियों के समूह से कुछ प्रश्न बारी-बारी से करता है—समूह के सभी व्यक्ति या कुछ व्यक्ति उसका उत्तर देते हैं। कभी-कभी इसीलिए इसे वाद-विवाद सभा भी कहा जाता है।

वास्तव में इस प्रविधि के कई लाभ हैं। प्रथम तो यह बड़ी जनसंख्या में सामग्री संकलन का सर्वोत्तम ढंग है। दूसरे, इसमें कम कुशलता से भी काम चल सकता है। इसमें कम खर्च और कम समय तो लगता ही है, साथ ही व्यक्तिगत पक्षपात आने की भी सम्भावना बहुत कम रहती है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि सामूहिक रूप में प्रश्नोत्तर करने के कारण न तो सभी प्रश्नों के उत्तर सही मिल पाते हैं और न ही विशाल जनसमूह के सभी व्यक्ति प्रश्न समझ पाते हैं।

(द) **अध्ययन-पद्धति के आधार पर वर्गीकरण** (Classification according to Methodology)—अध्ययन-पद्धति के आधार पर साक्षात्कार को अग्रलिखित तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. अनिर्देशित साक्षात्कार (Non-Directive Interview)—यह साक्षात्कार अनियन्त्रित साक्षात्कार (uncontrolled) अथवा असंचालित (unguided) साक्षात्कार से मिलता-जुलता है। इस प्रकार के साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्त्ता साक्षात्कारदाता के समक्ष कोई कठिन समस्या या प्रश्न रखता है। साक्षात्कारदाता विवरण में उसका उत्तर प्रस्तुत करता है। साक्षात्कारकर्त्ता धैर्य से उसके उत्तर को सुनता रहता है—उसको बीच में भी नहीं टोकता। इस प्रकार के साक्षात्कार की एक विशेपता यह भी होती है कि साक्षात्कारकर्त्ता किसी पूर्वनिर्मित अनुसूची के आधार पर प्रश्न नहीं पूछता है, वरन् अव्यवस्थित रूप में मनगढ़न्त प्रश्नों को पूछता चला जाता है और उत्तरदाता उनका उत्तर दिए चला जाता है; यद्यपि साक्षात्कार के करीब-करीब समाप्त होने पर कुछ सोचे हुए प्रश्न साक्षात्कारकर्त्ता पूछ लेता है। यदि विस्तृत रूप में देखा जाए तो अनिर्देशित साक्षात्कार और अनौपचारिक साक्षात्कार लगभग एक ही समान हैं।

२. केन्द्रित साक्षात्कार (Focused Interview)—केन्द्रित साक्षात्कार के सर्वप्रथम अनुयायी श्री रावर्ट के० मर्टन (Robert K. Merton) हैं। आपने केन्द्रित साक्षात्कार का उपयोग सार्वजनिक सन्देशवाहन के साधनों जैसे रेडियो का प्रभाव जानने के लिए किया था। आपने रेडियो के १५० प्रभाव वताए हैं। आपके अनुसार केन्द्रित साक्षात्कार में यह आवश्यक होता है कि साक्षात्कारदाता किसी निश्चित एवं विशेष परिस्थिति में, जो कि खोज (research) का मुख्य विषय है, रह चुका हो, जैसे किसी रेडियो को सुनना या फिल्म देखना। इस प्रकार की अवस्था का ज्ञान तो पहले ही रहता है। साक्षात्कारकर्त्ता अपना ध्यान इस चीज पर केन्द्रित करता है कि उस घटना, अवस्था या परिस्थिति का, अध्ययन किए जाने वाले व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा। और इसलिए साक्षात्कारकर्त्ता उस अवस्था या घटना के द्वारा उत्पन्न विभिन्न भावनाओं, विचारों तथा मानसिक स्थितियों का अध्ययन करता है। यद्यपि इस प्रकार के साक्षात्कार में भी **'साक्षात्कार-निर्देशिका'** (Interview Guide) की सहायता भी ली जा सकती है, फिर भी यह साक्षात्कार अधिक स्वतन्त्र वर्णन के रूप में होता है और इसीलिए स्वतन्त्र साक्षात्कार के समान ही होता है। इस प्रकार के साक्षात्कार का प्रयोग 'अधिकतर नए आविष्कारों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा' के अध्ययन के लिए किया जाता है।

३. पुनरावृत्ति साक्षात्कार (Repetitive Interview)—समाज में परिवर्तन तो होते ही रहते हैं—यह सर्वविदित तथ्य है। परन्तु परिवर्तन ऐसे होते हैं जिनका कि समुदाय पर प्रभाव एक ही दिन अर्थात् थोड़े समय में दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रभाव काफी देर तक टिकने वाला होता है, साथ ही क्रमिक भी होता है। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के प्रभावों का अध्ययन एक वार के साक्षात्कार के आधार पर करना सम्भव नहीं है। क्योंकि एक वार के साक्षात्कार से समय तत्त्व का प्रभाव नहीं जाना जा सकता। इसलिए साक्षात्कार वार-वार किया जाता है और इसीलिए इसे पुनरावृत्ति साक्षात्कार कहा जाता है। उदाहरण के रूप में एक ऐसे कस्बे को लिया जा सकता है जिसमें कि कई वहुत वड़ी-वड़ी फैक्टरियाँ व औद्योगिक संस्थान वसाए गए हों। इस औद्योगीकरण का प्रभाव उस कस्बे पर शनैः-शनैः काफी समय तक पड़ेगा, जिसका कि अध्ययन केवल पुनरावृत्ति साक्षात्कार द्वारा ही सम्भव है।

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के साक्षात्कार के अनेकों लाभ हैं, फिर भी यह पद्धति अनेक **सीमाओं** से घिरी है। प्रथम तो यह अत्यधिक खर्चीली

एवं समय चाहनेवाली पद्धति है। साथ ही इसके लिए एक स्थायी अनुसन्धान संस्था का निर्माण करने की आवश्यकता पड़ेगी। साथ ही साथ साक्षात्कारदाताओं का भी स्थायी होना आवश्यक है; साथ ही उनकी संख्या भी सीमित होनी चाहिए। फिर भी इसे मानना ही पड़ेगा कि सामाजिक खोज की यह एक अपनी निराली पद्धति है।

साक्षात्कार-प्रविधि के प्रमुख चरण
(Main Steps of Interview Technique)

साक्षात्कार-प्रविधि संचालित किस प्रकार की जाए, साथ ही इसका प्रयोग किस प्रकार किया जाए, इस पर काफी अध्ययन एवं मनन हुआ है; साथ ही इस पर अथाह साहित्य भी लिखा जा चुका है। इस विषय पर लिखने वालों में सर्वश्री हरबर्ट और ह्यमैन (Herbert and Hyman), बिन्घम, वाल्टर व मूर (Binghom, Walter & Moore), ओल्डफील्ड (Oldfield), वेनलैंड व ग्रौस (Weinland D. & Gross M. U.) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वास्तव में साक्षात्कार-प्रविधि का प्रयोग भी इतना सरल नहीं है जितना कि प्रायः समझा जाता है। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से अब हम साक्षात्कार की प्रक्रिया को सुगमतापूर्वक और नियमानुसार चलाने के लिए उसके कुछ प्रमुख चरण समझाएँगे। ये प्रमुख चरण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(क) साक्षात्कार की तैयारी
(Preparation of Interview)

साक्षात्कार करने से पूर्व (अर्थात् किसी व्यक्ति या समूह, जिसका कि अध्ययन किया जा रहा है, से साक्षात्कार करने से पूर्व) उसकी तैयारी कर लेना अति आवश्यक है, क्योंकि बिना प्राथमिक ज्ञान के साक्षात्कार संचालित नहीं हो पाता। साक्षात्कार की तैयारी में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातें अति आवश्यक होती हैं—

१. समस्या की पूर्ण जानकारी (Full knowledge of the Problem)—साक्षात्कार-प्रविधि के प्रथम चरण की पहली मुख्य बात यह है कि साक्षात्कारकर्त्ता को अपने अध्ययन-विषय की पूर्ण जानकारी होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में साक्षात्कार-कर्त्ता अथवा अनुसन्धानकर्त्ता को अध्ययन-समस्या के सभी पहलुओं का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए। उसका मुख्य कारण यह है कि साक्षात्कारकर्त्ता को 'साक्षात्कार-निर्देशिका' एवं अनुसूची का निर्माण करना पड़ता है। इतना ही नहीं, क्षेत्र में उसको साक्षात्कार-दाता के अनेक प्रश्नों एवं वाद-विवादों का भी सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि साक्षात्कारकर्त्ता को अपने अध्ययन-विषय का पर्याप्त ज्ञान नहीं है तो वह साक्षात्कारदाता के प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने में असमर्थ रहेगा जो कि अनुसन्धान की सफलता के लिए घातक है। अतः सर्वप्रथम साक्षात्कारकर्त्ता को अपने अध्ययन-विषय के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

२. साक्षात्कार-निर्देशिका की रचना करना (Construction of Interview Guide)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि साक्षात्कार-प्रविधि में साक्षात्कार-निर्देशिका का अपना पृथक् ही महत्त्व है। इसकी रचना करना एक आवश्यक शर्त है। साक्षात्कार की तैयारी करते समय इसका निर्माण किया जाता है। साक्षात्कार-निर्देशिका एक लिखित प्रलेख होती है जिसमें अध्ययन-समस्या के विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध रूप में निर्देश दिया होता है। इसमें अनुसूची की भाँति निश्चित प्रश्न नहीं

दिए होते हैं, वरन् साक्षात्कार करने की संक्षिप्त रूप में पद्धति, समस्या के विभिन्न पहलू एवं अन्य आवश्यक निर्देश दिए रहते हैं और ये सभी विन्दुओं (points) के रूप में दिए रहते हैं—प्रश्नों के रूप में नहीं। इतना ही नहीं, नीचे फुटनोट में समस्या से सम्बन्धित विभिन्न इकाइयों एवं कठिन शब्दों की उचित परिभाषा भी दी हुई होती है ताकि कार्यकर्त्ता उनको सूचनादाताओं को सरलता के साथ समझा सकें। यदि हम संक्षेप में यह कहें कि **"साक्षात्कार-निर्देशिका अध्ययन-समस्या की योजना का क्रमबद्ध एवं संक्षिप्त वर्णन है"** तो अनुचित न होगा।

साक्षात्कार-निर्देशिका की उपयोगिता (Utility of Interview Guide)—इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि साक्षात्कार-प्रविधि के संदर्भ में साक्षात्कार-निर्देशिका का अत्यधिक महत्त्व है। इसकी उपयोगिता को निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट किया जा सकता है—

(i) साक्षात्कार-निर्देशिका का **प्रथम** लाभ यह है कि इसकी पूर्वरचना करने से अध्ययन में एकरूपता आ जाती है। जैसा कि सर्वविदित ही है कि यदि अध्ययन-समस्या जटिल है तो विशाल जनसमूह का अध्ययन करना होगा—तो साक्षात्कार भी अधिक करने होंगे जिसको कि केवल एक ही व्यक्ति नहीं संचालित कर पाएगा अर्थात् अनेक कार्यकर्त्ताओं के द्वारा साक्षात्कार लिए जाएँगे और इस अवस्था में साक्षात्कार-निर्देशिका के द्वारा सभी कार्यकर्त्ताओं के साक्षात्कार में एकरूपता आ सकेगी।

(ii) साक्षात्कार-निर्देशिका का **दूसरा** लाभ यह है कि इससे समस्या के सभी पहलुओं का विस्तृत अध्ययन सम्भव हो जाता है, क्योंकि साक्षात्कार-निर्देशिका में इन सभी पहलुओं को नोट कर लिया जाता है। अतः कार्यकर्त्ता द्वारा उनके भूल जाने की सम्भावना नहीं रहती।

(iii) इसका **तीसरा** लाभ यह है कि साक्षात्कारकर्त्ता को अपनी स्मरणशक्ति पर विशेष दबाव नहीं डालना पड़ता। जब साक्षात्कारकर्त्ता स्वतन्त्र साक्षात्कार कर रहा होता है तो अक्सर वह भावात्मक वातावरण में बह जाता है और उसके लिए मूल-विषय से बाहर चले जाने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में साक्षात्कार-निर्देशिका उसको ऐसा करने से रोकती है।

(iv) **अन्त में**, साक्षात्कार-निर्देशिका अध्ययन में क्रमबद्धता लाने में मदद करती है और साक्षात्कार की सफलता के लिए क्रमबद्धता एक आवश्यक शर्त है। कभी-कभी प्रश्नों में क्रमबद्धता न होने से साक्षात्कारदाता हड़बड़ा उठता है और गलत सूचनाएँ देने लगता है या साक्षात्कार समाप्त कर देता है। ऐसी स्थिति से बचने के लिए साक्षात्कार-निर्देशिका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह ठीक है कि साक्षात्कार-निर्देशिका साक्षात्कार के संचालन में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान रखती है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह पूरे साक्षात्कार को ही संचालित करती है, यद्यपि साक्षात्कार को कुछ आवश्यक निर्देश अवश्य देती है। इसका प्रयोग इसी सीमा तक करना चाहिए कि वार्तालाप में विघ्न न पड़े।

३. साक्षात्कारदाताओं का चुनाव (Selection of Interviwers)—साक्षात्कार-निर्देशिका तैयार करने के बाद साक्षात्कारदाताओं का चुनाव होता है। साक्षात्कारदाताओं का चुनाव वास्तव में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन्हीं पर अध्ययन निर्भर करता है क्योंकि अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं के स्रोत यही साक्षात्कारदाता ही होते हैं। साक्षात्कारदाताओं का चुनाव किसी भी प्रकार की निदर्शन प्रविधि

(Sampling Technique) द्वारा किया जा सकता है। यह अध्ययन-समस्या पर निर्भर करता है कि किस प्रकार की निदर्शन-प्रविधि को अपनाया जाए। कभी-कभी साक्षात्कारदाताओं की खोज भी करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, यदि सरकारी अस्पतालों में डाक्टर व नर्सों की स्थिति का अध्ययन करना है तो अस्पताल-अधिकारियों से डाक्टर व नर्सों के पते आदि आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं।

४. **साक्षात्कारदाताओं के सम्बन्ध में ज्ञान** (To know about the Interviewers)—साक्षात्कारदाताओं के चयन के उपरान्त उनके बारे में थोड़ा ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। जैसा कि स्पष्ट है कि अध्ययन अथवा अनुसन्धान की सफलता, सफल साक्षात्कार पर निर्भर करती है क्योंकि यदि साक्षात्कार सफल नहीं होता तो इसका तात्पर्य यह है कि सूचनाएँ भी सही प्राप्त नहीं हुई हैं। इस अवस्था से बचने के लिए यह आवश्यक है कि साक्षात्कारदाताओं के सम्बन्ध में थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया जाए। कौन व्यक्ति किस प्रकृति का है ? किस विचार का है ? उसकी क्या संस्कृति है ? यह सब बातें जान लेने से साक्षात्कार में सफलता की अधिक आशा रहती है।

५. **साक्षात्कार के लिए समय एवं स्थान का निर्धारण** (To determine proper time and place for Interview)—साक्षात्कार की तैयारी के सम्बन्ध में अंतिम बात, जो कि कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह है कि साक्षात्कार के लिए उचित समय एवं स्थान का निर्धारण कर लेना चाहिए। इसमें एक बात, जो कि महत्त्वपूर्ण है, यह है कि समय एवं स्थान का निर्धारण साक्षात्कारदाता की सलाह से ही करना चाहिए। उसके लिए साक्षात्कारदाता से पत्र, टेलीफोन या व्यक्तिगत रूप से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। साथ ही यह प्रथम सम्पर्क स्थापित करते समय परिचय-पत्र भी भेजना चाहिए ताकि साक्षात्कारदाता को किसी प्रकार का सन्देह न हो।

स्थान का चुनाव भी पहले ही होना चाहिए, इस सम्बन्ध में यदि गोपनीयता रहे तो अधिक अच्छा रहेगा। वास्तव में समय एवं स्थान के पूर्वनिर्धारण से साक्षात्कार-कर्त्ता का काफी समय एवं धन बच जाता है। उसे बेकार ही अनेकों बार सूचनादाता के पास नहीं जाना पड़ता।

(ख) साक्षात्कार की प्रक्रिया
(Process of Interview)

साक्षात्कार की तैयारी करने के उपरान्त मुख्य साक्षात्कार की ओर अग्रसर होना पड़ता है। इस स्तर पर सूचनादाता और अनुसन्धानकर्त्ता आमने-सामने होता है और उनमें अन्तःक्रियात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। इसीलिए सर्वश्री गुड एवं हॉट ने लिखा है कि **वास्तव में मूल रूप से साक्षात्कार सामाजिक अन्तःक्रिया की एक प्रक्रिया है।**[6] इस प्रक्रिया के निम्नलिखित सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलू हैं—

१. **सम्पर्क की स्थापना** (Establishment of Contact)—साक्षात्कार में सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रथम सीढ़ी सम्पर्क की स्थापना है। पूर्वनिर्धारित स्थान एवं समय पर साक्षात्कारकर्त्ता साक्षात्कारदाता से सम्पर्क स्थापित करता है। सबसे प्रथम साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कारदाता से उचित अभिवादन के साथ मिलना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि साक्षात्कारदाता से मिलने जाते समय साक्षात्कारकर्त्ता को सौम्य एवं गम्भीर पोशाक में होना चाहिए।

---

6 "......Interviewing is fundamentally a process of social interaction." —W. J. Goode and P. K. Hatt, *Methods in Social Research*, 1952, p. 150.

चेहरा खिला हुआ एवं हँसमुख व्यक्तित्व होना चाहिए। उसे अपने गले में रेशमी रूमाल या आँख पर काला चश्मा या इत्र लगाकर नहीं जाना चाहिए। साक्षात्कार-दाता से मिलते ही तुरन्त अपना परिचय-पत्र देना चाहिए। यदि परिचय-पत्र छपा हुआ हो तो और भी अच्छा है क्योंकि इससे साक्षात्कारदाता पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

२. साक्षात्कार का प्रारम्भ—उद्देश्य का स्पष्टीकरण एवं सहयोग की प्रार्थना (Beginning of Interview—Clarification of Object and request for Co-operation)—साक्षात्कारदाता से मिलने के उपरान्त अपना परिचय-पत्र देकर अपने उद्देश्य का चतुरता से स्पष्टीकरण कर देना चाहिए कि मैं अमुक संस्था के अनुसन्धान-कार्य में लगा हुआ हूँ अथवा मैं अमुक विषय पर खोज कर रहा हूँ। यदि साक्षात्कारदाता यह पूछे कि वह उसके पास ही क्यों आए हैं, तो इसका रहस्य भी, अर्थात् जिस निदर्शन-प्रविधि के द्वारा उसका नाम चुना गया, वता देना चाहिए; साथ ही कुछ अन्य व्यक्तियों का नाम भी, जो कि निदर्शन में हों, वता देना चाहिए। इससे साक्षात्कारदाता को आपके सम्वन्ध में पूर्ण विश्वास हो जाएगा जिसका कि साक्षात्कार पर भी अधिक अच्छा असर पड़ेगा।

उद्देश्य स्पष्ट करने के उपरान्त साक्षात्कारकर्त्ता को उसके सहयोग की प्रार्थना करनी चाहिए। उससे यह कहना चाहिए कि उसका सहयोग अनुसन्धान के लिए कितना आवश्यक है। साथ ही, उससे यह भी कहना चाहिए कि विना उसके सहयोग के समाज की 'यह' जटिल समस्या हल न हो पाएगी। इसके उपरान्त साक्षात्कार-दाता को यह भी विश्वास दिलाना चाहिए कि उसके द्वारा दी गई सभी सूचनाएँ अत्यन्त गोपनीय रखी जाएँगी, क्योंकि उनका उद्देश्य विशुद्ध वैज्ञानिक अनुसन्धान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

३. प्रमुख साक्षात्कार का प्रारम्भ (Beginning of Main Interview)—साक्षात्कार के उद्देश्य को स्पष्ट करने एवं सहयोग की याचना के उपरांत प्रमुख साक्षात्कार का प्रारम्भ करना चाहिए। इससे प्रथम साक्षात्कारकर्त्ता को पहले प्राथमिक प्रश्न पूछने चाहिएँ, जैसे आपका नाम क्या है, क्या आप अपने परिवार के सदस्यों की संख्या वताएँगे, आपकी आयु क्या है, आदि-आदि। इसके पश्चात् अध्ययन-विषय से सम्वन्धित प्रश्न पूछना चाहिए। इसमें भी पहले सरल एवं सामान्य प्रश्न पूछना चाहिए। हाँ, वाद में व्यक्तिगत अनुभवों के वारे में पूछा जा सकता है। साथ ही प्रारम्भ में साक्षात्कारकर्त्ता को वड़ा ही सतर्क, गम्भीर तथा तटस्थ रहना चाहिए। साक्षात्कारदाता को बोलने का अधिक अवसर देना चाहिए। स्वयं अत्यधिक कम वोलना चाहिए, क्योंकि यदि साक्षात्कारकर्त्ता अधिक वोलता है तो कभी-कभी अनुभवों पर वाद-विवाद भी छिड़ जाता है, साथ ही साक्षात्कारदाता को अधिक कहने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता। वास्तव में साक्षात्कारदाता से ही सूचनाएँ प्राप्त करना साक्षात्कार का प्रमुख उद्देश्य होता है। अतः साक्षात्कारकर्त्ता को कम से कम वोलना चाहिए। इस सम्वन्ध में एक वात ध्यान रखने की है और वह यह है कि साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कारदाता के पूछने पर भी किसी दशा में किसी दूसरे व्यक्ति का अनुभव नहीं वताना चाहिए। इससे साक्षात्कारदाता पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

४. कुछ उत्साहवर्धक वाक्य दोहराना (To repeat some encouraging sentences)—साक्षात्कार लेते समय यह आवश्यक हो जाता है कि साक्षात्कारकर्त्ता

कुछ वाक्यों को वार-वार दोहराए ताकि साक्षात्कारदाता का उत्साह वढ़े और वह साक्षात्कार में अधिक रुचि ले। ये वाक्य हो सकते हैं—"आपकी सूचना ने वास्तव में इस सामाजिक समस्या को हल करने में काफी सहायता की है।" "वाह! यह तो आपने एक नई बात, जो कि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, सुनाई है।" "आपकी इस सूचना ने तो मुझे विलकुल अंधेरे से प्रकाश में ला दिया।" परन्तु ये वाक्य ऐसे समय पर और इस प्रकार कहने चाहिएँ कि साक्षात्कारदाता को यह न लगे कि वह उसकी चापलूसी कर रहा है; नहीं तो इसका प्रभाव उल्टा ही पड़ेगा।

५. **क्रोधित होने से बचना** (To avoid irritating points)—साक्षात्कार लेते समय साक्षात्कारकर्त्ता को ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिएँ जिससे कि साक्षात्कार-दाता क्रोधित हो जाए, क्योंकि ऐसा होने से साक्षात्कार तुरन्त ही समाप्त कर देना पड़ेगा और अध्ययन भी अधूरा रह जाएगा। उदाहरण के लिए किसी चोर से यह कहना कि 'चोरी करना बड़ा गंदा काम है, तुमने चोरी क्यों की—वायदा करो कि अब नहीं करोगे।' ऐसे प्रश्न पर साक्षात्कारदाता का क्रोधित होना स्वाभाविक ही है जो कि सफल साक्षात्कार के लिए हानिकारक सिद्ध होता है।

६. **स्मरण कराना** (Recall)—कभी-कभी ऐसा समय आता है कि साक्षात्कारदाता अपने अनुभवों का वर्णन करते-करते भावनाओं में डुवकी लगाने लगता है और मुख्य विषय से काफी दूर चला जाता है। ऐसे समय पर साक्षात्कारकर्त्ता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह सावधानी से उसको मुख्य विषय की याद दिलाए। वह कह सकता है—"हाँ, अभी आप...के वारे में कुछ कह रहे थे, कृपया उस वारे में कुछ और कहिए!" "हाँ, तो उसका फिर क्या हुआ—वह तो वड़ी अच्छी घटना सुनाई आपने, क्या इसे फिर से सुनाना पसन्द करेंगे।"

स्मरण कराने में साक्षात्कारकर्त्ता को अत्यधिक सावधानी वरतने की आवश्यकता है। साक्षात्कारदाता को यह महसूस हो कि वास्तव में वह वात अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। साथ ही, साक्षात्कारदाता को यह अनुभव न होने पाए कि वह उससे कोई भेद की वात उगलवाना चाहता है। अतः यह आवश्यक है कि यदि साक्षात्कार-कर्त्ता यह अनुभव करे कि साक्षात्कारदाता अमुक वात वताने का इच्छुक नहीं है, तो अधिक जोर भी नहीं देना चाहिए। वास्तव में साक्षात्कारकर्त्ता को हर क्षण सतर्क रहना पड़ता है।

७. **उचित एवं समयानुसार प्रश्न** (Adequate and timely Questions)—साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कार लेते समय सदैव ही उचित प्रश्न पूछने चाहिएँ। उचित प्रश्नों का तात्पर्य है कि अत्यधिक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं पूछने चाहिएँ। यदि किसी व्यक्ति से उसकी प्रेमिका के वारे में अधिक पूछा जाएगा या किसी व्यक्ति से उसके गुप्त सम्वन्धों के वारे में पूछा जाएगा तो वह इन प्रश्नों का उत्तर देने के वजाय साक्षात्कार वन्द कर देगा।

उचित प्रश्न पूछने के साथ-साथ प्रश्नों का समयानुसार होना भी अति आवश्यक है। अर्थात् एकाएक एक विषय छोड़कर दूसरे विषय पर प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। जैसे किसी के वैवाहिक जीवन पर प्रश्न पूछते-पूछते उसके राजनैतिक जीवन के वारे में प्रश्न पूछना ठीक नहीं होगा। ऐसा होने पर साक्षात्कारदाता क्रोधित भी हो सकता है।

८. **कुछ अन्य सामान्य बातें** (Some other general things)—उपरोक्त बातों के अतिरिक्त भी कुछ वातें हैं जिन्हें साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कार लेते समय

ध्यान में रखना चाहिए। साक्षात्कारकर्त्ता को प्रश्न ऐसे पूछने चाहिएँ जो कि जटिल न हों। साथ ही, ऐसे प्रश्न भी नहीं पूछने चाहिएँ, जिनके कि अति संक्षिप्त उत्तर आने की सम्भावना हो क्योंकि वर्णनात्मक प्रश्नों से अधिक उचित एवं उपयुक्त सूचना प्राप्त होने की सम्भावना रहती है। इतना ही नहीं, साक्षात्कारकर्त्ता को पथ-प्रदर्शन करने वाले प्रश्न, जैसे 'क्या आप सिनेमा देखना पसन्द करते हैं ?' नहीं पूछने चाहिएँ। ऐसी दशा में साक्षात्कारदाता प्रश्न के अनुसार ही 'हाँ' में उत्तर देता है। इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सदैव साक्षात्कारकर्त्ता को 'विषय' पर रहने का प्रयास करना चाहिए। विषय से इधर-उधर भटकने से साक्षात्कारदाता का विश्वास भी हट जाता है और वह भी इधर-उधर बहकने लगता है।

९. सूचना को नोट करना (Noting of Information)—साक्षात्कार के सम्बन्ध में एक बात सूचना नोट करने की भी है। जब साक्षात्कार स्वतन्त्र वर्णन के रूप में होता है तो सूचना को नोट करना एक और भी कठिन समस्या का रूप धारण कर लेता है क्योंकि बातचीत के समय अत्यधिक लिखते रहने से वार्तालाप का प्रवाह रुक जाता है और साक्षात्कार समाप्त होने का डर रहता है। अतः संकेत-लिपि (Shorthand) या संकेत-शब्दों या संक्षिप्त शब्दों (Abbreviations) का प्रयोग किया जा सकता है। टेपरिकार्ड आदि का प्रयोग भी अत्यधिक उचित है, परन्तु इससे साक्षात्कारदाता को सन्देह हो सकता है। फिर भी अपनी स्मरणशक्ति पर अत्यधिक विश्वास न करके किसी-न-किसी रूप में कुछ-न-कुछ नोट अवश्य करते रहना चाहिए। हाँ, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उससे वार्तालाप के प्रवाह में किसी प्रकार का विघ्न न पड़ने पाए, यही कुशल साक्षात्कारकर्त्ता की वास्तविक कसौटी है।

(ग) साक्षात्कार का नियन्त्रण, निर्देशन एवं प्रमाणीकरण
(Controlling, Directing and Validating of the Interview)

साक्षात्कार लेते समय साक्षात्कारकर्त्ता का एक अति आवश्यक कर्त्तव्य साक्षात्कार को नियन्त्रित, निर्देशित एवं प्रमाणीकृत भी करना है। कभी-कभी ऐसा होता है कि साक्षात्कारदाता वर्णनात्मक प्रश्न का उत्तर देते-देते भावनाओं में खो जाता है और ऐसी बातें भी सुनाने लगता है जिनका कि जरा भी मतलब अनुसन्धान-विषय से न हो। ऐसे समय में साक्षात्कारकर्त्ता को अत्यन्त सावधानी से कार्य करना पड़ता है क्योंकि यदि वह एकदम उसको अपना वर्णन करने के लिए मना करता है तो हो सकता है कि उसके अहम् भाव को चोट लगे और आगे वह साक्षात्कार न करे। इससे सूचनाएँ एवं अध्ययन अधूरा ही रह जाएगा। अतः ऐसे समय यह कहकर 'अच्छा हाँ यह बात मैंने भी सुनी थी, वास्तव में अत्यन्त दुखद है,' इस प्रकार की बातों से यदि साक्षात्कारदाता मान जाए तो ठीक है, वरना उसकी बात को उदारतापूर्वक सुन लेना ही उचित रहेगा—यही साक्षात्कार के नियन्त्रण एवं निर्देशन के सम्बन्ध में आवश्यक बात है। जहाँ तक प्रमाणीकरण का प्रश्न है इसमें निम्नलिखित बातें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं :—

(१) साक्षात्कारदाता द्वारा जो सूचना दी गई है कहीं उसमें परस्पर विरोधीपन तो नहीं है, यदि ऐसा है तो उसका कारण जानने का प्रयत्न करना चाहिए। अधिकतर यह गलत समझने का परिणाम होता है।

(२) यदि यह आभास हो जाए कि साक्षात्कारदाता साक्षात्कारकर्त्ता को धोखा देने का प्रयत्न कर रहा है और झूठ बोल रहा है तो सदैव साक्षात्कारकर्त्ता को अपने

को इस प्रकार दिखावा (show) करने का प्रयत्न करना चाहिए कि जैसे यह तथ्य उसे पहले से ही मालूम है। क्योंकि इससे साक्षात्कारदाता पर प्रतिकूल असर नहीं पड़ेगा। इसके विपरीत यदि साक्षात्कारदाता से कहीं यह कह दिया जाए कि वह झूठ बोल रहा है तो शायद साक्षात्कार तुरन्त समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति से सदैव ही बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) इस स्थिति से बचने का एक उपाय यह भी है कि साक्षात्कारकर्त्ता, साक्षात्कारदाता से क्रास प्रश्नों (Cross Questions) के द्वारा सही सूचना प्राप्त कर सकता है। यद्यपि यह उपाय कठिन है तथापि अत्यधिक वैज्ञानिक है।

(घ) साक्षात्कार की समाप्ति
(Closing of Interview)

जब साक्षात्कारदाता सब कुछ कह चुकता है तथा उसके कहने की गति अति धीमी हो जाती है या वह बीच-बीच में रुकने लगता है तो समझना चाहिए कि अब साक्षात्कार समाप्ति की स्थिति है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सारी बात कह चुकने के बाद साक्षात्कारदाता एकाएक भय एवं आत्मग्लानि की भावना से भर जाता है कि व्यर्थ ही उसने अपना गुप्त रहस्य एक अपरिचित व्यक्ति को बता दिया। वास्तव में इस प्रकार की भावना साक्षात्कार की सफलता की परिचायक है; हाँ, इस भावना को यथासम्भव दूर अवश्य कर देना चाहिए।

यदि चल रहे साक्षात्कार के बाद और आगे भी साक्षात्कार करने की आवश्यकता महसूस हो, तब यह साक्षात्कार उस समय बन्द करना चाहिए जबकि किसी महत्त्वपूर्ण बात पर बातचीत करनी शेष रही हो ताकि आगे के साक्षात्कार में उसी बात से बातचीत शुरू हो सके। प्रायः प्रत्येक स्थिति में साक्षात्कारकर्त्ता को साक्षात्कारदाता की कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। वह कह सकता है 'आपने हमें सहयोग देकर हमारा अत्यधिक उपकार किया है।' अन्त में उसके द्वारा प्रदान की गई सभी सूचनाओं को गुप्त रखने का आश्वासन दिया जाना चाहिए। तत्पश्चात् 'नमस्कार' कहकर, अथवा 'अच्छा फिर मिलेंगे' कहकर साक्षात्कार की समाप्ति कर देनी चाहिए।

(ङ) रिपोर्ट
(Report)

साक्षात्कार करने के बाद जब साक्षात्कारकर्त्ता घर लौटता है तो उसका सर्वप्रथम कार्य साक्षात्कार की रिपोर्ट को लिखना होता है। यह भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। किसी भी स्थिति में रिपोर्ट लिखने का कार्य टालना नहीं चाहिए क्योंकि अनुसन्धान के निष्कर्ष इसी रिपोर्ट पर आधारित होते हैं। अतः प्रत्येक दशा में साक्षात्कारकर्त्ता को पहले रिपोर्ट लिखने का कार्य करना चाहिए। रिपोर्ट लिखते समय साक्षात्कार लेते समय लिए गए संक्षिप्त नोटों की सहायता आवश्यक है। इसके अतिरिक्त साक्षात्कारकर्त्ता को अपनी स्मरणशक्ति पर विश्वास करना पड़ता है। कुछ भी हो, साक्षात्कारकर्त्ता को रिपोर्ट लिखते समय सदैव यह प्रयत्न करना चाहिए कि रिपोर्ट सत्य एवं अत्यधिक पक्षपातरहित हो।

एक अच्छे साक्षात्कारकर्त्ता के कार्य तथा गुण (लक्षण)
(Role and Qualities of a Good Interviewer)

साक्षात्कार की सफलता में साक्षात्कारकर्त्ता का वास्तव में अत्यधिक महत्त्व है। वास्तव में सफल साक्षात्कार का रहस्य कुशल साक्षात्कारकर्त्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक बार साक्षात्कारदाता साक्षात्कार की अनुमति प्रदान कर दे, फिर तो सारी बात साक्षात्कारकर्त्ता पर ही निर्भर करती है; बल्कि साक्षात्कार की अनुमति देना भी बहुत-कुछ साक्षात्कारकर्त्ता के प्रथम व्यवहार एवं कुशलता पर निर्भर करता है।

साक्षात्कारकर्त्ता में निश्चित ही वे सभी गुण होने अवश्यम्भावी हैं जो कि एक कुशल अनुसन्धानकर्त्ता में होते हैं क्योंकि साक्षात्कारकर्त्ता एक कुशल अनुसन्धानकर्त्ता भी होना चाहिए। साक्षात्कारकर्त्ता में अन्य अनेक विशेष गुण जैसे कुशलता, चतुरता, बौद्धिक ईमानदारी, निष्पक्षता, विनम्रता, प्रेम की भावना आदि गुण होने चाहिएँ। क्योंकि कुछ सूचनादाता अत्यधिक चतुर एवं मक्कार होते हैं। हो सकता है वे साक्षात्कारकर्त्ता को बेवकूफ बनाने का प्रयत्न करते हैं। कोई साक्षात्कारदाता अत्यधिक मंद बुद्धि होता है, तो कोई डरपोक एवं आत्मगत। कोई साक्षात्कारदाता केवल अपनी ही बात कहने का आदी होता है, तो कोई साक्षात्कारकर्त्ता से ही नई-नई बातें सुनने का इच्छुक होता है। कोई साक्षात्कारदाता अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर बातें करता हैं, तो कोई आदर्शवादिता के पीछे पड़ा रहता है। कोई साक्षात्कारदाता तो अत्यधिक झूठ बोलने का प्रयत्न करते हैं, एवं बड़ी मुश्किल से अपने मन की बात कहते हैं। साक्षात्कारकर्त्ता को इन सभी प्रकार के व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर, उनको प्रसन्न कर, अपने मतलब की बात निकालनी पड़ती है।

साक्षात्कारदाता जब अपनी कोई बात लम्बे रूप में सुना रहा होता है तो अनेक बातें गप्पों के रूप में सुना जाता है या फिर कुछ व्यक्ति तो अधिकतर 'हाँ' या 'नहीं' में ही प्रश्नों का उत्तर दे देते हैं। यह साक्षात्कारकर्त्ता की कुशलता पर निर्भर है कि वह कहाँ तक साक्षात्कारदाता को अपनी बात कहने के लिए प्रोत्साहित करे। इस रूप में उसको साक्षात्कारदाता के भावों एवं मुद्राओं पर विशेष ध्यान रखना होता है और इसके लिए उसको यदि मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन हो तब तो सोने पर सुहागा ही है।

इन सब बातों के अतिरिक्त साक्षात्कारकर्त्ता को बौद्धिक रूप से ईमानदार एवं पक्षपातरहित होना चाहिए; क्योंकि इसके बिना निष्कर्षों में भी वैषयिकता नहीं आने पाएगी, जो कि सामाजिक अनुसन्धानों की एक आवश्यक शर्त है।

साक्षात्कारकर्त्ता एक अनुसन्धानकर्त्ता ही होता है। अतः उसमें भी अनुसन्धानकर्त्ता के सभी गुण होने चाहिएँ तभी वह सफल साक्षात्कारकर्त्ता बन सकता है। इन गुणों का वर्णन हम अध्याय ८ में कर चुके हैं। उन सभी गुणों का साक्षात्कारकर्त्ता के गुणों का वर्णन करते समय उल्लेख करना चाहिए।

साक्षात्कार की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता
(Reliability and Validity of Interview)

साक्षात्कार समाप्त करने के बाद साक्षात्कार की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता या वैधता की समस्या सामने आ खड़ी होती है क्योंकि जब तक प्राप्त सूचनाओं का सत्यापन नहीं हो जाता, तब तक यह सन्देह रहता ही है कि प्राप्त सूचना

कहाँ तक सही है, एवं उससे कहाँ तक उचित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यह भी शक हो सकता है कि कहीं प्राप्त सूचनाएँ केवल मात्र निरर्थक एवं असत्य तो नहीं हैं। प्रायः इस प्रकार की धारणा के कुछ निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

१. साक्षात्कारदाता ने किसी कारणवश चाहे वह जानकर या अनजाने ही गलत सूचनाएँ प्रदान की हों।

२. साक्षात्कारदाता किसी कारणवश महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ साक्षात्कारकर्त्ता से छिपा गया हो या वतलाने से मना कर दी हो।

३. साक्षात्कारकर्त्ता ने कोई सूचना गलत रूप में ग्रहण की हो।

४. साक्षात्कारकर्त्ता ने अपना व्यक्तिगत पक्षपात समाविष्ट कर लिया हो।

५. रिपोर्ट लिखते समय साक्षात्कारकर्त्ता कुछ भूल गया हो। और यह भी हो सकता है कि सूचनाओं की पूर्ति के लिए गलत सूचनाओं से रिक्तता की पूर्ति कर दी हो।

साक्षात्कार को वैध एवं विश्वसनीय बनाने के लिए उपरोक्त वातों में साक्षात्कार के प्रारम्भ से ही सावधानियाँ वरतनी चाहिएँ ताकि वाद में अधिक कठिनाई न पड़े। डॉ० मीरा कोमारोवस्की (Mirra Komarovsky) ने साक्षात्कार द्वारा प्राप्त सूचनाओं के सत्यापन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण उपायों का उल्लेख किया है जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१. साक्षात्कारकर्त्ता को अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विस्तृत सूचना माँगनी चाहिए तथा अधिक खोजपूर्ण प्रश्न पूछना चाहिए ताकि असत्य का पता लगाने में सुविधा हो—क्योंकि पर्याप्त वर्णन से कहीं-न-कहीं झूठ सामने आ ही जाएगा।

२. साक्षात्कारकर्त्ता अपने अनुभवों से भी सूचनाओं की तुलना कर सकता है।

३. साक्षात्कारकर्त्ता को सत्यता का पता लगाने के लिए 'वर्तमान घटना का पुराने अन्तःसम्वन्धित घटकों पर प्रभाव का' भी अध्ययन करना चाहिए। इससे तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सत्य को जानना सम्भव हो सकता है।

४. साक्षात्कारकर्त्ता अपने स्वयं के तर्क के आधार पर भी कार्य-कारण का सम्वन्ध मालूम कर सकता है। क्योंकि किसी घटना का किस सीमा तक प्रभाव तर्कसंगत है, यह वह अपने-आप निश्चित कर सकता है। यदि वेरोजगारी के कारण पिता के पारिवारिक अधिकार विल्कुल समाप्त हो गए हों—ऐसी सूचना प्राप्त हो—तो यह अतर्कसंगत ही होगी।

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त 'सामूहिक साक्षात्कार' का भी प्रयोग हो सकता है, यद्यपि यह सभी प्रकार के अनुसन्धान-कार्यों में सम्भव नहीं है।

साक्षात्कार-प्रविधि का महत्त्व
(Importance of Interview Technique)

अनेकों सामाजिक विचारकों (Social Thinkers) का विचार है कि चूंकि सामाजिक घटनाएँ सांख्यिकीय विवेचन के उपयुक्त नहीं हैं, अतः साक्षात्कार-प्रविधि ही एकमात्र ऐसी प्रविधि है जिसके कि द्वारा सामाजिक घटना का अध्ययन सम्भव है। प्रो० गुड एवं हॉट ने अपना एक और पृथक् विचार व्यक्त किया है। आपके शब्दों में "समकालीन खोज में साक्षात्कार का अधिक महत्त्व हो गया है क्योंकि वह गुणात्मक

साक्षात्कार का पुनर्निर्धारण है।"[7] यह कथन अनुचित नहीं है। वास्तव में सामाजिक खोज-कार्यों में साक्षात्कार-प्रविधि का अत्यधिक महत्त्व है। इसके महत्त्व को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. सभी प्रकार की सूचनाओं का संकलन (Collection of all types of Informations)—साक्षात्कार-प्रविधि का प्रमुख लाभ यह है कि इस प्रविधि के द्वारा प्रायः सभी प्रकार की सूचनाओं का सीधे तौर पर सम्बन्धित व्यक्तियों से संकलन सम्भव होता है। यदि शैक्षिक सूचना प्राप्त करनी है तो शिक्षा विभाग के व्यक्तियों से साक्षात्कार किया जा सकता है, यदि अपराधियों का अध्ययन करना है तो अपराधियों और जेल विभाग के अधिकारियों से साक्षात्कार किया जा सकता है।

२. अमूर्त एवं अदृश्य घटनाओं का अध्ययन (Study of abstract & non-visible Phenomena)—साक्षात्कार-प्रविधि का दूसरा प्रमुख लाभ यह है कि इस प्रविधि के द्वारा अनेकों अमूर्त एवं अदृश्य घटनाओं का अध्ययन भी सम्भव हो जाता है। वास्तव में व्यक्तिगत धारणाएँ, भावनाएँ, संवेग, विचार आदि ऐसी अनेक अमूर्त घटनाएँ हैं जो कि हमारी क्रियाओं का संचालन एवं निर्धारण करती हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि इन घटनाओं का निरीक्षण नहीं किया जा सकता क्योंकि ये प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर नहीं हैं। इनका तो प्रभाव, केवल प्रभावित व्यक्ति ही जानता है। साक्षात्कार-प्रविधि द्वारा साक्षात्कारदाता से ये सभी सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

३. भूतकालीन घटनाओं का अध्ययन (Study of past Phenomena)—साक्षात्कार-प्रविधि द्वारा भूतकालीन घटनाओं एवं उनके प्रभावों का भी अध्ययन किया जा सकता है। वास्तव में मानव-जीवन या सामाजिक जीवन की इस प्रकार की अनेक घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ होती हैं जो कि काफी समय पूर्व ही घट चुकी होती हैं—और उनकी पुनरावृत्ति सम्भव नहीं होती—क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि एक बार जो घटना घटे वह दूसरी बार भी अवश्य घटे। परन्तु सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए उन घटनाओं का अध्ययन आवश्यक हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में साक्षात्कार-प्रविधि ही हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प बच जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह है कि साक्षात्कारदाता ने जो पूर्वघटना वर्णन की है, उसमें अधिक-से-अधिक विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता होने की सम्भावना रहती है।

४. पर्याप्त मनोवैज्ञानिक अध्ययन (Adequate Psychological Study)—मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी साक्षात्कार-प्रविधि का एक अनुपम लाभ है। व्यक्ति की अनेक धारणाएँ होती हैं, विचार एवं उद्देश्य होते हैं जिनका कि आसानी से अध्ययन सम्भव नहीं है। परन्तु साक्षात्कार-प्रविधि द्वारा मनोवैज्ञानिक रीति से इन सबका अध्ययन अच्छी प्रकार से हो जाता है। साक्षात्कार करते समय साक्षात्कारकर्त्ता साक्षात्कारदाता के मानसिक भावों के उतार-चढ़ाव का भी अध्ययन करता रहता है, साथ ही अनेकों मनोवैज्ञानिक प्रश्न पूछकर उसके दिल की बात, जिसे कि वह नहीं बताना चाहता है, को निकालने का भरसक प्रयत्न करता है और काफी सीमा तक वह सफल भी हो जाता है।

---

7. "Interview has become of greater importance in contemporary because of the reassessment of the Qualitative Interview."—Goode & Hatt, *op. cit.*, p. 185.

५. पारस्परिक प्रेरणात्मक अध्ययन (Inter-stimulative Study)—साक्षात्कार में कम-से-कम दो व्यक्ति तो अवश्य ही होते हैं। इन व्यक्तियों में (साक्षात्कारकर्त्ता और साक्षात्कारदाता में) विचारों का आपस में आदान-प्रदान होता रहता है। दूसरे शब्दों में एक-दूसरे के विचारों से दोनों अवगत होते रहते हैं। इस प्रकार दोनों ही पार्टियाँ एक-दूसरे से प्रेरित एवं उत्साहित होती रहती हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि परस्पर प्रेरणा से मिलने के कारण एक-दूसरे के मन की बात जल्द ही प्रकट हो जाती है जो कि एक सफल साक्षात्कार का रहस्य है। परस्पर बातचीत से, सम्बन्धित विषय के नवीन पहलू सामने आते हैं जो कि अध्ययन को एक नया मोड़ प्रदान करते हैं।

६. सूचनाओं का सत्यापन सम्भव (Verification of Informations Possible)—साक्षात्कार-प्रविधि में एक लाभ यह भी है कि इस प्रविधि द्वारा प्राप्त सूचनाओं का सत्यापन भी सम्भव होता है। इस सत्यापन के सम्भव होने का मुख्य कारण विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक स्पष्टीकरण किया जाना है। क्योंकि साक्षात्कार में अधिकतर घटनाओं का स्वतन्त्र वर्णनात्मक स्पष्टीकरण होता है अतः एक बार कही गई बात की सत्यता उसके स्पष्टीकरण में प्रकट हो जाती है। जबकि संक्षिप्त उत्तरों में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। साक्षात्कार में, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर न प्राप्त होकर, उसका विस्तृत वर्णन होता है और सम्भवतः इसीलिए प्राप्त सामग्री अधिक विश्वसनीय होती है।

साक्षात्कार-प्रविधि की सीमाएँ
(Limitations of Interview Technique)

यह ठीक है कि साक्षात्कार-प्रविधि के अत्यधिक लाभ हैं परन्तु ऐसा होते हुए भी अन्य प्रविधियों की भाँति साक्षात्कार-प्रविधि भी दोषों एवं सीमाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं है। इस प्रविधि में भी अनेक कमियाँ पाई जाती हैं। इनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. व्यक्तिगत अभिनति (Personal Bias)—साक्षात्कार-प्रविधि की सबसे मुख्य कमी यह है कि इस प्रविधि में व्यक्तिगत पक्षपात या अभिनति के समावेश होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है और इसीलिए सामग्री की विश्वसनीयता सदैव संदिग्ध रहती है। इस प्रविधि में सारा वर्णन स्वतन्त्र होता है, साथ ही विस्तृत भी होता है। अतः सूचनादाता तो अपने भाव एवं पक्षपातमिश्रित सूचना प्रदान करता ही है, उसके अतिरिक्त साक्षात्कारकर्त्ता का अपना स्वयं का भी पक्षपात उसमें समाविष्ट हो जाता है।

२. साक्षात्कारदाता पर निर्भरता (Dependence on Informants)—साक्षात्कार-प्रविधि में हमें साक्षात्कारदाता पर ही पूर्णतः निर्भर रहना पड़ता है। इस सम्बन्ध में दो बातें हैं। एक तो साक्षात्कारदाता को साक्षात्कार के लिए राजी करना ही एक टेढ़ी खीर है। दूसरे यदि साक्षात्कारदाता साक्षात्कार के लिए राजी हो भी जाता है तो स्वतन्त्र वर्णन कोई ही पसन्द करता है। इतना ही नहीं, उस समय एक जटिल समस्या उठ खड़ी होती है जब साक्षात्कारकर्त्ता को किसी भावात्मक घटना का पता लगाना होता है। यदि किसी से प्रेम-विवाह आदि के बारे में पूछा जाए तो वह बताने से इनकार कर सकता है। इस प्रकार साक्षात्कार-प्रविधि में साक्षात्कारकर्त्ता को सदैव साक्षात्कारदाता की दया पर निर्भर रहना पड़ता है।

३. स्मरणशक्ति पर निर्भरता (Dependence on Memory)—साक्षात्कार-प्रविधि की एक अन्य सीमा यह है कि इस प्रविधि में पूर्ण रूप से साक्षात्कारकर्त्ता को अपनी स्मरणशक्ति पर निर्भर करना पड़ता है, क्योंकि साक्षात्कार लेते समय साक्षात्कारकर्त्ता इस स्थिति में नहीं होता कि वह सभी सूचनाओं को नोट कर सके। वह साक्षात्कार समाप्त करने के बाद घर लौटने पर ही सूचनाओं को लिखता है। परन्तु इस समय वह अनेक बातें भूल भी जाता है और गलत भी नोट कर लेता है जो कि निष्कर्षों में भी त्रुटि पैदा कर देते हैं। यद्यपि कुछ संकेत वह साक्षात्कार लेते समय भी नोट कर सकता है परन्तु यह अधिक महत्त्व नहीं रखते हैं।

४. हीन भावना (Inferiority Complex)—साक्षात्कार-प्रविधि का एक दोष यह भी है कि इससे साक्षात्कारकर्त्ता में अक्सर हीन भावना आ जाती है। साक्षात्कार के लिए उसको अनेक प्रकार के व्यक्तियों के पास जाना पड़ता है और इस प्रक्रिया में व्यक्ति उससे तरह-तरह का व्यवहार करते हैं। इन व्यवहारों के कारण ही साक्षात्कारकर्त्ता में एक प्रकार की हीन भावना पनप जाती है। इस हीन भावना का असर सूचनाओं के संकलन पर पड़ता है। वह अनेक सूचनाओं का संकलन छोड़ देता है जो कि अध्ययन के लिए हानिकारक होता है।

५. अशुद्ध रिपोर्ट (Inaccurate Report)—अशुद्ध रिपोर्ट भी साक्षात्कार-प्रविधि की एक महत्त्वपूर्ण सीमा है। अनेक प्रकार के पक्षपात, भावनाओं, व्यक्तिगत विचारों के समाविष्ट होने के कारण साक्षात्कारकर्त्ता द्वारा लिखी गई रिपोर्ट में अशुद्धता की मात्रा अत्यधिक होती है।

६. कुशल साक्षात्कारकर्त्ता की समस्या (Problem of Qualified Interviewer)—साक्षात्कार-प्रविधि के लिए एक कुशल साक्षात्कारकर्त्ता की आवश्यकता होती है। साक्षात्कारकर्त्ता को उच्चतम योग्यता का होना चाहिए, साथ ही उसे एक अच्छा मनोवैज्ञानिक भी होना है और उसमें बुद्धि-चातुर्य एवं कौशल भी होना अति आवश्यक है। इन सब गुणों के होने पर ही साक्षात्कार में सफलता प्राप्त हो सकती है। परन्तु अधिकतर साक्षात्कारकर्त्ता इन गुणों से भरपूर नहीं होते। इसका परिणाम यह होता है कि साक्षात्कार सही प्रकार से नहीं हो पाता है और अधिकतर संकलित तथ्य अप्रामाणिक, असत्य एवं अविश्वसनीय होते हैं।

७. अत्यधिक समय की आवश्यकता (Need of Much Time)—साक्षात्कार-प्रविधि की अन्तिम महत्त्वपूर्ण सीमा यह है कि इस प्रविधि में अत्यधिक समय की आवश्यकता होती है। साक्षात्कारकर्त्ता को अनेकों व्यक्तियों से साक्षात्कार करना पड़ता है। साक्षात्कारदाता के पास कई-कई बार जाना पड़ता है। इतना ही नहीं, साक्षात्कार के समय भी साक्षात्कारदाता अपनी अनावश्यक बातें कहने में कभी-कभी काफी समय नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि इस पद्धति में समय की भी अधिक आवश्यकता पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि साक्षात्कार-प्रविधि की अनेक सीमाएँ हैं। परन्तु वास्तव में ये सीमाएँ अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में कुछ गुणों के साथ कुछ कमियाँ भी पाई जाती हैं जो कि उसके महत्त्व को एक प्रकार से बढ़ाती ही हैं; क्योंकि जिसमें कमी होगी उसी में सुधार एवं विकास होगा। साक्षात्कार-प्रविधि का भी शनैः-शनैः विकास हो रहा है और उसे धीरे-धीरे सामाजिक अनुसन्धान की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रणाली के रूप में स्वीकृति मिलती जा रही है।

---

१६ व्यक्तिगत अथवा वैयक्तिक अध्ययन

(CASE-STUDY)

सामाजिक अनुसन्धान की महत्त्वपूर्ण पद्धतियों को साधारण रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम सांख्यिकीय विधि एवं द्वितीय वैयक्तिक अध्ययन-पद्धति। समाज की परिस्थितियों का गणनात्मक अध्ययन (quantitative study) प्रथम विधि द्वारा किया जाता है जबकि समाज की परिस्थितियों के गुणात्मक (qualitative) पक्ष का अध्ययन सामाजिक अनुसन्धान की एक अत्यन्त प्राचीन विधि 'व्यक्तिगत अध्ययन' (Case-Study) द्वारा किया जाता है।

व्यक्तिगत अध्ययन एक अत्यन्त गहन प्रविधि है। सामाजिक विज्ञानों की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ जैसे व्यक्ति, संस्था एवं समुदाय के गहन अध्ययन के लिए ही इस प्रविधि का सूत्रपात हुआ। यह अत्यन्त प्राचीन प्रविधि भी है। सामाजिक आचरण एवं वैयक्तिक जीवन की विवेचना एवं व्याख्या के लिए अनेकों वर्षों से इस प्रविधि का प्रयोग होता आया है। संक्षेप में इसको एक 'इकाई' के आधार पर सम्पूर्ण का अध्ययन करने की प्रविधि कहा जा सकता है। इसका व्यवस्थित रूप में सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री हरवर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने किया था; यद्यपि प्रो० ली-प्ले (Le-Play) भी इस क्षेत्र में अग्रिम माने जाते हैं। इससे पूर्व कि वैयक्तिक अध्ययन की प्रणाली आदि के वारे में समझा जाए, इसके अर्थ का थोड़ा-बहुत ज्ञान आवश्यक है।

व्यक्तिगत या वैयक्तिक अध्ययन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Case-Study)

मोटे तौर पर व्यक्तिगत अध्ययन किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय के गहन अध्ययन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रविधि के अन्तर्गत एक इकाई विशेष को लेकर, चाहे वह कोई व्यक्ति हो, अथवा वह कोई संस्था या कोई समुदाय हो, उसका प्रत्येक दृष्टिकोण से, उसकी सम्पूर्णता में, उसका गहन अध्ययन है। यही संक्षेप में व्यक्तिगत अध्ययन का अर्थ है। निम्नलिखित परिभाषाओं से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा—

श्रीमती पी० वी० यंग (P. V. Young) के अनुसार, "वैयक्तिक अध्ययन किसी सामाजिक इकाई—चाहे वह एक व्यक्ति, परिवार, संस्था, सांस्कृतिक वर्ग अथवा समस्त जाति हो—के जीवन के अनुसन्धान व उसकी विवेचना करने की पद्धति को

कहते हैं।"[1]

प्रो० गुड एवं हॉट (Goode and Hatt) के शब्दों में, "व्यक्तिगत अध्ययन सामाजिक तथ्यों को संगठित करने का वह तरीका है, जिससे अध्ययन किए जाने वाले सामाजिक विषय के एकात्मक स्वभाव का संरक्षण हो सके। दूसरे शब्दों में, यह एक प्रविधि है जिसमें किसी भी सामाजिक इकाई का समग्र रूप में अध्ययन किया जाता है।"[2]

श्री अल्फ्रेड मार्शल (Alfred Marshall) ने व्यक्तिगत अध्ययन की परिभाषा करते हुए कहा है कि, "यह सावधानीपूर्वक कुछ चुने हुए परिवारों के घरेलू जीवन के समस्त पहलुओं का गहन अध्ययन है······अपने सर्वोत्तम रूप में यह सभी से श्रेष्ठ है; लेकिन साधारण हाथों में यह अधिक अविश्वसनीय सामान्य निष्कर्षों को सुझाने का कार्य करता है।"[3]

प्रो० ओडम (Prof. Odum) का विचार है कि "व्यक्तिगत अध्ययन एक प्रविधि है जिसके द्वारा प्रत्येक वैयक्तिक कारक, चाहे वह एक संस्था हो या एक समूह, का विश्लेषण उस समूह की अन्य इकाई के सन्दर्भ में किया जाता है।"[4]

प्रो० क्लिफोर्ड आर० शॉ (Prof. Clifford R. Shaw) ने भी व्यक्तिगत अध्ययन की परिभाषा करते हुए कहा है कि, "एक समस्या के सम्बन्ध में सामाजिक अनुसन्धान यथार्थ एवं विस्तृत वैयक्तिक केस (cases) के रूप में सामग्री-संकलन के साथ आरम्भ होता है। वैयक्तिक विषय एक व्यक्ति, एक संस्था, एक समुदाय अथवा एक समूह हो सकता है, जिसे अध्ययन की एक इकाई के रूप में समझा जाता है। व्यक्तिगत अध्ययन सम्पूर्ण परिस्थिति अथवा कारकों के सम्मिलित रूप, प्रक्रिया के विवरण और घटनाओं के अनुक्रम जिसमें व्यवहार घटित होते हैं, मानव-व्यवहार का उसके सम्पूर्ण ढाँचे में अध्ययन तथा प्राक्कल्पनाओं के निर्माण में सहायक वैयक्तिक स्थितियों के विश्लेषण एवं तुलना पर जोर देता है।"[5]

---

1. "Case-study is a method of exploring and analysing the life of a social unit, be that unit a person, a family, an institution, cultural group or even entire community."—P. V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 299.

2. "It is a way of organizing social data so as to preserve the unitary character of the social object being studied. Expressed somewhat differently, it is an approach which views any social unit as a whole."—Goode and Hatt, *Methods in Social Research*, 1952, p. 331.

3. "It is the intensive study of all the details of the domestic life of a few carefully chosen families...... As its best it is the best of all, but in ordinary hands it is likely to suggest more untrustworthy general conclusions ......"—Alfred Marshall, *Principles of Economics*, 1930, p. 116.

4. "The case-study method is a technique by which each individual factor whether it be an institution or just an episode in the life of an individual or a group is analysed in its relationship to any other in the group."—Odum Howard, *An Introduction to Social Research*, p. 229.

5. "Social research in a given problem begins with the accumulation of material in the form of concrete and detailed cases. The case may be an individual, an institution, a community or any group considered as a unit for study. Case-study method emphasizes the total situation or combination of factors, the description of the process or sequence of events in which

सर्वश्री बीसेंज एवं बीसेंज के शब्दों में "वैयक्तिक अध्ययन एक गुणात्मक विवेचना का रूप है जिसमें किसी व्यक्ति, परिस्थिति, अथवा संस्था का अत्यन्त सावधानी सहित तथा पूर्ण निरीक्षण किया जाता है।"[6]

श्री बर्गेस (Burgess) ने इस प्रविधि को सामाजिक सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Social Microscope) कहकर पुकारा है। कुछ भी हो, उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैयक्तिक अध्ययन में किसी व्यक्ति, संस्था, समुदाय या अन्य किसी इकाई के विषय में प्रत्येक प्रकार से अति गहन व सूक्ष्म अध्ययन करके विषय के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाला जाता है।

इस प्रविधि को एक उदाहरण द्वारा अति सरलता से समझा जा सकता है। जिस प्रकार एक वकील अपने द्वारा किए गए किसी भी केस को न्यायालय में पेश करने से पहले उसके बारे में प्रत्येक प्रकार की जानकारी प्राप्त कर लेता है, चाहे वह जानकारी उसे किसी भी स्रोत से प्राप्त होती है; उसी प्रकार एक संन्यासी के अध्ययन के लिए उसके सम्पूर्ण जीवन का अध्ययन करना पड़ता है। एक सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ता को उन परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ेगा जिसके कारण वह संन्यासी बना। हो सकता है कि वह अपने जीवन में बहुत भारी अपराधी रहा हो या कोई और महान् घटना के परिणामस्वरूप वह संन्यासी बना हो। इन सब का अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्त्ता को न केवल उस व्यक्ति (संन्यासी) से ही सूचनाएँ प्राप्त करनी होंगी वरन् उसके परिवार के अन्य सदस्यों, मित्रों, पड़ोसियों व जानकारों से भी अनेकों सूचनाएँ प्राप्त करनी होंगी। इतना ही नहीं, उसकी शैक्षिक संस्थाएँ, दफ्तर, फर्म आदि, जिससे भी उसका सम्बन्ध रहा हो, से भी सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। साथ ही, उसकी डायरियाँ, उसके द्वारा रचित कविताएँ, लेख, पुस्तकें एवं उसकी रुचि की फिल्मी पत्रिकाएँ, उसके दिलचस्प कार्यकलाप आदि से भी अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त हो सकती हैं जो कि उसके व्यवितगत-जीवन के अध्ययन में सहायता प्रदान करें। संक्षेप में यही व्यक्तिगत अध्ययन है।

पद्धति की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ
(Some Important Characteristics of the Method)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. समस्या का गहन अध्ययन (Intensive Study of the Problem)—व्यक्तिगत अध्ययन की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इस पद्धति के अन्तर्गत समस्या से सम्बन्धित इकाई का अति गहन अध्ययन किया जाता है। यह गहन अध्ययन कितने ही लम्बे अरसे तक चल सकता है। साथ ही, इसकी कोई सीमा नहीं है। इसमें इकाई का उसके भूतकाल से लेकर वर्तमान काल तक का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। शायद यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि इसमें इकाई से सम्बन्धित गहन से गहन सूचनाएँ भी एकत्र करने का प्रयत्न किया जाता है।

---

behaviour occurs, the study of individual behaviour in its total setting and the analysis and comparison of cases leading to formulation of hypotheses."—Clifford R. Shaw, *Case-Study Method*, Publications of the American Sociological Society, XXI (1927), p. 149.

6. "The case-study is a form of qualitative analysis involving the very careful and complete observation of a person a situation, or an institution."—Biesanz and Biesanz, *Modern Society*, p. 11.

२. व्यक्तिगत अध्ययन (Individual Study)—'व्यक्तिगत अध्ययन' इस पद्धति की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस विशेषता का तात्पर्य यह है कि इस पद्धति के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता एक ही इकाई को लेकर उस पर जुट जाता है। अर्थात् अध्ययन-इकाई, चाहे वह व्यक्ति, संस्था, जाति या कोई समुदाय हो, का उसके व्यक्तिगत स्तर में अलग से सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता है। हाँ, यह बात अलग है कि उस विशेष इकाई के बारे में 'क्या' अध्ययन किया जाए।

३. सम्पूर्ण अध्ययन (Whole Study)—व्यक्तिगत अध्ययन किसी भी इकाई का उसकी सम्पूर्णता में अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, यह पद्धति उस विशेष इकाई, जिसका कि अध्ययन करना है, के किसी विशेष पक्ष या पहलू को न लेकर समस्त जीवन को ही अध्ययन का केन्द्र बनाती है। समस्त जीवन या सम्पूर्णता से हमारा तात्पर्य अध्ययन को मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक, धार्मिक, राजनैतिक, प्राणीशास्त्रीय आदि सभी दृष्टियों से सम्पन्न करना है। यद्यपि इसमें समय का महत्त्व भी भूलना नहीं चाहिए। सर्वश्री गुड एवं हॉट ने इस विशेषता का वर्णन करते हुए कहा है कि "वैयक्तिक अध्ययन एक विशिष्ट प्रणाली नहीं है। यह सामाजिक आँकड़ों को इस प्रकार से संगठित करने की विधि है जिससे अध्ययन किए जाने वाले सामाजिक तथ्य की एकता को कायम रखा जा सके। दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसी विधि है जो किसी सामाजिक इकाई के समस्त रूप को ग्रहण करती है।"[7]

४. गुणात्मक अध्ययन, न कि संख्यात्मक (Qualitative Study, not Statistical)—व्यक्तिगत अध्ययन की चौथी विशेषता, जो कि कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह है कि इस पद्धति के अन्तर्गत गुणात्मक अध्ययन किया जाता है, संख्यात्मक नहीं। प्रथम तो इकाइयों का अध्ययन ही गुणात्मक होता है, साथ ही तथ्यों की विवेचना भी संख्याओं के रूप में नहीं होती; न ही निष्कर्ष निकालने में या कुछ व्यक्त करने में संख्याओं का सहारा लिया जाता है। इसके बजाय, इस पद्धति के अन्तर्गत वर्णनात्मक रूप में, जीवन-इतिहास तैयार किया जा सकता है।

पद्धति की आधारभूत मान्यताएँ
(Basic Assumptions of the Method)

(१) व्यक्तिगत अध्ययन की प्रथम मान्यता 'मानव की मौलिक एकता' में विद्यमान है। अर्थात् अनुसन्धानकर्त्ता इस प्रणाली में यह मानकर चलता है कि मानव की मूल प्रकृति सभी समान स्थितियों एवं घटनाओं में लगभग समान होती है। दूसरे शब्दों में, मानव की मौलिक प्रवृत्तियाँ समान ही होती हैं और इसी कारण अनुसन्धान-कर्त्ता कुछ ही व्यक्तिगत स्थितियों के अध्ययन के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को सब पर लागू करता है।

(२) व्यक्तिगत अध्ययन की दूसरी मान्यता 'समय तत्त्व का प्रभाव' है। इस मान्यता का अर्थ यह है कि किसी भी घटना का अध्ययन उस घटना को समय के एक छोटे दायरे के अन्दर बाँधकर नहीं किया जा सकता। आज जो कुछ घटित हो रहा है, हो सकता है कि उसका बीजारोपण आज से १५ साल पहले हुआ हो और उसका

7. "The case-study, then, is not a specific technique. It is a way of organizing social data so as to preserve the unitary character of the social object being studied. Expressed somewhat differently, it is an approach which views any social unit as a whole."—Goode and Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1952, p. 331.

प्रभाव आगे कई सालों तक रहे। इसीलिए यह आवश्यक है कि उस वैयक्तिक स्थिति का अध्ययन एक लम्बे अरसे तक पूर्ण रूप में किया जाए। इस प्रकार सम्पूर्णता में अध्ययन करने पर ही सही निष्कर्ष प्राप्त हो सकेंगे। स्पष्ट ही है कि 'समय' का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

(३) इस पद्धति की तीसरी और अन्तिम मान्यता यह है कि मानव-व्यवहार परिस्थितियों से परिचालित होता है। व्यक्तिगत अध्ययन द्वारा यह मालूम किया जा सकता है कि किन-किन परिस्थितियों में मानव कैसा व्यवहार करता है। चूंकि एक ही परिस्थिति अन्य लोगों के जीवन में भी बार-बार आ सकती है, अतः उसके प्रभाव का अनुमान एक का ही गहन अध्ययन करके पहले से ही लगाया जा सकता है।

वैयक्तिक अध्ययन के प्रकार
(Types of Case-Study)

व्यक्तिगत अध्ययन को दो भागों में बाँटा जा सकता है। ये निम्नवत् हैं—

(१) **व्यक्ति का व्यक्तिगत अध्ययन** (Case-Study of an Individual)—इस प्रकार में किसी एक व्यक्ति अथवा उसके जीवन की एक विशेष घटना का व्यक्तिगत अध्ययन किया जाता है। इस व्यक्तिगत अध्ययन करने के लिए उस व्यक्ति, उसके पारिवारिक सदस्यों, मित्रों तथा उसके जानकार लोगों से अनेक प्रणालियों की सहायता से सूचना प्राप्त की जाती है। इतना ही नहीं, उस व्यक्ति से सम्बन्धित अनेक साधनों जैसे डायरी, पुस्तक, लेख, आत्मकथा, जीवन-इतिहास, पत्र, कविता आदि से भी सूचना प्राप्ति में मदद मिलती है।

(२) **समुदाय का व्यक्तिगत अध्ययन** (Case-Study of Community)—इसमें किसी एक इकाई, जो कि एक वर्ग, जाति, समूह या समुदाय हो सकता है, का व्यक्तिगत अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन में अत्यन्त चतुरता, बुद्धि, कौशल, अनुभव एवं सावधानी की आवश्यकता रहती है। एक समुदाय का व्यक्तिगत अध्ययन उसकी भीतरी स्थिति का पूर्ण रूप से सर्वोपांग अध्ययन हेतु सामग्री संकलन की व्यवस्थित पद्धति है। इसके लिए प्रायः उन्हीं साधनों का प्रयोग किया जाता है जो कि व्यक्ति के अध्ययन में प्रयोग किए जाते हैं।

व्यक्तिगत अध्ययनों की कार्य-प्रणाली
(Procedure in Case-Studies)

वास्तव में व्यक्तिगत अध्ययन भूत एवं वर्तमान के उपलब्ध आँकड़ों या तथ्यों पर आधारित है। एक इकाई के सम्बन्ध में साक्षात्कार, अवलोकन या अन्य किसी भी प्रणाली द्वारा उपलब्ध तथ्यों के अतिरिक्त उस व्यक्ति के वैयक्तिगत प्रलेखों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है और इस प्रकार व्यक्तिगत स्थिति का सर्वांगीण अध्ययन करने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता है। यद्यपि यह सर्वांगीण अध्ययन अति कठिन है क्योंकि सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तिगत अध्ययन-प्रणाली अति जटिल है। इसी कारण अनुसन्धानकर्त्ता इस प्रणाली का प्रयोग करते समय अपना एक सिद्धान्त बना लेता है और वह सिद्धान्त है 'पूर्णता' (thoroughness)।

जैसा कि कहा जा चुका है कि 'पूर्णता' का अर्थ है 'पूर्ण अध्ययन' अर्थात् जिस घटना के बारे में जानकारी प्राप्त की जाए—पूरी जानकारी प्राप्त की जाए। साथ ही उस जानकारी की वास्तविकता एवं सत्यता की परीक्षा के लिए प्रत्येक तथ्य का

सूक्ष्म विश्लेषण भी आवश्यक है। इसी पूर्णता को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति को प्रयोग करते समय निम्नलिखित कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है—

१. समस्या की विवेचना (Statement of the Problem)- व्यक्तिगत अध्ययन को प्रयोग करने के लिए सर्वप्रथम अध्ययन की जाने वाली समस्या के स्वरूप की विवेचना अति आवश्यक है। इतना ही नहीं, उस विशेष समस्या के प्रत्येक पहलू की स्पष्ट व्याख्या भी कर ली जाए, क्योंकि व्यक्तिगत सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह एक आवश्यक शर्त है कि समस्या के साथ-साथ उसके विभिन्न पहलुओं का भी स्पष्ट ज्ञान हो ताकि उनके बारे में भी सूचना संकलित की जा सके। इस स्तर पर कुछ अन्य मुख्य बातों का भी निश्चित कर लेना आवश्यक है जो कि निम्नलिखित हैं—

(अ) व्यक्तिगत विषयों का चुनाव (Selection of Cases)—इसमें सर्वप्रथम यह तय करना पड़ेगा कि किस ढंग या तरीके के 'व्यक्तिगत विषय' का अध्ययन करना है। यह व्यक्तिगत विषय सामान्य, असाधारण या विशेष कोई भी हो सकता है, यदि वह समस्या के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है।

(ब) इकाइयों के प्रकारों का वर्णन (Description of Types of Units) —इसके अन्तर्गत इकाइयों के प्रकारों का निश्चय किया जाता है। किस प्रकार के व्यक्तिगत विषय या इकाई का अध्ययन करना है? क्या अध्ययन व्यक्ति का है, समूह का, संस्था अथवा समुदाय का? कुछ भी हो, इसका पूर्वनिर्धारण आवश्यक है।

(स) व्यक्तिगत स्थितियों की संख्या (Number of Cases)—व्यक्तिगत इकाइयों के प्रकारों का निश्चय कर लेने के उपरान्त उनकी संख्या का निर्धारण अति आवश्यक है। क्योंकि हमें उतने ही व्यक्तिगत विषयों के अध्ययन करने हैं जितने कि हमारे अध्ययन के लिए पर्याप्त हो सकें। इस सम्बन्ध में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि चूंकि व्यक्तिगत अध्ययनों की जटिलता एवं गहनता के कारण हम अधिक व्यक्तिगत विषयों का अध्ययन नहीं कर पाएँगे अतः यह संख्या जितनी कम हो उतना ही अच्छा है।

(द) विश्लेषण का क्षेत्र (Scope of Analysis)—इकाइयों की संख्या निर्धारित करने के बाद विश्लेषण का क्षेत्र निर्धारित करना आवश्यक है। अर्थात् समस्या के कौन-कौनसे पहलू हैं एवं वर्तमान अध्ययन में किन-किन पहलुओं पर प्रकाश डालना एवं अध्ययन करना आवश्यक है। इससे अध्ययन में पूर्णता आने की अधिक सम्भावना रहती है।

२. घटनाओं के अनुक्रम का वर्णन (Description of the Course of Events)—समस्या की व्याख्या करने के पश्चात् उसको समय या काल के सन्दर्भ में समझना अति आवश्यक है। समस्या के स्वरूप में एक निश्चित अवधि में क्या-क्या परिवर्तन हुआ एवं भविष्य में क्या-क्या परिवर्तन सम्भव है, इसका विस्तार से व्यवस्थित वर्णन करना आवश्यक है।

३. निर्धारक अथवा प्रेरक कारक (Determinant Factors)—उपरोक्त स्तरों को पूर्ण करने के उपरान्त समस्या या घटना के निर्धारक अथवा प्रेरक कारकों का अध्ययन करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत उन तथ्यों या कारकों का अध्ययन अपेक्षित है जिनके कारण वह घटना घटी या उस व्यक्तिगत स्थिति की वर्तमान दशा पैदा हुई। उदाहरण के लिए एक वेश्या का जीवन-विवरण जान लेने के पश्चात् उसके अन्दर निहित मूल-कारकों को भी जानना आवश्यक है जिनके कि आधार पर वह वेश्या बनी है। वह कौन-कौनसे निर्धारक कारक थे अथवा किन-किन कारणों से वह

प्रेरित होकर वेश्या बनी। इन सभी कारकों का पूर्ण अध्ययन आवश्यक है।

४. विश्लेषण एवं निष्कर्ष (Analysis and Conclusions)—व्यक्तिगत अध्ययन की कार्य-प्रणाली के अन्तिम स्तर पर प्राप्त तथ्यों अथवा आँकड़ों का विश्लेषण करके कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं। किन-किन कारकों से व्यक्तिगत स्थिति में क्या-क्या परिवर्तन हुए एवं किन-किन परिवर्तनों की सम्भावना है—इन सबका विश्लेषण इस स्तर पर किया जाता है। साथ ही इन आधारों पर कुछ निष्कर्ष भी निकाले जाते हैं।

व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति के यंत्र एवं प्रविधियाँ
(Tools and Techniques of Case-Study Method)

किसी भी व्यवस्थित वैज्ञानिक कार्य को सम्पन्न करने के लिए किसी-न-किसी यंत्र या प्रविधि की सहायता ली जाती है। उदाहरणार्थ, एक जुलाहा बुनने के लिए अनेकों औजारों, यंत्रों आदि की सहायता लेता है। एक किसान को, जिसका कि कार्य खेती करना है, अनेकों यंत्रों की सहायता लेनी पड़ती है; जैसे हल, खुरपा, बैल, कुदाती आदि-आदि। एक वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला में खोज करते समय कुछ निश्चित यंत्रों एवं प्रविधियों को प्रयोग करता है; जैसे उसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र (Microscope) की आवश्यकता हो सकती है। कहना न होगा कि एक समाज-वैज्ञानिक को भी सामाजिक अनुसन्धान करते समय कुछ विशेष प्रणालियों का प्रयोग करना पड़ता है। व्यक्तिगत अध्ययन का प्रयोग करते समय भी कुछ विशेष यंत्रों आदि की सहायता की आवश्यकता होती है। संक्षेप में ये यंत्र निम्नलिखित हैं—

१. केस (व्यक्ति जिसका अध्ययन हो रहा है) से व्यक्तिगत साक्षात्कार।
२. केस की डायरियाँ।
३. केस के पत्र।
४. केस की साहित्यिक रचनाएँ, लेख आदि।
५. केस की सामयिक अभिव्यक्तियाँ।
६. केस की इच्छित पुस्तकें।
७. केस से सम्बन्धित सरकारी फाइलों के अंश।
८. केस की वंशावली।
९. केस की फोटो एलबम।
१०. केस के मित्रों, सम्बन्धियों व जानकारों से उसके बारे में विचार जानना।
११. केस के जीवन की घटनाओं की सूची एवं जीवन-गाथा।
१२. केस से सम्बन्धित स्कूल, जेल, पुलिस, कोर्ट, दफ्तर आदि के रिकार्ड।
१३. केस को महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा दिए गए प्रमाण-पत्र, इनाम आदि।

उपरोक्त विवरण को अधिक अच्छी प्रकार से समझने के लिए हम उपरोक्त साधनों में से कुछ की व्याख्या नीचे कर रहे हैं—

१. डायरियाँ (Diaries)—व्यक्तिगत अध्ययन के सर्वप्रमुख साधनों में 'डायरी' भी एक है। डायरियाँ व्यक्तियों द्वारा स्वयं लिखी जाती हैं। इनमें व्यक्ति अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं एवं संस्मरणों को नोट करता है। इस प्रकार डायरी में व्यक्ति की व्यक्तिगत, यहाँ तक की अत्यन्त गुप्त बातें भी लिखी रहती हैं।

कहना न होगा कि यदि हमें किसी व्यक्ति के जीवन के वास्तविक तथ्य को खोजना है तो हमें उस व्यक्ति विशेष की डायरी से ही वह सूचना प्राप्त हो सकेगी। क्योंकि ऐसी बहुत-सी बातें, जो कि प्रत्यक्ष साक्षात्कार द्वारा नहीं पूछी जा सकतीं या बहुत-सी बातें हम भूल भी जाते हैं, हमें आसानी से डायरी द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। साथ ही, इस प्रकार प्राप्त की गई सम्पूर्ण सूचना वास्तविक होती है। इसमें न तो असत्य का ही अंश रहता है और न ही पक्षपात आने पाता है।

२. पत्र (Letters)—व्यक्तिगत अध्ययन के क्षेत्र में 'पत्रों' का भी महत्त्व कम नहीं है। यह ठीक है कि पत्रों के द्वारा हमें सामग्री व्यवस्थित या क्रमवद्ध रूप में प्राप्त नहीं हो पाती; परन्तु फिर भी पत्रों से हमें काफी सामग्री प्राप्त हो सकती है। व्यक्ति विशेष का दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध, जीवन-दर्शन, व्यक्ति की अपनी भावनाएँ व धारणाएँ, जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि बहुत-सी घटनाओं का विवरण पत्रों से प्राप्त हो सकता है। संक्षेप में, पत्रों के माध्यम से व्यक्ति विशेष का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आसानी से किया जा सकता है।

३. जीवन-इतिहास (Life History)—व्यक्तिगत अध्ययन का प्रमुख यंत्र 'जीवन-इतिहास' है। यदि 'जीवन-इतिहास' को व्यक्तिगत-जीवन अध्ययन का ही भाग समझा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि जिस प्रकार व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति में व्यक्ति विशेष से सम्वन्धित सम्पूर्ण जानकारी की जाती है, उसी प्रकार जीवन-इतिहास में भी व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन चित्रित होता है।

जीवन-इतिहास जीवन का मूर्तिमान स्वरूप है; इसमें जीवन का सार निहित होता है। अधिकतर जीवन-इतिहास में व्यक्ति विशेष की पारिवारिक पृष्ठभूमि, व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाली पारिवारिक घटनाएँ, व्यक्ति के अपने जीवन की विशेष महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन के अनुभव, परिस्थिति-परिवर्तन का व्यक्ति विशेष पर प्रभाव, व्यक्ति विशेष के जीवन को प्रभावित करने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति और समकालीन परिस्थिति के अनुसार भविष्य के प्रति व्यक्ति की धारणा आदि का विवरण होता है। यह जीवन-इतिहास व्यक्ति विशेष द्वारा भी लिखा जाता है—या अनुसन्धानकर्त्ता को कभी-कभी व्यक्ति विशेष भी स्वेच्छा से लिखा सकता है।

सम्भवतः कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति में 'जीवन-इतिहास' का अत्यन्त ही महत्त्व है।

यही कुछ प्रमुख यंत्र या साधन हैं जिनके कि सहयोग से व्यक्तिगत अध्ययन का प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि किस साधन से कौनसी सूचना प्राप्त की जाए, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है; प्रायः आवश्यकतानुसार एवं समयानुसार कोई भी साधन प्रयुक्त हो सकता है।

व्यक्तिगत या वैयक्तिक अध्ययन का महत्त्व
(Importance of Case-Study)

शायद यह कहना अनुचित न होगा कि "वैयक्तिक जीवन अध्ययन-पद्धति के विरोध में चाहे कुछ भी कहा गया हो, पर यह सत्य है कि सामाजिक वातावरण के अध्ययन में यह प्रणाली आधारभूत रहेगी।" किसी भी प्रकार के सामाजिक अनुसन्धान को ले लीजिए, उसमें सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता होती है और किसी भी सूक्ष्म अध्ययन के लिए यह प्रणाली ही सर्वोत्तम है। इस बात को और भी स्पष्ट

रूप में समझाने के लिए हम व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति का महत्त्व निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. महत्त्वपूर्ण प्राक्कल्पनाओं का साधन (Source of Important Hypotheses)—व्यक्तिगत अध्ययन अनेक महत्त्वपूर्ण प्राक्कल्पनाओं का निर्माण करने में एक साधन के रूप में कार्य करता है। इसमें अनेक इकाइयों का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है और निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। इन्हीं निष्कर्षों के आधार पर अनेकों प्राक्कल्पनाओं का निर्माण सम्भव है और किया भी जाता है। वास्तव में सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन एवं व्यक्तिगत अध्ययन दो ही तो महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं प्राक्कल्पनाओं के।

२. अति महत्त्वपूर्ण प्रपत्रों का साधन (Source of some most Important Documents)—व्यक्तिगत अध्ययन अनेक महत्त्वपूर्ण प्रपत्रों का निर्माण करने में हमारी सहायता करता है। यह महत्त्वपूर्ण प्रपत्र अनुसूची, प्रश्नावली, साक्षात्कार-निर्देशिका आदि हैं। किसी विशेष वर्ग की कुछ विशेष इकाइयों का अति-सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् हमें अनेक महत्त्वपूर्ण बातों, उसकी रुचियों, मनोवृत्ति आदि अनेक बातों का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है और ऐसा होने पर हमको सामाजिक अनुसन्धान से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रपत्रों का निर्माण करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती।

३. अति गहन अध्ययन (Most Intensive Study)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि व्यक्तिगत अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्तिगत इकाइयों का, जो कि सामाजिक अनुसन्धान का आधार हैं, अति गहन अध्ययन किया जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत इकाइयों के केवल समस्या से सम्बन्धित विशिष्ट पहलुओं का ही अध्ययन नहीं, वरन् इकाइयों के सभी पहलुओं का हर दृष्टि से अध्ययन किया जाता है और इस रूप में यह अति गहन अध्ययन होता है। प्रो० वर्गेस ने सम्भवतः इस विधि को इसीलिए 'सामाजिक सूक्ष्मदर्शक यंत्र' (Social Microscope) कहकर पुकारा है। स्पष्ट ही है कि इस रूप में भी व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति अति महत्त्वपूर्ण है।

४. इकाइयों का वर्गीकरण एवं विभाजन (Classification and Distribution of Units)—व्यक्तिगत अध्ययन विभिन्न इकाइयों को विभिन्न समूहों में विभाजित करने में एवं वर्गीकृत करने में भी सहायता करता है। इस पद्धति के द्वारा हम व्यक्तिगत अध्ययन में सूक्ष्मता प्राप्त करके इकाइयों के विभिन्न गुणों से परिचित हो जाते हैं। इससे सैम्पल निकालने में भी हमें आसानी हो जाती है।

५. व्यक्तिगत अनुभवों का स्रोत (Source of Personal Experiences)—व्यक्तिगत अध्ययन अनुभवों को प्राप्त करने का एक विस्तृत स्रोत है। वास्तव में इस पद्धति में और पद्धतियों से कहीं अधिक अनुभव अनुसन्धानकर्त्ता को प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति में जीवन के (इकाई से सम्बन्धित) प्रायः सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पहलू का अध्ययन किया जाता है और इस रूप में स्वतः ही अनुसन्धानकर्त्ता को अनेकों प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं।

६. व्यक्तिगत भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का अध्ययन (Study of Personal Feelings and Attitudes)—व्यक्तिगत अध्ययन के अन्तर्गत व्यक्तिगत भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का गहन अध्ययन किया जाता है। इतना ही नहीं, व्यक्ति की सामाजिक धारणाओं एवं मूल्यों का भी ज्ञान इस पद्धति के अन्तर्गत हो जाता

है। एक व्यक्ति की किस-किस परिस्थिति में क्या-क्या भावनाएँ तथा किस प्रकार की मनोवृत्ति रहती है—इस पद्धति से ही मालूम होता है। इस प्रकार के ज्ञान से ही व्यक्तिगत भावनाओं एवं मनोवृत्तियों में परिवर्तन और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का पुर्वानुमान लगाया जाना सम्भव है।

७. सामग्री की सम्पूर्णता (Completeness in the Material)—व्यक्तिगत अध्ययन का अत्यधिक महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि इस पद्धति के द्वारा जो सामग्री संकलित की जाती है वह अपने में सम्पूर्ण होती है। इतनी सम्पूर्णता एवं पर्याप्त मात्रा में सामग्री और किसी अन्य विधि से प्राप्त करना कठिन ही नहीं, अत्यन्त दुष्कर कार्य भी है।

सामाजिक अनुसन्धान में व्यक्तिगत अध्ययन का महत्त्व स्पष्ट ही है। प्रो० सी० एच० कूले ने इस पद्धति का महत्त्व वताते हुए लिखा है कि "व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति हमारे बोधज्ञान को विकसित करती है एवं जीवन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है—यह प्रत्यक्ष रूप से व्यवहारों का अध्ययन करती है, न कि अप्रत्यक्ष व अमूर्त साधनों द्वारा।"[8]

व्यक्तिगत अध्ययन की सीमाएँ
(Limitations of Case-Study)

यद्यपि इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि व्यक्तिगत अध्ययन का सामाजिक अनुसन्धान के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व है, फिर भी इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इस पद्धति की अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। इन सीमाओं को निम्न-लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. केवल कुछ ही इकाइयों के आधार पर निष्कर्ष (Conclusions on the basis of few Units)—व्यक्तिगत अध्ययन की सबसे मुख्य एवं प्रथम सीमा यह है कि इसके अन्तर्गत केवल कुछ थोड़ी-सी इकाइयों के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं और इसी कारण यदि उन विशेष परिस्थितियों अथवा विशेष गुणों को, जिनकी उपस्थिति के कारण ये निष्कर्ष निकाले गए हैं, ध्यान में न रखा जाए तथा निष्कर्षों को सामान्य रूप में सभी इकाइयों पर लागू किया जाए तो निश्चय ही धोखा खाने की सम्भावना रहती है।

२. अवैज्ञानिक विधि (Unscientific Method)—व्यक्तिगत अध्ययन को अवैज्ञानिक विधि कहकर भी सम्बोधित किया गया है। इतना ही नहीं, यह असंगठित विधि भी है। वास्तव में इकाइयों के चुनाव एवं सूचना संकलन करने पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता। साथ ही कोई निश्चित वैज्ञानिक एवं संगठित पद्धति का सहारा भी नहीं लिया जाता है। इस रूप में यह अवैज्ञानिक विधि भी है।

३. पक्षपात की समस्या (Problem of Bias)—व्यक्तिगत अध्ययन में एक मुख्य समस्या यह है कि इस प्रकार की पद्धति में सदैव ही पक्षपात आने की पूर्ण सम्भावना रहती है। अनुसन्धानकर्त्ता एक व्यक्ति से सम्बन्धित प्रायः उन सभी घटनाओं एवं तथ्यों का अध्ययन करता है जो कि उसके स्वयं के जीवन में भी घटित होते हैं।

---

8. "Case-study deepens our perception and gives us a clearer insight into life......it gets at behaviour directly and not by an indirect and abstract approach."—C. H. Cooley, quoted by P. V. Young, *Ibid.*, p. 229.

शायद कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार अनुसन्धानकर्त्ता का अपना व्यक्तिगत पक्षपात समाविष्ट हो जाता है और अध्ययन अत्यधिक पक्षपातपूर्ण हो जाता है।

४. अधिक अशुद्धता (Most Impurity)—व्यक्तिगत अध्ययन में डायरी, पत्र, जीवन-इतिहास आदि से प्राप्त सामग्री का उपयोग होता है। लेकिन ये सब रिकार्ड एवं प्रपत्र दोषपूर्ण होते हैं, जिन पर आधारित अध्ययन एवं निष्कर्षों का भी दोषपूर्ण एवं अशुद्ध होना स्वाभाविक है। इतना होते हुए भी इस पद्धति में इन्हीं सब सामग्री पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में अध्ययन में शुद्धता एवं यथार्थ स्थिति का स्पष्टीकरण केवल दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव भी है।

५. अप्रामाणिक तथ्य (Unverified Facts)—व्यक्तिगत अध्ययन के अन्तर्गत जिन तथ्यों का अनुसन्धानकर्त्ता संकलन करता है उनका प्रमाणीकरण सम्भव नहीं है। अनुसन्धानकर्त्ता एक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित जो भी कुछ सूचनाएँ संकलित करता है उनका सत्यापन या प्रमाणीकरण इसलिए सम्भव नहीं क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि दूसरे व्यक्ति के जीवन, जिसका कि वह अध्ययन कर रहा हो, में भी वही घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ घटित हों और इस रूप में निष्कर्ष भी गलत निकल जाते हैं।

६. निदर्शन प्रणाली का अभाव (Lack of Sample Method)—व्यक्तिगत अध्ययन की एक अन्य सीमा यह है कि इस प्रणाली में निदर्शन प्रणाली का अभाव है और इसके कारण ही इसमें सही प्रतिनिधि इकाइयों का अध्ययन नहीं हो पाता है। केवल मनमाने ढंग से चुनी हुई कुछ इकाइयों के आधार पर ही अध्ययन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं जो कि सही नहीं होते।

७. अत्यधिक समय एवं धन की आवश्यकता (Most expensive and time consuming Method)—व्यक्तिगत अध्ययन अत्यधिक खर्चीली एवं समय नष्ट करने वाली प्रणाली है। इस विधि के अनुसार यदि सौ व्यक्तियों का भी अध्ययन किया जाए तो कम से कम तीन साल का समय हर दशा में लगेगा। इसके लिए न केवल कई हजार रुपयों की आवश्यकता पड़ेगी, बल्कि एक भय यह भी रहेगा कि इस बीच सैम्पल वाले कुछ व्यक्ति इधर-उधर न चले जाएँ।

८. दोषपूर्ण जीवन-इतिहास (Defective Life Histories)—व्यक्तिगत अध्ययन अपने अध्ययन में जीवन-इतिहासों का अधिक प्रयोग करता है। परन्तु ये जीवन-इतिहास दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक होते हैं। इनमें घटनाएँ बढ़ा-चढ़ाकर लिखी जाती हैं। जीवन-इतिहास 'स्वयं के शब्दों में स्वयं की कहानी' होने के कारण यथार्थता से परे होता है। इतना ही नहीं, अनुसन्धानकर्त्ता जीवन-इतिहास लिखते समय अपने अनुभव भी सम्मिलित कर लेता है। साथ ही, कभी-कभी तो जीवन-इतिहास में ऐसी घटनाएँ भी लिखी जाती हैं जो कि सूचनादाता के जीवन में कभी घटित ही नहीं हुई हैं। स्पष्ट ही है कि जीवन-इतिहास काफी दोषपूर्ण होते हैं और इसी कारण निष्कर्ष में भी अवैज्ञानिकता एवं असत्यता की सम्भावना रहती है।

श्री रीड बेन (Reed Bain) ने व्यक्तिगत-जीवन अध्ययन-पद्धति के निम्नलिखित दोष बताए हैं—

(अ) यह घटना के सम्बन्ध में अवैयक्तिक, सर्वमान्य नैतिक आधार से युक्त, अव्यावहारिक तथा आकृतियुक्त सूचना नहीं देती है।

(ब) एक समूह में विभिन्नताएँ होने पर तुलनाएँ करना कठिन हो जाता है।

(स) कभी-कभी उत्तरदाता तथ्य बतलाने के स्थान पर आत्म-समर्थन की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हो सकता है।

(द) लोगों की साहित्यिक भावना उन्हें तथ्यों को अतिरंजित करके वास्तविक तथ्यों को छोड़ देने तथा काल्पनिक तथ्यों को सम्मिलित करने के लिए प्रेरित कर सकती है।

(य) इसके आँकड़े प्रायः तुलनात्मक नहीं होते हैं, प्रत्येक उत्तरदाता अपनी कहानी अपने शब्दों में कहता है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

व्यक्तिगत अध्ययन-पद्धति की अपनी इन्हीं कुछ कमियों या सीमाओं के कारण ही सम्भवतः अनुसन्धानकर्त्ता इस पद्धति को अपनाने में हिचकिचाते हैं और इसीलिए इस पद्धति के दोषों को दूर करने का सतत् प्रयत्न जारी है। अनेकों विद्वानों जैसे सर्वश्री रोजर्स (Carl Rogers), मेयो (Elton Mayo), कोमारोवस्की (Mirra Komarovsky), किन्से (Alfred Kinsey), डोलार्ड (John Dollord) आदि ने इस पद्धति से सम्बन्धित आँकड़ों के संकलन, लेखन एवं सम्पादन की विधियों में अनेकों महत्त्वपूर्ण सुधार किए हैं—और सुधार हो रहे हैं। सम्भवतः इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं कि महत्त्वपूर्ण सुधारों के बाद व्यक्तिगत अध्ययन सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन के सन्दर्भ में सामाजिक अनुसन्धान की अत्युत्तम प्रणाली के रूप में अपने को सुप्रतिष्ठित करने में सफल होगा और अगर ऐसा हुआ तो उससे सामाजिक अनुसन्धान और शोध-कार्य में सामाजिक वैज्ञानिकों को अत्यधिक मदद मिल सकेगी। इस दिशा में प्रगति की रफ्तार को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अब वह दिन भी बहुत दूर नहीं है!

---

१७ अनुमापन—समाजमिति पैमाने तथा मनोवृत्तियों की माप

(SCALING—SOCIOMETRIC SCALES AND MEASUREMENT OF ATTITUDES)

अनुमापन प्रविधियाँ उन प्रणालियों की द्योतक हैं जिनके द्वारा हम किसी वस्तु या घटना (phenomenon) की पैमाइश करते व उसकी किसी विशेषता को गणनात्मक रूप में व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम यह कहते हैं कि पैमाइश करने पर एक कपड़े का टुकड़ा दो मीटर का है तो हम कपड़े की एक विशेषता अर्थात् लम्बाई को गणनात्मक रूप में व्यक्त करते हैं और कपड़े की लम्बाई के सम्बन्ध में एक स्पष्ट व निश्चित धारणा पनपाने में दूसरों की मदद करते हैं। भौतिक या प्राकृतिक चीजों की इस प्रकार की पैमाइश सरल है क्योंकि उन्हें मापने के लिए निश्चित पैमानों का विकास कर लिया गया है। उदाहरणार्थ, गर्मी व सर्दी को मापने व माप के परिणामों को डिग्रियों में अभिव्यक्त करने के लिए विशेष उपकरण हैं, बुखार को मापने के लिए थर्मामीटर, भौतिक वस्तुओं की लम्बाई मापने के लिए गज, फीट, मीटर आदि और तरल पदार्थों की माप को गैलन आदि में व्यक्त करने के लिए विशेष उपकरण हैं। उसी प्रकार किसी वस्तु की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, धारिता (capacity), भार या वजन मापने में भी मनुष्य समर्थ है। विविध प्रकार की वस्तुओं की पैमाइश करने के लिए वह विविध प्रकार के अनुमापों का प्रयोग करता है और उन्हें निश्चित रूप में मापने में सफल भी होता है। परन्तु जब यही काम सामाजिक घटनाओं (Social Phenomena) के सम्बन्ध में करने को होता है तो वह अत्यन्त कठिन और कभी-कभी असम्भव-सा प्रतीत होने लगता है क्योंकि अधिकांश सामाजिक घटनाएँ अमूर्त, जटिल तथा परिवर्तनशील हैं। उदाहरणार्थ, किसी विषय के सम्बन्ध में एक व्यक्ति के विचार, दृष्टिकोण, मनोवृत्ति, विश्वास या मान्यता आदि गुणात्मक व अमूर्त चीजों को मापना कोई सरल काम नहीं है। फिर भी परिशुद्ध एवं सही माप किसी भी विज्ञान की परिपक्वता (maturity) एवं प्रगति का प्रतीक है। इसलिए समाजशास्त्र के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने को इस योग्य बनाने के लिए प्रयत्नशील हो कि अमूर्त सामाजिक घटनाओं को भी ठीक-ठीक मापा जा सके। अतएव सामाजिक अनुसन्धान के सन्दर्भ में अनुमापन (Scaling) का तात्पर्य पैमाइश की उस विधि से है जिसके द्वारा गुणात्मक (qualitative) तथा अमूर्त (abstract) सामाजिक तथ्यों या घटनाओं (phenomena) को गणनात्मक (quantitative) स्वरूप दिया जाता है। सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने भी लिखा है, "अनुमापन प्रविधियों में अन्तर्निहित समस्या इकाइयों की श्रेणियों को एक क्रम के अन्तर्गत व्यवस्थित करने की है। दूसरे शब्दों में, अनुमापन प्रविधियाँ गुणात्मक तथ्यों की श्रेणियों को गणनात्मक श्रेणियों

में वदलने की पद्धतियाँ हैं।"[1] इस अध्याय में हम इन्हीं पद्धतियों के सम्वन्ध में विवेचना करेंगे।

अनुमापों की उपयोगिता
(Utility of Scales)

हम पहले ही लिख चुके हैं कि परिशुद्ध एवं सही माप करने की क्षमता इस वात की द्योतक है कि एक विज्ञान कितना प्रगति कर चुका है। समाजशास्त्र के लिए यह काम सरल नहीं है क्योंकि इसे मनोवृत्ति, विचार, सामाजिक स्थिति, सामाजिक दूरी आदि अमूर्त व गुणात्मक घटनाओं को मापना पड़ता है और इनका प्रत्यक्ष व सही माप सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, हरिजनों के प्रति एक ब्राह्मण के मनोभाव का माप करना उतना सरल नहीं है जितना कि किसी भौतिक वस्तु के वजन, लम्वाई अथवा चौड़ाई ज्ञात करना है। इसका प्रमुख कारण यही है कि अधिकांश सामाजिक घटनाएँ न केवल जटिल हैं अपितु वे परिवर्तनशील तथा गुणात्मक भी हैं। उनकी प्रकृति गुणात्मक होने के कारण उनका वैषयिक (objective) एवं गणनात्मक माप एक कठिन समस्या वन जाता है। पर विज्ञान का काम तो समस्याओं व वाधाओं की चुनौतियों को स्वीकार करना है और समाजशास्त्र ने भी यही किया है क्योंकि घटनाओं को ठीक-ठीक मापने की क्षमता को विकसित किए विना समाजशास्त्र के लिए अपनी वैज्ञानिक प्रस्थिति (scientific status) को वनाए रखना सम्भव नहीं हो सकता। वैसे भी अनुमापों की आवश्यकता व उपयोगिता सभी विज्ञानों के लिए है और विकासशील सामाजिक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र के लिए तो अनुमापों की उपयोगिता और भी अधिक है। निम्नलिखित विवेचना से यह वात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

(१) **वैज्ञानिक परिपक्वता की प्राप्ति के लिए** (For attaining Scientific Maturity)—अनुमापों की प्रथम उपयोगिता यह है कि ये विज्ञान को इस योग्य वना देते हैं कि वह अपने अध्ययन-विषय के अन्तर्गत आने वाली घटनाओं का सही व प्रामाणिक माप कर सके। इसके विना कोई भी विज्ञान परिपक्वता व प्रगति की ओर आगे नहीं वढ़ सकता है। प्रगतिशील व विकासशील होना प्रत्येक विज्ञान की एक उल्लेखनीय आवश्यकता है और इसकी पूर्ति तव तक नहीं हो सकती जव तक अनुमापन प्रविधियों की भी उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि न होती जाए। सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है, "सभी विज्ञान अधिकतम परिशुद्धता की दिशा में अग्रसर होते हैं। इस परिशुद्धता के अनेक रूप होते हैं, पर उसका एक आधारभूत रूप है क्रमवद्ध श्रेणियों का माप।"[2] यह माप अनुमापन प्रविधियों की सहायता से ही सम्भव हो सकता है अतः स्पष्ट है कि अधिकतम परिशुद्धता की प्राप्ति के लिए ये प्रविधियाँ आवश्यक हैं।

---

1. "The problem to which scaling techniques are applied is that of ordering a series of items along some sort of continuum. In other words, they are methods of turning a series of qualitative facts (referred to as attributes) into a quantitative series (referred to as variable)."—William J. Goode and Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company, Inc., New York, 1952, p. 232.

2. "All sciences move in the direction of greater precision. This takes many forms, but one fundamental form is measuring gradations."—*Ibid.*, p. 232.

(२) **वैषयिक माप के लिए** (For Objective Measurement)—सामाजिक अनुसन्धानों में सामाजिक घटनाओं की वास्तविकताओं का अध्ययन और उस अध्ययन द्वारा यथार्थ व निर्भरयोग्य निष्कर्ष निकालना तभी सम्भव हो सकता है जबकि हम एक घटना विशेष का वैषयिक माप कर सकें। वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिए गणनात्मक विवेचना अत्यन्त आवश्यक होती है और यह काम अनुमापन प्रविधियों की सहायता से ही सम्भव हो सकता है। यदि सामाजिक घटनाओं का वैषयिक माप न किया गया तो सदैव ही यह डर बना रहेगा कि सामाजिक घटनाएँ गुणात्मक होने के कारण प्रत्येक अनुसन्धानकर्त्ता उनका अलग-अलग अर्थ लगाएगा जिसके फलस्वरूप घटनाओं के विश्लेषण में किसी भी प्रकार की सुस्पष्टता पनप ही नहीं सकेगी। सभी के लिए समान वैषयिक व तटस्थ निष्कर्ष निकालना तभी सम्भव है जबकि विभिन्न सामाजिक घटनाओं को मापने की सुनिश्चित प्रणाली या पैमाना हमारे पास हो। अत: सामाजिक घटनाओं के वैषयिक माप के लिए भी अनुमापन प्रविधियों की अत्यन्त आवश्यकता है और यही उनकी उपयोगिता व महत्त्व भी है।

भौतिक विज्ञान अधिक परिपक्व व परिशुद्ध है क्योंकि इसमें संख्यात्मक माप की प्रविधियाँ अत्यन्त विकसित रूप में हैं। पर इन प्रविधियों का इतना अधिक विकास समाजशास्त्र अभी नहीं कर पाया है, फिर भी इस दिशा में प्रयत्नशीलता की कुछ भी कमी नहीं है। कोई भी विज्ञान आरम्भ से ही गणनात्मक परिशुद्धता को प्राप्त नहीं कर लेता है। जैसे-जैसे उस विज्ञान की प्रगति होती जाती है वैसे-वैसे गणनात्मक परिशुद्धता भी बढ़ती जाती है क्योंकि धीरे-धीरे अनुमापन प्रविधियों का भी विकास होता जाता है। यही स्थिति समाजशास्त्र की भी है। डॉ० पी० वी० यंग (P. V. Young) ने उचित ही लिखा है कि "यद्यपि इस क्षेत्र में अर्थात् अनुमापन प्रविधियों के विकास के क्षेत्र में बहुत-सा कार्य अभी आरम्भिक स्तर पर है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक विज्ञान के रूप में जैसे-जैसे समाजशास्त्र परिपक्व होता जाएगा, वैसे-वैसे विद्यमान मापक यंत्रों तथा प्रविधियों में अधिक उन्नति होगी और साथ ही अन्य अनेक नवीन व अधिक परिशुद्ध मापक प्रविधियाँ विकसित होंगी।"[3]

अनुमाप-निर्माण की सामान्य समस्याएँ
(General Problems of preparing a Scale)

इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रगति करने के लिए अनुमापन पद्धतियों को उत्तरोत्तर विकसित करना होगा। पर साथ ही इस सत्य को भी भूला नहीं जा सकता कि समाजशास्त्र में अनुमापों या पैमानों का निर्माण सरल नहीं है क्योंकि सामाजिक घटनाएँ अमूर्त, जटिल तथा परिवर्तनशील हैं। अत: समस्या यह है कि सामाजिक तथ्यों का विशुद्ध, वैषयिक तथा विश्वसनीय माप करने के लिए उपयुक्त पैमानों का निर्माण कैसे किया जाए। निम्नलिखित विवेचना उन समस्याओं के प्रति संकेत करेगी जो कि सभी प्रकार के पैमानों के निर्माण में सामान्य है जिनका कि उल्लेख सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode

3. "Although much of the work in this field is still in a pioneer stage, nevertheless it can be said that as sociology matures as a Science, existing measuring instruments and techniques will be improved and new and more precise measuring devices will be developed."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys & Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 323.

and Hatt) ने इस प्रकार किया है[4]—

(१) **अनुक्रम की परिभाषा** (Definition of the Continuum)—पैमाना निर्माण करने में सर्वप्रथम समस्या जो सामने आती है वह यह है कि जिस तथ्य या घटना को हम मापना चाहते हैं वह वास्तव में मापने योग्य है भी या नहीं। उन्हीं चीजों को मापा जा सकता है जिनमें किसी-न-किसी प्रकार के अनुक्रम को ढूंढ़ने में हम सफल होते हैं। यदि एक घटना की कुछ मदें (items) तर्कसंगत रूप में एक-दूसरे से असम्बन्धित हैं तो उन्हें अनुमाप के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता। अत: पैमाना बनाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि हमें विषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो। अपने स्वयं के निरीक्षण के द्वारा, सम्बन्धित साहित्य के सावधानीपूर्वक अध्ययन के द्वारा तथा विशेषज्ञों से साक्षात्कार करके सर्वप्रथम हमें विषय के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेनी होगी और तब कहीं हम पैमाने को तैयार कर सकते हैं। संक्षेप में सर्वप्रथम हमें यह खोज निकालना होगा कि हम किस चीज की गणनात्मक पैमाइश करना चाहते हैं।"[5]

सामाजिक घटनाओं को मापने के लिए पैमाना तैयार करना सरल नहीं है क्योंकि पहले से विषय के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट ज्ञान निश्चित रूप से कर लेना कुछ कठिन होता है और इसीलिए अनुक्रमों को सुनिश्चित रूप में परिभाषित करना सरल नहीं होता है; फिर भी इस काम को यथासम्भव सावधानीपूर्वक करने का प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक विचार, मनोवृत्ति आदि का वर्णन प्राय: मौखिक या संकेतों के माध्यम से किया जाता है। इससे समस्या यह उत्पन्न होती है कि विषय के प्रति व्यक्ति विशेष के भाव को तो समझा जा सकता है परन्तु उसकी मात्रा को नहीं। किसी को बुखार है या नहीं केवल इतना जान लेना ही पर्याप्त नहीं, कितना बुखार है यह जानना भी जरूरी है। उसी प्रकार नीग्रों के प्रति अमेरिकन लोगों के दिल में घृणा है यह जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, यह भी जान लेना आवश्यक है कि घृणा की मात्रा क्या है। अत: यह आवश्यक है कि हम घृणा की मात्रा को दर्शाने वाली कुछ मदों (items) को समान दूरी पर रखकर एक पैमाने का निर्माण करें जिससे कि किस मात्रा तक घृणा अथवा प्रेम है उसकी सही माप की जा सके। उदाहरणार्थ, यदि घृणा की तीव्रता को मापने के लिए हम पाँच मदों को एक क्रम से इस प्रकार रखें—अत्यधिक घृणा/अधिक घृणा/सामान्य घृणा/घृणा/घृणा नहीं—और प्रत्येक मद के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया को उनसे पूछकर नोट कर लें तो हमें पता लग जाएगा कि अधिकांश लोगों के दिल में घृणा की तीव्रता कितनी है। यदि १०० व्यक्तियों से पूछने पर हमें पता चलता है कि ५ व्यक्ति अत्यधिक घृणा के पक्ष में, २० व्यक्ति अधिक घृणा, ३५ व्यक्ति सामान्य घृणा, २५ व्यक्ति केवल घृणा और १५ व्यक्ति घृणा नहीं के पक्ष में अपना मनोभाव व्यक्त करते हैं तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं

4. William J. Goode and Paul K. Hatt, *op. cit.*, p 233.

5. "Logically unrelated items, therefore, cannot be included in the same scale without resulting in a confusion of continua within one scale. Consequently, the first step in scaling procedure, regardless of the technique employed, is a thorough knowledge of the subject. The student must systematically exploit his own observations and those of others through a careful study of the literature and through interview with 'experts' before he can begin scale construcion. He must, in short, find out what it is that he wishes to measure quantitatively."—*Ibid.*, p. 234.

कि सामान्य घृणा का भाव रखना ही उस समूह की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है।

सर्वश्री गुड तथा हॉट के अनुसार अनुक्रम को परिभाषित करने के सम्बन्ध में हमें एक और महत्त्वपूर्ण बात याद रखनी है कि जिस जनसंख्या का नाप हमें करना है उसकी प्रकृति क्या है। मनोवृत्ति का एक अनुक्रम जो एक समूह में विद्यमान है वह दूसरे में नहीं भी हो सकता है।[6] भारतवर्ष में ५०० रुपया वेतन पाने वाला व्यक्ति अपनी नौकरी के प्रति सन्तोष प्रकट कर सकता है, पर अमेरिका में यही वेतन असन्तोष-प्रद होगा। अतः जनसंख्या की प्रकृति का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

(२) **विश्वसनीयता** (Reliability)—अनुमाप (scale) निर्माण की दूसरी समस्या यह है कि जिस अनुमाप या पैमाने को तैयार किया गया है वह निर्भरयोग्य है भी या नहीं इस बात की भी परख कर ली जाए। सर्वश्री गुड तथा हॉट ने लिखा है कि एक पैमाना तभी विश्वसनीय है जब कि वह एक ही निदर्शन (sample) पर बार-बार लागू किए जाने पर प्रत्येक बार एक ही परिणाम उत्पन्न करे। जिस प्रकार वह रूल (ruler) बिल्कुल बेकार होता है जो कि तापक्रम के बढ़ने-घटने के साथ-साथ बढ़ता-घटता रहता है, उसी प्रकार वह अनुमाप या पैमाना भी व्यर्थ का है जो कि एक ही निदर्शन पर बारम्बार लागू करने पर प्रत्येक बार अलग-अलग परिणाम दे।[7] अतः अनुमाप का विश्वसनीय होना आवश्यक है। विश्वसनीयता की परख निम्नलिखित तीन तरीकों से की जाती है[8]—

(अ) **परीक्षा-पुनर्परीक्षा** (Test-retest)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस पद्धति के अन्तर्गत एक ही जनसंख्या पर एक पैमाने को दो बार लागू किया जाता है और उनसे प्राप्त परिणामों की तुलना की जाती है। यदि दोनों परिणामों में बहुत-कुछ समानता है तो पैमाने को विश्वसनीय माना जाता है। यदि इस प्रकार दो बार लागू करने में दोनों प्रयोगों के बीच काफी समय का अन्तर है तो हमें इस बात का भी ख्याल रखना चाहिए कि इस बीच तथ्य को विचलित करने वाले कोई कारक तो उत्पन्न नहीं हो गए हैं। इस बात का पता लगाने के लिए हमें मूल जनसंख्या को दैव रूप में (randomly) दो भागों में विभाजित करके उन दोनों पर नियन्त्रण-समूह प्रणाली (control-group procedure) का उपयोग करना चाहिए।

(ब) **विविध स्वरूप** (Multiple Form)—इस पद्धति के अन्तर्गत एक ही पैमाने को दो अलग रूप दिए जाते हैं और उन्हें एक के बाद दूसरा करके एक ही निदर्शन पर लागू किया जाता है। यदि उनके परिणामों में पर्याप्त समानता है तो पैमाना विश्वसनीय मान लिया जाता है।

(स) **आधे में बाँटना** (Split-half)—सर्वश्री गुड तथा हॉट के अनुसार सामान्य रूप में, विश्वसनीयता को नापने की यह तीसरी पद्धति उपरोक्त दोनों

---

6. "Another important point in defining the continuum is to bear in mind the nature of the population which is to be scaled. It may well be true that an attitude continuum exists in ane group but not in another." *Ibid.*, p. 234.

7. "A scale is reliable when it will consistently produce the same results when applied to the same sample. Just as a ruler which shrank or expanded materially when exposed to temperature changes would be useless, so would be a scale which yielded a different result upon each application."—*Ibid.*, p. 235.

8. *Ibid.*, p. 235.

पद्धतियों से अधिक उत्तम है क्योंकि इसमें पैमाने को दो बार लागू करना नहीं पड़ता है।[9] इस पद्धति में पैमाने को दैव रूप में (randomly) दो भागों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक भाग को एक पूर्ण पैमाना मानकर एक ही समूह पर लागू किया जाता है। यदि दोनों भागों के द्वारा प्राप्त परिणामों में पर्याप्त सहसम्बन्ध हैं तो पैमाना विश्वसनीय माना जाता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस पद्धति की मान्यता यह है कि सम्पूर्ण पैमाना इस प्रकार का बना होना चाहिए कि उसका कोई भी आधा भाग सम्पूर्ण का पर्याप्त रूप में प्रतिनिधित्व कर सके।[10]

(३) प्रामाणिकता (Validity)—पैमाना तैयार करने में तीसरी समस्या प्रामाणिकता करने में या वैधता की है। सर्वश्री गुड तथा हॉट के अनुसार, "एक पैमाना उस अवस्था में प्रामाणिक है जबकि वह वास्तव में वही मापता है जो कि उसे मापना चाहिए।"[11] अर्थात् यदि एक पैमाने को सामाजिक दूरी मापने के लिए बनाया गया है तो यह देख लेना उचित है कि उस पैमाने से वास्तव में सामाजिक दूरी मापी भी जा सकती है या नहीं। यदि वह सामाजिक दूरी मापने के स्थान पर सामाजिक विभेद को माप सकता है तो वह पैमाना प्रामाणिक नहीं होगा। सर्वश्री गुड तथा हॉट ने पैमाने की प्रामाणिकता की जाँच के निम्नलिखित चार आधार बताए हैं[12]—

(क) तार्किक प्रमाणीकरण (Logical Validation)—तार्किक प्रमाणीकरण का तात्पर्य यह है कि यदि पैमाना तर्क तथा सामान्य ज्ञान के आधार पर सही प्रतीत होता है तो उसे प्रामाणिक मान लिया जाए। उदाहरणार्थ, यदि पैमाने को लागू करके यह पता चलता है कि अमेरिका के लोग अंग्रेजों की अपेक्षा नीग्रो लोगों को अधिक निकट के मानते हैं तो हमारा पैमाना प्रामाणिक नहीं है क्योंकि हम अपने सामान्य ज्ञान के आधार पर यह जानते हैं कि अंग्रेजों की अपेक्षा नीग्रो लोगों से अमेरिकनों की सामाजिक दूरी कहीं अधिक ज्यादा व स्पष्ट है। पर तर्क तथा सामान्य ज्ञान पर अधिक निर्भर रहना उचित नहीं है क्योंकि सामान्य ज्ञान व तर्कशक्ति प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग हो सकती है और किसी भी विषय के सम्बन्ध में वह व्यक्ति पक्षपातपूर्ण मनोभाव रख सकता है और यह मनोभाव उसके तर्क तथा सामान्य ज्ञान को अपने रंग में रंग भी सकता है।

(ख) पंचों की राय (Jury Opinion)—यह विधि एक ही व्यक्ति के सामान्य ज्ञान पर निर्भर न रहकर अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में विशिष्ट ज्ञान रखने वाले कई व्यक्तियों की राय को पैमाने की प्रामाणिकता की जाँच करने के लिए प्रयोग करती है। इस विधि के अन्तर्गत एक पैमाने द्वारा प्राप्त परिणामों को उस क्षेत्र के एकाधिक विशेषज्ञों (experts) या पंचों के सामने रक्खा जाता है और उनमें से अधिकतर विशेषज्ञों की राय में यदि वे परिणाम ठीक हैं तो पैमाने को प्रामाणिक

---

9. "In general, the third method of measuring reliability is superior to either of these procedures since it does not involve two scaling experiences." —*Ibid.*, p. 236.

10. "It should perhaps be noted here that this technique assumes that the scale as a whole hangs together, so that either half may be taken as adequately representative of the whole."—*Ibid.*, p. 236.

11. "A scale possesses validity when it actually measures what it claims to measure."—*Ibid.*, p. 237.

12. *Ibid.*, pp. 237-239.

मान लिया जाता है। यह विधि पहली विधि से कुछ ही उत्तम है क्योंकि विशेषज्ञ भी अपने-अपने सामान्य ज्ञान व तर्क के आधार पर ही राय देते हैं जो कि गलत हो सकती है।

(ग) 'परिचित समूह' (Known Groups)—इस विधि के अन्तर्गत पैमाने को सर्वप्रथम ऐसे समूहों पर लागू किया जाता है जिनके विषय में हमें पूर्वज्ञान है। उदाहरणार्थ, यदि धर्म के प्रति मनोभाव को मापने के लिए कोई पैमाना बनाया गया है तो हम सर्वप्रथम उस पैमाने को उस समूह पर लागू करेंगे जिसके सदस्यों के सम्बन्ध में हमें पहले से ही पता है कि वे धर्म पर आस्था रखते हैं, नियमित रूप से पूजा-पाठ करते हैं, मन्दिर जाते हैं, धार्मिक क्रियाकलापों में भाग लेते हैं तथा भगवान-विश्वास के पक्ष में अपनी राय देते हैं। ऐसे लोगों पर पैमाने को लागू करके फिर उसी पैमाने को हम ऐसे समूह के लोगों पर भी लागू करेंगे जिनके विषय में हम यह जानते हैं कि धर्म के प्रति उनका मनोभाव प्रथम समूह के सदस्यों के विपरीत है। इन दोनों परिचित विरोधी समूहों से प्राप्त परिणामों की तुलना करने पर यदि यह ज्ञात होता है कि परिणाम भी एक-दूसरे के विपरीत हैं तो पैमाने को प्रामाणिक माना जाएगा क्योंकि जाने-पहचाने उन दोनों विरोधी समूहों के वास्तव में विपरीत परिणाम ही प्राप्त हुए हैं। पर इस सम्बन्ध में यह भूलना उचित न होगा कि इन विपरीत परिणामों का कारण केवल धर्म के प्रति विपरीत मनोभाव न होकर कुछ भी हो सकता है। अतः यह विधि भी पूर्ण तथा दोषरहित नहीं है।

(घ) स्वतन्त्र मापदण्ड (Independent Criteria)—इस विधि के अन्तर्गत पैमाने को किसी सम्पूर्ण घटना पर लागू न करके उसके विभिन्न अंगों पर अलग-अलग लागू किया जाता है। यदि सभी के समान परिणाम प्राप्त हों तो पैमाने को प्रामाणिक माना जाता है। उदाहरणार्थ, सामाजिक प्रस्थिति (social status) की माप लेने के लिए पैमाने को शिक्षा, आर्थिक स्थिति, मिलनसारिता आदि अलग-अलग तथ्यों पर लागू किया जाएगा। यदि प्रत्येक तथ्य की माप से समान फल प्राप्त हो तो पैमाना वैध माना जाएगा। इस विधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि विभिन्न तथ्य पूर्णतया सम्बन्धित नहीं होते जैसे एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को निर्धारित करने में कहीं शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है और कहीं किसी राजनैतिक दल की सदस्यता।

(४) मदों का तोलन (Weighing of Items)—मदों के तोलन की समस्या मूल रूप से अनुमाप या पैमाने की प्रामाणिकता की अभिवृद्धि की समस्या है। दूसरे शब्दों में, पैमाने की प्रामाणिकता उस समय और भी बढ़ जाती है जब मदों को उचित भार प्रदान किए जाते हैं। सामान्य ज्ञान आदि के आधार पर यदि यह पता चले कि विभिन्न मदों में परस्पर असमानता है तो उनके महत्त्व के अनुसार प्रत्येक को उचित भार प्रदान किया जाता है।

समाजशास्त्रीय अनुमाप की कठिनाइयाँ
(Difficulties of Sociological Scaling)

पैमाने के निर्माण में आने वाली उपरोक्त सामान्य कठिनाइयों के अतिरिक्त भी समाजशास्त्रीय अनुमापों (पैमानों) के निर्माण में कुछ अन्य कठिनाइयों का सामना भी हमें करना पड़ता है। इसका कारण सामाजिक घटनाओं की अपनी विशिष्ट प्रकृति है। निम्नलिखित विवेचना से सामाजिक घटनाओं की प्रकृति के सन्दर्भ में

समाजशास्त्रीय पैमानों को बनाने में आने वाली कठिनाइयों का स्पष्टीकरण हो सकेगा—

(१) **सामाजिक घटनाओं की जटिलता** (Complexity of Social Phenomena)—सामाजिक तथ्यों को मापने के लिए पैमानों को बनाने में सर्वप्रथम कठिनाई इस कारण उत्पन्न होती है कि सामाजिक घटनाएँ जटिल होती हैं। प्रत्येक सामाजिक तथ्य प्रायः कई कारकों का परिणाम होता है और इसीलिए यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि पैमाने के निर्माण में इनमें से किस कारक को महत्व दिया जाए। साथ ही, ये सभी तथ्य या कारक एक-दूसरे के साथ इतने अधिक घुले-मिले होते हैं अर्थात् उनमें इतना अधिक अन्तःसम्बन्ध व अन्तःनिर्भरता पाई जाती है कि उनकी अलग-अलग माप नहीं की जा सकती।

(२) **सामाजिक घटनाओं की अमूर्तता** (Abstractness of Social Phenomena)—समाजशास्त्रीय पैमाने के निर्माण में आने वाली दूसरी कठिनाई सामाजिक घटनाओं की अमूर्तता है। अर्थात् ये गुणात्मक हैं और गुणात्मक तथ्यों की गणनात्मक (quantitative) रूप में माप एक कठिन समस्या बन जाती है। सामाजिक प्रस्थिति, विचार, प्रेम, पक्षपात, घृणा. मनोवृत्ति आदि सभी सामाजिक घटनाएँ अमूर्त या गुणात्मक (qualitative) हैं और इसीलिए यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि इनको गणनात्मक रूप में कैसे अभिव्यक्त किया जाए।

(३) **सामाजिक घटनाओं की असमानता** (Heterogeniety of Social Phenomena)—सामाजशास्त्रीय पैमानों को बनाना इसलिए भी अत्यधिक कठिन हो जाता है क्योंकि सामाजिक घटनाओं में अत्यधिक असमानता पाई जाती है। मानव-समाज में विभिन्न समूह पाए जाते हैं। उनकी प्रत्येक की अपनी संस्कृति, प्रथा, परम्परा, आदर्श, मूल्य, भाषा, धर्म, विश्वास, जाति, प्रजाति आदि होती हैं और इन्हीं के आधार पर उनमें न जाने कितने प्रकार के विभेद होते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही समूह के विभिन्न सदस्यों में विचार, भावना, आदर्श, जीवन-मूल्य, विश्वास, धर्म आदि के आधार पर विविधताएँ होती हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि किसी भी समाजशास्त्रीय पैमाने पर पूर्णतया निर्भर नहीं किया जा सकता और न ही एक समूह के लिए तैयार किए गए पैमाने को दूसरे समूह पर लागू किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों के धर्म सम्बन्धी कट्टरपन को मापने के लिए जिस पैमाने का निर्माण किया जाएगा उसे हरिजनों पर लागू नहीं किया जा सकता।

(४) **मानवीय व्यवहार की परिवर्तनशीलता** (Changing Nature of Human Behaviour)—मानव-व्यवहार निरन्तर परिवर्तनशील है और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य के व्यवहारों में भी अनेक प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं। एक ही विषय के सम्बन्ध में आज जो विचार है कुछ दिनों के पश्चात् भी वही विचार स्थिर रहेगा ऐसा कहा नहीं जा सकता। अतः समस्या यह होती है कि एक समय विशेष में तैयार किया गया कोई भी पैमाना दूसरे समय पर लागू नहीं किया जा सकता। इससे स्वतः ही पैमाना निर्माण करने का कार्य अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(५) **सामाजिक मूल्यों के सार्वभौमिक माप का अभाव** (Absence of Universal Measurement of Social Values)—सामाजिक मूल्यों को मापने के लिए कोई भी सर्वप्रचलित या सर्वमान्य माप नहीं है। आर्थिक वस्तुओं के मूल्यों को मापने के लिए द्रव्य (money) एक सार्वभौमिक माप है। लेकिन इस प्रकार का

कोई भी माप सामाजिक मूल्यों को मापने के लिए उपलब्ध नहीं है। परिणाम यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह सामाजिक घटनाओं या तथ्यों का मूल्यांकन अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हैं। इससे नाना प्रकार की विविधताएँ और जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। जिसके कारण पैमाने के निर्माण का कार्य कठिन हो जाता है।

६. **प्रयोगशाला-विधि को लागू नहीं किया जा सकता (Laboratory Method cannot be applied)**—सामाजिक घटनाओं की एक और उल्लेखनीय कमी यह है कि इसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रयोगशाला-पद्धति को प्रयोग नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में विभिन्न तथ्यों के सापेक्षिक महत्त्व का पता लगाना अत्यन्त कठिन होता है और इसके बिना पैमानों का निर्माण भी सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी सामाजिक घटनाओं या तथ्यों को मापने के लिए विभिन्न पैमानों का विकास किया गया है और इस दिशा में और भी उन्नति करने के लिए निरन्तर प्रयत्न जारी है। इसीलिए यह आशा की जा सकती है कि गुणात्मक, जटिल व परिवर्तनशील समझी जाने वाली सामाजिक घटनाओं को भी सुनिश्चित माप लेना भविष्य में समाजशास्त्रियों के लिए सम्भव होगा।

अनुमापों के प्रकार
(Types of Scales)

सामाजिक घटनाओं या तथ्यों को मापने के लिए अब तक कुछ पैमानों का विकास किया गया है; इनके सम्बन्ध में जान लेना यहाँ उपयोगी सिद्ध होगा। पर इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इन विद्यमान अनुमापों या पैमानों को अधिक सुनिश्चित तथा परिशुद्ध बनाने के लिए भी निरन्तर प्रयास किया जा रहा है। समाजशास्त्रीय अध्ययन में जिन पैमानों का प्रयोग किया जाता है वे इस प्रकार हैं—

(१) **अंक पैमाना (Point Scale)**—इस प्रकार के पैमाने में कुछ विशिष्ट शब्द या स्थितियाँ ले ली जाती हैं और प्रत्येक को एक अंक प्रदान कर दिया जाता है, फिर इन शब्दों या स्थितियों को सूचनादाता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और वह जिस शब्द या स्थिति के पक्ष में राय देना चाहता है उसके आगे क्रास (×) अथवा सही (√) का चिन्ह लगा देता है। सब सूचनादाताओं से इस प्रकार मत को जानकर फिर हिसाब लगाकर देखा जाता है कि किसके पक्ष में कितने मत आए हैं।

(२) **सामाजिक दूरी मापक पैमाना (Social Distance Scale)**—इस प्रकार के पैमानों के द्वारा विभिन्न वर्गों अथवा व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सामाजिक अन्तर या भेद का पता लगाया जाता है। सामाजिक दूरी मापक पैमाने मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—(अ) बोगार्डस का सामाजिक दूरी का पैमाना, (ब) समाजमिति पैमाना। बोगार्डस के पैमाने में कुछ ऐसी परिस्थितियों को चुन लिया जाता है जिससे कि सामाजिक दूरी की तीव्रता प्रगट हो। इन परिस्थितियों को तीव्रता के आधार पर एक क्रम से सजा दिया जाता है और फिर जिन समूहों के बीच सामाजिक दूरी का पता लगाना है उनके सम्मुख उस पैमाने को प्रस्तुत किया जाता है। जो जिस परिस्थिति के पक्ष में अपनी राय देता है उसे लिख लिया जाता है और इस प्रकार सभी सूचनादाताओं के मतों को जानने के पश्चात् सांख्यिकीय

हिसाब लगाकर सामाजिक दूरी का अन्दाजा लगाया जाता है। **समाजमिति पैमाने में** जिन व्यक्तियों के या समूह के बारे में अध्ययन करना होता है अथवा घृणा, प्रेम आदि के आधार पर सामाजिक दूरी या निकटता का पता लगाना होता है उनको एक-एक पर्ची दे दी जाती है और यह अनुरोध किया जाता है कि वे उन लोगों का नाम लिख दें जिन्हें कि वे सर्वाधिक चाहते हैं या नापसन्द करते हैं। उनके उत्तरों के आधार पर सामाजिक दूरी या निकटता को मापा जाता है।

(३) **तीव्रता मापक पैमाने** (Rating or Intensity Scales)—इस प्रकार के पैमानों के द्वारा लोगों के विचारों, मनोभावों आदि की तीव्रता का माप किया जाता है। यह पैमाना उस समय अधिक उपयोगी सिद्ध होता है जबकि किसी विषय के सम्बन्ध में केवल दो विरोधी विचार न होकर इन दोनों के बीच अन्य विकल्प भी होता है। उदाहरण के लिए एक अफसर के प्रति उसके दफ्तर के कर्मचारियों का मनोभाव केवल अच्छा या बुरा नहीं हो सकता बल्कि कुछ लोग उसे बहुत अच्छा, कुछ लोग बहुत खराब और कुछ लोग औसत दर्जे का भी मान सकते हैं। इस पसन्दगी या नापसन्दगी को तीव्रता के आधार पर एक क्रम से लगा दिया जाता है जैसे—बहुत अच्छा/अच्छा/सामान्य/बुरा/बहुत बुरा। फिर इस पैमाने के प्रति विभिन्न कर्मचारियों के मनोभावों को मालूम किया जाता है और उसी के आधार पर यह मालूम किया जाता है कि अधिकांश कर्मचारी उस अफसर को किस सीमा तक पसन्द करते हैं या नापसन्द करते हैं अथवा उसे औसत दर्जे का (न अच्छा, न बुरा) मानते हैं।

(४) **श्रेणी सूचक पैमाने** (Ranking Scales)—इस प्रकार के पैमानों में परिस्थितियों या तथ्यों को कुछ श्रेणियों में प्रस्तुत किया जाता है और उन्हें ऐसे क्रम से रक्खा जाता है कि उससे यह पता चल जाए कि एक की तुलना में किस दूसरे को लोग अधिक पसन्द करते हैं।

उपरोक्त सभी पैमानों के विषय में और विस्तृत विवेचना हम अगले पृष्ठों में करेंगे जिससे कि इनकी वास्तविक प्रगति और भी स्पष्ट हो जाए।

मनोवृत्तियों की माप
(Measurement of Attitudes)

मनोवृत्तियों को मापा भी जा सकता है और इसी सम्भावना ने मनोवृत्ति को सामाजिक मनोविज्ञान का एक केन्द्रीय अध्ययन-विषय बना दिया है; क्योंकि विज्ञान में यथार्थता (exactness) का महत्त्व अत्यधिक है और जिस घटना (phenomenon) का माप सम्भव है उसमें यथार्थता की सम्भावना भी आप-से-आप होती है। इसीलिए मनोवृत्तियों की माप पर अत्यधिक बल दिया जाता है। साथ ही बहुत से सामाजिक सुधारों की सफलता अथवा असफलता बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि लोगों की मनोवृत्तियों के सम्बन्ध में हमें यथार्थ ज्ञान हो। इसीलिए सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, व्यापार तथा जीवन के अन्य अनेक क्षेत्रों में मनोवृत्तियों को मापने का और उन्हें काम में लाने का प्रयास किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी चुनाव में लड़ने के पूर्व प्रत्याशी (candidate) को मतदाताओं की, उसके प्रति तथा विभिन्न समस्याओं के प्रति, मनोवृत्तियों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

मनोवृत्ति की परिभाषा
(Definition of Attitude)

साधारण शब्दों में, किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल मनोभाव को मनोवृत्ति कहते हैं। परन्तु, मनोवैज्ञानिक अर्थ इस साधारण अर्थ से कहीं अधिक निश्चित है। यह बात कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषा से और भी स्पष्ट हो जाएगी। श्री ऑलपोर्ट (Allport) के शब्दों में, "मनोवृत्ति मानसिक तथा स्नायुविक तत्परता की एक स्थिति है जो अनुभव द्वारा निर्धारित होती है और जो उन समस्त वस्तुओं तथा परिस्थितियों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं को प्रेरित व निर्देशित करती है जिनसे कि वह मनोवृत्ति सम्बन्धित है।"[13]

इस परिभाषा से मनोवृत्ति की प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को समझा जा सकता है। प्रथम बात तो यह है कि मनोवृत्ति व्यक्ति की मानसिक तथा स्नायुविक तत्परता की एक स्थिति है। दूसरे शब्दों में, मनोवृत्ति किन्हीं वस्तुओं तथा परिस्थितियों के सम्बन्ध में व्यक्ति के मन के भाव को व्यक्त करती है या उन मानसिक छवियों (mental pictures) को प्रस्तुत करती है, जिन्हें व्यक्ति ने अपने मन में किन्हीं वस्तुओं व परिस्थितियों के सम्बन्ध में रखा है। दूसरी बात यह है कि मनोवृत्ति कोई जन्मजात गुण नहीं है, अपितु यह अर्जित होती है, क्योंकि अनुभवों द्वारा निर्धारित होती है। दूसरे शब्दों में, अनुभवों के आधार पर ही एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति का निर्माण होता है। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि मनोवृत्ति उन समस्त वस्तुओं तथा परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं को प्रेरित व निर्देशित करती है जिनसे वह सम्बन्धित रहता है।

सर्वश्री क्रेच तथा क्रचफील्ड (Krech and Crutchfield) के मतानुसार "व्यक्ति की दुनिया के किसी पक्ष से सम्बन्धित प्रेरणात्मक, संवेगात्मक, प्रत्यक्षात्मक और ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के एक सुस्थिर संगठन को मनोवृत्ति कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[14]

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि मनोवृत्ति प्रेरणात्मक, संवेगात्मक, प्रत्यक्षात्मक और ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का एक संगठन होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति जब अपने चारों ओर की वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करता है, उनके सम्बन्धों में कुछ विचारों व संवेगों का अनुभव करता है, और उसी के अनुसार एक विशेष प्रकार से एक क्रिया या प्रतिक्रिया करने को प्रेरित होता है तो इस मानसिक संगठन या विन्यास को हम उस व्यक्ति की मनोवृत्ति कहते हैं। मनोवृत्ति प्रेरणात्मक इस अर्थ में है कि इसके कारण व्यक्ति को एक विशेष कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। उदाहरणार्थ, यदि विधवा-विवाह के प्रति एक व्यक्ति की मनोवृत्ति अनुकूल होगी तो वह स्वयं भी

---

13. An attitude is defined as "the mental and neural state of readiness which is determined by experience and which motivates or directs our responses to all objects and situations with which that attitude is related." —Quoted by V.V. Akolkar, *Social Psychology*, Asia Publishing House, Bombay, 1963, p. 231.

14. "An attitude can be defined as an enduring organization of motivational, emotional, perceptual, and cognitive processes with respect to some aspect of the individual world."—Krech and Crutchfield, *Theory and Problems of Social Psychology*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1948, p. 152.

विधवा-विवाह करने को प्रवृत्त हो जाएगा। मनोवृत्ति संवेगात्मक इस अर्थ में है कि इसमें एक वस्तु या व्यक्ति के प्रति क्रोध, प्रेम, दया, सहानुभूति, भय आदि संवेगों में से एक या एकाधिक संवेग होते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा के प्रति हमारी मनोवृत्ति यदि अनुकूल है तो शिक्षा से हमें अनुराग या प्रेम भी होगा। मनोवृत्ति प्रत्यक्षात्मक भी होती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध उस वास्तविक परिस्थिति से होता है, जिससे कि व्यक्ति परिचित होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि मनोवृत्ति का भी निर्माण एक विशेष परिस्थिति में होता है और इस परिस्थिति से व्यक्ति का परिचय प्रत्यक्षतः होता है क्योंकि इसके बिना विषय के सम्बन्ध में कोई धारणा व्यक्ति के मन में पनप नहीं सकती, और इस मनोवृत्ति का विकास सम्भव नहीं हो सकता। स्मरण रहे कि परिस्थिति से प्रत्यक्ष परिचय देखकर, सुनकर या पढ़कर हो सकता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में पाए जाने वाले प्रजातिवाद (Raceism) के सम्बन्ध में हम एक विशेष मनोवृत्ति को उसी समय पनपा सकते हैं, जब प्रजातिवाद से सम्बन्धित परिस्थितियों के सम्बन्ध में देखकर, सुनकर या पुस्तक, मासिक पत्रिका या समाचारपत्रों में पढ़कर एक सार्थक धारणा बना न लें। इसीलिए मनोवृत्ति प्रत्यक्षात्मक है। अन्त में मनोवृत्तिज्ञानात्मक इस अर्थ में होती है कि यह अनुभव व ज्ञान पर आधारित होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनोवृत्ति अनुभव या ज्ञान में परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित भी हो सकती है। अभी हाल तक बाल-विवाह के प्रति हमारी मनोवृत्ति अनुकूल थी, हम उसे अच्छा समझते थे, पर वैज्ञानिक ज्ञान व अनुभव में वृद्धि के साथ-साथ इस मनोवृत्ति में भी परिवर्तन होता जा रहा है; अब हम बाल-विवाह को बुरी प्रथा मानते हैं।

श्री अकोलकर (Akolkar) के अनुसार, "एक वस्तु या व्यक्ति के विषय में सोचने व अनुभव करने तथा उसके प्रति एक विशेष ढंग से कार्य करने की तत्परता की स्थिति को मनोवृत्ति कहते हैं।"[15]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि मनोवृत्ति किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति वह चेतन मानसिक प्रतिक्रिया है, जो व्यक्ति को एक विशेष ढंग से सोचने-विचारने और व्यवहार करने को प्रेरित करती है।

मनोवृत्तियों को मापने में कठिनाइयाँ
(Difficulties in measuring Attitudes)

यह सत्य है कि मनोवृत्तियों का माप मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, फिर भी मनोवृत्तियों को मापने का काम उतना सरल नहीं है जितना कि हम सामान्य रूप से समझते हैं। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

(१) मनोवृत्तियों में व्यक्तिगत भिन्नताएँ अत्यधिक होती हैं, इस कारण उनकी माप यथार्थ रूप में नहीं हो पाती है। इतना ही नहीं, मनोवृत्ति में तीव्रता का भी अन्तर प्रत्येक व्यक्ति में देखने को मिलता है। कुछ लोगों को दहेज से घृणा हो सकती है, पर इस घृणा की तीव्रता प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग हो सकती है।

(२) इस सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि मनोवृत्तियाँ अमूर्त (abstract) होती हैं और अमूर्त को मापना अत्यन्त कष्टकर होता है। कोई व्यक्ति क्या सोच रहा है, क्या-क्या अनुभव कर रहा है, इसका तो केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है और

15. "An attitude towards an object or a person is a state of readiness to think of, to feel about and to act towards that object or person in a certain way."—V. V. Akolkar, *op. cit.*, p. 231.

अनुमान पर अधिक भरोसा करना उचित नहीं समझा जाता है।

(३) मनोवृत्तियाँ अत्यन्त जटिल होती हैं। इसका कारण यह है कि किसी व्यक्ति अथवा समस्या के प्रति लोगों की मनोवृत्तियाँ अनेक कारणों से प्रभावित और परिवर्तित होती रहती हैं। इन समस्त प्रभावों तथा परिवर्तनों को टालकर मनोवृत्तियों का मापना कठिन होता है। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर किसी व्यक्ति-विशेष में अमुक मनोवृत्ति की सम्भावना पाई जा सकती है।

(४) मनोवृत्तियों की माप में एक और कठिनाई किसी सही और सर्वमान्य पैमाने का अभाव है। भौतिक विज्ञानों में इस प्रकार के यन्त्रों तथा पैमानों का उपयोग अत्यधिक होता है जैसे कि गर्मी को थर्मामीटर द्वारा डिग्रियों में मापा जा सकता है। वायु के भार को बैरोमीटर द्वारा इंचों में प्रकट किया जाता है, विजली के मोटर की शक्ति हॉर्स-पावर (Horse-power) में तथा सूत की किस्म नम्वरों (counts) में प्रकट की जाती है। परन्तु मनोवृत्तियों के मापने के सम्वन्ध में इस प्रकार के अचूक तथा सर्वमान्य पैमानों के अभाव का अनुभव किया ही जाता है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनोवृत्तियों को मापा ही नहीं जा सकता है। धैर्यपूर्वक वैज्ञानिक विधियों को काम में लाने से मनोवृत्तियों की सही माप भी निकाली जा सकती है। अव हम संक्षेप में उन पैमानों का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा मनोवृत्तियों को मापा जा सकता है।

मनोवृत्तियों को मापने की विधियाँ
(Methods of measuring Attitudes)

मनोवृत्ति को मापने के लिए कुछ निश्चित विधियों का प्रयोग किया जाता है। इस सम्वन्ध में यह आवश्यक है कि उन विधियों व पमानों को संक्षेप में समझ लिया जाए। मनोवृत्ति-माप के लिए जिन प्रमुख विधियों का प्रयोग किया जाता है वे निम्नलिखित हैं—

मत-मापक पैमाना
(Opinion Scale)

मतों को मापने के लिए इस प्रकार के पैमानों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है जिनकी सहायता से मनोवृत्ति के विषय में भी पता चल जाता है। इस विधि में एक ऐसे पैमाने का निर्माण किया जाता है जिसमें क्रम से ऐसे कथन (propositions or terms) होते हैं जिनके प्रति व्यक्ति को अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति, सम्मति या असम्मति प्रगट करनी होती है। पैमाने में मनोवृत्ति को किसी चरम स्थिति से मापना आरम्भ किया जाता है और फिर धीरे-धीरे विपरीत दिशा को वढ़ना होता है। दूसरे शब्दों में, पैमाने में किसी में भी मनोवृत्ति के अभावात्मक से भावात्मक अथवा अनुकूल से प्रतिकूल रूप तक एक क्रमिक परिमाणात्मक विस्तार होता है। इस विस्तार में व्यक्ति के मतों के आधार पर एक औसत निकालकर उसकी मनोवृत्ति को मापा जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम हरिजनों के प्रति मनोवृत्तियों को मापना चाहते हैं तो निम्नलिखित रूप से पैमाना वनाया जा सकता है—

(१) आप हरिजनों से घृणा करते हैं।

(२) आप हरिजनों के प्रति उदासीन हैं।

(३) आपको हरिजनों के प्रति किंचित् स्नेह है।
(४) आपको हरिजन प्रिय लगते हैं।
(५) आप हरिजनों से घनिष्ठता करना चाहते हैं।

उपर्युक्त पैमाना मनोवृत्ति के एक लक्ष्य घृणा से आरम्भ होता है और उसकी विपरीत अवस्था घनिष्ठता में समाप्त होता है। पर इन सबका उद्द्श्य समान है। अर्थात् व्यक्ति को मापदण्ड पर एक ऐसा स्थान देने का प्रयास किया गया है जिससे व्यक्ति की मनोवृत्तियों की स्थिति का परिचय मिल जाए।[16]

मत-मापक पैमाने द्वारा व्यक्तियों की मनोवृत्तियों की प्रत्यक्ष माप नहीं हो पाती है। इससे तो केवल विशेष कथनों के प्रति व्यक्ति की उन प्रतिक्रियाओं को जानने का प्रयास किया जाता है जो उसके मतों से अभिव्यक्त होती है। व्यक्ति का मत उसकी मनोवृत्ति की परछाई है—यह इस विधि का निर्देशक सिद्धान्त है। इस विधि के अन्तर्गत मापदण्ड या पैमाना बनाया जाता है। उसमें निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है—(१) पैमाने को विश्वसनीय (reliable) होना चाहिए, अर्थात् दो समान परिस्थितियों में प्राप्त होने वाली मापों में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। (२) पैमाने को सप्रमाण (valid) होना चाहिए, अर्थात् पैमाने में ऐसे कथन (items) होने चाहिएँ जो यथार्थ या वास्तविक रूप से व्यक्ति की मनोवृत्तियों पर प्रकाश डालें। (३) पैमाने के चरणों (steps) में पारस्परिक अन्तर और विभेद होना चाहिए। (४) पैमाने के कथनों का व्यक्ति की मनोवृत्तियों से वैज्ञानिक सम्बन्ध होना चाहिए। (५) निर्णायकों (Judges) की मनोवृत्तियों का प्रभाव पैमाने के निदर्शों के चुनाव पर न पड़ना चाहिए। (६) ऐसे कथनों का चुनाव किया जाए कि विभिन्न मात्रा में मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों को विभिन्न श्रेणियों में बाँट सकें।

थर्सटन पैमाना-विधि
(Thurstone Method of Scale)

श्री थर्सटन तथा उनके साथियों ने सन् १९२९ और १९३१ के बीच विभिन्न समूहों के सदस्यों के युद्ध, चर्च, मृत्युदण्ड, सन्तति-नियम आदि के सम्बन्ध में मनोवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए पैमानों को प्रस्तुत किया। थर्सटन-विधि का सिद्धांत यह है कि यदि एक व्यक्ति किसी कथन को स्वीकार या अस्वीकार करता है तो उसके आधार पर मनोवृत्ति के पैमाने में उसे एक निश्चित स्थान प्रदान किया जा सकता है। अतः समस्या उपर्युक्त कथनों के चुनाव की है जिनके आधार पर व्यक्ति की मनोवृत्ति यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हो सके। अतः श्री थर्सटन की विधि में वस्तु, विषय या समस्या के सम्बन्ध में कथनों की एक सूची अखबारों में प्रकाशित लेखों से, लोकसभा, राज्यसभा या विधानसभा की कार्यवाही से या सहयोगियों के मतों से बनाई जाती हैं। इन कथनों में पूर्ण स्वीकृति से लेकर पूर्ण अस्वीकृति तक सभी श्रेणी के कथनों का समावेश होना चाहिए। इस विधि के अनुसार सामान्यतः दो-तीन सौ कथनों का संग्रह आवश्यक होता है। इसके बाद इन कथनों का सम्पादन (editing) किया जाता है और उन कथनों को सूची से निकाल दिया जाता है जिनका कि कोई सम्बन्ध अध्ययन-विषय से न हो। ये कथन सरल, संक्षिप्त, सम्पूर्ण, निश्चित एवं प्रत्यक्ष होने चाहिएँ जिससे कि व्यक्ति इन्हें सरलता से स्वीकार या अस्वीकार कर सकें।

---

16. Krech and Crutchfield, *op. cit.*, p. 214.

कथनों के संग्रह व सम्पादन में अनुसन्धानकर्त्ता को व्यक्तिगत पक्षपात से वचना चाहिए। इसके पश्चात् इन कथनों को चरम अनुकूल से चरम प्रतिकूल रूप तक एक क्रम से सजा देना होता है। इसके लिए कथनों की नकल (copies) करके प्रत्येक कथन की एक-एक प्रति एकाधिक विशेषज्ञों या निर्णायकों (Judges) के पास भेजी जाती है ताकि उनमें से प्रत्येक जज अपने-अपने निर्णय के अनुसार उन कथनों को कुछ श्रेणियों में वाँट दे। वे कथन जो कि सर्वाधिक अनुकूल हैं उन्हें प्रथम श्रेणी में तथा वे कथन जो कि सर्वाधिक प्रतिकूल हैं उन्हें नवीं या ग्यारहवीं श्रेणी में रखने को निर्णायकों को कहा जाता है और इन दोनों श्रेणियों के वीच अन्य कथनों को एक क्रम से अनुकूल से प्रतिकूल तक विभिन्न श्रेणियों में सजा दिया जाता है; और इस प्रकार नौ या ग्यारह श्रेणियों में समस्त कथनों को क्रम से सजा दिया जाता है। इसके पश्चात् इन कथनों में से प्रत्येक कथन को अधिकतर निर्णायकों (Judges) ने जो औसत स्थान दिया है उसी स्थान पर एक कथन को पैमाने (scale) में रक्खा जाता है, अर्थात् कथनों को वहुमत के आधार पर पैमाने के एक क्रम में सजा दिया जाता है। उन मतों या कथनों को पैमाने में नहीं रक्खा जाता है जिनके सम्वन्ध में निर्णायकों या जजों में पर्याप्त मतभेद हो। अन्त में, पैमाने का निर्माण एक सीमित संख्या में उपर्युक्त ढंग से चुने हुए कथनों द्वारा इस प्रकार कर लिया जाता है कि सम्पूर्ण पैमाने के अन्तर्गत विभिन्न कथनों के विभिन्न स्थान मिले हुए हों और कथन या श्रेणी अत्यधिक से न्यूनतम या सर्वाधिक अनुकूल से सर्वाधिक प्रतिकूल तक फैली हुई हो।[17]

इस पैमाने को वनाने में कुछ विशेष सावधानियाँ ध्यान में रखनी चाहिएँ। जो कथन पैमाने में रक्खे जाएँ उनकी भाषा सरल, सुस्पष्ट, सार्थक एवं परिमार्जित होनी चाहिए; उनमें से प्रत्येक कथन का प्रत्यक्ष सम्वन्ध व्यक्ति के किसी विषय से सम्वन्धित मतों, विश्वासों और मनोवृत्तियों से हो। ऐसे कथन जो द्वयर्थक या अस्पष्ट (ambiguous) हों, उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। विशेषज्ञों या जजों की संख्या भी पर्याप्त होनी चाहिए। कथनों की जाँच करते समय जजों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे निजी विश्वास या मनोवृत्ति से प्रभावित होकर किसी कथन को कोई गलत स्थान न दे दें।

लिकर्ट पैमाना-विधि
(Likert Method of Scale)

सन् १९३२ में श्री लिकर्ट ने श्री थर्सटन से कुछ भिन्न तथा सरल पैमाने का निर्माण किया और उसकी सहायता से विभिन्न समूहों के साम्राज्यवाद (imperialism), अन्तर्राष्ट्रीयता और नीग्रों के प्रति मनोवृत्तियों को जानने का प्रयास किया। लिकर्ट पैमाना निम्नलिखित ढंग से वनाया जाता है—

इस पैमाने (scale) को तैयार करने के लिए एक वस्तु या विषय से सम्बन्धित वहुत से कथनों को एकत्रित किया जाता है। इसके पश्चात् जिन लोगों की मनोवृत्ति का अध्ययन करना है, उनमें से प्रत्येक को यह कहा जाता है कि वह इन कथनों में से प्रत्येक के प्रति अपनी मनोवृत्ति की मात्रा (degree of his attitude) पाँच विभिन्न श्रेणियों में व्यक्त करे अर्थात् एक कथन-विशेष के प्रति प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृढ़ सहमति, सहमति, अनिश्चितता, असहमति, दृढ़ असहमति (strongly approve, approve,

17. For detailed discussion please see B. Kuppu Swamy, *An Introduction to Social Psychology*, Asia Publishing House, Bombay, 1961, pp. 199-202.

undecided, disapprove, strongly disapprove) प्रकट करे। इन पाँच श्रेणियों को क्रम से ५,४,३,२,१ अंक प्रदान कर दिया जाता है। जिस कथन को अधिक अंक मिलता है उसे अनुकूल मनोवृत्ति का द्योतक माना जाता है। उन कथनों को निकाल-कर पृथक् कर दिया जाता है जिनका व्यक्ति के सम्पूर्ण गुणांक (score) से कोई भी सह-सम्बन्ध नहीं है।

इस विधि का और भी स्पष्टीकरण निम्नलिखित अंक-पैमाने (Point Scales) की विवेचना से हो जाएगा।

अंक-पैमाने
(Point Scales)

इस प्रकार के पैमाने में विभिन्न प्रकार के शब्द अथवा परिस्थितियाँ ली जाती हैं और प्रत्येक को एक अंक (point) प्रदान किया जाता है। उत्तरदाता से यह कहा जाता है कि जिस शब्द अथवा परिस्थिति से उसके मन में प्रसन्नता की अपेक्षा रोष ही अधिक उत्पन्न हो, उसके आगे काटे (×) का निशान लगा दे। ऐसे प्रत्येक शब्द को, जिसे उत्तरदाता ने काटा नहीं है, एक अंक प्रदान किया जाता है। किसी व्यक्ति की मनोवृत्ति का पता विभिन्न शब्दों के काटने अथवा छोड़ देने (अर्थात् न काटने) के आधार पर किया जाता है। दो-एक उदाहरण के द्वारा इस पैमाने को समझाया जा सकता है।

उदाहरण १—नीचे कुछ शब्द दिए जा रहे हैं। जिन शब्दों से आपको प्रसन्नता का अनुभव हो उनको यूँ ही छोड़ दें और जिन शब्दों से आपको अप्रसन्नता या रोष का अनुभव हो उनके आगे काटे (×) का निशान लगा दें; प्रत्येक शब्द को, जिसे काटा नहीं जाएगा, एक अंक प्रदान किया जाएगा—

(१) नाच-गान
(२) पूजा-पाठ
(३) अनेक सन्तान
(४) परिवार नियोजन
(५) अन्तर्विवाह
(६) अन्तर्जातीय विवाह
(७) अध्यात्मवाद
(८) भोगवाद

उपर्युक्त पैमाने की सहायता से हम विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में व्यक्ति की मनोवृत्ति का पता लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति ने 'नाच-गान' को काट दिया और 'पूजा-पाठ' को यूँ ही छोड़ दिया है तो समझा जाएगा कि वह सदाचार-पसन्द व्यक्ति है।

केवल शब्दों की सहायता से मनोवृत्ति को मापा जा सकता है जैसा का निम्न-लिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा।

उदाहरण २—आप निम्नलिखित में से किन-किन बातों से सहमत या असहमत हैं उनके आगे काटे (×) का निशान लगा दें। जिन्हें आप नहीं काटेंगे उनमें से प्रत्येक को एक अंक प्रदान किया जाएगा—

(१) संयुक्त परिवार में रहना।
(२) अन्तर्जातीय विवाह करना।
(३) जाति-प्रथा के नियमों का पालन करना।
(४) विधवा-पुर्नविवाह करना।
(५) अपनी ही जाति में विवाह करना।
(६) बच्चों को अंग्रेजी शिक्षा देना।
(७) लड़कियों को स्कूल-कॉलेज न भेजना।
(८) गाँव में रहना।
(९) बच्चों की प्रगति के लिए शहर में बस जाना।
(१०) पूजा-पाठ करना।
(११) सिनेमा का शौक रखना।
(१२) अधिक बच्चे पैदा करना।
(१३) परिवार नियोजन को स्वीकार करना।
(१४) घर की स्त्रियों को क्लब आदि का सदस्य बनने की स्वीकृति देना।
(१५) स्त्रियों पर कड़ी निगरानी रखना।

एक व्यक्ति के द्वारा उपर्युक्त परिस्थितियों के आगे काटे (×) का निशान लगाने या न लगाने के आधार पर यह पता चल सकेगा कि व्यक्ति परम्परावादी है अथवा नवीन युग की विचारधाराओं का समर्थक।

समालोचना—इस पैमाने की कुछ कमियों के प्रति विद्वानों ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनमें से प्रथम यह है कि निश्चित प्रकार के भेदात्मक (dichotomous) शब्द इस प्रकार का पैमाना बनाने के लिए आवश्यक होते हैं जो कि मिल नहीं पाते हैं जिसके फलस्वरूप पैमानों का निर्माण कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि इस पैमाने के द्वारा मिश्रित मनोवृत्ति रखने वाले व्यक्तियों का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

सामाजिक दूरी का पैमाना
(Social Distance Scale)

प्रत्येक व्यक्ति या समूह के साथ हमारी घनिष्ठता या दूरी समान नहीं होती है। कुछ लोगों या समूहों के प्रति हमारी मनोवृत्ति अनुकूल होती है, अतः उनके साथ हमारी घनिष्ठता भी अधिक होती है। इसके विपरीत, कुछ व्यक्तियों या समूहों के प्रति हमारी मनोवृत्ति प्रतिकूल होने के कारण हम उनसे दूर ही रहने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोगों या समूहों से तो हम इतनी घृणा करते हैं कि अगर हमारा वश चले तो उनको देश से निकाल ही दें। संक्षेप में, विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के बीच सामाजिक निकटता अथवा दूरी विभिन्न मात्राओं में पाई जाती है और उनकी माप के लिए ही सामाजिक दूरी का पैमाना काम में लाया जाता है। सामाजिक दूरी की माप के लिए दो प्रकार के पैमाने का उपयोग किया जाता है—(१) बोगार्डस का सामाजिक दूरी का पैमाना (Bogardus Social Distance Scale) तथा

(२) समाजमितीय पैमाना (Sociometric Measurment)। यहाँ इन दोनों के विषय में संक्षेप में विवेचना कर लेना उचित होगा—

(१) **बोगार्डस का सामाजिक दूरी का पैमाना** (Bogardus Social Distance Scale)—इस पैमाने का निर्माण प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री बोगार्डस (E. S. Bogardus) ने किया है। उन्होंने कुछ ऐसी परिस्थितियों को चुन लिया जिनसे सामाजिक दूरी का स्पष्ट ज्ञान हो सके। इसके पश्चात् सौ व्यक्तियों से यह कहा गया कि उन परिस्थितियों को वे सात ऐसे वर्गों में रखें जो क्रमशः बढ़ती हुई सामाजिक दूरी को प्रकट करते हों। इन्हीं सात वर्गों के आधार पर यह पता लगाया गया कि विभिन्न समूहों के प्रति लोगों की मनावृत्ति क्या है, अर्थात् उन समूहों से वे कितना नजदीक या दूर का सम्बन्ध रखना चाहते हैं। श्री बोगार्डस द्वारा प्रस्तुत पैमाना इस प्रकार है—

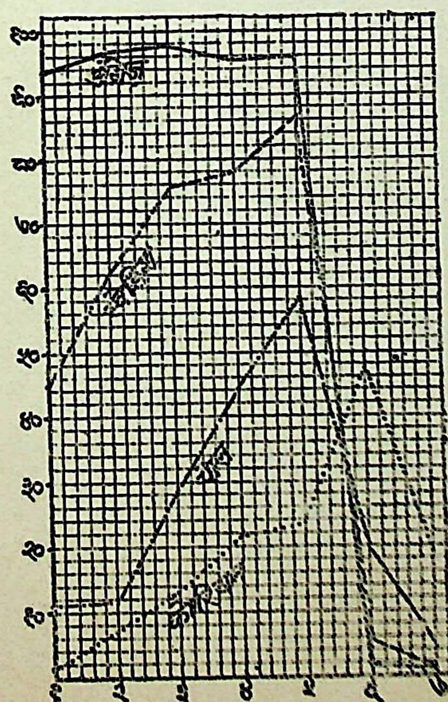
वर्ग	अंग्रेज	स्वेडिश	पोल	कोरियन
१. विवाह करने की स्वीकृति ...				
२. क्लव में साथी वनने की स्वीकृति ...				
३. पड़ोस में रहने की स्वीकृति ...				
४. एक ही दफ्तर में साथ-साथ काम करने की स्वीकृति ...				
५. अपने देश में नागरिक के रूप में स्वीकार करने को तैयार ...				
६. देश में केवल यात्री के रूप में आने की अनुमति देने को तैयार ...				
७. अपने देश के बाहर निकाल देने की इच्छा ...				

उपर्युक्त अनुसूची विभिन्न व्यक्तियों को दी गई और उन्हें निर्देश दिया गया कि (अ) प्रत्येक दशा में अपनी प्रारम्भिक प्रतिक्रिया ही दीजिए; (ब) अपनी प्रतिक्रिया समस्त वर्ग के लिए दीजिए, पर अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते समय उस समाज के किसी अच्छे या बुरे व्यक्ति का, जिससे आप परिचित हों, ध्यान मत रखिए; (स) प्रत्येक जाति के खाने में सात वर्गों में से उतने वर्गों के सामने निशान लगाइए जिनसे आप सहमत हैं।

उपर्युक्त अनुसूची १७२५ अमेरिकन नागरिकों को दी गई और उनसे प्राप्त सूचनाओं के आधार पर प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक जाति का योग निकाला गया। बाद में उसे प्रतिशत में बदला गया। इसके लिए कुल उत्तरों १७२५ को १०० के बराबर मान लिया गया। इसी आधार पर पक्ष में मिलने वाले उत्तरों का प्रतिशत निकाला गया, जैसा कि निम्नलिखित सारिणी में दिखाया गया है—

वर्ग	विभिन्न वर्गों में अलग-अलग प्रश्नों के उत्तरों का प्रतिशत						
	१	२	३	४	५	६	७
अंग्रेज़	९३·७	९६·७	९७·३	९५·४	९५·९	१·७	१·०
स्वेडिश	४५·३	६२·१	७५·६	७८·०	८६·३	५·४	१·०
पोल	११·०	११·६	२८.३	४४·३	५८·३	१९·७	४·७
कोरियन	१.१	६·८	१३·०	२१·४	२३·७	४७·१	१९·१

उपरोक्त प्रतिशतों को निम्नलिखित रूप में ग्राफ पर प्रदर्शित करने पर स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी—



(२) **समाजमितीय माप** (Sociometric Measurement)—सामाजिक दूरी तथा अन्तर्सम्वन्धों की माप के लिए सर्वश्री मोरीनो (J. L. Moreno) तथा जेनिंग्स (H. H. Jennings) ने इस विधि का उपयोग किया था। श्री जेनिंग्स ने समाजमिति को परिभाषित करते हुए लिखा है, "यह साधारण रूप से या ग्राफ (Graph) के द्वारा किसी विशेष अवसर पर किसी समूह के सदस्यों के पारस्परिक सम्वन्धों को प्रगट करने की विधि है।" उदाहरणार्थ, यदि हमें ५० कैदियों में पारस्परिक प्रेम अथवा घृणा की भावना का, अथवा अनुकूल या प्रतिकूल मनोवृत्ति का पता लगाना है तो हम प्रत्येक कैदी को एक पर्ची (slip) दे देंगे और उससे क्रमवार अपने प्रथम तीन मित्रों को चुनने के लिए कहेंगे। प्रत्येक कैदी को यह चुनाव उन्हीं ५० कैदियों के बीच ही सीमित रखना होगा जिनका अध्ययन हम कर रहे हैं। इस प्रकार जितने चुनने वाले होते हैं, उतने ही लोगों में से चुनाव भी करना होता है। जब सब लोगों के चुनाव का पता लग जाए तो उसे सारिणी अथवा चित्र के रूप में दिखाया और निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

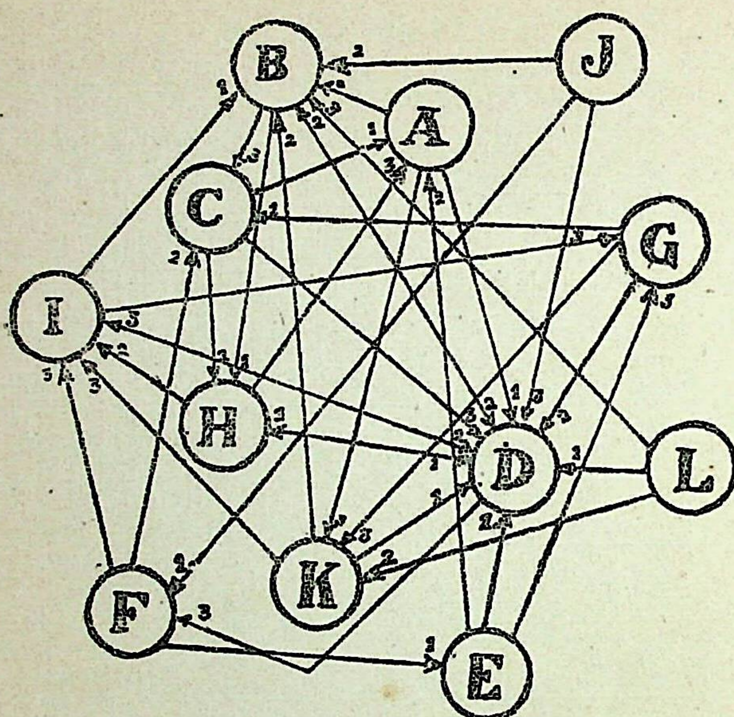
एक उदाहरण द्वारा स्थिति को और भी स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि केवल १० छात्रों में विद्यमान पारस्परिक प्रेम अथवा घृणा का पता लगाना है। ऐसा करने के लिए प्रत्येक छात्र को एक स्लिप (slip) दे दीजिए और उनसे यह कहिए कि वे अपने अधिमान्य के अनुसार (according to his preference) अपने तीन मित्रों का नाम एक क्रम से लिख दें। अर्थात् जिस मित्र को वह सबसे अधिक चाहता है उसका नाम नम्बर १ पर लिखेगा और जिसे उससे कम पसन्द करता है उसका नाम नम्बर २ पर, और जिसे नम्बर २ से भी कम पसन्द करता है उसे नम्बर ३ पर लिख देगा। अर्थात् सबसे कम नम्बर (१) वाला अंक सर्वाधिक आकर्षण का प्रतीक होगा। सभी लड़कों द्वारा चुनाव सम्पन्न कर लेने के पश्चात् छात्रों की पसन्द व नापसन्द सम्बन्धी वास्तविक स्थिति को एक सारिणी द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

निर्वाचित होने वाले छात्र

निर्वाचित करने वाले छात्र

	A	B	C	D	E	F	G	H	I	J	K	L	
A		2		1							3		
B			3	2				1					
C	1			3				2					
D		2				3		1					
E	2			1			3						
F			2		1				3				
G			1	2							3		
H	3			1					2				
I		1		2			3						
J		2		3		1							
K		2		1					3				
L		3		1							2		
प्रथम प्राथमिकता	1	1	1	5	1	1	–	2	–	–	–	–	12
द्वितीय प्राथमिकता	1	4	1	3	–	–	–	1	1	–	1	–	12
तृतीय प्राथमिकता	1	1	1	2	–	1	2	–	2	–	2	–	12
कुल ...	3	6	3	10	1	2	2	3	3	0	3	0	–

उपरोक्त सारिणी के आधार पर अथवा स्लिपों को देखकर छात्रों द्वारा दी गई प्राथमिकताओं के आधार पर उस समूह में पाए जाने वाले सम्बन्धों को एक समाजमितीय चित्र (Sociogram) द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—



उपरोक्त चित्र तथा सारिणी के आधार पर १० छात्रों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्ध-प्रतिमान के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार निकाले जा सकते हैं—

(१) **एकतरफा प्राथमिकता**—कुछ छात्रों का आपसी सम्बन्ध इस प्रकार है कि एक छात्र तो दूसरों को प्राथमिकता देता है, पर दूसरा उस प्राथमिकता का कोई प्रतिदान देता प्रतीत नहीं होता। उदाहरणार्थ, A ने B को द्वितीय तथा D को प्रथम प्राथमिकता दी है, पर इन दोनों में से किसी ने भी A को कोई प्राथमिकता नहीं दी है।

(२) **पारस्परिक प्राथमिकता**—उपरोक्त प्रकार के सम्बन्ध के विपरीत ऐसे सम्बन्धों के विषय में भी पता चलता है जिसमें कि दो छात्रों ने एक-दूसरे को पसन्द किया है। उदाहरणार्थ, B ने D को और D ने B को परस्पर द्वितीय प्राथमिकता दी है जबकि D और H ने एक-दूसरे को प्रथम प्राथमिकता दी है।

(३) **त्रिकोणीय अथवा चतुष्कोणीय प्राथमिकता**—उपरोक्त विद्यार्थियों में ऐसे भी विद्यार्थी हैं जोकि तीसरे व्यक्ति द्वारा सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, A ने C को कोई प्राथमिकता नहीं दी है, पर B ने C को तृतीय प्राथमिकता दी है और उसी आधार पर C ने A को प्रथम प्राथमिकता दी है। उसी प्रकार ऐसे भी चार विद्यार्थी हैं जो कि परस्पर प्रत्यक्ष रूप से तो सम्बन्धित नहीं, पर अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे छात्र के माध्यम से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, L एक तरफ K से और दूसरी तरफ B से सम्बन्धित है। जबकि K सम्बन्धित है I से और I सम्बन्धित है B से। इस प्रकार BIKL का एक चतुष्कोणीय सम्बन्ध बन जाता है।

(४) दलबन्दी (Cliques)—इस प्रकार के भी कुछ सम्बन्धों का पता उपरोक्त सारिणी से लगता है जिसमें कि दलबन्दी का आभास होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध में एकाधिक विद्यार्थी स्वयं परस्पर एक-दूसरे का चुनाव करते हैं, किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से सम्बन्धित नहीं होते। उदाहरणार्थ, B और D, D और I तथा D और H ने एक-दूसरे को प्राथमिकता दी है और इस प्रकार BDHI का एक गुट बन गया है।

(५) सर्वप्रिय नेता (Choice Star)—इस प्रकार का विद्यार्थी भी है जिसको कि सबसे अधिक प्राथमिकता प्राप्त हुई है जैसे D जिसे कि १० छात्रों में से ५ ने प्रथम प्राथमिकता, ३ ने द्वितीय तथा २ ने तृतीय प्राथमिकता दी है। अतः उसे जनप्रिय या सर्वप्रिय नेता कहा जा सकता है। इसके बाद B का स्थान है।

(६) अप्रत्यक्ष नेता (Secondary Star)—यह वह छात्र है जो कि समूह के अन्य विद्यार्थियों में तो जनप्रिय नहीं है, पर जिसे कि सर्वप्रिय नेता और उसके बाद के स्थान वाले छात्र का समर्थन प्राप्त है इसलिए वह भी नेता-टाइप बन जाता है। H ऐसा ही विद्यार्थी है जिसे कि दो सर्वप्रिय छात्र D और B से प्रथम प्राथमिकता प्राप्त हुई है। इस प्रकार के नेता को अरस्तू नेता (Aristotle Leader) कहते हैं।

(७) पूर्णतया पृथक् (Totally Isolate)—कोई विद्यार्थी ऐसा भी हो सकता है जो कि किसी के द्वारा भी चुना न गया हो अर्थात् उसे कोई भी प्राथमिकता नहीं मिली है। J और L ऐसे ही छात्र हैं।

तीव्रतामापक पैमाने
(Rating or Intensity Scales)

इन पैमानों का प्रयोग मनोवृत्तियों तथा रुचियों की तीव्रता या गहनता को मापने के लिए किया जाता है। तीव्रतामापक पैमाने में मनोवृत्तियों को तीन, चार अथवा पाँच खण्डों में इस प्रकार बाँटा जाता है कि प्रत्येक खण्ड से तीव्रता की एक निश्चित मात्रा का ज्ञान हो। प्रायः तीन तथा पाँच खण्ड के पैमाने अधिक प्रचलित हैं। नीचे इन दो प्रकार के पैमानों के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

तीन खण्ड के पैमाने

१	२	३
१. हाँ	हो सकता है	नहीं
२. हमेशा	कभी-कभी	कभी नहीं
३. अच्छा	साधारण	बुरा
४. सहमत	तटस्थ	असहमत
५. बड़ा	समान	छोटा

पाँच खण्ड के पैमाने

१	२	३	४	५
१. पूर्णतया सहमत	सहमत	अनिश्चित	असहमत	पूर्णतया असहमत
२. बहुत पसन्द	पसन्द	तटस्थ	नापसन्द	बिलकुल नापसन्द
३. अत्यधिक संतुष्ट.	संतुष्ट	अनिश्चित	असंतुष्ट	पूर्णतया असंतुष्ट
४. पूर्ण अनुकूल	अनुकूल	तटस्थ	प्रतिकूल	पूर्ण प्रतिकूल
५. सब	बहुत-से	करीब आधे	थोड़े-से	कोई नहीं

किसी एक विषय या परिस्थिति के सम्बन्ध में व्यक्ति की मनोवृत्ति को जानने के लिए उपर्युक्त पैमानों में से किसी एक का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण—आप भारत सरकार द्वारा हाल ही में किए गए रुपये के अवमूल्यन (devaluation) से कहाँ तक संतुष्ट हैं—

१. अत्यधिक संतुष्ट
२. संतुष्ट
३. ठीक से कुछ कह नहीं सकता
४. असंतुष्ट
५. पूर्णतया असंतुष्ट

उपरोक्त पाँच सम्भावनाओं के प्रति एकाधिक व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं का पता लगाकर हम यह मालूम कर सकते हैं कि अवमूल्यन के प्रति लोगों की मनोवृत्ति क्या है और उसकी तीव्रता कितनी है।

श्रेणीसूचक पैमाने
(Ranking Scales)

इस प्रकार के पैमाने में परिस्थितियों को कुछ श्रेणियों में प्रस्तुत किया जाता है जिससे यह पता चले कि 'एक' की तुलना में दूसरे 'किसको' एक व्यक्ति अधिक पसन्द करता है। इस प्रकार यह मालूम किया जाता है कि व्यक्ति के मस्तिष्क में एक वस्तु या परिस्थिति या व्यक्ति का वास्तविक स्थान क्या है? इस पैमाने का सबसे सरल रूप तुलनात्मक जोड़े (paired comparisons) हैं। इसके अन्तर्गत परिस्थिति या विषय को जोड़े (pairs) में प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें यह पता करना है कि स्त्रियाँ किन व्यवसायों के १० जोड़े चुन सकती हैं (इन जोड़ों में दफ्तर के कर्मचारियों, नर्सों, क्लर्कों से लेकर घरेलू नौकरानियों तक के काम सम्मिलित किए जा सकते हैं) तो विभिन्न पेशों को हम जोड़ों में प्रस्तुत करेंगे और उत्तरदाता से प्रत्येक जोड़े में से एक धन्धा पसन्द करने या चुनने को कहेंगे। उनके चुनाव के आधार पर हम यह मालूम कर सकेंगे कि अधिकतर स्त्रियाँ किन-किन पेशों को चुनना अधिक पसन्द करेंगी।

उसी प्रकार 'होरोविज़ प्रणाली' (Horowitz Technique) भी श्रेणीसूचक पैमाने का एक दूसरा रूप है। श्री होरोविज़ ने प्रजातीय पक्षपात को श्रेणीबद्ध करने के लिए १२ चित्रों को चुना जिनमें आठ नीग्रो व चार गोरे प्रजाति के बालकों के

थे। इन १२ चित्रों के एक-एक सेट को कई स्कूलों के बच्चों में बाँट दिया गया और यह कहा गया कि वे उन चित्रों को अपनी पसन्द के अनुसार इस प्रकार एक क्रम में लगाएँ जिससे कि उसका सबसे प्रिय चित्र सबसे ऊपर, उससे कुछ कम प्रिय चित्र उससे नीचे और फिर उससे कम प्रिय चित्र उससे नीचे इत्यादि। प्रत्येक पसन्दगी के लिए १,२,३,४ आदि अंक प्रदान किए गए। अर्थात् जिस चित्र को बच्चे ने सबसे ऊपर रक्खा उसे १ अंक, उसके बाद वाले चित्र को २ अंक, उसके बाद वाले को ३ अंक आदि। गोरे और नीग्रो प्रजाति के बालकों के प्रति बच्चों की मनोवृत्ति का पता लगाने के लिए चित्रों को मिलने वाले अंकों को जोड़ा गया। स्पष्ट है कि जिस चित्र को सबसे कम अंक मिलेगा वही चित्र पसन्दगी के दृष्टिकोण से सबसे ऊपर की श्रेणी में होगा। गोरे बच्चों की संख्या चार थी। अतएव उनके प्राप्तांकों की सम्भावना १० और ४२ के बीच में थी। अर्थात् यदि चारों गोरे बालकों को प्रथम चार स्थान दिए जाते तो उन्हें ४+३+२+१=१० अंक मिलते। यदि उन्हें अन्तिम चार स्थान दिए जाते तो १२+११+१०+९=४२ अंक मिलते। अतएव उनको औसत अंक १० और ४२ का माध्य मूल्य अर्थात् २६ मान लिया। यदि प्राप्तांक २६ से कम हो तो समझा जाएगा कि लोगों की राय उनके पक्ष में है। यदि अधिक हो तो लोगों की राय विपक्ष मानी जाएगी।

श्री थर्सटन की समविस्तार प्रणाली (Thurston Equal Appearing Intervals Scale) भी श्रेणीसूचक पैमाने का ही एक रूप है जिसके विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—मनोवृत्तिमापक उपर्युक्त पैमाने अब भी पूर्ण रूप से यथार्थ नहीं कहे जा सकते हैं। इसीलिए उनकी सहायता से प्रत्येक विषय, घटना, परिस्थिति, वस्तु या व्यक्ति के सम्बन्ध में लोगों की मनोवृत्तियों के सम्बन्ध में पूर्ण व सार्थक ज्ञान की प्राप्ति आज भी सम्भव नहीं हो सकी है। वास्तव में अधिकतर विषयों, परिस्थिति आदि के प्रति मानव की मनोवृत्तियाँ इतने जटिल रूप में प्रकट होती हैं कि उनको किसी एक निश्चित पैमाने के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। और यदि पैमाने को उसी अनुपात में हम जटिल बना देते हैं तो उत्तर-दाता उसे समझ नहीं पाता है और बिना समझे जो कुछ उत्तर वह देता है वह उसकी वास्तविक मनोवृत्ति को कदापि अभिव्यक्त नहीं करता है। इसीलिए प्रत्येक अवस्था में इन पमानों पर निर्भर नहीं किया जा सकता है। ये तो कुछ विशिष्ट स्थान, समय तथा समस्या पर ही लागू किए जा सकते हैं। साथ ही, सामाजिक मूल्य सभी स्थानों पर एकसमान नहीं हैं, अतएव एक ही पैमाना (Scale) सभी समाजों में लागू नहीं किया जा सकता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम पैमानों के निर्माण में सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों, मूल्यों व आदर्शों का ध्यान रक्खें और साथ ही, उत्तरदाताओं के बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखते हुए यह निश्चय करें कि किस पैमाने का प्रयोग करना हमारे लिए अधिक उचित होगा। यह भी सच है कि मनोवृत्तियों को नापने की विधियों में निरन्तर प्रगति होती जा रही है और वह दिन बहुत दूर नहीं है जबकि सामाजिक मनोवैज्ञानिक भी मनोवृत्तियों को मापने के लिए थर्मामीटर या बैरोमीटर की ही भाँति कोई सही और सर्वमान्य पैमाने को खोज निकालेंगे। हमें उस शुभ दिन की आशा है और उस शुभ आशा को लेकर ही अब और आगे के लिए हमें कदम उठाना है!

———

१८ निर्दर्शन का सिद्धान्त

(THEORY OF SAMPLING)

"कुछ" को देखकर या परीक्षा कर "सब" के वारे में अनुमान लगा लेने की विधि को निदर्शन-पद्धति कहते हैं। इस पद्धति की आधारभूत मान्यता यह है कि इन "कुछ" की विशेषताएँ "सब" की आधारभूत विशेषताओं का उचित प्रतिनिधित्व करती हैं यदि "कुछ" का चुनाव ठीक से किया जाए। "सब" को देखना या सबकी परीक्षा करना असुविधाजनक, धन-सापेक्ष और समय-सापेक्ष हो सकता है। इसलिए इनका व्यर्थ अपव्यय अनुचित है। इसीलिए सबका प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ का अध्ययन ही श्रेय है। निदर्शन-पद्धति का प्रयोग अत्यन्त लोकप्रिय है और वह इस अर्थ में कि रोज के जीवन में एक अनाड़ी आदमी भी इसका डटकर प्रयोग करता है। वाजार से गेहूँ, चावल या दाल खरीदते समय उनकी वोरियों को खुलवाकर उनका एक-एक दाना कोई नहीं परखता वल्कि वोरी या ढेर में से एक मुट्ठी दाने निकालकर उनकी जाँच कर लेते हैं और फिर उस मुट्ठी-भर दाने का जो मूल्यांकन होता है वही सम्पूर्ण गेहूँ, चावल या दाल की वोरी अथवा ढेर के लिए होता है। पर इस एक मुट्ठी-भर दाने को लेने में हम सावधानी वरतते हैं, ढेर या बोरी के ऊपर से हिलोरकर मुट्ठी नहीं भरते बल्कि वोरी या ढेर के भीतर हाथ डालकर मुट्ठी भर लेते हैं, ताकि दुकानदार द्वारा ऊपर ही ऊपर सजाया हुआ माल ही केवल हमारे हाथ न लगे क्योंकि वह माल सम्पूर्ण ढेर या बोरे में रक्खे हुए माल का उचित प्रतिनिधित्व नहीं करेगा। अत: सावधानी की आवश्यकता है और इस कार्य में हम जितना सफल होंगे उतना ही माल खरीदने में हमें कम धोखा होगा। हलवाई अपनी मिठाई का सैम्पल चखाकर हमें मिठाइयों की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में विश्वास दिलाता है, चाय का दुकानदार चाय की कुछ पत्ती सैम्पल के रूप में देकर उससे घर पर चाय बनाकर पीने का अनुरोध करता है, रेलगाड़ी के डिब्बों में कितने ही हॉकर (hawker) "माल खरीदिए या न खरीदिए, नमूना मुफ्त लीजिए" का नारा लगाते हैं, घर की गृहिणी खीर पकाकर उसमें मीठा ठीक है या नहीं इसके सम्बन्ध में निश्चिन्त होने के लिए उस सम्पूर्ण खीर में से एक-आध चम्मच निकालकर अपने प्रियतम को चखने का अनुरोध करती है। यही व्यावहारिक जीवन की निदर्शन-पद्धति है जिसका कि प्रयोग परिशुद्ध रूप में वैज्ञानिक शोध या अनुसन्धान रूप में किया जाता है। यह अध्याय उसी के विषय में है।

निदर्शन बनाम जनगणना-पद्धति
(Sampling *versus* Census Method)

अनुसन्धान-कार्य मोटे तौर पर दो पद्धतियों के आधार पर किया जा सकता है यदि हम केवल अध्ययन-विषय की जनसंख्या या इकाइयों को ही पद्धति के चुनाव का

आधार बनाएँ। ये दो पद्धतियाँ जनगणना-पद्धति और निदर्शन-पद्धति हैं। जनगणना-पद्धति (Census Method) में हम अपने अध्ययन-विषय के अन्तर्गत आने वाली समस्त जनसंख्या या इकाइयों का अध्ययन करके ही अपना निष्कर्ष निकालते हैं। उदाहरणार्थ यदि हमें किसी स्कूल या कॉलेज के विद्यार्थियों की आर्थिक स्थिति का पता लगाना है तो उस शिक्षा संस्था में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थियों से पूछताछ करके हम आवश्यक सूचनाएँ एकत्रित करेंगे और उसी के आधार पर उनकी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में अपना निष्कर्ष निकालेंगे। यह जननणना-पद्धति है क्योंकि शिक्षा संस्था के सभी विद्यार्थियों का अध्ययन किया गया है। पर आधुनिक अनुसन्धानों में इस पद्धति का प्रयोग बहुत कम किया जाता है क्योंकि आधुनिक अनुसन्धानों के क्षेत्र प्रायः विस्तृत होते हैं और इस विशाल क्षेत्र की समस्त जनसंख्या व इकाइयों का अध्ययन करने के लिए अत्यधिक समय, पूँजी तथा प्रशिक्षित अनुसन्धानकर्त्ताओं की आवश्यकता होती है जो कि साधारणतया उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। सीमित समय व पूँजी और अल्पसंख्यक कार्यकर्त्ताओं को लेकर अध्ययन निदर्शन-पद्धति के द्वारा ही सबसे उपयुक्त माना जाता है क्योंकि इसमें अध्ययन-विषय के अन्तर्गत आने वाली सम्पूर्ण जन-संख्या या सभी इकाइयों का अध्ययन नहीं किया जाता बल्कि समग्र में से कुछ ऐसी इकाइयाँ चुन ली जाती हैं जिनमें समस्त इकाइयों की आधारभूत विशेषताएँ विद्यमान हों। ऐसा करने से अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान समग्र में न बँटकर कुछ पर केन्द्रित हो जाता है और कम समय, पूँजी तथा कार्यकर्त्ताओं की सहायता से कितने विस्तृत क्षेत्र वाले अध्ययन-विषय का गहन अध्ययन सम्भव होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में और कुछ विवेचना करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक होगा कि निदर्शन का वास्तविक तात्पर्य क्या है।

निदर्शन का अर्थ
(Meaning of Sampling)

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि **समग्र में से चुने गए ऐसे "कुछ" को जोकि समग्र का उचित प्रतिनिधित्व करता है निदर्शन कहते हैं।** इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि निदर्शन किसी भी चीज या समूह का सम्पूर्ण भाग या समस्त इकाइयाँ नहीं होती हैं अपितु उस समग्र का एक छोटा भाग या केवल कुछ इकाइयाँ ही होती हैं, पर समग्र का कोई भी कुछ इकाई निदर्शन नहीं है जब तक कि ये कुछ इकाइयाँ समग्र की आधार-भूत विशेषताओं का उचित प्रतिनिधित्व न करें। इस अर्थ में समग्र का उचित प्रति-निधित्व करने वाली कुछ इकाइयों को निदर्शन कहा जाता है। सर्वश्री गुड एवं हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है, "एक निदर्शन जैसा कि नाम से स्पष्ट है किसी विशाल सम्पूर्ण का छोटा प्रतिनिधि है।"[1]

श्रीमती यंग के अनुसार, "एक सांख्यिकीय निदर्शन उस सम्पूर्ण समूह अथवा योग का एक अति लघु चित्र है जिसमें से कि निदर्शन लिया गया है।"[2]

1. "A sample, as the name implies, is a smaller representation of a large whole."—William J. Goode & Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company, Inc., New York, 1952, p. 209.

2. "A statistical sample is a miniature picture or cross section of the entire group or aggregate from which the sample is taken."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 302.

श्री फ्रैंक याटन (Frank Yaton) के शब्दों में, "निदर्शन शब्द का प्रयोग केवल किसी समग्र चीज की इकाइयों के एक सेट या भाग के लिए किया जाना चाहिए जिसे इस विश्वास के साथ चुना गया है कि वह समग्र का प्रतिनिधित्व करेगा।"[3]

निदर्शन-प्रविधि क्या है ?
(What is Sampling Technique ?)

उपरोक्त विवेचना के आधार पर निदर्शन-प्रविधि का अर्थ भी बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। हम कई बार लिख चुके हैं कि निदर्शन-प्रविधि अनुसन्धान की वह प्रविधि है जिसमें अनुसन्धान-विषय के अन्तर्गत सम्मिलित सम्पूर्ण जनसंख्या या इकाइयों में से सावधानीपूर्वक कुछ ऐसी इकाइयों को चुन लेना है जो कि सम्पूर्ण की आधारभूत विशेषताओं का उचित प्रतिनिधित्व कर सकें।

श्री वाई० डी० केसकर (Y. D. Keskar) के अनुसार, "निदर्शनात्मक अनुसन्धान में हम समग्र समूह के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि संकलित तथ्य जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाले गए हैं समग्र के केवल एक भाग से सम्बन्धित होता है।"[4]

श्री बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में, "निदर्शन-प्रविधि एक पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार इकाइयों के एक समूह में से एक निश्चित प्रतिशत का चुनाव है।"[5]

श्री फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने अपनी **डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी** में मिलड्रेड पार्टन के शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "एक निश्चित संख्या में व्यक्तियों, मामलों या निरीक्षणों को एक समग्र विशेष में से निकालने की प्रक्रिया या पद्धति अथवा अध्ययन के हेतु एक समग्र समूह में से एक भाग को चुनना निदर्शन-पद्धति कहलाती है।"[6]

जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है निदर्शन-प्रविधि का केवल वैज्ञानिक अनुसन्धान में ही नहीं बल्कि रोज के व्यावहारिक जीवन में भी प्रयोग किया जाता है। श्री टिप्पेट (Tippett) ने ठीक ही लिखा है कि "बड़े समूह में से एक छोटा भाग लेने की विधि सामान्यतया भली प्रकार समझी और विस्तृत रूप में काम में लाई जाती है। गृहस्वामिनी दुकान पर पनीर खरीदने से पहले उसका एक टुकड़ा नमूने के रूप में लेगी और एक रुई धुनने वाला व्यक्ति केवल रुई के टुकड़े को देखकर ही उस रुई की

---

3. "The term sample should be reserved for a set of units or portion of an aggregate of material which has been selected in belief that it will be representative of the whole aggregate."—Frank Yaton.

4. "In the case of a sample enquiry we try to generalise in terms of the whole group though the facts assembled relate only to a part of it." —Y. D. Keskar.

5. "Sampling is the selection of certain percentage of a group of items according to a predetermined plan."—Bogardus, *Sociology*. p. 548.

6. "Sampling method is the process or method of drawing a definite number of individuals, cases, or observations from a particular universe, selecting part of a total group for investigation."—Fairchild, *Dictionary of Sociology*, p. 265.

पूरी गाँठ को खरीद लेगा।"[7] इस प्रविधि की लोकप्रियता के कारणों की विवेचना हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे। उससे पहले यहाँ निदर्शन के आधार को समझ लेना आवश्यक होगा।

निदर्शन के आधार
(Bases of Sampling)

सम्पूर्ण जनसंख्या में से केवल कुछ इकाइयों को चुनकर उसी को सम्पूर्ण का प्रतिनिधि किस प्रकार मान लिया जाए इसका आधार निम्नलिखित है—

(१) **सम्पूर्ण जनसंख्या की एकरूपता** (Homogeneity of Universe)—श्री लुण्डवर्ग (Lundberg) ने लिखा है कि यदि तथ्यों में अत्यधिक एकरूपता पाई जाती है अर्थात् सम्पूर्ण तथ्यों की विभिन्न इकाइयों में अन्तर बहुत कम है तो सम्पूर्ण में से कुछ या कोई इकाई समग्र का उचित प्रतिनिधित्व करेगी।[8] इसलिए यदि हमारा अध्ययन-विषय इस प्रकार का है कि उसकी विभिन्न इकाइयों में अधिक भिन्नताएँ नहीं हैं तो हम उनमें से अध्ययन के लिए जिन इकाइयों को चुनेंगे वे प्रतिनिधित्वपूर्ण होंगी और हमारा निदर्शन यथार्थ होगा। भौतिक चीजों में इस प्रकार की समानता बहुत-कुछ उत्पादन विधि में समानता होने के कारण देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा एक मिल में उत्पादित उस प्रकार के समस्त कपड़ों का उचित प्रतिनिधित्व कर सकता है अथवा घर में पकी हुई सब्जी की एक प्लेट सम्पूर्ण सब्जी की उत्तमता या अधमता का परिचायक हो सकती है। परन्तु सामाजिक घटनाओं या अध्ययन-विषयों में इस प्रकार की समानताओं की आशा नहीं की जा सकती। श्री स्टीफॉन (Stephan) ने लिखा है कि आधुनिक बड़े समाजों में विभिन्न प्रजाति, राष्ट्र, धर्म, आर्थिक स्थिति, पेशा, प्रथा-परम्परा, मनोवृत्तियों तथा रुचियों के लोग इतना अधिक घुले-मिले रहते हैं कि उनमें समानता का दर्शन नहीं होता है। इसके विपरीत जीवन के प्रत्येक पक्ष में विविधताओं का ही बोलवाला होता है और एक-दूसरे को अलग करना कठिन होता है। इस प्रकार के स्पष्ट विभाजनों के प्रभाव से ऐसे निदर्शन का चुनाव जटिल हो जाता है जो कि समुदाय में विद्यमान समस्त विविधताओं का प्रतिनिधित्व कर सके।[9] अतः निदर्शन के चुनाव में हमें अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिए ताकि इन विविधताओं में अन्तर्निहित एकरूपता को ढूँढ़ा

7. "The practice of taking a small part of a large bulk to represent the whole is fairly generally understood and widely used. The house-wife will sample a piece of cheese at the shop before making a purchase, and a cotton-spinner will buy a bale of cotton having seen only a sample of it." —Tippett.

8. "If the data are highly homogeneous, that is, if the differences between the various items composing the whole body of data are negligible, then any item or group of items is representative of the whole."—George A. Lundberg, *Social Research*, Longmans Green & Co., New York, p. 135.

9. "This clustering by race, religion, nationality, economic status, occupation, and by many attitudes and preferences, is such that no cluster is quite like the entire community, and consequently no one cluster can represent it accurately...........This lack of clear cut divisions complicates the selection of a sample which will be representative of all the varieties present in the community."—*Ibid.*, p. 136.

जा सके और हमारा निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण हो। निदर्शन-प्रविधि इस मान्यता पर आधारित है कि विविधताओं के बीच समानताओं को भी सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में खोजा जा सकता है।

(२) **प्रतिनिधि चुनाव की सम्भावना** (Possibility of Representative Selection)—निदर्शन-प्रविधि में यह स्वीकार किया जाता है कि सम्पूर्ण में से कुछ इकाइयों को इस प्रकार चुना जा सकता है कि वे सम्पूर्ण का प्रतिनिधित्व कर सकें। पर इसके लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, किसी विशाल समूह से केवल एक या दो इकाइयों के चुन लेने से ही उस समूह के बारे में हमारा निष्कर्ष प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं होगा। निदर्शनों की संख्या समूह की विशालता के अनुसार होनी चाहिए। उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि किसी विशेष गुण या गुण-समूह के आधार पर सम्पूर्ण समूह को कुछ निश्चित वर्गों में विभाजित कर लिया जाए और प्रत्येक वर्ग की कुछ इकाइयों को यदि चुन लिया जाए तो इस प्रकार चुनी हुई सभी इकाइयों के लिए समग्र समूह की आधारभूत विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करना सम्भव होगा।

(३) **लगभग सही होना** (Approximate Accuracy)—कोई भी निदर्शन चाहे वह कितनी ही सावधानी से क्यों न चुना गया हो, सम्पूर्ण का शतप्रतिशत प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। इसलिए निदर्शन में परिपूर्ण परिशुद्धता लाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि निदर्शन यथासम्भव प्रतिनिधित्वपूर्ण हो। यह यथासम्भव प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन वास्तविक स्थिति का एक लगभग चित्र होगा और हमारा निष्कर्ष भी लगभग ठीक होगा। सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में हमें इस लगभग निष्कर्ष से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता है क्योंकि व्यवहारतः शतप्रतिशत सही निष्कर्ष सम्भव नहीं है।

उदाहरणार्थ, यदि किसी कॉलिज के २०० विद्यार्थियों का अध्ययन निदर्शन-प्रविधि द्वारा किया गया और पता चला कि ७ प्रतिशत विद्यार्थी क्लास से भाग जाने के आदी हैं, जबकि उस कॉलिज के समस्त विद्यार्थियों की जाँच करके यदि यह पता चले कि यह प्रतिशत ६·४ अथवा ७·३ है तो भी हमारे निष्कर्षों पर कोई बहुत बड़ा प्रभाव नहीं पड़ता है और इस प्रकार थोड़े-बहुत अन्तर के लिए प्रत्येक समाज-वैज्ञानिक को प्रस्तुत रहते भी निदर्शन-प्रविधि को अपनाना चाहिए

उत्तम या प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन की आवश्यक विशेषताएँ
(Essential Characteristics of a Good or Representative Sample)

सामाजिक घटनाओं के बारे में हमारा निष्कर्ष उतना ही यथार्थ होगा जितना कि उत्तम हमारा निदर्शन होगा। अतः निदर्शन का उत्तम होना अध्ययन की सफलता व यथार्थता दोनों के लिए आवश्यक है। एक उत्तम निदर्शन की आवश्यक विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण हो** (A Sample should be Representative)—उत्तम निदर्शन की पहली आवश्यक व महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि निदर्शन को समग्र का उचित व सही प्रतिनिधि होना चाहिए। यद्यपि निदर्शनों का चुनाव विभिन्न ढंग से किया जा सकता है फिर भी हर अवस्था में प्रधान उद्देश्य प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन का चुनाव करना है। श्री लुण्डबर्ग (Lundberg) के मतानुसार निदर्शन का प्रतिनिधित्वपूर्ण होना या न होना दो बातों पर निर्भर है—प्रथम तो यह कि

अध्ययन-विषय के तथ्यों में किस मात्रा में एकरूपता पाई जाती है और दूसरा यह कि निदर्शन के चुनाव में किस प्रणाली को अपनाया गया है।[10] प्रतिनिधि निदर्शन प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण जनसंख्या के अन्तर्गत पाए जाने वाले विभिन्न समूहों का ध्यान रखें और उन्हें अपने निदर्शन में उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करें। साथ ही साथ निदर्शन के चुनाव की उपयुक्त प्रणाली को, अध्ययन-विषय की प्रकृति के अनुसार, अपनाने की भी आवश्यकता है।

(२) **पर्याप्त आकार** (Adequate size of Sample)—यद्यपि निदर्शन का आकार निदर्शन के प्रतिनिधित्वपूर्ण होने की कोई गारण्टी नहीं है, फिर भी एक निश्चित सीमा के बाद उसके प्रतिनिधित्वपूर्ण होने की सम्भावना निश्चय ही कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पाँच हजार श्रमिकों के किसी अध्ययन में हम केवल पाँच श्रमिकों को अपने निदर्शन के रूप में चुनते हैं तो हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे पाँच श्रमिक पाँच हजार श्रमिकों की आधारभूत विशेषताओं का उचित प्रतिनिधित्व करने में समर्थ होंगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि निदर्शन का आकार कम-से-कम इतना हो कि उससे यथार्थ परिस्थिति का सही मूल्यांकन सम्भव हो सके। पर इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि निदर्शन का आकार जितना ही बड़ा होगा वह उतना ही उत्तम तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण होगा। इसके लिए यह भी जरूरी है कि निदर्शन का चुनाव उपयुक्त तरीके से किया गया हो। श्रीमती यंग ने उचित ही लिखा है, "निदर्शन का आकार उसकी प्रतिनिधित्वता की कोई आवश्यक गारण्टी नहीं है। सापेक्षिक रूप में उसी प्रकार से चुने गए छोटे निदर्शन अनुपयुक्त तरीके से चुने हुए बड़े निदर्शनों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हो सकते हैं।"[11]

(३) **पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव से स्वतन्त्र** (Free from Prejudice and Bias)—उत्तम निदर्शन के लिए यह भी आवश्यक है कि वह सर्वप्रकार से पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव से स्वतन्त्र हो। अक्सर ऐसा होता है कि निदर्शन का चुनाव करते समय हम समग्र जनसंख्या में से कुछ उल्लेखनीय, रोचक और आकर्षक इकाइयों को या उन इकाइयों को जो कि हमारे अपने मनोभाव व आदर्श के अनुरूप हैं चुन लेते हैं। परन्तु इस प्रकार चुने गए निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि अपने पक्षपात व मिथ्या-झुकाव के कारण हो सकता है कि हम कुछ महत्त्वपूर्ण इकाइयों को न चुनें और कुछ महत्त्वहीन इकाइयों को केवल इसलिए चुन लें कि वे हमारी पसन्द के अनुकूल हैं। दोनों ही दशाओं में हमारा निदर्शन वास्तविक स्थिति के साथ हमारा परिचय करवाने में सफल नहीं हो सकता। अतः निदर्शन का पक्षपात व मिथ्या-झुकाव से स्वतन्त्र होना आवश्यक है।

निदर्शन में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव के समावेश के साधारणतया निम्न कारण हो सकते हैं—(अ) यदि हम निदर्शन का चुनाव करते समय किसी भी विशिष्ट इकाई को चुनने के सम्बन्ध में कोई पूर्वधारणा बना लेते हैं तो उसमें पक्षपात या मिथ्या-झुकाव स्वतः ही आ जाता है। (ब) निदर्शन के चुनाव में यदि अनुसन्धानकर्त्ता

---

10. "The degree to which the assumption that part of the data is representative of the whole is valid will be determined by two considerations, namely, (1) the nature of the data observed, and (2) the method employed in selecting them."—*Ibid.*, p. 135.

11. "The size of a sample is no necessary insurance of its representativeness. Relatively small samples properly selected may be much more reliable than large sample poorly selected."—Pauline V. Young, *op. cit.*, p. 302.

या और किसी का कोई स्वार्थ छिपा हुआ है तो भी निदर्शन पक्षपातपूर्ण होगा क्योंकि इस प्रकार के चुनाव में यह सचेत रूप में ध्यान रक्खा जाएगा कि कहीं स्वार्थों को आघात न पहुँचे। (स) कभी-कभी असचेत रूप में भी अनुसन्धानकर्त्ता पक्षपात को स्थान दे बैठता है और ऐसा तब होता है जबकि कोई विशिष्ट धारणा, मूल्य या आदर्श अनुसन्धानकर्त्ता के लिए विशिष्ट महत्त्व का होता है। (द) जब अनुसन्धानकर्त्ता को यह पता लग जाता है कि किसी इकाई से सूचना प्राप्त करने में उसे अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा तो उस कठिनाई से बचने के लिए वह महत्त्वपूर्ण इकाइयों को भी छोड़कर ऐसी इकाइयों को वह अपने निदर्शन में सम्मिलित कर लेता है जिनसे सूचना प्राप्त करना सुलभ है। (य) चुने हुए सम्पूर्ण निदर्शन से जब अध्ययन के लिए आवश्यक पूर्ण सूचनाएँ प्राप्त नहीं होती हैं तब अनुसन्धानकर्त्ता पक्षपात को स्थान दे बैठता है। उदाहरणार्ण, यदि भेजी गई सभी प्रश्नावलियाँ भर-कर वापस नहीं आईं तो उस स्थिति में अनुसन्धानकर्त्ता अपनी पसन्द-नापसन्द, मूल्य और पूर्वधारणा के अनुसार स्वयं शेष प्रश्नावलियों को भर लेने का प्रयत्न करता है। (र) अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं कभी-कभी अपने व्यक्तित्व में जड़ पकड़े हुए किसी गुण के दबाव से भी पक्षपात को स्थान दे देता है। उदाहरणार्थ, यदि उसे चाय पीने की अत्यधिक आदत है तो वह चाय पीने वालों को अपने निदर्शन में अवश्य स्थान दे देगा चाहे सम्पूर्ण जनसंख्या में उनका प्रतिशत कितना ही कम क्यों न हो। (ल) विशिष्ट प्रकार के पुरुष या स्त्री का नाम देखकर, किसी उच्च स्थिति वाले व्यक्ति को या अपने किसी विशेष मित्र को देखकर उसे भी निदर्शन में सम्मिलित करने की गलती अनुसन्धानकर्त्ता कर सकता है चाहे अध्ययन में उनका कोई महत्त्व भले ही न हो। किस सीमा तक निदर्शन इस प्रकार के सभी पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (bias) से परे है इस बात की जाँच के आधार पर ही हम निदर्शन की विश्वसनीयता को माप सकते हैं।

(४) निदर्शन अध्ययन-विषय के उद्देश्य के अनुकूल हो (Conformity to the Aims of Study)—एक उत्तम निदर्शन की यह भी पहचान है कि वह अध्ययन-विषय के अन्तर्निहित उद्देश्य के अनुकूल हो। इस अनुकूलता के आधार पर ही निदर्शन की विश्वसनीयता की माप की जा सकती है। उदाहरणार्थ, यदि अनु-सन्धान का उद्देश्य एक कॉलेज में विद्यार्थी-वर्ग में व्याप्त सिनेमा देखने की आदत के कारणों को जानना है तो हमें अपने निदर्शन में उन्हीं विद्यार्थियों को सम्मिलित करना होगा जो कि सिनेमा देखने के आदी हैं। उन्हें निदर्शन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता जो कि सिनेमा नहीं देखते हैं चाहे वे विद्यार्थी-वर्ग के कितने ही अच्छे या कितने ही बुरे अंग का प्रतिनिधित्व क्यों न करते हों। निदर्शन अध्ययन-विषय के उद्देश्य के अनुकूल होने पर अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान व्यर्थ में इधर-उधर भटक नहीं जाता और निष्कर्षों के यथार्थ होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

(५) सामान्य ज्ञान तथा तर्क पर आधारित (Based on General Know-ledge and Logic)—एक अच्छे निदर्शन की यह भी विशेषता है कि वह सामान्य ज्ञान एवम् तर्क पर निर्भर हो। केवल अन्धों की भाँति नियमों का पालन करके निदर्शन का चुनाव करने से ही वह आदर्श चुनाव नहीं बन जाता। नियमों के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि अनुसन्धानकर्त्ता निदर्शन के चुनाव में अपने सामान्य ज्ञान को भी काम में लगाए जिससे कि जनसंख्या की प्रमुख विशेषताओं के सम्बन्ध में उसे मालूम हो और उसी आधार पर निदर्शनों का उचित चुनाव किया जा सके।

(६) **व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित** (Based on Practical Experiences)—एक उच्चस्तरीय निदर्शन सदैव व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित होता है क्योंकि इसके विना वह पूर्णतया प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो सकता। कोई भी नौसिखिया प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों का चुनाव सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। इसके लिए पर्याप्त अनुभवों की आवश्यकता है। ये अनुभव अध्ययन-विषय की प्रकृति के सम्वन्ध में एक अन्तर्दृष्टि को पनपाने में सहायक होते हैं और यह अन्तर्दृष्टि प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों के चुनाव में अत्यन्त मदद करती है। सब व्यक्ति चावल का नमूना देखकर अच्छा चावल नहीं खरीद सकते। उसके लिए तो व्यावहारिक अनुभव की आवश्यकता है। उसी प्रकार उत्तम निदर्शन भी व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित होता है।

निदर्शन-प्रविधि के लाभ
(Advantages of Sampling Technique)

निदर्शन-प्रविधि की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन वढ़ती जा रही है क्योंकि आधुनिक विशाल व जटिल समाज व समुदायों के अध्ययन में जनगणना-पद्धति (Census Method) अत्यन्त असुविधाजनक है और उसमें धन तथा समय दोनों ही वहुत लगते हैं। इसके विपरीत निदर्शन-प्रविधि के निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) **समय की बचत** (Saving of Time)—निदर्शन-प्रविधि का तात्पर्य ही यह है कि हम सम्पूर्ण जनसंख्या की सभी इकाइयों का अध्ययन न करके उनमें से केवल कुछ प्रतिनिधित्वपूर्ण इकाइयों का ही अध्ययन करते हैं। अतः स्वाभाविक रूप से अध्ययन में कम समय लगता है। समय की वचत तो प्रत्येक अनुसन्धान का ही एक गुण वन जाता है, पर कुछ सामाजिक सर्वेक्षण विशेष करके इस प्रकार के होते हैं जिनमें समय का कारक विशेष महत्त्व का होता है। उदाहरणार्थ, निर्वाचन के पहले किसी प्रतियोगी की जीत अथवा हार का पूर्वानुमान करने के लिए यदि कोई अध्ययन किया जा रहा है तो यह आवश्यक है कि अध्ययन का कार्य निर्वाचन आरम्भ होने से कहीं पहले समाप्त हो जाए। यदि ऐसा न हुआ तो उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाएगी। ऐसे अध्ययनों में निदर्शन-प्रविधि अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होती है।

(२) **धन की बचत** (Saving of Money)—समय की वचत का परिणाम धन की वचत भी होता है। जब कम संख्या में इकाइयों का अध्ययन करना पड़ता है तो स्टेशनरी, फाइल आदि खरीदने, कार्यकर्त्ताओं के वेतन, यात्रा-व्यय आदि पर कम खर्चा करना पड़ता है। सरकार की बात अलग है, पर व्यक्तिगत आधार पर आयोजित अनेक अनुसन्धान-कार्यों को धन के अभाव के कारण बीच में ही रोक देना पड़ता है। निदर्शन-प्रणाली में यह जोखिम न्यूनतम होती है। कम-से-कम खर्च करके अधिक-से-अधिक विश्वसनीय तथ्यों को एकत्रित करना केवल निदर्शन-प्रविधि के द्वारा ही सम्भव है।

(३) **अधिक गहन अध्ययन की सम्भावना** (Possibility of more intense Study)—जनगणना-पद्धति में अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान असंख्य इकाइयों में बिखर जाता है और इसीलिए उनका गहन अध्ययन सम्भव नहीं होता, केवल मोटी-मोटी बातों का पता लगाना ही सम्भव होता है। इसके विपरीत निदर्शन-प्रविधि में इकाइयों की संख्या पर्याप्त कम होती है। इसलिए अधिक समय तक तथा अधिक सूक्ष्म रूप से उनका अध्ययन तथा विवेचन किया जा सकता है। आधुनिक सामाजिक घटनाएँ

अधिक जटिल होती हैं अतः उन्हें समझने के लिए उनका सूक्ष्म अध्ययन ही एक मात्र तरीका होता है। निदर्शन-प्रविधि इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है क्योंकि इकाइयों की संख्या कम होने के कारण गहन अध्ययन सम्भव होता है।

(४) **निष्कर्षों की परिशुद्धता** (Accuracy of Results)—निदर्शन-प्रविधि के अन्तर्गत अनुसन्धानकर्त्ता का ध्यान कुछ निश्चित इकाइयों पर केन्द्रित होने के कारण वह उनके सम्बन्ध में गहन अध्ययन करके अधिक यथार्थ निष्कर्षों को निकाल सकता है। यदि निदर्शनों का चुनाव ठीक से किया गया तो उसके आधार पर होने वाले अध्ययनों के निष्कर्ष जनगणना-पद्धति की सहायता से किए गए अध्ययनों के निष्कर्षों से कहीं अधिक यथार्थ होते हैं। अमरीका की **फारचून** पत्रिका ने एक बार प्रेसीडेण्ट के चुनाव में विभिन्न प्रत्याशियों के जीतने की सम्भावना ज्ञात करने के लिए निदर्शन-प्रविधि की सहायता से सर्वेक्षण करके जो निष्कर्ष निकाला था उसकी यथार्थता आज भी लोगों को अचम्भे में डालती है।

(५) **प्रशासनिक सुविधा** (Administrative Convenience)—निदर्शन-प्रविधि में अनुसन्धान-कार्य को संगठित करने में भी पर्याप्त सुविधा होती है। यह सुविधा दो कारणों से हमें प्राप्त होती है—एक तो यह है कि निदर्शन-प्रविधि के अन्तर्गत इकाइयों की संख्या कम होती है और इसीलिए हमें कम संख्या में कार्यकर्त्ताओं को नियुक्त करना पड़ता है और इनकी संख्या कम होने से इनको काम में लगाने और इनके ऊपर निगरानी रखने में काफी आसानी होती है। दूसरी बात यह है कि निदर्शन-प्रविधि में हमें अल्प-संख्यक लोगों से सूचना एकत्रित करनी पड़ती है और इसलिए सूचना एकत्रित करने से सम्बन्धित परेशानी का सम्पूर्ण भार (total burden) कम हो जाता है। सूचनादाताओं की अपनी सुविधा के अनुसार उनसे उनकी सूचना एकत्रित करना कठिन काम है, पर सौ सूचनादाताओं से सूचना एकत्रित करने में परेशानी की जो मात्रा होगी वह निःसन्देह ही निदर्शन-प्रविधि के अन्तर्गत केवल १० सूचनादाताओं से कहीं अधिक होगी।

(६) **अन्य लाभ** (Other Advantages)—कभी-कभी सामाजिक अनुसन्धान में जनगणना-पद्धति का प्रयोग भी इसीलिए नहीं हो पाता कि अध्ययन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और भौगोलिक दृष्टि से लोग इतने अधिक बिखरे हुए हैं कि प्रत्येक व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित नहीं किया जा सकता; ऐसी दशा में केवल निदर्शन-प्रविधि ही एक मात्र उपाय रह जाती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जिनके बारे में हमें अध्ययन करना है उनमें से सबका पता हमें मालूम नहीं हो पाता है जैसे किसी वस्तु के उपभोक्ताओं के नाम व पता। ऐसी स्थिति में निदर्शन-प्रविधि के द्वारा ही अध्ययन किया जा सकता है।

निदर्शन-प्रविधि के दोष अथवा सीमाएँ
(Demerits or Limitations of Sampling Technique)

यह सच है कि निदर्शन-प्रविधि के कई गुण व लाभ हैं, पर साथ ही यह प्रविधि पूर्णतया दोषरहित भी नहीं है। क्योंकि इसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं जिनको कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) **पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव की सम्भावना** (Possibility of Prejudice and Bias)—निदर्शन-प्रविधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि निदर्शन का चुनाव पक्षपात व मिथ्या-झुकाव रहित नहीं हो पाता है। निदर्शनों का चुनाव करते

समय किसी-न-किसी रूप में इन दोनों तथ्यों का प्रवेश हो ही जाता है। जिनके फल-स्वरूप चुने हुए निदर्शन पूर्णतया प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो पाते हैं या उनका अध्ययन करने से सम्पूर्ण जनसंख्या की आधारभूत विशेषताओं का पता ठीक-ठीक नहीं चल पाता है और हमारा निष्कर्ष भ्रमपूर्ण हो जाता है।

(२) **प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन के चुनाव में कठिनाई** (Difficulty in selecting Representative Samples)—निदर्शन-प्रविधि का दूसरा दोष यह है कि प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों को चुनना स्वयं ही एक कठिन कार्य है। निदर्शन का प्रतिनिधित्वपूर्ण होना या न होना अनेक बातों पर निर्भर है और ये सभी बातें अनुसन्धानकर्त्ता के अनुकूल हों—यह बहुत कम देखा जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई तो इसलिए होती है कि सामाजिक इकाइयों में भिन्नता और विविधता बहुत अधिक होती है और ये भिन्नताएँ व विविधताएँ जितनी अधिक होंगी प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन का चुनाव उतना ही कठिन हो जाता है। निदर्शन का प्रतिनिधित्वपूर्ण होना या न होना निदर्शन-चुनाव की पद्धति पर भी निर्भर करता है। यदि उपयुक्त प्रविधि को चुनने में कोई भी गलती हुई तो निदर्शन भी प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो पाता है।

(३) **विशेष ज्ञान की आवश्यकता** (Special Knowledge needed)—ऊपरी तौर पर 'निदर्शन' शब्द अत्यन्त सरल प्रतीत होता है, पर सामाजिक घटनाओं में निदर्शनों के चुनाव का काम उतना ही कठिन होता है और इस काम के लिए विशेष ज्ञान, सूझ-बूझ, अनुभव तथा अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है और ये सभी गुण प्रत्येक अनुसन्धानकर्त्ता में समान रूप में हों ऐसी आशा कम ही होती है। इसीलिए केवल विशेष योग्य तथा अनुभवशील अनुसन्धानकर्त्ता ही इस प्रविधि को पूर्ण सफलता के साथ काम में लगा सकते हैं।

(४) **निदर्शन पर कायम रहने में कठिनाई** (Difficulty in sticking to Samples)—प्रायः यह देखा जाता है कि निदर्शन-प्रविधि के अन्तर्गत कम इकाइयों के आधार पर निष्कर्ष निकालने में अनुसन्धानकर्त्ता को कठिनाई होती है। निदर्शन-प्रविधि की यह माँग है कि जिन इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुना गया है केवल उन्हीं का अध्ययन किया जाए। पर व्यवहारतः यह हो सकता है कि इन चुनी हुई इकाइयों से भौगोलिक दूरी, पर्दा प्रथा, अति उच्च सामाजिक या राजनैतिक स्थिति आदि के कारण सूचना प्राप्त करने के लिए सम्पर्क स्थापित करना कठिन हो जाता है। फलतः चुनी हुई इकाइयों पर दृढ़ता से टिके रहना कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों से सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता है उन्हें या तो अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन से निकाल देता है या उनके स्थान पर और किसी को चुन लेता है जो कि हो सकता है कि प्रतिनिधित्वपूर्ण न हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि निदर्शन के रूप में चुने हुए कई लोग सूचना देने से जान-बूझकर इनकार कर देते हैं। उस अवस्था में भी मूल निदर्शन पर कायम रहना कठिन हो जाता है।

(५) **निदर्शन-प्रविधि की असम्भवता** (Impossibility of Sampling Technique)—जिस प्रकार किन्हीं-किन्हीं विषयों का अध्ययन जनगणना-पद्धति की सहायता से करना असम्भव हो जाता है, उसी प्रकार कुछ विषयों के अध्ययन में निदर्शन-प्रविधि बेकार सिद्ध होती है। यदि अध्ययन का विषय बहुत छोटा है तो उसकी प्रत्येक इकाई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकती है और उस अवस्था में सभी इकाइयों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण अध्ययन-विषय की

इकाइयों में अत्यधिक भिन्नता है, तो भी निदर्शन-प्रविधि के द्वारा अध्ययन से यथार्थ निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। ऐसी दशाओं में जनगणना-पद्धति का ही प्रयोग करना पड़ता है।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि यदि अध्ययन-क्षेत्र अधिक विशाल है, अनुसन्धानकर्त्ताओं की कमी है, समय का अभाव है, धन की कमी है और औसत निष्कर्ष से भी हमारा काम चल सकता है तो निदर्शन-प्रविधि ही सर्वाधिक उपयुक्त पद्धति होती है। उपर्युक्त सीमाओं या दोषों के होने पर भी निदर्शन-प्रविधि के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

निदर्शन-चुनाव के प्रमुख चरण
(Main Steps in Sampling Procedure)

यद्यपि निदर्शन-चुनाव के तरीके या प्रविधियाँ कई प्रकार की हैं फिर भी निदर्शन-चुनाव की सम्पूर्ण प्रक्रिया के कुछ प्रमुख चरण ऐसे हैं जो कि प्रत्येक प्रणाली में समान होते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सैम्पल-चुनाव के कुछ आधारभूत सिद्धान्त ऐसे हैं जिनका उपयोग एक क्रम से सभी पद्धतियों में समान रूप से किया जाता है। निदर्शन के चुनाव की प्रक्रिया के ये प्रमुख चरण निम्नलिखित हैं—

(१) **समग्र को निश्चित करना** (Determination of Universe)—निदर्शनों का चुनाव करने से पूर्व सबसे पहले अनुसन्धानकर्त्ता को उन समग्र इकाइयों का निर्धारण करना पड़ता है जिनमें से कि उसे कुछ इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुनना है। यदि ये इकाइयाँ किसी समुदाय में रहने वाली जनसंख्या है तो उसका निर्धारण सरलता से हो सकता है क्योंकि प्रत्येक समुदाय के निवासी एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में ही निवास करते हैं। जैसे अभी हमें किसी शहर के निवासियों की आर्थिक दशा का अध्ययन करना है तो हम उस नगर की समग्र जनसंख्या को जान सकते हैं और उसी आधार पर यह निर्धारित कर सकते हैं कि हमें किस प्रकार से निदर्शन चुनने हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि यह समग्र जनसंख्या न होकर कोई गुण, क्रिया अथवा घटना होती है और उस अवस्था में समग्र का निर्धारण करना कुछ कठिन हो जाता है क्योंकि इनके बहुत जल्दी घटने-बढ़ने की सम्भावना हो सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि समग्र का निर्धारण उसके प्रकारों (kinds) पर निर्भर करता है। ये प्रकार निम्नलिखित होते हैं—(अ) **निश्चित समग्र**—जब समग्र के अन्तर्गत आने वाली सभी इकाइयों को पूर्णतया निश्चित किया जा सकता है तो उसे समग्र इकाई कहते हैं जैसे किसी नगर, मुहल्ले व गाँव में रहने वाले निवासी अथवा किसी स्कूल व कॉलेज में पढ़ने वाले विद्यार्थी। (ब) **अनिश्चित समग्र**—जब समग्र की इकाइयों को ठीक-ठीक से निश्चित नहीं किया जा सकता तो उसे अनिश्चित समग्र कहते हैं। यह अनिश्चितता समग्र की इकाइयों में परिवर्तनशीलता के कारण या अज्ञात होने के कारण उत्पन्न हो सकती है जैसे स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या प्रतिवर्ष बदलने के कारण अनिश्चित है उसी प्रकार विनाका टूथ पेस्ट को इस्तेमाल करने वाले सभी लोगों का पता लगना कठिन होने का कारण वह भी अनिश्चित है। (स) **वास्तविक समग्र**—जब समग्र की वास्तविक संख्या ज्ञात हो तो उसे वास्तविक समग्र कहते हैं जैसे एक कॉलेज में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या। (द) **काल्पनिक समग्र**—जब समग्र की वास्तविक संख्या मालूम नहीं है और उसे केवल अनुमान के

आधार पर मालूम कर लिया जाता हो तो उसे काल्पनिक समग्र कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी नगर की जनसंख्या जानने के पश्चात् विभिन्न आयु के लोगों का अनुमान लगाना काल्पनिक समग्र का ही उदाहरण है।

(२) निदर्शन की इकाई का निर्धारण (Determination of Sampling Unit)—समग्र को निश्चित करने के पश्चात् निदर्शन-चुनाव की दिशा में दूसरा चरण निदर्शन की इकाइयों का निर्धारण है। इसका तात्पर्य यह है कि निदर्शन चुनने से पहले हमें यह निश्चित करना होता है कि हमें किन-किन चीजों से निदर्शन की इकाइयों को चुनना है। यदि हम किसी मानव-समूह के बारे में अध्ययन कर रहे हैं तो यह जरूरी नहीं है कि केवल कुछ व्यक्ति ही हमारी निदर्शन की इकाई बन सकते हैं। व्यक्तियों के अतिरिक्त जिन मुहल्लों में वे रहते हैं, जिन पेशों को वे अपनाए हुए हैं, जिस परिवार के वे सदस्य हैं या जिस प्रकार के वे मकानों में रहते हैं इनमें से प्रत्येक की कुछ-कुछ इकाइयाँ निदर्शन की इकाइयाँ हो सकती हैं और व्यावहारिक रूप में होती भी हैं। श्री पार्टन (Parten) ने उचित ही लिखा है कि "सर्वेक्षणकर्त्ताओं को प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि जब तक वे मनुष्य के सम्बन्ध में अध्ययन कर रहे हैं तब तक केवल व्यक्ति ही उनके निदर्शन की इकाई हो सकता है। परन्तु वास्तव में बहुत थोड़े अनुसन्धान व्यक्ति को इकाई मानकर किए गए हैं।"[12] अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के अलावा भी निदर्शन के अन्य प्रकार की इकाइयाँ हो सकती हैं—जैसे भौगोलिक इकाई (एक राज्य, जिला, नगर, वार्ड, क्षेत्र आदि), भवन सम्बन्धी इकाई (घर, कोठी, बंगला, क्वार्टर, फ्लैट (Flat) आदि), सामाजिक समूह की इकाई (परिवार, स्कूल, क्लब, चर्च आदि)। इकाई का प्रकार कुछ भी हो इनका निर्धारण करते समय यह देख लेना जरूरी है कि इनमें निम्नलिखित लक्षण हैं या नहीं। एक आदर्श निदर्शन की इकाई के निम्नलिखित गुण या लक्षण होते हैं—(अ) इकाई स्पष्ट, भ्रमरहित तथा सुनिश्चित होनी चाहिए। उदाहरणार्थ एक धूर्त व्यक्ति उत्तम इकाई नहीं है क्योंकि धूर्तता की धारणा अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकती है। (ब) दूसरी बात यह है कि इकाई अध्ययन-विषय के अनुकूल होनी चाहिए; उदाहरणार्थ यदि संयुक्त परिवार का अध्ययन किया जा रहा है तो परिवार सबसे उपयुक्त इकाई होगा। (स) इकाई प्रामाणिक होनी चाहिए क्योंकि ऐसी इकाइयों के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना न्यूनतम होती है, पर यदि बिलकुल नई इकाई का प्रयोग किया जा रहा है तो उसके अर्थ का स्पष्टीकरण कर देना चाहिए ताकि पाठक-वर्ग दुविधा में न पड़े। (द) इकाई ऐसी होनी चाहिए जिसके साथ सम्पर्क स्थापित करना सुविधाजनक हो।

(३) इकाइयों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के साधन-सूची को उपलब्ध करना (To make available the Sources List)—निदर्शन-चुनाव की दिशा में तीसरा चरण उस साधन-सूची को प्राप्त करना है जिसकी सहायता से समग्र की इकाइयों के बारे में हमें जानकारी हासिल हो सकती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वह सूची जिसमें समग्र की समस्त इकाइयों के बारे में सूचना रहती है उसे साधन-सूची कहते हैं और इसके बिना निदर्शन का चुनाव नहीं किया जा

---

12 "Surveyors have fallen into the error of thinking that as long as they are dealing with human population, the individual persons are the sampling unit. Actually, however, relatively few studies have used people as sampling unit."—Parten.

सकता है। कुछ साधन-सूची तो तैयार की-करायी मिलती है और कुछ को अनुसन्धान-कर्त्ता के द्वारा स्वयं तैयार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ अपने घर पर टेलीफोन रखने वाले सभी लोगों की सूची, नाम, पता आदि हमें 'टेलीफोन डाइरेक्टरी' से मिल सकता है, उसी प्रकार कार के मालिकों, मकान-मालिकों, आय-कर देने वाले लोगों की सूची और उनका विवरण हमें विभिन्न विभागीय दफ्तरों से तैयार प्राप्त हो सकता है। परन्तु किसी क्षेत्र में रहने वाली किसी विशेष जाति के सदस्यों की कोई तैयार सूची शायद ही हमें मिल सके इसलिए उसे तैयार करना पड़ता है। प्रायः सूची बहुत विस्तृत होती है तथा अनुसन्धानकर्त्ता को अपनी निदर्शन-प्रविधि के अनुसार सम्बन्धित इकाइयों को उनमें से छाँटना पड़ता है। यह साधन-सूची तभी वास्तव में उपयोगी सिद्ध हो सकती है जबकि उसमें निम्नलिखित गुण हों—(क) सूची सम्पूर्ण होनी चाहिए जिससे कि समग्र की समस्त इकाइयों का विवरण हमें उससे प्राप्त हो सके। (ख) वह सूची पुरानी नहीं होनी चाहिए जिससे कि उससे यथासम्भव हाल की (latest) सूचनाएँ प्राप्त हो सकें। (ग) सूची में इकाइयों के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना होनी चाहिए ताकि उन इकाइयों का वर्गीकरण विभिन्न वर्गों में किया जा सके। (घ) सूची में एक ही नाम बार-बार नहीं आना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कॉलेज के क्रियाकलापों में भाग लेने वाले विद्यार्थियों की सूची बनाई जाए तो एक ही विद्यार्थी का नाम कॉलेज में होने वाले कई क्रियाकलापों के साथ बार-बार आ सकता है—ऐसा न होने देना चाहिए। (ङ) सूची निदर्शन की इकाई के अनुकूल होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि परिवार को इकाई माना गया है तो व्यक्तिगत नामों की सूची बेकार रहेगी। (च) सूची विश्वसनीय होनी चाहिए अर्थात् इसे ऐसे विभाग या संस्था से प्राप्त करना चाहिए जिसपर विश्वास किया जा सके। उदाहरणार्थ, टेली-फोन डायरेक्टरी एक विश्वसनीय सूची है। (छ) सूची ऐसी होनी चाहिए कि वास्तव में अनुसन्धानकर्त्ता को वह उपलब्ध हो सके। उदाहरणार्थ, पुलिस विभाग के पास शहर के गुण्डों या सन्देहजनक चरित्र के लोगों की सूची रहती है, पर हो सकता है कि अनुसन्धानकर्त्ता को वह सूची देखने के लिए न दी जाए। उसी प्रकार बैंक में रुपये जमा करने वालों (depositors) की सूची मिलना भी बहुत कठिन होता है यद्यपि उनकी सूची बैंक वाले स्वयं रखते हैं। अतः ऐसी सूची से अनुसन्धानकर्त्ता की कोई भलाई नहीं हो सकती। सफल निदर्शन-चुनाव के लिए इन गुणों के सम्बन्ध में भी सचेत रहना आवश्यक होता है।

(४) **निदर्शन के आकार का निर्धारण** (Determination of the Size of Sample)—साधन-सूची का निर्माण हो जाने के पश्चात् चौथे चरण में अनुसन्धानकर्त्ता को निदर्शन का आकार निश्चित कर लेना पड़ता है। निदर्शन का आकार कितना बड़ा या छोटा होगा इस सम्बन्ध में कोई दृढ़ नियम नहीं हैं। उसका आकार बड़ा हो अथवा छोटा, वह विश्वसनीय और प्रामाणिक हो, इसी बात का ध्यान रक्खा जाता है। **निदर्शन के आकार का निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए** कि उसमें अध्ययन-विषय की सभी आधारभूत विशेषताओं का समावेश हो जाए। निदर्शन का आकार समग्र (universe) की प्रकृति, अनुसन्धान की प्रकृति, इकाइयों की प्रकृति, अध्ययन-पद्धति व प्रविधियाँ, निदर्शन-पद्धति, उपलब्ध साधन आदि बातों को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

(५) **निदर्शन-पद्धति का चुनाव** (Selection of Sample Method)—निदर्शन का आकार निर्धारित हो जाने के बाद निदर्शन-पद्धति का चुनाव निदर्शन-

प्रक्रिया का पांचवाँ चरण है। इस स्तर तक पहुँचते-पहुँचते समग्र (universe) की प्रकृति, निदर्शन की इकाइयों की प्रकृति, साधन-सूची की उपलब्धता तथा निदर्शन का आकार यह सब स्पष्ट हो जाता है। उसी के आधार पर अनुसन्धानकर्त्ता को यह निश्चित करना पड़ता है कि निदर्शन की कौनसी पद्धति सबसे उपयुक्त रहेगी। यह चुनाव बहुत ही सावधानी से करना पड़ता है ताकि निदर्शन सही अर्थ में प्रतिनिधित्व-पूर्ण (representative) हो।

(६) **निदर्शन का चुनाव (Selection of Sample)**—निदर्शन का चुनाव निदर्शन-प्रक्रिया का अन्तिम चरण है। जब निदर्शन-पद्धति का चुनाव कर लिया जाता है तो उसी पद्धति की सहायता से आवश्यक निदर्शनों को भी चुन लिया जाता है। वास्तव में उपयुक्त पद्धति की सहायता से विश्वसनीय, प्रामाणिक तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन का चुनाव ही सम्पूर्ण निदर्शन-प्रक्रिया का वास्तविक उद्देश्य है क्योंकि इसी पर सम्पूर्ण अध्ययन के निष्कर्षों की यथार्थता बहुत-कुछ निर्भर रहती है।

निदर्शन के प्रकार
(Types of Sampling)

निदर्शन-प्रविधि का तात्पर्य उस विधि से है जिसकी सहायता से प्रतिनिधित्व-पूर्ण निदर्शन का चुनाव किया जाता है। अध्ययन-निष्कर्षों की यथार्थता के लिए यह आवश्यक है कि निदर्शन समग्र का उचित प्रतिनिधित्व कर सके। इसलिए निदर्शन-चुनाव का काम मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता। इसके लिए सुनिश्चित प्रविधियों को अपनाना आवश्यक है। निदर्शन के चुनाव की ये प्रविधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) दैव निदर्शन
(Random Sampling)

प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शन के चुनाव में अनुसन्धानकर्त्ता के स्वयं के पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (bias) की सम्भावना से बचने के लिए तथा सम्पूर्ण समग्र (universe) की प्रत्येक इकाई को समान रूप से चुने जाने का अवसर प्रदान करने के लिए दैव निदर्शन द्वारा निदर्शनों का चुनाव एक सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है। यह प्रणाली अनुसन्धान-कर्त्ता की अपनी इच्छा या निर्णय से परे होती है और समग्र की सभी इकाइयों को इसमें समान अवसर प्राप्त होता है क्योंकि इस पद्धति में सबको समान महत्त्व का मान लिया जाता है। इस पद्धति में कौनसी इकाइयों को निदर्शन में स्थान मिलेगा वह अनुसन्धानकर्त्ता के विशिष्ट-झुकाव, इच्छा या निर्णय पर नहीं अपितु पूर्णतया संयोग पर निर्भर करता है। इस प्रकार इस पद्धति में निदर्शन का चुनाव मनुष्य के हाथ से निकलकर दैवयोग द्वारा होता है। इसीलिए श्री थॉमस कारसन (Thomas Carson) ने लिखा है, "···दैव निदर्शन में आने या निकल जाने का अवसर घटना के लक्षण से स्वतन्त्र होता है।"[13] डॉ॰ चतुर्वेदी (Chaturvedi) का भी कथन है कि दैव निदर्शन में चुनाव दैव तौर पर (at random) किया जाता है ताकि किसी भी इकाई को प्राथमिकता (preference) न मिले। इसमें किसी भी एक इकाई के चुने

13. "In a random sample the chance of being 'drawn' or 'thrown' is independent of the character of the event."—Thomas Carson McGromuck, *Elementary Social Statistics* (1941), p. 224.

जाने का अवसर उतना ही रहता है जितना कि अन्य किसी इकाई के चुने जाने का।"14

श्री पार्टन (Parten) ने लिखा है, "दैव निदर्शन का प्रयोग उस अवस्था में किया जाता है जब कि चुनाव की पद्धति समग्र में से प्रत्येक व्यक्ति या तत्त्व को चुने जाने का समान अवसर प्रदान करने का आश्वासन देती है।"15 और भी स्पष्ट रूप में, इस पद्धति में समग्र (universe) की प्रत्येक इकाई निदर्शन में चुने जाने के लिए स्वतन्त्र है और प्रत्येक के लिए चुने जाने का अवसर उपलब्ध किया जाता है। अर्थात् किसी भी इकाई को प्राथमिकता या प्रमुखता या अधिमान्यता नहीं दी जाती है।

दैव निदर्शन को सानुपातिक निदर्शन (proportionate sampling) भी कहा जाता है क्योंकि निदर्शन में प्रत्येक वर्ग अथवा तत्त्व का प्रतिनिधित्व उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में वह वर्ग या तत्त्व समग्र में है। उदाहरणार्थ, यदि ५००० श्रमिकों में से १०० श्रमिकों का निदर्शन चुना जाए और कुछ श्रमिकों में ७० प्रतिशत श्रमिक गन्दी वस्तियों में रहने वाले हों तो निदर्शन (sample) में भी प्रायः वही प्रतिशत गन्दी वस्तियों में रहने वालों का होना चाहिए। थोड़ा-बहुत फर्क हो सकता है, पर उसका अध्ययन के निष्कर्षों पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि दैव निदर्शन तथा आकस्मिक निदर्शन एक नहीं है। इन्हें एक समझने की गलती हमें नहीं करनी चाहिए। यह हो सकता है कि कभी संयोग से (by chance) आकस्मिक निदर्शन दैव निदर्शन भी हो, परन्तु सदैव ऐसा नहीं हो सकता। कभी-कभी आकस्मिक चुनाव में भी पक्षपात की सम्भावना बनी रहती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी पुस्तक से अनायास एक पृष्ठ खोला जाए तो उस पृष्ठ के खुलने की सम्भावना अधिक है जो अधिक पढ़ा गया है।

दैव निदर्शन चुनने की प्रणालियाँ (Methods of selecting Random Sample)—दैव निदर्शन-पद्धति के अनुसार निदर्शन चुनने के कई तरीके हो सकते हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(अ) लॉटरी प्रणाली (Lottery Method)—इस प्रणाली के अन्तर्गत वही तरीका अपनाया जाता है जो कि अन्य प्रकार के लॉटरी निकालने में प्रयोग में लाया जाता है। समग्र की समस्त इकाइयों के नाम अथवा नम्बर कागज की चिटों (chits) या छोटे चौकोर कार्डों पर लिख लिए जाते हैं और फिर उन्हें किसी बर्तन, बक्स या झोले में डालकर अच्छी तरह से हिला दिया जाता है ताकि वे खूब अव्यवस्थित हो जाएँ। फिर आँख बन्द करके उतने कार्ड या चिट निकाल लिए जाते हैं जितनी इकाइयाँ निदर्शन में लेनी हैं। जो भी इकाइयाँ इस प्रकार दैवयोग से चुनाव में आ जाती हैं, उनका अध्ययन किया जाता है।

(ब) कार्ड अथवा टिकट प्रणाली (Card or Ticket Method)—इस प्रणाली में सबसे पहले एक ही आकार, रंग व मोटाई के कार्डों अथवा टिकटों पर समग्र (universe) की समस्त इकाइयों के नाम अथवा नम्बर अथवा अन्य कोई प्रतीक अंकित

---

14. "......At random so that no item is given preference. The chance of the selection of any one item is the same as that of any other."—Dr. J. C. Chaturvedi, *Mathematical Statistics*, p. 12.

15. "Random sampling is the form applied when the method of selection assures each individual or element in universe an equal chance of being chosen."—Parten.

कर दिए जाते हैं और सबको मिलाकर एक गोल ड्रम में भर दिया जाता है। ड्रम को पचास वार बहुत तेजी से घुमाकर सभी कार्डों को खूब हिला-मिला लिया जाता है। तत्पश्चात् एक कार्ड अनायास ही निकाल लिया जाता है। फिर ड्रम को पचास वार हिलाया जाता है और फिर दूसरा कार्ड उठा लिया जाता है। इस प्रकार की क्रिया उतनी वार की जाती है जितने निदर्शनों का चुनाव करना है। जो कार्ड इस प्रकार चुनाव में आ जाते हैं उन्हीं से सम्बन्धित इकाइयों का अध्ययन किया जाता है। लॉटरी प्रणाली तथा कार्ड प्रणाली में यही अन्तर है कि लॉटरी प्रणाली में स्वयं अनुसन्धान-कर्त्ता आँखों को वन्द करके कार्ड निकालता है, लेकिन कार्ड प्रणाली में कोई अन्य व्यक्ति भी आँखें खुली रखकर कार्ड निकाल सकता है।

(स) **नियमित अंकन प्रणाली** (Regular Marking Method)—जब समग्र (universe) की सभी इकाइयाँ किसी विशेष ढंग, काल, स्थान आदि के आधार पर व्यवस्थित होती हैं तो नियमित अंकन प्रणाली के द्वारा निदर्शनों का चुनाव सरलता से हो सकता है। इस प्रणाली में सर्वप्रथम समग्र की सभी इकाइयों की क्रमसंख्या डालते हुए एक सूची वना ली जाती है। इसके वाद यह निश्चित किया जाता है कि उन इकाइयों में से हमें कितनी इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुनना है। फिर सूची को सामने रखकर किसी भी एक संख्या से आरम्भ करके प्रत्येक पाँचवाँ या प्रत्येक दसवाँ अथवा कोई भी प्रत्येक अंक के अनुसार नियमित रूप से अगली संख्याएँ चुनी जाती हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें १०० विद्यार्थियों के एक समग्र में से १० विद्यार्थी चुनने हैं तो पहले हमें उन १०० विद्यार्थियों की एक सूची बनानी होगी। तत्पश्चात् चूँकि हमें १० विद्यार्थी चुनने हैं अतः हर दसवाँ विद्यार्थी हमारे चुनाव में आता जाएगा। यह चुनाव हम किसी भी सूची में अंकित किसी भी क्रमसंख्या से आरम्भ कर सकते हैं। मान लीजिए हमने क्रमसंख्या ५ से चुनाव आरम्भ किया तो ५, १५, २५, ३५, ४५, ५५, ६५, ७५, ८५, तथा ९५ संख्याओं वाले विद्यार्थी निदर्शन के रूप में चुने जाएँगे।

(द) **अनियमित अंकन प्रणाली** (Irregular Marking Method)—इस प्रणाली में भी समग्र की समस्त इकाइयों की एक सूची बनाई जाती है और उस सूची में से प्रथम तथा अन्तिम अंक को छोड़कर शेष इकाइयों की सूची में अनुसन्धानकर्त्ता अनियमित ढंग से विभिन्न इकाइयों में उतने ही निशान लगाता चला जाता है जितने कि निदर्शन उसे चुनने हैं। इसमें अनुसन्धानकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि वह प्रथम तथा अन्तिम अंक को छोड़कर विना पक्षपात के अनियमित ढंग से निदर्शनों को चुन लेगा, पर इसमें पक्षपात का समावेश हो ही जाता है।

(य) **टिप्पेट प्रणाली** (Tippet Method)—प्रोफेसर टिप्पेट (L. H. C. Tippet) ने चार अंकों वाली १०४०० संख्याओं की एक सूची बनाई थी। उन संख्याओं को दैव निदर्शन-पद्धति में प्रयोग करने के उद्देश्य से सुनिश्चित कर दिया गया है। ये संख्याएँ बिना किसी क्रम के कई पृष्ठों पर लिखी गई हैं। जब किसी अनुसन्धानकर्त्ता को अपने अध्ययन के लिए निदर्शन चुनना होता है तो वह प्रो० टिप्पेट द्वारा बनाई गई सूची के किसी भी पृष्ठ से लगातार उतनी ही संख्याएँ ले लेता है जितनी संख्या में उसे निदर्शन चुनना है। बीच में कोई संख्या नहीं छोड़ी जानी चाहिए। श्री टिप्पेट द्वारा दिए गए अंकों में से प्रथम २० संख्याएँ इस प्रकार हैं—

२६५२	६६४१	३३६२	६७६२
४१६७	६५२४	१५४५	१३६६
२३७०	७४८३	३४०८	२७६२
०५६०	५२४६	११११२	६१०७
२७५४	६१४३	१४०५	६०२५

इस प्रणाली से निदर्शन चुनने के तरीके को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हमें १०० श्रमिकों के एक समग्र में से १० श्रमिक निदर्शन में चुनने हैं तो हम पहले समग्र की सभी इकाइयों को किसी भी क्रम से व्यवस्थित करके उनकी एक सूची बना लेंगे। फिर टिप्पेट की सूची के किसी भी स्थान से लगातार १० संख्याएँ ले लेंगे और उस क्रमसंख्या के श्रमिकों को निदर्शन के रूप में चुन लिया जाएगा। यदि इन १० श्रमिकों का निदर्शन श्री टिप्पेट की उपरोक्त संख्याओं के आधार पर चुना जाएगा तो वे इस प्रकार होंगी—५२, ६७, ७०, ६०, ५४, ४१, २४, ८३, ४६ और ४३। समग्र की सूची में से जिन-जिन इकाइयों की क्रमसंख्या ५२, ६७, ७० आदि हैं उन्हीं १० इकाइयों को निदर्शन में स्थान दिया जाएगा। चूंकि हमारा समग्र केवल १०० श्रमिकों का है इसलिए श्री टिप्पेट द्वारा उल्लेखित प्रत्येक संख्या में से १०० के अन्दर वाले अंकों को ही हम चुनेंगे। जो संख्या एक बार आ जाती है वह दुबारा नहीं ली जाती है। टिप्पेट प्रणाली अधिक वैज्ञानिक मानी जाती है इसीलिए इसका प्रयोग अधिक होता है।

(र) ग्रिड प्रणाली (Grid Method)—इस प्रणाली का प्रयोग क्षेत्रीय चुनाव में किया जाता है अर्थात् किसी विशाल क्षेत्र में से कुछ विभिन्न क्षेत्रों को निदर्शन के रूप में चुनने के लिए ग्रिड पद्धति उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रणाली में सर्वप्रथम उस विशाल क्षेत्र के लिए भौगोलिक मानचित्र या तो तैयार कराया जाता है या कहीं से प्राप्त होता है। उस मानचित्र पर ग्रिड प्लेट, जो सेल्यूलाइड या किसी अन्य पारदर्शक पदार्थ की बनी होती है, रख दी जाती है। इस प्लेट में वर्गाकार खाने कटे होते हैं जिस पर नम्बर लिखे होते हैं। यह पहले ही तय कर लिया जाता है कि किन नम्बरों को निदर्शन में लेना है। नम्बरों का निर्णय आकस्मिक किया जाता है। इस प्रकार मानचित्र के जिन भागों पर निर्धारित नम्बरों के कटे हुए वर्ग आ जाते हैं उन पर निशान लगा लिया जाता है। ये भाग ही या क्षेत्र ही निदर्शन की इकाइयाँ होती हैं।

(ल) कोटा निदर्शन (Quota Sampling)—इस प्रणाली के अन्तर्गत सबसे पहले समग्र को कई वर्गों में विभाजित कर लिया जाता है। इसके पश्चात् यह निश्चित कर लिया जाता है कि प्रत्येक वर्ग में से कितनी इकाइयाँ चुननी हैं, फिर प्रत्येक वर्ग में से अनुसन्धानकर्त्ता उतनी ही इकाइयाँ अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक छाँट लेते हैं। इस प्रकार चुनी गई इकाइयों को निदर्शन मान लिया जाता है। चूंकि इस पद्धति में इकाइयों को चुनने की स्वतन्त्रता अनुसन्धानकर्त्ता को दी जाती है इस कारण इसमें पक्षपात की सम्भावना अधिक होती है।

दैव निदर्शन के गुण या लाभ (Merits of Random Sampling)—दैव निदर्शन के अपने कुछ गुण हैं जिन्हें कि हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) इस पद्धति में निष्पक्षता का गुण होता है। इसमें किसी प्रकार का मिथ्या-झुकाव या पक्षपात की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि निदर्शन के चुनाव में किसी भी इकाई को प्राथमिकता या प्रमुखता या अधिमान्यता नहीं दी जाती और प्रत्येक इकाई के निदर्शन में चुने जाने की समान सम्भावना होती है।

(ख) दैव निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण होता है क्योंकि इसमें प्रत्येक इकाई को चुने जाने का समान अवसर होने के कारण दैव निदर्शन की इकाइयों में समग्र के अधिकाधिक लक्षण विद्यमान होते हैं।

(ग) दैव निदर्शन, निदर्शन की सबसे सरल पद्धति है जिसमें किसी जटिल प्रक्रिया अथवा गूढ़ नियमों का पालन नहीं करना पड़ता है।

(घ) इस पद्धति में सम्भावित अशुद्धता का पता लगाया जा सकता है। यदि निदर्शन पूर्णतया दैव निदर्शन-प्रणाली द्वारा चुना गया है तो गणितीय विधियों द्वारा इस बात का सही-सही अनुमान लगाया जा सकता है कि निदर्शन का वास्तविक माप से कितना अन्तर है।

दैव निदर्शन के दोष या सीमाएँ (Limitations of Random Sampling)—इसमें सन्देह नहीं कि दैव निदर्शन सरल, निष्पक्ष तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण होता है फिर भी इसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं जिन्हें कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(अ) दैव निदर्शन के सफल चुनाव के लिए यह आवश्यक है कि समग्र की सभी इकाइयों की विस्तृत तथा सम्पूर्ण सूची या तो तैयार की जाए या उपलब्ध हो। पर प्रायः यह काम सरल नहीं होता विशेषकर उस अवस्था में जबकि समग्र (universe) बहुत विशाल है। इसलिए पूर्णतया दैव निदर्शन-प्रणाली के आधार पर चुनाव सम्भव नहीं होता।

(ब) इस प्रणाली के अन्तर्गत निदर्शन के चुनाव में अनुसन्धानकर्त्ता का कोई नियन्त्रण नहीं होता। इसलिए ऐसी इकाइयों का भी चुनाव हो सकता है जो दूर-दूर तक फैली हों अथवा जिनसे सम्पर्क स्थापित करना सरलता से सम्भव न हो। ऐसी स्थिति में चुने हुए निदर्शन पर कायम रहना कठिन हो जाता है।

(स) दैव निदर्शन में विकल्प (alternative) की सम्भावना नहीं हो सकती। यदि हमें यह पता चल जाए कि निदर्शन की किन्हीं इकाइयों से हम सम्पर्क स्थापित नहीं कर सकते, पर उसके स्थान पर किन्हीं अन्य विकल्प इकाइयों से सुविधापूर्वक तथा उपयोगी सम्पर्क स्थापित करके आवश्यक सूचना प्राप्त की जा सकती है, फिर भी दैव निदर्शन-प्रणाली के नियमानुसार चुनी हुई इकाइयों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

(द) यदि समग्र (universe) की सब इकाइयाँ समान आकार वाली नहीं हैं और उनमें एकरूपता का अभाव है तो दैव निदर्शन-प्रणाली के द्वारा प्रतिनिधि इकाइयाँ नहीं चुनी जा सकतीं। ऐसी स्थिति में यह प्रणाली उपयुक्त नहीं होती।

दैव निदर्शन में सावधानियाँ (Precautions in Random Sampling)—इस प्रणाली की सहायता से निदर्शन चुनने में अनुसन्धानकर्त्ता को निम्नलिखित सावधानियाँ बरतनी चाहिएँ—

(क) निदर्शन चुनने से पूर्व समग्र का निश्चय ठीक-ठीक कर लेना चाहिए और उसकी समस्त इकाइयों की सम्पूर्ण सूची तैयार कर लेनी चाहिए।

(ख) निदर्शन में आने वाली इकाइयाँ स्वतन्त्र होनी चाहिएँ अर्थात् वे एक-दूसरे पर अध्ययन के लिए निर्भर नहीं होनी चाहिएँ।

(ग) इकाइयाँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनसे सम्पर्क स्थापित किया जा सके। एक बार चुनी हुई इकाई को बदलना नहीं चाहिए।

(२) उद्देश्यपूर्ण अथवा सविचार निदर्शन (Purposive Sampling)

जब अनुसन्धानकर्त्ता किसी विशेष उद्देश्य को सामने रखकर जान-बूझकर समग्र में से कुछ इकाइयों का चुनाव करता है तो उसे उद्देश्यपूर्ण या सविचार निदर्शन कहते हैं। इस प्रणाली का मुख्य आधार यही है कि इसमें अनुसन्धानकर्त्ता समग्र (universe) की इकाइयों के लक्षणों से पूर्वपरिचित होकर सविस्तारपूर्वक निदर्शनों का चुनाव करता है। चुनाव का आधार अध्ययन का उद्देश्य होता है और उद्देश्य को सामने रखते हुए उसी के अनुरूप अनुसन्धानकर्त्ता सम्पूर्ण क्षेत्र से सर्वाधिक प्रतिनिधित्व-पूर्ण इकाइयों का ही चुनाव करता है। इस प्रकार इस प्रणाली में अध्ययन के उद्देश्यों को अपना मार्गदर्शन मानते हुए उद्देश्य की पूर्ति के उपयुक्त निदर्शनों का सविस्तार-पूर्वक चुनाव करने के कारण ही इसे उद्देश्यपूर्ण अथवा सविचार निदर्शन कहते हैं। श्री एडोल्फ जेन्सन (Adolph Jenson) ने लिखा है, "सविचार निदर्शन से अर्थ है इकाइयों के समूहों की एक संख्या को इस प्रकार चुनना कि चुने हुए समूह मिलकर उन विशेषताओं के सम्बन्ध में यथासम्भव वही औसत अथवा अनुपात प्रदान करें जो कि समग्र में है और जिनकी सांख्यिकीय जानकारी पहले से ही है।"[16]

सविचार निदर्शन के लक्षण (Characteristics of Purposive Sampling) —(१) अनुसन्धानकर्त्ता समग्र (universe) की समस्त इकाइयों की विशेषता से परिचित हो ताकि उसे पहले से ही यह ज्ञान हो कि कौनसी इकाई के क्या गुण हैं और उसी आधार पर कौनसी इकाइयों को चुनने से अध्ययन के उद्देश्यों की प्राप्ति सरल हो सकेगी।

(२) सविचार निदर्शन में निदर्शनों का चुनाव किसी विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर ही किया जाता है। बहुधा सभी उद्देश्यों की पूर्ति सविचार निदर्शनों द्वारा नहीं होती है। फिर भी यथासम्भव उद्देश्यों की पूर्ति इस प्रणाली का लक्ष्य होता है।

(३) इस प्रणाली में चूंकि अनुसन्धानकर्त्ता अपनी इच्छानुकूल निदर्शनों का चुनाव करता है, इसलिए पक्षपात की सम्भावना भी अधिक होती है।

उद्देश्यपूर्ण निदर्शन के गुण (Merits of Purposive Sampling)—इस प्रणाली के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख हम कर सकते हैं—

(क) यह प्रणाली कम खर्चीली है क्योंकि इसमें निदर्शन का आकार बहुत बड़ा नहीं होता है। इस प्रणाली की मान्यता यह है कि यदि निदर्शनों का चुनाव पक्षपात-रहित होकर किया जाए तो अपेक्षाकृत छोटा निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण हो सकता है।

(ख) यह प्रणाली उन अनुसन्धानों में अत्यन्त उपयोगी होती है जिनमें समग्र की कुछ इकाइयाँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती हैं और इसीलिए उनका चुना जाना आवश्यक होता है। इस आवश्यकता की पूर्ति दैव निदर्शन-प्रणाली से नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, यदि रुहेलखण्ड डिविज़न की शिक्षा संस्थाओं का अध्ययन करना है तो बरेली कॉलेज को निदर्शन में सम्मिलित करना आवश्यक है। पर यदि हम दैव निदर्शन-प्रणाली को अपना रहे हैं तो निदर्शन के चुनाव में बरेली कॉलेज का नाम आ भी सकता

---

16. "Purposive sampling denotes the method of selecting a number of groups of units, in such a way that the selected groups together yield as nearly as possible the same averages or proposition as the totality with respect to those characteristics which are already a matter of statistical knowledge." —Adolph Jenson.

है और छूट भी सकता है। ऐसी दशा में उद्देश्यपूर्ण निदर्शन-प्रणाली ही उपयोगी सिद्ध होती है।

उद्देश्यपूर्ण निदर्शन के दोष (Demerits of Purposive Sampling)—इस प्रणाली के गुणों की अपेक्षा दोषों की ओर ही विद्वानों ने हमारा ध्यान अधिक आकर्षित किया है। श्री पार्टन (Parten) ने लिखा है, "एक वर्ग के रूप में सांख्यिकीशास्त्रियों को उद्देश्यपूर्ण निदर्शन के पक्ष में कुछ भी कहना नहीं है।"[17] प्रो० नेमैन (Neyman) ने तो इस प्रणाली को 'निरर्थक' दताया है। प्रो० स्नैडेकोर (Snedecor) ने इस प्रणाली के निम्नलिखित तीन दोषों का उल्लेख किया है—

(अ) उद्देश्यपूर्ण निदर्शन में यह आवश्यक है कि अनुसन्धानकर्त्ता को पहले से ही समग्र (universe) का पूर्ण ज्ञान हो ताकि वह समझ सके कि किन इकाइयों को चुनने से अध्ययन के उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव होगी। पर पहले से ही इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं होता।

(ब) इस प्रणाली में अनुसन्धानकर्त्ता किसी भी इकाई को निदर्शन के रूप में चुनने के लिए स्वतन्त्र होता है और इस सम्बन्ध में उसपर कोई नियंत्रण न होने के कारण पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (bias) के प्रवेश की पूर्ण सम्भावना इसमें है।

(स) निदर्शन सम्बन्धी अशुद्धता का अनुमान जिन मान्यताओं पर किया जाता है उनमें से एक भी इस प्रणाली में नहीं पाई जाती।

(३) संस्तरित अथवा वर्गीकृत निदर्शन
(Stratified Sampling)

प्रो० सिन पाओ यांग (Hsin Pao Yang) ने लिखा है कि संस्तरित निदर्शन का अर्थ है समग्र में से उप-निदर्शनों (sub-samples) को लेना जिनकी कि समान (common) विशेषताएँ हैं जैसे खेती के प्रकार, खेतों के आकार, भूमि पर स्वामित्व, शिक्षा-स्तर, आय, लिंग, सामाजिक वर्ग आदि। उप-निदर्शनों के अन्तर्गत आने वाले इन तत्त्वों (elements) को एकसाथ लेकर प्ररूप (type) या श्रेणी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।"[18] और भी स्पष्ट रूप में हम इस प्रणाली को इस प्रकार समझ सकते हैं—इस प्रणाली के अनुसार निदर्शन का चुनाव करने के लिए अनुसन्धानकर्त्ता सर्वप्रथम समग्र (universe) की सभी विशेषताओं के बारे में एक प्राथमिक जानकारी प्राप्त करता है। इस जानकारी के आधार पर वह समग्र को कुछ वर्गों या उप-निदर्शनों (sub-samples) में विभक्त कर लेता है जिससे प्रत्येक वर्ग समग्र के केवल एक ही गुण (जैसे शिक्षा-स्तर, आय, धर्म, सामाजिक वर्ग, लिंग आदि) का प्रतिनिधित्व करे। दूसरे शब्दों में समान लक्षण या विशेषताओं के आधार पर समग्र की इकाइयों को विभिन्न उप-विभागों या वर्गों में विभाजित करके सर्वप्रथम समग्र में एकरूपता (homogeneity) लाने का प्रयत्न किया जाता है। समग्र की विशेषताओं को देखते हुए

---

17. "Statisticians as a class have nothing to say in favour of purposive selection."—Parten.

18. "Stratified sampling means taking from the population sub-samples which have common characteristics, such as types of farming, size of farms, and ownership, educational attainment, income, sex, social class etc. These elements making up the sub-samples are drawn together and classified as a type or category."—Hsin Pao Yang, *Fact-Finding with Rural People*, pp. 36-37,

तथा अनुसन्धान की समस्या को ध्यान में रखते हुए अनुसन्धानकर्त्ता सरलता से यह तय कर सकता है कि किस आधार पर और कितने वर्गों में विभक्त किया जाए। समग्र को इस प्रकार वर्गों में विभाजित कर लेने के पश्चात् दैव निदर्शन पद्धति की किसी भी उपयुक्त प्रणाली की सहायता से प्रत्येक वर्ग में से उचित संख्या में निदर्शन चुन लिया जाता है। प्रत्येक वर्ग से इस प्रकार निदर्शन चुनते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि जहाँ तक हो सके प्रत्येक वर्ग से उतनी ही इकाइयाँ चुनी जाएँ जिस अनुपात में वर्ग की कुल इकाइयाँ समग्र में हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक समग्र में शिक्षक १२०, इंजीनियर १०, डॉक्टर ३० और वकील ५० हैं और यदि हमें १० प्रतिशत निदर्शन चुनना है तो १२ शिक्षक, १ इंजीनियर, ३ डॉक्टर तथा ५ वकीलों को हम निदर्शन के रूप में दैव निदर्शन-प्रणाली द्वारा चुन लेंगे। इस प्रकार संस्तरित निदर्शन-प्रणाली में दैव निदर्शन-प्रणाली की भी सहायता ली जाती है और इसीलिए इसे प्रायः संस्तरित दैव निदर्शन (Stratified Random Sampling) कहते हैं।

सावधानियाँ (Precautions)—इस प्रणाली के उपयोग में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

(i) जिन उप-विभागों या वर्गों का निर्माण किया जाए उसका आकार पर्याप्त होना चाहिए जिससे कि उसमें से दैव निदर्शन-प्रणाली द्वारा इकाइयों का चुनाव किया जा सके।

(ii) समग्र के विषय में अनुसन्धानकर्त्ता का सामान्य ज्ञान कम-से-कम इतना अवश्य हो कि उसे यह पता लग जाए कि समग्र के कौन-कौनसे गुण हैं जिनके आधार पर समग्र का वर्गीकरण विभिन्न वर्गों में या उप-विभागों में किया जा सकता है।

(iii) वर्गों का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि एक वर्ग के अन्तर्गत आने वाली सभी इकाइयों में एकरूपता हो और वे समग्र के केवल एक ही गुण का प्रतिनिधित्व करें।

(iv) जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक वर्ग से उतनी ही इकाइयाँ चुनी जाएँ जिस अनुपात में वर्ग की कुल इकाइयाँ समग्र में हैं।

(v) वर्ग स्पष्ट तथा सुनिश्चित होने चाहिएँ जिससे कि समग्र की समस्त इकाइयाँ किसी न किसी वर्ग में अवश्य आ जाएँ तथा कोई भी इकाई एक से अधिक वर्ग में न आने पाए।

(vi) विभिन्न वर्गों के निर्माण का आधार अध्ययन-विषय की प्रकृति होना चाहिए। जैसी समस्या या विषय है उसी के अनुसार समग्र को विभिन्न उप-विभागों में बाँट देना चाहिए।

संस्तरित निदर्शन के प्रकार (Kinds of Stratified Sampling)—संस्तरित निदर्शन तीन प्रकार का होता है—(अ) **समानुपातिक** (Proportionate)—इसमें प्रत्येक वर्ग में से इकाइयाँ उसी अनुपात में चुनी जाती हैं जिस अनुपात में वर्ग की कुल इकाइयाँ समग्र में हैं। (ब) **असमानुपातिक** (Disproportionate)—इसमें प्रत्येक वर्ग से समान संख्या में इकाइयाँ चुनी जाती हैं; चाहे समग्र में किसी वर्ग की इकाइयों की संख्या कितनी ही हो। इसका तात्पर्य यही हुआ कि यदि विभिन्न वर्गों में इकाइयाँ समान संख्या में नहीं हैं तो निदर्शन में उनकी संख्या असमानुपातिक (Disproportionate) हो जाएगी। (स) **भारयुक्त संस्तरित निदर्शन** (Stratified Weighted Sampling)—यह उपरोक्त दोनों प्रणालियों का योग-रूप है। इस प्रणाली में प्रत्येक

वर्ग से इकाइयाँ तो समान संख्या में चुनी जाती हैं परन्तु बाद में अधिक संख्या वाले वर्गों की इकाइयों को अधिक भार प्रदान करके उनका प्रभाव बढ़ा दिया जाता है। यह भार उसी अनुपात से बढ़ाया जाता है जिस अनुपात में वर्ग की इकाइयाँ समग्र में हैं।

संस्तरित निदर्शन के गुण (Merits of Stratified Sampling)—इस प्रणाली के निम्नलिखित गुणों का उल्लेख किया जा सकता है—

(क) इस प्रणाली में समग्र (universe) के प्रत्येक वर्ग की इकाइयों को निदर्शन में स्थान प्राप्त हो जाता है और किसी महत्त्वपूर्ण वर्ग के उपेक्षित होने की सम्भावना नहीं रहती। दैव निदर्शन-प्रणाली में यद्यपि प्रत्येक इकाई के चुने जाने की समान सम्भावना रहती है, फिर भी कभी-कभी कुछ महत्त्वपूर्ण वर्ग छूट जाते हैं। संस्तरित निदर्शन-प्रणाली इस सम्भावना को रोकती है।

(ख) इस प्रणाली में यदि विभिन्न वर्गों का विभाजन सतर्कता से किया जाए तो भिन्न-भिन्न वर्गों में से थोड़ी-थोड़ी इकाइयों का चुनाव करने पर भी समग्र का प्रतिनिधित्व हो जाता है। दैव निदर्शन में प्रतिनिधित्व का गुण तभी प्राप्त होगा जब पर्याप्त संख्या में इकाइयाँ चुनी जाएँ।

(ग) इस प्रणाली में किसी इकाई को आवश्यकता पड़ने पर त्यागकर उसके स्थान पर दूसरी किसी इकाई को चुनने की सुविधा होती है। यदि आरम्भ में निदर्शन के रूप में चुना हुआ कोई व्यक्ति या इकाई इस प्रकार है कि उससे सम्पर्क स्थापित नहीं किया जा सकता तो उसके स्थान पर उसी वर्ग से दूसरा व्यक्ति या इकाई चुनी जा सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन से निदर्शन के प्रतिनिधित्वपूर्ण बने रहने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

(घ) वर्ग-विभाजन भौगोलिक आधार पर भी हो सकता है। क्षेत्रीय दृष्टि से वर्गीकरण करने पर समय तथा धन की बचत हो जाती है और इकाइयों से सम्पर्क स्थापित करने में सुविधा होती है। दैव निदर्शन में इस प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं हो सकता और चुनी हुई इकाइयाँ दूर-दूर तक बिखरी हो सकती हैं।

संस्तरित निदर्शन-प्रणाली के दोष (Defects of Stratified Sampling)—उपरोक्त गुण होते हुए इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं—

(अ) यदि वर्गों का विभाजन ठीक से नहीं किया गया तो निदर्शन में मिथ्या-झुकाव (bias) उत्पन्न हो सकता है। उसी प्रकार चुने हुए निदर्शन में किसी विशेष वर्ग की इकाइयाँ बहुत अधिक या बहुत कम हो सकती हैं। ऐसा होने पर निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं रह जाता।

(ब) यदि भिन्न-भिन्न वर्गों के आकार में बहुत अधिक अन्तर है तो समान अनुपात में इकाइयों को चुनना कठिन हो जाता है और इस प्रकार यदि निदर्शन समानुपातिक नहीं होता तो वह प्रतिनिधित्वपूर्ण भी नहीं हो सकता।

(स) यदि वर्गों से इकाइयों का चुनाव असमानुपातिक आधार पर किया गया है तो बाद में भार का प्रयोग करना पड़ता है। इस काम में अनुसन्धानकर्त्ता का पक्षपात व मिथ्या-झुकाव अपना प्रभाव डाल सकते हैं।

(द) ऐसा भी होता है कि एक ही इकाई में ऐसे मिश्रित गुण विद्यमान हों कि यह निश्चित करना वास्तव में कठिन हो जाए कि उसे किस वर्ग में रखा जाए। ऐसी स्थिति में वर्ग बन जाने के बाद भी इकाइयों का विभाजन एक समस्या बन जाती है।

अन्य प्रकार के निदर्शन
(Other Types of Sampling)

उपरोक्त तीन प्रमुख प्रकार के निदर्शनों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकारों का भी उल्लेख यहाँ किया जा सकता है।

(४) **बहुस्तरीय निदर्शन** (Multistage Sampling)—इस प्रणाली का उपयोग बहुत बड़े अध्ययन-क्षेत्र से निदर्शन चुनने के लिए किया जाता है। इसे बहुस्तरीय निदर्शन-प्रणाली इसलिए कहते हैं कि इसमें निदर्शन-चुनाव की प्रक्रिया कई स्तरों में से होकर गुजरती है। ये स्तर निम्नलिखित हैं—

(अ) पहले स्तर पर सम्पूर्ण अध्ययन-क्षेत्र अथवा देश या प्रान्त को कुछ सजातीय क्षेत्रों में बाँट लिया जाता है। जहाँ तक सम्भव हो ये क्षेत्र समान क्षेत्रफल के होने चाहिएँ तथा प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों में भी अधिकतम समानता होनी चाहिए।

(ब) दूसरे स्तर पर प्रत्येक क्षेत्र में से कुछ गाँव या शहर जिनका अध्ययन करना हो दैव निदर्शन-प्रणाली से चुन लिए जाते हैं।

(स) तीसरे स्तर पर दूसरे स्तर में चुने हुए प्रत्येक गाँव या नगर में से कुछ गृह-समूह दैव निदर्शन-प्रणाली के आधार पर चुन लिए जाते हैं।

(द) अन्तिम चरण में उपरोक्त गृह-समूहों में से कुछ परिवारों को दैव निदर्शन-प्रणाली के द्वारा चुना जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह प्रणाली दैव निदर्शन-प्रणाली तथा संस्तरित निदर्शन-प्रणाली का सम्मिलित रूप है और यदि पर्याप्त सावधानी बरती गई तो दोनों प्रणालियों के लाभ प्राप्त हो जाते हैं।

(५) **सुविधाजनक निदर्शन** (Convenience Sampling)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस पद्धति में अनुसन्धानकर्त्ता अपनी सुविधा के अनुसार निदर्शन का चुनाव करता है। अनुसन्धानकर्त्ता निदर्शन को चुनने से पहले उपलब्ध धन, समय, साधन-सूची (Source List) की उपलब्धता, इकाइयों से सम्पर्क स्थापित करने की योग्यता, आदि विषयों को ध्यान में रखते हुए जैसी सुविधा होती है उसी के अनुसार निदर्शन का चुनाव करता है। इसीलिए इस पद्धति को अनियमित, आकस्मिक, अवसरवादी निदर्शन-प्रणाली भी कहते हैं। यह प्रणाली पर्याप्त अवैज्ञानिक है क्योंकि इसमें किसी भी सीमा तक पक्षपात और मिथ्या-झुकाव का प्रवेश हो सकता है। फिर भी बहुत बड़े क्षेत्रों का अध्ययन करते समय इसी प्रणाली का सहारा लिया जाता है। जब समग्र (universe) का स्पष्ट ज्ञान न हो, जब निदर्शन की इकाइयाँ स्पष्ट न हों और जब पूर्ण साधन-सूची उपलब्ध न हो तो यह प्रणाली उपयोगी हो सकती है।

(६) **स्वयं-निर्वाचित निदर्शन** (Self-selected Sampling)—जब सम्बन्धित व्यक्ति स्वयं अपना नाम देकर निदर्शन की इकाई बन जाते हैं और अध्ययनकर्त्ता को उनका चुनाव नहीं करना पड़ता है तो उसे स्वयं निर्वाचित निदर्शन कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी संस्था को यह पता लगाना है कि किसी विशेष रेडियो प्रोग्राम को लोगों ने कितना पसन्द किया तो वह यह घोषणा करवा सकती है कि जो लोग अपनी पसन्द की बात लिखकर भेजेंगे उनके नामों की घोषणा रेडियो द्वारा की जाएगी। ऐसी अवस्था में अपने नाम को रेडियो द्वारा घोषित होते हुए सुनने के लिए बहुत से लोग अपना-अपना मत भेज देंगे। इस प्रकार अपना मत भेजने वाले लोग ही निदर्शन की इकाइयाँ बन जाएँगे।

(७) **क्षेत्रीय निदर्शन (Area Sampling)**—इस निदर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न छोटे-छोटे क्षेत्रों में से किसी एक का चुनाव अध्ययनकर्त्ता के द्वारा उसकी सुविधा तथा निर्णय के अनुसार कर लिया जाता है तथा उस एक क्षेत्र के सभी निवासियों का सम्पूर्ण अध्ययन किया जाता है। आजकल इस पद्धति को भी काफी प्रयोग में लिया जाने लगा है।

निदर्शन की समस्याएँ
(Problems in Sampling)

आधुनिक अनुसन्धान के क्षेत्र में निदर्शन-प्रविधि एक अत्यन्त लोकप्रिय तथा महत्त्वपूर्ण प्रविधि वन गई है। इसपर भी यह प्रविधि स्वयं अपनी ही कुछ समस्याओं से पीड़ित है जिसके सम्वन्ध में संक्षेप में यहाँ विवेचन कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा।

आकार की समस्या
(Problem of Size)

निदर्शन-प्रविधि में निदर्शन का आकार वहुत महत्त्व रखता है। इसका कारण यह है कि सैम्पल के आकार की परिशुद्धता की मात्रा, समय, लागत तथा संगठन का सीधा सम्बन्ध है। यदि आकार बड़ा है तो उसी अनुपात में समय, धन, परिशुद्धता तथा संगठन सम्बन्धी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, पर यदि आकार वहुत छोटा है तो निदर्शन के प्रतिनिधित्वपूर्ण तथा विश्वसनीयता के सम्बन्ध में सन्देह जागृति होने लगती है। निदशन का आकार इस प्रकार का हो कि समय, लागत तथा संगठन कोई समस्या न वने, पर साथ ही निदर्शन विश्वसनीय तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण हो—इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति वास्तव में कठिन हो जाती है। इसीलिए निदर्शन का आकार निर्धारित करना कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि एकाधिक कारक निदर्शन के आकार को प्रभावित करते हैं। **निदर्शन के आकार को प्रभावित करने वाले कारक** निम्नलिखित हैं—

(अ) **समग्र की प्रकृति**—यदि समग्र की इकाइयों में पर्याप्त एकरूपता है तो अपेक्षाकृत छोटे आकार का निदर्शन भी प्रतिनिधित्वपूर्ण तथा विश्वसनीय हो सकता है। पर यदि इकाइयों में अत्यधिक भिन्नताएँ या विविधताएँ हैं तो निदर्शन का आकार बड़ा होना ही चाहिए।

(ब) **वर्गों की संख्या**—यदि समग्र में विभिन्न प्रकार के वर्गों का समावेश है और उनमें पर्याप्त विविधताएं हैं तो निदर्शन का आकार.बड़ा करना पड़ता है। पर यदि वर्गों की संख्या कम है और उनकी इकाइयों में एकरूपता है तो छोटे निदर्शन से काम चल सकता है।

(स) **अनुसन्धान की प्रकृति**—यदि अनुसन्धान की प्रकृति इस प्रकार है कि विभिन्न इकाइयों का अधिक समय तक गहन (intensive) अध्ययन करना है तो अपेक्षाकृत छोटा निदर्शन लेना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से धन, समय तथा संगठन की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। इसके विपरीत यदि विस्तृत (extensive) अध्ययन ही अनुसन्धान का उद्देश्य है तो बड़ा निदर्शन चुनना होगा।

(द) **साधनों की उपलब्धता**—निदर्शन का आकार साधनों की उपलब्धता पर निर्भर करता है। वित्तीय साधन, समय, प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की संख्या आदि को

भी ध्यान में रखते हुए निदर्शनों का आकार निर्धारित किया जाता है; यदि साधन कम हैं तो छोटे आकार का निदर्शन ही उचित कहा जाएगा।

(य) परिशुद्धता की मात्रा—कुछ लोगों का यह विश्वास है कि अध्ययन के निष्कर्ष उतने ही परिशुद्ध होंगे जितना कि निदर्शन का आकार बड़ा होगा। पर यह धारणा गलत है। उचित प्रणाली की सहायता से सावधानीपूर्वक चुना हुआ छोटे आकार का निदर्शन भी विश्वसनीय हो सकता है, फिर भी समग्र का आकार देखते हुए निदर्शन के आकार को इतना छोटा या इतना बड़ा नहीं बना देना चाहिए कि वह अस्वाभाविक प्रतीत हो। समग्र में अगर ५००० इकाइयाँ हैं तो केवल दो-तीन इकाइयों को निदर्शन के रूप में चुनकर परिशुद्धता की आशा नहीं की जाती चाहे उनके चुनाव में कितनी ही सावधानी क्यों न बरती जाए।

(र) चुनी हुई इकाइयों की प्रकृति—यदि इकाइयाँ अत्यधिक बिखरी हुई हैं तो उनसे सम्पर्क स्थापित करने में कठिनाई तथा व्यय आदि अधिक होते हैं। ऐसी अवस्था में छोटा निदर्शन लेना उत्तम होता है। इसके विपरीत अवस्था में निदर्शन का आकार बड़ा हो सकता है।

(ल) प्रश्नावली तथा अनुसूची का आकार—इन दोनों का प्रभाव भी निदर्शन के आकार पर पड़ता है। प्रश्नावली या अनुसूची का आकार जितना ही बड़ा होगा निदर्शन का आकार उतना ही छोटा रखना पड़ेगा क्योंकि बड़ी प्रश्नावलियों को भरने के लिए अधिक समय, लगन तथा परिश्रम की आवश्यकता होगी।

(व) निदर्शन-प्रणाली के प्रकार—स्वयं निदर्शन के चुनाव की प्रणाली भी उसके आकार को प्रभावित करती है। यदि दैव निदर्शन से चुनाव करना है तो निदर्शन का आकार बड़ा रखना ही उचित है जबकि संस्तरित निदर्शन-प्रणाली में यह आकार छोटा हो सकता है।

निदर्शन के आकार के सम्बन्ध में निश्चय करने से पहले उपरोक्त सभी प्रभावक-कारकों के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधानीपूर्वक विवेचना कर लेनी चाहिए। इस सम्बन्ध में श्री पार्टन (Parten) का सुझाव यह है कि "अनावश्यक खर्चे से बचने के लिए निदर्शन को काफी छोटा और असहनीय अशुद्धि से बचने के लिए उसे पर्याप्त बड़ा होना चाहिए।"[19]

मिथ्या-झुकाव सहित निदर्शन की समस्या
(Problem of Biased Sample)

यदि निदर्शन के चुनाव पर पक्षपात या मिथ्या-झुकाव का कोई इस प्रकार का प्रभाव पड़ा है कि उससे निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो पाया है तो उसे मिथ्या-झुकाव सहित निदर्शन कहते हैं। किसी भी निदर्शन में यह स्थिति निम्नलिखित कारणों से उपस्थित हो सकती है—

(क) आकार का छोटा होना—यदि निदर्शन का आकार अत्यधिक छोटा है तो यह सम्भव हो सकता है कि उस निदर्शन के अन्तर्गत ऐसी अनेक इकाइयाँ सम्मिलित नहीं हो पाई हैं जो कि महत्त्वपूर्ण हैं। उस अवस्था में निदर्शन प्रतिनिधित्वपूर्ण नहीं हो पाता है।

---

19. "The sample should be small enough to avoid unnecessary expenses and large enough to avoid intolerable sampling error."—Parten.

(ख) दोषपूर्ण वर्गीकरण—यदि संस्तरित निदर्शन-प्रविधि का प्रयोग किया गया है और निदर्शन में ऐसे वर्ग चुन लिए गए हैं जो अनुपयुक्त, असमान तथा अस्पष्ट हैं तो भी प्रायः निदर्शन मिथ्या-झुकाव सहित हो जाता है। उसी प्रकार यदि प्रत्येक वर्ग में असमान संख्या में इकाइयाँ होते हुए भी निदर्शन में उनका समान प्रतिनिधित्व रक्खा गया है तो भी निदर्शन असन्तुलित व दोषपूर्ण हो जाता है।

(ग) उद्देश्यपूर्ण निदर्शन—उद्देश्यपूर्ण निदर्शन-प्रविधि में अनुसन्धानकर्त्ता को अपनी इच्छानुसार निदर्शनों को चुनने की स्वतन्त्रता दे दी जाती है जिसके कारण निदर्शन में पक्षपात व मिथ्या-झुकाव का प्रवेश सरलता से हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिन इकाइयों से सम्पर्क स्थापित करना सरल हो सकता है, उन्हीं को अनुसन्धानकर्त्ता अपने निदर्शन में स्थान दे देता है जब कि असुविधाजनक तथा कठिनाई से सम्पर्क स्थापित किए जा सकने वाली इकाइयों को छोड़ दिया जाता है। ऐसी अवस्था में भी निदर्शन मिथ्या-झुकाव रहित नहीं हो पाता है।

(घ) साधन-सूची का अपूर्ण होना—यदि साधन-सूची जिसमें से निदर्शन के लिए इकाइयों को चुनना है अधूरी, पुरानी या अनुपयुक्त है तो भी निदर्शन का चुनाव बहुत-कुछ अनुसन्धानकर्त्ता की अपनी इच्छानुसार होता है। उस अवस्था में भी निदर्शन मिथ्या-झुकाव सहित हो जाता है।

(ङ) निर्वाचित इकाइयों का अनुचित त्याग या प्रतिस्थापन—कई बार चुनी हुई इकाइयाँ या तो उपलब्ध नहीं होतीं या उनसे सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता या वे जान-बूझकर सूचना देने से इनकार कर सकती हैं। ऐसी दशा में या तो इन इकाइयों को निदर्शन से बिल्कुल निकाल दिया जाता है या उनके स्थान पर दूसरी इकाइयाँ चुन ली जाती है। दोनों ही दशा में मिथ्या-झुकाव उत्पन्न हो सकता है।

(च) कार्यकर्त्ताओं द्वारा चुनाव—जब निदर्शन-चुनाव का काम कार्यकर्त्ताओं पर छोड़ दिया जाता है तो उनकी लापरवाही या असावधानी के कारण निदर्शन में मिथ्या-झुकाव का प्रवेश हो सकता है। यदि समग्र की इकाइयों में एकरूपता है तो यह सम्भावना कुछ कम होती है, पर यदि नहीं है तो निदर्शन मिथ्या-झुकाव सहित अवश्य ही होगा क्योंकि कार्यकर्त्ता प्रायः अपनी सुविधानुसार ही इकाइयों को चुन लेते हैं।

(छ) सुविधापूर्ण निदर्शन-प्रणाली—जब अनुसन्धानकर्त्ता को यह छूट मिल जाती है कि वह अपनी सुविधानुसार निदर्शनों का चुनाव कर सकता है, तो स्वभावतः ही वह अपनी सुविधाओं पर अधिक ध्यान देता है और निदर्शन को प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाने का उद्देश्य उसके लिए गौण हो जाता है।

(ज) त्रुटिपूर्ण दैव निदर्शन-प्रणाली—यद्यपि दैव निदर्शन-प्रणाली में प्रत्येक इकाई को चुने जाने के सम्बन्ध में समान अवसर मिलता है फिर भी यदि त्रुटिपूर्ण ढंग से इस प्रणाली को प्रयोग में लाया गया तो मिथ्या-झुकाव का प्रवेश अनजाने में हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि इकाइयों की गोलियाँ बनाने में लापरवाही बरती गई तो यह हो सकता है कि वे छोटी-बड़ी हो जाएँ और केवल बड़ी गोलियाँ ही निदर्शन की इकाई के रूप में चुन ली जाएँ।

(झ) अध्ययन-विषय की प्रकृति—कई बार अनुसन्धान किया जाने वाला विषय इतना जटिल, असमान, विविधताओं से भरपूर तथा बिखरा हुआ होता है कि प्रतिनिधित्वपूर्ण निदर्शनों का चुनाव कठिन हो जाता है। उस दशा में भी निदर्शन के

चुनाव में हम उन्हीं इकाइयों को चुनते हैं जो कि सुविधाजनक हैं। उस अवस्था में मिथ्या-झुकाव का प्रवेश सरल हो जाता है।

अध्ययनकर्त्ता की योग्यता, सूझ-बूझ तथा बौद्धिक ईमानदारी, अध्ययन-विषय का समुचित ज्ञान, समस्या तथा विषय की प्रकृति के अनुकूल उपयुक्त निदर्शन-प्रणाली का चुनाव, निदर्शन का समुचित आकार तथा अध्ययन के प्रति पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मिथ्या-झुकाव सहित निदर्शन की सम्भावना को दूर किया जा सकता है।

निदर्शनों की विश्वसनीयता की माप
(Measurement of Reliability of Samples)

निदर्शन का चुनाव कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि उसका विश्वसनीयता की माप भी कर ली जाए। इसके लिए निम्नलिखित उपाय हो सकते हैं—

(१) **समानान्तर निदर्शन** (Parallel Sample)—निदर्शन की विश्वसनीयता की जाँच करने के लिए किसी दूसरी प्रणाली के द्वारा समग्र से उसी आकार का एक दूसरा निदर्शन चुन लिया जाता है और इन दोनों की विभिन्न सांख्यिकीय मापों, माध्य मूल्य, आवृत्ति वितरण इत्यादि की तुलना की जाती है। यदि इन विषयों में दोनों निदर्शनों में पर्याप्त सीमा तक समानता है तो निदर्शन को विश्वसनीय माना जा सकता है। समानता का अर्थ पूर्ण समानता नहीं है क्योंकि अलग-अलग प्रणालियों द्वारा चुने गए निदर्शनों के परिणाम कभी भी पूर्णतया एकसमान नहीं हो सकते। यदि दोनों निदर्शनों के परिणाम लगभग समान हैं तो निदर्शन विश्वसनीय कहा जाएगा।

(२) **समग्र से तुलना** (Comparison with Universe)—कभी-कभी समग्र की बहुत-सी मापें अध्ययनकर्त्ता को मालूम होती हैं जैसे स्त्री-पुरुष का अनुपात, आयु का वितरण आदि। यदि इस प्रकार की माप का पता हो तो निदर्शन द्वारा निकाली हुई माप की तुलना उससे की जा सकती है और यदि इनमें पर्याप्त सीमा तक समानता है तो निदर्शन विश्वसनीय कहा जाएगा।

(३) **निदर्शन का निदर्शन** (Sampling from Sampling)—निदर्शन की विश्वसनीयता की माप की तीसरी पद्धति यह है कि मौलिक निदर्शन में से कुछ इकाइयों का चुनाव दैव निदर्शन-प्रणाली से कर लिया जाए और फिर इस निदर्शन के निदर्शन की तुलना मौलिक निदर्शन से की जाए। यदि इस उप-निदर्शन में मूल निदर्शन के आधारभूत लक्षण आ जाते हैं तो निदर्शन को विश्वसनीय समझा जाता है।

निदर्शन-प्रविधि आज सबसे लोकप्रिय पद्धति है क्योंकि इस पद्धति ने समय, परिश्रम, लागत और संगठन सम्बन्धी अनेक समस्याओं को दूर करने में बड़ी मदद की है। पर निदर्शन-प्रविधि में निदर्शनों के चुनाव में अत्यन्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है ताकि वे अधिकतम प्रतिनिधित्वपूर्ण होकर परिशुद्ध निष्कर्ष निकालने के उपयोगी साधन बन सकें।

---

१६ तथ्यों का वर्गीकरण व सारिणीयन

(CLASSIFICATION AND TABULATION OF DATA)

सामाजिक अनुसन्धान, शोध या सर्वेक्षण का आधार अध्ययन-विषय से सम्बन्धित वास्तविक तथ्य हैं। इन तथ्यों को वास्तविक निरीक्षण, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली आदि की सहायता से एकत्रित किया जाता है। पर इस प्रकार एकत्रित तथ्यों के ढेर से कुछ भी निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता और न ही विषय के सम्वन्ध में कुछ जाना जा सकता है। तथ्यों का पहाड़ कुछ नहीं कहता जब तक उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान न किया जाए और उसके लिए तथ्यों का वर्गीकरण व सारिणीयन आवश्यक होता है। जव हम तथ्यों को उनमें पाई जाने वाली समानता या विभिन्नता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में व्यवस्थित रूप में विभाजित करते हैं तो वह वर्गीकरण कहलाता है। और जव वर्गीकृत तथ्यों को एक तालिका के रूप में कुछ स्कम्भों तथा पंक्तियों में व्यवस्थित कर देते हैं तो वह सारिणीयन कहलाता है। ये दोनों ही आवश्यक हैं क्योंकि इनके विना न तो तथ्यों का व्यवस्थित रूप सम्भव होता है और न ही उनके पारस्परिक सम्वन्धों को उचित रूप में समझा जा सकता है। इसीलिए तथ्यों का वर्गीकरण व सारिणीयन सामाजिक अनुसन्धान का एक अनिवार्य अंग बन गया है। अत: इनके विषय में अलग-अलग विवेचन कर देना अति आवश्यक होगा।

वर्गीकरण

(Classification)

आधुनिक युग में सांख्यिकीय विज्ञान (Statistics) का बहुत महत्त्व है। इसका प्रयोग संसार के समस्त वैज्ञानिक कार्यों में होता है। साधारण व्यक्ति भी अपने दैनिक जीवन में इसका किसी-न-किसी रूप में प्रयोग करते हैं। परन्तु फिर भी बहुत कम ऐसे मनुष्य हैं जिनको सांख्यिकीय विज्ञान का थोड़ा भी ज्ञान है। सांख्यिकी का मुख्य कार्य किसी भी विषय में सांख्यिकीय तथ्यों को एकत्रित करना और इन तथ्यों का क्रम से प्रदर्शित करना है जिससे विषय का विश्लेषण वैज्ञानिक रीति से किया जा सके। इस विश्लेषण के लिए तथ्यों का वर्गीकरण पहला चरण है। पर इस सम्बन्ध में और सब विवेचना करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम वर्गीकरण के अर्थ को ठीक से समझ जाएँ।

वर्गीकरण का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Classification)

किसी विषय पर सर्वेक्षण-कार्य के दौरान में एकत्रित की हुई सामग्री प्राय: बड़ी मात्रा में और बिखरी हुई दशा में होती है। इसमें किसी भी प्रकार की व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है। अत: विश्लेषण-कार्य के लिए उन्हें सीधे तौर पर उपयोग में नहीं लाया जा सकता। उन्हें उपयोगी बनाने के लिए समस्त एकत्रित तथ्यों को उनकी समानता, भिन्नता या अन्य किसी आधार पर कुछ निश्चित श्रेणियों में व्यवस्थित करना आवश्यक होता है। इसी को वर्गीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी कॉलेज के ५०० विद्यार्थियों के समाजशास्त्र में प्राप्तांक लिए जाएँ तो उससे किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना कठिन है। चूंकि किसी तुलना, विश्लेषण या व्याख्या के लिए सामग्री का संक्षिप्त रूप में होना आवश्यक है इसलिए समान लक्षण वाले तथ्यों को एक समूह के अन्तर्गत एवं भिन्न लक्षण वाले तथ्यों को अन्य समूहों के अन्तर्गत रखना आवश्यक होगा। जैसे कि उपरोक्त ५०० विद्यार्थियों में सभी सफल विद्यार्थियों को एक वर्ग में और सभी असफल विद्यार्थियों को दूसरे वर्ग में रक्खा जाएगा। यह सच है कि ये सभी ५०० विद्यार्थी समान रूप से समाजशास्त्र के छात्र हैं, एक ही कॉलेज में एक ही विषय को पढ़ते हैं, फिर भी कुछ विषयों में वे आपस में भिन्न भी हैं। जैसे पास होने वाले विद्यार्थी फेल होने वाले विद्यार्थियों से भिन्न हैं। अत: मोटे तौर पर उन ५०० विद्यार्थियों को दो श्रेणियों --पास और फेल—में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसके बाद भी पास होने वाले विद्यार्थियों को प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत बांटा जा सकता है। इसी प्रकार समानता और भिन्नता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत तथ्यों व मनुष्यों को बांटने की प्रक्रिया को वर्गीकरण कहते हैं।

सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वर्गीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा संग्रहित तथ्यों को उनकी समानता व असमानता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जाता है। श्री एलहान्स के अनुसार, "सादृश्यताओं व समानताओं के अनुसार तथ्यों को समूह एवं वर्गों में व्यवस्थित करने की प्रक्रिया पारिभाषिक दृष्टि से वर्गीकरण कहलाती है।"[1]

श्री कोनोर (Connor) ने लिखा है कि "वर्गीकरण तथ्यों को उनकी समानता तथा निकटता के आधार पर समूहों तथा वर्गों में क्रमबद्ध करने तथा व्यक्तिगत इकाइयों की भिन्नता के बीच पाए जाने वाले गुणों की एकात्मकता को प्रकट करने की एक प्रक्रिया है।"[2]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वर्गीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो संकलित तथ्यों को संक्षिप्त, स्पष्ट एवं सरलतम बनाने के साथ-साथ उन्हें उनकी समानता व भिन्नताओं के आधार पर कुछ निश्चित वर्गों या समूहों में व्यवस्थित करता है।

---

1. "The process of arranging data in groups or classes according to resemblances and similarities is technically called classification."—D. N. Elhance, *Fundamentals of Statistics*, p. 56.

2. "Classification is the process of arranging things (either actually or rationally) in groups and classes according to their resemblances and affinities and gives expression to the unity of attributes that may subsist amongst a diversity of individuals."—Connor, L. R., *Statistics in Theory and Practice*, 1936, p. 18.

परन्तु इस सम्बन्ध में एक गलत धारणा से हमें बचना चाहिए और वह यह कि वर्गीकरण के पश्चात् ही सांख्यिकीय तथ्य (statistical data) तुलना एवं व्याख्या के उपयुक्त हो जाते हैं अर्थात् वर्गीकरण मात्र से ही तथ्यों की तुलनात्मक विशेषता या गुण पूर्णतया स्पष्ट हो जाते हैं --यह समझने की गलती नहीं करनी चाहिए। वर्गीकरण तथ्यों के सारिणीयन की ओर ले जाने के लिए प्रथम चरण होता है और सांख्यिकीय तथ्यों को उचित रूप में प्रदर्शित करने का ढंग सुझाता है।

वर्गीकरण की विशेषताएँ
(Characteristics of Classification)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम वर्गीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) वर्गीकरण वह प्रक्रिया है जो कि तथ्यों के विशाल ढेर को कुछ सुनिश्चित वर्गों अथवा समूह में बाँट देता है जिससे कि अनेक बिखरे हुए आँकड़ों के समूह समानता व असमानता के आधार पर सजातीय वर्गों में सज जाते हैं।

(२) वर्गीकरण का प्रमुख आधार संकलित तथ्यों में पाई जाने वाली समानताएँ व भिन्नताएँ हैं। समान गुण वाले तथ्यों को एक श्रेणी में और भिन्न गुण वाले तथ्यों को दूसरे समूह में सुव्यवस्थित करना वर्गीकरण का काम है। इस प्रकार वर्गीकरण की प्रत्येक श्रेणी के अन्तर्गत जो तत्त्व आते हैं उनमें एकरूपता अवश्य ही होती है।

(३) वर्गीकरण उन्हीं तथ्यों का होता है जिनकी इकाइयों में भिन्नताएँ हैं। यदि सभी इकाइयाँ समान हैं तो वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं क्योंकि उन इकाइयों को विभिन्न इकाइयों में रखना सम्भव नहीं होगा। अतः किसी-न-किसी प्रकार की भिन्नता होना वर्गीकरण की प्रथम शर्त है।

(४) वर्गीकरण से विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाली इकाई की समस्त विशेषताएँ प्रगट नहीं होती हैं। उससे तो केवल वही विशेषता प्रगट होती है जिसको आधार मानकर वर्गीकरण किया गया है। यदि शिक्षा को आधार मानकर वर्गीकरण किया गया है तो शिक्षित वर्ग के अन्तर्गत आने वाले लोगों की केवल एक विशेषता ही प्रगट होगी अर्थात् वे सभी शिक्षित होंगे। पर हो सकता है कि स्वास्थ्य, आर्थिक स्थिति, धर्म, जाति आदि के विषय में उनमें पर्याप्त भिन्नताएँ हों।

वर्गीकरण के उद्देश्य
(Objects of Classification)

सामाजिक अनुसन्धान में वर्गीकरण का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति होती है—

(१) **संक्षिप्त तथा बोधगम्य समूहीकरण** (Brief and tangible Grouping)—वर्गीकरण का प्रथम उद्देश्य जटिल, बिखरे हुए, परस्पर असम्बद्ध तथ्यों को थोड़े से, समझने योग्य तथा तर्कसंगत समूह में रखना है। इण्टर परीक्षा देने वाले हजारों परीक्षार्थियों के प्राप्तांकों की विशाल सूची को देखकर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पर उन्हीं प्राप्तांकों के आधार पर जब हम परीक्षार्थियों का प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा असफल श्रेणियों में वर्गीकरण कर देते हैं तो उन्हें समझना व कुछ सामान्य निष्कर्ष निकालना सरल हो जाता है।

(२) **समानता तथा भिन्नता का स्पष्टीकरण** (Clarification of similarity and dissimilarity)—वर्गीकरण का दूसरा उद्देश्य इकाइयों की समानता तथा

असमानता को स्पष्ट करना है। यह स्पष्टीकरण अन्य सम्बन्धित बातों की जानकारी में सहायक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ, यदि वर्गीकरण से किसी समुदाय के लोगों के व्यावसायिक समूह स्पष्ट हो जाते हैं तो प्रत्येक व्यवसाय से सम्बन्धित अनेक विशेषताओं का हमें स्वतः ही ज्ञान हो जाता है।

(३) तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा (To afford comparative study)—वर्गीकरण के द्वारा दो वर्गों के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य सरल हो जाता है क्योंकि वर्गीकरण के द्वारा कुछ समान गुणों के आधार पर विभिन्न इकाइयाँ अलग-अलग श्रेणियों में बँट जाती हैं और उन श्रेणियों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन सम्भव होता है। उदाहरणार्थ, यदि दो प्रान्तों के लोगों को शिक्षित व अशिक्षित दो वर्गों में बाँट दिया जाए तो तुलनात्मक रूप में हम यह बता सकते हैं कि किस प्रान्त के लोग अधिक संख्या में शिक्षित हैं।

(४) तथ्यों के महत्त्व का ज्ञान (Knowledge of importance of Facts)—बिखरे हुए तथ्यों को देखकर उनके महत्त्व के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है। पर वर्गीकरण के द्वारा जब वही तथ्य थोड़े से वर्गों में विभक्त हो जाते हैं तो उनकी वास्तविकता स्वतः ही प्रगट हो जाती है और उन्हें समझने के लिए बुद्धि पर अनावश्यक जोर नहीं देना पड़ता है।

(५) विश्लेषण व व्याख्या में सरलता (Convenience in analysis and interpretation)—वर्गीकरण का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य तथ्यों को विश्लेषण व व्याख्या के लिए सरल बनाना है। तर्कसंगत रूप में तथ्यों को कुछ श्रेणियों में बाँट देने पर ही यह सम्भव होता है कि उनकी सांख्यिकीय विवेचना की जाए। माध्य मूल्य, विचलन तथा सहसम्बन्ध आदि को जानने के लिए वर्गीकरण अत्यन्त आवश्यक प्रक्रिया है।

(६) परिशुद्ध निष्कर्ष निकालने के कार्य को सरल बनाना (To make easy valid generalization)—वर्गीकरण उचित निष्कर्ष निकालने के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि वर्गीकरण के द्वारा संकलित तथ्य संक्षिप्त तथा बोधगम्य हो जाते हैं। उनमें पाई जाने वाली समानता व भिन्नता स्पष्ट हो जाती है और तुलनात्मक अध्ययन सम्भव होता है। इस प्रकार तथ्यों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के स्पष्टीकरण से परिशुद्ध निष्कर्ष निकालना सम्भव होता है।

आदर्श वर्गीकरण के गुण
(Characteristics of Ideal Classification)

वर्गीकरण के लिए कोई स्थायी नियम अपनाया नहीं जाता। वर्गीकरण किस ढंग से किया जाएगा यह अध्ययन-विषय के स्वभाव, सर्वेक्षण के उद्देश्य एवं लक्ष्य पर आधारित है। फिर भी एक आदर्श वर्गीकरण के कुछ गुणों का उल्लेख हम कर सकते हैं जो कि इस प्रकार है—

(१) वर्गीकरण में निश्चितता एवं स्पष्टता का होना आवश्यक है (Classification should be clear and unambiguous)—वर्गीकरण का कार्य ही असीमित तथ्यों को सीमित व स्पष्ट रूप प्रदान करना है अतः यदि वर्गीकरण अनिश्चित व अस्पष्ट हुआ तो वर्गीकरण के उद्देश्य की पूर्ति ही नहीं होती है। प्रत्येक वर्ग साफ, स्पष्ट, शंकारहित हो और प्रत्येक इकाई किसी-न-किसी वर्ग में स्पष्ट रूप से सम्मिलित हो—यही एक अच्छे वर्गीकरण की विशेषता है। यह सरल कार्य नहीं है; इसके लिए विषय के सम्बन्ध में पर्याप्त गुण का होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि हमें किसी

स्थान की जनता का वर्गीकरण उच्च, मध्यम तथा निम्न वर्गों में करना है तो यह आवश्यक है कि हमें उन आधारों का पूर्ण ज्ञान हो जिनके अनुसार एक व्यक्ति को इनमें से किसी एक वर्ग में सुनिश्चित रूप में रक्खा जा सकता है।

(२) **वर्गीकरण में स्थायित्व हो** (Classification should be stable)—वर्गीकरण का स्थायी होना अत्यन्त आवश्यक है। वर्गीकरण के अस्थायी होने का तात्पर्य यह है कि एकत्रित तथ्यों का यदि एक बार एक ढंग से वर्गीकरण किया गया है तो दूसरी बार दूसरे ढंग से। तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस प्रकार का वर्गीकरण उपयुक्त नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि एक बार हम वयस्क (adult) व्यक्तियों के समूह के अन्तर्गत १८ वर्ष से ऊपर की आयु के लोगों को सम्मिलित करते हैं और फिर दूसरी बार वर्गीकरण करते समय उसी समूह के अन्तर्गत २० वर्ष से ऊपर की आयु के लोगों को रखते हैं तो निश्चय ही हमारा वर्गीकरण वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अनुपयुक्त होगा।

(३) **वर्गीकरण परिवर्तनशील होना चाहिए** (Classification should be flexible)—वर्गीकरण के स्थायी होने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक बार जो वर्गीकरण कर दिया गया है वह हमेशा के लिए स्थायी होगा। एक आदर्श वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नवीन परिवर्तित परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने की क्षमता निहित हो। कोई भी वर्गीकरण सदा के लिए स्थायी नहीं रह सकता क्योंकि समयानुसार वर्गीकरण के आधारों में परिवर्तन होता रहता है।

(४) **अनुसन्धान के अनुकूल** (In accordance with the Enquiry)—वर्गीकरण इस प्रकार का होना चाहिए कि अनुसन्धान के उद्देश्यों के साथ उसका पूर्णतया मेल हो अर्थात् अनुसन्धान के उद्देश्यों के अनुकूल हो। यदि अनुसन्धान का उद्देश्य पास-फेल के आधार पर विद्यार्थियों की तुलना करना है तो जाति के आधार पर उनका वर्गीकरण करने से कोई लाभ नहीं होगा। वर्गीकरण पास-फेल के आधार पर करने से ही हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(५) **सांख्यिकीय शुद्धता** (Statistical Accuracy)—वर्गीकरण सांख्यिकीय दृष्टि से भी शुद्ध होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जितनी इकाइयों का वर्गीकरण करना है वे सभी इकाइयाँ वर्गीकरण के अन्तर्गत किसी-न-किसी वर्ग या समूह के अन्तर्गत अवश्य सम्मिलित हो जाएँ, यह जरूरी है। वर्गीकरण के विभिन्न वर्गों में सम्मिलित इकाइयों का योग यदि अध्ययन की जाने वाली समस्त इकाइयों के योग के बराबर है तो वर्गीकरण सांख्यिकीय दृष्टिकोण से परिशुद्ध है।

(६) **वर्गीकरण के वर्गों का आकार पर्याप्त होना चाहिए** (Size of the Classes should be adequate)—वर्गीकरण में एक यह विशेषता भी होनी बहुत जरूरी है कि इसके अन्तर्गत सम्मिलित किए गए विभिन्न वर्ग न तो अधिक बड़े हों और न ही अधिक छोटे। तथ्यों की मात्रा (संख्या एवं गुण) देखकर ही वर्गों का आकार निर्धारित किया जाना चाहिए। यदि वर्ग-विस्तार बहुत अधिक रख दिया गया है तो यह सम्भव है कि वर्गों की संख्या काफी कम हो जाएगी, पर इससे समस्या यह उत्पन्न होगी कि वे वर्ग तुलना की दृष्टि से अधिक उपयोगी व विश्वसनीय नहीं रह जाएँगे।

वर्गीकरण का आधार
(Basis of Classification)

एकत्रित तथ्यों का हम किस भाँति वर्गीकरण करेंगे यह तथ्यों की प्रकृति व प्रकार तथा अध्ययन के उद्देश्य पर निर्भर करता है। फिर भी वर्गीकरण के कुछ

आधारों का उल्लेख हम यहाँ कर सकते हैं—

(१) **गुणात्मक आधार** (Qualitative Basis)—गुणात्मक आधार पर वर्गीकरण उन तथ्यों का किया जाता है जिन्हें अंकों में प्रगट नहीं किया जा सकता। अतः ऐसे तथ्यों का वर्गीकरण उनके गुणों या लक्षणों के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण में एक गुण विशेष वाली इकाइयों को एक वर्ग या समूह में और दूसरे गुण वाली इकाइयों को दूसरे वर्ग या समूह में रखकर वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ, धर्म या वैवाहिक स्थिति या साक्षरता आदि के आधार पर किसी जन समुदाय का विभाजन गुणात्मक वर्गीकरण कहलाता है।

(२) **गणनात्मक आधार** (Quantitative Basis)—जब एकत्रित तथ्यों की प्रकृति इस प्रकार है कि उन्हें संख्याओं में व्यक्त किया जा सकता है तो उनका वर्गीकरण गणनात्मक आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, ऊँचाई, आयु, आय-व्यय, वजन आदि से सम्बन्धित तथ्यों का गणनात्मक आधार पर ही वर्गीकरण किया जाता है।

(३) **सामयिक आधार** (Periodical Basis)—इस आधार पर किए गए वर्गीकरण में 'समय' को वर्गीकरण का आधार माना जाता है। अर्थात् इसमें तथ्यों का वर्गीकरण समय के आधार पर किया जाता है। इस आधार पर वर्गीकरण करना अत्यन्त सरल होता है क्योंकि विभिन्न समय या अवधि के अन्तर्गत तथ्यों को रखना कठिन नहीं होता। उदाहरणार्थ, किसी मिल या फैक्ट्री में विभिन्न वर्षों में श्रमिकों की संख्या अथवा प्रति दस वर्ष के बाद-बाद भारत में हुई जनगणना के आधार पर भारत की कुल जनसंख्या का वर्गीकरण हम सामयिक आधार पर कर सकते हैं।

(४) **भौगोलिक आधार** (Geographical Basis)—संकलित तथ्यों का स्थान अथवा भौगोलिक क्षेत्र के अनुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, विभिन्न प्रान्तों में बी० ए० (फाइनल) कक्षा में पास होने वाले विद्यार्थियों का वर्गीकरण भौगोलिक आधार पर किया गया वर्गीकरण ही होगा।

वर्गीकरण के प्रकार
(Types of Classification)

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त आधारों पर किए गए वर्गीकरण ही वर्गीकरण का एक-एक प्रकार बन जाता है। पर इन चार प्रकारों में कुछ उप-प्रकार (sub-types) भी हैं और कुछ अन्य प्रकार के वर्गीकरणों का भी उल्लेख किया जाता है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो सकेगी—

(१) गुणात्मक वर्गीकरण
(Qualitative Classification)

किसी विशिष्ट गुण के होने या न होने के आधार पर जब तथ्यों को विभिन्न वर्गों या समूहों में बाँट दिया जाता है तो उसे गुणात्मक वर्गीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि वैवाहिक स्थिति (marital status) के आधार पर हमें १०० व्यक्तियों का वर्गीकरण करना है तो वह इस प्रकार होगा—

विवाहित	५९
अविवाहित	२५
विधवा	९
विधुर	५
तलाक़ प्राप्त	२
कुल योग	१००

गुणात्मक वर्गीकरण भी दो प्रकार का होता है—

(अ) **सरल या विभेदात्मक वर्गीकरण** (Simple or Dichotomous Classification)—इस प्रकार के वर्गीकरण में तथ्यों का वर्गीकरण तो उनके गुणों के आधार पर किया जाता है परन्तु गुण की उपस्थिति और अनुपस्थिति के केवल दो ऐसे वर्ग या समूह बनाए जाते हैं जिससे कि उन तथ्यों के अन्तर्निहित विभेद स्पष्ट हो जाएँ—जैसे, शिक्षित-अशिक्षित, स्त्री-पुरुष, देशी-विदेशी, रक्त सम्वन्धी व गैर-रक्त सम्वन्धी आदि।

(ब) **वहुगुणी वर्गीकरण** (Manifold Classification)—जव तथ्यों को उनके गुणों के आधार पर दो से अधिक वर्गों में वाँटा जाता है तो उसे वहुगुणी वर्गीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि धर्म के आधार पर हम १०० व्यक्तियों को हिन्दू, जैन, वौद्ध, सिक्ख, ईसाई और इस्लाम धर्म के अन्तर्गत वाँट देते हैं तो वह वहुगुणी वर्गीकरण होगा। इनमें से प्रत्येक का आगे और विभाजन हो सकता है जैसे हिन्दू धर्म को मानने वाले लोगों का पौराणिक धर्म, वैष्णव धर्म, शैव धर्म तथा शाक्त धर्म में वर्गीकरण किया जा सकता है। उसी प्रकार ईसाई धर्म के लोगों को रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट इन दो वर्गों में वाँटा जा सकता है। उसी प्रकार शिक्षा के आधार पर एक वहुगुणी वर्गीकरण इस प्रकार का हो सकता है—

- जन समुदाय
  - शिक्षित
    - शिक्षित पुरुष
      - शिक्षित हिन्दू पुरुष
      - शिक्षित मुस्लिम पुरुष
      - शिक्षित ईसाई पुरुष
    - शिक्षित स्त्रियाँ
      - शिक्षित हिन्दू स्त्रियाँ
      - शिक्षित मुस्लिम स्त्रियाँ
      - शिक्षित ईसाई स्त्रियाँ
  - अशिक्षित
    - अशिक्षित पुरुष
      - अशिक्षित हिन्दू पुरुष
      - अशिक्षित मुस्लिम पुरुष
      - अशिक्षित ईसाई पुरुष
    - अशिक्षित स्त्रियाँ
      - अशिक्षित हिन्दू स्त्रियाँ
      - अशिक्षित मुस्लिम स्त्रियाँ
      - अशिक्षित ईसाई स्त्रियाँ

गुणात्मक वर्गीकरण का कोई निश्चित नियम नहीं होता है। अनुसन्धानकर्त्ता प्रायः अपनी स्वेच्छा से (arbitrarily) या अनुसन्धान के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए अपनी सुविधानुसार तथ्यों को कुछ निश्चित वर्गों में वाँट लेता है। पर गुणात्मक वर्गीकरण में कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि यह तय करना कठिन होता है कि किसी इकाई को किस वर्ग में रक्खा जाए। उदाहरणार्थ, जो पति-पत्नी

तलाक (divorce) के लिए अदालत में मुकदमा लड़ रहे हैं उन्हें विवाहित वर्ग के अन्तर्गत रक्खा जाए या तलाक प्राप्त वर्ग के अन्तर्गत—यह निश्चय करने में असुविधा होती है। अतः गुणात्मक वर्गीकरण में अत्यन्त सावधानी वरतने की आवश्यकता होती है।

(२) गणनात्मक वर्गीकरण
(Quantitative Classification)

गणनात्मक वर्गीकरण में तथ्यों का प्रदर्शन प्रत्यक्ष रूप से अंकों या संख्याओं में किया जाता है। आय, व्यय, उत्पादन, भार, आयु, लम्बाई, चौड़ाई आदि से सम्बन्धित तथ्यों का वर्गीकरण गणनात्मक वर्गीकरण ही होता है। यह वर्गीकरण आवृत्ति वितरण (frequency distribution) पर आधारित होता है जो कि तथ्यों के विस्तार (magnitude) के अनुसार किया जाता है। गणनात्मक वर्गीकरण के निम्नलिखित प्रकार हैं—

(अ) खंडित श्रेणी के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to Discrete Series)—कुछ तथ्य इस प्रकार के होते हैं जिन्हें कि पूरे-पूरे अंक या संख्या में प्रकट किया जा सकता है जैसे बच्चों या परिवारों की संख्या। बच्चों की संख्या १, २, ३, ४ आदि पूर्ण अंक में ही होगी, न कि १·५, २·७ या ३·६ में। उसी प्रकार परिवार के सदस्यों की संख्या २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि में और शिक्षा का स्तर ८वीं, ९वीं, १०वीं आदि कक्षा के रूप में व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार के अंकों को खंडित माला या खंडित श्रेणी (discrete series) कहते हैं। इन खंडित श्रेणियों के आधार पर भी वर्गीकरण किया जाता है। यदि एक ही खंडित अंक या श्रेणी एकत्रित तथ्यों में बार-बार प्रकट होती है तो इस प्रकार बार-बार आने की संख्या उस श्रेणी की आवृत्ति (frequency) कहलाती है। इस आवृत्ति को तथ्य की किसी खंडित श्रेणी के सामने रखकर जब वर्गीकरण किया जाता है तो उसे आवृत्ति सारिणी (frequency table) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि २० परिवारों में बच्चों की संख्या ५, ३, ४, २, ६, ७, २, १, ८, ३, १, ५, ४, ५, ३, ४, १, ५, ४ और ६ है, तो खंडित श्रेणियों के अनुसार आवृत्ति वितरण (frequency distribution) के आधार पर इन २० परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

बच्चों की संख्या	परिवारों की संख्या (आवृत्ति)
१	३
२	२
३	३
४	४
५	४
६	२
७	१
८	१
कुल योग	२०

(ब) अखंडित श्रेणियों अथवा वर्गान्तर के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to continuous Series of Class Intervals)—जब संकलित

तथ्यों की कुल संख्या बहुत अधिक हो और सबसे बड़े व सबसे छोटे पद में अन्तर भी बहुत अधिक हो तो ऐसी स्थिति में तथ्यों को एक-एक समूह के रूप में प्रकट किया जाता है। ऐसी स्थिति में गणनात्मक तथ्यों की सीमाएँ स्वेच्छिक तौर पर (arbitrarily) निश्चित कर दी जाती हैं और उन्हीं सीमाओं के अन्दर रहते हुए तथ्यों को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया जाता है। एकत्रित तथ्यों की प्रकृति के अनुसार ही ये सीमाएँ अर्थात् एक ऊर्द्धतम सीमा (upper limit) और दूसरी निम्नतम सीमा (lower limit) निश्चित की जाती है। और फिर इन दोनों सीमाओं के अन्दर कुछ वर्ग अपनी स्वेच्छा या सुविधानुसार बना लिए जाते हैं। जैसे यदि आय के सम्बन्ध में एकत्रित आँकड़ों से यह पता चले कि सबसे कम आय १०० रु० है और सबसे अधिक आय १००० रु० है तो इन दोनों निम्नतम व ऊर्द्धतम सीमा के बीच हम कुछ आय-समूहों (income groups) को बना सकते हैं जैसे १०० से २०० पाने वाला आय-समूह, २०० से ३००, ३०० से ४०० आदि। प्रत्येक वर्ग की निम्नतम व ऊर्द्धतम सीमा के बीच जो अन्तर होता है उसे वर्गान्तर या वर्ग-विस्तार (class interval) कहते हैं। इस वर्गान्तर को हम निम्नलिखित चार प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं—

१	२	३	४
१०—२०	१० तथा २० से कम	१०—१९	१०
२०—४०	२० तथा ४० से कम	२०—३९	३०
४०—६०	४० तथा ६० से कम	४०—५९	५०
६०—८०	६० तथा ८० से कम	६०—७९	७०
८०—१००	८० तथा १०० से कम	८०—९९	९०

उपरोक्त चार प्रकार से वर्ग-सीमाओं को प्रायः प्रदर्शित किया जाता है। पर प्रथम व तृतीय प्रणाली ही अधिक लोकप्रिय है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वर्गान्तर के आधार पर भी तथ्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, समाजशास्त्र की एक कक्षा के ६० विद्यार्थियों को ५० नम्बर के एक प्रश्न-पत्र में जो नम्बर मिले वह इस प्रकार हैं—२२, ४७, ९, ४२, ३१, १७, १३, १५, १८, १३, २, २१, २७, ३८, १५, ०, ३३, १०, ३४, २९, २६, १६, २५, ३३, ३६, १०, २४, २२, २६, १९, १४, ३६, १८, २५, २१, ३३, ३५, २५, १८, २८, २५, २७, ३८, १०, ३, ३१, २४, ३, १२, १६, ३३, १४, २६, २९, २७, २९, २८, ३५, २६ और २७। इन प्राप्तांकों को वर्गान्तर के अनुसार वर्गीकरण करने से परिणाम इस प्रकार का होगा—

प्राप्तांक (वर्ग)	विद्यार्थियों की संख्या (आवृत्ति)
०— ५	४
५—१०	१
१०—१५	७
१५—२०	११
२०—२५	६
२५—३०	१६
३०—३५	७
३५—४०	६
४०—४५	१
४५—५०	१
कुल योग	६०

उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि ६० विद्यार्थियों को १० समूहों में प्राप्तांक के आधार पर विभाजित किया गया है। साधारणतया समूहों या वर्गों की संख्या २०/२५ से ज्यादा या ६/८ से कम नहीं होनी चाहिए। फिर भी वर्गों की कुल संख्या संकलित तथ्यों की कुल संख्या पर निर्भर करती है। यदि वर्गों की संख्या बहुत कम है तो वर्गीकरण का रूप सरल अवश्य होगा, पर साथ ही यह सम्भावना होगी कि संकलित तथ्यों की कोई विशेषता या कुछ गुण पर्याप्त रूप में प्रकट न हो सकें। उसी प्रकार वर्गों की संख्या बहुत अधिक होने से वर्गीकरण का महत्त्व ही कम हो जाता है और तथ्यों को सरलता से समझा नहीं जा सकता। अतः वर्गों की संख्या का निर्धारण खूब सोच-विचारकर करना चाहिए।

(३) सामयिक वर्गीकरण
(Periodical Classification)

यह समय पर आधारित वर्गीकरण है। इसमें समय या अवधि (period) ही प्रधान होता है। जब हम एकत्रित तथ्यों को दिनों, महीनों, वर्षों, अथवा किसी ऐतिहासिक क्रम के अनुसार व्यवस्थित व वर्गीकृत करते हैं तो उसे सामयिक वर्गीकरण कहा जाता है। निम्नलिखित उदाहरण में लखनऊ विश्वविद्यालय में सन् १९४५ से सन् १९५१ तक के विद्यार्थियों की संख्या का वर्गीकरण किया गया है—

लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या

वर्ष	आर्ट्स के छात्र	साइंस के छात्र	लॉ के छात्र	कामर्स के छात्र	कुल छात्र
१९४५-४६	१७८३	५९०	३९१	४०१	३१६५
१९४६-४७	२०५७	६५०	४७८	५३२	३७१७
१९४७-४८	२०९६	७२३	४३८	६४०	३८९७
१९४८-४९	२२५२	८४८	३९४	६८९	४१८३
१९४९-५०	२२६७	९००	५५४	७२६	४४४७
१९५०-५१	२६१३	१२१८	४८६	७४९	५०६६

(४) स्थानानुसार वर्गीकरण
(Classification according to Place)

यदि संकलित तथ्यों को स्थान या भौगोलिक स्थिति के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है तो उसे स्थानानुसार वर्गीकरण कहते हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण से हो सकेगा—

संसार के विभिन्न महाद्वीपों का क्षेत्रफल

महाद्वीप	क्षेत्रफल (१००) वर्ग किलोमीटर में
एशिया	४१,६००
दक्षिणी अमेरिका	४०,६८७
अफ्रीका	२६,६४६
उत्तरी अमेरिका	१६,६५३
यूरोप	११,४२६
ओसीनिया	८,५५०
अन्य	२,७६४
कुल योग	१,५४,६२६

सारिणीयन
(Tabulation)

सामाजिक अनुसन्धान में वर्गीकरण की प्रक्रिया के पश्चात् सामग्री को और भी स्पष्ट तथा बोधगम्य करने के लिए तथ्यों का सारिणीयन किया जाता है। वास्तव में सारिणीयन वर्गीकरण के पश्चात् विश्लेषण-कार्य में अगला कदम होता है। इसके माध्यम से तथ्यों में सरलता और स्पष्टता आती है और गणनात्मक तथ्य अधिक व्यवस्थित होकर प्रदर्शन के योग्य बन जाते हैं। इसके अन्तर्गत तथ्यों को विभिन्न स्कम्भों (columns) तथा पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है जिससे तथ्यों को समझने में सुविधा व सरलता हो। सर्वश्री जहोडा, ड्यूट्श, कूक आदि (Jahoda, Duetsch and Cook) ने लिखा है कि "जिस प्रकार संकेतन (coding) को तथ्यों के श्रेणीबद्ध करने की प्राविधिक पद्धति कहा जाता है, उसी प्रकार सारिणीयन को सांख्यिकीय तथ्यों के विश्लेषण की प्राविधिक प्रक्रिया का अंग माना जाता है।"[3]

सारिणीयन की परिभाषा
(Definition of Tabulation)

श्री एलहांस (Elhance) के अनुसार, "विस्तृत अर्थ में, सारिणीयन तथ्यों की स्कम्भों तथा पंक्तियों में व्यवस्थित व्यवस्था है। यह एक ओर तथ्यों के संकलन और

3. "Just as coding is thought of as the technical procedure for the categorization of data, so tabulation may be considered as a part of the technical process in the statistical analysis of data"—Jahoda, Duetsch and W. Cook, *Research Methods in Social Relations*, p. 270.

दूसरी ओर तथ्यों के अन्तिम विश्लेषण के बीच की एक प्रक्रिया है।"[4]

डॉ० चतुर्वेदी (Chaturvedi) ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है, "दो दिशाओं में पढ़ा जा सके इस रूप में कुछ पंक्तियों तथा स्कम्भों में तथ्यों को एक क्रमवद्ध तौर पर व्यवस्थित करने की प्रक्रिया को सारिणीयन कहा जाता है।"[5]

सर्वश्री घोष एवं चौधरी (Ghose and Chaudhry) के अनुसार, 'सारिणीयन द्वारा गणनात्मक तथ्यों का इस भांति व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रदर्शन करना है कि विचाराधीन समस्या स्पष्ट हो जाए।"[6]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि जब एकत्रित तथ्यों का समुचित वर्गीकरण करके उन वर्गीकृत तथ्यों को एक तालिका के अन्तर्गत कुछ स्कम्भों (columns) तथा पंक्तियों (rows) में इस प्रकार व्यवस्थित ढंग से सजा दिया जाता है कि तथ्यों की विशेषताएँ व तुलनात्मक महत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है, तो इस प्रक्रिया को सारिणीयन कहते हैं।

सारिणीयन के उद्देश्य
(Objects of Tabulation)

सामाजिक अनुसन्धान-कार्य में सारिणीयन का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि यह कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति करता है। वे उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(१) तथ्यों को सुस्पष्ट तथा वोधगम्य बनाना (To make the Data clear and understandable)—सारणीयन का आधारभूत उद्देश्य एक तालिका के रूप में तथ्यों को इस प्रकार व्यवस्थित ढंग से सजा देना है कि वह सुस्पष्ट तथा वोधगम्य हो जाए। यदि हम तथ्यों के विषय में वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हैं तो तथ्यों की वास्तविकताओं को समझना सरल न होगा। सारिणीयन की प्रक्रिया इसी कार्य को सरल वना देती है। तथ्यों की सारिणी वन जाने से तथ्य स्वतः ही सुस्पष्ट तथा वोधगम्य हो जाते हैं।

(२) विशेषताओं का प्रदर्शन करना (To exhibit the Characteristics)—सारिणीयन का एक अन्य उद्देश्य तथ्यों की विशेषताओं का प्रदर्शन करना है। वास्तव में सारिणी वन जाने से तथ्य कुछ सुनिश्चित स्कम्भों तथा पंक्तियों में सज जाते हैं। फलतः उनकी अनेक विशेषताएँ आप-से-आप प्रगट होने लगती हैं। सच तो यह है कि तथ्यों की विशेषताओं को क्रमवद्ध रूप में रखना सारिणीयन की आधारभूत मान्यता है। इसीलिए सारिणी को देखकर एक ही दृष्टि में तथ्यों की सर्वांगीण स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

---

4. "In the broadest sense tabulation is an orderly arrangement of data in columns. It is a process between the collection of data on the one hand, and its final analysis on other."—D. N. Elhance, *Fundamentals of Statistics*, 1960, p. 65.

5. "The process of arranging the data in an orderly manner into rows and columns capable of being read into two directions is called tabulation."—Dr. J. C. Chaturvedi, *Mathematical Statistics*, 1954, p. 43.

6. "Tabulation stands for the systematic and scientific presentation of quantitative data in such a form as to elucidate the problem under consideration."—M. K. Ghose and S. C. Chaudhry, *Statistics : Theory and Practice*, 1958, p. 94.

(३) **तथ्यों को तुलना योग्य बनाना** (To make Data Comparable)—सारिणीयन का तीसरा उद्देश्य तथ्यों को इस प्रकार व्यवस्थित ढंग से सजा देना है कि उनका तुलनात्मक अध्ययन सरलतापूर्वक किया जा सके। वास्तविकता तो यह है कि तथ्यों को जैसे ही एक सारिणी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट होने लगता है। उदाहरणार्थ, पिछले पाँच वर्षों में एक कॉलेज में प्रतिवर्ष कितने विद्यार्थी पढ़ते रहे हैं, इसकी तालिका या सारिणी जैसे ही बन जाएगी वैसे ही किसी भी वर्ष में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या की तुलना अन्य किसी भी वर्ष की संख्या के साथ सरलता से की जा सकती है। श्री सेक्रिस्ट (Secrist) ने इसी दृष्टिकोण से लिखा है कि "सारिणी वह साधन है जिससे वर्गीकरण द्वारा की गई विवेचना को स्थायी स्वरूप प्रदान किया जाता है तथा समान व तुलनात्मक इकाइयों को उचित स्थान पर रक्खा जाता है।"[7]

(४) **तथ्यों को संक्षिप्त रूप प्रदान करना** (To summarize the Data)—सारिणी का एक अन्तिम उद्देश्य तथ्यों को इस प्रकार संक्षिप्त करना है कि उनके महत्त्वपूर्ण गुणों को न छिपाते हुए उन्हें कम-से-कम स्थान के अन्दर प्रदर्शित किया जा सके। यही कारण है कि ५० हजार विद्यार्थियों के प्राप्तांकों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय व फेल —इन चार स्कम्भों के अन्तर्गत एक सारिणी बनाकर किसी कागज या किताब की केवल कुछ पंक्तियों में प्रदर्शित किया जा सकता है। इसीलिए श्रीमती यंग ने उचित ही लिखा है कि "सांख्यिकीय सारिणी को सांख्यिकी की आशुलिपि (shorthand) कहा गया है।"[8]

एक उत्तम सारिणी के गुण
(Characteristics of a Good Table)

सारिणी एकत्रित तथ्यों को सरल, बोधगम्य तथा आकर्षक बनाने का एक साधन है और एक साधन के रूप में इसे अधिक-से-अधिक उत्तम प्रकृति का होना चाहिए। इसके लिए कुछ गुणों का होना आवश्यक है जो कि इस प्रकार हैं—

(१) **आकर्षकता** (Attractiveness)—एक उत्तम सारिणी को इस प्रकार होना चाहिए कि वह हमारे ध्यान को स्वतः ही अपनी ओर खींच ले। सारिणी के आकर्षक होने के लिए उसके खानों का समानुपातिक होना, संख्याओं को लिखने का ढंग, स्वच्छता तथा लेख की सुन्दरता आदि आवश्यक तत्त्व हैं। सारिणी बनाना भी एक कला है और इसीलिए उच्चतम कलात्मकता का प्रदर्शन उत्तम सारिणी का एक गुण बन जाता है।

(२) **समुचित आकार** (Adequate Size)—एक उच्चस्तरीय सारिणी का आकार समुचित होना चाहिए। 'समुचित' से तात्पर्य यह है कि आकार न बहुत बड़ा हो और न ही बहुत छोटा। बहुत बड़ा आकार होने से सारिणी की सरलता नष्ट हो जाती है। सारिणी का एक उद्देश्य एकत्रित तथ्यों को संक्षिप्त रूप प्रदान करना है। आकार बहुत बड़ा होने पर इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती है। उसी प्रकार आकार

---

7. "Tables are a means of recording in permanent form the analysis that is made through classification and of placing in the right position things that are similar and should be compared."—Horace Secrist, *Social Survey and Research*, p. 273.

8. "Statistical tables have been referred to as the shorthand of Statistics."—P. V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, 1960, p. 239.

बहुत छोटा होने पर कुछ तथ्यों की विशेषताएँ प्रगट नहीं हो पाती हैं और न ही तुलनात्मक अध्ययन पूर्णतया किया जा सकता है। यह भी सारिणी के उद्देश्य के विपरीत है। इतना ही नहीं, सारिणी का आकार बहुत बड़ा होने पर उस कागज को मोड़कर रखना पड़ता है जिसपर कि सारिणी बनी है जिससे कि कागज के फटने की सम्भावना रहती है। यदि तथ्य अधिक विस्तृत हैं तो एक से अधिक सारिणी का प्रयोग किया जा सकता है।

(३) **तुलना की सुविधा** (Comparability)—एक अच्छे किस्म की सारिणी में तथ्यों को इस प्रकार व्यवस्थित रूप में सजाकर प्रस्तुत किया जाता है कि विभिन्न तथ्यों के बीच तुलनात्मक अध्ययन करना हमारे लिए सरल हो जाए। आँकड़ों की तुलना सारिणी का एक प्रमुख उद्देश्य होता है और इसीलिए इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए तथ्यों को सारिणी के अन्तर्गत क्रमबद्ध रूप प्रदान करना उचित होता है।

(४) **स्पष्टता तथा सरलता** (Clarity and Simplicity)—एक उत्तम सारिणी का स्पष्ट तथा सरल होना भी परमावश्यक है। सारिणी इतनी सरल व स्पष्ट होनी चाहिए कि एक साधारण व्यक्ति भी उसे देखकर समझ सके अर्थात् तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषताएँ उसके लिए स्पष्ट हो जाएँ। सारिणी के स्पष्ट व सरल होने पर किसी भी आवश्यक आँकड़े को हम तुरन्त ढूँढ़ सकते हैं।

(५) **उद्देश्य के अनुकूल** (In accordance with the Purpose)—सारिणी का निर्माण इस ढंग से किया जाना चाहिए कि अध्ययन के उस उद्देश्य की पूर्ति हो जिस उद्देश्य से सारिणी को तैयार करना आवश्यक समझा गया है। उदाहरणार्थ, यदि अध्ययन का उद्देश्य जनसंख्या के चढ़ाव-उतार का विश्लेषण करना है तो सारिणी में उन्हीं आँकड़ों को प्रस्तुत करना होगा जिससे यह चढ़ाव-उतार स्पष्ट हो जाए। अनावश्यक आँकड़ों या तथ्यों का वहिष्कार करना ही उचित होता है क्योंकि सारिणी में उन्हें सम्मिलित कर लेने पर सारिणी बोझिल हो जाती है।

(६) **वैज्ञानिकता** (Scientificness)—इसका तात्पर्य यह है कि सारिणी को मनमाने ढंग से न बनाकर निश्चित वैज्ञानिक ढंग को अपनाना चाहिए। वैज्ञानिक विधि से निर्मित सारिणी ही वास्तव में उपयोगी होती है। यदि असम्बद्ध और बिना किसी क्रम के आँकड़ों को प्रस्तुत किया जाए तो इस प्रकार निर्मित सारिणी से हमें कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इससे न तो तथ्यों की विशेषताएँ स्पष्ट होंगी और न ही उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकेगा। अतः यह आवश्यक है कि सारिणी का निर्माण खूब सोच-विचारकर तथा वैज्ञानिक विधि के अनुसार किया जाए।

सांख्यिकीय सारिणीयों के प्रकार
(Types of Statistical Tables)

सांख्यिकीय सारिणीयों के प्रकारों का उल्लेख हम दो आधारों पर कर सकते हैं। प्रथम उद्देश्य के आधार पर और द्वितीय आकार के आधार पर। उद्देश्य के आधार पर सारिणीयों के दो प्रकारों का उल्लेख किया जाता है—(अ) सामान्य उद्देश्यीय सारिणी और (ब) विशिष्ट उद्देश्यीय अथवा संक्षिप्त सारिणी। उसी प्रकार आकार के आधार पर भी सारिणी दो प्रकार की होती है—(क) सरल सारिणी एवं (ख) जटिल सारिणी। इन चारों प्रकार की सारिणीयों के विषय में अब हम विवेचना करेंगे—

सामान्य उद्देश्यीय सारिणी
(General Purpose Table)

सर्वश्री क्रॉक्सटन तथा काउडेन (Groxten and Cowden) ने सामान्य उद्देश्यीय सारिणी को सन्दर्भ-सारिणी (reference table) के नाम से पुकारा है क्योंकि उनका कहना है कि इस प्रकार की सारिणीयों से हमें केवल कुछ विषयों के सन्दर्भ का ज्ञान होता है और किसी भी एक इकाई के बारे में जानने में सुविधा होती है। इन विद्वानों के अनुसार, "सन्दर्भ-सारिणी का प्राथमिक तथा प्रायः एकमात्र उद्देश्य तथ्यों (data) को इस ढंग से प्रस्तुत करना है कि व्यक्तिगत मदों (individual items) को पाठक तुरन्त ढूँढ़ सके।"[9] इस प्रकार की सारिणीयों का कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं रहता; और किसी विषय का सन्दर्भ ढूंढ़ने में आसानी हो इस उद्देश्य से इस प्रकार की सारिणीयों को किसी प्रकाशित रिपोर्ट के अन्त में लगा दिया जाता है। इस प्रकार की सारिणी में तथ्यों को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत न करके ज्यों का त्यों केवल सूचना प्रदान करने के उद्देश्य से व्यवस्थित करके रख दिया जाता है।

संक्षिप्त सारिणी
(Summary Table)

सर्वश्री क्रॉक्सटन तथा काउडेन (Croxten and Cowden) ने लिखा है, "संक्षिप्त सारिणी जो प्रायः आकार में छोटी होती है, किसी एक निष्कर्ष अथवा कुछ निकट सम्बन्ध वाले निष्कर्षों को अधिक-से-अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से रखने के लिए तैयार की जाती है।" वास्तव में संक्षिप्त सारिणी सामान्य उद्देश्यीय सारिणी का एक छोटा रूप होती है जिसको कि कुछ तथ्यों की विशेषताओं को विशिष्ट रूप से प्रदर्शित करने के उद्देश्य से तैयार किया जाता है। इसीलिए संक्षिप्त सारिणी में उन सभी तथ्यों को छोड़ दिया जाता है जो कि विशिष्ट उद्देश्य से असम्बन्धित हैं।

सरल सारिणी
(Simple Table)

सरल सारिणी को एकगुणीय सारिणी (single or one-way Table) भी कहा जाता है क्योंकि इस प्रकार की सारिणी में तथ्यों के केवल एक लक्षण या गुण को ही प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार की सारिणी एक या अधिक प्रश्नों का सरलता से उत्तर दे सकती है जो एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं वरन् स्वतन्त्र होते हैं। अर्थात् इसके द्वारा किसी एक वर्ग से सम्बन्धित एक ही स्वतन्त्र कारक का प्रदर्शन होता है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित एकगुणीय सारिणी १०० विद्यार्थियों द्वारा केवल गणित में प्राप्त अंकों का प्रदर्शन करती है—

---

9. "The primary and usually the sole purpose of a reference table is to present the data in such a manner that individual items may be found readily by the reader."—Croxten and Cowden, *Applied General Statistics*, p. 213.

गणित में १०० विद्यार्थियों के प्राप्तांक

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या
३०—४०	१५
४०—५०	२५
५०—६०	२९
६०—७०	२१
७०—८०	१०
योग	१००

उपरोक्त सारिणी से १०० विद्यार्थियों के केवल एक गुण का प्रदर्शन होता है अर्थात् गणित में उन्हें कितने नम्बर मिले हैं। इस सारिणी से यह पता नहीं चलता कि अन्य विषयों में उन विद्यार्थियों को कितने नम्बर मिले हैं। इसीलिए इन्हें एकगुणीय सारिणी कहते हैं।

जटिल सारिणी
(Complex Table)

जटिल सारिणी में तथ्यों के विषय में एक से अधिक लक्षणों पर प्रकाश डाला जाता है। इस प्रकार की सारिणी जटिल केवल इसी अर्थ में है कि तथ्यों से सम्बन्धित कई गुणों को यह एकसाथ प्रदर्शित करती है। कितने गुणों को प्रगट करती है, इस आधार पर जटिल सारिणी को द्विगुणीय सारिणी, त्रिगुणीय सारिणी एवं बहुगुणीय सारिणी में विभाजित किया जाता है। इनमें से प्रत्येक की विवेचना हम यहाँ एक-एक करके करेंगे—

(१) द्विगुणीय सारिणी (Two-way Table)—जब एक ही सारिणी में किसी तथ्य से सम्बन्धित दो प्रकार के लक्षणों अथवा गुणों को प्रदर्शित किया जाता है तो उसे द्विगुणीय सारिणी कहते हैं। अनुसन्धान-कार्य के लिए यह प्रायः आवश्यक होता है कि एक ही तथ्य के दो पक्षों का स्पष्टीकरण किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही द्विगुणीय सारिणी का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि उपरोक्त १०० विद्यार्थियों में छात्र और छात्राओं दोनों के प्राप्तांकों को प्रदर्शित करने के लिए एक सारिणी का निर्माण किया जाएगा तो वह द्विगुणीय सारिणी कहलाएगी जैसे—

गणित में १०० विद्यार्थियों के प्राप्तांक

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या		
	छात्र	छात्राएँ	योग
३०—४०	९	६	१५
४०—५०	१६	९	२५
५०—६०	१५	१४	२९
६०—७०	१२	९	२१
७०—८०	६	४	१०
योग	५८	४२	१००

उपरोक्त सारिणी से स्पष्ट है कि ९ छात्र और ६ छात्राओं अर्थात् कुल १५ विद्यार्थियों ने ३० और ४० के बीच अंक प्राप्त किए। उसी प्रकार ४० और ५० के बीच अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की कुल संख्या २५ है जिनमें १६ छात्र और ९ छात्राएँ हैं। इस प्रकार उपरोक्त सारिणी से हम दो सम्बन्धित घटनाओं के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

(२) **त्रिगुणीय सारिणी** (Three-way Table)—इस प्रकार की सारिणी, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, किसी घटना या तथ्य की तीन विशेषताओं की सूचना देती है। इसीलिए इसे त्रिगुणीय सारिणी कहा जाता है। अतः इस प्रकार की सारिणी को उसी समय तैयार किया जाता है जबकि किसी तथ्य से सम्बन्धित तीन लक्षणों को एकसाथ प्रदर्शित करने की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ उपरोक्त द्विगुणीय सारिणी में छात्र व छात्राओं का छात्रावास में रहने और न रहने के आधार पर आगे और विभाजन कर दें तो वह सारिणी त्रिगुणीय सारिणी होगी क्योंकि विद्यार्थियों की संख्या, छात्रावास में रहना और छात्रावास में न रहना ये तीन परस्पर सम्बन्धित सूचनाएँ उस सारिणी से प्राप्त हो सकेंगी।

गणित में १०० विद्यार्थियों क प्राप्तांक
(छात्रावास में रहने, न रहने के आधार पर)

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या								
	छात्र			छात्राएँ			कुल योग		
	छात्रावास में न रहने वाले	छात्रावास में रहने वाले	योग	छात्रावास में न रहने वाली	छात्रावास में रहने वाली	योग	छात्रावास में रहने वाले	छात्रावास में न रहने वाले	योग
३०—४०	४	५	९	४	२	६	८	७	१५
४०—५०	६	१०	१६	५	४	९	११	१४	२५
५०—६०	६	९	१५	७	७	१४	१३	१६	२९
६०—७०	७	५	१२	६	३	९	१३	८	२१
७०—८०	४	२	६	२	२	४	६	४	१०
योग	२७	३१	५८	२४	१८	४२	५१	४९	१००

उपरोक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि ३० और ४० के बीच अंक प्राप्त करने वाले ९ छात्रों में ४ छात्र ऐसे हैं जो कि छात्रावास में निवास नहीं करते और ५ छात्र ऐसे हैं जो छात्रावास में रहते हैं। इसी वर्ग में ६ छात्राएँ हैं जिनमें से ४ छात्रावास में नहीं रहती हैं जब कि २ छात्राएँ छात्रावास में रहती हैं। इस प्रकार उपरोक्त त्रिगुणीय सारिणी तीन सूचनाएँ प्रदान करती है—एक, विद्यार्थियों की संख्या; दो, विद्यार्थियों में छात्र व छात्राओं की संख्या और तीन, छात्रावास में रहने और न रहने वालों की अलग-अलग संख्या।

(३) **बहुगुणीय सारिणी** (Manifold or Higher Order Table)—बहुगुणीय सारिणी वह सारिणी है जिसमें एक ही तथ्य या घटना (phenomenon) के तीन से अधिक परस्पर आश्रित या सम्बन्धित लक्षणों अथवा गुणों को प्रदर्शित किया जाता है। यह सबसे जटिल प्रकार की सारिणी होती है, पर सामाजिक अनुसन्धान में, विशेषकर गहन अध्ययन के हेतु इस प्रकार की सारिणी की अत्यन्त आवश्यकता होती है क्योंकि इसके द्वारा एक तथ्य से सम्बन्धित अनेक लक्षण या गुण एकसाथ स्पष्ट हो जाते हैं जिससे तुलनात्मक अध्ययन व विश्लेषण का कार्य पर्याप्त सरल हो जाता है। यदि उपरोक्त त्रिगुणीय सारिणी में प्रदर्शित सूचनाओं के साथ-साथ हम विद्यार्थियों की वैवाहिक स्थिति को भी दिखा दें तो वह बहुगुणीय सारिणी बन जाएगी, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा—

गणित में १०० विद्यार्थियों के प्राप्तांक

(लिंग, रहने की दशा और वैवाहिक स्थिति के अनुसार)

रहने की स्थिति	प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या: छात्र			छात्राएँ			योग		
		विवाहित	अविवाहित	योग	विवाहित	अविवाहित	योग	विवाहित	अविवाहित	योग
छात्रावास में न रहने वाले	३०—४०	२	२	४	३	१	४	५	३	८
	४०—५०	४	२	६	२	३	५	६	५	११
	५०—६०	३	३	६	४	३	७	७	६	१३
	६०—७०	५	२	७	३	३	६	८	५	१३
	७०—८०	३	१	४	१	१	२	४	२	६
	योग	१७	१०	२७	१३	११	२४	३०	२१	५१
छात्रावास में रहने वाले	३०—४०	३	२	५	१	१	२	४	३	७
	४०—५०	६	४	१०	२	२	४	८	६	१४
	५०—६०	५	४	९	३	४	७	८	८	१६
	६०—७०	३	२	५	१	२	३	४	४	८
	७०—८०	१	१	२	१	१	२	२	२	४
	योग	१८	१३	३१	८	१०	१८	२६	२३	४९
योग	३०—४०	५	४	९	४	२	६	६	९	१५
	४०—५०	१०	६	१६	४	५	९	१४	११	२५
	५०—६०	८	७	१५	७	७	१४	१५	१४	२९
	६०—७०	८	४	१२	४	५	९	१२	९	२१
	७०—८०	४	२	६	२	२	४	६	४	१०
	कुल योग	३५	२३	५८	२१	२१	४२	५६	४४	१००

उपरोक्त सारिणी में हमें अनेक परस्पर सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में सूचनाएँ मिलती है जैसे विद्यार्थियों का उनके लिंग के अनुसार वितरण, छात्रावास में रहना या न रहना, विद्यार्थियों की वैवाहिक स्थिति आदि । इसी प्रकार अन्य कई लक्षणों के आधार पर सारिणीयन किया जा सकता है । ये सभी बहुगुणीय सारिणी कहलाती हैं ।

आवृत्ति के आधार पर सारिणीयन

(Tabulation on the basis of Frequency)

आवृत्ति के आधार पर भी सारिणी दो प्रकार की होती हैं—एक को आवृत्ति सारिणी (frequency table) और दूसरी को संचयी आवृत्ति सारिणी (cumulative frequency table) कहते हैं । इन दोनों के विषय में अलग-अलग विवेचना कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा ।

(अ) आवृत्ति सारिणी (Frequency Table)—जब खंडित श्रेणियों (discrete series) अथवा अखंडित श्रेणियों (continuous series) को सारिणी में प्रदर्शित किया जाता है तो उसे आवृत्ति सारिणी कहते हैं । निम्नलिखित उदाहरण से यह और भी स्पष्ट होगा—

बरेली कॉलेज के ५० विद्यार्थियों के समाजशास्त्र में प्राप्तांक

प्राप्तांक	आवृत्ति
०—१०	३
१०—२०	५
२०—३०	१०
३०—४०	९
४०—५०	७
५०—६०	६
६०—७०	४
७०—८०	३
८०—९०	२
९०—१००	१
योग	५०

उपरोक्त सारिणी मे अखंडित श्रेणियों (continuous series) के आधार पर सारिणीयन किया गया है । इसी प्रकार खंडित श्रेणियों को लेकर भी आवृत्ति सारिणी का निर्माण किया जा सकता है । जैसे—

३५ परिवारों में बच्चों की संख्या

बच्चों की संख्या	आवृत्ति
१	६
२	७
३	९
४	६
५	४
६	२
७	१
योग	३५

(ब) संचयी आवृत्ति सारिणी (Cumulative Frequency Table)—इसमें प्रत्येक समूह या वर्ग की आवृत्ति को अलग-अलग प्रदर्शित नहीं करते बल्कि पिछली आवृत्ति में जोड़कर प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ, यदि प्रथम वर्ग की आवृत्ति ३, दूसरे वर्ग की ५ और तीसरे वर्ग की आवृत्ति १० है तो प्रथम वर्ग के सामने ३, दूसरे के सामने (३+५)=८ और तीसरे वर्ग के सामने (८+१०)=१८ दिखाया जाता है। इस प्रकार नीचे की ओर आवृत्ति बढ़ती जाती है और अन्तिम वर्ग की आवृत्ति कुल तथ्यों की संख्या के बराबर होती है। बरेली कॉलेज के ५० विद्यार्थियों के समाजशास्त्र में प्राप्तांक को प्रदर्शित करते हुए जो आवृत्ति सारिणी ऊपर बनाई गई है उसी को संचयी आवृत्ति सारिणी के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

संचयी आवृत्ति सारिणी (साधारण)

बरेली कॉलेज के ५० विद्यार्थियों के समाजशास्त्र में प्राप्तांक

प्राप्तांक	संचयी आवृत्ति
१० से कम	३
२० ,, ,,	८
३० ,, ,,	१८
४० ,, ,,	२७
५० ,, ,,	३४
६० ,, ,,	४०
७० ,, ,,	४४
८० ,, ,,	४७
९० ,, ,,	४९
१०० ,, ,,	५०

कभी-कभी इस आवृत्ति का विपरीत क्रम (reverse order) में भी संचयन करते हैं। उस अवस्था में नीचे की ओर आवृत्ति कम होती जाती है। जैसे—

संचयी आवृत्ति सारिणी (विपरीत क्रम)

बरेली कॉलेज के ५० विद्यार्थियों के समाजशास्त्र में प्राप्तांक

प्राप्तांक	संचयी आवृत्ति
० से अधिक	५०
१० ,, ,,	४७
२० ,, ,,	४२
३० ,, ,,	३२
४० ,, ,,	२३
५० ,, ,,	१६
६० ,, ,,	१०
७० ,, ,,	६
८० ,, ,,	३
९० ,, ,,	१

सारिणी निर्माण के आवश्यक नियम एवं सावधानियाँ
(Rules and precautions in preparing Tables)

सारिणी निर्माण एक साधारण कार्य नहीं है बल्कि एक ऐसा कार्य है जो कि अनुसन्धानकर्त्ता के अनुभव, कार्यकुशलता और विशुद्ध ज्ञान पर आधारित होता है। सारिणी का निर्माण मनमाने ढंग से नहीं किया जाता है बल्कि उसके कुछ निश्चित नियम होते हैं जिनका पालन करना आवश्यक होता है। इन नियमों को और सम्बन्धित सावधानियों को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) **सारिणी का शीर्षक** (Heading of the Table)—सारिणी का एक उचित कथन संक्षिप्त शीर्षक होना चाहिए। यह आवश्यक है कि यह शीर्षक मोटे अक्षरों में लिखा जाए और वह स्पष्ट एवं आकर्षक हो। शीर्षक ऐसा हो जिससे सारिणी का विषय, वर्गीकरण का आधार आदि स्पष्ट हो सकें। वास्तव में सारिणी को देखकर ही यदि उसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है तो शीर्षक सार्थक होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि शीर्षक इतना लम्बा न हो कि वह दो-तीन लाइनों में लिखा जाए, पर इतना छोटा भी न हो कि उसका अर्थ भी स्पष्ट न हो।

(२) **स्कम्भों का आकार** (Size of Columns)—स्कम्भों का आकार निर्धारित करते समय उस कागज के आकार का ख्याल रखना चाहिए जिस पर कि सारिणी को बनाना है। अनावश्यक रूप में केवल स्कम्भों के बड़ा कर देने से ही उचित सारिणी का निर्माण नहीं हो जाता है। वास्तव में तथ्यों के वितरण के आधार पर स्कम्भों की लम्बाई-चौड़ाई निश्चित की जानी चाहिए। प्राय: प्रथम स्कम्भ सबसे बड़ा होता है क्योंकि इसमें खंडित या अखंडित श्रेणियों के वितरण लिखे जाते हैं। इसी प्रकार यह भी देख लेना चाहिए कि प्रत्येक स्कम्भ में हमें कितनी बड़ी व छोटी संख्या लिखनी है; इसी संख्या के आकार के अनुसार स्कम्भों या कॉलमों का आकार निश्चित करें जिससे कि संख्याओं को सरलता से लिखा जा सके।

(३) **अनुशीर्षक** (Captions)—प्रत्येक स्कम्भों व कॉलमों का एक अनुशीर्षक होता है जिसे कि बहुत ही स्पष्ट रूप से लिख देना चाहिए जिससे कि यह स्पष्ट हो जाए कि एक कॉलम विशेष में किन तथ्यों या आँकड़ों को प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी बहुत बड़ी संख्याओं को प्रदर्शित करने के लिए कुछ संकेतों का प्रयोग किया जाता है जैसे जनसंख्या 'लाखों में' अथवा '००,००० व्यक्तियों में'। इस प्रकार के संकेतों को अनुशीर्षक के साथ ही जरूर लिख देना चाहिए।

(४) **पंक्तियों में सूचना लिखना** (Writing in Rows)—तथ्यों या संख्याओं को पंक्तियों में लिखने की कई विधियाँ होती हैं। अनुसन्धान के उद्देश्य के अनुसार किसी एक विधि को अपनाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, कतारों को वर्णमाला के अनुसार एक क्रम से लिखा जा सकता है। उसी प्रकार स्थान के अनुसार, समय के अनुसार और महत्त्व के अनुसार भी सूचनाओं को अथवा तथ्यों को पंक्तियों में लिखा जा सकता है।

(५) **स्कम्भों का क्रम** (Sequence of Columns)—कतारों के समान ही कॉलमों को भी कई प्रकार के क्रमों में लिखा जा सकता है। इसके लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता होती है—(क) प्रथम कॉलमों में प्राय: विवरण लिखा जाता है जिससे कि आगे लिखी संख्याओं का परिचय प्राप्त हो। (ख) अधिक महत्त्वपूर्ण सूचना यथासम्भव बायीं ओर के कॉलमों में लिखी जानी चाहिए। (ग) तुलना की जाने वाली

संख्याओं को पास-पास देना चाहिए जैसे पुरुष-स्त्री, शिक्षित-अशिक्षित। (घ) संख्याओं के प्रतिशत माध्य अथवा अनुपात को उन संख्याओं के बगल में ही रखना चाहिए।

(६) **स्कम्भों का विभाजन** (Division of Columns)—यदि आँकड़ों या तथ्यों को कई वर्गों तथा उपवर्गों में विभाजित करके प्रदर्शित करना है तो उसी अनुसार कॉलमों का भी विभाजन कर देना चाहिए। पर यह विभाजन इस प्रकार का होना चाहिए कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग से सरलतापूर्वक पृथक् किया जा सके। इसके लिए प्रायः उपवर्ग की रेखा पतली तथा वर्गों की रेखा गहरी अथवा लाल स्याही से बनाई जाती है। योग वाले कॉलम की रेखा भी इसी प्रकार से कुछ गहरी खींची जाती है।

(७) **योग** (Total)—यदि कॉलमों को कई उपवर्गों में विभाजित किया गया है तो प्रत्येक उपवर्ग का योग अलग-अलग देना चाहिए। जैसे यदि जनसंख्या को पुरुष-स्त्रियों तथा विवाहित-अविवाहित में बाँटा गया है तो दोनों उपयोग भी पृथक्-पृथक् दे देने चाहिएँ। वैसे भी प्रत्येक कॉलम का योग अवश्य होना चाहिए। आवश्यकतानुसार प्रत्येक कॉलम का योग खड़े और पड़े दोनों रूप में दे देना अधिक सुविधाजनक होता है।

(८) **टिप्पणियाँ** (Notes)—यदि सारिणी में उल्लेखित संख्याओं या स्वयं सारिणी के सम्बन्ध में कोई विशेष बात बतलानी हो तो उसे सारिणी के नीचे एक या एकाधिक टिप्पणियों द्वारा प्रगट कर देना चाहिए। इस प्रकार की टिप्पणियों में प्रायः सूचना के स्रोतों का अथवा कुछ विशिष्ट अपवादों का उल्लेख किया जाता है। टिप्पणी यदि किसी विशेष संख्या से सम्बन्धित है तो कोई चिह्न जैसे तारक आदि लगाकर यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि अमुक टिप्पणी अमुक आँकड़े से सम्बन्धित है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ मद्दों से सम्बन्धित आँकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। ऐसी स्थिति में उस कॉलम को खाली नहीं रखना चाहिए बल्कि कोई चिह्न बनाकर नीचे टिप्पणी में उसे स्पष्ट कर देना चाहिए जिससे कि यह शक न रहे कि वह स्थान भूल से छूट गया है।

सारिणीयन की पद्धतियाँ
(Methods of Tabulation)

संकलित तथ्यों को एक सारिणी के रूप में व्यवस्थित करने के लिए प्रायः दो पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। ये दो पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—

(१) **हस्त सारिणीयन** (Hand Tabulation)—हाथ से किए हुए सारिणीयन में 'टैली शीट' (tally sheet) का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत सबसे पहले उन निश्चित समूहों, वर्गों या वर्गान्तरों (class intervals) को निर्धारित कर लिया जाता है जिनके अन्तर्गत संकलित तथ्यों या आँकड़ों को सम्मिलित करना है। उदाहरणार्थ, यदि ८० विद्यार्थियों के प्राप्तांकों का सारिणीयन करना है तो पहले कुछ प्राप्तांक समूहों जैसे २०-३०, ३०-४०, ४०-५० आदि का निर्धारण कर लिया जाता है। उसके बाद एक-एक विद्यार्थी के प्राप्तांक को लिया जाएगा और वह प्राप्तांक जिस वर्गान्तर के अन्तर्गत आता है उस वर्ग के आगे एक खड़ी लाइन (stroke) खींच दी जाती है। एक वर्ग में चार लाइनें हो जाने के बाद पाँचवीं लाइन समानान्तर बनाने के बजाय चारों लाइनों को काटती हुई खींची जाती है। इससे गिनती करने में सुविधा होती है। जब सभी प्राप्तांक इस भाँति किसी-न-किसी वर्ग में सम्मिलित कर लिए

जाएँ तो प्रत्येक वर्ग के सामने की लकीरों को गिनकर उनका जोड़ लिख दिया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस प्रक्रिया का और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा—

टैली शीट

विषय............ अंकनकर्त्ता (Scorer)............
कक्षा............ पुनःपरीक्षक (Checker)..........

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या	योग
२०—३०	卌 卌 ||	१२
३०—४०	卌 卌 卌 |||	१८
४०—५०	卌 卌 卌 卌 卌 卌 |	३१
५०—६०	卌 卌	१०
६०—७०	卌 ||||	९
योग		८०

(२) **यांत्रिक सारिणीयन** (Mechanical Tabulation)—जब संकलित तथ्य या आँकड़े बड़ी मात्रा में होते हैं वहाँ उनका सारिणीयन मशीनों की सहायता से करते हैं। इसके लिए कुछ मशीनें इस प्रकार की हैं जिन्हें हाथ से क्रियान्वित किया जाता है और कुछ ऐसी मशीनें भी हैं जिन्हें विद्युत् या बिजली द्वारा चलाया जाता है। यांत्रिक सारिणीयन का कार्य आरम्भ करने से पूर्व संकलित तथ्यों के समस्त दोषों को दूर कर दिया जाता है एवं जो कुछ कमी रह गई हो उसकी पूर्ति कर ली जाती है। इसके साथ-साथ तथ्यों को अधिकाधिक तुलना के योग्य तथा सरल बनाने का प्रयत्न किया जाता है एवं तथ्यों को वर्गों तथा समूहों में भी बाँट लिया जा सकता है। इसके पश्चात् यांत्रिक सारिणीयन का कार्य आरम्भ किया जाता है। मशीनों द्वारा सारिणीयन करने के लिए निम्नलिखित क्रियाएँ करनी पड़ती हैं—

(अ) **संकेतन** (Codification)—इस प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रश्नावली अथवा अनुसूची से प्राप्त प्रत्येक उत्तर को किसी संख्या, चिह्न अथवा प्रतीक 'symbol) में बदल दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न विस्तृत वर्णनात्मक उत्तरों के संकेत-चिह्न या कोड नम्बर (code number) निर्धारित कर दिए जाते हैं। उदाहरणार्थ, बेकार व्यक्ति, सरकारी कर्मचारी, गैर-सरकारी कर्मचारी, व्यापारी आदि को प्रदर्शित करने के लिए क्रमशः ०, १, २, ३ आदि कोड नम्बरों का प्रयोग किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ० बेकार व्यक्ति को, १ सरकारी कर्मचारी को, २ गैर-सरकारी कर्मचारी को, ३ व्यापारियों को प्रदर्शित करेगा।

(ब) **कोड नम्बरों को सारिणीयन कार्ड में दर्ज करना** (Transcription)—कोड नम्बरों को निश्चित कर लेने के बाद सारिणीयन कार्ड पर छेद (punch) करके प्रत्येक नम्बर को दर्ज कर दिया जाता है। प्रत्येक सूचनादाता का एक अलग कार्ड होता है और उस सूचनादाता के द्वारा प्रश्नावली या अनुसूची में दिए गए सभी उत्तरों के कोड नम्बरों को उसी के कार्ड में दर्ज किया जाता है। सारिणीयन कार्ड का एक नमूना हम नीचे दे रहे हैं—

१	२	३	४	५	६	७	८
००	००	००	००	००	००	००	००
११	११	११	११	११	११	११	११
२२	२२	२२	२२	२२	२२	२२	२२
३३	३३	३३	३३	३३	३३	३३	३३
४४	४४	४४	४४	४४	४४	४४	४४
५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५
६६	६६	६६	६६	६६	६३	६६	६६
७७	७७	७७	७७	७७	७७	७७	७७
८८	८८	८८	८८	८८	८८	८८	८८
९९	९९	९९	९९	९९	९९	९९	९९

कार्डों में छेद (punch) करने की विधि इस प्रकार है—मान लीजिए किसी प्रश्न का कोड नम्बर १ निर्धारित किया गया है तो उपरोक्त सारिणीयन कार्ड की पहली लाइन के शून्य (०) तथा दूसरी लाइन के १ पर छेद कर दिया जाएगा (कार्ड पर सदैव दो अंकों में नम्बर दर्ज किए जाते हैं जैसे १ को ०१ करके लिखा जाता है)। उसी प्रकार यदि कोड नम्बर १४ है तो एक लाइन के १ तथा दूसरी लाइन के ४ पर छेद कर दिया जाएगा।

(स) पुनर्परीक्षा (Verification)—कार्डों पर उपरोक्त प्रकार से छेद करने में कोई गलती तो नहीं रह गई है इस बात की परीक्षा भी आवश्यकतानुसार की जा सकती है। इसके लिए एक विशेष प्रकार के छेदक यंत्र को प्रयोग में लाया जाता है।

(द) कार्डों को छाँटना (Sorting of Cards)—इसके पश्चात् सारिणीयन कार्डों को उनकी विशेषताओं के अनुसार छाँट लिया जाता है। यह काम भी यंत्र द्वारा किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि विवाहित और अविवाहित व्यक्तियों के कार्ड छाँटने हों तो जिस लाइन में में विवाहित और अविवाहित के कोड नम्बर छेद करके दर्ज किए गए हैं, उसकी चाभी (Key) सेट कर दी जाती है। जब कार्ड मशीन के अन्दर पहुँचता है तो अपने-आप ही इच्छित खाने में पहुँच जाता है। यदि दो से अधिक वर्ग बनते हैं जैसे कि आयु में तो उसकी विधि भिन्न होती है।

(य) गणना (Counting)—कार्डों को अलग-अलग गिनकर भिन्न-भिन्न वर्गों में आने वाली इकाइयों की संख्या ज्ञात कर ली जाती है। यह गणना भी मशीन द्वारा ही की जाती है। यह मशीन एक ही साथ कई चीजों का योग भी कर देती है।

(र) सारिणीयन (Tabulation)—उपरोक्त सब काम हो जाने के बाद वास्तविक सारिणीयन किया जाता है। इसमें समस्त उपलब्ध तथ्यों से सारिणी तैयार कर ली जाती है।

सारिणीयन के लाभ या उपयोगिता
(Advantages or Utility of Tabulation)

संकलित तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए उन तथ्यों को सारिणी के रूप में प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। क्योंकि सारिणीयन से निम्नलिखित उपयोगिता या लाभ हमें प्राप्त होते हैं—

(१) सारिणीयन का एक सामान्य लाभ यह होता है कि समस्त संकलित

तथ्य एक तर्कपूर्ण ढंग से व्यवस्थित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप तथ्यों के ढेर को क्रमबद्ध व सजा रूप प्राप्त हो जाता है और हमारे लिए वह आकर्षक बन जाता है।

(२) सारिणीयन से जटिल व अव्यवस्थित तथ्यों को एक सरल व स्पष्ट रूप मिल जाता है। सारिणीयन में निश्चित प्रयोजन के आधार पर तथ्यों को शीर्षकों तथा उपशीर्षकों के अन्तर्गत तर्कपूर्ण ढंग से आयोजित कर दिया जाता है। फलतः तथ्यों का सरल व स्पष्ट रूप सामने आ जाता है और विश्लेषणात्मक कार्य में मदद मिलती है।

(३) सारिणीयन का एक और महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इससे सांख्यिकीय विश्लेषण में बहुत मदद मिलती है। माध्य, विचलन (deviation), सहसम्बन्ध निकालने आदि की सांख्यिकीय प्रक्रियाओं के अतिरिक्त ग्राफ तथा डायग्राम आदि बनाने में भी सारिणियाँ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती हैं।

(४) सारिणीयन तुलनात्मक अध्ययन-कार्य को अत्यन्त सरल बना देता है क्योंकि सारिणी में लिखित आँकड़ों को इसी ढंग से सजाया जाता है कि तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व एकदम स्पष्ट हो जाए। उदाहरणार्थ, यदि किसी समुदाय की जन-संख्या सम्बन्धी सारिणी में स्त्री-पुरुष की संख्या को प्रदर्शित किया गया है तो उसे देखते ही हम यह बता सकते हैं कि उस समुदाय में स्त्रियों की संख्या अधिक है अथवा पुरुषों की। इस प्रकार सारिणी को देखकर किसी प्रकार की गणितीय विवेचना किए बिना ही तथ्यों की विशेषताओं को मोटे तौर पर समझा जा सकता है।

(५) सारिणीयन से समय तथा स्थान (space) की बचत होती है। सारिणी संकलित तथ्यों को कम-से-कम स्थान में प्रस्तुत करती है और उसमें तथ्यों की विशेषताओं का निचोड़ आ जाता है। इसीलिए तथ्यों को समझने के लिए अधिक समय बर्बाद नहीं करना पड़ता है। इतना ही नहीं, सारिणी से किसी भी सूचना या तथ्य को ढूँढ़ने में सरलता होती है जिसके कारण काफी समय की बचत हो जाती है।

(६) सारिणीयन वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या के कार्य को सरल बनाता है क्योंकि सारिणी में समस्त संकलित तथ्य तर्कपूर्ण ढंग से व्यवस्थित हो जाते हैं, उन तथ्यों का सरल व स्पष्ट रूप प्रगट हो जाता है और उनका तुलनात्मक महत्त्व स्वतः ही सामने आ जाता है। इससे विश्लेषण व व्याख्या का काम बहुत सरल हो जाता है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या के लिए माध्य, विचलन, सह-सम्बन्ध आदि महत्त्वपूर्ण होते हैं और सारिणी इस दिशा में सहायक सिद्ध होती है।

सारिणीयन की सीमाएँ
(Limitations of Tabulation)

यह सच है कि संकलित तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या के लिए सारिणीयन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है, फिर भी इसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं जिन्हें कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) सारिणी के द्वारा केवल संख्यात्मक तथ्यों को ही प्रदर्शित किया जा सकता है। सारिणी की यह एक उल्लेखनीय सीमा इस कारण बन जाती है कि सामाजिक तथ्य प्रायः गुणात्मक होते हैं और उनका प्रदर्शन सारिणी द्वारा नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, सारिणी में जो अंक लिखे जाते हैं उनके वर्णन के लिए भी उसमें स्थान नहीं रहता जिससे कि साधारण व्यक्ति के लिए उसे समझना कठिन हो जाता है।

(२) सारिणी की दूसरी सीमा यह है कि यह साधारण व्यक्तियों के लिए बहुधा बेकार की सिद्ध होती है। सारिणियों को समझने के लिए अंकों का उच्च ज्ञान आवश्यक है। इसीलिए सामान्य ज्ञान वाले साधारण लोगों के लिए सारिणी के 'अंकों के मेले' को समझना बहुत कठिन हो जाता है। साधारण व्यक्ति के लिए इसी कारण सारिणी अनाकर्षक होती है। अतः सारिणी की उपयोगिता केवल कुछ विशिष्ट व उच्च ज्ञान वाले व्यक्तियों तक ही सीमित रह जाती है।

(३) सारिणीयन की एक और सीमा यह है कि सारिणी के अन्तर्गत किसी भी एक इकाई (unit) अथवा मद (item) के महत्त्व को हम अलग से दिखा नहीं सकते चाहे अनुसन्धान के दृष्टिकोण से उसका कितना ही महत्त्व क्यों न हो। इसका परिणाम यह होता है कि उस महत्त्वपूर्ण इकाई को भी अन्य इकाइयों के साथ एक सामान्य स्थान या महत्त्व सारिणी में मिल जाता है। इससे विश्लेषण व व्याख्या में पूर्ण परिशुद्धता पनप नहीं पाती है—यदि हम उस महत्त्वपूर्ण इकाई के बारे में निरन्तर सचेत न रहें और उसका पृथक् उल्लेख वर्णनात्मक विवरण में न कर दें।

(४) सारिणीयन पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि सारिणी साधारण पाठकों के लिए एक बोझ बन जाती है क्योंकि इसे समझने के लिए खूब दिमाग लगाना पड़ता है। इसके विपरीत वर्णनात्मक व्याख्या साधारण पाठकों के लिए आकर्षक तथा रुचिकर होती है।

पर उपरोक्त सीमाओं को स्वीकार करने का अर्थ सारिणीयन का परित्याग नहीं है। इसकी सीमाएँ इसकी उपयोगिताओं से कहीं अधिक गौण हैं। हम वैषयिक अनुसन्धान की कल्पना तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उस अनुसन्धान-कार्य में सारिणीयन को भी उचित स्थान प्राप्त न हो। प्रो० थॉमसन (Thomson) ने ठीक ही कहा है कि—एक 'जंगल' को साफ करके उसके स्थान पर एक 'महानगरी' बनाने से सभ्यता व संस्कृति के तत्त्वों (elements) को जिस भाँति सुस्पष्टता व सुनिश्चितता प्राप्त होती है उसी प्रकार संकलित तथ्यों के ढेरों का सारिणीयन कर लेने से उनके अन्तर्निहित गुण प्रगट हो जाते हैं और सम्पूर्ण विषय के सम्बन्ध में एक सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान में सारिणीयन आवश्यक नहीं, अपरिहार्य है!

---

२० तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या

(ANALYSIS AND INTERPRETATION OF DATA)

श्रीमती यंग (P. V. Young) ने लिखा है कि वैज्ञानिक विश्लेषण यह मानता है कि तथ्यों के संकलन के पीछे स्वयं तथ्यों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण व रहस्योद्घाटक (revealing) और कुछ भी है; यदि सुव्यवस्थित तथ्यों को सम्पूर्ण अध्ययन से सम्बन्धित किया जाए तो उनका एक महत्त्वपूर्ण सामान्य अर्थ प्रगट हो सकता है जिसके कि आधार पर घटना की सप्रमाण व्याख्याएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं।[1] इस कथन का तात्पर्य यही है कि अनुसन्धान या शोध-कार्य में केवल तथ्यों का पहाड़ एकत्रित कर लेने से ही अध्ययन-विषय का वास्तविक अर्थ, कारण तथा परिणाम स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक कि उन एकत्रित तथ्यों को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण व व्याख्या न की जाए। प्रख्यात फ्रेंच गणितशास्त्री श्री प्वयेनकेयर (Poincare) ने उचित ही लिखा है कि "जिस प्रकार एक मकान पत्थरों से बनता है उसी प्रकार विज्ञान का निर्माण तथ्यों से होता है; पर केवल तथ्यों का एक संकलन उसी भाँति विज्ञान नहीं है जैसा कि पत्थरों का एक ढेर मकान नहीं है।"[2] अतः विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि एकत्रित तथ्यों को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण व व्याख्या की जाए ताकि विषय के सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति सम्भव हो।

तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या की आवश्यकता
(Need for Analysis and Interpretation of Data)

तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या की आधारभूत आवश्यकता यह है कि यदि ऐसा न किया गया तो संकलित तथ्य अर्थहीन ही बने रहेंगे और उनसे अध्ययन का कोई भी परिणाम निकालना हमारे लिए सम्भव न होगा। इस अर्थ में तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या के बिना अनुसन्धान या शोध-कार्य अपूर्ण व अधूरा ही रह जाएगा। यही कारण है कि श्रीमती यंग (Young) ने वैज्ञानिक विश्लेषण को 'शोध का रचनात्मक

1. "Scientific analysis assumes that behind the accumulated data there is something more important and revealing than the facts themselves; that well marshalled facts when related to the whole study have a significant general meaning, from which valid interpretations can be drawn."—Pauline V. Young, *Scientific Social Surveys and Research*, Asia Publishing House, Bombay, 1960, p. 509.

2. "Science is built with facts as a house is built with stones, but a collection of facts is no more science than a heap of stones is a house."—Jules Henri Poincare.

पक्ष' (the creative aspect of research) कहा है ।[3] निम्नलिखित विवेचना इसी का स्पष्टीकरण है—

सामाजिक शोधकर्त्ता किसी भी चीज या घटना को स्वयंसिद्ध नहीं मान लेता है। वह तो संकलित तथ्यों, विद्यमान आदर्शों तथा अन्तर्निहित सामाजिक दर्शन को सामयिक (tentative) मानता है और इसीलिए कोई भी प्रयोगसिद्ध परिणाम निकालने के लिए संकलित तथ्यों की सावधानीपूर्वक जाँच उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनका सम्पूर्ण घटना (phenomenon) के साथ सम्बन्ध के सन्दर्भ में करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार तथ्यों का विश्लेषण करने के दौरान में ही वह पुरानी अवधारणाओं (conceptions) की परीक्षा करने अथवा नवीन व चुनौती देने वाली अवधारणाओं को ढूँढ़ निकालने में सफल हो सकता है। साथ ही, इस प्रकार के विश्लेषण से उसे विषय के सम्बन्ध में जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है उसी के आधार पर वह अवधारणाओं की पुनर्परीक्षा करता है और इस प्रकार तथ्यों की व्याख्या के लिए एक अधिक ठोस आधार को प्राप्त करता है। अतः तथ्यों के उचित विश्लेषण के विना अध्ययन-विषय की वास्तविक व्याख्या सम्भव नहीं और तथ्ययुक्त (factual) व्याख्या के विना शोध-कार्य का कोई परिणाम निकल ही नहीं सकता।

श्रीमती यंग (Young) के अनुसार, "क्रमवद्ध विश्लेषण का कार्य एक ठोस बौद्धिक 'भवन' (edifice) का, विचार के एक संगठन का निर्माण करना है जो कि एकत्रित तथ्यों को उनके उचित स्थान तथा सम्वन्धों में प्रस्थापित करने में सहायक होगा ताकि उनसे सामान्य निष्कर्षों को निकाला जा सके।"[4] इस प्रकार तथ्यों के विश्लेषण के विना किसी भी विषय या घटना के कार्य-कारण सम्वन्ध की व्याख्या सम्भव नहीं है, और इस प्रकार की व्याख्या के विना न तो विज्ञान की कोई उन्नति सम्भव है और न ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति। विश्लेषण व व्याख्या के आधार पर ही वास्तविक वैज्ञानिक नियमों को प्रतिपादित किया जा सकता है। पुराने सिद्धान्तों या नियमों की परीक्षा करने, नवीन सिद्धान्तों या नियमों को प्रतिपादित करने अथवा पुराने सिद्धान्तों या नियमों को गलत प्रमाणित करने के लिए एकत्रित तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या आवश्यक है। स्वयं तथ्य मूक होते हैं, वे कुछ नहीं कहते; पर उनका क्रमवद्ध विश्लेषण व व्याख्या करके उन्हें मुखरित किया जा सकता है।

विश्लेषण व व्याख्या के लिए आवश्यक शर्तें
(Essential pre-requisites to Analysis and Interpretation)

वास्तव में सफल विश्लेषण व व्याख्या करने की क्षमता स्वयं शोधकर्त्ता के आन्तरिक गुणों पर निर्भर करती है। सम्पूर्ण घटना या परिस्थिति के सम्वन्ध में शोधकर्त्ता की अन्तर्दृष्टि जितनी ही स्पष्ट होगी, उसके द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण व व्याख्या उतनी ही पूर्ण होगी। इसी सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि विश्लेषण की प्रामाणिकता (validity) शोधकर्त्ता द्वारा निर्धारित नियमों को मानने की अपेक्षा उसके सामान्य

---

3. P. V. Young, *op. cit*., p. 509.

4. "Its function is to produce a sound intellectual 'edifice', a body of thought which will aid in placing the gathered facts in their proper setting and relationships so that general inferences can be drawn from them."—*Ibid.*, p. 510.

ज्ञान, अनुभव, पिछला ज्ञान, तथा बौद्धिक ईमानदारी पर अधिक निर्भर करती है।[5]

विश्लेषणात्मक प्रक्रिया (analytical process) की एक आवश्यक शर्त यह है कि एक आलोचनात्मक तथा अनुशासित कल्पना-शक्ति का विकास किया जाए जो कि वास्तविक तथ्यों के आधार पर एक वैज्ञानिक विचारधारा को विकसित कर सके, जो सम्पूर्ण तथ्यों को तथा उसके अन्तःसम्बन्धों (inter-relationships) को समझ सके तथा उनका आलोचनात्मक परीक्षण कर सके।[6] कल्पना को सामाजिक तथ्यों की विविध व जटिल दुनिया में विचरण करने की स्वतन्त्रता दी जा सकती है यदि सामाजिक शोधकर्त्ता यह याद रक्खे कि विद्यमान ज्ञान के विस्तार में वह तभी हाथ बँटा सकता है जब कि वह अपने ही वास्तविक तथ्यों के सन्दर्भ में अपने अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में आधारभूत व वास्तविक बोध करने तथा उनकी आलोचनात्मक परीक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता है और केवल कल्पना में अपने वैज्ञानिक अस्तित्व को खो नहीं बैठता। तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या में रचनात्मक कल्पना की सहायता उपयोगी हो सकती है, पर कल्पना को न विश्लेषण का और न ही कल्पना का आधार माना जा सकता है। यह याद रखना होगा कि हमें वास्तविक तथ्यों के आधार पर सत्य की खोज करनी है, न कि कल्पना की उड़ान को देखना है।

वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या की एक और आवश्यक शर्त यह है कि पक्षपातों और मिथ्या-झुकावों (prejudices and biases) से शोधकर्त्ता अपने को दूर रक्खे। यह काम अत्यन्त कठिन है, पर इसके बिना एक अध्ययन के सभी निष्कर्ष अनायास ही विकृत हो सकते हैं। पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव शोधकर्त्ता को वास्तविकता से दूर ले जाता है। फलतः उसका विश्लेषण व व्याख्या अवास्तविक होती है चाहे उसे कितने ही जोरदार शब्दों में व्यक्त क्यों न किया गया हो। वास्तविक विश्लेषण व व्याख्या के माध्यम से वैज्ञानिक खोज करने के लिए समस्त पूर्वधारणाओं (preconceptions) को दृढ़ता से त्यागना परमावश्यक है।

तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या के लिए आवश्यक तैयारियाँ
(Necessary preparations for Analysis and Interpretation)

तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या करने से पहले कुछ आवश्यक तैयारियाँ कर लेनी चाहिएँ जिससे कि विश्लेषण-कार्य इधर-उधर भटक न जाए और वह यथार्थ ढंग से किया जा सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि एकत्रित तथ्यों की त्रुटियों को दूर कर दिया जाए तथा उन्हें (तथ्यों को) क्रमबद्ध रूप में संगठित किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्यों को करना आवश्यक होगा —

(१) तथ्यों का सम्पादन (Editing of Data)—सूचनादाताओं से प्रश्नावली और अनुसूची आदि के माध्यम से आवश्यक तथ्य प्राप्त हो जाने के पश्चात् उनका

---

5. "Its validity depends more upon common sense, experience, background knowledge, and intellectual honesty of the interpreter than upon conformity to any set rules that might be formulated."—American Marketing Society, *The Technique of Marketing Research*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1937, p. 283.

6. "An essential prerequisite to the analytical process is the cultivation of a critical and disciplined imagination which can construct a scientific edifice out of the actual facts, which can appreciate the whole range of facts and their interrelationships and subject them to rigid tests of criticism."—P. V. Young, *op. cit.*, p. 510.

सम्पादन करना अनिवार्य है। तथ्य-सम्पादन का अभिप्राय एकत्रित तथ्यों में दिखलाई देने वाली गलतियों, विभ्रमों तथा अपूर्णताओं का सूक्ष्म निरीक्षण करना और उन्हें ठीक करने के लिए पग उठाना है। संकलित तथ्यों में इस बात की सम्भावना हो सकती है कि उनमें कई गलतियाँ एवं भूलें रह गई हों अथवा अनुसूची अथवा प्रश्नावलियों के कुछ उत्तर अस्पष्ट, अधूरे या बिना भरे ही रह गए हों। ऐसी दशा में इनका निरीक्षण कर लेना आवश्यक हो जाता है ताकि अशुद्धियों को सुधारकर या कमियों को पूरा कर दोषपूर्ण तथ्यों से प्राप्त असत्य निष्कर्षों से बचा जा सके। वैसे सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में बिलकुल यथार्थ निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन है, फिर भी तथ्यों का उचित सम्पादन कर लेने पर यथार्थता (exactness) की सम्भावना बढ़ जाती है। थोड़ी-बहुत गलतियों को सम्पादक स्वयं अपने अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर ठीक कर लेता है या उत्तरों को संशोधित कर देता है किन्तु यदि उसे किसी भी विषय में तनिक भी सन्देह होता है तो पुनः क्षेत्रीय अध्ययन (field study) करके वह ठीक है अथवा नहीं, इस बात की परीक्षा की जाती है। सम्पादक मुख्यतया तीन प्रकार के कार्यों को करता है—**प्रथम**, सूचना को क्रम से लगाना (putting of data in order) जिससे कि यह पता लग जाए कि प्रत्येक स्थान तथा कार्यकर्त्ता से सामग्री आ गई है अथवा नहीं। इस प्रकार की व्यवस्था वर्णमाला के क्रम से (alphabetically) या भौगोलिक आधार पर अथवा कार्यकर्त्ताओं के आधार पर की जा सकती है। **द्वितीय**, उत्तरों की जाँच (testing the entries) करना भी सम्पादक का कार्य है जिससे कि प्रश्न का गलत उत्तर, गलत खाने में उत्तर भर देने, बिना भरा खाना, जोड़ में गलती तथा अंकों की गलती से सम्बन्धित अशुद्धियाँ ठीक हो जाएँ। **तृतीय**, आवश्यक तथ्यों को निकाल देना (cancelling useless data) भी सम्पादक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिससे कि केवल वांछित सामग्री ही विश्लेषण के हेतु रह जाए।

(२) **द्वैतीयक तथ्यों की परीक्षा** (Scrutiny of Secondary Data)—विश्लेषण व व्याख्या अधिकाधिक यथार्थ हो इसके लिए यह अति आवश्यक है कि पहले से ही यह देख लिया जाए कि संकलित द्वैतीयक तथ्य विश्वसनीय (reliable), उपयुक्त (suitable) तथा पर्याप्त (adequate) हैं अथवा नहीं—(**अ**) **विश्वसनीयता** (reliability) की जाँच करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि जिस व्यक्ति या संस्था द्वारा (अर्थात् जिस स्रोत से) तथ्यों को एकत्रित किया गया है वह कहाँ तक विश्वसनीय है; जिन प्रविधियों द्वारा तथ्यों का संग्रह किया गया है वे निर्भरयोग्य हैं अथवा नहीं; किसी असामान्य परिस्थिति में तो तथ्यों को एकत्रित नहीं किया गया; तथ्यों को एकत्रित करते समय अनुसन्धानकर्त्ता किस सीमा तक अपने को पक्षपात व मिथ्या-झुकाव (bias) से दूर रख सका है इत्यादि। यदि इन प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक है तो तथ्यों की विश्वसनीयता पर सन्देह की मात्रा कम होनी चाहिए। (**ब**) उसी प्रकार तथ्यों की **उपयुक्तता** (suitability) की भी जाँच कर लेनी चाहिए। अर्थात् यह देख लेना आवश्यक है कि जिन तथ्यों को एकत्रित किया गया है वे अध्ययन के उद्देश्य के अनुकूल हैं अथवा नहीं। यदि तथ्य सर्वेक्षण के उद्देश्य के अनुकूल नहीं हैं तो उनके विश्वसनीय होते हुए भी उनका उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। (**स**) अन्त में तथ्यों की **पर्याप्तता** (adequacy) के सम्बन्ध में भी हमें निश्चित हो जाना चाहिए। तथ्य चाहे कितने विश्वसनीय व उद्देश्य के अनुकूल क्यों न हों, पर यदि वे अपर्याप्त हैं तो उनके आधार पर वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या कदापि सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि अपर्याप्त तथ्य घटना या समस्या की वास्तविकताओं को पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकते। अपर्याप्त

तथ्यों का परिणाम अपूर्ण अध्ययन ही होता है।

(३) **तथ्यों का वर्गीकरण** (Classification of Data)—तथ्यों का सुव्यवस्थित वर्गीकरण किसी भी वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या की आत्मा है। किसी भी शोध-कार्य के लिए एकत्रित तथ्य बहुत अधिक मात्रा में तथा बिखरे हुए होते हैं। तथ्यों के इस बिखरे हुए ढेर का व्यावहारिक रूप में न तो विश्लेषण किया जा सकता है और न ही निष्कर्ष निकालना सम्भव होता है। यह तभी सम्भव है जब कि वर्गीकरण की प्रक्रिया द्वारा तथ्यों के ढेर को व्यवस्थित, क्रमबद्ध, सीमित तथा न्यूनतम कर लिया जाए। वर्गीकरण के द्वारा न केवल विस्तृत तथ्यों को एक संक्षिप्त रूप प्राप्त हो जाता है, अपितु एकसमान तथ्यों को असमान तथ्यों से पृथक् रखना भी सम्भव होता है। इस दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि वर्गीकरण संकलित तथ्यों के ढेरों को संक्षिप्त रूप देने और तथ्यों को उनकी विशेषताओं की समानता व भिन्नता के अनुसार व्यवस्थित करने की एक प्रक्रिया है। इस प्रकार वर्गीकरण कर लेने से तथ्यों की विशेषताएँ स्वतः ही प्रगट हो जाती हैं जिसके आधार पर विश्लेषण व व्याख्या का काम सरल व यथार्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों के ढेर का वर्गीकरण करना है तो हम उन्हें समानता व भिन्नता के आधार पर केवल तीन श्रेणियों—पुरुष, स्त्री व बच्चे—के अन्तर्गत ला सकते हैं और ऐसा कर लेने के पश्चात् इस बात का विश्लेषण व व्याख्या कर सकते हैं कि उस समुदाय में स्त्री-पुरुष का क्या अनुपात है अथवा बच्चों की संख्या सम्पूर्ण जनसंख्या का कौनसा भाग है। इसी प्रकार वर्गीकरण कर लेने से विभिन्न श्रेणी के तथ्यों की तुलना भी सम्भव होती है जो कि वैज्ञानिक व्याख्या के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है।

(४) **सूचीकरण अथवा संकेतन** (Codification)—तथ्यों का वर्गीकरण करने के पश्चात् संख्यात्मक विवेचना के लिए उत्तरों का संकेतन करना होता है। इसका अर्थ है बड़े-बड़े वर्णनात्मक उत्तरों को संकेतों या प्रतीकों (symbol) के द्वारा व्यक्त करना। यह काम सूचना-सम्पादन करते समय भी किया जा सकता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि भिन्न-भिन्न उत्तरों को सांकेतिक श्रेणियों में इस प्रकार रख दिया जाए कि उनकी आवश्यक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँ। इससे लाभ यह होता है कि बड़े-बड़े वर्णनात्मक उत्तरों के लिए १, २, ३, ४ आदि संख्याओं को निर्धारित कर दिया जाता है और उन्हीं संख्याओं के आधार पर उन उत्तरों को व्यक्त किया जाता है। इससे समय की काफी बचत हो जाती है और विश्लेषण-कार्य में सरलता होती है।

(५) **तथ्यों का सारिणीयन**—गणनात्मक तथ्यों का व्यवस्थित व वैज्ञानिक ढंग से एक सारिणी या तालिका के अन्तर्गत प्रदर्शन करना ही सारिणीयन कहलाता है। सारिणी कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तृत तथ्यों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने की एक प्रणाली है। इसीलिए सारिणी की सहायता से तथ्यों का विश्लेषण सरलता से किया जा सकता है। इतना ही नहीं, सारिणीयन के फलस्वरूप जटिल अंक-समूह आसानी से समझ में आ जाता है और तुलना का काम भी सरल हो जाता है। विभिन्न तथ्यों का अन्तःसम्बन्ध मालूम करने के लिए भी सारिणीयन आवश्यक होता है। ये सभी बातें विश्लेषण व व्याख्या के कार्य में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती हैं।

सारिणीयन का कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् ही वास्तविक विश्लेषण व व्याख्या सम्भव है।

विश्लेषण व व्याख्या की प्रक्रिया
(Process of Analysis and Interpretation)

उपरोक्त विवेचना से ही विश्लेषण व व्याख्या की प्रक्रिया बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है, फिर भी इस सम्बन्ध में श्रीमती यंग (P. V. Young) के द्वारा प्रस्तुत क्रम का भी उल्लेख कर देना उपयोगी होगा जो कि इस प्रकार है[7]—

(१) **तथ्यों की तौल** (Weighing the Data)—इसका तात्पर्य तथ्यों की पुनर्परीक्षा से ही है। चूँकि शोध-विश्लेषण (research analysis) का उद्देश्य संकलित तथ्यों को वास्तविक रूप में अर्थयुक्त बनाकर निष्कर्ष के लिए उन्हें उपयोगी बनाना है, इस कारण यह आवश्यक है कि तथ्यों की पुनर्परीक्षा कर ली जाए। इसके लिए निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ना आवश्यक होगा—(अ) क्या संकलित तथ्य पर्याप्त वैषयिक तथा अपनी परिस्थिति के यथार्थ प्रतिनिधि हैं? (ब) क्या उनकी परीक्षा व पुनर्परीक्षा सम्भव है और क्या उन्हें वैषयिक रूप में (objectively) प्रस्तुत किया जा सकता है? (स) क्या वे माप के योग्य (measurable) हैं? (द) क्या क्रमबद्ध सिद्धान्त के लिए महत्त्वपूर्ण हैं? (य) क्या उनसे सामान्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है?

कोई भी निरीक्षण-योग्य (observable) तथ्य जिसका कि सम्पूर्ण अध्ययन-विषय अथवा उसके किसी पक्ष के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है, उसे विश्लेषण के आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। श्री विलियम जेम्स (William James) ने लिखा है कि चूँकि 'तथ्य स्वतंत्र एवं समान पैदा नहीं होते' (facts are not born free and equal) इस कारण उनको तौलकर उनके महत्त्व को आँक लेना जरूरी है ताकि उन्हें हम बढ़ा-चढ़ाकर अथवा कम करके देखने की गलती न कर बैठें। कम महत्त्वपूर्ण तथ्यों को त्यागकर अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को विश्लेषण व व्याख्या का आधार बनाने में कभी हिचकिचाना नहीं चाहिए, चाहे उन्हें कितने ही परिश्रम से संकलित क्यों न किया गया हो। यह याद रखना चाहिए कि अध्ययन की रिपोर्ट में तथ्यों का अधिक विस्तार स्वयं एक अवगुण बन जाता है। साथ ही, यदि हम कम महत्त्वपूर्ण तथ्यों को त्यागने का लोभ सम्भाल नहीं सकते तो उसका यह भी परिणाम होगा कि हमारा विश्लेषण व व्याख्या उतना ही जटिल रूप धारण कर लेगी। शोध-कार्य का उद्देश्य जटिलता को कम करना है, न कि उसे और बढ़ाना।

तथ्यों की परीक्षा इस दृष्टि से भी करनी चाहिए कि संकलित तथ्य सम्बन्धित समूह या समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व (representation) करने के योग्य है अथवा नहीं। सभी विशिष्ट तथा अनोखी परिस्थितियों तथा तथ्यों को अलग छाँट लेना चाहिए और बाद में यह सोचना चाहिए कि उन्हें किस सीमा तक विश्लेषण व व्याख्या का आधार बनाया जा सकता है। सामुदायिक जीवन में पाई जाने वाली अधिकांश सामान्य विशेषताओं से बिलकुल भिन्न विशेषता वाली अनोखी परिस्थितियों व तथ्यों को अध्ययन में आँख-मूँदकर सम्मिलित कर लेने से उसकी रिपोर्ट आकर्षक बन सकती है, वैज्ञानिक कदापि नहीं।

जब तथ्यों का संकलन एकाधिक व्यक्तियों के द्वारा अथवा एक ही व्यक्ति के द्वारा एक लम्बे अरसे से किया गया हो तो दृष्टिकोण, प्रणाली, इकाइयों की परिभाषा

7. P. V. Young, *op. cit.*, pp. 511-523.

तथा खोजों के प्रस्तुतीकरण आदि विषयों में एकत्रित तथ्यों में समानता है अथवा नहीं, इस बात की जाँच कर लेना आवश्यक है जिससे कि विश्लेषण व व्याख्या में कहीं असंगति पनप न सके।

(२) **एक रूपरेखा का निर्माण** (Preparation of an Outline)—एक रूपरेखा अध्ययन का नक्शा होता है। स्पष्ट तथा मितव्ययी विचारधारा के विकास तथा विविध तथ्यों के विस्तृत क्षेत्र के विषय में सहज तथा क्रमबद्ध स्पष्टीकरण एक रूपरेखा के विना सम्भव नहीं है। एक रूपरेखा वास्तव में तथ्यों का एक आरम्भिक वर्गीकरण (preliminary classification) ही होता है जो कि विषय से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को पहचानने में हमारी मदद करता है। विस्तृत विश्लेषण व व्याख्या प्रस्तुत करने से पहले यह आवश्यक है कि एकत्रित तथ्यों में से अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को एक वार फिर से दोहरा लिया जाए ताकि अध्ययन की गई सम्पूर्ण परिस्थिति के सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाए। ऐसा करते समय इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ना उपयोगी सिद्ध हो सकता है—(अ) वे कौनसी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ हैं जिनका पता इन तथ्यों से लगता है? (ब) इन तथ्यों से कौनसी उल्लेखनीय समानताएँ व भिन्नताएँ हैं? (स) ये तथ्य किन सामाजिक प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते हैं? (द) इनके द्वारा कौनसे अनुक्रम (sequences) प्रगट होते हैं? (य) इन परिस्थितियों से कौनसे कार्य-कारण सम्बन्ध प्रगट होते हैं? (र) इनसे कौन-कौनसे निष्कर्ष निकाले जाते हैं? और (ल) कौनसी नई प्राक्कल्पनाओं का निर्माण किया जाता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए संकलित तथ्यों की परीक्षा कई वार विभिन्न दृष्टिकोणों से करने की आवश्यकता हो सकती है, जब तक कि एक-दूसरे से तथा सम्पूर्ण अध्ययन से सम्बन्धित तथ्यों के विभिन्न पक्षों के विषय में स्पष्ट तथा विस्तृत वोध न हो जाए।[8]

इस प्रकार की आरम्भिक रूपरेखा अलग-अलग कागजों पर बनानी चाहिए और अध्ययन के प्रत्येक विषय के लिए एक पृथक् कागज का प्रयोग किया जाना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार उनमें और कुछ जोड़ा या निकाला जा सके। इन्हें जहाँ तक सम्भव हो सके उपलब्ध तथ्यों के अनुसार विस्तृत रूप में ही बनाना चाहिए। यह ऐसा हो जो कि समस्त महत्त्वपूर्ण कारकों (factors) पर प्रकाश डाल सके। अतः यह आवश्यक है कि इस रूपरेखा का निर्माण न तो विषय के सम्बन्ध में अस्पष्ट धारणाओं के आधार पर करना चाहिए और न ही जल्दवाजी में। यह तभी उपयोगी वन सकता है जब कि इस पर आवश्यक ध्यान दिया जाए और इसके निर्माण में पर्याप्त सावधानी बरती जाए।

संक्षेप में, श्रीमती यंग के अनुसार, सावधानीपूर्वक बनाई हुई रूपरेखा आधारभूत तथ्य एक-दूसरे से उचित रूप में सम्बन्धित हैं अथवा नहीं, तथ्यों में कोई गम्भीर खाई तो नहीं है. और लेखक तथ्यों को पचा भी सका है अथवा नहीं—इन सब वातों का निर्धारण करने में मदद कर सकती है। यदि रूपरेखा ठीक से वनी है, तो वह अध्ययन के प्रमुख पक्षों को उद्घाटित करेगी और उस क्रम की ओर संकेत करेगी जिस क्रम से उन पक्षों को प्रस्तुत करना होगा। वह 'सम्पूर्ण' (whole) का एक दृश्य

---

8. "To answer these questions the accumulated data may have to be examined several times from different standpoints until a clear and comprehensive view is gained of the various aspects of the data in relation to each other and to the total study."—*Ibid.*, pp. 513-514.

प्रस्तुत करेगी और प्रमुख विषयों का वर्णन करेगी जो कि एक शोधकर्त्ता अपने पाठक तक पहुँचाना चाहता है।[9]

जब एक रूपरेखा का निर्माण हो जाए तो यह अच्छा होगा कि ऐसे कुछ लोगों की सलाह भी ले ली जाए जो स्पष्टवादी और ईमानदार हैं। जो विषय के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि रखते हैं, जो गलतियों को बताने में कमी संकोच नहीं करेंगे, और जो तथ्यों को तार्किक ढंग से व्यवस्थित करने, किन्हीं विषयों को अत्यधिक महत्त्व देने और किन्हीं को कम महत्त्व देने या बिलकुल ही छोड़ देने से सम्बन्धित त्रुटियों के प्रति ध्यान आकर्षित करने में भी हिचकिचाएँगे नहीं। इस प्रकार के समालोचकों को ढूंढ़ निकालना कठिन है, पर इस दिशा में आरम्भ से ही प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है।

साथ ही, ऐसे कुछ बुद्धिमान व्यक्तियों को भी तथ्यों तथा रूपरेखा को समझाना चाहिए जो कि अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में बहुत कम या कुछ नहीं जानते हैं। ऐसे व्यक्ति को अनुसन्धानकर्त्ता विषय के सम्बन्ध में कितनी अच्छी तरह समझा सकता है, यह इस बात का द्योतक होगा कि अनुसन्धानकर्त्ता स्वयं विषय को किस सीमा तक समझ पाया है। इस प्रकार विषय के सम्बन्ध में अपनी समझ (understanding) की माप करने के लिए दूसरे को समझाना और उसकी प्रतिक्रियाओं को देखना उपयोगी सिद्ध होता है। दूसरों को समझाने के दौरान में विषय के सम्बन्ध में न केवल अधिकाधिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है अपितु अनेक नए विचार भी उत्पन्न होते हैं। ये दोनों ही बातें तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या में सहायक सिद्ध होती हैं।

(३) **तथ्यों का व्यवस्थित वर्गीकरण** (Systematic Classification of Data)—मार्ग-दर्शक के रूप में एक रूपरेखा का निर्माण कर लेने के पश्चात् तथ्यों का व्यवस्थित वर्गीकरण करने के लिए आवश्यक कदम उठाना चाहिए। समग्र एकत्रित तथ्यों के विस्तृत तथा ठोस वर्गीकरण पर ही बहुत-कुछ अध्ययन की प्रभावशीलता व मूल्य निर्भर करता है।[10] श्री रावर्ट ई० चाड्डॉक (Robert E. Chaddock) ने लिखा है कि सामाजिक विज्ञानों में वर्गीकरण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सामाजिक घटनाओं में एक परिस्थिति को अनेक कारक (factors) प्रभावित करते हैं तथा उन कारकों में अत्यधिक विविधताएँ भी होती हैं।[11] इस विस्तृत प्रकार-भेद

9. "In short, a careful outline aids in determining whether the basic facts stand in the proper relationships to each other, whether there are serious gaps in the data, and whether the writer has assimilated his facts. If the outline is well done, it will throw into relief the main aspects of the study and will indicate the order in which they will be presented. It will give a sense of the 'whole' and will describe the main topics that one wants to get across the reader."—*Ibid.*, p. 514.

10. "The effectiveness and the value of a study are largely dependent upon a comprehensive and sound classification of all assembled facts."—*Ibid.*, p. 515.

11. "Classification is especially important in the social sciences because of the many factors which affect a given situation and because the measurement show such wide variations."—Robert E. Chaddock, *Principles and Methods of Statistics*, Houghton Mifflin Co., Boston, 1925, p. 43.

को समझने के लिए वर्गीकरण अति आवश्यक हो जाता है। तथ्यों का वर्गीकरण हो जाने पर उनकी तुलना, उनमें पाए जाने वाली समानताओं व भिन्नताओं व पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान हो जाता है।

(४) **अवधारणाओं का निर्माण** (Formulation of Concepts)—एकत्रित तथ्यों का वर्गीकरण कर लेने के पश्चात् अवधारणाओं का निर्माण आवश्यक हो जाता है ताकि सम्पूर्ण परिस्थिति को अवधारणात्मक भाषा (conceptual language) में व्यक्त किया जा सके। इस भाषा को विद्यमान अवधारणाओं के आधार पर विकसित किया जा सकता है। अवधारणात्मक भाषा का प्रयोग करने से लाभ यह होता है कि एक सम्पूर्ण परिस्थिति या प्रक्रिया को केवल दो-एक शब्दों के माध्यम से (अर्थात् एक अवधारणा द्वारा) सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि एकत्रित तथ्यों के आधार पर हमें यह पता चलता है कि एक समूह या व्यक्ति अपने ही परिवार या समुदाय के विचारों व मूल्यों के साथ अपना अनुकूलन न कर सकने के कारण उसके साथ तनाव या संघर्ष की स्थिति में है तो इस सम्पूर्ण परिस्थिति को समझाने के लिए 'सांस्कृतिक संघर्ष' (culture conflict) की अवधारणा को ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार यदि एक समाज में भौतिक संस्कृति (material culture) में अधिक शीघ्रता से परिवर्तन और प्रगति होने के फलस्वरूप अभौतिक संस्कृति (जैसे मूल्य, विचार, आदर्श, दर्शन, भाषा, धर्म आदि) भौतिक संस्कृति से पर्याप्त पिछड़ गई है तो पिछड़पन की इस सम्पूर्ण स्थिति को 'सांस्कृतिक विलम्बना' (culture lag) की अवधारणा द्वारा समझाया जा सकता है।

अवधारणाओं के निर्माण के महत्त्व को समझाते हुए सर्वश्री गुड और हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है कि अवधारणा को विकसित करने की प्रक्रिया इन्द्रियजनित बोध को प्राप्त करने व उससे निष्कर्ष निकालने में सहायक होती है। इस प्रकार, वस्तुओं के गुणों को समझना, अध्ययन करना, व्यवस्थित व पृथक् करना सम्भव होता है। केवल विचार के द्वारा ही इस प्रकार के गुणों को अलग किया जा सकता है और इन गुणों का नामकरण करने पर ही विचार आगे बढ़ सकता है। अतः विचारों को पनपाने के लिए अवधारणाओं का निर्माण आवश्यक है।[12] संक्षेप में, अवधारणा एक परिस्थिति या घटना-विशेष का एक अति संक्षिप्त परिचय होती है जिसका कि प्रयोग सुविधा के दृष्टिकोण से तथा उस परिस्थिति या घटना-विशेष के सम्बन्ध में एक सामान्य विचार-श्रृंखला को पनपाने के लिए किया जाता है।

पर वैषयिक अवधारणाओं का निर्माण एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इसीलिए इस क्षेत्र में अधिक प्रगति अब भी नहीं हो पाई है और जितनी हुई है वह भी विवादास्पद (controversial) है। फिर भी स्वर्गीय श्री ई० ई० एऊबैंक (E. E. Eubank) ने वैज्ञानिक अवधारणाओं के निर्माण के लिए निम्नलिखित चार कसौटियों का उल्लेख किया है—(अ) क्या वह शब्द (term) यथार्थ रूप में ठीक है? क्या उससे यथार्थ व सुस्पष्ट अर्थ प्रगट होता है? (ब) क्या वह शब्द एक अन्तिम विचार

12. "The process of conceptualization is one of abstracting and generalizing sense impressions. In this way it is possible to manipulate, study, organize, and isolate the properties of objects. It is only by thought that such properties can be isolated, and thinking can proceed only by giving names to such properties. Thus conceptualization is essential to thought."—W. J. Goode and P. K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Co., New York, 1952, pp. 42-43.

(final idea) को प्रगट करता है ? (स) क्या वह शब्द पूर्णतया सामान्य है अर्थात् जहाँ कहीं भी उसको प्रयोग किया जाता है वह एक ही अर्थ को प्रगट करता है ? (द) क्या उसके द्वारा व्यक्त विचार अपने विशिष्ट क्षेत्र में आधारभूत है अर्थात् उसकी व्याख्या के लिए आवश्यक है ?[13] इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर मिल जाने से न केवल आधारभूत अवधारणाओं का निर्माण सम्भव होता है, अपितु सम्पूर्ण अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में एक गहन अन्तर्दृष्टि को पनपाने में भी मदद मिलती है।

(५) **तुलना तथा व्याख्या** (Comparison and Interpretation)—जब संकलित तथ्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण कर लिया जाता है और अवधारणाओं का निर्माण भी कर लिया जाता है तो तथ्यों के सामान्य प्रतिमान (pattern) स्पष्ट हो जाते हैं। तब इन प्रतिमानों की तुलना करनी सम्भव होती है। तुलनात्मक विश्लेषण किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष के लिए परमावश्यक है। तुलना करने से विभिन्न तथ्यों व परिस्थितियों का न केवल स्पष्टीकरण होता है अपितु उनका तुलनात्मक महत्त्व भी हमारे लिए स्पष्ट हो जाता है। इसके लिए प्रत्येक परिस्थिति, घटना और कारक की तथ्ययुक्त व्याख्या आवश्यक होती है। और भी स्पष्ट रूप में हम कह सकते हैं कि एक शोधकर्त्ता को तथ्यों का संकलन एवं तुलनात्मक विश्लेषण करने के साथ-साथ उनके आधार पर निष्कर्ष (inferences) भी निकालने पड़ते हैं और उनकी सार्थकता को भी तार्किक तौर पर सिद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार संकलित तथ्यों का विश्लेषण करके सावधानीपूर्वक निष्कर्ष निकालने व उनकी सार्थकता बताने की क्रिया को ही व्याख्या (interpretation) कहते हैं। इस व्याख्या के दौरान में शोधकर्त्ता विभिन्न घटनाओं या विषयों के कार्य-कारण सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में उसकी सफलता सम्पूर्ण अध्ययन की सफलता का प्रतीक बन जाती है। इसी कारण यह कहा जाता है कि कार्य-कारण सहित व्याख्या विज्ञान का सर्वप्रमुख कार्य और उद्देश्य है।

व्याख्या के सही होने के लिए यह जरूरी है कि संकलित तथ्यों के वैज्ञानिक वर्गीकरण व विश्लेषण का समुचित व तार्किक (rational) उपयोग किया जाए अन्यथा निष्कर्षों के गलत हो जाने की सम्भावना होगी। इसके लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना लाभप्रद सिद्ध होगा—(अ) तथ्य तुलनायोग्य हों अर्थात् जिन तथ्यों को हम अपनी व्याख्या का आधार बनाना चाहते हैं वे सब इस प्रकार के न हों कि उनका तुलनात्मक अध्ययन सम्भव न हो सके। उदाहरणार्थ, यदि हमें दो देशों या प्रान्तों के श्रमिकों की आर्थिक दशाओं का अध्ययन करना है तो यह आवश्यक होगा कि हम ऐसे तथ्यों को एकत्रित करें जो कि दोनों ही देशों के श्रमिकों के आय-व्यय के प्रतिमान को स्पष्टतः प्रगट कर सकें। ये तथ्य दोनों ही दशाओं में आय-व्यय से सम्बन्धित होने के कारण तुलना के योग्य होंगे। (ब) जहाँ तक सम्भव हो ऐसे तथ्यों को एकत्रित करना चाहिए जो कि गणनात्मक हों और जिनका विश्लेषण व व्याख्या वैषयिक रूप में की जा सके। (स) विश्लेषण व व्याख्या सही हो इसके लिए यह भी आवश्यक है कि त्रुटियों के स्रोतों के प्रति हम सदा जागरूक रहें। जहाँ-कहीं भी हमें

13. "(1) Is the term reasonably precise ? Does it convey an exact, clear-cut meaning ? (2) Does the term convey one final idea ? (3) Is the term perfectly general; that is, always employed in the same sense wherever it is used ? (4) Is the idea fundamental to its particular field; that is, essential for its inclusive interpretation."—E. E. Eubank, *The Concepts of Sociology*, D. C. Heath and Co., Boston, 1931, p. 398.

सन्देह हो तथ्यों की फिर से परीक्षा कर लेने में हम कदापि संकोच का अनुभव न करें। ऐसा करने में समय कुछ अधिक लग सकता है, पर व्याख्या की यथार्थता उतनी ही बढ़ जाती है। (द) किसी भी घटना, समस्या या विषय की व्याख्या को यथार्थ (exact) स्तर पर लाने के लिए वैज्ञानिक तटस्थता (scientific neutrality) को बनाए रखना अति आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि शोधकर्त्ता समस्त पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव (bias) से अपने को बहुत दूर रखने में सफल हो। यह काम बहुत कठिन है, पर इसके बिना वैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं है। पक्षपात या मिथ्या-झुकाव स्वयं हमारे अध्ययन या शोध का विषय बन सकता है, पर विश्लेषण या व्याख्या का आधार कदापि नहीं। अर्थात् किसी भी अध्ययन-विषय के, चाहे वह पक्षपात और मिथ्या-झुकाव ही क्यों न हो, विश्लेषण या व्याख्या में शोधकर्त्ता का अपना पक्षपात व मिथ्या-झुकाव उस विश्लेषण या व्याख्या को विकृत कर दे—यह वैज्ञानिक अनुसन्धान के प्रतिकूल है। अत: इनसे बचने की आवश्यकता है। (य) इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि विषय की व्याख्या सुस्पष्ट तथा सरल होनी चाहिए जिससे कि उसे दूसरे लोग भी समझ सकें और उससे लाभ उठा सकें। यह याद रखना चाहिए कि शोध का 'धर्म' सरलीकरण व स्पष्टीकरण है अर्थात् घटना की जटिलता व अस्पष्टता को दूर करना शोध का एक परम उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति सुस्पष्ट व बोधगम्य व्याख्या द्वारा ही सम्भव है।

(६) सिद्धान्तों का प्रतिपादन (Formulation of Theories)—घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या नए सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का पथ प्रशस्त करती है। ये सिद्धान्त वास्तव में व्याख्या के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों का अति संक्षिप्त रूप होते हैं। विभिन्न शोधकर्त्ता अपने अनुसन्धान, विश्लेषण व व्याख्या के आधार पर अलग-अलग सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते रहते हैं। समाजशास्त्र का साहित्य ऐसे ही कितने सिद्धान्तों से समृद्ध है। दो-एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रो० शॉ (C. R. Shaw) ने अपने अध्ययन के आधार पर बाल-अपराध की दर (rate of delinquency) के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है वह इस प्रकार है, "स्कूल से भागने, बाल-अपराध तथा वयस्क-अपराध की दरें (rates) शहर की केन्द्र से दूरी के उल्टे अनुपात में घटती-बढ़ती हैं।"[14] अर्थात् शहर की केन्द्र से दूरी जितनी बढ़ती जाएगी, स्कूल से भागने (truancy), बाल-अपराध व वयस्क-अपराध की दरें उसी अनुपात से घटती जाएँगी। इसके विपरीत, शहर की केन्द्र से दूरी जितनी घटती जाएगी, स्कूल से भागने, बाल-अपराध व वयस्क-अपराध की दरें उसी अनुपात से बढ़ती जाएँगी। उसी प्रकार सर्वश्री ग्रोव्स तथा ऑगबर्न (Groves and Ogburn) द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है—"जहाँ की जनसंख्या का अधिक प्रतिशत दस्तकारी (manufacturing) में लगा हुआ है, ऐसे शहरों में, औसत तौर पर, विवाहित युवक व्यक्तियों का प्रतिशत कुछ अधिक होता है।"[15]

---

14. "Rates of truancy, delinquency and adult crime tend to vary inversely in proportion to distance from the centre of the city."—Clifford R. Shaw, *Delinquency Areas*, University of Chicago Press, Chicago, 1929, p. 202.

15. "The cities that have a larger percentages engaged in manufacturing also have, on the average, slightly larger percentages of young persons married."—Ernest Groves and William Ogburn, *American Marriage and Family Relationships*, Henry Holt and Co., New York, 1928, pp. 238—240.

सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथ्यों के विश्लेषण या व्याख्या का अन्तिम चरण है और सबसे महत्त्वपूर्ण भी। इसीलिए यह अति आवश्यक है कि इनके प्रतिपादन में आवश्यक सावधानी बरती जाए। सिद्धान्त को अनुसन्धान का सार तत्त्व भी कहा जा सकता है इसलिए यह जितना यथार्थ और सुस्पष्ट हो उतना ही अच्छा है। सिद्धान्त को लिखते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिनका कि एक ही अर्थ सभी लोग समान रूप में समझ सकें। साथ ही, सम्पूर्ण वाक्य अध्ययन-विषय की वास्तविक प्रवृत्ति व विशेषता को निरूपित करने के लिए पर्याप्त हो यह भी ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्रतिपादित सिद्धान्त इस प्रकार का हो कि उसके विश्लेषण से सम्पूर्ण अध्ययन का क्षेत्र और मूल निष्कर्ष स्पष्ट हो जाएँ। यदि ऐसा नहीं हुआ तो सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता स्वतः ही कम हो जाएगी।

वह शोधकर्त्ता, जिसे कि सामाजिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त है और जिसने अनुसन्धान-कार्य के दौरान में एकत्रित तथ्यों को पूर्णतया पचा लिया है, अपने तथ्यों से कतिपय सिद्धान्तों को स्वतः प्रवाहित होते देख सकता है। कुमारी पामर (Miss Palmer) ने लिखा है कि एक अनुसन्धानकर्त्ता को जितनी अधिक अन्तर्दृष्टि, शिक्षा तथा अनुभव प्राप्त होगा "उतना ही अधिक वह सामान्यतया स्वीकृत सैद्धान्तिक अवधारणाओं तथा व्याख्याओं को सामाजिक घटना की किसी इकाई की क्रियाशीलता से सम्बन्धित वास्तविक खोजों के अधिक निकट ला सकेगा।"[16] ऐसा करने में सफल होने पर समाजशास्त्रीय अध्ययन व शोध के क्षेत्र में "उसकी कुछ-न-कुछ देन (contribution) अवश्य ही होगी क्योंकि सामाजिक जीवन के कुछ ऐसे पक्षों की व्याख्या करने में वह सफल हुआ है जिनके बारे में लोग अब तक अनभिज्ञ थे। ऐसा भी हो सकता है कि सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके उसने सामाजिक जीवन के कुछ ज्ञात पक्षों का पुनर्परीक्षण किया है और इस प्रकार पहले प्रतिपादित किसी सिद्धान्त की यथार्थता को प्रमाणित किया है। जब उसका यह प्रमाण विभिन्न स्रोतों से प्राप्त पर्याप्त तथ्यों पर आधारित होता है तो वही एक सामाजिक नियम (social law) बन जाता है।"[17]

श्रीमती यंग (Young) ने उचित ही लिखा है कि, "शोधकर्त्ता द्वारा सैद्धान्तिक विश्लेषणों का अध्ययन और ऐसे तथ्यों का प्रतिपादन, जो कि अनुभवी शोधकर्त्ता द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं, अपने स्वयं के विश्लेषणों तथा व्याख्याओं की विशेषज्ञों के विश्लेषणों तथा व्याख्याओं के साथ तुलना, और किसी योग्य तथा अन्तर्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति के साथ क्रमशः विषय विश्लेषणों (case analyses) की ओर अग्रसर होना,

16. "The more insight, education, and experience he has, the more he will be able 'to bring' into juxtaposition more generally accepted theoretical concepts and interpretations with the concrete findings concerning the operation of a definite unit of social life."—Vivien Palmer, *Field Studies in Sociology*, University of Chicago Press, Chicago, 1928, p. 100.

17. "He will have rendered a contribution, though not wholly original, because he has succeeded in interpreting certain aspects of social life which were not known or not interpreted before. Or he may aid in verifying the theoretical interpretation of some known aspects of life, and thus be instrumental in confirming and proving the soundness of a theory which if supported by a large body of evidence from various sources, may come to be regarded a social law."—Pauline V. Young, *op. cit.*, p. 522.

ठोस अर्थ में शोधकर्त्ता की अपनी कुशलता व विश्लेषण पद्धतियों को त्रुटिहीन बनाने में सहायक होगा।"

जिन विषयों के सम्बन्ध में पर्याप्त शोध-कार्य सावधानीपूर्वक किए गए हैं और तथ्यों के सम्बन्धों व अर्थ के सम्बन्ध में गहन अन्तर्दृष्टि प्राप्त की जा चुकी है, उन विषयों के सम्बन्ध में नए सिद्धान्तों व नियमों का प्रतिपादन सरल हो जाता है। वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या की यही सार्थकता भी है। पर साथ ही, विश्लेषण व व्याख्या का एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य उन प्रमुख समस्याओं की भी खोज करना है जिनके सम्बन्ध में और आगे गहन अध्ययन की आवश्यकता है। बहुधा एक शोध-कार्य समाप्त होने पर ऐसी अनेक नई समस्याएँ, नए प्रश्न तथा विषय स्वतः ही प्रगट हो जाते हैं जिनके विषय में पहले कोई आभास तक नहीं मिला था। इनमें से कई प्रश्न नए शोध-कार्य के आधार बन जाते हैं और नए सिद्धान्तों व सामाजिक नियमों के प्रतिपादन का पथ प्रशस्त होता है जो कि विद्यमान सिद्धान्तों व नियमों की या तो पुष्टि करता है अथवा उन्हें गलत प्रमाणित करता है। दोनों ही दशाओं में विज्ञान की उन्नति तथा ज्ञान की प्राप्ति व परिशुद्धि होती है।

---

२१ रिपोर्ट तैयार करना

(PREPARING OF THE REPORT)

प्रत्येक सामाजिक सर्वेक्षण अथवा शोध का आधार वैज्ञानिक पद्धति व प्रविधियों द्वारा संकलित तथ्य हैं। पर तथ्यों का ढेर स्वयं कुछ नहीं कह सकता जब तक कि उनका वर्गीकरण व सारिणीयन न किया जाए। पर केवल वर्गीकरण व सारिणीयन भी निरर्थक है जब तक कि इनके आधार पर तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या करके कुछ वैज्ञानिक निष्कर्षों को न निकाला जाए। इन निष्कर्षों को यदि सर्वेक्षणकर्त्ता या शोधकर्त्ता अपने दिमाग में ही भरकर रख दे तो उससे न तो विज्ञान का और न ही और किसी का कोई भला हो सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण सर्वेक्षण व शोध-कार्य के उद्देश्य, क्षेत्र, प्रयुक्त पद्धति व प्रविधियों, संकलित तथ्यों का विवरण, विश्लेषण व व्याख्या तथा निष्कर्षों व सुझावों को एक लिखित रूप दिया जाए जिससे कि वह विज्ञान की एक धरोहर बन सके, दूसरे वैज्ञानिक उसी विषय के सम्बन्ध में फिर से अनुसन्धान कर उसके निष्कर्षों की पुनर्परीक्षा कर सकें तथा निष्कर्षों व सुझावों के आधार पर सामाजिक योजना व सुधार की रूपरेखा तैयार की जा सके। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण सर्वेक्षण या शोध का एक लिखित विवरण तैयार किया जाता है। यही सर्वेक्षण या शोध की रिपोर्ट कहलाता है।

रिपोर्ट तैयार करने का उद्देश्य
(Object of preparing the Report)

सर्वश्री गुड एवं हॉट (Goode and Hatt) ने लिखा है कि शोध-प्रकिया वैज्ञानिक के लिए बड़ी ही रोचक तथा आकर्षक होती है। फिर भी आगे-पीछे कभी-न-कभी एक ऐसी स्थिति आती है जब कि रिपोर्ट तैयार करना आवश्यक हो ही जाता है। किसी भी प्रकार के अध्ययन में एक स्थिति ऐसी आती ही है जब कि उसके पश्चात् अध्ययन-कार्य को चालू रखना अनुपयोगी एवं संकलित तथ्यों का और अधिक विश्लेषण व व्याख्या अनावश्यक प्रतीत होने लगती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किन्हीं पूर्व शर्तों के अनुसार एक वैज्ञानिक या आरम्भिक विद्यार्थी के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह एक निर्धारित समय के अन्दर शोध-कार्य को समाप्त कर उसके निष्कर्षों को प्रस्तुत करे। साथ ही, शोध या सर्वेक्षण के दौरान में प्राप्त सामग्री एवं नवीन तथ्य इतने रुचिकर होते हैं कि अनुसन्धानकर्त्ता उसके परिणामों को अन्य लोगों तक पहुँचाने के लिए स्वयं उत्सुक रहता है। अन्त में, जिन-जिन लोगों ने अध्ययन-कार्य में अर्थ, सुझाव, सहायता व समय के रूप में योग दिया है, वे यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि उनके सहयोग या सहायता का क्या परिणाम

निकला ।[1] इन सव आवश्यकताओं व माँगों की पूर्ति करने के उद्देश्य से ही सर्वेक्षण के अन्तिम चरण में एक रिपोर्ट तैयार की जाती है ।

इस प्रकार, रिपोर्ट तैयार करना शोध-कार्य का अन्तिम चरण है जिसका कि उद्देश्य 'अमेरिकन मार्केटिंग सोसाइटी' (American Marketing Society) के अनुसार, "अध्ययन के सम्पूर्ण परिणामों को रुचि रखने वाले व्यक्तियों (interested persons) के समक्ष पर्याप्त विस्तार में प्रस्तुत करना और उन परिणामों को इस प्रकार व्यवस्थित करना कि प्रत्येक पाठक तथ्यों को समझने और निष्कर्षों की वैधता स्वयं निर्धारित करने में समर्थ हो सके ।"[2]

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक सर्वेक्षण या शोध की रिपोर्ट तैयार करने के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(१) ज्ञान का एक प्रलेख प्रस्तुत करना (To present a Document of Knowledge)—प्रत्येक सर्वेक्षण या शोध-कार्य का निष्कर्ष निश्चय ही किसी-न-किसी प्रकार के ज्ञान का एक स्रोत होता है । इसमें पर्याप्त समय, धन तथा परिश्रम भी लग जाता है । इसके वाद भी अगर अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को शोधकर्त्ता केवल अपने ही दिमाग में रख लें तो उस ज्ञान की वास्तविक उपयोगिता स्वतः ही नष्ट हो जाएगी और दूसरों को उससे कोई लाभ नहीं होगा । अतः उसे एक क्रमवद्ध लिखित रूप प्रदान करना परमावश्यक है जिससे कि वह ज्ञान का एक लिखित प्रलेख (document) वन जाए और विज्ञान की एक धरोहर के रूप में उसे सुरक्षित रखना सरल हो जाए । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वेक्षण या शोध की एक रिपोर्ट अवश्य ही तैयार की जाती है ।

(२) ज्ञान के विस्तार के लिए (For the extension of Knowledge)—रिपोर्ट तैयार करने का यह भी कम महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नहीं है । पिछले अध्याय में हम लिख चुके हैं कि तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या से न केवल अध्ययन-विषय का ही स्पष्टीकरण होता है और न केवल उस विषय से सम्वन्धित ही कुछ निष्कर्ष निकलते हैं, अपितु इस वात की भी खोज हो जाती है कि उस विषय से सम्वन्धित अन्य कौन-कौनसी समस्याएँ है जिनके विषय में आगे और गहन अध्ययन किया जा सकता है । जव अपने शोध-कार्य तथा उसके निष्कर्षों को अनुसन्धानकर्त्ता एक लिखित रूप देने बैठता है तो वह स्वतः ही अन्य ऐसी अनेक नई समस्याओं, नए प्रश्नों तथा विषयों की ओर भी संकेत करता है जोकि शोध या सर्वेक्षण का विषय वन सकते हैं । इस दृष्टि-कोण से रिपोर्ट का एक उद्देश्य अनुसन्धान के नए क्षेत्रों (avenues) से हमें परिचित करवाकर ज्ञान के विस्तार की निरन्तरता को बनाए रखना है ।

(३) अनुसन्धान के परिणामों को दूसरों के सूचनार्थ प्रस्तुत करना (To present the Results of the Investigation for others' information)—शोधकर्त्ता के लिए अपने अनुसन्धान के परिणामों को प्रदर्शित करना कई कारणों से आवश्यक हो जाता है । प्रथमतः शोध-कार्य से प्राप्त निष्कर्षों या परिणामों को सम्वन्धित

---

1. William J. Goode and Paul K. Hatt, *Methods in Social Research*, McGraw-Hill Book Company, Inc., New York, 1952, p. 359.

2. "Its purpose is to convey to interested persons the whole result of the study, in sufficient detail and so arranged as to enable each reader to comprehend the data and to determine for himself the validity of the conclusions."—American Marketing Society, *Technique of Marketing Research*, McGraw-Hill, New York, 1937, p. 299.

लोगों अथवा शोध में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के सामने प्रगट करना अनुसन्धान-कर्त्ता का कर्त्तव्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि अनुसन्धान का विषय सार्वजनिक महत्त्व का है तो उसके परिणामों से लोगों को अवगत कराना आवश्यक हो जाता है। द्वितीयत: यदि सर्वेक्षण की रिपोर्ट के आधार पर ही कोई सरकारी अथवा गैर-सरकारी कार्यवाही होनी है तो भी यह काम रिपोर्ट तैयार न होने तक रुका रहता है। तृतीयतः कभी-कभी सरकार किसी विशेष विषय पर सर्वेक्षण इसलिए करवाती है कि उससे सम्बन्धित कोई योजना उसे बनानी होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी रिपोर्ट तैयार करनी जरूरी हो जाती है। चतुर्थत: जिन लोगों ने सर्वेक्षण-कार्य में अपना धन, परामर्श, सहायता व समय देकर सहयोग प्रदान किया है, उन सभी के मन में सर्वेक्षण के परिणामों को जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है। उनकी सन्तुष्टि के लिए भी रिपोर्ट को तैयार किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जब अनुसन्धान-कार्य किसी डिग्री या डिप्लोमा प्राप्त करने के लिए किया जाता है तो उस उद्देश्य की पूर्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि रिपोर्ट प्रस्तुत न की जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी रिपोर्ट तैयार की जाती है। अन्त में, प्राय: सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त नवीन तथ्य इतने रोचक व रुचिकर प्रतीत होते हैं कि स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता उनके परिणामों को अन्य लोगों को भी दिखाने व आत्मगौरव प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहता है। अनुसन्धान की एक व्यवस्थित रिपोर्ट तैयार हो जाने से उपरोक्त सभी छ: उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है।

(४) विषय में अन्तर्निहित वास्तविक स्थिति को समझाना (To explain the actual conditions involved)—रिपोर्ट का उद्देश्य केवल अनुसन्धान के निष्कर्षों या परिणामों को व्यक्त करना ही नहीं अपितु उन्हें इस व्यवस्थित व वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करना है कि अध्ययन-विषय के विभिन्न पक्षों की वास्तविकताएँ स्वत: ही प्रगट हो जाएँ और उस रिपोर्ट को पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनमें अन्तर्निहित वास्तविक स्थिति तथा अन्त:सम्बन्धों को स्पष्ट रूप में समझ सके। सर्वेक्षण या शोध की सार्थकता विषय को केवल स्वयं समझ लेने में नहीं अपितु दूसरों को भी समझाने में है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी रिपोर्ट इस ढंग से तैयार की जाती है कि विषय में रुचि रखने वाले सभी व्यक्ति उसे पढ़कर लाभ उठा सकें तथा अनुसन्धान से प्राप्त नवीन तथ्यों व उनके सामाजिक परिणामों को समझ सकें।

(५) वैधता की जाँच (Test of Validity)—जब तक शोध या सर्वेक्षण-रिपोर्ट को तैयार नहीं किया जाएगा, तब तक इस बात की जाँच नहीं की जा सकती कि वह अध्ययन प्रामाणिक व प्रयोगसिद्ध है अथवा नहीं। रिपोर्ट की जाँच करके ही यह बताया जा सकता है कि अनुसन्धान में शुद्ध तथा यथार्थ सामग्री के आधार पर निष्कर्ष निकाले गए हैं अथवा केवल अनुमान और संदेहात्मक सूचना ही अध्ययन का आधार है। रिपोर्ट में वर्णित तथ्य व निष्कर्ष सार्वजनिक रूप से प्रकाशित एक विषय बन जाता है (यदि रिपोर्ट को सरकार के द्वारा गुप्त न रखा जाए)। अत: यदि किसी को भी अध्ययन की वैधता के सम्बन्ध में सन्देह होता है तो वह स्वयं फिर से अनुसन्धान कर उसके निष्कर्षों की परीक्षा व पुनर्परीक्षा कर सकता है। इस प्रकार की परीक्षा व पुनर्परीक्षा से या तो पहले वाले अध्ययन की वैधता सिद्ध होती है अथवा उसके निष्कर्षों को तथ्यपूर्ण रूप में गलत प्रमाणित किया जाता है। दोनों ही दशाओं में विज्ञान की प्रतिष्ठा बढ़ती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि परीक्षा व पुनर्परीक्षा के योग्य होना वैज्ञानिक अध्ययन का सबसे उल्लेखनीय गुण है। अत: इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी रिपोर्ट तैयार करना आवश्यक हो जाता है।

रिपोर्ट तैयार करने की समस्याएँ
(Problems of preparing the Report)

सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने उचित ही लिखा है कि "स्पष्टतया यह प्रतीत होता है कि एक रिपोर्ट को लिखना एक सरल कार्य ही होगा क्योंकि यह तो केवल मात्र पूछे गए प्रश्नों, प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त प्रविधियों तथा अन्तिम रूप से विकसित उत्तरों का एक विवरण मात्र है। वास्तव में, यह काम शायद ही सरल हो।"[3] दूसरे शब्दों में, शोध या सर्वेक्षण-रिपोर्ट तैयार करना उतना सरल कार्य नहीं है जितना कि ऊपरी तौर पर हम उसे समझते हैं। वास्तविक रूप में जब शोधकर्त्ता रिपोर्ट लिखने बैठता है तो उसे एकाधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) **भाषा की समस्या** (Problem of Language)—रिपोर्ट को तैयार करने में सबसे बड़ी समस्या भाषा की समस्या है। यह समस्या इसलिए उत्पन्न होती है कि यदि भाषा को अत्यन्त सरल बना दिया जाए तो रिपोर्ट का स्तर गिर जाता है और उसमें एक ओछापन-सा दिखाई पड़ने लगता है। पर यदि उस रिपोर्ट में वैज्ञानिक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग करके रिपोर्ट के स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता है तो रिपोर्ट अधिकांश लोगों के लिए अत्यधिक क्लिष्ट तथा पारिभाषिक (technical) हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में समस्या यह जान पड़ती है कि किस भाषा में रिपोर्ट को प्रस्तुत किया जाए क्योंकि साधारण बोल-चाल की भाषा रिपोर्ट के स्तर को गिरा देती है जबकि पारिभाषिक भाषा उसे लोकप्रिय होने से रोकती है। वास्तविक तथ्य यह है कि शोध या सर्वेक्षण की सम्पूर्ण प्रक्रिया, जिसमें कि रिपोर्ट का प्रस्तुतीकरण भी सम्मिलित है, स्वयं ही एक टेकनिकल प्रक्रिया है इसलिए उसे एक निर्धारित सीमा के बाद सरल नहीं बनाया जा सकता। यह नहीं हो सकता कि रिपोर्ट में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग न किया जाए और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हुए रिपोर्ट को क्लिष्ट होने से पूर्णतया रोकना भी असम्भव है। इतना ही नहीं, रिपोर्ट को लिखते समय भाषा सम्बन्धी एक और समस्या इस रूप में प्रगट होती है कि रिपोर्ट में ऐसे किसी भी शब्द या वाक्य का प्रयोग न किया जाए जिसके कि अर्थ दो या सन्देहजनक हों। ऐसा होने पर रिपोर्ट के किन्हीं पक्षों के सम्बन्ध में गलत धारणा पनपने की सम्भावना होती है। पर सम्पूर्ण अध्ययन में, भाषा के सम्बन्ध में इतना अधिक सचेत रहना सम्भव नहीं होता है और इसीलिए भाषा की समस्या किसी-न-किसी रूप में बनी ही रहती है।

(२) **पारिभाषिक शब्दों की समस्या** (Problem of Technical Words)—प्राकृतिक विज्ञानों में पारिभाषिक शब्दों को विकसित करने की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है और इन विज्ञानों में इसीलिए ऐसे विशेष शब्दों तथा वाक्यों की प्रचुरता है जिनका कि अर्थ बिना किसी अपवाद के सभी के लिए और सभी स्थानों पर एक-समान ही होता है या समझा जाता है। परन्तु सामाजिक विज्ञानों में यह कमी अत्यधिक अनुभव की जाती है क्योंकि सामाजिक विज्ञानों में प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली का अभाव प्रत्येक लेखक को बहुत अधिक खटकता है। इतना ही नहीं, पारिभाषिक

---

3. "It seems clear that a report could be simple to write, since it is merely an exposition of the question asked, the techniques used to answer it, and the answers which were finally developed. Actually, it is rarely so."—William J. Goode and Paul K. Hatt, *op. cit.*, p. 359.

शब्दावली सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेद भी सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में कम उल्लेखनीय विषय नहीं है और अलग-अलग लेखक इस शब्दावली के प्रति किसी विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह से अपने को दूर रखने में शायद ही सफल हो सकें। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रिपोर्ट का प्रस्तुतीकरण भी एक टेकनिकल विषय है और प्रामाणिक पारिभाषिक शब्दावली के विना इसका काम नहीं चल सकता, इसलिए समाज-विज्ञानों में इन्हीं शब्दावलियों की कमी एक बहुत बड़ी कमी बन जाती है जिसके कारण रिपोर्ट में कही हुई बातें सन्देहास्पद तथा दो अर्थ वाली बन जाती हैं जबकि शोधकर्त्ता का वास्तविक उद्देश्य ऐसा करना नहीं होता है।

सामाजिक विज्ञानों में जब तक पारिभाषिक शब्दावली का पर्याप्त विकास नहीं हो जाएगा तब तक इससे सम्बन्धित समस्या रिपोर्ट को तैयार करने में बनी ही रहेगी।

(३) जनता के ज्ञान के स्तर की समस्या (Problem of intellectual level of General Mass)—रिपोर्ट को लिखते समय जनता के ज्ञान के स्तर से सम्बन्धित एक और समस्या उत्पन्न हो जाती है, विशेषकर उस अवस्था में जबकि देश में शिक्षित लोगों का प्रतिशत बहुत कम है। अक्सर यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि शोध या सर्वेक्षण-कार्य एक गम्भीर विषय है इसलिए सर्वेक्षण-रिपोर्ट आम जनता के लिए नहीं होती है। आज इस तर्क को बहुत से विद्वान अस्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि कोई भी वैज्ञानिक खोज, चाहे वह प्राकृतिक दुनिया से सम्बन्धित हो अथवा सामाजिक दुनिया से, तब तक सार्थक नहीं हो सकती है जब तक उस खोज के परिणाम जन-जीवन का एक अंग नहीं बन जाते क्योंकि कभी-कभी एक साधारण व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत समालोचना या व्याख्या (lay-man's interpretation) भी वैज्ञानिक के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है। कभी-कभी तो रिपोर्ट जनसाधारण के हित से सम्बन्धित होती है और उसमें सम्बन्धित सभी लोग रुचि लेते हैं। अतः समस्या यह होती है कि रिपोर्ट लिखने वाले को सम्बन्धित व्यक्तियों के ज्ञान के स्तर को सर्वप्रथम जानना होता है और यह सरल काम नहीं है। पर अगर इस सम्बन्ध में कोई त्रुटि रह गई तो रिपोर्ट की सार्थकता कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि कोई सर्वेक्षण श्रमिक वर्ग से सम्बन्धित है और उसकी रिपोर्ट से श्रमिकों का हित होने की सम्भावना है, पर यदि उस रिपोर्ट को लिखते समय उन्हीं श्रमिकों के ज्ञान के स्तर को ध्यान में नहीं रखा गया है तो अनेक श्रमिक रिपोर्ट की वास्तविक सिफारिशों को ठीक से समझ न सकने के कारण उनसे वास्तविक लाभ नहीं उठा पाएँगे। पर ज्ञान के इस स्तर को ठीक-ठीक मापना स्वयं ही एक समस्या बन जाती है।

(४) गम्भीरता की समस्या (Problem of Seriousness)—प्रत्येक शोध-कर्त्ता की यह आन्तरिक अभिलाषा होती है कि उसकी अनुसन्धान की रिपोर्ट का स्तर यथासम्भव ऊँचा हो ताकि उच्च श्रेणी के पाठकों और विद्वानों में वह प्रख्यात हो सके। पर यदि इस अभिलाषा को वह एक सन्तुलित स्तर पर बनाए रखने में सफल नहीं होता तो उसकी रिपोर्ट अनावश्यक तौर पर गम्भीर रूप धारण कर लेती है। अनावश्यक रूप में पारिभाषिक शब्दों से बोझिल रिपोर्ट न केवल अपनी स्वाभाविकता को खो बैठती है अपितु अत्यधिक क्लिष्ट होने के कारण अनेक तत्त्व अस्पष्ट बने रहते हैं। वास्तव में विचारों की गम्भीरता तथा भाषा की सरलता—इन दोनों विरोधी तत्त्वों के बीच सन्तुलन स्थापित करते हुए रिपोर्ट को तैयार करना एक बहुत बड़ी समस्या बन जाती है।

(५) अवधारणाओं की समस्या (Problem of Concepts)—तथ्ययुक्त रिपोर्ट प्रस्तुत करने की एक और समस्या अवधारणाओं से सम्बन्धित है। यदि वास्तविक रूप में देखा जाए तो समाजशास्त्रीय साहित्य में अवधारणाओं की अत्यधिक कमी है। जो कुछ भी हमें आज प्राप्त है वह वास्तव में अवधारणा नहीं बल्कि विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन है। अवधारणाओं की सहायता से सम्पूर्ण परिस्थिति को कुछ ही शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करना सम्भव होता है और इसमें सन्देह व अस्पष्टता का तत्त्व बहुत कम होता है; पर चूँकि इस प्रकार की अवधारणाओं का पर्याप्त विकास अब भी सामाजिक विज्ञानों में नहीं हो पाया है, इस कारण साधारण-से-साधारण परिस्थिति को समझने के लिए अनावश्यक विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना पड़ता है जिसमें पर्याप्त समय व परिश्रम ऐसे ही नष्ट हो जाता है।

(६) वस्तु-निष्ठता की समस्या (Problem of Objectivity)—रिपोर्ट को तैयार करने में यह भी एक उल्लेखनीय समस्या है। चूँकि अनुसन्धानकर्त्ता उसी बृहत्तर समाज की एक इकाई है जिसके कि किसी एक अंग के पक्ष का वह अध्ययन कर रहा है इसीलिए वह अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहता है उसमें उसका अपना विचार, आदर्श, मूल्य और मनोवृत्ति किसी-न-किसी प्रकार से अपना कुछ-न-कुछ स्थान कर ही लेते हैं। वे घटनाओं की व्याख्या व विवरण वास्तविक तथ्यों के आधार पर पूर्णतया न देकर उसमें अपने विचारों तथा भावनाओं का भी रंग चढ़ा लेते हैं। इससे घटनाओं की वास्तविकता विकृत हो जाती है। इसके अतिरिक्त शोधकर्त्ता का अपना पक्षपात तथा मिथ्या-झुकाव कुछ-न-कुछ उसके द्वारा प्रस्तुत उसके व्याख्या तथा विवरण को प्रभावित करता ही है और इन दोनों से पूर्णतया छुटकारा पाना बहुत ही कम शोधकर्त्ताओं के लिए सम्भव होता है। इन सब तत्त्वों के रिपोर्ट में प्रवेश कर जाने से वस्तु-निष्ठता की समस्या स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

(७) सत्य को प्रगट करने की समस्या (Problem of expressing the Truth)—कभी-कभी सर्वेक्षण ऐसे विषयों के सम्बन्ध में होता है जिनके सम्बन्ध में यदि सच-सच सब कुछ कहा जाए तो वह किसी एक पक्ष के हित के या सम्मान के विपरीत होता है। ऐसी दशा में रिपोर्ट में सत्य को प्रगट करने की समस्या अपने-आप उत्पन्न हो जाती है; उदाहरणार्थ यदि सरकारी उच्च अधिकारियों में व्याप्त घूसखोरी व भ्रष्टाचार के विषय में खोज की जाए तो वास्तविक तथ्य या स्थिति मालूम हो जाने पर भी शोधकर्त्ता अपनी रिपोर्ट में सब कुछ सच-सच कहने से घबड़ाता है क्योंकि उसे इन उच्च अधिकारियों द्वारा बदला लिए जाने का डर या सरकारी कार्यवाही का भय कुछ-न-कुछ रहता ही है। अतः वास्तविकता को कुछ तोड़-मोड़कर ही वह अपनी रिपोर्ट में प्रस्तुत करता है। कभी-कभी तो स्वयं सरकार के द्वारा कराए गए शोध या सर्वेक्षण की रिपोर्ट को इसलिए गुम कर दिया जाता है कि यदि रिपोर्ट में वर्णित सत्य प्रगट हो गया तो सरकार की बदनामी होगी। इसी प्रकार अनेक स्थितियों में सत्य को वास्तविक रूप में प्रगट करने की समस्या किसी-न-किसी रूप में बनी रहती है।

रिपोर्ट की अन्तर्वस्तु
(Contents of the Report)

रिपोर्ट की अन्तर्वस्तु से तात्पर्य उन विषयों से है जिनका विवरण व व्याख्या हमें एक सन्तुलित रिपोर्ट में देखने को मिलती है। यद्यपि इस अन्तर्वस्तु के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक-मत नहीं हैं, फिर भी कुछ ऐसे सामान्य विषयों का उल्लेख यहाँ किया जा सकता है जिन्हें कि साधारणतया सभी रिपोर्टों में अपना स्थान मिल ही जाता

है। वे विषय इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तावना (Introduction)—सभी रिपोर्टों में सर्वप्रथम प्रस्तावना लिखी जाती है। प्रस्तावना वास्तव में पाठकों का विषय से परिचय करवती है और इसमें सम्बन्धित शोध या सर्वेक्षण के विचार का उदय, योजना, महत्त्व तथा संगठन आदि विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है। इसी प्रकार सर्वेक्षण कराने वाली संस्था या विभाग आदि का परिचय, सर्वेक्षण का संचालन करने वाले व्यक्ति या संगठन का परिचय. कार्यकर्त्ताओं के चुनाव व प्रशिक्षण का विवरण, सर्वेक्षण में निरीक्षण तथा प्राप्त तथ्यों व सूचनाओं की शुद्धता, वैधता व विश्वसनीयता का आधार आदि प्रारम्भिक परिचयात्मक सूचनाओं का उल्लेख भी प्रस्तावना में किया जाता है। प्रस्तावना में ही सर्वेक्षण के समय तथा व्यय आदि का भी विवरण प्रस्तुत किया जाता है। सर्वेक्षण या शोध-कार्य के दौरान उत्पन्न प्रमुख कठिनाइयों का उल्लेख तथा उनका निराकरण करने के लिए प्रयुक्त तरीकों का संक्षिप्त वर्णन भी प्रस्तावना में किया जाता है। रिपोर्ट में किस क्रम से किस विषय के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है उसका भी संकेत प्रस्तावना में किया जाता है। अन्त में जिन व्यक्तियों, संस्थाओं व समितियों तथा सरकारी विभागों से सर्वेक्षण-कार्य में किसी भी प्रकार की सहायता या परामर्श प्राप्त हुआ है, उनको धन्यवाद ज्ञापन करने के कर्त्तव्य का भी इसी प्रस्तावना के माध्यम से पालन किया जाता है।

(२) समस्या का विवरण (Description of the Problem)—सबसे पहले रिपोर्ट में सर्वेक्षण या शोध के विषय या समस्या का परिचय दिया जाता है। समस्या की पृष्ठभूमि तथा उसके विषय में अनुसन्धान की आवश्यकता का वर्णन करना रिपोर्ट के आरम्भिक अंश का सर्वप्रथम भाग है। समस्या का चुनाव किन आधारों पर किया गया है और तात्कालिक परिस्थितियों में समस्या के अध्ययन से कौन-कौनसे सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक लाभ की आशा है इसके विषय में भी रिपोर्ट के इस अंश में कह दिया जाता है। अध्ययन-विषय से सम्बन्धित अन्य कोई अध्ययन हुआ है अथवा नहीं और अगर हुआ है तो प्रस्तुत अध्ययन का उससे क्या सम्बन्ध है आदि बातों का भी स्पष्टीकरण कर दिया जाता है। इन सबका उद्देश्य अध्ययन-विषय या समस्या की वास्तविक प्रकृति और सीमाओं को स्पष्ट करना होता है।

(३) सर्वेक्षण या शोध का उद्देश्य (Purpose of Study)—सर्वेक्षण या शोध का उद्देश्य या तो ज्ञान का विस्तार करना अथवा किसी व्यावहारिक लाभ को प्राप्त करना होता है। इसीलिए प्रत्येक रिपोर्ट में इस बात का उल्लेख किया जाता है कि सर्वेक्षण का उद्देश्य नवीन ज्ञान को प्राप्त करना अथवा किसी विद्यमान सिद्धान्त की परीक्षा करना या उसपर नया प्रकाश डालना अथवा कोई व्यावहारिक लाभ प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यदि सर्वेक्षण या शोध-कार्य किसी व्यापारिक संस्था या सरकार के निर्देशानुसार आयोजित किया गया है तो अनुसन्धान-कर्त्ता को उस संस्था या सरकार द्वारा सर्वेक्षण का उद्देश्य पहले से ही बता दिया जाता है और उसी के अनुसार सर्वेक्षण की सीमाओं को भी निर्धारित किया जाता हैं। पर ऐसी स्थिति में सर्वेक्षण का उद्देश्य कोई-न-कोई व्यावहारिक लाभ प्राप्त करना होता है। कुछ भी हो, सर्वेक्षण के उद्देश्यों का स्पष्ट रूप में आरम्भ में ही रिपोर्ट में उल्लेख कर दिया जाता है।

(४) अध्ययन क्षेत्र (Scope or Area of Study)—समस्या तथा उद्देश्य का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अध्ययन-क्षेत्र के विषय में भी रिपोर्ट में उल्लेख किया

जाता है। इसके अन्तर्गत भौगोलिक प्रदेश, सामाजिक वर्ग अथवा निश्चित समुदाय का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। यहीं पर इस बात का उल्लेख किया जाता है कि उस समुदाय, समूह या वर्ग के जीवन के किन पक्षों, अथवा समस्या के किन पक्षों का अध्ययन किया गया है। रिपोर्ट के इसी अंश में उस समुदाय, समूह या वर्ग की प्राकृतिक, सामाजिक, जनसंख्यात्मक तथा आर्थिक विशेषताओं का परिचय देते हुए इस बात का स्पष्टीकरण किया जाता है कि अध्ययन के क्षेत्र का निर्धारण उसी रूप में क्यों किया गया है। अर्थात् अध्ययन-क्षेत्र को एक निश्चित रूप में सीमित करने से किन सुविधाओं या लाभों की प्राप्ति की आशा की जाती है, इस बात का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाता है।

(५) **प्रयुक्त अध्ययन-पद्धतियाँ** (Methods employed)—सर्वेक्षण अथवा शोध के सभी निष्कर्ष वास्तविक तथ्यों या सूचनाओं पर आधारित होते हैं। इन तथ्यों तथा सूचनाओं को एकत्रित किया जाता है। रिपोर्ट में इस बात का भी उल्लेख रहता है कि अध्ययन-विषयों से सम्बन्धित वास्तविक तथ्यों तथा सूचनाओं को किन पद्धतियों या प्रविधियों की सहायता से एकत्रित किया गया है। रिपोर्ट लिखने वाला इस बात का भी उल्लेख कर सकता है कि अध्ययन में विषय या समस्या को किस दृष्टिकोण से देखा गया है और उस दृष्टिकोण से अमुक-अमुक पद्धति व प्रविधियाँ क्यों सबसे उपयुक्त समझी गईं। साथ ही प्राथमिक तथा द्वैतीयक तथ्यों के स्रोतों का संक्षिप्त परिचय देते हुए रिपोर्ट में इस बात का भी उल्लेख किया जाता है कि उन स्रोतों से सूचना प्राप्त करने के लिए किन प्रविधियों को काम में लाया गया है। यदि प्रश्नावली अथवा अनुसूची का उपयोग किया गया है तो उसकी मोटी-मोटी बातें रिपोर्ट में उल्लेखित कर दी जाती हैं। यदि साक्षात्कार-प्रविधि को अपनाया गया है तो किन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए साक्षात्कार किया गया है और साक्षात्कार-निर्देशिका (Interview Guide) का उपयोग किया गया है अथवा नहीं, इन सब बातों का उल्लेख भी रिपोर्ट में कर दिया जाता है। उसी प्रकार यदि मापक पैमानों का उपयोग किया गया है तो उसका वर्णन भी कर दिया जाता है।

(६) **निदर्शन-चुनाव का तरीका** (Method of selecting Samples)—अनुसन्धानकर्त्ता अपनी रिपोर्ट में उस प्रणाली या विधि का भी उल्लेख करता है जिसके द्वारा निदर्शनों का चुनाव प्रस्तुत अध्ययन में किया गया हो। साथ ही, इस बात का भी स्पष्टीकरण किया जाता है कि विषय की प्रकृति को देखते हुए उसी प्रणाली को उपयुक्त क्यों समझा गया। अर्थात् जिस निदर्शन-प्रणाली को अपनाया गया है उसे अपनाने के कारणों का भी संक्षेप में उल्लेख रिपोर्ट में किया जाता है। इसी सन्दर्भ में यह भी लिखा जाता है कि जितनी संख्या में निदर्शनों को चुना गया है वह संख्या सम्पूर्ण समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व करने के लिए पर्याप्त है। पर यदि निदर्शनों का चुनाव न करके क्षेत्र की सम्पूर्ण जनसंख्या का जनगणना-पद्धति (census method) द्वारा अध्ययन किया गया है तो उसका भी उल्लेख स्पष्ट रूप से रिपोर्ट में कर दिया जाता है।

(७) **सर्वेक्षण का संगठन** (Organization of Survey)—सर्वेक्षण-कार्य को किस ढंग से व्यवस्थित और संगठित किया गया है इस बात का विवरण कुछ रिपोर्टों में प्रस्तावना में न देकर अलग तौर पर दिया जाता है। यदि अध्ययन-स्थल निरीक्षण पद्धति अपनाई गई है तो स्थल अथवा घटना का चुनाव कैसे किया गया, कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के पश्चात् उनमें श्रम-विभाजन किस ढंग से किया गया, उनके कार्यों

का निरीक्षण करने की क्या व्यवस्था की गई, प्रश्नावलियों को किस प्रकार एकत्रित किया गया, रोज कितने घण्टे काम किया गया, एकत्रित सूचनाओं की शुद्धता की जाँच किस प्रकार की गई, तथ्यों के सम्पादन व संकेतीकरण (codification) की क्या व्यवस्था थी, आदि बातों का स्पष्टीकरण रिपोर्ट के इस अंश में किया जाता है। इसका उद्देश्य सर्वेक्षण के संगठन के बारे में लोगों को अनुमान लगाने के मामले में सहायता करना होता है।

(८) **विश्लेषण तथा व्याख्या** (Analysis and Interpretations)—उपरोक्त सभी बातों का उल्लेख करने के पश्चात् रिपोर्ट सबसे महत्त्वपूर्ण स्तर पर आ पहुँचती है। इस स्तर पर एकत्रित सूचनाओं तथा तथ्यों को एक व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। वर्गीकरण व सारिणीयन का वास्तविक लाभ रिपोर्ट के इस अंश को तैयार करने में प्राप्त होता है क्योंकि यहीं पर प्राप्त सूचनाओं, तथ्यों तथा आँकड़ों को व्यवस्थित करके एक आकर्षक एवं सार्थक स्वरूप देकर सारिणियों, चार्टों, चित्रों, रेखाचित्रों आदि के माध्यम से प्रगट किया जाता है। पर तथ्यों को व्यवस्थित ढंग से केवल प्रस्तुत ही नहीं किया जाता अपितु उनका आवश्यक विश्लेषण व वर्णनात्मक व्याख्या भी दी जाती है। तथ्यों के विश्लेषण में मुख्यतः कार्य-कारण सम्बन्धों को स्पष्ट किया जाता है, जबकि वर्णनात्मक व्याख्या में उसके परिणामों व निष्कर्षों को प्रस्तुत किया जाता है। अध्ययन के परिणामों या निष्कर्षों को सदैव तथ्ययुक्त रूप में तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है और यह भी बताया जाता है कि उन निष्कर्षों या परिणामों का क्या आधार है। रिपोर्ट को और अधिक सजीव, बोधगम्य तथा सांख्यिकीय विवेचना के उपयुक्त बनाने के लिए आवश्यकतानुसार फोटो, रेखाचित्र आदि भी संलग्न कर दिए जाते हैं। यदि द्वैतीयक सामग्री का उपयोग किया गया है तो पृष्ठतल-टिप्पणियों (footnotes) की सहायता से उनके स्रोतों का संक्षिप्त परिचय दे दिया जाता है।

(९) **तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषता** (Highlights of Data)—रिपोर्ट को अधिक रुचिकर तथा बोधगम्य बनाने के लिए विश्लेषण तथा व्याख्या के पश्चात् एक पृथक् अध्याय में सर्वेक्षण या शोध में एकत्रित तथ्यों की उल्लेखनीय विशेषताओं तथा उनके आधार पर प्राप्त प्रमुख परिणामों व निष्कर्षों को एक क्रम से प्रस्तुत किया जाता है ताकि एक ही स्थान पर अध्ययन के परिणामों का निचोड़ पाठकों के लिए उपलब्ध हो। दूसरे शब्दों में रिपोर्ट के इस अध्याय में, मुख्य निष्कर्षों के सार का उल्लेख होता है जो अनुसन्धान-परिणामों को संक्षेप में स्पष्ट कर देता है।

(१०) **सुझाव** (Suggestions)—यदि अनुसन्धान केवल ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया गया है और किसी सामाजिक समस्या अथवा व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित है तो रिपोर्ट के अन्त में रचनात्मक सुझाव अवश्य ही दिए जाते हैं। इन सुझावों में एक समस्या को किस प्रकार व्यावहारिक ढंग से हल किया जाए, अथवा एक अवस्था-विशेष को किस रचनात्मक रूप में उन्नत किया या सुधारा जाए, इनके सम्बन्ध में सुझाव अवश्य दिए जाते हैं। किसी संस्था या सरकारी विभाग द्वारा किसी रचनात्मक या सुधारात्मक कार्य के लिए यदि सर्वेक्षण कराया गया है तब तो सुझावों का रिपोर्ट में होना नितान्त आवश्यक हो जाता है। अनुसन्धानकर्त्ता अपने सुझावों को प्रस्तुत करते हुए धरती पर स्वर्गलोक के निर्माण का सपना नहीं देखता अर्थात् इस प्रकार के सुझावों को प्रस्तुत नहीं करता जो कि उपलब्ध साधनों व व्यावहारिकता से परे हों। उसका सुझाव रचनात्मक व व्यावहारिक इस अर्थ में होता है कि वह,

वर्तमान दशाओं में देश या एक संस्था-विशेष के लिए उपलब्ध साधनों के अन्तर्गत ही किस प्रकार अधिकतम सुधार सम्भव है, इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करता है। उदाहरणार्थ, यदि वह यह सुझाव देता है कि राज्य-कर्मचारियों का महंगाई-भत्ता केन्द्रीय-सरकार के कर्मचारियों के समान कर देना चाहिए तो वह यह भी ध्यान रखता है कि वर्तमान परिस्थितियों में एक राज्य-सरकार इस अतिरिक्त व्यय-भार को उठाने में समर्थ है भी या नहीं। यदि नहीं तो किस सीमा तक महंगाई-भत्ता वढ़ाना वास्तव में व्यावहारिक होगा और कर्मचारियों के भी हितों की अधिकतम रक्षा सम्भव होगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सुझाव उपयोगी तथा व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से उपयुक्त हो और साथ ही तर्क पर आधारित व रचनात्मक हो इस वात का अधिक-से-अधिक ध्यान अनुसन्धानकर्त्ता रखता है और उसे रखना भी चाहिए। ये सुझाव दो प्रकार के हो सकते हैं—एक तो वे सुझाव जो अध्ययन के दौरान में स्वयं सूचनादाताओं द्वारा दिए जाते हैं। ये सुझाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं क्योंकि एक विशेष क्षेत्र या समुदाय में काफी समय से रहने वाले लोग (सूचनादाता) सैद्धान्तिक ज्ञान न रखते हुए भी भुक्तभोगी होने के कारण समस्या को व्यावहारिक दृष्टि से समझते हैं और इसीलिए अपने अनुभव के आधार पर इस योग्य होते हैं कि अवस्था को उन्नत करने या सुधारने के लिए उपयोगी सुझाव दे सकें। इसीलिए ऐसे सुझावों को रिपोर्ट में अवश्य स्थान दिया जाता है। दूसरे वे सुझाव होते हैं जो कि स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता अपने अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के सुझावों की उपयोगिता सर्वेक्षणकर्त्ता के ज्ञान, अनुभव, सूझ-बूझ तथा दूरदृष्टि पर निर्भर करती है।

(११) **संलग्न-पत्र** (Appendices)—सुझावों के साथ ही मूल रिपोर्ट की इति हो जाती है। किन्तु कुछ ऐसे पत्र, प्रलेख, तालिका, चार्ट, विवरण आदि होते हैं जोकि अध्ययन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में सहायक होते हैं और इसीलिए उन्हें पाठकों के समक्ष रखना उचित समझा जाता है। ऐसे पत्रकों को रिपोर्ट के अन्त में लगा दिया जाता है। इनमें क्षेत्रीय मानचित्र, पुस्तक-सूची (bibliography), अनुसूची, प्रश्नावली आदि अध्ययन-उपकरणों की एक-एक प्रति (copy), कुछ महत्त्वपूर्ण सारिणी आदि को सम्मिलित किया जाता है।

बहुधा रिपोर्ट उपरोक्त क्रम से लिखी जाती है। पर इस क्रम के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम इस प्रकार का नहीं है कि रिपोर्ट केवल इसी क्रम से लिखी जानी चाहिए। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का कोई नियम हो भी नहीं सकता। आवश्यकतानुसार उपरोक्त क्रम में हेर-फेर की गुँजाइश इसीलिए सदैव ही रहती है। उदाहरणार्थ, कुछ सर्वेक्षणकर्त्ता अध्ययन-पद्धतियों का उल्लेख प्रस्तावना में ही कर देते हैं जब कि अन्य कुछ लोग इसे पृथक् स्थान देते हैं। उसी प्रकार सर्वेक्षण-संगठन के विषय में उल्लेख प्रस्तावना में न करके अलग भी किया जा सकता है और निदर्शन-चुनाव के सम्बन्ध में अलग न लिखकर प्रस्तावना के अन्तर्गत ही उसकी विवेचना की जा सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रिपोर्ट को किस क्रम से लिखा जाएगा इसका निर्धारण स्वयं रिपोर्ट लिखने वाला ही करता है और इस काम में वह अपने अनुभव तथा सूझ-बूझ द्वारा ही अधिक निर्देशित होता है।

एक अच्छी रिपोर्ट की विशेषताएँ
(Characteristics of a Good Report)

एक अच्छी रिपोर्ट की विशेषताओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है क्योंकि 'अच्छे'-'बुरे' की अवधारणा सबके लिए समान नहीं होती। फिर भी सर्वेक्षण

की प्रक्रिया और रिपोर्ट को तैयार करना एक टेकनिकल काम होने के कारण एक अच्छी रिपोर्ट की कुछ आधारभूत विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। वे विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) एक अच्छी रिपोर्ट का ऊपरी डील-डौल स्वच्छ तथा आकर्षक होता है। सफेद रंग के अच्छे किस्म के कागज पर स्पष्ट तथा सुन्दर ढंग के टाइप से रिपोर्ट को छपवाया जाता है। साथ ही, उसे अधिक आकर्षक बनाने के लिए आकर्षक शीर्षकों, चित्रों, फोटो आदि का प्रयोग भी आवश्यकतानुसार किया जाता है।

(२) रिपोर्ट की भाषा अत्यधिक सन्तुलित होती है। पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग आवश्यकतानुसार अवश्य ही करना पड़ता है। पर इस सम्बन्ध में, जैसा कि डॉ० श्यामचरण दुबे का सुझाव है, विषय का स्पष्टीकरण लेखक का उद्देश्य होता है और इसकी सिद्धि के लिए पारिभाषिक शब्दावली-सम्बन्धी सैद्धान्तिक मतभेदों के प्रति लेखक किसी भी प्रकार के विशिष्ट आग्रह अथवा दुराग्रह को अपनाता नहीं। साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि पारिभाषिक शब्दावली के अत्यधिक प्रयोग से रिपोर्ट कहीं इतनी बोझल और क्लिष्ट न हो जाए कि उसे समझने के लिए विशेषज्ञों की सहायता लेनी पड़े; दूसरी ओर, रिपोर्ट की भाषा में आलंकारिक तथा साहित्यिक शैली भी इतना उग्र रूप धारण न कर ले कि तथ्यों की वास्तविकताओं पर कोई दूसरा ही रंग चढ़ जाए या तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने से सत्यता प्रगट न हो सके। अतः भाषा तथा शैली के सौन्दर्य की ओर झुककर रिपोर्ट को अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अस्वाभाविक बना देने की प्रवृत्ति से दूर रहकर ही सन्तुलित भाषा में रिपोर्ट को तैयार किया जाता है।

(३) एक अच्छी रिपोर्ट में एक ही प्रकार के तथ्यों को बार-बार दोहराया नहीं जाता क्योंकि ऐसा करने से रिपोर्ट को पढ़ते समय पाठक ऊब जाते हैं। तथ्यों में तार्किक क्रम अवश्य रहता है अर्थात् स्वतन्त्र रूप से समझे जाने वाले तथ्य पहले आ जाते हैं और वे तथ्य बाद में प्रदर्शित किए जाते हैं जिनको समझने के लिए दूसरे तथ्यों की आवश्यकता पड़ती है।

(४) एक अच्छी रिपोर्ट में तथ्यों का विश्लेषण व व्याख्या वैज्ञानिक तौर पर और सुस्पष्ट रूप में होती है ताकि रिपोर्ट को पढ़कर ही लोगों को यह विश्वास हो जाए कि रिपोर्ट में जो कुछ कहा गया है वह काल्पनिक नहीं है अपितु तथ्ययुक्त तथा प्रयोगसिद्ध है। इसके लिए सूचनाओं के स्रोतों का उल्लेख रिपोर्ट में पृष्ठतल-टिप्पणियों आदि (footnotes and references) के रूप में प्रत्येक अध्याय में दे दिया जाता है।

(५) एक अच्छी रिपोर्ट में जो भी निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे सभी प्रामाणिक, विश्वसनीय तथा वैज्ञानिक विकास के उपयुक्त होते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि रिपोर्ट में प्रत्येक निष्कर्ष को तथ्ययुक्त रूप में प्रमाण-सहित प्रस्तुत किया जाता है अर्थात् उन कारणों का भी उल्लेख किया जाता है जिनपर कि वह निष्कर्ष आधारित है।

(६) एक अच्छी रिपोर्ट में व्यावहारिकता का तत्त्व भी स्पष्ट होता है। अर्थात् उच्चस्तरीय रिपोर्ट इस प्रकार की होती है कि उसे पढ़कर अधिक-से-अधिक लोग लाभ उठा सकें। इस प्रकार की रिपोर्ट से केवल ज्ञान की ही वृद्धि नहीं अपितु कुछ व्यावहारिक लाभ भी होता है। अच्छी रिपोर्ट सामाजिक प्रगति व समाज-सुधार से सम्बन्धित भविष्य-योजनाओं के निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करती है।

(७) एक अच्छी रिपोर्ट में अध्ययन-पद्धति व प्रविधियों, अध्ययन-क्षेत्र, निदर्शन आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट तथा विस्तृत विवरण होता है और साथ ही सूचना के सभी स्रोतों का उल्लेख किया जाता है। ऐसा करने का उद्देश्य यह होता है कि यदि किसी भी व्यक्ति को अध्ययन के निष्कर्षों के सम्बन्ध में सन्देह हो तो वह रिपोर्ट में उल्लेखित प्रविधियों आदि की सहायता से उन निष्कर्षों की वैधता की जाँच कर सकता है।

(८) एक अच्छी रिपोर्ट में अध्ययन में आई कठिनाइयों तथा सर्वेक्षण की सीमाओं (limitations) का भी स्पष्ट रूप में उल्लेख होता है। दूसरे शब्दों में, कमियों को छिपाकर अध्ययन के पूर्णतया यथार्थ होने की डींग नहीं हाँकी जाती है। ऐसा न करने का एक और उद्देश्य होता है और वह यह है कि अध्ययन की कठिनाइयों व कमियों को ईमानदारी से स्वीकार करने पर भविष्य के अध्ययनों में अन्य सर्वेक्षण-कर्त्ताओं द्वारा पहले से ही उनके सम्बन्ध में सचेत रहने तथा उन्हें दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने का अवसर मिलता है।

(९) एक उच्चस्तरीय रिपोर्ट में महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं (concepts) तथा सिद्धान्त (theory) को विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। और साथ ही, अन्य अनेक ऐसी समस्याओं, विषयों तथा प्रश्नों की ओर संकेत किया जाता है जिनके विषय में और आगे शोध या सर्वेक्षण-कार्य करने की आवश्यकता है। रिपोर्ट प्रस्तुत करने वाले प्रत्येक अनुसन्धानकर्त्ता द्वारा इस प्रकार का संकेत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है।

शोध-रिपोर्ट तैयार करने में सहायक सिद्ध होने वाले कुछ सुझाव
(Suggestions which may aid in preparing the Report)

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रिपोर्ट तैयार करना उतना सरल काम नहीं है जितना कि ऊपरी तौर पर लोगों को आभास होता है। यदि रिपोर्ट में अध्ययन-पद्धति व प्रविधियों तथा उनकी सहायता से प्राप्त सूचनाओं का ही वर्णन करना हो तो रिपोर्ट तैयार करने का काम सरल है। लेकिन केवल इतना कर लेने मात्र से ही रिपोर्ट तैयार नहीं हो जाती। रिपोर्ट में इससे कहीं अधिक गहन विषयों का विवरण व व्याख्या प्रस्तुत करनी होती है। वास्तविक रिपोर्ट लिखते समय बहुत से विषयों पर फिर से विवेचना करनी पड़ती है, जबकि कुछ अन्य बातें अनावश्यक होने के कारण उन्हें छोड़ दिया जाता है। साथ ही, वास्तविक रिपोर्ट लिखते समय कुछ विषयों के सम्बन्ध में एकत्रित सूचनाओं के अतिरिक्त कुछ और नई सूचनाओं की भी आवश्यकता होती है और कुछ सूचनाओं के सम्बन्ध में स्वयं रिपोर्ट लिखने वाले को सन्देह होने लगता है। इन समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों में से रिपोर्ट के लेखक को गुजरना पड़ता है। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ कुछ कम हों तथा शोध-रिपोर्ट तैयार करने में हमें सहायता मिले, इसके लिए सर्वश्री गुड तथा हॉट (Goode and Hatt) ने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं[4] —

(१) **समस्या की प्रकृति (Nature of the Problem)**—एक रिपोर्ट को सफलतापूर्वक लिखने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने अध्ययन-विषय या समस्या की प्रकृति को भली-भाँति समझ लें और फिर उपलब्ध समाजशास्त्रीय साहित्य का अध्ययन करके यह मालूम करने का प्रयत्न करें कि इस

4. W. J. Goode and P. K. Hatt, *Ibid*., pp. 359-375.

प्रकार की समस्या से सम्बन्धित शोध या सर्वेक्षण की रिपोर्ट किस प्रकार लिखी जाती है। अपने ज्ञान के आधार पर हमें उन रिपोर्टों में अनेक प्रकार की गलतियाँ देखने को मिलेंगी और ये सभी हमें इस सम्बन्ध में सचेत रखने में सहायक होंगी कि उसी प्रकार की गलतियाँ हम अपनी रिपोर्ट में भी न कर बैठें। स्मरण रहे कि यदि सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन नहीं किया जाएगा और रिपोर्ट लिखने की कला से हम अपने को परिचित नहीं कर लेंगे तो यह डर रहेगा कि हम अपनी रिपोर्ट में कम महत्त्वपूर्ण बातों को अनावश्यक विस्तार में लिखते चले जाएंगे जब कि अधिक महत्त्वपूर्ण विषय को हम केवल संक्षेप में समझाकर आगे बढ़ते चले जाएँगे। इससे सन्तुलित रिपोर्ट तैयार नहीं हो पाएगी। इसलिए इसके लिए पहले से ही आवश्यक तैयारी कर लेनी चाहिए।

(२) **रिपोर्ट की भाषा के सम्बन्ध में सचेत रहना** (To remain conscious about the language of the Report)—सुनिश्चित समाजशास्त्रीय अवधारणाओं तथा पारिभाषिक शब्दावली के प्रभाव के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि रिपोर्ट लिखते समय भाषा के सम्बन्ध में भी सचेत रहा जाए। बहुधा यह विचार व्यक्त किया जाता है कि रिपोर्ट की भाषा इस प्रकार होनी चाहिए कि साधारण लोग (laymen) तथा समाज-वैज्ञानिक दोनों ही रिपोर्ट को समझ सकें। इसीलिए अधिकांश समाजशास्त्री इस सम्बन्ध में सचेत रहते हैं कि उनकी समालोचना इस आधार पर की जाए कि अपनी रिपोर्ट में उन्होंने अत्यन्त कठिन शब्दों का प्रयोग किया है अथवा उनकी रिपोर्ट अत्यधिक क्लिष्ट है। निःसन्देह ही समाज-विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ यह सचेतता कम हो जाएगी क्योंकि लोग यह समझ जाएँगे कि समाजशास्त्र की भी अपनी पारिभाषिक शब्दावली (technical vocabulary) है जिस पर कि रिपोर्ट आधारित होगी। पर इस समय रिपोर्टों में नाटकीय ढंग से व्यक्तिगत जीवन-अध्ययनों को प्रस्तुत करने, पृष्ठतल-टिप्पणियों (footnotes) को न लिखने तथा अध्ययन के तथ्ययुक्त पक्षों (factual aspects) पर बल न देकर नैतिक पक्षों पर बल देने को प्रवृत्ति अधिक देखने को मिलती है। इससे बचने की आवश्यकता है।[5] भाषा तथा शैली के सौन्दर्य की ओर झुककर वास्तविक तथ्यों पर मनमाने ढंग से रंग चढ़ा देने से सत्यता प्रगट नहीं होती और साथ ही, रिपोर्ट में प्रचलित मान्यताओं के विपरीत कोई नवीनता प्रदर्शित करने मात्र से ही रातों-रात ख्याति प्राप्त नहीं हो जाती—रिपोर्ट लिखते समय इन बातों को याद रखना चाहिए।

(३) **श्रोतागण कौन हैं?** (Who is Audience ?)—रिपोर्ट केवल अपने पढ़ने के लिए ही नहीं लिखी जाती; दूसरे भी उसे पढ़ते हैं। अतः रिपोर्ट लिखने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वे सम्बन्धित व्यक्ति कौन हैं जो कि सम्भवतः रिपोर्ट को पढ़ेंगे और उसे समझने का प्रयत्न करेंगे। ये सम्बन्धित व्यक्ति रिपोर्ट को पढ़कर समझ सकें इसी दृष्टिकोण से रिपोर्ट को तैयार करना चाहिए। बहुधा समाज-वैज्ञानिकों में यह गलत धारणा घर कर जाती है कि चूँकि आधारभूत समस्या को उन्होंने स्वयं समझ लिया है, अतः उस समस्या को वे जिस रूप में समझाएँगे या

5. "At the present time, however, most monographs in sociology are also written for the intelligent laymen, and considerable effort is expended toward dramatizing case histories, omitting footnotes or placing them where they are difficult to consult (so as not to frighten off the potential buyer), or emphasizing the moral aspects of the study rather than its factual aspects." —*Ibid.*, p. 360.

समझे हैं, दूसरों को भी उसी रूप में समझना होगा। यह नियम केवल उसी अवस्था में लागू हो सकता है जबकि अनुसन्धानकर्त्ता की खोज वास्तव में अद्वितीय है। पर जब ऐसा नहीं है तो सम्बन्धित लोगों का, रिपोर्ट लिखते समय, ध्यान न रखने का अर्थ यह होगा कि रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद भी अनुसन्धानकर्त्ता की बातों को सुनने वाला कोई न होगा।

(४) आधारभूत रूपरेखा (The Basic Outline)—रिपोर्ट के विवरण व व्याख्या को इधर-उधर भटक जाने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि रिपोर्ट में जो कुछ लिखना है उसकी एक आधारभूत रूपरेखा बना ली जाए। अध्ययन-विषय की प्रकृति को समझने, अध्ययन-क्षेत्र को निश्चित करने, तथ्यों को एकत्रित करने तथा उन तथ्यों का वर्गीकरण, सारिणीयन आदि करने के पश्चात् जब रिपोर्ट तैयार करने की बारी आती है, उस समय तक अनुसन्धानकर्त्ता अपनी रिपोर्ट की एक 'मानसिक' रूपरेखा (mental outline) बना ही लेता है, फिर भी लिखने का काम आरम्भ करने से पूर्व सम्पूर्ण रिपोर्ट की एक 'औपचारिक' रूपरेखा (formal outline) बना लेना भी उपयोगी होता है।[6] रिपोर्ट में जिन विषयों तथा उपविषयों (topics and subtopics) के सम्बन्ध में लिखना है, रूपरेखा में केवल उन्हीं को लिख लेना पर्याप्त नहीं है। अच्छा यह हो कि उन वक्तव्यों (statements) को ही वास्तव में लिख लिया जाए जिनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या व विवेचना रिपोर्ट में करनी है। ऐसा करने के लिए अधिक सोच-विचार से काम लेना पड़ेगा क्योंकि इसमें यह निश्चित करना होगा कि हमें वास्तव में क्या कहना है, न कि केवल किन विषयों के सम्बन्ध में विवेचना करनी है।[7] 'क्या कहना है' की रूपरेखा तैयार हो जाने के बाद उसका एक बार फिर से सावधानीपूर्वक अध्ययन कर लेना चाहिए जिससे जो कुछ भी हमें कहना है वह ठीक से और क्रम से ही कहा जाए और उसमें कोई त्रुटि न रह जाए। इसके लिए निम्नलिखित प्रश्न सहायक हो सकते हैं—

(अ) क्या आपने अपनी प्राक्कल्पना का निर्माण स्पष्ट रूप में किया है? बहुधा एक ही समस्या के अनेक रोचक या रुचिकर पक्ष होते हैं और इसीलिए इनमें से कम महत्त्वपूर्ण पक्षों को उसी अनुसार रिपोर्ट में कम महत्त्वपूर्ण स्थान देने और अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान देने के सम्बन्ध में सन्तुलित निर्णय करना प्रायः कठिन हो जाता है। पर यदि प्राक्कल्पना सुस्पष्ट व सुनिश्चित है तो यह काम बहुत सरल हो जाता है क्योंकि प्राक्कल्पना हमारा ध्यान मुख्य विषय पर सदैव केन्द्रित रखती है।

(ब) क्या प्राक्कल्पना का निर्माण निरीक्षण तथा अध्ययन की पृष्ठभूमि पर किया गया है? प्राक्कल्पना का स्रोत कुछ भी हो, पर उसका औचित्य बौद्धिक होना चाहिए (its justification must be intellectual) क्योंकि उस बौद्धिक आधार

---

6. "Although he will by that time have a mental outline of his report, it is useful to draw up a formal outline of the entire paper before he begins to write."—*Ibid.*, p. 363.

7. "That is, instead of merely noting the topics and subtopics to be touched upon, it should be possible actually to write out the statements which are to be expanded in the report itself. This requires more thought, since it is then necessary to know what one is going to say and not merely the various topics one is going to touch."—*Ibid.*, p. 363.

पर ही न केवल प्राक्कल्पना को अपितु सम्पूर्ण अध्ययन-विषय को समझना सरल हो जाता है।

(स) क्या समस्याओं तथा प्राक्कल्पनाओं को वैज्ञानिक शब्दों (scientific terms) में व्यक्त किया गया है? इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक जटिल तथा गूढ़ भाषा का ही प्रयोग करे। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि लेखक को स्वयं अपनी पारिभाषिक शब्दावली को विकसित करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, जिसे कि केवल वही समझ सके और कोई नहीं। उसे विद्यमान या प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए यदि वे पर्याप्त स्पष्ट हों। साथ ही, घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते समय लेखक को अपने स्वयं के मूल्यों तथा आदर्शों को दूर रखना चाहिए।

(द) क्या शोध की योजना को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है ताकि उसकी तर्कसंगतता स्पष्ट हो जाए? एक वैज्ञानिक रिपोर्ट से पाठक को यह ज्ञान होना चाहिए कि वास्तव में क्या हुआ (what actually took place), न कि क्या शोधकर्त्ता ने होने की आशा की थी। शोध-कार्य में अनेक विपदाएँ तथा निराशाजनक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और इन्हीं के बीच कागजी योजना (paper plan) वास्तविकता से दूर ले जाती है। इन अवस्थाओं का उल्लेख भी रिपोर्ट में होना चाहिए अर्थात् मूल योजना क्या थी और वास्तव में कितनी प्राप्ति हो सकी है। यदि तथ्यों को एकत्रित करने के लिए विभिन्न स्रोतों का उपयोग किया गया है तो उन्हें किस भाँति समन्वित किया गया, इसका उल्लेख रिपोर्ट में होना चाहिए जिससे कि किसी के भी द्वारा उसकी पुनर्परीक्षा की जा सके।

(य) रिपोर्ट में उल्लेखित निरीक्षणों तथा सारिणियों से विभिन्न उपधारणाओं (sub-propositions) को किस प्रकार विकसित किया गया है? रिपोर्ट वास्तव में सम्पूर्ण शोध का एक सारांश (summary) होता है। रिपोर्ट में जितने तथ्यों को प्रस्तुत किया जाता है उनसे कहीं अधिक तथ्य वास्तव में एकत्रित किए जाते हैं। अतः रिपोर्ट में लेखक को तार्किक रूप में यह दर्शाना चाहिए कि उसने जिन तथ्यों को रिपोर्ट में प्रस्तुत करने के लिए चुना है वे ही विभिन्न धारणाओं को समझने व समझाने के लिए सर्वोत्तम हैं।

(र) क्या सारांश (summary) ने वास्तव में विषय को संक्षिप्त किया है और आगे के शोध-कार्य की ओर संकेत करता है? इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सारांश को प्रत्यक्षतः (directly) रूपरेखा से सदैव लिखना चाहिए और साथ ही उन नए विषयों, प्रश्नों तथा समस्याओं की ओर भी संकेत करना चाहिए जिनपर आगे और शोध या अनुसन्धान-कार्य किया जाना उपयोगी होगा।

(५) **प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने में सहायक यांत्रिक साधन** (Mechanical Aids to clear presentation)—एक सुव्यवस्थित अध्ययन ही एक उत्तम रिपोर्ट की सर्वोत्तम गारण्टी है, फिर भी कुछ ऐसे यांत्रिक साधनों का भी उल्लेख किया जा सकता है जिनकी सहायता से विषय को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना सम्भव होता है। ये यांत्रिक साधन हैं—पृष्ठतल-टिप्पणियाँ (footnotes), उपशीर्षक (sub-headings), मानचित्र, रेखाचित्र, चार्ट आदि। पृष्ठतल-टिप्पणियाँ उन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रगट करने का एक अप्रत्यक्ष साधन है जिन लोगों ने पहले ही उस विषय पर अध्ययन करके अनुसन्धान के क्षेत्र में अपना अनुदान दिया है पृष्ठतल-टिप्पणियों द्वारा सूचना के स्रोतों तथा अध्ययन के आधारों का भी पता चलता है और

साथ ही प्रस्तुत अध्ययन व पहले किए गए अध्ययन के बीच का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। अतः पृष्ठतल-टिप्पणियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए; उपशीर्षक भी रिपोर्ट के विषय को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं क्योंकि इनके द्वारा सम्पूर्ण विवरण व व्याख्या कुछ उपभागों में विभाजित हो जाती है और इस प्रकार महत्त्वपूर्ण बातों का वर्गीकरण हो जाता है। ये उपशीर्षक रिपोर्ट के संगठन के भी द्योतक होते हैं। अतः आवश्यकतानुसार इनका उपयोग रिपोर्ट में होना चाहिए। मानचित्र, रेखाचित्र, चार्ट, फोटो आदि रिपोर्ट को अधिक आकर्षक बनाने में सहायक होते हैं और साथ ही विषय या घटना का स्पष्टीकरण भी इनके माध्यम से जितनी सरलता से हो जाता है उतना और किसी के द्वारा नहीं। रेखाचित्रों द्वारा जटिल सांख्यिकीय सारिणियों को सरल रूप प्रदान होता है। उसी प्रकार मानचित्र से अध्ययन किए जाने वाले समुदाय की भौगोलिक स्थिति, यातायात व संचार के साधन आदि विषयों का सरलता से ज्ञान होता है। अतः रिपोर्ट में इनका उपयोग भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है।

(६) **प्राविधिक विवरणों का प्रस्तुतीकरण** (Presentation of technical details)—अध्ययन को प्रयोगसिद्ध प्रमाणित करने के लिए यह आवश्यक है कि रिपोर्ट में उन प्रविधियों का भी विवरण प्रस्तुत किया जाए जिन्हें कि अध्ययन-कार्य में प्रयुक्त किया गया हो। निदर्शनों (samples) के चुनाव का आधार, साक्षात्कार में कुछ निश्चित नियमों का पालन, अनुसूची या प्रश्नावली के निर्माण में अपनाए गए सिद्धान्तों आदि का विवरण रिपोर्ट में होना चाहिए। साथ ही, एक प्रविधि को क्यों अपनाया गया अथवा क्यों सर्वोत्तम समझा गया इसका उल्लेख भी रिपोर्ट में होना चाहिए।

(७) **अध्ययन का क्षेत्र** (Scope of the Study)—रिपोर्ट में अध्ययन की सीमाओं (limitations) का स्पष्ट रूप में उल्लेख होना चाहिए। इस प्रकार की स्वीकारोक्ति से न केवल रिपोर्ट का स्तर ऊँचा हो जाता है अपितु सम्भावित समालोचनाओं से लेखक की रक्षा भी हो जाती है। इस सम्बन्ध में विशेषकर निदर्शन सम्बन्धी त्रुटियों या सीमाओं का उल्लेख कर देना चाहिए। उसी प्रकार समस्या से सम्बन्धित अन्य किन विषयों का अध्ययन नहीं किया जा सका अथवा किन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सका, इसका भी उल्लेख रिपोर्ट में किया जा सकता है और इसी आधार पर भविष्य-शोध के लिए कुछ सुझाव भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

(८) **सांख्यिकी का प्रयोग** (The use of Statistics)—रिपोर्ट में अधिकाधिक वस्तु-निष्ठता (objectivity) लाने के लिए सांख्यिकी का उपयोग करना आवश्यक है। इसके बिना रिपोर्ट में गणनात्मक (quantitative) विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होता। इसीलिए एक उत्तम रिपोर्ट तैयार करने के लिए सांख्यिकीय ज्ञान का होना परमावश्यक है। रिपोर्ट में इस बात का भी उल्लेख होना चाहिए कि किन विषयों के विवरण व व्याख्या में सांख्यिकी का प्रयोग करना सम्भव नहीं हुआ। अर्थात् सांख्यिकी की सीमाओं का उल्लेख भी रिपोर्ट में होना चाहिए।

रिपोर्ट का महत्त्व
(Importance of Report)

रिपोर्ट सम्पूर्ण अध्ययन की सार-कथा होती है और इसीलिए इसके महत्त्व को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। संक्षेप में हम भी उसका उल्लेख यहाँ कर सकते हैं—

(१) ज्ञान का प्रसार करने में शोध या सर्वेक्षण-रिपोर्ट सहायक सिद्ध होती है। रिपोर्ट में अध्ययन-विषय से सम्बन्धित प्राप्त ज्ञान का समावेश होता है और उस रिपोर्ट को पढ़कर दूसरे लोग भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। रिपोर्ट में केवल अध्ययन-विषय के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु अन्य सम्बन्धित विषयों का भी संकेत रहता है जो कि ज्ञान के प्रसार में और भी सहायक होता है।

(२) रिपोर्ट नए अध्ययनों के लिए आवश्यक प्राक्कल्पना का आधार वन सकती है क्योंकि सर्वेक्षण की रिपोर्ट का अध्ययन करने पर अनेक नए विचार उत्पन्न हो सकते हैं और साथ ही उन प्रश्नों या समस्याओं का भी आभास होता है जिनके सम्बन्ध में आगे शोध-कार्य किया जा सकता है।

(३) रिपोर्ट से एक विषय के सम्बन्ध में हुए प्रायः सभी अध्ययन-कार्यों का परिचय प्राप्त हो जाता है क्योंकि रिपोर्ट में पूर्वअध्ययनों का भी उल्लेख होता है।

(४) रिपोर्ट में अनुसन्धान में प्रयुक्त पद्धति व प्रविधियों का उल्लेख रहता है। इसके आधार पर भावी शोधकर्त्ताओं को अपने शोध-कार्य के लिए पद्धति व प्रविधियों को चुनने में मदद मिलती है और साथ ही नवीन अनुसन्धान-प्रणालियों का आविष्कार भी सम्भव होता है।

(५) रिपोर्ट सामाजिक प्रगति व समाज-सुधार की योजना का आधार वन सकती है। बहुधा सरकार आदि के द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वेक्षण करवाया जाता है और रिपोर्ट के आधार पर योजना का निर्माण किया जाता है।

(६) रिपोर्ट मेहनतकश जनता के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। सरकार या निजी संस्थाओं द्वारा कर्मचारियों के वेतन आदि में वृद्धि करने या उनके कार्य की दशाओं को सुधारने के लिए सर्वेक्षण करवाए जाते हैं और रिपोर्ट के आधार पर वेतन, महंगाई-भत्ता आदि में वृद्धि कर दी जाती है। जनता से सम्बन्धित अनेक अवांछित अवस्थाओं के निराकरण के लिए भी रिपोर्ट में सुझाव दिए जाते हैं और उसी के अनुसार व्याधिकीय अवस्थाओं को सुधारने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाते हैं।

इस प्रकार एक शोध या सर्वेक्षण-रिपोर्ट ज्ञान के प्रसार में सहायक होती है, नवीन विचारों को उभारती है, भावी शोध-कार्य का पथ प्रशस्त करती है, जन-जीवन से सम्बन्धित अनेक व्याधिकीय (pathological) समस्याओं के निराकरण के लिए रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करती है तथा योजना की सिद्धि व जनता की समृद्धि का आधार वन सकती है। अनुसन्धानकर्त्ता के समस्त ज्ञान, लगन व परिश्रम का 'रिपोर्ट' ही एक सार्थक रूप होती है।

---

२२ तथ्यों का चित्रमय प्रदर्शन

(DIAGRAMMATIC PRESENTATION OF DATA)

सांख्यिकीय विज्ञान का मुख्य कार्य सांख्यिकीय तथ्यों को सरलतम रूप प्रदान करना है जिससे कि उन तथ्यों को शीघ्र एवं सरलता से समझा जा सके और उनके विषय में निष्कर्ष निकाला जा सके। हमने यह देखा है कि तथ्यों का वर्गीकरण और सारिणीयन कर देने से विखरे हुए संकलित तथ्यों के ढेर को एक क्रमवद्ध, व्यवस्थित व संक्षिप्त रूप मिल जाता है जिसके कारण उन्हें समझना सरल हो जाता है। पर इन संकलित तथ्यों का और भी प्रभावशाली रूप इसका चित्रों द्वारा प्रदर्शन करना है। आधुनिक समय में संख्यात्मक तथ्यों का चित्रों द्वारा प्रदर्शन एक विस्तृत कला बन गई है और इस दिशा में निरन्तर प्रगति करने के सम्बन्ध में प्रयत्नशीलता भी बढ़ती जा रही है। इसका कारण भी स्पष्ट है। साधारण व्यक्ति के लिए संख्याएँ या आँकड़े प्रायः नीरस, जटिल तथा अरुचिकर होते हैं। इसीलिए संख्या की ओर न तो वह ध्यान देता है और न ही संख्याओं में उसकी कोई दिलचस्पी होती है। इसके विपरीत चित्र स्वतः ही आकर्षक होते हैं और उन्हें देखकर वह प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। चित्रों द्वारा तथ्यों के प्रदर्शन की यही सार्थकता है और यही चित्रों की वढ़ती हुई लोकप्रियता का रहस्य है।

वास्तव में सारिणीयन तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। फिर भी साधारण जनता के लिए सारिणी में दिए हुए अंक विशेष अर्थ नहीं रखते। ऐसे व्यक्तियों के लिए सारिणी में उल्लेखित तथ्यों की अन्तर्निहित प्रकृति व परिणामों को समझना बहुत कठिन होता है। इसके विपरीत इन्हीं अंकों का चित्रमय प्रदर्शन करने पर तथ्यों की वास्तविकताओं को समझने में देर नहीं लगती। इतना ही नहीं, चित्रों द्वारा तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व जितना स्पष्ट रूप में प्रगट होता है उतना और किसी साधन द्वारा सम्भव नहीं। इसीलिए सामाजिक अनुसन्धान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए तथ्यों के चित्रम्य प्रदर्शन की कला से परिचित होना आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय उसी का 'परिचय-पत्र' है।

चित्रों का उद्देश्य
(Objects of Diagrams)

उपरोक्त विवेचना से ही यह स्पष्ट है कि सामाजिक अनुसन्धान में तथ्यों के चित्रमय प्रदर्शन का प्रधान उद्देश्य नीरस, जटिल तथा अरुचिकर तथ्यों या आँकड़ों को आकर्षक, सरल तथा रुचिकर ढंग से प्रस्तुत करना है। पर तथ्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करने के दो उद्देश्य होते हैं—**प्रथम** तो अनुसन्धान सम्बन्धी उद्देश्य और **द्वितीय** प्रचार सम्बन्धी उद्देश्य। इन दोनों उद्देश्यों को समझ लेना उपयोगी होगा—

(१) **अनुसन्धान सम्बन्धी उद्देश्य**—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथ्यों का चित्रमय प्रदर्शन अनुसन्धानकर्त्ता उस समय करता है जब कि अनुसन्धान में तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए चित्रों की रचना सुविधाजनक मानी जाती है। तथ्यों के तुलनात्मक महत्त्व को देखने के लिए भी चित्रों का निर्माण अनुसन्धानकर्त्ता कर सकता है। उसी प्रकार एक घटना (phenomenon) विशेष की प्रवृत्ति को जानने के लिए भी चित्रों की रचना की जा सकती है। उदाहरणार्थ, भारतीय जनसंख्या की बढ़ती हुई प्रवृत्ति (increasing tendency) को चित्रों की सहायता से सुस्पष्ट रूप में जाना जा सकता है। उसी प्रकार मानचित्रों की सहायता से उन स्थानों या प्रदेशों को दिखाया जा सकता है जहाँ कि अपराध अधिक होते हैं अथवा जहाँ-जहाँ उच्च शिक्षा की सुविधा प्राप्त है। कभी-कभी सर्वेक्षण-कार्य को ठीक-ठीक संचालित करने व तथ्यों को यथाशीघ्र संकलित करने के लिए क्षेत्रीय मानचित्र की सहायता लेना भी आवश्यक हो जाता है। उस अवस्था में भी चित्रों की रचना की जाती है।

(२) **प्रचार सम्बन्धी उद्देश्य**—प्रचार सम्बन्धी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चित्रों की रचना उस समय की जाती है जबकि दूसरों के लिए संकलित तथ्यों को सुबोध, सरल, आकर्षक तथा रुचिकर बनाना ही अनुसन्धानकर्त्ता का लक्ष्य होता है। कहा जाता है कि हजारों शब्दों का प्रयोग करके भी जिस चीज को समझना कठिन होता है उसे केवल एक चित्र द्वारा सरलता से समझाया जा सकता है। चित्रों में बुद्धि का कम प्रयोग करना पड़ता है, चित्रों की आकर्षकता स्वयं ही आँखों के माध्यम से दिमाग को प्रभावित करती है और हम तथ्यों को शीघ्रता से समझने में समर्थ होते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चित्रों का निर्माण किया जाता है। व्यापारिक संस्थाएँ अपने उत्पादन का प्रचार करने के लिए चित्रों द्वारा उस उत्पादन की निरन्तर बढ़ती हुई बिक्री को विज्ञापन में दिखाती हैं। तथ्यों का चित्रमय प्रदर्शन अन्य कई रूपों में करके सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ प्रचार-कार्य करती हैं। सभी का उद्देश्य एक ही होता है और वह यह कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति के लिए भी शुष्क, कठिन व अनाकर्षक तथ्यों को चित्रों द्वारा सरल व आकर्षक बनाना।

चित्रों की उपयोगिताएँ
(Usefulness of Diagrams)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक सर्वेक्षण या अनुसन्धान में चित्रों का अत्यधिक महत्त्व है—स्वयं अनुसन्धानकर्त्ता के लिए और पाठकों के लिए भी। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

(१) **आकर्षक तथा प्रभावपूर्ण प्रदर्शन सम्भव होता है** (Attractive and effective presentation is possible)—चित्रों द्वारा तथ्यों का प्रदर्शन कहीं अधिक आकर्षक तथा प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है क्योंकि ये दोनों ही गुण चित्रों में होते हैं। जनसाधारण को तो चित्रों से अध्ययन के साथ-साथ मनोरंजन भी मिलता है। प्रायः मनुष्य अंकों की ओर ध्यान नहीं देता, संख्याओं की लम्बी तालिका देखकर वह घबड़ा जाता है; पर कोई भी स्वच्छ चित्र उसे अपनी तरफ खींचता है। मनुष्य चित्रों से प्रभावित होता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है क्योंकि चित्रों को आँखों से देखने से चित्रों में अन्तर्निहित तथ्य स्वतः ही मस्तिष्क तक पहुँच जाता है और उसे याद रखना भी सरल होता है। यही कारण है कि आजकल विज्ञापन में समस्त आँकड़ों या तथ्यों को आकर्षक चित्रों के माध्यम से प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। विज्ञापन में अंकों का कम-से-कम और चित्रों का अधिक-से-अधिक

प्रयोग होता है क्योंकि विज्ञापनदाता लोगों को मनोवैज्ञानिक तरीके से प्रभावित करते तथा लाभ उठाते हैं।

(२) **चित्र तथ्यों को सरल व समझने योग्य बनाता है** (Diagram makes the data simple and tangible)—चित्रों की एक और उपयोगिता यह है कि कठिन-से-कठिन तथ्यों को ये सरल तथा बोधगम्य बनाते हैं। शब्दों तथा अंकों के माध्यम से जिस बात को बार-बार प्रयत्न करने पर समझा नहीं जाता वही बात चित्रों के माध्यम से बहुत जल्दी व सरलता से समझ में आ जाती है। इसका कारण भी स्पष्ट है। प्राय: सभी राशियाँ, विशेषकर बड़ी राशियाँ या अंक सरलता से समझ में नहीं आते हैं परन्तु यदि उन्हें चित्रों द्वारा प्रदर्शित करें तो उनका महत्त्व शीघ्र स्पष्ट हो जाता है क्योंकि अंकों का अध्ययन करके तथ्यों के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष निकालना एक लम्बा तरीका है और सरदर्द भी, जब कि चित्रों से यह निष्कर्ष स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। श्री बोडिंग्टन (Boddington) ने उचित ही लिखा है कि "भली प्रकार से रचित एक चित्र आँखों को प्रभावित करता है और मस्तिष्क को भी, क्योंकि चित्र उन व्यक्तियों के लिए भी व्यावहारिक, स्पष्ट तथा शीघ्र समझने योग्य होता है जो प्रदर्शन की पद्धति से अनभिज्ञ होते हैं।"[1]

(३) **समय की बचत करता है** (Saves Time)—चित्रों को देखने मात्र से ही तथ्यों के लक्षण तथा अन्तर्निहित गुण स्पष्ट हो जाते हैं और परिणाम निकालने के लिए अधिक अध्ययन की भी आवश्यकता नहीं होती। अत: संकलित तथ्यों को समझने और उनका अध्ययन करने के लिए समय नष्ट नहीं करना पड़ता है। यह मानी हुई बात है कि किसी भी तथ्य का गहन अध्ययन करके समझने की अपेक्षा आँखों द्वारा चित्रों को देखकर उसी तथ्य को समझने में बहुत कम समय लगता है। श्री बाउले (Bowley) ने भी लिखा है, "चित्र आँख के सहायक और समय बचाने के साधन मात्र हैं।"[2]

(४) **आसानी से तुलना सम्भव** (Comparison easily possible)—चित्रों की एक और उल्लेखनीय उपयोगिता यह है कि इनकी सहायता से दो या अधिक सम्बन्धित तथ्यों की तुलना बहुत सरल हो जाती है। अंकों तथा शब्दों के आधार पर विभिन्न तथ्यों की तुलना उतनी सरल नहीं होती है जितनी कि चित्रों के द्वारा। चित्रों को देखकर साधारण व्यक्ति भी विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व सरलता से समझ सकता है। उदाहरणार्थ, यदि दो शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या को चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जाए तो उनकी तुलना सरलता से की जा सकती है।

(५) **एक ही दृष्टि से स्पष्ट होना** (Visible at a glance)—चित्रों की एक और उल्लेखनीय विशेषता व उपयोगिता यह है कि यह अनेक तथ्यों को एकसाथ प्रस्तुत करता है और उसे एक ही दृष्टि से देखकर सम्पूर्ण तथ्यों के बारे में समझा जा सकता है। अंकों को प्रगट करने में कई पृष्ठ भरने पड़ते हैं और उन्हें समझने के लिए सम्पूर्ण वर्णनात्मक विवरण को भी पढ़ना पड़ता है। इसीलिए सम्पूर्ण तथ्यों का एक-

---

1. "A properly constructed diagram appeals to the eye and also to the mind, because it is practical, clear and easily understandable even by those unacquainted with the method of presentation."—Boddington, *Statistics and its application to Commerce*, p 140.

2. "Diagrams are merely an aid to the eye and a means of saving time."—Bowley.

साथ ज्ञान नहीं हो पाता है; इसके विपरीत एक ही चित्र में विशाल संख्याओं को दिखाया जा सकता है और वह एक ही दृष्टि से स्पष्ट भी हो सकता है। चित्रों के इस गुण को श्री किंग (King) ने एक सफल चित्र की कसौटी माना है। इनका कहना है कि "समस्त चित्रों की कसौटी यह है कि जो चित्र बनाया जाए वह अंकों की श्रेणियों अथवा समूहों का ऐसा सर्वोत्तम दृश्य प्रस्तुत करे जो आँखों के लिए मनोरम हो।"[3]

(६) **अनुसन्धान में उपयोगी** (Helpful in Research)—अनुसन्धान-कार्य में भी चित्र बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। क्षेत्रीय सर्वेक्षण का संगठन और संचालन करने में चित्रों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। इसका कारण यह है कि चित्रों की सहायता से अनुसन्धानकर्त्ता को न केवल भौगोलिक विशेषताओं का पता चलता है अपितु विभिन्न सूचनाओं के स्रोतों की स्थिति का भी ज्ञान होता है जिससे कि सूचना एकत्रित करने में सुविधा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चित्रों की उपयोगिता केवल संकलित तथ्यों के प्रदर्शन में ही नहीं अपितु तथ्यों के संकलन में भी है।

(७) **प्रभावपूर्ण प्रचार में सहायक** (Helpful in effective Propaganda)—तथ्यों का चित्रों द्वारा प्रदर्शन करने से प्रचार का कार्य सरल हो जाता है। इसका कारण भी स्पष्ट है। चित्र का प्रभाव साधारण-से-साधारण व्यक्ति पर अत्यधिक होता है क्योंकि चित्रों की बात आँखों के माध्यम से प्रत्यक्षत: और प्रभावपूर्ण रूप में मस्तिष्क तक पहुँच जाती है इसीलिए प्रचारकर्त्ता जिस बात का प्रचार करना चाहता है उसे यदि वह चित्रों द्वारा प्रदर्शित करता है तो वे चित्र प्रचार के उत्तम साधन बन जाते हैं। सामाजिक अनुसन्धान की सार्थकता उसी अवस्था में है जब उससे प्राप्त निष्कर्षों को व्यावहारिक जीवन में उपयोगी बनाया जाए। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित तथ्यों का जनता के उपयोग के लिए सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाए। चित्रों द्वारा यह प्रदर्शन अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है।

(८) **भविष्य की ओर संकेत** (Prediction)—चित्रों का एक लाभ यह भी है कि उनके द्वारा एक घटना विशेष में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार समय-श्रेणियों (time series) के अनुसार प्रदर्शित चित्र भविष्य में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में संकेत करता है। उदाहरणार्थ, बढ़ती हुई जनसंख्या को समय-श्रेणियों के अनुसार यदि प्रदर्शित किया गया है तो उसे देखकर जनसंख्या के भविष्य की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अनुमान लगाना कठिन नहीं होता।

चित्रों की सीमाएँ
(Limitations of Diagrams)

चित्रों के उपरोक्त गुणों के होने पर भी इनकी अपनी कुछ आधारभूत सीमाएँ हैं जिनके विषय में भी विवेचना कर लेना यहाँ उपयोगी होगा। वे सीमाएँ इस प्रकार हैं—

(अ) **विस्तृत विश्लेषण सम्भव नहीं** (Exhaustive analysis is not possible)—चित्रों का सबसे उल्लेखनीय दोष यह है कि चित्रों को देखकर घटना के

3. "The test for all diagrams is that the diagram as drawn should afford the best view of the series or groups of figures that the eye can appreciate."—King.

सम्बन्ध में केवल कुछ मोटी बातों का ही आभास होता है। अतः चित्रों की सहायता से किसी भी तथ्य या घटना का विस्तृत विश्लेषण सम्भव नहीं होता है। वास्तव में तथ्यों के सामान्य तथा अनुमानित स्वरूप को ही केवल चित्र प्रदर्शित कर पाता है जिसके फलस्वरूप गहन तथा सूक्ष्म विश्लेषण व व्याख्या करना हमारे लिए सम्भव नहीं होता है।

(ब) केवल समरूप तथ्यों का प्रदर्शन सम्भव (Only homogeneous data can be shown)—चित्र केवल उन तथ्यों को ही प्रदर्शित कर सकता है जो कि केवल एक प्रकार के हैं अर्थात् जिनमें कि भिन्नताओं का अभाव है। उदाहरणार्थ, यदि हमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, वैवाहिक स्थिति तथा आय को एक ही चित्र में दिखाना है तो वह काम हमारे लिए सम्भव न होगा। क्योंकि ये तथ्य एक-दूसरे से सम्बन्धित नहीं हैं।

(स) केवल तुलनात्मक तथ्यों का प्रदर्शन (Only comparative data can be shown)—चित्र द्वारा तथ्यों के प्रदर्शन की एक और सीमा यह है कि चित्रों में केवल ऐसे तथ्यों को ही प्रदर्शित किया जा सकता है जो तुलनात्मक हों। तुलनात्मक होने के लिए अंकों का दो अथवा दो से अधिक होना और साथ ही एक ही विषय से सम्बन्धित होना आवश्यक है। पर सामाजिक अनुसन्धान में बहुत से तथ्य इस प्रकार के नहीं भी हो सकते हैं। उस अवस्था में तथ्यों का चित्र द्वारा प्रदर्शन सम्भव नहीं।

(द) विशुद्ध माप सम्भव नहीं (Accurate measurement not possible)—चित्रों की एक और उल्लेखनीय सीमा यह है कि चित्रों द्वारा तथ्यों के प्रदर्शन में आँकड़ों के विशुद्ध माप का उतना ज्ञान नहीं हो सकता जितना कि सारिणीयन द्वारा हो सकता है। उदाहरणार्थ, सारिणी में अंकों के मूल्य को दशमलव के किसी भी स्थान तक ज्ञात किया जा सकता है, लेकिन चित्र द्वारा अंकों का इतना विशुद्ध माप सम्भव नहीं होता। इसके अतिरिक्त चित्र द्वारा तथ्यों के प्रदर्शन में उचित, उपयुक्त तथा सर्वमान्य मानदण्ड का चुनाव करना भी एक समस्या बन जाती है और इसीलिए चित्रों में प्रायः मनमाने ढंग से तथ्यों को प्रदर्शित किया जाता है।

(य) केवल समानुपातिक प्रदर्शन सम्भव है (Only proportionate presentations possible)—चित्रों के द्वारा केवल समानुपातिक अन्तर दिखाया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ दो तथ्यों के बीच का अन्तर बहुत कम या बहुत ज्यादा है तो ऐसे तथ्यों को चित्रों द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, ५०, १००, २०० आदि समानुपातिक अंकों को चित्रों में दिखाया जा सकता है। परन्तु १०००० और ९९९९ के अन्तर को चित्र द्वारा सरलता से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार १ : १००० के माप वाले दो तथ्यों की तुलना चित्र द्वारा सम्भव नहीं।

(र) मिथ्या-झुकाव की सम्भावना (Possibility of Bias)—चित्र में चित्रकार अपनी व्यक्तिगत कल्पनाओं या विचारों को साकार रूप देने का प्रयत्न करता है। पर यह विचार या कल्पना वैज्ञानिक या पक्षपातरहित होगी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रायः ऐसा होता है कि चित्रकार वैज्ञानिक भावनाओं की अवहेलना करके अपनी कल्पनाओं को अधिक प्रधानता दे बैठता है। इस अवस्था में चित्रों में मिथ्या-झुकाव का प्रवेश हो जाता है। यही कारण है कि दो चित्रकारों द्वारा एक ही प्रकार से सम्बन्धित दो चित्र एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् हो सकते हैं।

चित्र रचना क नियम
(Rules for constructing Diagrams)

चित्र रचना एक कला है और इसीलिए उत्तम प्रकार के चित्रों के निर्माण के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है। अत: इन नियमों के विषय में भी जान लेना उचित होगा जो कि इस प्रकार हैं—

(१) **अधिकतम आकर्षक** (Most attractive)—चित्रों की सबसे पहली आवश्यकता उनका अधिकतम आकर्षक होना है अत: चित्र वनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हर प्रकार से चित्र अधिकाधिक आकर्षक हो और वह आँखों को भला लगे। इसके लिए विभिन्न रंगों का उपयोग किया जाता है और कभी-कभी रंगों के स्थान पर नाना प्रकार की रेखाओं का कलात्मक प्रयोग करके चित्र को अधिकाधिक आकर्षक बनाया जाता है।

(२) **सुन्दर आकार** (Fine Form)—चित्र आकर्षक हो और तथ्यों का उस में सुन्दर प्रदर्शन हो इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इस बात का ध्यान रखा जाए कि चित्रों का आकार वहुत सुन्दर हो अर्थात् उनकी लम्बाई, चौड़ाई अथवा गोलाई आदि आकृति से सम्बन्धित तथ्यों का समानुपातिक विभाजन हो। यदि चित्रों का आकार वहुत छोटा या वहुत वड़ा है तो उसका आकार बेढंगा होगा। अत: तथ्यों की विशेषताओं के अनुसार चित्रों का आकार समानुपातिक होना वहुत आवश्यक है। इस समानुपातिकता को किस प्रकार प्राप्त किया जाए इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। इसके लिए तो चित्रकार की वुद्धि, कुशलता, अनुभव तथा कलात्मक दृष्टि ही सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

(३) **वास्तविक अभिव्यक्ति** (True expression)—एक उत्तम चित्र वही है जो कि वास्तविक तथ्यों को वास्तविक रूप में प्रगट कर सके। इसके लिए तीन बातों का होना जरूरी है—प्रथम तो यह कि चित्र वास्तविक तथ्यों पर आधारित हो, द्वितीय यह कि उन तथ्यों को वास्तविक रूप में व ईमानदारी के साथ प्रगट करने में चित्रकार सफल हो और तीसरा यह कि जिस अर्थ में तथ्यों को चित्र में प्रदर्शित किया गया है, चित्र को देखने वाले सभी लोग उन तथ्यों को उसी अर्थ में समझें। इन तीनों का समन्वय यदि नहीं हुआ तो चित्र अर्थहीन हो जाएगा। सार तत्त्व यह है कि चित्रों में तथ्यों की वास्तविक अभिव्यक्ति होनी चाहिए। समस्या के जिस पक्ष को प्रगट करने के लिए चित्र वनाया गया है वह पक्ष और जहाँ तक सम्भव हो केवल वही पक्ष दर्शक का आकर्षण-केन्द्र होना चाहिए।

(४) **ज्यामितीय शुद्धता** (Geometrical accuracy)—चित्र ज्यामितीय रूप में शुद्ध होना चाहिए। चित्रकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चित्र आँकड़ों का सच्चा प्रतिनिधि वन सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि चित्र में आँकड़ों के पारस्परिक अनुपात का ख्याल रखा जाए। यह तभी हो सकता है जब कि चित्र वनाने से पहले ही एक पैमाना (scale) निर्धारित कर लिया जाए और उस पैमाने पर दृढ़ता से अमल किया जाए या उस पर स्थिर रहा जाए। एक ही पैमाने के आधार पर तथ्यों या आँकड़ों को प्रदर्शित करने से सभी आँकड़े एक अनुपात में प्रगट होंगे। इस पैमाने का स्पष्ट उल्लेख चित्र के आस-पास या नीचे कर देना चाहिए जिससे कि सब लोग उसे देख व समझ सकें।

(५) **उपयुक्त शीर्षक** (Suitable heading)—प्रत्येक चित्र में उसका शीर्षक

अवश्य देना चाहिए। चित्रों का शीर्षक न केवल उन्हें आकर्षक ही बनाता है अपितु उनका केन्द्रीय भाव भी प्रगट करता है। शीर्षक यथासम्भव छोटा एवं स्वयं पूर्ण होना चाहिए अर्थात् कम-से-कम शब्दों में चित्र की विषय-वस्तु को अधिक-से-अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करने में जो शीर्षक सफल हो सके, ऐसा शीर्षक चित्र के लिए चुनना चाहिए। सही शीर्षक चित्र को समझने में सहायक सिद्ध होता है।

(६) **अक्षरों व संख्याओं का कम-से-कम प्रयोग** (Minimum use of Words and Figures)—चित्रों के अन्दर जहाँ तक हो सके अक्षरों तथा संख्याओं का कम-से-कम प्रयोग होना चाहिए। चित्र बनाने का उद्देश्य तो आँकड़ों तथा विवरणों के बोझ को लोगों के लिए हल्का करना है। इसीलिए यदि चित्र में अक्षरों तथा आँकड़ों का मेला लगा ही रहा तो फिर चित्र की सार्थकता कुछ भी रह नहीं जाती। सफल चित्र तो वह है जो कि चित्र के माध्यम से ही वास्तविक तथ्यों को सुस्पष्ट व सुनिश्चित रूप में प्रगट कर सके। अतः चित्रकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि चित्र में कम-से-कम अक्षरों तथा अंकों का प्रयोग किया जाए और उसमें तथ्यों की चित्रमय अभिव्यक्ति वास्तविक रूप में हो सके। चित्रों के स्पष्टीकरण के लिए यदि कुछ अक्षरों या अंकों का प्रयोग अनिवार्य हो जाए तो वे बहुत छोटे और सुन्दर हों, यही श्रेय है।

(७) **स्पष्ट विभाजन** (Distinctive Division)—भिन्न-भिन्न तथ्यों को दर्शाने के लिए चित्र को प्रायः कई भागों में विभाजित करना पड़ता है और इस प्रत्येक भाग के भी एकाधिक उपभाग हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक भाग या उपभाग का विभाजन इस प्रकार से किया जाए कि वे सुस्पष्ट व सुनिश्चित हों। इसके लिए पृथक्-पृथक् रंग या डिजाइन का प्रयोग करना चाहिए। एक ही प्रकार के तथ्य के लिए शुरू से आखीर तक एक ही रंग या डिजाइन को काम में लाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि स्त्रियों की संख्या को दर्शाने के लिए लाल रंग का प्रयोग किया गया है तो चित्र में जहाँ-जहाँ भी स्त्रियों को दिखाना है सभी जगह लाल रंग का ही प्रयोग हो। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिन रंगों या डिजाइनों का प्रयोग किया जाए वे एक-दूसरे से मिलते-जुलते न हों ताकि प्रथम दृष्टि में ही एक से दूसरे को पृथक् करने में किसी को कोई कठिनाई न हो। उसी प्रकार ऐसे रंगों का प्रयोग करना चाहिए जो आँखों को अच्छा लगे व आकर्षक हो। प्रत्येक भाग या उपभाग का परिचय चित्र के नीचे संकेत में दे देना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो यह परिचय उस भाग या उपभाग के अन्दर भी दिया जा सकता है।

(८) **व्यवस्थित रचना** (Systematic Construction)—व्यवस्थित रचना से तात्पर्य यह है कि तुलनात्मक चित्रों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाए कि उनमें एक क्रमबद्धता बनी रहे ताकि तुलनात्मक महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट हो सके। उदाहरणार्थ, यदि तुलनात्मक दण्ड चित्र (bar diagrams) बनाने हैं तो वे खड़े भी बनाए जा सकते हैं और पड़े भी। फिर भी खड़े दण्ड पड़े दण्डों की अपेक्षा अधिक उत्तम माने जाते हैं।

(९) **उचित चुनाव** (Suitable Selection)—तथ्यों को किस प्रकार के चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाए इस सम्बन्ध में चुनाव अत्यधिक सतर्कता के साथ करना चाहिए। स्मरण रहे कि एक ही प्रकार के तथ्य को अनेक प्रकार के चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है, पर कौनसा चित्र सबसे उपयुक्त होगा इसका चुनाव बहुत

सोच-समझकर करना चाहिए क्योंकि उपयुक्त प्रकार के चित्र का चुनाव करने पर सम्बन्धित तथ्य को अधिक आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। जब तुलनात्मक तथ्यों का प्रदर्शन करना है तो चित्रों के चुनाव के सम्बन्ध में अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है।

चित्रों के प्रकार
(Types of Diagrams)

सामाजिक तथ्यों को प्रदर्शित करने के लिए अनेक प्रकार के चित्रों की रचना की जा सकती है। साथ ही एक ही प्रकार के तथ्यों को अलग-अलग ढंग से अलग-अलग प्रकार के चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। पर किस प्रकार के चित्र द्वारा एक विशेष प्रकार के तथ्य का प्रदर्शन किया जाएगा यह स्वयं तथ्यों की प्रकृति और अध्ययन के उद्देश्य आदि पर निर्भर करता है। इन विभिन्न प्रकार के चित्रों को हम निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते हैं—

I. एक आयतनात्मक चित्र
(One dimensional diagrams)
- (१) रेखाचित्र (Line diagram)
- (२) सरल छड़ चित्र (Simple bar diagram)
- (३) बहुगुणी छड़ चित्र (Multiple bar diagram)
- (४) अन्तर्विभक्त छड़ चित्र (Sub-divided bar diagram)
- (५) प्रतिशत छड़ चित्र (Percentage bar diagram)
- (६) विचलन छड़ चित्र (Deviation bar diagram)
- (७) स्तूप चित्र (Pyramid diagram)
- (८) द्विमुखी छड़ चित्र (Sliding bar diagrams)
- (९) युग्म-दिशात्मक छड़ चित्र (Duo-directional bar diagram)

II. दो आयतनात्मक या क्षेत्र चित्र
(Two dimensional or area diagram)
- (अ) वर्गाकार चित्र (Square diagram)
- (ब) आयताकार चित्र (Rectangular diagram)
- (स) वृत्ताकार चित्र (Circular diagram)
  - (i) सरल वृत्त Simple circle)
  - (ii) अन्तर्विभक्त वृत्त (Sub-divided circle)

III. तीन आयतनात्मक चित्र
(Three dimensional diagrams)
- (क) घनाकार चित्र (Cubes)
- (ख) बेलनाकार चित्र (Cylinders)
- (ग) गोलाकार चित्र (Globes)

IV. चित्रलेख (Pictogram)

V. मानचित्र (Maps)

एक आयतनात्मक चित्र
(One Dimensional Diagrams)

एक आयतनात्मक चित्र उन चित्रों को कहा जाता है जिनमें केवल लम्वाई के आधार पर आँकड़ों के परिमाणों (quantity) को दिखाया जाता है। उनमें चौड़ाई या मोटाई भी हो सकती है, पर उसका उपयोग केवल चित्र को अधिक आकर्षक व सुन्दर वनाने के लिए किया जाता है। तथ्यों या आँकड़ों के परिमाणों को विभिन्न प्रकार की छड़ों (bars) के द्वारा दिखाया जाता है। इन छड़ों को चित्र में खड़े या पड़े (horizontally or vertically) दोनों ही प्रकार से दिखाया जा सकता है। साथ ही छड़ के स्थान पर सीधी लाइनों द्वारा भी परिमाणों को दर्शाया जा सकता है। एक आयतनात्मक चित्रों का उपयोग विशेष रूप से वहाँ किया जाता है, जहाँ कि सबसे छोटी व सबसे वड़ी माप में १ : १० से अधिक अन्तर न हो। एक आयतनात्मक चित्र निम्न प्रकार के होते हैं जैसे कि पहले ही लिखा जा चुका है। इनके विषय में हम यहाँ सचित्र विवेचना करेंगे—

(१) रेखाचित्र
(Line Diagram)

रेखाचित्र उस चित्र को कहा जाता है जिसमें कि तथ्यों के परिमाणों को साधारण सीधी रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। ये सीधी रेखाएँ खड़ी भी हो सकती हैं और पड़ी भी। इस प्रकार के चित्रों का उपयोग वहाँ किया जाता है जहाँ पर कि प्रदर्शित की जाने वाली इकाइयों की संख्या वहुत अधिक होती है। निम्नलिखित उदाहरण से इस प्रकार के रेखाचित्रों का स्पष्टीकरण हो सकता है—

उदाहरण १—समाजशास्त्र की परीक्षा में १५ विद्यार्थियों के प्राप्तांक निम्न प्रकार से हैं। चित्र द्वारा उन्हें प्रदर्शित कीजिए।

४०, ३७, ६१, ६७, ५६, ७०, ३९, ४६, ६८, ४१, ६०, ३८, ३९, ४०, ५१

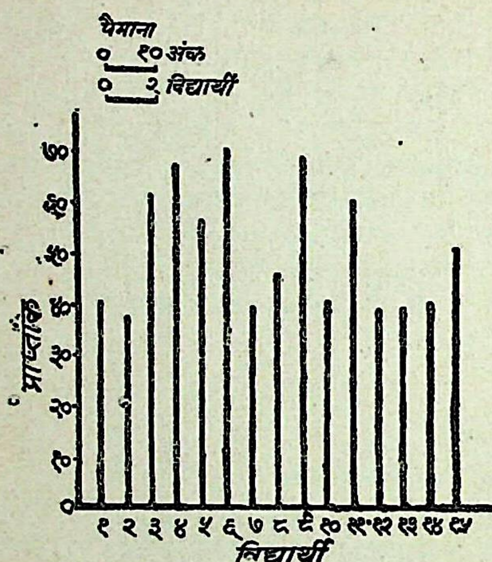
यदि उपरोक्त प्राप्तांकों को एक रेखाचित्र द्वारा दिखाना है तो वह चित्र इस प्रकार बनेगा (देखिए चित्र संख्या १, पृष्ठ ४४६ पर)।

(२) सरल छड़ चित्र
(Simple Bar Diagram)

इस प्रकार के चित्रों में तथ्यों या आँकड़ों के परिमाणों या मापों को केवल सीधी लाइनों द्वारा प्रदर्शित न करके चौड़ाई लिए हुए लम्वे छड़ों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इन छड़ों में लम्वाई के साथ-साथ चौड़ाई भी होती है जिससे कि ये अधिक आकर्षक प्रतीत हों। यद्यपि चौड़ाई का कोई अर्थ नहीं होता है और एक छड़ कितनी चौड़ी होगी इसका निर्धारण चित्र वनाने वाला ही कलात्मक दृष्टि से निर्धारित करता है। पर छड़ों की लम्वाई उसी अनुपात में होती है जिस अनुपात में तथ्यों के परिमाणों को प्रदर्शित करना होता है। दो छड़ों के वीच वरावर स्थान छोड़ दिया जाता है। इन छड़ों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए इन्हें खाली नहीं छोड़ा जाता है बल्कि किसी रंग या डिजाइन से उन्हें भर दिया जाता है। कागज के आकार तथा जितने छड़ों को चित्र में दिखाना है उनकी संख्या के अनुसार ही छड़ों की लम्बाई-चौड़ाई रक्खी जाती है, फिर भी सामान्यतया ·३ इंच अथवा ·४ इंच की चौड़ाई अधिक

चित्र संख्या १

समाजशास्त्र के १५ विद्यार्थियों के प्राप्तांक



उपयुक्त मानी जाती है। इन छड़ों को खड़े अथवा पड़े दोनों ही प्रकार से चित्र में दिखाया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरण से सरल छड़ चित्र का स्पष्टीकरण हो सकेगा—

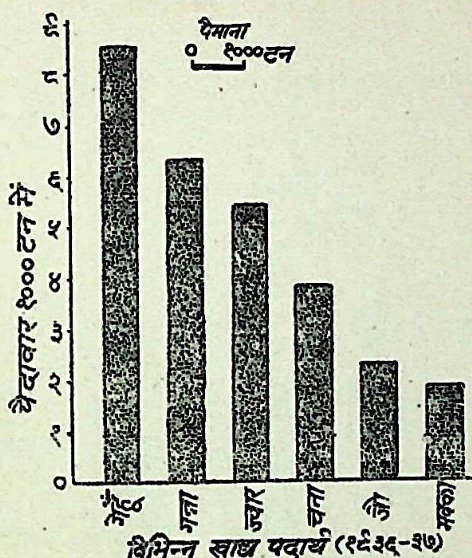
उदाहरण २—निम्न सारिणी में सन् १९६६-६७ में खाद्य पदार्थों की पैदावार का विवरण दिया गया है। सरल छड़ चित्र द्वारा उन्हें प्रदर्शित कीजिए।

क्रम संख्या	फसल का नाम	पैदावार (१००० टन में)
१	गेहूँ	८५१३
२	गन्ना	६२८९
३	ज्वार	५४०१
४	चना	३८१७
५	जौ	२३११
६	मक्का	१८३९

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर सरल छड़ चित्र इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या २)—

चित्र संख्या २

भारत में भिन्न खाद्य पदार्थों की पैदावार



(३) बहुगुणी छड़ चित्र
(Multiple Bar Diagram)

बहुगुणी छड़ चित्र भी सरल छड़ चित्र की ही भाँति होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि सरल छड़ चित्र में केवल एक ही तथ्य की तुलना दिखाई जा सकती है जबकि बहुमुखी छड़ चित्र में एकाधिक तथ्यों का तुलनात्मक प्रदर्शन किया जा सकता हैं। चूँकि इस प्रकार का चित्र तथ्यों के एकाधिक गुणों का प्रदर्शन करता है, इसलिए इन्हें बहुगुणी छड़ चित्र कहते हैं। इस प्रकार के चित्रों में जितने प्रकार के तथ्यों की तुलना करनी होती है, उतनी ही संख्या में छड़ों को एकसाथ मिलाकर बनाया जाता हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमें तीन शहरों के स्त्री-पुरुषों की संख्या को दिखाना है तो प्रत्येक शहर के लिए बने छड़ दो-दो की संख्या में होंगे और उनमें से एक छड़ स्त्रियों की संख्या और दूसरा छड़ पुरुषों की संख्या का प्रदर्शन करेगा। प्रत्येक शहर के लिए बने इस प्रकार के दो-दो छड़ एक-दूसरे के साथ मिले होंगे। उसी प्रकार तीन तथ्यों को दर्शाने के लिए तीन-तीन के जोड़े में छड़ बनाए जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में बहुगुणी छड़ चित्र बनाकर दिखाया गया है—

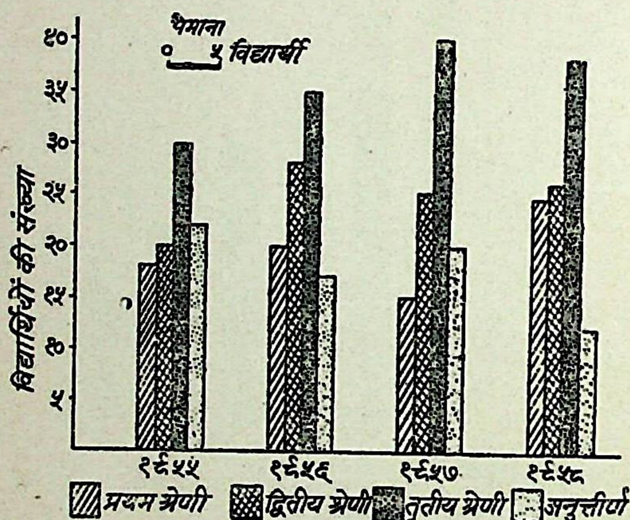
उदाहरण ३—समाजशास्त्र विषय का पिछले चार वर्षों का परीक्षा परिणाम निम्न-प्रकार का है। उचित चित्र द्वारा इसका प्रदर्शन कीजिए।

श्रेणी	१९५५	१९५६	१९५७	१९५८
प्रथम श्रेणी	१८	२०	१५	२४
द्वितीय श्रेणी	२०	२८	२५	२६
तृतीय श्रेणी	३०	३५	४०	३८
अनुत्तीर्ण	२२	१७	२०	१२

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर बहुगुणी छड़ चित्र बनाने पर उसका स्वरूप निम्नवत् होगा (देखिए चित्र संख्या ३)—

चित्र संख्या ३

समाजशास्त्र का चार वर्षों का परीक्षा परिणाम



(४) अन्तर्विभक्त छड़ चित्र
(Sub-divided Bar Diagram)

इस प्रकार के छड़ चित्रों में भी बहुगुणी छड़ चित्रों की भाँति एकाधिक तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व प्रदर्शित किया जाता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्तर्विभक्त छड़ चित्र और बहुगुणी छड़ चित्रों में कोई अन्तर नहीं है। इनमें आधारभूत अन्तर यह है कि बहुगुणी छड़ चित्रों में प्रत्येक गुण को या एक श्रेणी के तथ्यों को दिखाने के लिए एक पृथक् छड़ तैयार की जाती है जबकि अन्तर्विभक्त छड़ चित्र में एक ही छड़ के अन्दर विभिन्न गुणों को दर्शाने के लिए उसी छड़ को उपविभागों में बाँट लिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि विभिन्न वर्षों में एक विद्यालय में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं की संख्या प्रदर्शित करनी है तो हम प्रत्येक वर्ष में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की कुल संख्या के अनुसार अलग-अलग छड़ की लम्बाई निर्धारित कर लेंगे और फिर प्रत्येक छड़ को उस वर्ष में पढ़ने वाले छात्रों और छात्राओं की संख्या के अनुपात में दो भागों में बाँट लेंगे। निम्नलिखित उदाहरण से अन्तर्विभक्त छड़ चित्रों की प्रकृति स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण ४—निम्न सारिणी में जर्मनी, फ्रांस और इंगलण्ड द्वारा बनाई जाने वाली मोटर-कारों की संख्या का विवरण विभिन्न वर्षों के साथ दिया गया है। इसे अन्तर्विभक्त छड़ चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

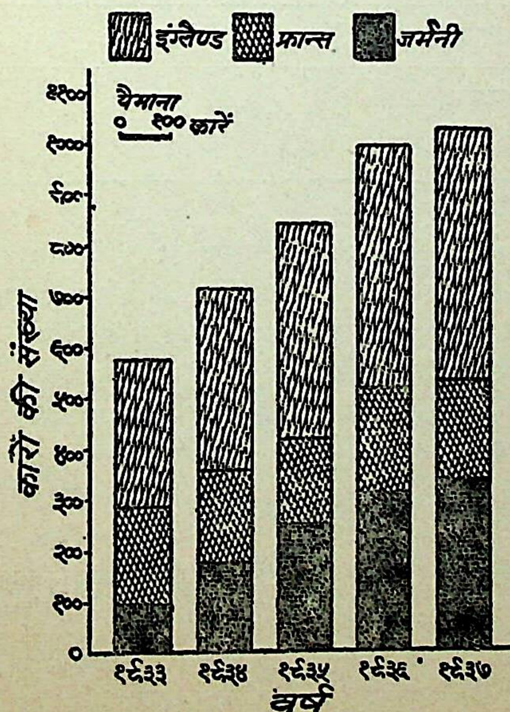
(हजार में)

देश का नाम	वर्ष				
	१९३३	१९३४	१९३५	१९३६	१९३७
जर्मनी	९९	१७२	२४५	३०२	३३२
फ्रांस	१८९	१८७	१६६	२०३	२००
इंगलैण्ड	२९६	३५५	४१७	४८१	४९३
योग	५८४	७१४	८२८	९८६	१०२५

उपरोक्त आँकड़ों से अन्तर्विभक्त छड़ चित्र की रचना करने पर वह इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या ४)—

चित्र संख्या ४

विभिन्न देशों में मोटर-कारों का उत्पादन



अन्तर्विभक्त छड़ को एक अन्य प्रकार के उदाहरण की सहायता से भी समझाया जा सकता है जो कि इस प्रकार है—

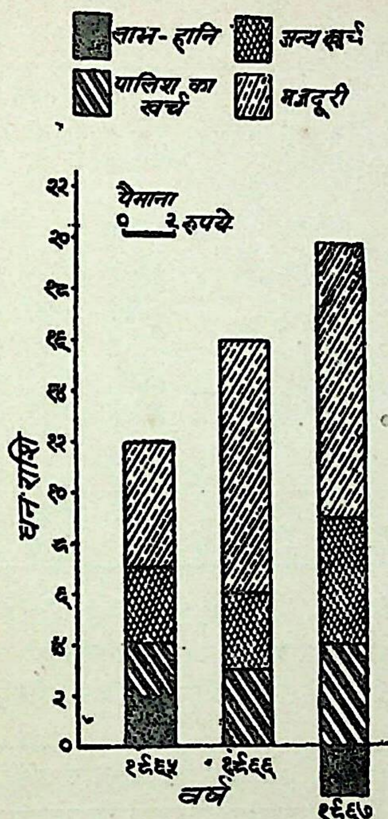
उदाहरण ५—निम्नलिखित सारिणी से एक अन्तर्विभक्त छड़ चित्र बनाइए जिसमें प्रति कुर्सी लागत-मूल्य, विक्रय-मूल्य, लाभ व हानि विभिन्न वर्षों में दिखाया गया है।

	वर्ष		
कुल खर्च	१९६५	१९६६	१९६७
(प्रति कुर्सी)	(रुपयों में)	(रुपयों में)	(रुपयों में)
मजदूरी	५	८	११
अन्य खर्च	३	५	७
पालिश का खर्च	२	३	४
कुल लागत	१०	१६	२२
कुर्सी का विक्रय-मूल्य	१२	१६	२०
लाभ (+) अथवा हानि (—)	+२	—	—२

उपरोक्त आंकड़ों से यह स्पष्ट है कि सन् १९६५ में प्रति कुर्सी २ रुपयों का लाभ रहा जबकि सन् १९६६ में कुल लागत और विक्रय-मूल्य समान होने के कारण न लाभ हुआ और न ही हानि। परन्तु सन् १९६७ में प्रति कुर्सी २ रुपये की हानि रही। इन तीनों प्रकार की स्थितियों का चित्रण निम्न उल्लेखित अन्तर्विभक्त छड़ चित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है (देखिए चित्र संख्या ५, सामने के पृष्ठ पर)—

चित्र संख्या ५

विभिन्न वर्षों में प्रति कुर्सी लागत-मूल्य, विक्रय-मूल्य, हानि अथवा लाभ



(५) प्रतिशत छड़ चित्र
(Percentage Bar Diagram)

प्रतिशत छड़ भी अन्तर्विभक्त छड़ ही होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अन्तर्विभक्त छड़ में विभाजन वास्तविक आँकड़ों के आधार पर होता है जबकि प्रतिशत छड़ में आँकड़ों को प्रतिशत में परिवर्तित करके उसके अनुसार छड़ विभाजित किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक छड़ की लम्बाई एकसमान होती है क्योंकि कुल प्रतिशत प्रत्येक दशा में १०० ही होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक श्रेणी या वर्ग के कुल माप को १०० मानकर उस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले सभी उपविभागों का प्रतिशत निकाल लिया जाता है और उसी के अनुसार सम्पूर्ण छड़ को उपविभागों में बाँट दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि एक वर्ग के विभिन्न तथ्यों का प्रतिशत ११·५ + १४·७ + १४·५ + २८·३ + ३१·० = १०० है तो एक छड़ १०० की माप का बनाकर उसको पाँच भागों में ११·५, १४·७, १४·५, २८·३ तथा ३१·० के माप के अनुसार बाँट देंगे तो वह प्रतिशत छड़ चित्र होगा। निम्नलिखित उदाहरण से इस बात का और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा—

उदाहरण ६—निम्नलिखित सारिणी में विभिन्न नगरों के प्रति परिवार का औसत मासिक खर्च दिखाया गया है। उन्हें प्रतिशत छड़ चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

मदें	प्रति परिवार खर्च रुपयों में			
	बम्बई	कलकत्ता	दिल्ली	मद्रास
भोजन	१४७·६	१४९·२	१५८·१	१३६·३
इंधन	१४·२	१२·९	१४·३	१४·५
आवास व घरेलू आवश्यकताएँ	५२·९	६६·५	५५·८	४७·५
वस्त्र	४५·५	३१·३	५७·५	३८·६
विविध खर्चे	१२०·५	९८·४	१०२·७	८७·४
योग	३८१·०	३५८·३	३८८·४	३२४·३

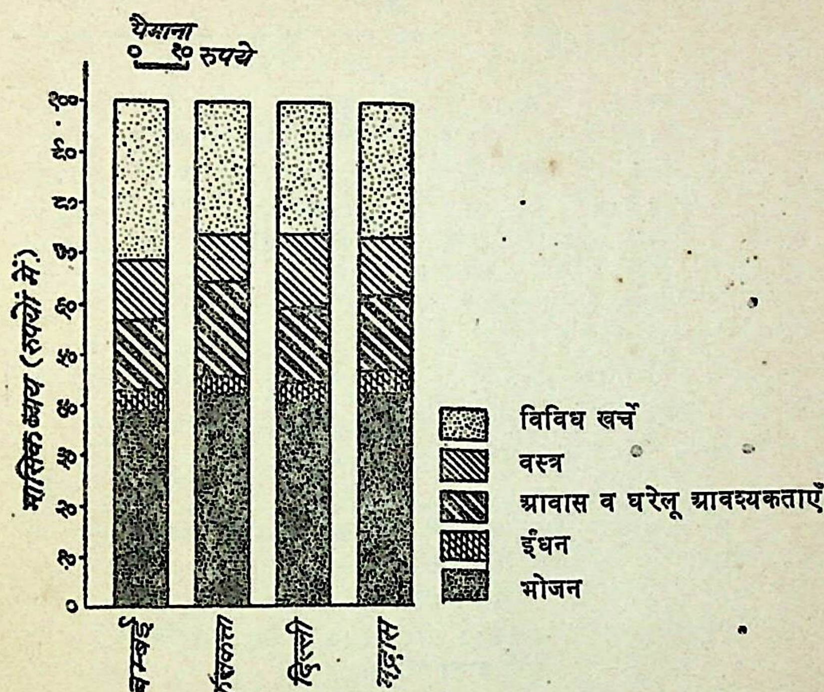
प्रतिशत छड़ चित्र बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक दशा में योग को १०० मानकर उसी आधार पर प्रत्येक वर्ग के आँकड़ों को प्रतिशत में बदल लिया जाए। इस प्रकार बदल लेने से स्थिति निम्न प्रकार की होगी—

मदें	प्रति परिवार खर्च रुपयों में			
	बम्बई %	कलकत्ता %	दिल्ली %	मद्रास %
भोजन	३८·८	४२·१	४०·७	४२·१
इंधन	३·७	३·६	३·७	४·५
आवास व घरेलू आवश्यकताएँ	१३·९	१८·८	१४·४	१४·७
वस्त्र	१२·०	८·९	१४·८	११·८
विविध खर्चे	३१·६	२६·६	२६·५	२७·०
योग	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०

उपरोक्त प्रतिशत आँकड़ों को आधार मानकर यदि प्रतिशत छड़ चित्र बनाया जाए तो वह इस प्रकार होगा (देखिए चित्र ६, संख्या सामने के पृष्ठ पर)—

चित्र संख्या ६

विभिन्न नगरों में प्रति परिवार औसत मासिक व्यय



(६) विचलन छड़ चित्र
(Deviation Bar Diagram)

इस प्रकार के छड़ चित्रों का प्रयोग उस समय किया जाता है जब कि विभिन्न तथ्यों के विचलन को चित्र में प्रदर्शित करने की आवश्यकता होती है। विचलन के सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि विचलन अच्छाई की दशा में भी हो सकता है और बुरी दशा में भी। जैसे परिवार की आय घट भी सकती है और बढ़ भी सकती है अथवा एक कम्पनी में वर्ष के अन्त में हानि भी हो सकती है और लाभ भी। इस प्रकार विरोधी प्रवृत्तियों को दर्शाने के लिए विचलन छड़ चित्र का उपयोग किया जाता है। विचलन दर्शाने के लिए पहले एक माध्य रेखा ,खड़े रूप में खींच ली जाती है तथा वृद्धि प्रगट करने वाले तथ्यों या आँकड़ों को इस रेखा की एक ओर विभिन्न छड़ बनाकर प्रदर्शित किया जाता है। जबकि कमी दिखलाने वाले तथ्यों या आँकड़ों को माध्य रेखा की दूसरी ओर छड़ें बनाकर प्रदर्शित किया जाता है। माध्य रेखा का मूल्य शून्य रक्खा जाता है तथा उसके एक ओर धनात्मक मूल्य (+) और दूसरी ओर (=) ऋणात्मक मूल्य (—) दिखाए जाते हैं। माध्य रेखा खड़ी भी खींची जा सकती है और पड़ी भी। माध्य रेखा खड़ी खींचने पर विभिन्न छड़ उस रेखा के दाएँ-बाएँ बनाए जाते हैं जब कि माध्य रेखा पड़ी खींचने पर छड़ें उस रेखा के ऊपर-नीचे बनाई जाती हैं। निम्नलिखित उदाहरण में माध्य रेखा खड़ी खींची गई है—

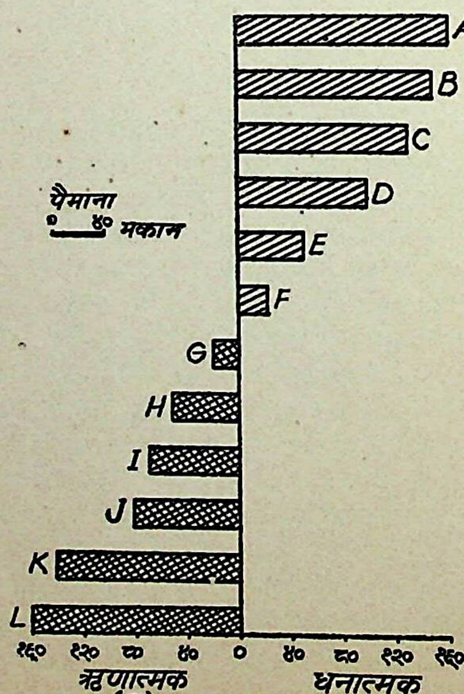
उदाहरण ७—उत्तर प्रदेश के १२ नगरों में सन् १९४७ और १९५७ में घरों की संख्या में होने वाले परिवर्तनों का विवरण निम्न सारिणी में दिया गया है। इसका प्रदर्शन विचलन छड़ चित्र के द्वारा कीजिए।

नगर	१९४७ में घरों की संख्या	१९५७ में घरों की संख्या	अन्तर
A	१०००	११६०	+१६०
B	९००	१०५०	+१५०
C	९००	१०३०	+१३०
D	८००	९००	+१००
E	८००	८५०	+ ५०
F	७५०	७७०	+ २०
G	८००	७८०	— २०
H	७६०	७१०	— ५०
I	७००	६३०	— ७०
J	७००	६२०	— ८०
K	१०००	८६०	—१४०
L	१२००	१०४०	—१६०

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर यदि विचलन छड़ चित्र वनाया जाएगा तो उसका रूप निम्नवत् होगा (देखिए चित्र संख्या ७)—

चित्र संख्या ७

उत्तर प्रदेश के १२ नगरों में १९४७ और १९५७ में मकानों की संख्या में होने वाला परिवर्तन



(७) स्तूप चित्र
(Pyramid Diagram)

स्तूप चित्र का प्रयोग प्राय: विभिन्न आयु-वर्गों के पुरुष तथा स्त्रियों की संख्या प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। चित्र को एक स्तूप का आकार देने के लिए कम उम्र वाले लोगों को नीचे की ओर तथा अधिक उम्र वाले लोगों को क्रमश: ऊपर की ओर पड़ी छड़ों द्वारा दिखाया जाता है। स्तूप चित्र में एक खड़ी रेखा आधार प्रगट करती है और उस रेखा की एक ओर पुरुषों की संख्या और दूसरी ओर स्त्रियों को पड़ी छड़ों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यह प्रयोगसिद्ध व स्वाभाविक बात है कि प्रत्येक समाज में कम आयु-समूह (age-group) के लोग अधिक संख्या में तथा अधिक आयु-समूह के लोग कम संख्या में होते हैं। इसीलिए छोटे से बड़े आयु-समूह को चित्र में प्रदर्शित करने पर नीचे के छड़ अधिक बड़े तथा ऊपर के क्रमश: छोटे होते जाते हैं जिसके फलस्वरूप चित्र की आकृति एक स्तूप की-सी बन जाती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण ८—निम्न सारिणी में सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार विभिन्न आयु-समूहों में स्त्री-पुरुषों की संख्या दिखाई गई है। स्तूप चित्र द्वारा इसका प्रदर्शन कीजिए।

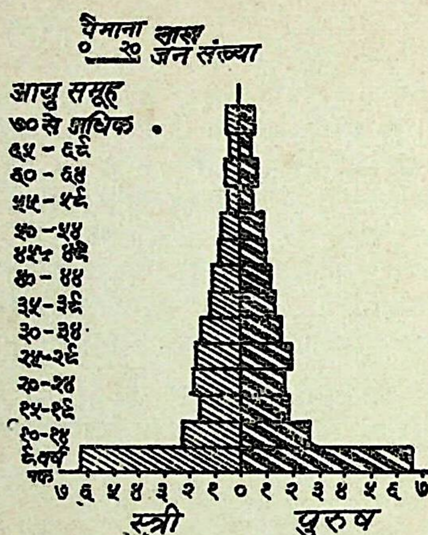
(दस लाख में)

आयु-समूह	पुरुष	स्त्री	कुल जनसंख्या
९ वर्ष तक	६·६३	६·४५	१३·०८
१०—१४	२·६३	२·३०	४·९३
१५—१९	१·८६	१·७३	३·५९
२०—२४	१·८२	१·९१	३·७३
२५—२९	१·८५	१·८०	३·६५
३०—३४	१·६०	१·४८	३·०८
३५—३९	१·३६	१·२०	२·५६
४०—४४	१·२१	१·१०	२·३१
४५—४९	१·००	·८३	१·८३
५०—५४	·९१	·८०	१·७१
५५—५९	·५३	·४५	·९८
६०—६४	·५७	·५५	१·१२
६५—६९	·२५	·२४	·४९
७० से अधिक	·४२	·४४	·८६

उपरोक्त सारिणी के आधार पर यदि एक स्तूप चित्र का निर्माण किया जाएगा तो उसका रूप इस प्रकार होगा (देखिए चित्र संख्या ८, पृष्ठ ४५६ पर)—

चित्र संख्या ८

भारत की जनसंख्या १९६१



(८) द्विमुखी छड़ चित्र
(Sliding Bar Diagram)

इस प्रकार के चित्रों का उपयोग किसी तथ्य के उपभागों में होने वाले परिवर्तन के अनुपात को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। इसमें समस्त माप दो भागों में विभाजित रहती है तथा इन मापों को सदैव प्रतिशत के रूप में दिखाया जाता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक शिक्षा-संस्था में, जहाँ सहशिक्षा है, सम्पूर्ण विद्यार्थियों की संख्या में कुछ भाग छात्रों का होता है और शेष भाग छात्राओं का होता है। प्रतिशत के रूप में प्रदर्शित करने पर प्रत्येक शिक्षा संस्था में विद्यार्थियों का कुल प्रतिशत १०० ही होगा, पर विभिन्न संस्था में छात्र या छात्रा का प्रतिशत अलग-अलग ही होगा। ऐसे चित्रों में एक माध्य रेखा खींच ली जाती है और इसके दोनों ओर प्रतिशत के अनुसार दो उपभाग बना लिए जाते हैं। इस प्रकार माध्य रेखा के दोनों ओर बनाए गए छड़ का सम्पूर्ण नाप १०० ही होता है, पर यदि दाएँ ओर के तथ्य का प्रतिशत ५६ है तो माध्य रेखा के दाहिने ओर छड़ का जो हिस्सा दिखाया जाएगा वह ५६ के नाप का ही होगा और बाएँ ओर छड़ का नाप ४४ होगा। इसी प्रकार से दूसरे छड़ भी बनाए जाते हैं। अतः दोनों ओर मिलाकर सभी छड़ों की लम्बाई बराबर होती है, पर माध्य रेखा को आधार मानकर देखने से ऐसा लगता है जैसे कि प्रत्येक छड़ के दो मुख हैं। इसीलिए इन्हें द्विमुखी छड़ कहा जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस बात का और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा—

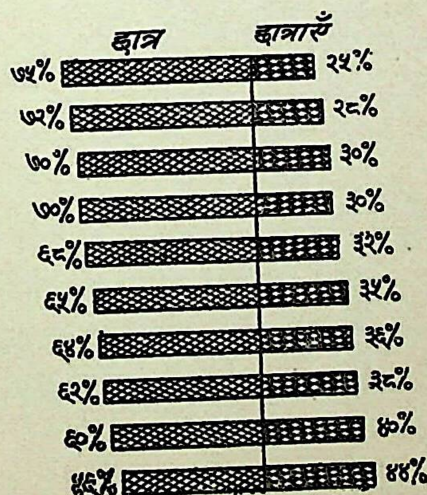
उदाहरण ९—निम्न सारिणी में आगरा विश्वविद्यालय के विभिन्न कालेजों में छात्र व छात्राओं का वितरण प्रतिशत में दिखाया गया है। द्विमुखी छड़ चित्र द्वारा इसे प्रदर्शित कीजिए।

क्रम संख्या	शिक्षा संस्था का नाम	विद्यार्थियों का प्रतिशत	
		छात्र	छात्राएँ
१	आगरा कालेज, आगरा	७५	२५
२	सेंट जोन्स कालेज, आगरा	७२	२८
३	बरेली कालेज, बरेली	७०	३०
४	के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद	७०	३०
५	डी० एस० बी० कालेज, नैनीताल	६८	३२
६	वर्द्धमान कालेज, बिजनौर	६५	३५
७	रज़ा कालेज, रामपुर	६४	३६
८	के० आर० कालेज, मथुरा	६२	३८
९	धर्मराज कालेज, अलीगढ़	६०	४०
१०	वार्ष्णेय कालेज, अलीगढ़	५६	४४

उपरोक्त सारिणी के आधार पर द्विमुखी छड़ चित्र बनाने पर वह इस आकार का होगा (देखिए चित्र संख्या ९)—

चित्र संख्या ९

विभिन्न कालेजों में छात्र व छात्राओं की संख्या का प्रतिशत



(९) युग्म-दिशात्मक छड़ चित्र (Duo-Directional Bar Diagram)

युग्म-दिशात्मक छड़ भी द्विमुखी छड़ ही होते हैं। पर अन्तर केवल इतना होता है कि द्विमुखी छड़ चित्र में माप प्रतिशत में दिखाया जाता है और इसीलिए प्रत्येक छड़ की सम्पूर्ण माप १०० के बराबर ही होती है, जबकि युग्म-दिशात्मक छड़

चित्र में वास्तविक नाप या संख्या प्रदर्शित की जाती है और इसीलिए प्रत्येक छड़ की कुल लम्बाई अलग-अलग होती है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

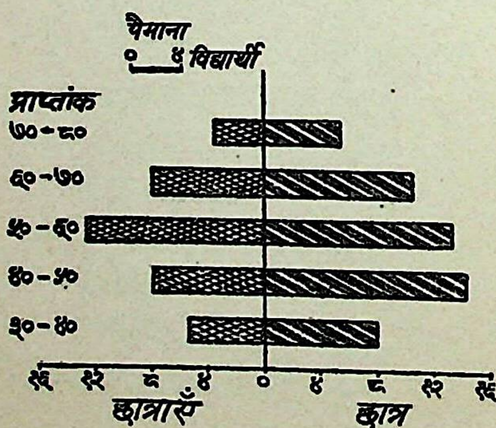
उदाहरण १०—निम्न सारिणी में १०० विद्यार्थियों के गणित में प्राप्तांकों का विवरण दिया गया है। युग्म-दिशात्मक छड़ चित्र द्वारा इसे प्रदर्शित कीजिए।

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या		योग
	छात्र	छात्राएँ	
३०—४०	९	६	१५
४०—५०	१६	९	२५
५०—६०	१५	१४	२९
६०—७०	१२	९	२१
७०—८०	६	४	१०

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर युग्म-दिशात्मक छड़ चित्र बनाने के लिए एक-एक माध्य रेखा खींच ली जाएगी और फिर उसके एक ओर छात्रों की वास्तविक संख्या को प्रदर्शित करने वाले छड़ और दूसरी ओर छात्राओं की वास्तविक संख्या को प्रदर्शित करने वाले छड़ विभिन्न प्राप्तांक समूह के लिए बनाए जाएँगे। इस प्रकार प्रत्येक छड़ की सम्पूर्ण लम्बाई प्रत्येक समूह के कुल विद्यार्थियों की संख्या के अनुसार अलग-अलग होगी। इस प्रकार जो चित्र बनेगा उसका आकार इस प्रकार होगा (देखिए चित्र संख्या १०)—

चित्र संख्या १०

१०० छात्र-छात्राओं के गणित में प्राप्तांक



इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के तथ्यों का स्पष्टीकरण हम नाना प्रकार के छड़ चित्रों द्वारा कर सकते हैं। किस चित्र का उपयोग हम करेंगे यह बहुत-कुछ तथ्यों या आँकड़ों की प्रकृति व अनुसन्धान के उद्देश्य पर निर्भर करता है। सामान्य नियम यही है कि चित्र का चुनाव इस रूप में करना चाहिए कि विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व अधिक स्पष्ट व सुनिश्चित रूप में प्रगट हो।

छड़ चित्रों के कुछ अन्य उदाहरण
(Some Other Examples of Bar Diagrams)

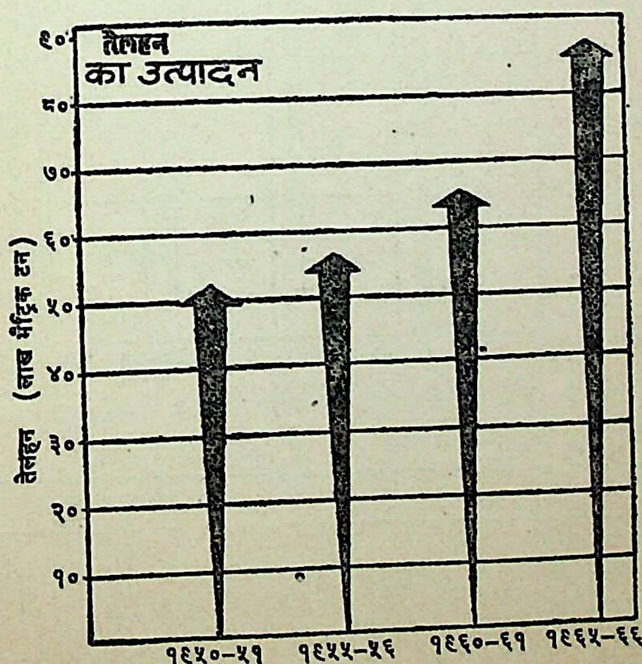
विभिन्न प्रकार के छड़ चित्रों के विषय में हम पिछले पृष्ठों में सचित्र विवेचना अब तक करते रहे हैं। वे सभी छड़ चित्र निश्चित रूप में सांख्यिकीय नियमों पर आधारित हैं। पर कभी-कभी छड़ चित्रों को अधिक रोचक तथा आकर्षक बनाने के लिए छड़ों (bars) का निर्माण बिलकुल सांख्यिकीय नियमों के अनुसार न करके कलात्मक दृष्टिकोण से किया जाता है जिससे कि चित्र की सुन्दरता में वृद्धि हो और वह आँखों को अपील करे। ऐसे ही कुछ छड़ चित्रों के उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

उदाहरण ११—निम्नलिखित सारिणी में भारत में तिलहन का उत्पादन दिखाया गया है। छड़ चित्र द्वारा उसको प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	तिलहन का उत्पादन (लाख मीट्रिक टन)
१९५०-५१	५२
१९५५-५६	५६
१९६०-६१	६५
१९६५-६६	८७

उपरोक्त सारिणी के आधार पर कलात्मक रूप में छड़ चित्र इस प्रकार बनाया जा सकता है (देखिए चित्र संख्या ११)—

चित्र संख्या ११

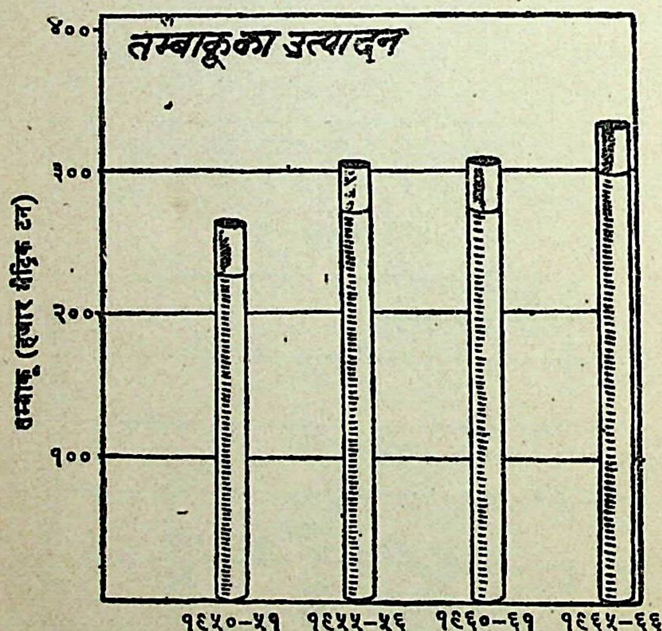


उदाहरण १२—निम्नलिखित सारिणी में भारत में तम्बाकू का उत्पादन दिखाया गया है। छड़ चित्र द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

वर्ष	उत्पादन (हजार मीट्रिक टन)
१९५०-५१	२६६
१९५५-५६	३०५
१९६०-६१	३१०
१९६५-६६	३३३

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर छड़ चित्र वनाने के लिए छड़ों का आकार इस प्रकार बनाया जा सकता है कि वह सिगरेट जैसा प्रतीत हो। चूंकि सिगरेट में तम्बाकू का प्रयोग होता है इसलिए सिगरेट के रूप में वना छड़ तम्बाकू के उत्पादन का वहुत निकटतम प्रतीक वन सकेगा जैसा कि निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट होगा (देखिए चित्र संख्या १२)—

चित्र संख्या १२

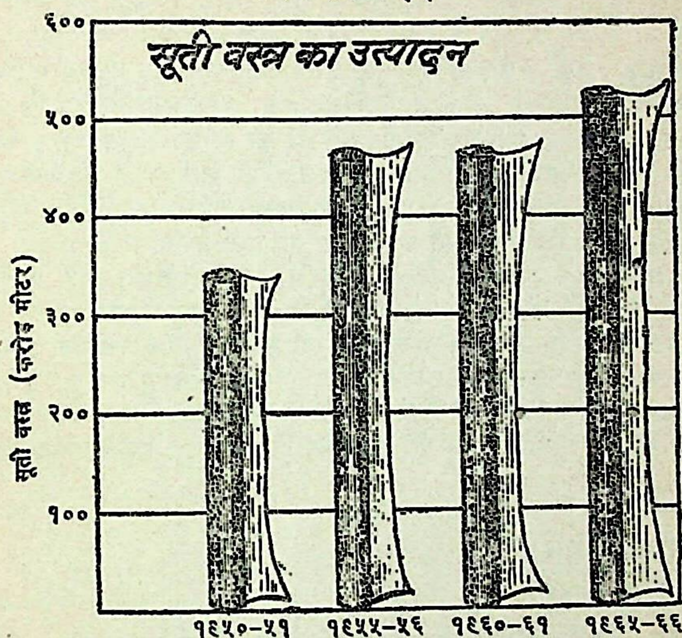


उदाहरण १३—निम्नलिखित सारिणी में भारत में सूती कपड़े का उत्पादन दिखाया गया है। छड़ चित्र द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

वर्ष	सूती वस्त्र (करोड़ मीटर)
१९५०-५१	३६०
१९५५-५६	४६१
१९६०-६१	४६१
१९६५-६६	५३०

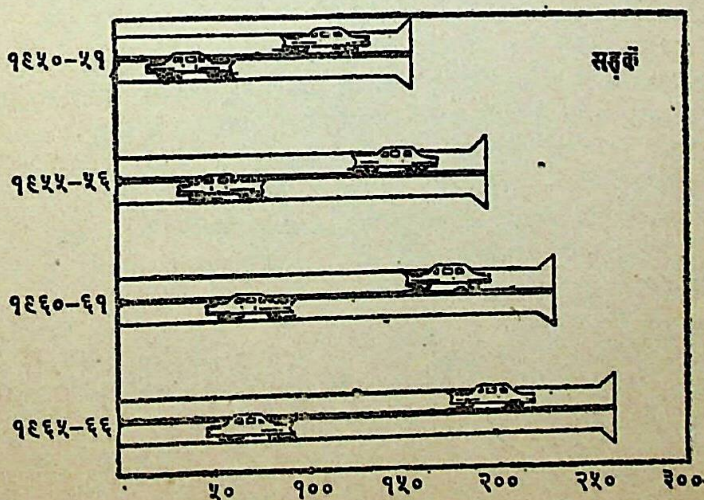
उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर बने निम्न छड़ चित्र में गोलाकार कपड़े के थान को एक-एक छड़ के रूप में प्रदर्शित किया गया है ताकि सूती वस्त्र का उत्पादन और भी सुस्पष्ट रूप में दर्शाया जा सके (देखिए चित्र संख्या १३)—

चित्र संख्या १३



उदाहरण १४—उसी प्रकार मोटर चलाने योग्य सड़कों के विस्तार का प्रदर्शन करने के लिए प्रत्येक छड़ के अन्दर आने और जाने वाली दो मोटरकारों का चित्र देकर उसे अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास निम्नलिखित छड़ चित्र में किया गया है (देखिए चित्र संख्या १४)—

चित्र संख्या १४



दो आयतनात्मक या क्षेत्र चित्र
(Two Dimensional or Area Diagrams)

छड़ चित्रों को "एक" आयतनात्मक चित्र इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें तुलनात्मक रूप में तथ्यों के माप को प्रदर्शित करने के लिए केवल लम्बाई का उपयोग किया जाता है। छड़ की चौड़ाई होते हुए भी वह अर्थहीन होती है, चौड़ाई का उपयोग तो केवल सुन्दरता के दृष्टिकोण से किया जाता है। इसके विपरीत दो आयतनात्मक या क्षेत्र चित्र से लम्बाई व चौड़ाई दोनों का ही उपयोग तथ्यों के माप को दर्शाने के लिए किया जाता है। इसलिए इस प्रकार के चित्रों में विभिन्न तथ्यों की तुलना का आधार केवल लम्बाई न होकर लम्बाई-चौड़ाई दोनों अर्थात् क्षेत्रफल होता है। इसीलिए इन्हें 'क्षेत्र चित्र' भी कहा जाता है। इस प्रकार के चित्रों का उपयोग उस अवस्था में उत्तम माना जाता है जबकि चित्र में प्रदर्शित की जाने वाली छोटी व बड़ी संख्या में १ : १० से अधिक अनुपात हो। जब यह अनुपात अधिक होता है तब भी उनका प्रदर्शन छड़ चित्र द्वारा किया जा सकता है, पर उस अवस्था में पैमाना निर्धारित करने में अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसीलिए दो आयतनात्मक या क्षेत्र चित्रों को ही अधिक पसन्द किया जाता है। इस प्रकार के चित्र तीन तरह के हो सकते हैं। इनमें से प्रत्येक की विवेचना हम यहाँ अलग-अलग सचित्र करेंगे—

(अ) वर्गाकार चित्र
(Square Diagram)

जब चित्र में प्रदर्शित किए जाने वाले तथ्यों या आँकड़ों में परस्पर बहुत अधिक अन्तर होता है तो उसे छड़ चित्र द्वारा प्रदर्शित करना बहुत कठिन होता है। उदाहरणार्थ, ऐसे दो तथ्य या आँकड़े जिनका कि अनुपात १ : १०० अथवा इससे भी अधिक है तो छड़ चित्र बनाने पर वह अत्यन्त भद्दा लगेगा। इसीलिए ऐसे तथ्यों के प्रदर्शन के लिए वर्गाकार चित्रों का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि वर्ग चित्र में लम्बाई अथवा चौड़ाई का महत्त्व नहीं होता है अपितु क्षेत्रफल को महत्त्व दिया जाता है जिसके कारण बहुत बड़े अन्तर वाली संख्याओं को भी वर्ग द्वारा प्रदर्शित करने में सरलता होती है। इस प्रकार के चित्र में लम्बाई व चौड़ाई बराबर होती है। इसे बनाने के लिए सबसे पहले संख्याओं का वर्गमूल निकाला जाता है और उसके बाद उन समस्त वर्गमूलों का अनुपात मालूम किया जाता है। ये अनुपात ही एक-एक वर्ग की भुजा की लम्बाई होती है। ऐसा भी किया जा सकता है कि सभी संख्याओं का अनुपात निकालकर उन अनुपातों का वर्गमूल निकाला जाए और उसी वर्गमूल के अनुसार एक-एक वर्ग बनाया जाए। इससे बहुत बड़ी संख्याओं का वर्गमूल निकालने की कठिनाई से बचा जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरण से वर्गाकार चित्र की प्रकृति और स्पष्ट होगी—

उदाहरण १५—निम्न सारिणी में विभिन्न देशों के द्वारा शक्कर के उत्पादन का वितरण दिखाया गया है। वर्ग चित्र द्वारा इसे प्रदर्शित कीजिए।

देश	शक्कर का उत्पादन (क्विटल में)
भारत	२०,००००००
मिश्र	१,००००००
क्यूबा	३२,००००००
आस्ट्रेलिया	३०,००००००
जापान	५,००००००

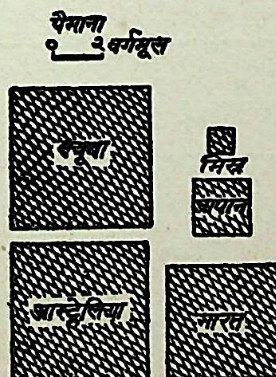
उपरोक्त शक्कर के उत्पादन का सबसे पहले अनुपात निकालना होगा और फिर उनका वर्गमूल निकालकर प्रत्येक वर्ग की भुजा की लम्बाई मालूम करनी होगी जो कि इस प्रकार है—

देश	अनुपात	वर्गमूल
क्यूबा	३२	५·६५
आस्ट्रेलिया	३०	५·४७
भारत	२०	४·४७
जापान	५	२·२३
मिश्र	१	१·००

उपरोक्त वर्गमूल के आधार पर जो वर्गाकार चित्र बनाया जाएगा उसकी आकृति निम्न प्रकार की होगी (देखिए चित्र संख्या १५)—

चित्र संख्या १५

विभिन्न देशों में शक्कर का उत्पादन



उपरोक्त वर्गाकार चित्र में अलग-अलग देशों में शक्कर के उत्पादन को भिन्न-भिन्न वर्ग बनाकर दिखाया गया है। पर यदि आवश्यकता हो तो विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व और भी स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करने के लिए सभी तत्त्वों को एक ही वर्ग में दिखाया जा सकता है। इसके लिए सबसे पहले समस्त आँकड़ों को जोड़ लिया जाता है और उसे दर्शाने के लिए कोई एक पैमाना निश्चित कर लिया जाता

है जो कि न अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा। फिर उस पैमाने के अनुसार एक वर्ग बना लिया जाता है और फिर उस वर्ग के अन्दर विभिन्न तथ्यों या आँकड़ों के महत्त्व अथवा माप के अनुसार अलग-अलग भाग कर लिए जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा—

उदाहरण १६—सन् १९६१ की जनगणना के अनुसार एक नगर विशेष में विभिन्न धर्म के लोगों का विभाजन निम्न प्रकार का है। एक ही वर्ग के अन्तर्गत उनकी तुलनात्मक स्थिति को स्पष्ट कीजिए।

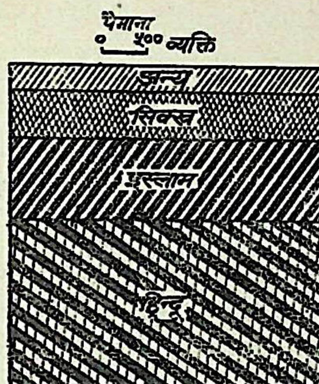
धर्म	अनुयायियों की संख्या (हजारों में)
हिन्दू	१८००
इस्लाम	९००
सिक्ख	५००
अन्य	३००

उपरोक्त सारिणी के आधार पर एक वर्ग बनाने के लिए हमें अनुयायियों की कुल संख्या सर्वप्रथम मालूम करनी होगी जो कि ३५०० है। इसे एक वर्ग के रूप में दिखाने के लिए एक छोटा-सा पैमाना निश्चित करना पड़ेगा। यदि हम प्रति ५०० व्यक्तियों के लिए १ से० मी० निर्धारित करें तो हमारे वर्ग की भुजाओं की नाप ७ सेण्टीमीटर होगी। इसके बाद हमें विभिन्न धर्म के अनुयायियों की तुलनात्मक स्थिति का भी पता करना होगा। जोकि इस प्रकार होगी—

धर्म	अनुयायियों की संख्या	लम्बाई (से० मी०)	संचयी लम्बाई (से० मी०)
हिन्दू	१८००	३·६	३·६
इस्लाम	९००	१·८	५·४
सिक्ख	५००	१·०	६·३
अन्य	३००	०·६	७·०
कुल योग	३५००	७·०	—

उपरोक्त सारिणी के आधार पर जो वर्ग चित्र बनेगा वह इस प्रकार होगा (देखिए चित्र संख्या १६, सामने के पृष्ठ पर)—

चित्र संख्या १६
विभिन्न धर्मों के अनुयायी



(ब) आयताकार चित्र
(Rectangular Diagram)

आयताकार चित्र दो आयतनात्मक या क्षेत्र चित्र का एक दूसरा रूप है। इसमें भी लम्बाई और चौड़ाई दोनों को ही तथ्यों के आधार के रूप में उपयोग में लाया जाता है। इस प्रकार के चित्रों का प्रयोग प्रतिशत परिवर्तन को दर्शाने के लिए किया जाता है और इसीलिए ऐसे चित्र में बनी सभी आयतों (rectangulars) की लम्बाई १०० के बराबर अर्थात् बराबर होती है। इस अर्थ में आयताकार चित्र प्रतिशत छड़ चित्र के ही समान होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि प्रतिशत छड़ चित्र में चौड़ाई का कोई ख्याल नहीं रखा जाता जबकि आयताकार चित्र में विभिन्न तथ्यों के आकार के अनुपात में चौड़ाई निश्चित की जाती है। यह भी हो सकता है कि आयतों की चौड़ाई समान रखी जाए और लम्बाई विभिन्न तथ्यों के अनुपात में हो।

उदाहरण १७—दो परिवारों के पारिवारिक बजट सम्बन्धी आँकड़े निम्नलिखित सारिणी में दिए गए हैं। उनके आधार पर एक आयताकार चित्र बनाइए।

मदें	परिवार 'अ' व्यय (रुपयों में)	परिवार 'ब' व्यय (रुपयों में)
भोजन	३२	२०
वस्त्र	२०	८
आवास	८	४
इंधन	४	२
विविध	१६	६
योग	८०	४०

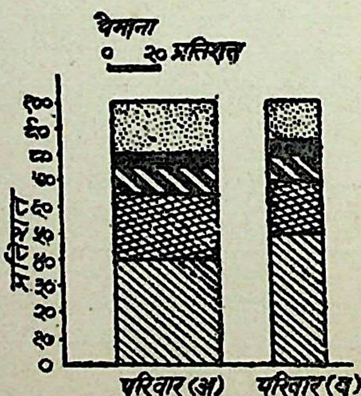
उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर आयताकार चित्र बनाने के लिए दोनों ही परिवारों की आय को १०० मानकर उसी के अनुसार प्रत्येक मद का माप या प्रतिशत मालूम करना होगा और साथ ही आयत को विभाजित करने के लिए संचयी प्रतिशत का भी निर्धारण करना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

मदें	परिवार 'अ'			परिवार 'ब'		
	व्यय (रुपयों में)	प्रतिशत व्यय	संचयी प्रतिशत	व्यय (रुपयों में)	प्रतिशत व्यय	संचयी प्रतिशत
भोजन	३२	४०	४०	२०	५०	५०
वस्त्र	२०	२५	६५	८	२०	७०
आवास	८	१०	७५	४	१०	८०
ईंधन	४	५	८०	२	५	८५
विविध	१६	२०	१००	६	१५	१००
योग	८०	१००	—	४०	१००	—

अब उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर जो दो आयत बनाए जाएँगे उनमें से प्रत्येक आयत (rectangle) की लम्बाई तो १०० के बराबर होगी, पर चौड़ाई दोनों परिवारों के कुल व्यय के अनुपात में होगी। यह अनुपात ८० : ४० अर्थात् २ : १ है। अब दोनों आयतों की लम्बाई में से प्रतिशत अंकों के अनुसार व्यय की मदों के अलग-अलग आयत काट लिए जाएँगे। अब चित्र की आकृति इस प्रकार की होगी (देखिए चित्र संख्या १७)—

चित्र संख्या १७

दो परिवारों का व्यय (प्रतिशत में)



(स) वृत्ताकार या पाई चित्र

(Circular or Pie Diagram).

दो या अधिक तथ्यों की तुलना करने के लिए वर्गों की भाँति वृत्ताकार चित्रों का भी उपयोग किया जाता है। इन दोनों प्रकार के चित्रों में क्षेत्रफल का महत्त्व

होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि वर्गों में तुलनात्मक तथ्यों या आँकड़ों के वर्गमूल के अनुसार वर्ग की भुजा की लम्बाई निर्धारित होती है जबकि वृत्ताकार चित्रों में वही वर्गमूल अर्द्धव्यास (radius) की माप हो जाती है। यदि यह वर्गमूल वृत्त खींचने के लिए बहुत बड़ा है तो एक पैमाना मानकर वर्गमूलों को समानुपात रूप में छोटा कर लिया जा सकता है। वृत्ताकार चित्र दो प्रकार के होते हैं—

(i) **सरल वृत्त** (Simple Circle)—इस प्रकार के चित्र में अलग-अलग वर्ग या श्रेणी के तुलनात्मक महत्त्व या परिमाण को दर्शाने के लिए अलग-अलग वृत्तों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के वृत्त उपरोक्त नियम के अनुसार बनाए जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा सरल वृत्ताकार चित्र की प्रकृति का स्पष्टीकरण किया जा सकता है—

उदाहरण १८—निम्नलिखित सारिणी में कुछ देशों की सन् १९३१ की जनसंख्या का विवरण दिया गया है। इसका प्रदर्शन एक वृत्ताकार चित्र द्वारा कीजिए।

देश	जनसंख्या (००० में)
चीन	४११,७७०
भारत	३५२,३७०
सोवियत रूस	१६१,०००
अमेरिका	१२४,०७०
जर्मनी	६४,७७६
जापान	४६,०७७

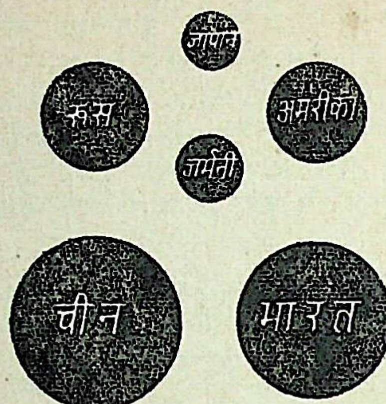
उपरोक्त आँकड़ों को एक वृत्ताकार चित्र में प्रदर्शित करने के लिए प्रत्येक देश की जनसंख्या का वर्गमूल और उसी के आधार पर प्रत्येक वर्ग के अर्द्धव्यास को मालूम करना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

देश	जनसंख्या (००० में)	वर्गमूल	अर्द्धव्यास से० मी० में (पैमाना ४०० वर्गमूल = १ से० मी०)
चीन	४११,७७०	६४१·७	१·६
भारत	३५२,३७०	५९३·६	१·५
सोवियत रूस	१६१,०००	४०१·२	१·०
अमेरिका	१२४,०७०	३५२·२	०·९
जर्मनी	६४,७७६	२५४·५	०·६
जापान	४६,०७७	२१४·६	०·५

उपरोक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि विभिन्न देशों की जनसंख्या को सरल वृत्तों द्वारा प्रदर्शित करने के लिए सर्वप्रथम प्रत्येक देश की जनसंख्या का वर्गमूल निकाला गया है, पर चूँकि ये वर्गमूल इतने बड़े हैं कि इनका उपयोग वृत्तों के अर्द्धव्यास (radius) के रूप में करना असम्भव है इसलिए एक सुविधाजनक पैमाना निर्धारित करके वर्गमूलों का एक अनुपात निकाल लिया गया है। ऐसा करने में ४०० वर्गमूल को एक सेण्टीमीटर के बराबर माना गया है। इस अनुपात से जो वृत्ताकार चित्र बनेगा वह चित्र संख्या १८ की तरह होगा—

चित्र संख्या १८

विभिन्न देशों की जनसंख्या



(ii) **अन्तर्विभक्त वृत्त** (Sub-divided Circle)—जिस प्रकार छड़, वर्ग तथा आयत को विभाजित करके तथ्यों के तुलनात्मक परिमाणों को स्पष्ट किया जाता है उसी प्रकार वृत्त को भी अन्तर्विभक्त करके तुलनात्मक महत्त्व को प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार के वृत्ताकार चित्र के दो सम्भावित रूप हो सकते हैं—पहला तो यह कि एक ही वृत्त को अन्तर्विभक्त करके हम विभिन्न श्रेणियों के तुलनात्मक परिमाणों को प्रदर्शित करें जैसे कि एक परिवार के कुल मासिक व्यय को एक वृत्त द्वारा प्रदर्शित करके उसे विभिन्न मदों पर होने वाले प्रति माह खर्च के अनुसार अन्तर्विभक्त कर दें जिससे कि उस वृत्त को देखकर प्रति माह विभिन्न मदों पर होने वाले खर्च का तुलनात्मक अनुमान लगाया जा सके। उसी प्रकार एक वृत्त को अन्तर्विभक्त करके विभिन्न भाषाओं को बोलने वालों की संख्या या प्रतिशत को प्रदर्शित किया जा सकता है। स्मरण रहे कि इस प्रकार के अन्तर्विभक्त वृत्ताकार चित्रों द्वारा केवल एक ही घटना के विभिन्न पक्षों का तुलनात्मक महत्त्व स्पष्ट होता है। जैसे एक ही परिवार के परिवार-बजट के विभिन्न मदों का या एक ही प्रदेश में रहने वाले विभिन्न भाषा-समूहों का स्पष्टीकरण इस प्रकार के अन्तर्विभक्त वृत्ताकार चित्रों द्वारा किया जा सकता है। पर अन्तर्विभक्त वृत्ताकार चित्रों का एक दूसरा रूप भी होता है जिसमें कि एकाधिक घटनाओं का तुलनात्मक महत्त्व प्रदर्शित किया जा सकता है। इसमें प्रत्येक घटना के लिए एक वृत्त ले लिया जाता है और उनमें से प्रत्येक वृत्त को अन्तर्विभक्त किया जाता है। अर्थात् इस प्रकार के वृत्ताकार चित्र में दो या अधिक वृत्तों को अन्तर्विभक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हमें चार परिवारों द्वारा विभिन्न मदों पर किए जाने वाले मासिक व्यय को प्रदर्शित करना है तो हम पहले प्रत्येक परिवार के मासिक व्यय के अनुपात में चार वृत्त बनाएँगे और उनमें से प्रत्येक वृत्त को सम्बन्धित परिवार द्वारा विभिन्न मदों पर किए जाने वाले मासिक खर्च के अनुसार अन्तर्विभक्त कर देंगे।

जब एक ही वृत्त को अन्तर्विभक्त करना हो तो वृत्त के आकार को अपनी सुविधानुसार कितना ही बड़ा बनाया जा सकता है। इसके बाद उस वृत को अन्तर्विभक्त किया जाता है। अन्तर्विभक्त करने का नियम यह है कि वृत्त के केन्द्रबिन्दु पर

के समस्त कोणों का मूल्य चूंकि ३६०° के बराबर होता है, इसलिए वृत्त में प्रदर्शित किए जाने वाले आँकड़ों के कुल माप को ३६०° के बराबर माना लिया जाता है और उसी के अनुसार विभिन्न आँकड़ों के लिए कोण की माप मालूम कर ली जाती है। इसका सूत्र संक्षेप में इस प्रकार है—

$$\text{प्रत्येक अंश का कोण-मूल्य} = \frac{\text{अंश की माप}}{\text{कुल माप}} \times ३६०$$

यदि कोण-मूल्य पूर्णांक में न आवे तो उसे कुछ घटा-बढ़ाकर इस प्रकार पूर्णांक में कर लेना चाहिए कि समस्त कोण-मूल्यों का योग ३६० के बराबर ही हो। निम्नलिखित उदाहरण से इस प्रकार के वृत्ताकार चित्र की प्रकृति स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण १९—निम्न सारिणी में विभिन्न देशों से भारत द्वारा शीशे के सामान के आयात का विवरण दिया गया है। अन्तर्विभक्त वृत्त चित्र द्वारा इसे प्रदर्शित कीजिए।

(१९६६-१९६७)

देश	आयात की राशि (लाख रुपयों में)
जापान	४२
यूगोस्लाविया	२३
जर्मनी	२०
इंगलैण्ड	१३
बेल्जियम	१३
अन्य देश	११
योग	१२२

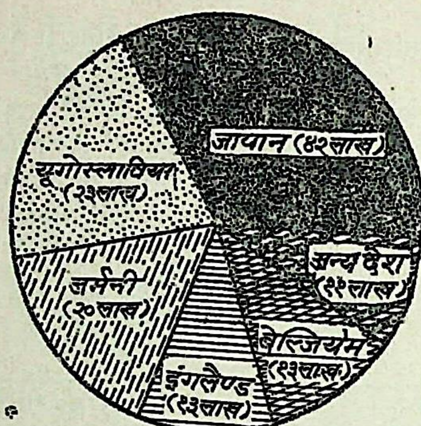
उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर अन्तर्विभक्त वृत्त बनाने के लिए हमें प्रत्येक देश की आयात की राशि का कोण-मूल्य कुल माप को अर्थात् १२२ को ३६० डिग्री के बराबर मानकर उपरोक्त सूत्र के अनुसार निकालना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

देश	आयात की राशि (लाख रुपयों में)	कोणों का मूल्य
जापान	४२	१२३·९
यूगोस्लाविया	२३	६७·९
जर्मनी	२०	५९·०
इंगलैण्ड	१३	३८·४
बेल्जियम	१३	३८·४
अन्य देश	११	३२·४
योग	१२२	३६०·०

अब पीछे दिए हुए उदाहरण १८ के अनुसार अर्द्धव्यास लेकर एक वृत्त खींचेंगे। तत्पश्चात् उसमें प्रत्येक देश की आयात की राशि को दिखाने के लिए कोणों के उपरोक्त मूल्यों के अनुपात में वृत्त को अन्तर्विभक्त करने पर उसकी आकृति चित्र संख्या १९ की तरह होगी (देखिए पृष्ठ ४७० पर)—

चित्र संख्या १९

विभिन्न देशों से भारत द्वारा शीशे के सामान के आयात की राशि



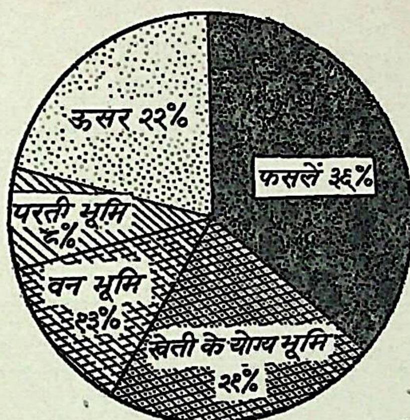
उदाहरण २०—अन्तर्विभक्त वृत्त उस अवस्था में भी बनाया जा सकता है जब कि विभिन्न तथ्यों का मूल्य प्रतिशत में दिया गया हो जैसा कि निम्नलिखित सारिणी से स्पष्ट होगा—

भारत में भूमि का विभाजन	कुल भूमि का प्रतिशत
फसलें	३६
ऊसर	२२
खेती के योग्य भूमि	२१
वन भूमि	१३
परती भूमि	८
योग	१००

अब प्रत्येक कोण के अंश का मूल्य $\frac{३६०}{१००}$ = ३·६ का गुणा प्रत्येक प्रकार की भूमि के प्रतिशत से करने पर प्राप्त होगा और उस आधार पर जो अन्तर्विभक्त वृत्त बनेगा वह इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या २०, सामने के पृष्ठ पर)—

चित्र संख्या २०

भारत में भूमि का विभाजन



यदि दो या अधिक वृत्तों को अन्तर्विभक्त करना हो तो उसके लिए नियम कुछ अलग हैं। इसमें वृत्तों के आकार को मनमाने ढंग से निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके लिए यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक वर्ग के कुल माप का वर्गमूल निकाल लिया जाता है और यह वर्गमूल ही एक-एक वृत्त के अर्द्धव्यास (radius) की माप हो जाती है। संक्षेप में प्रत्येक वृत्त को उसी तरीके से बनाया जाता है जैसा कि सरल वृत्ताकार चित्रों में (देखिए उदाहरण नं० १८)। इस प्रकार विभिन्न आकार के वृत्त बन जाने के बाद प्रत्येक वृत्त को उसी प्रकार अन्तर्विभक्त किया जाता है जैसे कि उदाहरण नं० १९ में स्पष्ट किया गया है अर्थात् सम्पूर्ण मूल्य या माप को ३६०° के बराबर मानकर प्रत्येक अंश का कोण-मूल्य निकालकर उसी अनुसार प्रत्येक वृत्त को अन्तर्विभक्त किया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण २१—अमेरिका और भारत में पाए जाने वाले घोड़े, गधों और खच्चरों की संख्या के निम्न उल्लेखित विवरण से अन्तर्विभक्त वृत्तों की रचना की गई है।

देश	घोड़े	गधे	खच्चर	योग
भारत	१,७८०	५०	१,१८६	३,०१६
अमेरिका	१०,६२९	४,१६३	४८	१४,८४०

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि यदि दो या अधिक वृत्तों को अन्तर्विभक्त करना होता है तो हमें दो बातों का निर्धारण करना पड़ता है—(१) विभिन्न वृत्तों का आकार या अर्द्धव्यास (radius) क्या हो ? और (२) प्रत्येक वृत्त के अन्दर बनाए जाने वाले कोणों का मूल्य क्या हो ? उपरोक्त सारिणी के आधार पर इन दोनों प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार होगा—

(१) वृत्तों का आकार

देश	पशुओं का कुल योग	कुल योग का वर्गमूल	वृत्तों का अर्द्धव्यास
भारत	३,०१६	५४·९	१·८३ से० मी०
अमेरिका	१४,८४०	१२१·८	४·०६ से० मी०

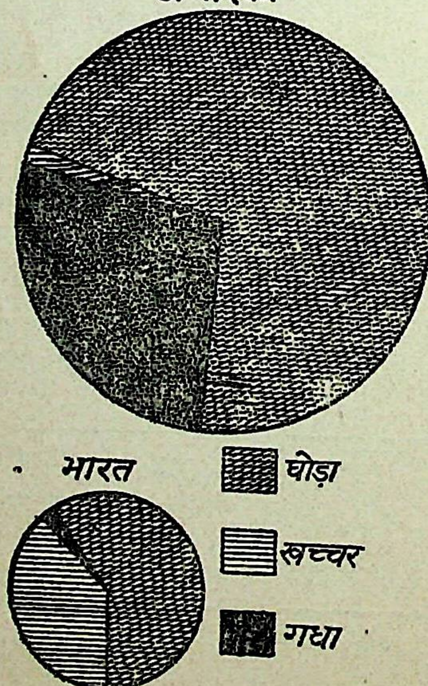
(२) प्रत्येक अंश का कोण-मूल्य

पशु	भारत	कोण-मूल्य	अमेरिका	कोण-मूल्य
घोड़े	१,७८०	२१२·५	१०,६२९	२५७·८
गधे	५०	६·०	४,१६३	१०१·०
खच्चर	१,१८६	१४१·५	४८	१·२
योग	३,०१६	३६०·०	१४,८४०	३६०·०

अब उपरोक्त दोनों आधार पर जो दो वृत्त तथा उनके अन्तर्विभाजन की रचना होगी वह इस प्रकार होगी (देखिए चित्र संख्या २१)—

चित्र संख्या २१

पशुधन



उदाहरण २२—यदि दो या दो से अधिक घटनाओं के विभिन्न तथ्यों का प्रतिशत पता हो तो भी उससे अन्तर्विभक्त वृत्तों की रचना की जा सकती है जैसा कि निम्नलिखित सारिणी व चित्र से स्पष्ट होगा—

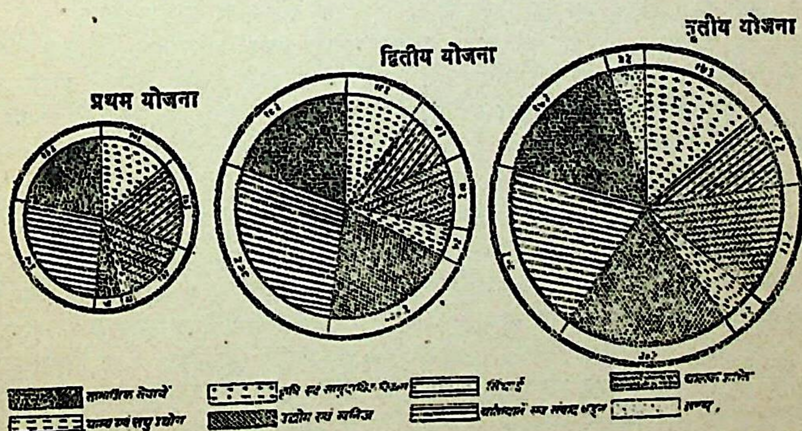
पंचवर्षीय योजनाएँ

मदें	कुल व्यय २,३५६ करोड़ रु०	कुल व्यय ४,६०० करोड़ रु०	कुल व्यय ७,५०० करोड़ रु०
	कुल व्यय का प्रतिशत	कुल व्यय का प्रतिशत	कुल व्यय का प्रतिशत
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	१५	११	१४
२. सिंचाई	१६	९	९
३. चालक शक्ति	१३	१०	१३
४. ग्राम्य एवं लघु उद्योग	२	४	४
५. उद्योग एवं खनिज	४	२०	२०
६. यातायात एवं संवाद वहन	२७	२८	२०
७. सामाजिक सेवाएँ	२३	१८	१७
८. अन्य	×	×	३
योग	१००	१००	१००

उपरोक्त सारिणी के आधार पर प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के व्यय को प्रदर्शित करने के लिए एक-एक अन्तर्विभक्त वृत्त उदाहरण २० के अनुसार बनेगा जो कि चित्र संख्या २२ की तरह होगा—

चित्र संख्या २२

पंचवर्षीय योजनाओं का विभिन्न मदों पर व्यय का प्रतिशत



तीन आयतनात्मक चित्र

(Three Dimensional Diagrams)

यदि चित्र में प्रदर्शित की जाने वाली सबसे छोटी तथा सबसे बड़ी माप में १ : १०० से अधिक अन्तर हो तो क्षेत्र चित्रों को बनाना भी कठिन हो जाता है। इस

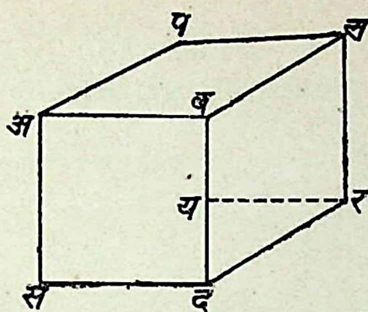
कठिनाई को दूर करने के लिए तीन आयतनात्मक चित्रों को बनाया जाता है। यह तीन आयतनात्मक इसलिए कहलाते हैं क्योंकि इनमें लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई तीनों माप ली जाती हैं और इसीलिए तथ्यों या आँकड़ों की तुलना क्षेत्रफल के आधार पर न करके आयतन (volume) के आधार पर की जाती है। इस प्रकार के चित्र मुख्यत: तीन होते हैं—घनाकार चित्र (Cubes), लम्बाकार चित्र (Cylinders) तथा गोलाकार चित्र (Globes)।

घनाकार चित्र
(Cubes)

घनाकार चित्र बनाने के लिए सर्वप्रथम कुल माप का घनमूल (cube root) निकालना होगा। यह घनमूल ही बनाए जाने वाले घन की भुजा की लम्बाई होगी। यह स्मरण रहे कि घन की प्रत्येक भुजा का माप बराबर होगा जिससे कि चित्र में घन की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई बराबर-बराबर रहे। घन की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई यदि बराबर न हुई तो घनमूल, जिसे कि इस प्रकार के चित्र का आधार बनाया जाता है, निकालने का कोई अर्थ ही नहीं होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वर्ग का कुल माप २७ है, तो उसका घनमूल ३ होगा। यदि घनाकार चित्र में घन की लम्बाई, चौड़ाई व मोटाई बराबर न हुई अर्थात् यदि लम्बाई ३, चौड़ाई २ तथा मोटाई ३ हुई तो कुल माप २७ न होकर ३ × २ × ३ = १८ ही होगी। यदि सभी भुजाएँ बराबर हुई तो यह माप ३ × ३ × ३ = २७ होगी। यही यथार्थ माप है। अत: घन की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई का बराबर होना अनिवार्य है।

एक घन बनाने के लिए सर्वप्रथम घनमूल का माप लेकर एक वर्ग बनाया जाता है। फिर उस वर्ग की लम्बाई की एक भुजा के केन्द्रविन्दु या मध्यविन्दु पर एक लम्ब ऐसा खींचा जाएगा जिसकी लम्बाई घन की भुजा के बराबर हो। फिर उस लम्ब के दूसरे सिरे पर एक खड़ी लाइन घन की भुजा के बराबर खींचकर उसके दोनों सिरों को आरम्भ में बनाए गए वर्ग के दो सिरों से जोड़ देना होगा। इस प्रकार करने से एक दूसरा वर्ग तैयार हो जाएगा। फिर इस नए वर्ग के ऊपरी सिरे से भुजा की लम्बाई के बराबर एक चाप प्रथम वर्ग के ऊपरी भाग के ऊपर लगाएँगे और दूसरा चाप प्रथम वर्ग के ऊपरी कोने से उसी माप का लगाएँगे। ये दोनों चाप जहाँ एक-दूसरे को काटेंगे उस विन्दु से उन सिरों को जोड़ देंगे जहाँ से ये दोनों चाप लगाए गए थे। यही घन चित्र का रूप होगा। एक उदाहरण द्वारा इसे और भी स्पष्ट रूप में समझाया जा सकता है। मान लीजिए कुल माप का घनमूल १ है, तो एक इंच की एक भुजा वाला एक वर्ग अ ब स द बना लीजिए। इसके बाद ब द भुजा के मध्यविन्दु से एक लम्ब य र खींचिए। फिर द को केन्द्र मानकर एक इंच का एक चाप इस लम्ब पर लगाइए जो कि लम्ब को र पर काटता है। फिर द र को मिला दीजिए। इसके पश्चात् र से एक लम्ब र ल १ इंच का खींचिए। फिर ब ल को मिला दीजिए तो एक और वर्ग ब द र ल बन जाएगा। फिर ल और अ को केन्द्र मानकर १ इंच का एक-एक चाप लगाइए जो कि एक-दूसरे को प पर काटेंगे। फिर अ प और प ल को मिला दीजिए। अब अ स द र ल प घन चित्र बन जाएगा जैसा कि अगले पृष्ठ पर चित्र संख्या २३ में दिखाया गया है—

चित्र संख्या २३



उदाहरण २३—निम्नलिखित सारिणी में कुछ भारतीय प्रदेशों व कुर्ग में चाय का उत्पादन दिखाया गया है। इसे घनाकार चित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

प्रदेश	सन् १९६७ में उत्पादन (पौण्ड में)
बंगाल	१,१२,२९०
मद्रास	३८,८७२
बिहार	१,३३५
कुर्ग	१३०

उपरोक्त सारिणी के आधार पर एक घनाकार चित्र बनाने के लिए, जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, सबसे पहले उत्पादनों का अनुपात तथा घनमूल निकालना होगा ताकि घन की भुजा की लम्बाई निर्धारित की जा सके। निम्नलिखित सारिणी में यही दिखाया गया है—

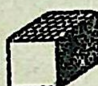
प्रदेश	उत्पादन (पौण्ड में)	उत्पादन अनुपात	घनमूल	घन की भुजा से॰मी॰ में (पैमाना ५ घन= २ से॰मी॰)
बंगाल	१,१२,२९०	८६४	९·६	३·८४
मद्रास	३८,८७२	२९९	६·७	२·६८
बिहार	१,३३५	१०	२·२	०·८८
कुर्ग	१३०	१	१·०	·०४

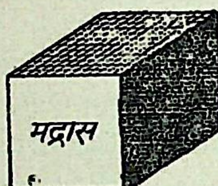
उपरोक्त आधार पर जो घनाकार चित्र बनेगा वह इस प्रकार का होगा देखिए चित्र संख्या २४)—

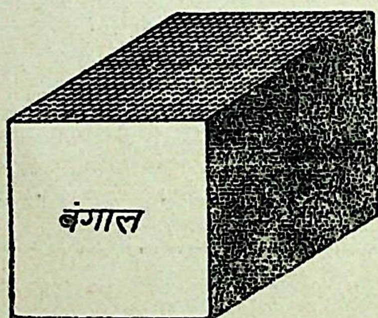
चित्र संख्या २४

विभिन्न प्रदेशों में चाय का उत्पादन









चित्रलेख
(Pictograms)

जैसा कि नाम से स्पष्ट है चित्रलेख में तथ्यों या आँकड़ों के तुलनात्मक परिमाणों को चित्रों (Pictures) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। यह प्रदर्शन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक तो चित्र के आकार या लम्बाई के आधार पर और दूसरा चित्रों की संख्या के आधार पर। इस प्रकार चित्रों द्वारा तथ्यों को प्रदर्शित करने का एकमात्र उद्देश्य प्रस्तुतीकरण को अधिक रोचक तथा आकर्षक बनाना होता है। चित्रों द्वारा दो प्रकार से तुलना की जा सकती है—

(अ) परिमाण, आकार अथवा लम्बाई द्वारा—चित्रों के क्षेत्रफल, आकार अथवा लम्बाई को ध्यान में रखकर तस्वीरों द्वारा अन्तर दिखाने के लिए इस विधि का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि राष्ट्रीय आय की वृद्धि अथवा कमी को दिखाना हो तो बड़े अथवा छोटे आकार की थैलियों द्वारा उसे दिखाया जा सकता है। विभिन्न वर्षों में जैसे-जैसे वार्षिक आय बढ़ या घट रही है उसी अनुपात में थैलियों का आकार भी क्रमशः बढ़-घट सकता है। उसी प्रकार जैसे-जैसे डॉक्टरों की संख्या विभिन्न वर्षों में बढ़ रही है वैसे-वैसे डॉक्टरों की लम्बाई को भी क्रमशः बढ़ाकर चित्र

में दिखाया जा सकता है। निम्नलिखित उदाहरणों से इस प्रकार के चित्रलेखों की प्रकृति स्पष्ट हो ज़ाएगी।

उदाहरण २४—भारत में विभिन्न वर्षों में प्रति व्यक्ति आय (per capita income) को निम्नलिखित सारिणी में दिखाया गया है। उपयुक्त चित्रलेख द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

वर्ष	प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)
१९६१-६२	३०३
१९६२-६३	३३९
१९६३-६४	३७०
१९६४-६५	४२६

प्रति व्यक्ति आय में उपरोक्त वृद्धि को छोटे-बड़े आकार की थैलियों द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है (देखिए चित्र संख्या २५)—

चित्र संख्या २५

प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)

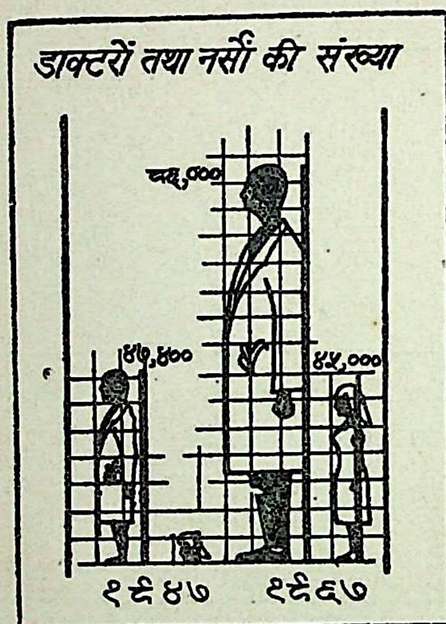
१९६१-६२	१९६२-६३	१९६३-६४	१९६४-६५
३०३	३३९	३७०	४२६

उदाहरण २५—निम्नलिखित सारिणी में भारत में सन् १९४७ तथा सन् १९६७ में डॉक्टरों तथा नर्सों की संख्या दिखाई गई है। उपयुक्त चित्रलेख द्वारा उनकी संख्या में होने वाली वृद्धि को प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	डॉक्टरों की संख्या	नर्सों की संख्या
१९४७	४७,४००	७,०००
१९६७	८६,०००	४५,०००

उपरोक्त वृद्धि को हम डॉक्टरों तथा नर्सों की लम्बाई के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं (देखिए चित्र संख्या २६)—

चित्र संख्या २६

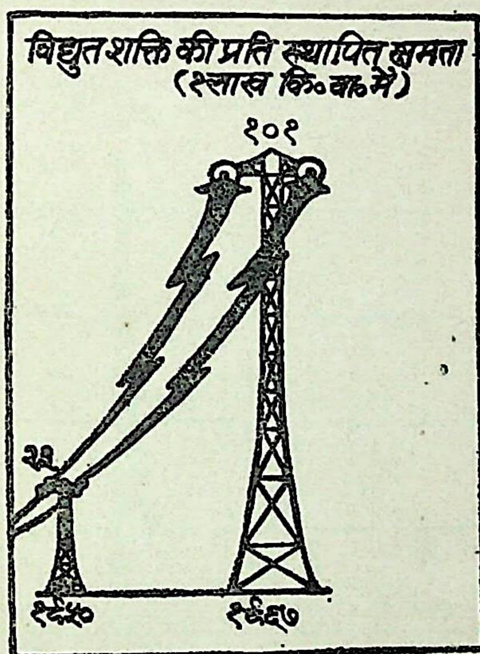


उदाहरण २६—निम्नलिखित सारिणी में भारत की विद्युत् शक्ति की प्रतिस्थापित क्षमता (installed electricity power capacity), जो सन् १९५० व १९६७ में थी, दिखाया गया है। उपयुक्त चित्रलेख द्वारा इस वृद्धि को प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	विद्युत् शक्ति की प्रतिस्थापित क्षमता (एक लाख किलोवाट में)
१९५०	२३
१९६७	१०१

उपरोक्त वृद्धि को हम बिजली के खम्भों की ऊँचाई के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं (देखिए चित्र संख्या २७)—

चित्र संख्या २७

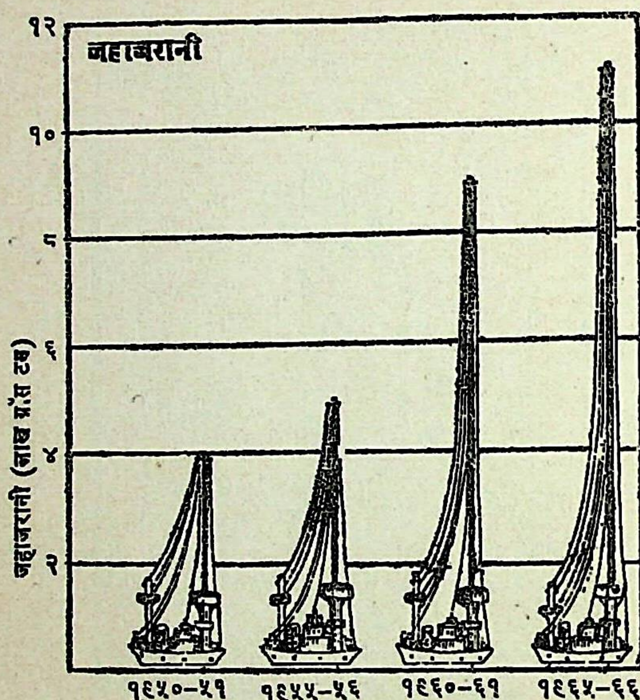


उदाहरण २७—निम्नलिखित सारिणी में विभिन्न वर्षों में जहाजरानी (shipping) में हुई प्रगति को दिखाया गया है। उसे उपयुक्त चित्रलेख द्वारा प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	जहाजरानी (लाख ग्रॉस टन में)
१९५०-५१	४
१९५५-५६	५
१९६०-६१	९
१९६५-६६	११

(अ) चित्र द्वारा—उपरोक्त वृद्धि को हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं (देखिए चित्र संख्या २८)—

चित्र संख्या २८



(ब) संख्या द्वारा—दूसरी विधि तस्वीरों की संख्या द्वारा तुलनात्मक प्रदर्शन करना है। इसमें चित्रों का आकार या ऊँचाई एक-सी रहती है, परन्तु चित्रों की संख्या घटती-बढ़ती रहती है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है—

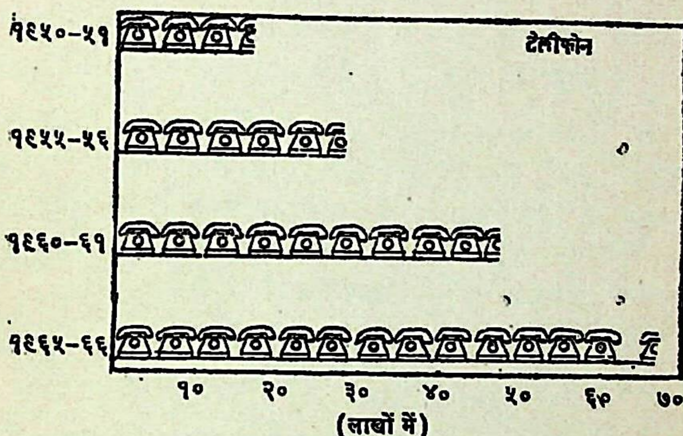
उदाहरण २८—निम्न सारिणी में भारत में टेलीफोनों की बढ़ती हुई संख्या का उल्लेख किया गया है। चित्रलेख द्वारा उसे प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	टेलीफोनों की संख्या (हजार में)
१९५०-५१	१६८
१९५५-५६	२८०
१९६०-६१	४६०
१९६५-६६	६६०

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर टेलीफोनों की संख्या में हुई वृद्धि को हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं (देखिए चित्र संख्या २९)—

चित्र संख्या २९

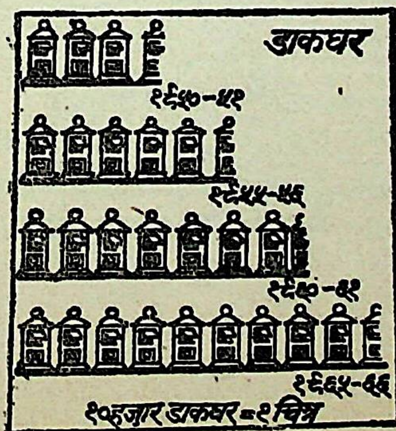
टेलीफोनों की संख्या में वृद्धि



उसी प्रकार देश की बढ़ती हुई डाकघरों की संख्या को नीचे दिए गए चित्र संख्या ३० द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—

चित्र संख्या ३०

डाकघरों की संख्या में वृद्धि

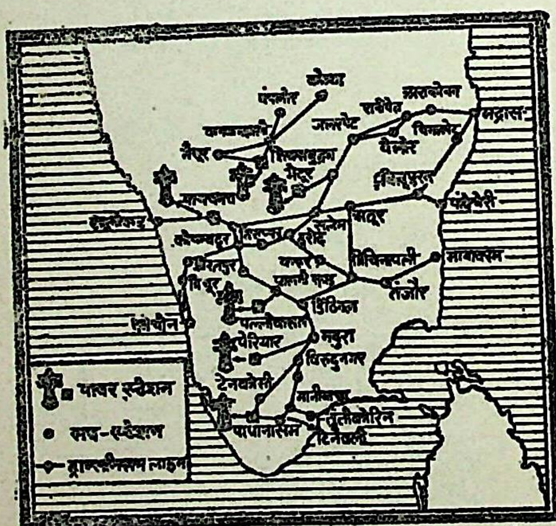


मानचित्र
(Maps or Cartograms)

सामाजिक अनुसन्धान में मानचित्रों का भी उपयोग अत्यधिक किया जाता है क्योंकि विषय की प्रकृति को समझने के लिए तथा विभिन्न तथ्यों के वितरण को दर्शाने के लिए मानचित्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त मानचित्रों द्वारा क्षेत्रीय जनसंख्या, आवास, उपज आदि के विषय में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। मानचित्र चार प्रकार के होते हैं—

(अ) आधार मानचित्र (Base Map)—इस प्रकार के मानचित्रों द्वारा अध्ययन किए जाने वाले क्षेत्र के भौतिक तथा सामाजिक तथ्यों को प्रदर्शित किया जाता है। आधार मानचित्र में सड़कें, तालाब, खेत, स्कूल, डाकखाना, स्टेशन, विद्युत् घर, बाजार, कारखाना आदि दिखाया जा सकता है। नीचे दिए गए मानचित्र (चित्र संख्या ३१) में दक्षिण भारत की जल-विद्युत् योजनाएँ दिखाई गई हैं—

चित्र संख्या ३१

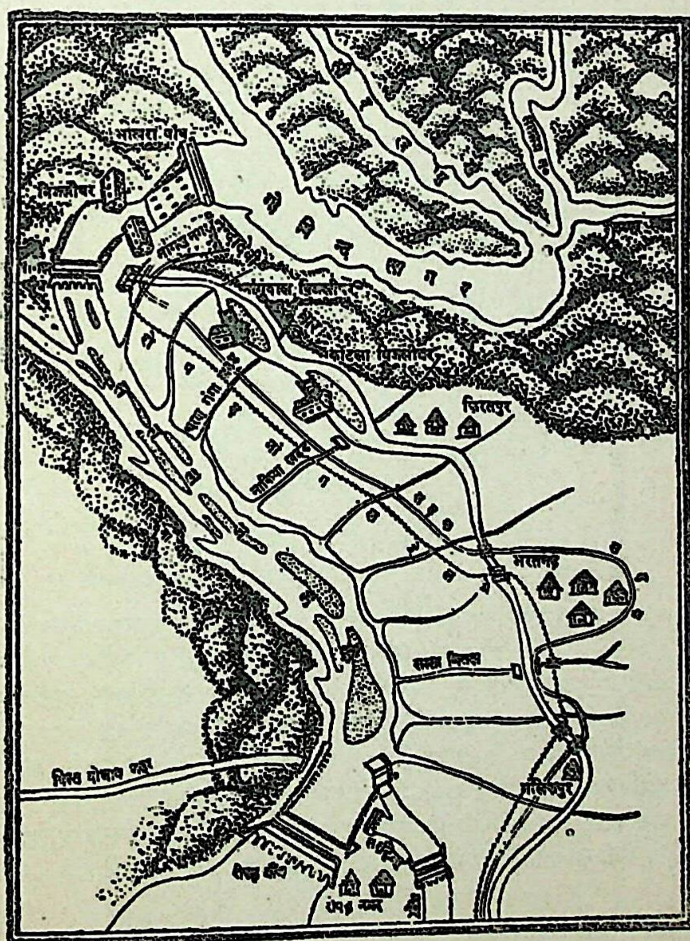


दक्षिण भारत की जल-विद्युत् योजनाएँ

(ब) स्थल चित्र (Spot Map)—इन मानचित्रों को प्रतीकात्मक मानचित्र भी कहा जाता है क्योंकि ऐसे मानचित्रों में किसी नगर, स्थान या गाँव की जनसंख्या की शिक्षा, धर्म आदि अथवा किसी योजना की रूपरेखा का विवरण प्रतीकों का प्रयोग करके प्रदर्शित किया जाता है। नीचे दिए गए मानचित्र (चित्र संख्या ३२) में भाखरा बाँध की स्थिति को कुछ प्रतीकों द्वारा दिखाया गया है—

चित्र संख्या ३२

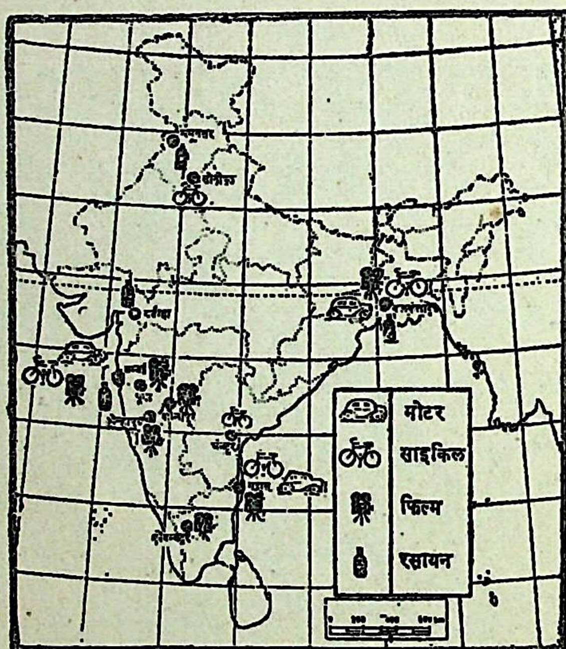
भाखरा बाँध



(स) आनुपातिक मानचित्र (Cross hatched or Shaded Map)—इस प्रकार के मानचित्रों में विभिन्न सामाजिक तथ्यों का अनुपात दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए किसी देश अथवा नगर में शिक्षितों की संख्या दिखाने मात्र से ही यह मालूम नहीं हो पाता है कि उस क्षेत्र में शिक्षा का कितना प्रसार है; अतः यह आवश्यक होता है कि सम्पूर्ण जनसंख्या के संदर्भ में शिक्षित लोगों का अनुपात दिखाया जाए। आनुपातिक मानचित्र में इसी प्रकार के अनुपात को दिखाया जाता है।

(द) **चित्रमय मानचित्र (Diagrammatic Map)**—इस प्रकार के मानचित्रों में भिन्न-भिन्न तथ्यों को प्रगट करने के लिए अलग-अलग चित्रों का प्रयोग मानचित्र के अन्तर्गत किया जाता है। नीचे दिए गए मानचित्र (देखिए चित्र संख्या ३३) में मोटर, साइकिल, फिल्म तथा रसायन के उत्पादनों का वितरण भारत के मानचित्र में अलग-अलग चित्रों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है—

चित्र संख्या ३३



उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि तथ्यों के चित्रमय प्रदर्शन के अनेक प्रकार हैं जो कि नाना रंग और रूप में प्रदर्शित किए जाते हैं। ये सभी प्रदर्शन कुछ निश्चित नियमों पर आधारित हैं, पर कभी-कभी चित्रों को अधिक आकर्षक और रुचिकर बनाने के लिए इन नियमों का उल्लंघन भी थोड़ा-बहुत कर लिया जाता है जिसे कि प्रायः दोष नहीं माना जाता है और यही उचित है क्योंकि इसके बिना चित्रों में पूर्ण व्यावहारिकता व रोचकता पनप नहीं पाती है। चित्रों की वास्तविक उपयोगिता तो तभी है जब कि उनमें सांख्यिकीय परिशुद्धता के साथ-साथ सुन्दरता व आकर्षकता भी बनी रहे। एक सार्थक चित्र में इन दोनों का समन्वय अनिवार्य है।

२३

बिन्दु-रेखीय चित्र द्वारा तथ्यों का प्रदर्शन

(GRAPHIC PRESENTATION OF DATA)

सामाजिक अनुसन्धान में तथ्यों को आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने के लिए चित्रों की उपयोगिता के सम्बन्ध में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। पर चित्रों के माध्यम से तथ्यों के प्रस्तुतीकरण (presentation) में सांख्यिकीय यथार्थता की पूर्ण रूप में आशा नहीं की जा सकती। चित्रों के द्वारा तो तथ्यों के बारे में एक 'लगभग' अनुमान व बोध हो सकता है। इसीलिए पूर्ण परिशुद्धता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए बिन्दु-रेखीय चित्रों (graphs) द्वारा तथ्यों के प्रदर्शन पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार के चित्रों द्वारा न केवल सांख्यिकीय तथ्यों का परिशुद्ध प्रदर्शन सम्भव होता है अपितु उन तथ्यों में होने वाले परिवर्तन की वास्तविक दिशा व गति और साथ ही उन तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व सुस्पष्ट रूप में प्रगट होता है जिसके आधार पर तथ्यों की अधिक वैज्ञानिक व्याख्या व विवेचना सरल हो जाती है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

बिन्दु-रेखीय चित्रों की उपयोगिता या महत्त्व
(Utility or Importance of Graphs)

सामाजिक अनुसन्धान में बिन्दु-रेखीय चित्रों का अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि इस प्रकार के चित्रों से हमें निम्नलिखित लाभ होता है—

(१) पारस्परिक सम्बन्धों का प्रदर्शन (Showing of Correlation)—बिन्दु-रेखीय चित्र द्वारा दो या अधिक तथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को जितने स्पष्ट रूप में दर्शाया जा सकता है वैसा अन्य किसी भी प्रकार के चित्रों द्वारा सम्भव नहीं है। एक तथ्य में होने वाला परिवर्तन दूसरे सम्बन्धित तथ्य में होने वाले परिवर्तन से किस सीमा तक सम्बन्धित है, यह बात चित्रों की अपेक्षा बिन्दु-रेखाओं द्वारा कहीं अधिक सुस्पष्ट व सरल रूप में प्रदर्शित की जा सकती है।

(२) विशुद्ध प्रस्तुतीकरण (Accurate Presentation)—बिन्दु-रेखीय चित्र में एक-एक बिन्दु का महत्त्व होता है और इसीलिए इस प्रकार के चित्रों द्वारा तथ्यों को पूर्ण परिशुद्ध रूप में प्रदर्शित करना सम्भव होता है। ग्राफ पेपर पर, जिस पर कि इस प्रकार के चित्र बनते हैं, अत्यन्त छोटे-छोटे खाने बने होते हैं और उनमें विभाजन भी बहुत ही वैज्ञानिक व यथार्थ रूप में दिए होते हैं। इसीलिए विशुद्ध प्रस्तुतीकरण सरल हो जाता है।

(३) तुलनात्मकता (Comparability)—बिन्दु-रेखीय चित्रों की एक और उल्लेखनीय उपयोगिता यह है कि इनमें प्रदर्शित तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन हमारे

लिए अत्यन्त सरल होता है क्योंकि इनमें समय के अनुसार तथा आवृत्ति के अनुसार तथ्यों का तुलनात्मक स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है। विभिन्न रंगों में ग्राफ पर खींची गई रेखाओं को देखते ही विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

(४) परिवर्तन की दिशा और मात्रा का ज्ञान (Knowledge of the Direction and Degree of Change)—बिन्दु-रेखीय चित्रों द्वारा सामाजिक तथ्यों में होने वाले परिवर्तन की दिशा व मात्रा का ज्ञान होता है। किसी तथ्य विशेष में घटने की प्रवृत्ति है अथवा बढ़ने की, और उस घटने-बढ़ने की प्रवृत्ति का समय-चक्र के साथ क्या सम्बन्ध है—इन सब बातों का ज्ञान बिन्दु-रेखीय चित्रों का अध्ययन करने से ही प्राप्त हो सकता है। साथ ही, यह भी मालूम हो सकता है कि एक तथ्य या घटना (phenomenon) में किस समय, किस दिशा में कितना परिवतन हुआ।

(५) तथ्यों की विवेचना व व्याख्या (Explanation and Interpretation of Facts)—चूंकि बिन्दु-रेखीय चित्रों से न केवल तथ्यों का तुलनात्मक महत्त्व प्रगट होता है अपितु यह भी पता चलता है कि उनमें होने वाले परिवर्तनों की क्या प्रकृति, कौनसी दिशा और कितनी मात्रा है; इसलिए इन सब जानकारी के आधार पर तथ्यों की विवेचना व व्याख्या करना भी हमारे लिए सरल हो जाता है। बीच की किसी छूटी हुई संख्या का पता लगाने, अनेक प्रकार की सांख्यिकीय माध्य निकालने तथा किसी तथ्य की किसी विशेषता की व्याख्या करने में भी बिन्दु-रेखीय चित्र उपयोगी सिद्ध होते हैं।

(६) भविष्यवाणी (Prediction)—बिन्दु-रेखाचित्रों को देखकर समय-क्रम के अनुसार एक तथ्य के परिवर्तन की प्रवृत्ति का अध्ययन और उसमें होने वाले परिवर्तन की दिशा व मात्रा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और इसी ज्ञान के आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि भविष्य में उस तथ्य-विशेष में कौनसे सम्भावित परिवर्तनों की आशा की जा सकती है। बिन्दु-रेखीय चित्र तथ्यों के समय-चक्र के अनुसार उतार-चढ़ाव को प्रदर्शित कर उनकी भावी स्थिति की ओर स्वतः ही संकेत करते हैं।

(७) कम खर्च (Less Expensive)—बिन्दु-रेखाचित्रों की रचना में चित्रों की अपेक्षा कम खर्च करना पड़ता है क्योंकि इन चित्रों को बनाने के लिए साधारण मूल्य के ग्राफ पेपर तथा दो-चार रंगों के कलमों की केवल जरूरत पड़ती है।

बिन्दु-रेखीय चित्रों के निर्माण की प्रणाली
(Procedure of constructing Graph)

बिन्दु-रेखीय चित्रों का निर्माण इसी काम के लिए मिलने वाले ग्राफ पेपर पर किया जाता है। इस ग्राफ पेपर में १″ × १″ के वर्गाकार खाने बने होते हैं और इस प्रकार के प्रत्येक खाने की सीमा-रेखा (boundary line) लाल स्याही से खींची हुई होती है। यह १″ × १″ का प्रत्येक वर्ग ०·१″ × ०·१″ के छोटे-छोटे १०० वर्गों या खानों में विभक्त रहता है। बहुधा ०·५″ × ०·५″ के खाने भी कुछ गहरी स्याही से बने रहते हैं। इन सब का उद्देश्य गणना-कार्य को सरल बनाना होता है। यह ग्राफ पेपर १ × १ सेण्टीमीटर के वर्गाकार खानों में भी मिलते हैं। किसी भी ग्राफ-पेपर पर बिन्दु-रेखीय चित्रों के निर्माण की प्रणाली इस प्रकार है—

(१) ग्राफ के कागज पर विभिन्न वक्र (curves) तथा रेखाएँ बिन्दुओं के

सहारे दिखाई जाती हैं। इन विन्दुओं का स्थान निर्धारित करने के लिए सर्वप्रथम ग्राफ पेपर पर दो सरल सीधी रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हुई खींची जाती हैं। इन दो रेखाओं में एक खड़ी (vertical) रेखा होती है और दूसरी पड़ी (horizontal) रेखा। इन दोनों रेखाओं को अक्ष (axis) कहते हैं। पर इनमें से खड़ी रेखा को कोटि अक्ष (ordinate or y axis) और पड़ी रेखा को भुजाक्ष (abscissa or x axis) कहते हैं। जिस विन्दु पर ये दोनों रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं उसे मूल विन्दु (point of origin) कहा जाता है। साधारणतया खड़ी रेखा तथा पड़ी रेखा को इस प्रकार खींचा जाता है कि मूल विन्दु ग्राफ पेपर के विलकुल बाईं ओर आ जाए। कभी-कभी आवश्यकतानुसार दोनों लाइनों को ग्राफ पेपर के बीचों-बीच खींचा जाता है।

(२) ग्राफ पेपर पर विभिन्न विन्दुओं को मिलाते हुए रेखा या रेखाओं द्वारा तथ्यों का प्रदर्शन किया जाता है। इन विन्दुओं को अंकित करने के लिए मूल विन्दु (o) से प्रारम्भ किया जाता है।

(३) प्रत्येक विन्दु के स्थान को दो अंकों के सहारे निर्धारित किया जाता है। प्रथम अंक को प्रकट करने के लिए पड़ी रेखा (x axis) पर खाने गिने जाते हैं और दूसरे अंक को प्रकट करने के लिए खड़ी रेखा (y axis) पर। समय अथवा परिमाण साधारणतया पड़ी रेखा (x) पर और उनसे सम्बन्धित मूल्य, जनसंख्या, आय आदि को खड़ी रेखा (y) पर दिखाया जाता है।

(४) मूल विन्दु (o) के चारों दिशाओं की ओर खाने गिने जा सकते हैं। यदि ग्राफ में दिखाई जाने वाली संख्या या अंक धन (+) में है तो भुजाक्ष ox पर दाहिने ओर और कोटि अक्ष oy पर ऊपर की ओर खाने गिने जाते हैं। यदि ग्राफ पेपर पर प्रदर्शित किए जाने वाली संख्या ऋण (—) में है तो भुजाक्ष ox पर बाईं ओर तथा कोटि अक्ष oy पर नीचे की ओर खाने गिने जाते हैं। अतः ग्राफ पेपर पर विन्दु के स्थान को निर्धारित करने के लिए सर्वप्रथम यह देख लेना आवश्यक होता है कि प्रदर्शित की जाने वाली संख्याएँ धन (+) में हैं अथवा ऋण (—) में। उसी अनुसार o से चारों दिशा में प्रस्थान किया जाता है। ग्राफ पर प्रत्येक विन्दु का स्थान तभी निर्धारित किया जा सकता है जबकि दो सम्बन्धित संख्याएँ (जैसे सन् तथा उस सन् में पैदा होने वाले बच्चों की संख्या) उपलब्ध हों। इन दोनों में से कोई एक संख्या धन (+) हो सकती है और दूसरी ऋण (—), या दोनों धन अथवा दोनों ऋण हो सकती हैं अथवा एक ऋण व दूसरी धन हो सकती है। इस प्रकार दोनों संख्याओं का मूल्य (+, +) या (+, —) या (—, +) या (—, —) हो सकता है। इसी मूल्य के अनुसार विन्दु की स्थिति निर्धारित करने के लिए o के चारों दिशाओं में प्रस्थान इस आधार पर किया जाता है—

(अ) (+, +) दिखाने के लिए पहले मूल बिन्दु (o) से दाहिने (ox) फिर ऊपर (oy) की ओर जाना होता है।

(ब) (+, —) दिखाने के लिए पहले मूल बिन्दु (o) से दाहिने (ox) फिर नीचे (oy′) की ओर जाना होता है।

(स) (—, +) दिखाने के लिए पहले मूल बिन्दु (o) से बाएँ (ox′) और फिर ऊपर (oy) की ओर जाना होता है।

(द) (—, —) दिखाने के लिए पहले मूल बिन्दु (o) से बाएँ (ox′) फिर नीचे (oy′) की ओर जाना होता है।

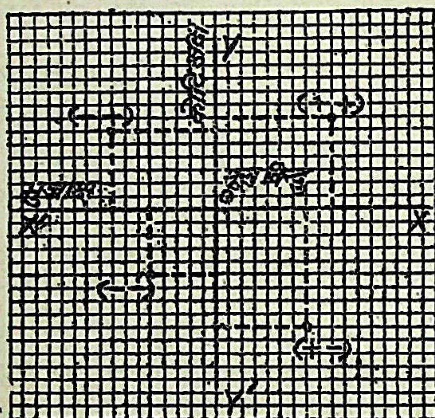
उपरोक्त चारों स्थितियों को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

उदाहरण १—ग्रीफ पेपर पर निम्नलिखित मूल्य के अंकों को दर्शाइए—

(+९, +७), (+७, —९),
(—८, +६), (—५, —५),

उपरोक्त मूल्य के अंकों को ग्राफ पेपर (चित्र संख्या १) पर दिखाने से वह इस प्रकार का होगा—

चित्र संख्या १



पैमाने का प्रयोग (Use of Scale)

बिन्दु-रेखीय चित्रों में उचित पैमाने का निर्धारण कर लेना एक प्रथम आवश्यकता (first essential) है। ग्राफ पेपर का आकार (size) सीमित होता है, अतः उसमें करोड़ों की संख्या को दर्शाना सम्भव नहीं हो सकता। ग्राफ का आकार तो इतना हो कि उसे अधिक मोड़ने की भी आवश्यकता न हो। ऐसी दशा में उपयुक्त पैमाने का निर्धारण, प्रदर्शित किए जाने वाली संख्याओं के आकार को ध्यान में रखते हुए, कर लेना आवश्यक हो जाता है। पर यह पैमाना इस प्रकार का न हो कि छोटी-सी जगह पर पूरा बिन्दु-रेखीय चित्र बन जाए और शेष सारा ग्राफ पेपर खाली पड़ा रहे; और यह पैमाना इस प्रकार का भी न हो कि संख्याओं को उपलब्ध ग्राफ पेपर पर प्रदर्शित करना ही कठिन हो जाए। पैमाने का निर्धारण करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(१) पैमाने का निर्धारण ग्राफ पेपर पर प्रदर्शित किए जाने वाली न्यूनतम तथा अधिकतम संख्या को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। पैमाना इस प्रकार का हो कि बिन्दु-रेखीय चित्र को ग्राफ कागज के बीच में प्रस्तुत करना सम्भव हो।

(२) चूंकि ग्राफ पेपर पर पाँच और दस के खानों का विभाजन सुस्पष्ट रूप में होता है इसलिए जहाँ तक सम्भव हो पैमाने का निर्धारण १० या ५ के अनुपात में किया जाए; जैसे १ इंच = १०, ५०, १००, ५०० अथवा १००० के। इससे बिन्दुओं के स्थान निर्धारण में सुविधा होती है।

(३) समय से सम्बन्धित अंकों जैसे दिन, महीने, वर्ष आदि को हमेशा पड़ी रेखा (भुजाक्ष) और उनकी माप खड़ी रेखा (कोटि अक्ष) पर दिखाना चाहिए और पैमाने का निर्धारण इस बात को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

(४) इसका तात्पर्य यह हुआ कि खड़ी और पड़ी रेखाओं पर संख्याओं को दिखाने के लिए जो भी पैमाने निर्धारित किए जाएँ उन पैमानों के पारस्परिक अनुपात का भी ध्यान रखना चाहिए।

(५) यदि संख्याएँ बड़ी हैं और उनके बीच का अन्तर कम है तो प्रायः कृत्रिम आधार-रेखा (false base line) का प्रयोग करना चाहिए। इससे पैमाना निर्धारित करने की कठिन समस्या का समाधान हो जाता है। इसके विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचना करेंगे।

(६) जो भी पैमाना निर्धारित किया जाए उसे ग्राफ पर साफ-साफ अवश्य लिख देना चाहिए।

कृत्रिम आधार-रेखा
(False Base Line)

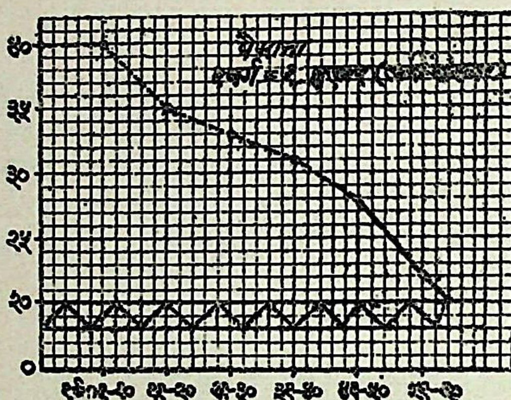
वैसे नियम तो यही है कि ग्राफ पर संख्याओं को दिखाने के लिए खानों की गिनती मूल बिन्दु (०) से की जाए। पर कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रदर्शित किए जाने वाली विभिन्न संख्याओं का मूल्य तो बहुत होता है, पर उनमें अन्तर बहुत कम होता है। ऐसी दशा में पैमाने का निर्धारण एक कठिन समस्या बन जाता है। यदि छोटा पैमाना माना जाए तो बहुत बड़े ग्राफ पेपर की आवश्यकता होगी और सभी अंकों का स्थान कोटि अक्ष के बहुत ऊपर थोड़ी-सी जगह के अन्दर ही होगा; और भुजाक्ष से ऊपर पूरा स्थान दूर तक खाली रहेगा। यह अशोभनीय होगा। उसी प्रकार यदि बड़ा पैमाना लिया जाए तो विभिन्न समयों के बीच संख्याओं का अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाएगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्रायः एक कृत्रिम आधार-रेखा मान ली जाती है। अर्थात् खड़ी रेखा पर संख्याओं को दिखाने के लिए खानों की गिनती मूल बिन्दु (०) से न करके उस न्यूनतम संख्या से आरम्भ की जाती है जो कि प्रदर्शित की जाने वाली संख्याओं में सबसे छोटी संख्या है। कभी-कभी आरम्भ तो शून्य से ही करते हैं, पर ग्राफ पेपर की अगली लाल रेखा पर न्यूनतम माप दिखला देते हैं। बीच में एक लहरदार रेखा खींच दी जाती है। निम्नलिखित विवेचना से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

उदाहरण २—निम्नलिखित सारिणी में प्रति हजार जनसंख्या पर जन्म-दर को दिखाया गया है। कूट आधार-रेखा द्वारा ग्राफ पर उनका प्रदर्शन कीजिए।

दशाब्द (Decade)	जन्म-दर प्रति हजार जनसंख्या पर
१९०१—१०	४०
१९११—२०	३५
१९२१—३०	३३
१९३१—४०	३१
१९४१—५०	२८
१९५१—६०	२२

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर जो बिन्दु-रेखीय चित्र बनेगा वह इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या २)—

चित्र संख्या २



बिन्दु-रेखीय चित्रों के प्रकार
(Types of Graphs)

ग्राफ पर प्राय: दो प्रकार की सांख्यिकीय श्रेणियाँ प्रदर्शित की जाती हैं—

(१) **समय-श्रेणी** (Time Series)—इस प्रकार के बिन्दु-रेखीय चित्रों में समय-क्रम (दिन, महीने, वर्ष आदि) के अनुसार सांख्यिकीय परिवर्तनों को प्रदर्शित किया जाता है। इसीलिए इस प्रकार के चित्रों को कालिक चित्र (historigram) भी कहा जाता है। ये कालिक चित्र एक चल (one variable) तथा दो या अधिक चल (two or more variables) वाले हो सकते हैं। समय-श्रेणी बिन्दु-रेखीय चित्रों (Time Series Graphs) के प्रकारों को हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

समय-श्रेणी या कालिक बिन्दु-रेखीय चित्र (Historigram)

(क) एक चल वाला कालिक चित्र (One variable historigram)
- (अ) निरपेक्ष कालिक चित्र (Absolute historigram)
- (ब) सूचनांक कालिक चित्र (Index historigram)

(ख) दो या अधिक चल वाले कालिक चित्र (Historigrams of two or more variables)

(२) **आवृत्ति वितरण वाले बिन्दु-रेखीय चित्र** (Graphs of frequency distributions)—इस प्रकार के ग्राफ में तथ्यों के आवृत्ति वितरण को प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार के चित्रों के विभिन्न प्रकार ये हैं—

(क) आवृत्ति आयत चित्र (Histogram)
(ख) आवृत्ति बहुभुज (Frequency Polygon)
(ग) आवृत्ति वक्र (Frequency Curve)
(घ) संचयी आवृत्ति वक्र (Cumulative Frequency Curve)

उपरोक्त सभी प्रकार के बिन्दु-रेखीय चित्रों की विवेचना अब हम एक-एक करके करेंगे।

निरपेक्ष कालिक चित्र
(Absolute Historigram)

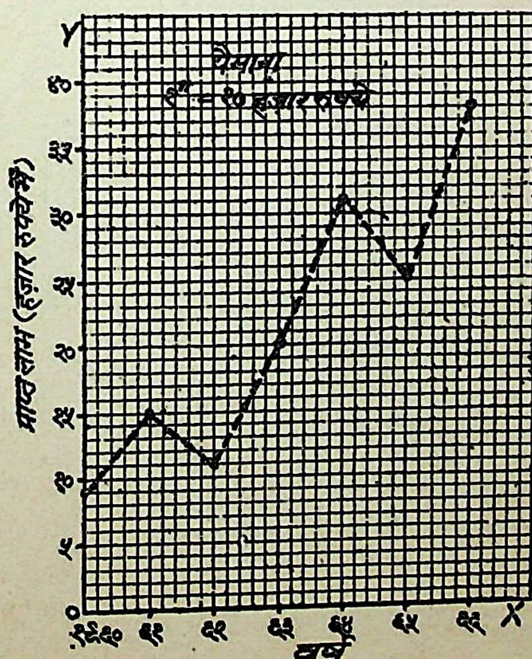
इस प्रकार के चित्रों में विभिन्न समय में एक ही तथ्य के वास्तविक सांख्यिकीय मूल्य में होने वाले परिवर्तन को दर्शाया जाता है अर्थात् इस प्रकार के चित्रों से संख्याओं के वास्तविक मूल्यों का समय-क्रम के अनुसार पता चलता है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

उदाहरण ३—निम्नलिखित सारिणी में रामा कम्पनी में सन् १९६० से १९६६ तक हुए लाभों को दिखाया गया है। उन्हें एक निरपेक्ष कालिक चित्र द्वारा ग्राफ पर प्रदर्शित कीजिए।

वर्ष	प्राप्त लाभ (हज़ार रु० में)
१९६०	९
१९६१	१५
१९६२	११
१९६३	२०
१९६४	३१
१९६५	२५
१९६६	३७

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर निरपेक्ष कालिक चित्र (देखिए चित्र संख्या ३) इस प्रकार का होगा—

चित्र संख्या ३
रामा कम्पनी का वार्षिक लाभ



सूचनांक कालिक चित्र
(Index Historigram)

इस प्रकार के कालिक चित्र तथा निरपेक्ष कालिक चित्र में अन्तर केवल इतना ही होता है कि निरपेक्ष कालिक चित्र में संख्याओं के वास्तविक मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को प्रदर्शित किया जाता है जबकि सूचनांक कालिक चित्र में एक आधार वर्ष (base year) के सन्दर्भ में मूल्यों के प्रतिशत में होने वाले परिवर्तन (percentage change) दिखाए जाते हैं। निम्नलिखित उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा।

उदाहरण ४—निम्नलिखित सारिणी में विभिन्न वर्षों में गेहूँ के भाव का सूचनांक दिया हुआ है। उसके आधार पर सूचनांक कालिक ग्राफ बनाइए।

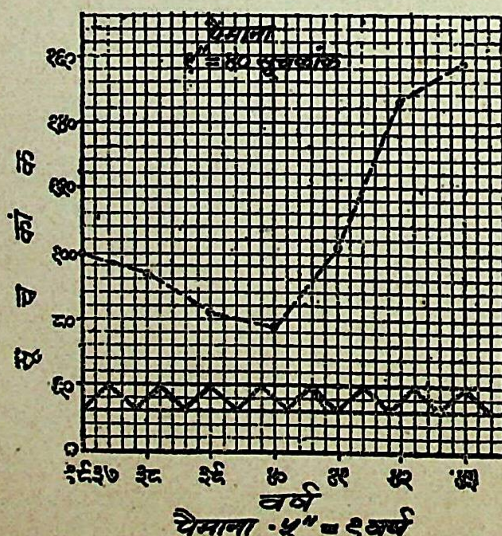
आधार वर्ष १९३७=१००

वर्ष	सूचनांक
१९३७	१००
१९३८	९४
१९३९	८१
१९४०	७८
१९४१	१०२
१९४२	१४७
१९४३	१५८

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर जो ग्राफ बनेगा वह इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या ४)—

चित्र संख्या ४

गेहूँ के भाव का सूचनांक



दो या अधिक चलों को प्रदर्शित करने वाले कालिक चित्र
(Historigrams representing Two or More Variables)

अब तक जिन कालिक चित्रों का अंकन हमने किया है उनमें केवल एक ही चल (variable) में विभिन्न समयों में होने वाले परिवर्तनों को दर्शाया गया है। पर एक ही ग्राफ चित्र में दो या दो से अधिक चलों में समय-क्रम के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को दिखाया गया है। ऐसे ग्राफ चित्र को बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि चित्र में प्रदर्शित किए जाने वाले सभी चलों का एक ही पैमाना लिया जाए। इस प्रकार के ग्राफ चित्रों में सर्वप्रथम एक चल के विन्दुओं को अंकित करके मिला दिया जाता है, इसके बाद दूसरे चल की संख्याओं को लेकर उसके विन्दुओं को अंकित करके किसी दूसरे प्रकार की रेखा द्वारा मिला दिया जाता है। यदि तीसरा चल भी है तो उसका वक्र भी इसी प्रकार खींच लिया जाता है। पर विभिन्न चलों के वक्रों को अलग-अलग प्रकार की रेखाओं अथवा स्याही द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए जिससे कि एक चल दूसरे चल से बिलकुल पृथक् प्रतीत हो और उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो सकेगी।

उदाहरण ५—निम्नलिखित सारिणी में सन् १९६६-६७ में हुए आयात-निर्यात और उन दोनों का अन्तर दिखाया गया है। उपर्युक्त ग्राफ चित्र द्वारा उनका प्रदर्शन कीजिए।

(करोड़ रुपयों में)

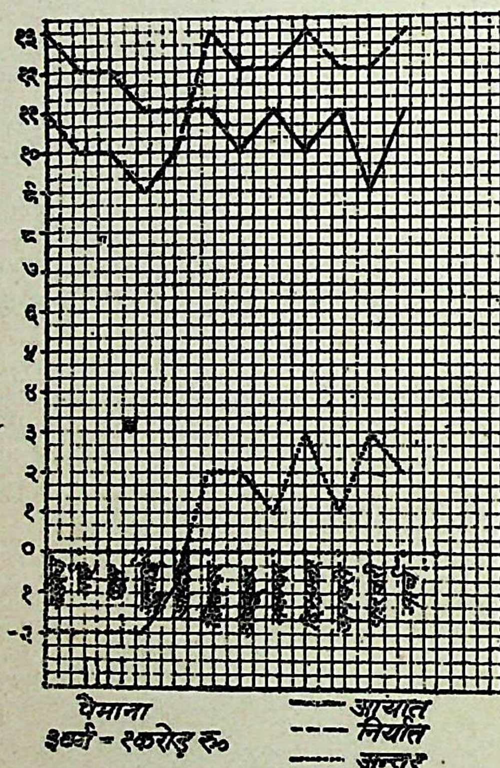
माह	आयात	निर्यात	व्यापार में अन्तर
अप्रैल	१३	११	—२
मई	१२	१०	—२
जून	१२	१०	—२
जुलाई	११	९	—२
अगस्त	११	१२	—१
सितम्बर	११	१३	+२
अक्टूबर	१०	१२	+२
नवम्बर	११	१२	+१
दिसम्बर	१०	१३	+३
जनवरी	११	१२	+१
फरवरी	९	१२	+३
मार्च	११	१३	+२

उपरोक्त सारिणी में प्रदर्शित आँकड़ों के अनुसार ग्राफ चित्र बनाने के लिए एक खड़ी रेखा और एक पड़ी रेखा खींचनी होगी। पड़ी रेखा पर विभिन्न महीने तथा खड़ी रेखा पर आयात-निर्यात की धन राशि प्रदर्शित करनी होगी। फिर पहले आयात सम्बन्धी आँकड़ों के आधार पर बिन्दुओं को अंकित करके उन्हें मिला देना होगा, तत्पश्चात् निर्यात सम्बन्धी आँकड़ों को लेकर उनके बिन्दुओं को अंकित करके किसी दूसरी डिजाइन या रंग की रेखा द्वारा मिला दिया जाएगा। इस प्रकार दो अलग-अलग वक्र बन जाएँगे जिनमें से एक आयात और दूसरा निर्यात को प्रदर्शित करेगा। इसके बाद आयात व निर्यात में अन्तर को प्रदर्शित करने के लिए एक तीसरा वक्र

खींचा जाएगा। जो धन (+) वाली संस्थाएँ हैं उन्हें पड़ी रेखा के ऊपर की ओर और ऋण (—) वाली संख्याओं को उसी रेखा के नीचे की ओर अंकित करना होगा। इस प्रकार ग्राफ चित्र से केवल आयात व निर्यात का ही नहीं अपितु उनमें होने वाले अन्तर का भी प्रदर्शन किया जा सकेगा। नीचे दिए गए चित्र संख्या ५ से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

चित्र संख्या ५

भारत में आयात व निर्यात



आवृत्ति बिन्दु-रेखीय चित्र

(Frequency Graphs)

जिस प्रकार एक या एकाधिक चलों में समय-क्रम के अनुसार होने वाले परिवर्तनों को ग्राफ चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है उसी प्रकार आवृत्तियों वाले तथ्यों को भी ग्राफ चित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है अर्थात् आवृत्ति वितरणों (frequency distributions) में होने वाले परिवर्तनों को भी ग्राफ चित्र के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आवृत्ति वितरण के सम्बन्ध में हम पहले एक अध्याय में लिख चुके हैं कि आवृत्ति-वितरण खण्डित श्रेणियों (discrete series) जैसे बच्चों की संख्या १, २, ३, ४ आदि में हो सकता है और अखण्डित श्रेणियों (continuous

series) जैसे २—४, ४—६, ६—८ आदि में भी हो सकता है। आवृत्ति बिन्दु-रेखीय चित्र किस प्रकार का बनेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि आवृत्ति श्रेणी खण्डित है अथवा अखण्डित। आवृत्ति ग्राफ चित्र को बनाने एवं अंकन करने की सामान्य विधि व नियम वही है जो कि पहले वाले ग्राफ चित्रों (कालिक चित्र) को बनाने में हम अब तक प्रयोग करते रहे हैं। इस प्रकार के चित्रों में पड़ी रेखा पर चल (variable) के मूल्य अंकित किए जाते हैं और खड़ी रेखा पर आवृत्तियों को दिखाया जाता है।

चूँकि इस प्रकार के चित्रों का आधार आवृत्तियाँ हैं और आवृत्तियाँ खण्डित या अखण्डित हो सकती हैं, इसी कारण आवृत्ति चित्र दो प्रकार के होते हैं—(१) **खण्डित वक्र** (Discrete Curve) जिसमें कि खण्डित श्रेणी के अंकों को प्रदर्शित किया जाता है और इसमें वक्र उसी तरह का टेढ़ा-मेढ़ा बनता है जैसा कि कालिक चित्रों में। (२) **अखण्डित वक्र** (Continuous Curve) जिसमें कि अखण्डित श्रेणी के अंकों को प्रदर्शित किया जाता है और इसमें वक्र टेढ़ा-मेढ़ा न बनाकर सरल (smoothed curve) बना दिया जाता है। अखण्डित वक्र (क) आवृत्ति आयत चित्र (histogram), (ख) आवृत्ति बहुभुज (frequency polygon), (ग) आवृत्ति वक्र (frequency curve) तथा (घ) संचयी आवृत्ति वक्र (cumulative frequency curve) का रूप धारण कर सकता है। खण्डित व अखण्डित दोनों श्रेणियों के विभिन्न प्रकार के आवृत्ति ग्राफ चित्रों के विषय में अब हम विवेचना करेंगे।

खण्डित श्रेणियों के बिन्दु-रेखीय चित्र

(Graphs representing Discrete Series)

इस प्रकार के चित्रों में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, खण्डित श्रेणी के अंकों को प्रदर्शित किया जाता है। इन ग्राफ चित्रों में पड़ी अथवा आधार रेखा (ox) पर चल के मूल्यों को तथा खड़ी अथवा शीर्ष रेखा (oy) पर आवृत्तियों को प्रदर्शित किया जाता है। बिन्दुओं को अंकित करने की विधि कालिक चित्र (historigram) की ही भाँति है। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो सकेगी।

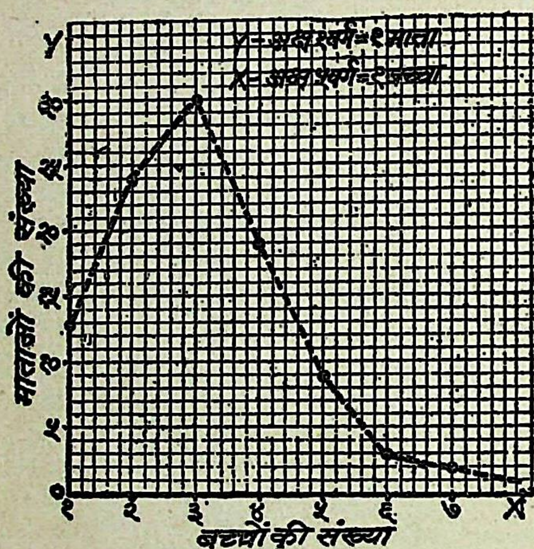
उदाहरण ६—निम्नलिखित सारिणी में १०० माताओं के बच्चों की संख्या दिखाई गई है। उपर्युक्त ग्राफ चित्र द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

प्रति माता बच्चों की संख्या	माताओं की संख्या (आवृत्ति)
१	१३
२	२४
३	३०
४	१९
५	९
६	३
७	२
योग	१००

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर जो बिन्दु-रेखीय चित्र (graph) बनेगा वह इस प्रकार होगा (देखिए चित्र संख्या ६)—

चित्र संख्या ६

माताओं के बच्चों की संख्या



आवृत्ति आयत चित्र
(Histogram)

यदि विभिन्न वर्गान्तरों (class intervals) के अन्तर्गत आने वाली आवृत्तियों को ग्राफ पेपर पर आयतों (rectangles) की रचना करके प्रदर्शित किया जाता है तो उसे आवृत्ति आयत चित्र कहते हैं। इस प्रकार का चित्र बनाने के लिए वर्गान्तर को भुजाक्ष (ox) अर्थात् पड़ी रेखा पर और आवृत्तियों को कोटि अक्ष (oy) अर्थात् खड़ी रेखा पर प्रदर्शित किया जाता है। ऐसे चित्रों में वर्गान्तर की उच्चतर सीमा (upper limit) तथा निम्नतर सीमा (lower limit) को ध्यान में रखते हुए उसी अनुसार पड़ी रेखा पर वर्गान्तरों को अंकित कर लिया जाता है और खड़ी रेखा पर उसी भाँति आवृत्तियों को अंकित किया जाता है। फिर एक-एक वर्गान्तर के अन्तर्गत आने वाली आवृत्ति के अनुसार बिन्दु के स्थान को ग्राफ पेपर पर अंकित कर लिया जाता है। तत्पश्चात् इन बिन्दुओं को सीधी लाइनों द्वारा इस प्रकार मिला दिया जाता है कि एक-एक वर्गान्तर पर एक-दूसरे से मिले हुए आयत की रचना हो जाए। निम्नलिखित उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

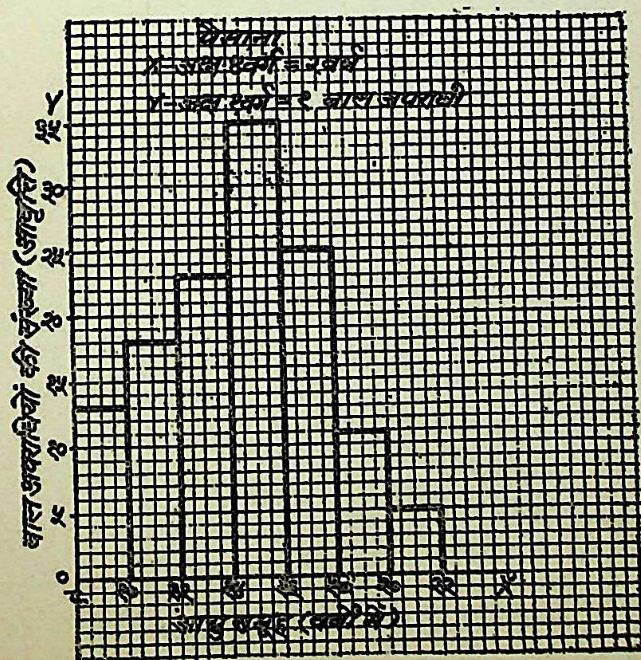
उदाहरण ७—निम्न सारिणी में एक सुधार-गृह में रहने वाले बाल-अपराधियों का आयु-समूह के अनुसार वितरण दिखाया गया है। आवृत्ति आयत चित्र द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

आयु-समूह (वर्षों में)	बाल-अपराधियों की संख्या (आवृत्ति)
८—१०	१३
१०—१२	१८
१२—१४	२३
१४—१६	३५
१६—१८	२५
१८—२०	११
२०—२२	५

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर आवृत्ति आयत चित्र इस प्रकार का होगा (देखिए चित्र संख्या ७)—

चित्र संख्या ७

बाल-अपराधियों का आयु-समूह के अनुसार वितरण



आवृत्ति बहुभुज
(Frequency Polygon)

आवृत्ति आयत चित्रों का एक प्रमुख दोष यह है कि वर्गान्तर में थोड़ा-सा भी अन्तर हो जाने पर आयत की आकृति बिलकुल भिन्न प्रकार की हो जाती है। अतः इस दोष से बचने के लिए आवृत्ति बहुभुज की रचना की जाती है। इस प्रकार का चित्र बनाने के लिए सर्वप्रथम आवृत्ति आयत चित्र (histogram) ही बनाना पड़ता है। तत्पश्चात् सभी आयतों के शीर्ष भाग के मध्यबिन्दु ज्ञात कर उन्हें मिला दिया जाता है। आवृत्ति बहुभुज बिना आयतों को बनाए भी खींचे जा सकते हैं, पर नियम वही होता है। अर्थात् प्रत्येक आवृत्ति से सम्बन्धित बिन्दु को अंकित करते समय उसे उसी से सम्बन्धित वर्गान्तर के मध्यबिन्दु के सामने लगाया जाता है। प्रत्येक बिन्दु एक-एक वर्गान्तर के मध्य के सीध में हो, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसीलिए आयतों के सहारे इस प्रकार का चित्र बनाना अधिक सुविधाजनक होता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस बात का स्पष्टीकरण स्वतः ही होगा।

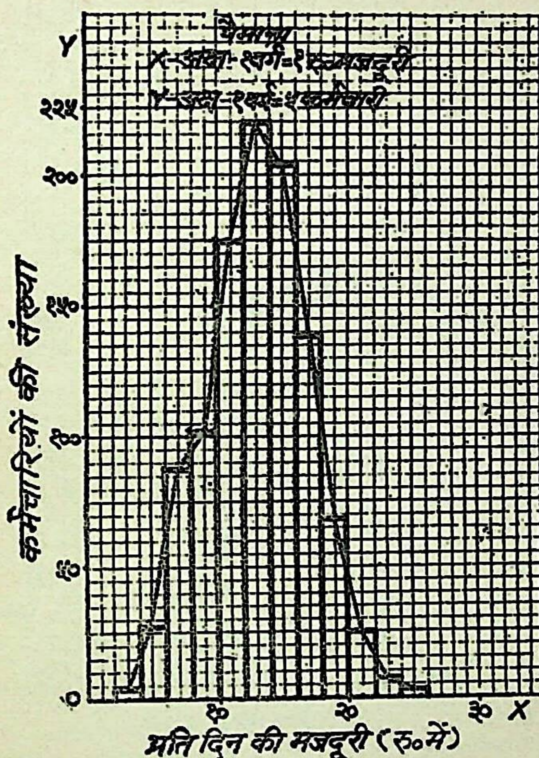
उदाहरण ८—निम्न सारिणी में एक कारखाने में नियुक्त कर्मचारियों की प्रतिदिन की मजदूरी दी गई है। आवृत्ति बहुभुज द्वारा उसका प्रदर्शन कीजिए।

प्रतिदिन की मजदूरी (रु० में)	कर्मचारियों की संख्या
२—४	३
४—६	२६
६—८	८७
८—१०	१०२
१०—१२	१७५
१२—१४	२२०
१४—१६	२०४
१६—१८	१३९
१८—२०	६९
२०—२२	२५
२२—२४	६
२४—२६	१

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर बने आवृत्ति बहुभुज को चित्र संख्या ८ में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—

चित्र संख्या ८

कर्मचारियों का प्रतिदिन की मजदूरी के आधार पर वितरण

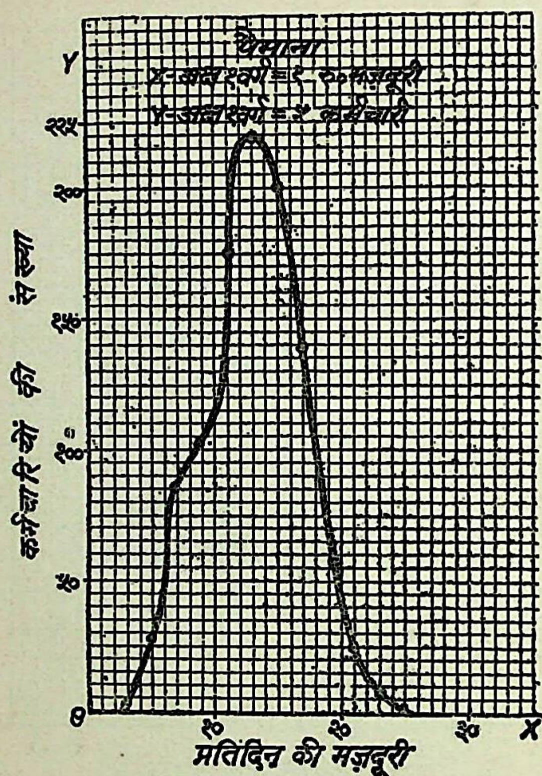


आवृत्ति वक्र
(Frequency Curve)

आवृत्ति वक्र भी एक आवृत्ति बहुभुज ही होता है, केवल अन्तर इतना होता है कि आवृत्ति वक्र खींचते समय बहुभुज में जो टेढ़ा-मेढ़ा तथा नोकीलापन होता है उसे समाप्त करते हुए मृदु वक्र खींच दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, आवृत्ति बहुभुज में प्रत्येक वर्गान्तर (class intervals) के मध्यबिन्दुओं को सीधी व सरल रेखाओं द्वारा मिलाया जाता है, जबकि आवृत्ति वक्र में उन्हीं मध्यबिन्दुओं को सहज रूप (free hand) में एक वक्र द्वारा मिलाया जाता है। ऐसा करते समय यह सम्भव है कि वह वक्र कुछ मध्यबिन्दुओं को न छूकर उनके आस-पास से निकल जाए। इसीलिए वक्र को खींचते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वक्र के मध्यबिन्दुओं से इधर-उधर हट जाने के कारण जितना क्षेत्र छूटता जाए उतना ही फिर आगे शामिल भी कर लिया जाए ताकि आवृत्ति वक्र का क्षेत्र आवृत्ति बहुभुज अथवा आवृत्ति आयत (histogram) के क्षेत्र के लगभग बराबर ही रहे। उदाहरण नं० ८ में हम लोगों ने जिस सारिणी का प्रयोग किया है उसी के आधार पर यदि एक आवृत्ति वक्र खींचा जाए तो वह इस प्रकार होगा—

चित्र संख्या ६

कर्मचारियों का प्रतिदिन की मजदूरी के आधार पर वितरण



संचयी आवृत्ति वक्र
(Cumulative Frequency Curve or Ogive)

आवृत्ति वक्र एवं संचयी आवृत्ति वक्र में अन्तर यह है कि आवृत्ति वक्र में वर्गान्तरों (class intervals) का मध्य मूल्य निकालकर आवृत्तियों को एक सहज वक्र द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जबकि संचयी आवृत्ति वक्र में वर्गान्तरों की उच्चतर (upper) तथा निम्नतर (lower) सीमाओं का उपयोग किया जाता है। जब उच्चतर सीमा का उपयोग किया जाता है तो आवृत्तियों का संचय ऊपर से नीचे की ओर करते हैं जिसके फलस्वरूप संचय राशि नीचे की ओर क्रमशः बढ़ती जाती है। इसीलिए इसके आधार पर जो वक्र बनता है उसे वृद्धिमान वक्र (less than curve) कहते हैं। इसके विपरीत जब निम्नतर सीमा (lower limit) का उपयोग किया जाता है तो आवृत्तियों का संचय नीचे से ऊपर की ओर करते हैं जिसके फलस्वरूप संचय राशि नीचे की ओर क्रमशः कम होती जाती है। अतः इसके आधार पर जो वक्र बनता है उसे ह्रासमान वक्र (more than curve) कहते हैं। यही कारण है कि वृद्धिमान वक्र नीचे से ऊपर की ओर उठता हुआ जबकि ह्रासमान वक्र ऊपर से नीचे की ओर गिरता हुआ प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि संचयी आवृत्ति वक्र

को खींचते समय विन्दुओं को उसी सरल रूप में मिलाते हैं जैसा कि आवृत्ति वक्र में। संचयी आवृत्ति वक्र की सहायता से हम मध्यांक या माध्यिका (median) एवं चतुर्थक (quartiles) सरलता से निकाल सकते हैं। इसके विषय में हम अगले पृष्ठों में विवेचना करेंगे।

उदाहरण ९—व्यक्तियों के एक समूह में आयु के आधार पर उनकी संख्याओं का वितरण दिया गया है। एक संचयी आवृत्ति वक्र की रचना कीजिए।

आयु-समूह	व्यक्तियों की संख्या
२०—२२	६०
२२—२४	६४
२४—२६	६०
२६—२८	५३
२८—३०	४२
३०—३२	३१
३२—३४	२०
३४—३६	१०
३६—३८	७
३८—४०	३

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर संचयी आवृत्ति वक्र की रचना करने के लिए आवृत्तियों का संचय (१) ऊपर से नीचे (less than) तथा (२) नीचे से ऊपर (more than) करना होगा जैसा कि निम्नलिखित सारिणी से स्पष्ट है—

Less than

आयु-समूह	वृद्धिमान आवृत्ति
२२ से कम	६०
२४ " "	१२४
२६ " "	१८४
२८ " "	२३७
३० " "	२७९
३२ " "	३१०
३४ " "	३३०
३६ " "	३४०
३८ " "	३४७
४० " "	३५०

More than

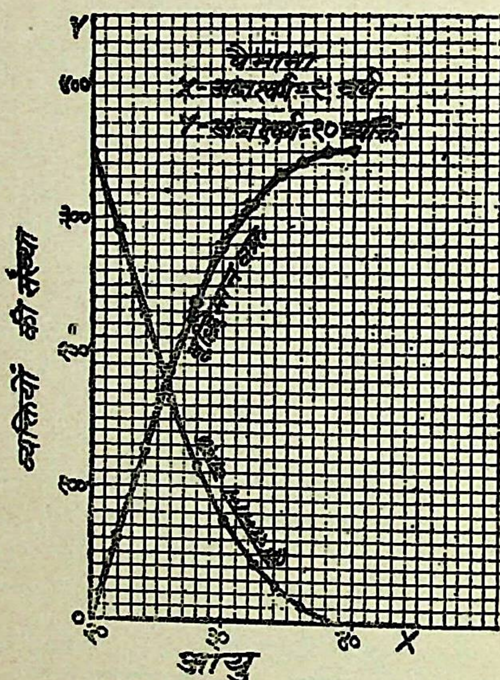
आयु-समूह	ह्रासमान आवृत्ति
२० से अधिक	३५०
२२ " "	२९०
२४ " "	२२६
२६ " "	१६६
२८ " "	११३
३० " "	७१
३२ " "	४०
३४ " "	२०
३६ " "	१०
३८ " "	३

वृद्धिमान तथा ह्रासमान संचयी आवृत्तियों का निर्धारण उपरोक्त रूप में कर लेने के बाद उसी अनुसार वृद्धिमान आवृत्तियों के विन्दुओं को तथा ह्रासमान आवृत्तियों के बिन्दुओं को अलग-अलग ग्राफ पेपर पर अंकित कर लिया जाएगा एवं उन्हें एक-दूसरे

से मिलाकर दो वक्र बना लिए जाएँगे—जिसमें से एक ह्रासमान वक्र होगा और दूसरा वृद्धिमान वक्र। निम्नांकित चित्र संख्या १० इसी को प्रदर्शित करता है—

चित्र संख्या १०

आयु के आधार पर वितरण



संचयी आवृत्ति वक्र से माध्यिका व चतुर्थक निकालना
(Calculation of Median and Quartiles from C.F.C.)

संचयी आवृत्ति वक्र की एक उल्लेखनीय उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा माध्यिका व चतुर्थक सरलता से निकाला जा सकता है। संक्षेप में इसकी विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम आवृत्ति श्रेणी को वृद्धिमान (less than) आवृत्ति श्रेणी में बदलना पड़ता है। उसके बाद इनको आवृत्ति श्रेणी के ग्राफ पर दिखाना होता है। अर्थात् संचयी आवृत्ति वक्र खींचना होता है। तत्पश्चात् माध्यिका तथा चतुर्थक पद ज्ञात करना होता है (इसके नियम के विषय में हम अगले अध्याय में विवेचना करेंगे)। इसके बाद खड़ी रेखा (oy) पर, जिस पर कि आवृत्तियाँ दिखलाई गई हैं, मध्यम पद और चतुर्थक पदों की संख्या के अनुसार विन्दु अंकित करना होता है और फिर इन विन्दुओं से पड़ी रेखा (ox) के समानान्तर रेखाएँ खींचनी होती हैं। ये रेखाएँ जिन विन्दुओं पर आवृत्ति वक्र को काटें वहाँ से पड़ी रेखा पर लम्ब डालने से ये लम्ब पड़ी रेखा को जहाँ-जहाँ पर आकर स्पर्श करें वे प्रथम चतुर्थक, माध्यिका तथा तृतीय चतुर्थक के मूल्य होंगे। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसी का स्पष्टीकरण किया गया है।

उदाहरण १०—निम्नलिखित आँकड़ों से संचयी आवृत्ति वक्र खींचकर प्रथम चतुर्थांशीय मान (1st Quartile), माध्यिका (Median) तथा तृतीय चतुर्थांशीय मान (3rd Quartile) ज्ञात कीजिए।

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या
०—१०	१५
१०—२०	१०
२०—३०	२०
३०—४०	३२
४०—५०	२३
५०—६०	३३
६०—७०	३६
७०—८०	४१

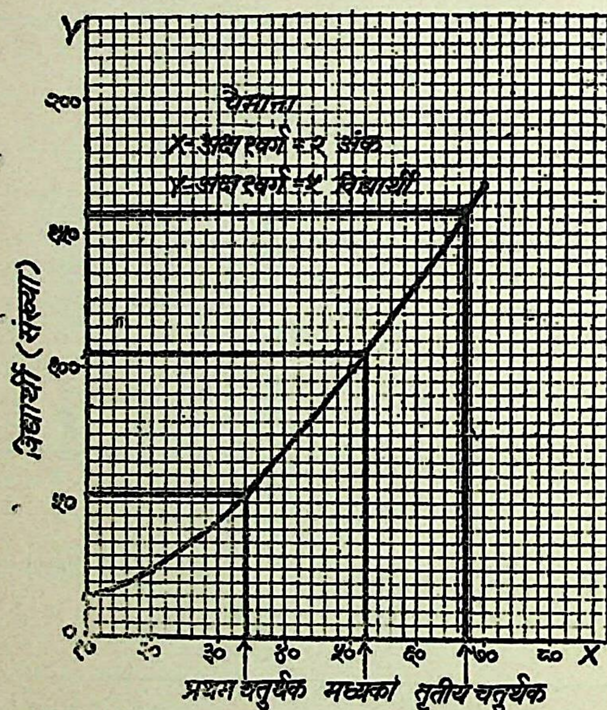
सर्वप्रथम उपरोक्त आवृत्ति श्रेणी को वृद्धिमान (less than) आवृत्ति श्रेणी में बदलना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

प्राप्तांक	वृद्धिमान संचयी आवृत्ति
१० से कम	१५
२० ,, ,,	२५
३० ,, ,,	४५
४० ,, ,,	७७
५० ,, ,,	१००
६० ,, ,,	१३३
७० ,, ,,	१६९
८० ,, ,,	२१०

पहले ही उल्लेखित नियमानुसार अब संचयी आवृत्ति वक्र खींचकर प्रथम चतुर्थांशीय मान, माध्यिका व तृतीय चतुर्थांशीय मान इस प्रकार ज्ञात किया जाएगा (देखिए चित्र संख्या ११)—

चित्र संख्या ११

विद्यार्थियों के प्राप्तांक



आवृत्ति आयत चित्र से बहुलक निकालना
(Calculation of Mode from Histogram)

आवृत्ति आयत चित्र से बहुलक ज्ञात किया जा सकता है। इसके लिए सर्व-प्रथम अखण्डित श्रेणियों (continuous series) के आँकड़ों के आधार पर एक आवृत्ति आयत चित्र खींच लिया जाता है। इसके बाद सबसे ऊँचे आयत (rectangle) का बायाँ सिरा उसके दाहिने ओर के आयत के बायें सिरे से मिलाते हैं और उसी प्रकार दाहिने ओर का सिरा उसके बायें ओर के आयत के दाहिने सिरे से मिलाते हैं। जहाँ ये दोनों रेखाएँ एक-दूसरे को काटती हैं, उस बिन्दु के आधार पर एक लम्ब पड़ी रेखा (ox) पर खींचा जाता है। जिस बिन्दु पर वह लम्ब पड़ी अर्थात् आधार रेखा (ox) को छूता है वही माप बहुलक होगी। निम्नलिखित उदाहरण इसी बात का स्पष्टीकरण करेगा।

उदाहरण ११—निम्नलिखित सारिणी के आधार पर एक आवृत्ति आयत चित्र बनाकर बहुलक ज्ञात कीजिए।

आयु-समूह	बाल-अपराधियों की संख्या (आवृत्ति)
८—१०	१३
१०—१२	१८
१२—१४	२३
१४—१६	३५
१६—१८	२५
१८—२०	११
२०—२२	५

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर एक आवृत्ति आयत चित्र बनाकर ऊपर उल्लेखित विधि के अनुसार भूयिष्ठक को ज्ञात करने के लिए निम्नांकित चित्र संख्या १२ बनाना होगा—

चित्र संख्या १२

बाल-अपराधियों की आयु

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि बिन्दु-रेखीय चित्र केवल आँकड़ों के परिशुद्ध प्रदर्शन के लिए ही नहीं अपितु सांख्यिकीय माध्य जैसे बहुलक, माध्यिका तथा चतुर्थक आदि को ज्ञात करने में भी उपयोगी सिद्ध होता है। इसीलिए सामाजिक अनुसन्धान में इस प्रकार के चित्रों को अधिकाधिक प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। वैज्ञानिक यथार्थता की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक भी है।

———

२४

माध्य प्रवृत्तियों तथा विचलन की माप

(MEASURES OF CENTRAL TENDENCY AND VARIABILITY)

माध्य प्रवृत्तियों की माप

(Measures of Central Tendencies)

सामाजिक अनुसन्धान के दौरान जो सांख्यिकीय तथ्य (statistical data) एकत्रित किए जाते हैं उनसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचा नहीं जा सकता। इसके लिए उन तथ्यों या आँकड़ों का वर्गीकरण तथा सारिणीयन करना आवश्यक होता है। इसके बाद भी उन्हें और सरल व बोधगम्य बनाने के लिए चित्रों (diagrams) तथा ग्राफों की सहायता ली जाती है। पर चित्रों तथा ग्राफ के माध्यम से तथ्यों का अध्ययन परिशुद्ध होगा अथवा नहीं, यह बात अनुसन्धानकर्त्ता की निगाहों की यथार्थता पर निर्भर करती है। पर निगाह, जैसा कि हम जानते हैं, एक अनिश्चित कारक (uncertain factor) है। इसलिए इसकी सहायता से किए गए अध्ययन व निकाले गए निष्कर्ष अविश्वसनीय भी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, तथ्यों या आँकड़ों को, वर्गीकरण तथा सारिणीयन के बाद भी, और अधिक संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना सम्भव है। यदि हमें तथ्यों की एक श्रेणी में से कोई ऐसा अंक या संख्या पता लग जाए जो कि उस श्रेणी का उचित प्रतिनिधित्व कर सके तो विभिन्न श्रेणियों का तुलनात्मक अध्ययन करना हमारे लिए वास्तव में सरल हो जाए। यह स्वीकार किया जाता है कि यद्यपि अनुसन्धानकर्त्ता को जो आँकड़े प्राप्त होते हैं उनके मूल्य भिन्न-भिन्न होते हैं, फिर भी सभी आँकड़ों में से एक ऐसी योग्यता, मूल्य अथवा अंक मालूम किया जा सकता है जो कि सभी व्यक्तिगत आँकड़ों का उचित प्रतिनिधित्व कर सके। ऐसी योग्यता या मूल्य को ही माध्य प्रवृत्ति (central tendency) कहते हैं। माध्य प्रवृत्ति अलग-अलग आँकड़ों या तथ्यों या व्यक्तियों की योग्यता या मूल्य पर प्रकाश नहीं डालती, बल्कि वह सामूहिक रूप से सम्पूर्ण वर्ग या श्रेणी की योग्यता का प्रतिनिधित्व करती है और इस प्रकार वह पूरे समूह की प्रवृत्ति या मूल्य की ओर संकेत करती है। उदाहरणार्थ, यदि किसी परीक्षण में पाँच छात्रों को क्रमशः ७, ९, ५, ६ और ८ अंक प्राप्त होते हैं तो ऊपरी तौर पर यही कहा जाएगा कि पाँचों छात्रों की योग्यता एक-दूसरे से भिन्न है। परन्तु इन प्राप्तांकों को ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होगा कि ७ एक ऐसा अंक है जिसके आस-पास अन्य अंक स्थित हैं। दो अंक ७ से छोटे और दो ७ से बड़े हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि ७ इस पूरे समूह का प्रतिनिधित्व करने वाला अंक है। इसलिए यद्यपि इस समूह के प्रत्येक छात्र की अलग-अलग योग्यता एक-दूसरे से भिन्न है, फिर भी सामूहिक रूप में उनकी योग्यता

७ ही समझी जाएगी क्योंकि यह मूल्य सभी मूल्यों के केन्द्र में स्थित है और अन्य मूल्यों का झुकाव इसी केन्द्रीय मूल्य ७ की ओर है। इसलिए हम ७ को उपरोक्त पाँचों प्राप्तांकों की केन्द्रीय प्रवृत्ति कहेंगे। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वह मूल्य जो हमें समूह की योग्यता को संक्षिप्त रूप से एक अंक में ही बतला देते हैं केन्द्रीय प्रवृत्ति के माप (measures of central tendency) कहलाते हैं। इन मूल्यों को सांख्यिकी में माध्य (avreage) कहते हैं। अब हम उसी के विषय में विवेचन करेंगे।

सांख्यिकीय माध्य
(Statistical Average)

माध्य का अर्थ
(Meaning of Average)

सर्वश्री घोष और चौधरी (Ghosh and Chowdhury) के अनुसार, "माध्य एक ऐसी अकेली सरल अभिव्यक्ति है जिसमें एक ज़टिल समूह अथवा विशाल संख्याओं का वास्तविक परिणाम या सार केन्द्रित हो।"[1]

श्री एलहान्स (Alhance) के मतानुसार, "यह स्पष्ट है कि एक ऐसी संख्या जिसका कि प्रयोग सम्पूर्ण श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए किया जाता है वह श्रेणी में न तो न्यूनतम मूल्य रखती है और न ही उच्चतम मूल्य, अपितु वह मूल्य तो इन दोनों सीमाओं के बीच का एक मूल्य होता है और सम्भवतः इस मूल्य की स्थिति वह केन्द्र होता है जहाँ श्रेणियों की अधिकांश इकाइयाँ एकत्रित हो जाती हैं। ऐसे अंक केन्द्रीय प्रवृत्ति का माप अथवा माध्य कहलाते हैं।"[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि माध्य सम्पूर्ण श्रेणियों का प्रतिनिधित्व करने वाला और केन्द्रीय मूल्य को प्रगट करने वाला एक अंक होता है जो कि उन श्रेणियों के न्यूनतम एवम् अधिकतम मूल्य के बीच की एक स्थिति में होता है। इस प्रकार माध्य को देखकर ही सम्पूर्ण श्रेणियों की केन्द्रीय विशेषता या मूल्य का पता लगाना हमारे लिए सरल होता है। इस अर्थ में माध्य विशाल संख्याओं का संक्षिप्तीकरण करने का एक साधन बन जाता है।

माध्यों की उपयोगिता एवम् उद्देश्य
(Utility and Objects of Averages)

सामाजिक अनुसन्धान में तथ्यों की विवेचना, विश्लेषण व निष्कर्षीकरण में माध्यों की उपयोगिता उल्लेखनीय है। निम्नलिखित विवेचना से माध्यों की उपयोगिता एवम् उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाएँगे—

---

1. "An average is a single simple expression in which the net result of complex group or a large numbers is concentrated."—Ghosh and Chowdhury, *Statistics : Theory and Practice*, Tenth Edition, p. 69.

2. "It is obvious that a figure which is used to represent a whole series should neither have the lowest value in the series nor the highest value but a value somewhere between these two limits, possibly in the centre where most of the items of series cluster. Such figures are called measures of central tendency or averages."—D. N. Elhance, *Fundamentals of Statistics*, p. 299.

(१) माध्यों का सर्वप्रथम उद्देश्य जटिल श्रेणियों तथा अंकों की श्रेणियों का संक्षिप्तीकरण करना है। माध्य के द्वारा बिखरे हुए विभिन्न गुणों वाले तथ्यों को संक्षिप्त रूप प्रदान किया जा सकता है। अंकों के ढेरों से कुछ भी पता नहीं चलता, पर माध्य एक अंक में होते हुए भी अंकों के ढेरों के केन्द्रीय गुण या मूल्य को प्रगट करता है।

(२) माध्यों का एक और उद्देश्य या उपयोगिता यह है कि इसके द्वारा तथ्यों की तुलना अत्यधिक सरल हो जाती है। अनेक अंकों वाली श्रेणियों की तुलना बहुत कठिन होती है परन्तु यदि उन्हें एक अंक का रूप प्रदान कर दिया जाए तो तुलना का काम स्वत: ही सरल हो जाता है। वास्तव में जटिल व विशाल संख्याओं की तुलना करने के उद्देश्य से ही माध्य निकाले जाते हैं।

(३) जैसा कि सर्वश्री घोष तथा चौधरी ने लिखा है कि विशाल समूह का एक संक्षिप्त चित्र प्रदर्शित करना है जिससे विश्लेषण व विवेचन का काम हमारे लिए सरल हो जाए। वास्तविकता तो यह है कि विशाल समूह का एक संक्षिप्त रूप प्रगट करके विश्लेषण व व्याख्या के कार्य को सरल बनाना माध्य का एक उल्लेखनीय उद्देश्य है।

(४) माध्य के द्वारा अंकों की दो या अधिक श्रेणियों या समूहों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों तथा अनुपात का अनुमान लगाया जाता है। वैज्ञानिक विश्लेषण व व्याख्या के लिए इस प्रकार के सम्बन्धों व अनुपात की जानकारी आवश्यक होती है। माध्य इस कार्य में हमारी मदद करता है।

(५) माध्यों की एक उपयोगिता यह भी है कि ये हमारे अध्ययन-कार्य को संक्षिप्त बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। एक समुदाय की समग्र इकाइयों का अध्ययन हमारे लिए सम्भव नहीं होता और इसीलिए हम निदर्शन-प्रणाली (Sampling Method) के द्वारा कुछ इकाइयों से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्रित करते हैं। इन तथ्यों को और आगे संक्षिप्त करने के लिए माध्यों का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार निदर्शन तथ्यों की सहायता से माध्य सम्पूर्ण समूहों का चित्र उपस्थित करने में सहायक होते हैं।

प्रतिनिधित्वपूर्ण माध्य के लक्षण
(Characteristics of Representative Average)

एक उत्तम तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण माध्य के निम्नलिखित गुण व लक्षण होते हैं—

(क) एक उत्तम माध्य सम्पूर्ण समूह की प्रतिनिधि संख्या होनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि इसमें समूह की इकाइयों के अधिकांश गुण पाए जाते हों। उसे एक ऐसी संख्या होनी चाहिए जो समूह की विभिन्न इकाइयों के अधिकाधिक निकट हो और उसे देखकर सम्पूर्ण के बारे में जानकारी प्राप्त हो सके।

(ख) माध्य निश्चित तथा स्पष्ट वर्णन किए जाने के योग्य हो जिससे कि निरीक्षक को उसके मूल्य के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अनुमान न लगाना पड़े। इसका तात्पर्य यह हुआ कि माध्य की अभिव्यक्ति निश्चित संख्या द्वारा होनी चाहिए, न कि गुणात्मक प्रतीकों द्वारा।

(ग) माध्य ऐसा हो जो कि सरलता व शीघ्रता से निकाला जा सके। लेकिन ऐसा करते हुए हिसाब लगाने की सरलता को महत्त्व नहीं देना चाहिए।

ऐसा करने से यह सम्भव है कि तथ्यों की श्रेणियों के कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों की अवहेलना हो जाए। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि माध्य निकालने की गणना-पद्धति कठिन व जटिल हो। ऐसा होने पर माध्य की वास्तविक उपयोगिता लोगों को प्राप्त नहीं हो सकेगी। अतः माध्य निकालने की विधि सरल हो जिससे कि सभी लोग उसका लाभ उठा सकें।

(घ) माध्य में स्थिरता होनी चाहिए। माध्य एक ऐसी संख्या होनी चाहिए जिस पर थोड़े-बहुत परिवर्तन का अधिक प्रभाव न पड़े अर्थात् कुछ इकाइयों के सम्मिलित कर लेने अथवा छोड़ देने से माध्य पर विशेष अन्तर न आए।

(ङ) माध्य ऐसा होना चाहिए जिसकी आगे गणितीय एवम् बीजगणितीय विवेचना की जा सके।

(च) माध्य एक निरपेक्ष (absolute) संख्या हो, सापेक्ष (relative) नहीं। यह एक ऐसी राशि नहीं है जिसे किसी दूसरी राशि की अपेक्षाकृत कम या अधिक कहकर प्रदर्शित किया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि माध्य को एक निश्चित संख्या के रूप में प्रगट होना चाहिए, न कि किसी संख्या से कम या अधिक है—यह कहकर हम उसे प्रगट करें। उदाहरणार्थ, माध्य २० हो सकता है क्योंकि यह एक निश्चित संख्या है, पर यही माध्य १० से अधिक है अथवा ३० से कम है—यह कहकर उसे प्रगट नहीं करना चाहिए।

माध्यों के प्रकार
(Types of Averages)

सर्वश्री घोष और चौधरी (Ghosh and Chowdhury) ने माध्यों के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है—

I. स्थिति माध्य (Averages of Position)
   (१) बहुलक (Mode)
   (२) मध्यांक (Median)

II. गणितीय माध्य (Mathematical Averages)
   (१) समान्तर माध्य (Arithmetic Average or Mean)
   (२) ज्यामितीय या गुणोत्तर माध्य (Geometric Mean)
   (३) हरात्मक माध्य (Harmonic Mean)
   (४) समीकरण माध्य (Quadratic Mean)

III. अन्य व्यावहारिक माध्य (Other of Business Averages)
   (१) भ्रमित माध्य (Moving Average)
   (२) प्रगतिशील माध्य (Progressive Average)

उपरोक्त प्रकार के माध्यों में से केवल उन्हीं के विषय में विवेचना करेंगे जिनका कि सामाजिक अनुसन्धान-कार्य में तथ्यों के विश्लेषण व व्याख्या के लिए विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है।

समान्तर माध्य
(Arithmetic Average or Mean)

सर्वश्री घोष तथा चौधरी के अनुसार, "समान्तर माध्य जिसे कि समान्तर माध्य या केवल मध्यक भी कहते हैं वह परिमाण है जो कि किसी चल (variable) में पदों के मूल्यों के योग को उनकी संख्या से भाग देकर प्राप्त होता है।"[3]

उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि समान्तर माध्य वास्तव में औसत निकालना है जिसके विषय में छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। यदि हमें प्रत्येक इकाई का मूल्य अलग-अलग मालूम है तो समान्तर माध्य या औसत निकालने के लिए उन सभी इकाइयों को जोड़कर इकाइयों की संख्या से भाग दे देगें। भाग देने से जो परिणाम प्राप्त होगा उसे औसत या समान्तर माध्य कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समान्तर माध्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(अ) समान्तर माध्य कुल पदों के माप के योग को पदों की संख्या से भाग देकर निकाला जाता है।

(ब) इसमें समस्त पद मूल्यों का उपयोग किया जाता है अर्थात् समस्त पदों को समान महत्त्व दिया जाता है। किसी मूल्य की न तो उपेक्षा की जाती है और न महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक पद की गणना केवल एक बार होती है।

(स) यदि समान्तर माध्य तथा पदों की संख्या ज्ञात हो तो कुल पदों का वास्तविक योग जाना जा सकता है। इसी प्रकार पदों की संख्या भी जानी जा सकती है।

(द) समान्तर माध्य आवृत्तियों पर निर्भर नहीं रहता बल्कि समस्त पदों के मूल्य पर निर्भर रहता है।

समान्तर माध्य निकालने की विधि
(Method of calculating Mean)

समान्तर माध्य दो सम्भावित प्रणालियों द्वारा निकाला जा सकता है—(अ) प्रत्यक्ष विधि (Direct Method) और (ब) संक्षिप्त विधि (Short-cut Method)। हम एक-एक करके यहाँ दोनों विधियों के सम्बन्ध में विवेचना करेंगे।

सरल श्रेणी में मध्यक निकालना
(Calculation of Mean in Simple Series)

(अ) प्रत्यक्ष विधि (Direct Method)—इस विधि के द्वारा समान्तर माध्य निकालने के लिए सर्वप्रथम समस्त पदों के मूल्यों को जोड़ लिया जाता है। फिर उसमें पदों की संख्या का भाग दिया जाता है। प्राप्त लब्धि समान्तर माध्य होता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस बात का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

उदाहरण १—नीचे १५ प्रत्याशियों के लोक सेवा आयोग साक्षात्कार में प्राप्तांकों का विवरण दिया गया है, उनका समान्तर माध्य प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा ज्ञात कीजिए।

---

3. "The arithmetic average, also called the arithmetic mean or simple mean is the quantity obtained by dividing the sum of the values of the items in a variable by their number."—Ghosh and Chowdhury, *Statistics : Theory and Practice*, p. 85.

प्राप्तांक—१८०, १६०, १५१, १४६, १४३, १२८, ११३, १२४, ११२, १०८, ११०, १०१, १०२, ६८ और ८५।

उपरोक्त प्राप्तांकों के आधार पर समान्तर माध्य निकालने के लिए प्रत्यक्ष प्रणाली इस प्रकार होगी—

प्राप्तांकों का योग

Σx (सिगमा एक्स) = १८० + १६० + १५१ + १४६ + १४३ + १२८ + ११३ + १२४ + ११२ + १०८ + ११० + १०१ + १०२ + ६८ + ८५

Σx = १८३१

प्रत्याशियों की संख्या n = १५

अतः समान्तर माध्य $M = \frac{\Sigma x}{n} = \frac{१८३१}{१५}$

= १२२·०७

(ब) संक्षिप्त विधि (Short-cut Method)—यदि श्रेणियाँ लम्बी हों और मूल्य भिन्न-भिन्न हों तो प्रत्यक्ष विधि से समान्तर माध्य निकालने में जोड़ने आदि के काम में काफी परेशानी होती है। इसीलिए परिश्रम तथा समय बचाने के उद्देश्य से एक संक्षिप्त विधि का उपयोग किया जाता है। इस विधि में दिए गए किसी मूल्य को भी माध्य मान लिया जाता है, फिर प्रत्येक दिए हुए मूल्य का इस कल्पित माध्य से विचलन (deviation) ज्ञात कर लिया जाता है अर्थात् कल्पित माध्य और पदों के मूल्यों में जो अन्तर है उसे अलग-अलग मालूम किया जाता है। यदि पद का मूल्य कल्पित माध्य के मूल्य से कम है तो इस अन्तर को ऋण चिन्ह (—) से दिखाया जाता है, पर यदि पद का मूल्य कल्पित माध्य के मूल्य से ज्यादा है तो अन्तर को धन चिन्ह (+) से प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक पद मूल्य का विचलन या अन्तर मालूम कर लिया जाता है। फिर इन समस्त विचलनों के योग को पदों की संख्या से भाग देकर जो लब्धि आती है उसे कल्पित माध्य में जोड़ दिया जाता है, यही वास्तविक माध्य होता है। निम्नलिखित उदाहरण से इस विधि का और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा।

उदाहरण २—उदाहरण १ में १५ प्रत्याशियों के प्राप्तांकों का समान्तर माध्य संक्षिप्त विधि द्वारा ज्ञात कीजिए।

संक्षिप्त विधि द्वारा समान्तर माध्य ज्ञात करने के लिए सर्वप्रथम किसी भी प्राप्तांक को कल्पित माध्य मान लेना होगा और फिर अन्य सभी प्राप्तांकों का इस कल्पित माध्य से विचलन ज्ञात करना होगा जैसा कि निम्नलिखित सारिणी में दिखाया गया है जिसमें कि प्राप्तांक ११३ को कल्पित माध्य (०) माना गया है—

संक्षिप्त विधि द्वारा समान्तर माध्य ज्ञात करना

सारिणी नं० २

प्राप्तांक (x)	कल्पित माध्य ११३ से विचलन (d)
१८०	६७
१६०	४७
१५१	३८
१४६	३३
१४३	३०
१२८	१५
११३	०
१२४	११
११२	— १
१०८	— ५
११०	— ३
१०१	— १२
१०२	— ११
६८	— ४५
८५	— २८
N = १५→ योग	१३६

इस रीति में समान्तर माध्य—

$$M = A + \frac{\Sigma d}{N}$$

यहाँ कल्पित माध्य A = ११३

Σd = १३६

N = १५ (क्योंकि प्राप्तांक १५ प्रत्याशियों के हैं)

अतः M = ११३ + $\frac{१३६}{१५}$

या, M = ११३ + ९·०७

M = १२२·०७ (लगभग)

अर्थात् १५ प्रत्याशियों के प्राप्तांकों का समान्तर माध्य = १२२·०७ (लगभग)।

खण्डित श्रेणी में समान्तर माध्य निकालना (Calculation of Mean in Discrete Series)

(अ) प्रत्यक्ष विधि (Direct Method)—समान्तर माध्य उस अवस्था में निकाला जा सकता है जब कि विभिन्न पद खण्डित श्रेणियों में हों। ऐसी स्थिति में माध्य ज्ञात करने की विधि के निम्नलिखित चरण हैं—

(क) प्रत्येक आवृत्ति को उससे सम्बन्धित पद के मूल्य से गुणा कीजिए।

(ख) इस प्रकार सभी गुणनफल के योग को मालूम कीजिए।

(ग) इन गुणनफलों के योगों को आवृत्तियों के योग से भाग दीजिए।

(घ) प्राप्त लब्धि समान्तर माध्य होगा।

इस विधि को विभिन्न चिह्नों द्वारा एक सूत्र के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है—

यदि हम यह मान लें कि—

पद का मूल्य $= x$

आवृत्ति $= f$

पद का मूल्य $\times$ आवृत्ति $= fx$

आवृत्तियों का योग $= \Sigma f$

(पद का मूल्य $\times$ आवृत्ति) का योग $= \Sigma fx$

तो उपरोक्त विधि के अनुसार—

$$M = \frac{\Sigma fx}{\Sigma f}$$

अर्थात् माध्य $(M) = \dfrac{\text{पदों के मूल्य और आवृत्तियों के गुणनफल का योग}}{\text{आवृत्तियों का योग}}$

एक उदाहरण द्वारा उपरोक्त सूत्र का और भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

उदाहरण ३—निम्न सारिणी में कुछ परिवारों में सदस्यों की संख्या एवं उनसे सम्बन्धित आवृत्तियाँ दी गई हैं। प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा परिवार के सदस्यों का माध्य ज्ञात कीजिए।

सदस्य संख्या	परिवारों की संख्या (आवृत्ति)
१	३
२	५
३	९
४	६
५	१५
६	२१
७	१३
८	१०
९	७
१०	५

प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा माध्य ज्ञात करने के लिए प्रत्येक पद मूल्य (सदस्य संख्या) और उस पद से सम्बन्धित आवृत्ति (परिवारों की संख्या) के गुणनफल का योग तथा आवृत्तियों का योग मालूम करना होगा जैसा कि निम्नलिखित सारिणी में दिखाया गया है।

प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा परिवार के सदस्यों का समान्तर माध्य ज्ञात करना

सारिणी नं० ३

सदस्य संख्या (Size of Item) x	परिवारों की संख्या (frequency) f	$f \times x$
१	३	३
२	५	१०
३	९	२७
४	६	२४
५	१५	७५
६	२१	१२६
७	१३	९१
८	१०	८०
९	७	६३
१०	५	५०
योग	$\rightarrow \Sigma f=$ ९४	$\Sigma fx=$ ५४९

समान्तर माध्य $M=\frac{\Sigma fx}{\Sigma f}$

यहाँ परिवारों की संख्या जो सर्वेक्षण-कार्य में ली गई $=\Sigma f=$ ९४

इन ९४ परिवारों में कुल सदस्य $=\Sigma fx=$ ५४९

$\therefore M=\frac{\Sigma fx}{\Sigma f}=\frac{५४९}{९४}=$ ५·८४ सदस्य

अतः परिवार में सदस्यों का माध्य = ५·८४ सदस्य हैं।

(ब) संक्षिप्त विधि (Short-cut Method)—संक्षिप्त विधि द्वारा समान्तर माध्य निकालने के लिए निम्नलिखित चरण होते हैं—

(क) सर्वप्रथम खण्डित श्रेणियों (discrete series) में से किसी भी एक पद को कल्पित माध्य मानकर पद मूल्यों का उस कल्पित माध्य से विचलन (deviation) मालूम किया जाता है।

(ख) तत्पश्चात् प्रत्येक आवृत्ति से उससे सम्वन्धित विचलन को गुणा करके सभी गुणनफलों के योग को मालूम किया जाता है।

(ग) इस प्रकार प्राप्त योग को आवृत्तियों के योग से भाग देकर लब्धि को ज्ञात किया जाता है। इस लब्धि को कल्पित माध्य में जोड़ दिया जाता है।

(घ) यही जोड़ समान्तर माध्य होता है।

यदि कल्पित माध्य को A, आवृत्तियों के योग को n, आवृत्ति (f) व विचलन (d) के गुणनफलों के योग को Σfd मान लिया जाए तो उपरोक्त संक्षिप्त विधि को एक सूत्र के रूप में हम इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$M=A+\frac{\Sigma fd}{n}$$

अर्थात् माध्य = कल्पित माध्य + $\frac{\text{आवृत्ति व विचलन के गुणनफलों का योग}}{\text{आवृत्तियों का योग}}$

एक उदाहरण द्वारा इस सूत्र को और भी स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है।

उदाहरण ४—उदाहरण ३ में दी गई सारिणी के आधार पर परिवार के सदस्यों का समान्तर माध्य संक्षिप्त विधि द्वारा ज्ञात कीजिए।

संक्षिप्त विधि द्वारा परिवार के सदस्यों का माध्य ज्ञात करना

सारिणी नं० ४

सदस्य संख्या x	परिवारों की संख्या f	कल्पित माध्य A=५ से विचलन d	कुल विचलन $f \times d$
१	३	—४	—१२
२	५	—३	—१५
३	९	—२	—१८
४	६	—१	— ६
५ A	१५	०	०
६	२१	१	२१
७	१३	२	२६
८	१०	३	३०
९	७	४	२८
१०	५	५	२५
योग	N=९४		Σfd=७९

लघु रीति से समान्तर माध्य निकालने का सूत्र—

$$M = A + \frac{\Sigma f d}{N}$$

यहाँ कल्पित माध्य A = ५

$\Sigma f d$ = ७९

N = ९४ (अर्थात् परिवारों की कुल संख्या)

अतः M = ५ + ५ + $\frac{७९}{९४}$

या, M = ५ + ·८४

= ५·८४

अतः परिवार के सदस्यों का माध्य = ५·८४ सदस्य

अखण्डित (सतत) श्रेणी का माध्य निकालना
(Calculation of Mean in Continuous Series)

यदि वर्गान्तरों (class intervals) की आवृत्ति या वारम्वारता (frequency) दी हुई है तो भी माध्य निकालने की दो विधियाँ हैं—एक तो प्रत्यक्ष विधि और दूसरी संक्षिप्त या लघु विधि। इन दोनों विधियों के सम्बन्ध में यहाँ अलग-अलग विवेचना की जा सकती है।

(अ) प्रत्यक्ष विधि (Direct Method)—प्रत्यक्ष विधि द्वारा अखण्डित श्रेणियों का माध्य बिल्कुल उसी तरह निकाला जाता है जैसे प्रत्यक्ष विधि द्वारा खण्डित श्रेणियों का माध्य निकाला जाता है। केवल इसमें एक चरण अधिक इस रूप में हो जाता है कि इसमें वर्गान्तरों (class intervals) का मध्य-मूल्य या मध्यमान निकाल लिया जाता है और इस प्रकार अखण्डित श्रेणी खण्डित श्रेणी में बदल जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष विधि को हम निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) प्रत्येक वर्गान्तर का मध्यमान मालूम कीजिए। यह मध्यमान किसी वर्गान्तर की उच्चतर सीमा (upper limit) तथा निम्नतर सीमा (lower limit) के योग का आधा होता है। इस प्रकार यदि कोई वर्गान्तर सीमा (class interval) १०—१५ है तो इसका मध्यमान $\frac{१० + १५}{२}$ = १२·५ होगा।

(ख) प्रत्येक वर्गान्तर की आवृत्ति (f) से उसी वर्गान्तर के मध्यमान (x) को गुणा कीजिए और उनका गुणनफल (fx) मालूम कीजिए।

(ग) तत्पश्चात् उपरोक्त गुणनफलों का योग (Σfx) तथा आवृत्तियों का योग (Σf अर्थात् N) ज्ञात कीजिए।

(घ) गुणनफलों के योग (Σfx) का आवृत्तियों के योग (N) से भाग देकर लब्धि मालूम कीजिए।

(ङ) यही लब्धि माध्य होगा।

अतः संक्षिप्त विधि के सूत्र को हम इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$\text{माध्य } M = \frac{\Sigma f x}{N}$$

उदाहरण ५—निम्न सारिणी से समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए—

वर्गान्तर (वर्षों में)	आवृत्ति
१०—१२	५
१२—१४	८
१४—१६	७
१६—१८	६
१८—२०	११
२०—२२	२३

ऊपर लिखित प्रत्यक्ष विधि के अनुसार समान्तर माध्य ज्ञात करने के लिए $\Sigma f x$ तथा N को मालूम करना होगा। यह उपरोक्त सारिणी को इस प्रकार बदलने से सम्भव होगा—

सारिणी नं० ५

वर्गान्तर	वर्गान्तरों का मध्यमान (x)	आवृत्ति (f)	गुणनफल (fx)
१०—१२	$\frac{१०+१२}{२}=११$	५	११×५=५५
१२—१४	१३	८	१०४
१४—१६	१५	७	१०५
१६—१८	१७	६	१०२
१८—२०	१९	११	२०९
२०—२२	२१	२३	४८३
	योग	$N=$६०	$\Sigma fx=$१०५८

अतः $M=\frac{\Sigma fx}{N}=\frac{१०५८}{६०}=$१७·६३ वर्ष (लगभग)

प्रत्यक्ष विधि का एक और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है।

उदाहरण ६—निम्नलिखित सारिणी से समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए—

वर्गान्तर (Class Interval) x	(आवृत्ति (Frequency) f
६·५— ७·५	१
७·५— ८·५	९
८·५— ९·५	२०
९·५—१०·५	४४
१०·५—११·५	३७
११·५—१२·५	१९
१२·५—१३·५	७
१३·५—१४·५	३

(आगरा, एम० ए०, समाजशास्त्र, १९६५)।

उक्त सारिणी से समान्तर माध्य की गणना

सारिणी नं० ६

वर्गान्तर x	आवृत्ति f	वर्गान्तर का मध्यमान x	गुणनफल $f \times x$
६·५— ७·५	१	७	७
७·५— ८·५	९	८	७२
८·५— ९·५	२०	९	१८०
९·५—१०·५	४४	१०	४४०
१०·५—११·५	३७	११	४०७
११·५—१२·५	१९	१२	२२८
१२·५—१३·५	७	१३	९१
१३·५—१४·५	३	१४	४२
योग	(N) १४०		(Σfx) १४६७

समान्तर माध्य $M = \frac{\Sigma fx}{N}$

यहाँ $\Sigma f x =$ १४६७

और $N = \Sigma f =$ १४० है

अतः $M = \frac{\Sigma fx}{\Sigma f}$

$= \frac{१४६७}{१४०}$

$=$ १०·४८ (लगभग)

(ब) **संक्षिप्त विधि (Short-cut Method)**—यह संक्षिप्त विधि भी खण्डित श्रेणियों का माध्य निकालने के लिए प्रयोग की जाने वाली संक्षिप्त विधि के ही समान है, केवल इसमें भी वर्गान्तरों का मध्यमान निकाल लिया जाता है। अतः इस संक्षिप्त विधि को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) प्रत्येक वर्गान्तर (class interval) का मध्यमान (x) ज्ञात कीजिए। यह मध्यमान किसी वर्गान्तर की उच्चतर सीमा तथा निम्नतर सीमा के योग का आधा होगा।

(ख) किसी वर्गान्तर के मध्यमान को कल्पित माध्य (A) मान लीजिए। पर ऐसा करते समय दो बातों का ध्यान रखिए—**प्रथम** तो यह कि वह कल्पित माध्य उस वर्गान्तर का मध्यमान हो जिसकी बारम्बारता अर्थात् आवृत्ति (frequency) सब से अधिक हो और **द्वितीय** वह कल्पित माध्य उस वर्गान्तर का मध्यमान हो जो दिए हुए वर्गान्तरों के लगभग मध्य में हो।

(ग) प्रत्येक वर्गान्तर (class interval) के मध्यमान (x) तथा कल्पित माध्य (A) का अन्तर ($x - A$) ज्ञात कीजिए अर्थात् कल्पित माध्य से वर्गान्तर के मध्यमानों का विचलन (d) मालूम करना होगा।

(घ) तत्पश्चात् प्रत्येक आवृत्ति (f) से उससे सम्बन्धित विचलन (d) को गुणा करके सभी गुणनफलों (fd) के योग (Σfd) को मालूम कीजिए।

(ङ) इस प्रकार प्राप्त योग (Σfd) को आवृत्तियों के योग (Σf अर्थात् N) से भाग देकर लब्धि ज्ञात कीजिए। इस लब्धि को कल्पित माध्य (A) के साथ जोड़ दीजिए।

(च) यही जोड़ समान्तर माध्य होगा।

इसी विधि को यदि एक सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जाए तो वह इस प्रकार होगा—

$$M = A + \frac{\Sigma fd}{N}$$

उदाहरण ७—निम्न सारिणी से समान्तर माध्य संक्षिप्त विधि से मालूम कीजिए—

वर्गान्तर (वर्षों में)	आवृत्ति
१०—१२	५
१२—१४	८
१४—१६	७
१६—१८	६
१८—२०	११
२०—२२	२३

उपरोक्त सारिणी से संक्षिप्त विधि द्वारा समान्तर माध्य ज्ञात करने के लिए सर्वप्रथम प्रत्येक वर्गान्तर (class interval) का मध्यमान (x) निकालना होगा और फिर किसी वर्गान्तर के मध्यमान को कल्पित माध्य A मान लेना होगा। माना कि वर्गान्तर १६—१८ का मध्यमान १७ कल्पित माध्य है अर्थात् A=१७ के। अब प्रत्येक वर्गान्तर के मध्यमान (x) तथा कल्पित माध्य (A) का अन्तर ($x-A$) $=d$ और आवृत्ति (f) व विचलन (d) का गुणनफल (fd) ज्ञात करने के लिए निम्न सारिणी बनानी होगी—

सारिणी नं० ७

वर्गान्तर	मध्यमान x	आवृत्ति f	विचलन $x-A=d$	गुणनफल fd
१०—१२	११	५	११—१७=—६	५ (—६)=—३०
१२—१४	१३	८	१३—१७=—४	—३२
१४—१६	१५	७	१५—१७=—२	—१४
१६—१८	१७A	६	१७—१७= ०	०
१८—२०	१९	११	१९—१७=+२	२२
२०—२२	२१	२३	२१—१७=+४	९२
योग		N=६०		Σfd=३८

$$\therefore M = A + \frac{\Sigma f d}{N}$$

$$= १७ + \frac{३८}{६०}$$

$$= १७ + \cdot६३$$

$$= १७\cdot६३ \text{ वर्ष (लगभग)}$$

उदाहरण ८—निम्न सारिणी से समान्तर माध्य संक्षिप्त विधि द्वारा ज्ञात कीजिए—

वर्गान्तर (Class Interval)	आवृत्ति (Frequency) f
६·५— ७·५	१
७·५— ८·५	६
८·५— ९·५	२०
९·५—१०·५	४४
१०·५—११·५	३७
११·५—१२·५	१९
१२·५—१३·५	७
१३·५—१४·५	३

संक्षिप्त विधि द्वारा माध्य ज्ञात करने के लिए उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर निम्न सारिणी को बनाना होगा—

सारिणी नं० ८

वर्गान्तर	वर्गान्तर का मध्यमान x	आवृत्ति f	कल्पित मध्यमान=१० से विचलन $x-A=d$	आवृत्ति व विचलन का गुणनफल fd
६·५— ७·५	७	१	—३	— ३
७·५— ८·५	८	६	—२	—१८
८·५— ९·५	९	२०	—१	—२०
९·५—१०·५	१०→A	४४	०	०
१०·५—११·५	११	३७	१	+३७
११·५—१२·५	१२	१९	२	+३८
१२·५—१३·५	१३	७	३	+२१
१३·५—१४·५	१४	३	४	+१२
	N=१४०			Σfd=+६७

$$M = A + \frac{\Sigma f d}{N}$$

$$= १० + \frac{६७}{१४०}$$

$$= १० + \cdot४८$$

$$= १०\cdot४८ \text{ (लगभग)}$$

समान्तर माध्य के गुण
(Merits of Arithmetic Average or Mean)

माध्य प्रवृत्ति को मापने के साधन के रूप में समान्तर माध्य के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं क्योंकि इसके निम्न गुण हैं—

(१) समान्तर माध्य स्पष्टतः परिभाषित होता है और इसीलिए उसके सम्वन्ध में किसी को भी कोई सन्देह नहीं होता।

(२) समान्तर माध्य की गणना अत्यन्त सरल होती है और इसीलिए माध्य निकालने के लिए गणित सम्वन्धी उच्चस्तरीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है।

(३) चूंकि समान्तर माध्य की गणना अत्यन्त सरल होती है इसलिए इससे अधिकाधिक व्यक्ति लाभ उठा सकते हैं क्योंकि सामान्य गणित जानने से भी वे माध्य निकाल सकते हैं।

(४) समान्तर माध्य निकालने के लिए विभिन्न श्रेणियों के अंकों को किसी व्यवस्थित क्रम में रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अंक जैसे भी दिए होते हैं उसी रूप में उनका प्रयोग करके माध्य निकाला जा सकता है क्योंकि इसमें जोड़ने, घटाने, भाग देने और घटाने का ही काम केवल करना पड़ता है।

(५) समान्तर माध्य निकालने के लिए श्रेणियों (series) के सभी पदों के वारे में जानकारी आवश्यक नहीं है। यदि अंकों का अथवा पद के परिणामों का कुल योग एवं उनकी संख्या भी मालूम है तो उनके द्वारा समान्तर माध्य ज्ञात किया जा सकता है। उसी प्रकार यदि दो या दो से अधिक श्रेणियों में प्रत्येक का समान्तर माध्य ज्ञात हो तो सभी श्रेणियों का सम्मिलित (combined) समान्तर माध्य ज्ञात किया जा सकता हैं।

(६) समान्तर माध्य में श्रेणियों के छोटे एवं वड़े सभी प्रकार के पदों के परिणामों को महत्त्व दिया जाता है; और प्रत्येक पद की गणना केवल एक बार होती है। किसी पद मूल्य की न तो उपेक्षा की जाती है और न अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(७) समान्तर माध्य तुलनात्मक अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।

समान्तर माध्य के दोष
(Demerits of Arithmetic Average)

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी समान्तर माध्य के कुछ अपने दोष हैं जो कि इस प्रकार हैं—

(अ) यह सम्भव है कि समान्तर माध्य ऐसे परिणामों को प्रस्तुत करें जो कि वास्तव में असम्भव हों जैसे किसी स्टेशन पर प्रतिदिन उतरने वाले यात्रियों की संख्या का समान्तर माध्य २००·४५ हो सकता है किन्तु वास्तव में २००·४५ व्यक्ति किसी भी स्टेशन पर कभी भी नहीं उतरते होंगे। उसी प्रकार प्रति माँ बच्चों की संख्या का माध्य २·७ हो सकता है जो कि वास्तव में असम्भव है क्योंकि बच्चों की संख्या पूर्णांक में ही होती है, न कि ·७। एक बार प्रसिद्ध हास्य पत्रिका 'पंच' ने लिखा था कि एक शाही कमीशन को प्रतिमाह २·२ सन्तानों की संख्या बहुत ही बेतुकी लगी और इसका सम्भावित कारण मध्यम वर्ग की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा समझा गया; इसीलिए शाही कमीशन ने सिफारिश की थी कि मध्यम वर्ग के लोगों को कुछ आर्थिक

सहायता इस बात के लिए दी जाए कि वे सन्तानों का औसत पूर्णांक तथा अधिक सुविधाजनक संख्या तक बढ़ा सकें।

(ब) समान्तर माध्य पर असाधारण इकाई का अनुचित प्रभाव पड़ता है, विशेषकर यदि ऐसी असाधारण इकाइयाँ बहुत बड़ी या बहुत छोटी हैं। उदाहरणार्थ, किसी कक्षा में यदि एक विद्यार्थी ने गणित में १०० अंक प्राप्त किए तथा शेष ६ विद्यार्थियों ने २०, २५, १६, २४, १५, और २८ अंक प्राप्त किए हों तो इसका समान्तर माध्य=१००+२०+२५+१६+२४+१५+२८=२३१÷७=३३ होगा। यदि १०० अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी को सम्मिलित न किया जाए तो समान्तर माध्य=२०+२५+१६+२४+१५+२८=१३१÷६=२२ के लगभग होगा। अतः स्पष्ट है कि यदि श्रेणियों में कोई बहुत बड़ी या बहुत छोटी संख्या आ जाए तो समान्तर माध्य समूह का वास्तविक चित्र प्रस्तुत नहीं करता है।

(स) यदि पदों की संख्या अधिक है तो इसे निरीक्षण मात्र से ही ज्ञात नहीं किया जा सकता। बड़ी संख्या में बड़े-बड़े जोड़, गुणा, भाग आदि करने की आवश्यकता होती है जो कि साधारण व्यक्ति के लिए सरल नहीं होता है।

(द) समान्तर माध्य निकालने के लिए यह आवश्यक है कि पदमाला के समस्त पदों के मापों का योग अथवा अलग-अलग माप मालूम हो। यदि थोड़े से पद छूट जाएँ तो माध्य ज्ञात नहीं किया जा सकता जब कि माध्यिका अथवा मध्यांक (Median) और बहुलक (Mode) ज्ञात किया जा सकता है।

(य) समान्तर माध्य प्रगतिशील (progressive) अथवा प्रतीयगामी (regressive) प्रवृत्तियों अर्थात् बढ़ती हुई या घटती हुई प्रवृत्तियों की ओर संकेत नहीं करता है और कभी-कभी तो इससे भ्रामक परिणाम प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक विद्यार्थी को तिमाही, छमाही तथा वार्षिक परीक्षा में क्रमशः कुल अंक ३८१, ४२७ और ५०२ मिले और एक अन्य विद्यार्थी को यही अंक क्रमशः ५०२, ४२७ और ३८१ मिले तो दोनों का माध्य प्राप्तांक यद्यपि एक ही होगा पर उससे यह पता नहीं चलेगा कि एक के प्राप्तांक क्रमशः बढ़ते गए। इस प्रकार घटने-बढ़ने की प्रवृत्तियाँ माध्य द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकतीं।

माध्यिका या मध्यांक
(Median)

माध्यिका या मध्यांक किसी पद शृंखला में वह विन्दु होता है जो सम्पूर्ण शृंखला व श्रेणी (series) को दो बराबर भागों में विभाजित कर देता है। इस प्रकार ५० प्रतिशत पद मूल्य मध्यांक के ऊपर और शेष ५० प्रतिशत पद मूल्य उसके नीचे होते हैं। परन्तु ऐसा होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी पद मूल्यों या चल-राशि के मानों (values of variable quantities) को आरोही या अवरोही क्रमों (ascending or descending order) में रखा जाए। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि मध्यांक कभी कोई विशिष्ट पद नहीं होता बल्कि मध्य पद का परिमाण अथवा माप ही मध्यांक है।[4]

4. "Mark here that the central item itself is not the median; it is only the item whose measure is the median."—Dr. J. C. Chaturvedi, *Mathematical Statistics*, Students Friends & Co., Agra, 1961, p. 106.

मध्यांक का अर्थ व विशेषताएँ
(Meaning and Characteristics of Median)

डॉ० चतुर्वेदी (Chaturvedi) के अनुसार, "यदि एक श्रेणी (series) के पदों को उनके परिणामों के आधार पर आरोही अथवा अवरोही क्रमों से लगाया जाए तो बिलकुल बीच वाली राशि के मान या माप को माध्यिका या मध्यांक कहते हैं।"[5]

सर्वश्री घोष तथा चौधरी (Ghosh and Chowdhury) के अनुसार, "मध्यांक श्रेणी में उस पद का मूल्य है जो कि श्रेणी को दो बराबर भागों में बाँटता है जिसमें से एक भाग में मध्यांक से कम और दूसरे भाग में मध्यांक से अधिक मूल्य होते हैं।"[6]

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि मध्यांक दी हुई चल राशि के मानों के बीच वाली राशि का मान होता है। उदाहरणार्थ, किसी कक्षा के ३१ विद्यार्थियों को उनकी ऊँचाई के अनुसार एक पंक्ति में खड़ा करने पर १६वाँ विद्यार्थी बिलकुल बीच का विद्यार्थी होगा और उसी की ऊँचाई उन ३१ विद्यार्थियों की ऊँचाई की माध्यिका होगी क्योंकि ऊँचाई यहाँ पर चल राशि (variable quantity) है। स्मरण रहे कि १६वाँ विद्यार्थी यद्यपि बिलकुल बीच का विद्यार्थी है, पर यह १६ संख्या या राशि मध्यांक नहीं है बल्कि इस १६वें राशि के मान या माप को मध्यांक कहेंगे। इस प्रकार बीच वाला पद या राशि स्वयं मध्यांक का नहीं होता, उसे तो मध्यांक का मापदण्ड (scale of measurement) समझना चाहिए।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर मध्यांक की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

(अ) मध्यांक बिलकुल बीच वाला पद नहीं होता है बल्कि उस पद का मान या मूल्य होता है।

(ब) मध्यांक सम्पूर्ण श्रेणी को दो भागों में विभाजित कर देता है जिसमें से एक भाग में इससे कम और दूसरे भाग में इससे अधिक मूल्य होते हैं।

(स) मध्यांक निकालने के लिए पदों को आरोही अथवा अवरोही क्रम से सजा लेना जरूरी होता है।

मध्यांक निकालने की विधि
(Method of calculating Median)

मध्यांक ज्ञात करने की सामान्य विधि यह है कि पदों को आरोही अथवा अवरोही क्रम में लगा लिया जाए जैसे १, २, ३, ४, ५ अथवा ५, ४, ३, २, १। इसके बाद मध्य पद को मालूम किया जाता है; इस मध्य पद का मूल्य, मान अथवा

---

5. "In the items of a series are arranged in ascending or descending order of magnitude, the measures of the central item in the series is termed the median."—Dr. J. C. Chaturvedi, *Mathematical Statistics*, Students Friends & Co., Agra, 1961, p. 106.

6. "Median is the value of that item in a series which divides the series into two equal parts one part of consisting of all values less, and the other all values greater, than it."—Ghosh and Chowdhury, *op. cit.*, p. 76.

माप ही मध्यांक होता है। यदि पदों की संख्या सम (even number) में है तो मध्य में कोई पद न होने के कारण मध्य के दो पदों के मूल्यों को जोड़कर आधा करने से मध्यांक का मूल्य ज्ञात होता है।

सरल श्रेणी का मध्यांक
(Median of Simple Series)

सरल श्रेणी का मध्यांक निकालने के लिए निम्नलिखित दो सूत्रों का प्रयोग किया जाता है।

यदि किसी श्रेणी में कुल पदों की संख्या को N मान लिया जाए, तो मध्यांक का सूत्र इस प्रकार होगा—

(अ) यदि N विषम संख्या (odd number) में है तो

$$\text{मध्यांक } Me = \frac{N+१}{२} \text{वें पद का मान}$$

(ब) यदि N सम संख्या (even number) में है तो

$$\text{मध्यांक } Me = \frac{१}{२}\left[\frac{N}{२}\text{वें पद का मान} + \left(\frac{N}{२}+१\right)\text{वें पद का मान}\right]$$

उदाहरण ९—किसी खेत की ९ वर्षों की उपज कुन्तल में १३, १९, ११, १०, १२, १४, ७, १५ और १७ है, मध्यांक ज्ञात कीजिए।

हल—उपजों को आरोही क्रम में रखने पर

७, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १७, १९

यहाँ पदों की संख्या (N) ९ है।

अर्थात् $N = ९$

$$\therefore \text{मध्यांक } Me = \frac{N+१}{२} \text{वें पद का मान}$$

$$= \frac{९+१}{२} = ५\text{वें पद का मान}$$

$$= १३ \text{ कुन्तल}$$

उदाहरण १०—८०, ६२, ३३, ३५, ४५, ५८, ७५, ६४, ४२, ९१ प्राप्तांकों का मध्यांक ज्ञात करो।

हल—प्राप्तांकों को अवरोही क्रम से रखने पर

९१, ८०, ७५, ६४, ६२, ५८, ४५, ४२, ३५, ३३

यहाँ पदों की संख्या (N) १० है।

अर्थात् $N = १०$

$$\therefore \quad Me = \frac{१}{२}\left[\frac{N}{२}\text{वें पद का मान} + \left(\frac{N}{२}+१\right)\text{वें पद का मान}\right]$$

$= \frac{१}{२}$ [$\frac{१०}{२}$वें पद का मान + ($\frac{१०}{२}$ + १)वें पद का मान]
$= \frac{१}{२}$ [५वें पद का मान + (५ + १) = ६वें पद का मान]
$= \frac{१}{२}$ [६२ + ५८]
$= \frac{१}{२} \times$ १२०
= ६०

खण्डित श्रेणी का मध्यांक
(Median of Discrete Series)

खण्डित श्रेणी का मध्यांक निकालने के लिए उसी सूत्र का प्रयोग किया जाता है जिसका कि सरल श्रेणी (विषम संख्या) में। अर्थात् $Me = \frac{N+१}{२}$वें पद का मान होता है। इसमें केवल पदों की कुल संख्या (N) मालूम करने के लिए संचयी आवृत्ति (cumulative frequency) निकालनी पड़ती है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी—

उदाहरण ११—निम्नलिखित सारिणी में जूतों के मापों की आवृत्ति दी गई है उससे मध्यांक निकालिए।

जूतों का माप	जूतों के जोड़ों की संख्या
५·०	३०
५·५	४०
६·०	५०
६·५	१५०
७·०	३००
७·५	६००
८·०	९५०
८·५	८२०
९·०	७५०
९·५	४४०
१०·०	२५०
१०·५	१५०
११·०	४०
११·५	३९

हल—चूंकि उपरोक्त सारिणी में जूतों का माप आरोही क्रम से दिया हुआ है इसलिए जूतों के माप का मध्यांक निकालने के लिए हमें केवल जूतों की संख्या की संचयी आवृत्ति निकालनी होगी। अंतिम संचयी आवृत्ति स्वभावतः ही आवृत्तियों का कुल योग (N) होगा। इस प्रकार N मालूम हो जाने के बाद सूत्र $\frac{N+१}{२}$ के आधार पर हम उस पद को मालूम कर लेते हैं जिसका मान या मूल्य ही जूतों के माप का मध्यांक है। यह पद मालूम हो जाने के बाद हम यह देखते हैं कि उस पद की

स्थिति संचयी आवृत्ति की किस संख्या में है। उसी संख्या के सामने जूतों का जो माप है वही उस पद का मान होगा अर्थात् जूतों के माप का मध्यांक होगा। निम्नलिखित हल (solution) से इस स्थिति का और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा—

सारिणी नं० ११

जूतों का माप	आवृत्ति	संचयी आवृत्ति
५·०	३०	३०
५·५	४०	७०
६·०	५०	१२०
६·५	१५०	२७०
७·०	३००	५७०
७·५	६००	११७०
८·०	९५०	२१२०
८.५	८२०	२९४०
९·०	७५०	३६९०
९·५	४४०	४१३०
१०·०	२५०	४३८०
१०·५	१५०	४५३०
११·०	४०	४५७०
११·५	३९	४६०९

सूत्र $Me = \frac{N+१}{२}$

$= \frac{४६०९+१}{२}$

$= \frac{४६१०}{२}$

= २३०५वें पद का मान

चूंकि यह २३०५वाँ पद संचयी आवृत्ति के २९४० वाले पद में सम्मिलित है (क्योंकि उससे ऊपर २१२० है जो कि २३०५ से छोटा है) इसलिए इसी २९४०वें पद से सम्बन्धित जूतों का माप अर्थात् ८·५ मध्यांक हुआ।

इस प्रकार जूतों के माप का मध्यांक = ८·५

अखण्डित श्रेणी का मध्यांक

(Median of Continuous Series)

अखण्डित श्रेणी का मध्यांक निकालने के लिए सर्वप्रथम खण्डित श्रेणी की तरह $\frac{N+१}{२}$ सूत्र (formula) के आधार पर वर्गान्तर में मध्यांक की स्थिति ज्ञात की जाती है। जिस वर्गान्तर में मध्यांक स्थित होता है उसे मध्यांक वर्गान्तर कहते

हैं। मध्यांक वर्गान्तर (Median class interval) पता लग जाने के बाद अखण्डित श्रेणी का मध्यांक निम्न सूत्र द्वारा निकाला जाता है—

$$Me = L + \frac{\frac{N}{२} - F}{f} \times l$$

उपरोक्त सूत्र में Me = मध्यांक

L = मध्यांक वर्गान्तर की निम्नतर सीमा

N = आवृत्तियों का कुल योग

f = मध्यांक वर्गान्तर की आवृत्ति

F = मध्यांक वर्गान्तर से पूर्व वर्ग की संचयी आवृत्ति

l = मध्यांक वर्गान्तर की उच्चतर व निम्नतर सीमाओं का अन्तर

उदाहरण १२—निम्न सारिणी से मध्यांक की गणना कीजिए—

वर्गान्तर (Class Intervals)	आवृत्ति (Frequency)
६·५— ७·५	१
७·५— ८·५	९
८·५— ९·५	२०
९·५—१०·५	४४
१०·५—११·५	३७
११·५—१२·५	१९
१२·५—१३·५	७
१३·५—१४·५	३

हल—उपरोक्त सारिणी के आधार पर मध्यांक की गणना करने के लिए सर्वप्रथम संचयी आवृत्ति का पता लगाना होगा जैसा कि निम्नलिखित सारिणी में दिखाया गया है।

सारिणी नं० १२

वर्गान्तर	आवृत्ति	संचयी आवृत्ति
६·५— ७·५	१	१
७·५— ८·५	९	१०
८·५— ९·५	२०	३०
९·५—१०·५	४४	७४
१०·५—११·५	३७	१११
११·५—१२·५	१९	१३०
१२·५—१३·५	७	१३७
१३·५—१४·५	३	१४०N

उपरोक्त सारिणी के आधार पर अब हम मध्यांक वर्गान्तर का पता लगा सकते हैं अर्थात् उस वर्गान्तर को ज्ञात कर सकते हैं जिसमें कि मध्यांक की स्थिति है।

$$\text{मध्यांक वर्गान्तर} = \frac{N+१}{२} \text{वें पद का मान}$$

$$= \frac{१४०+१}{२} \text{ ,, ,, ,,}$$

$$= ७०\cdot५ \text{ ,, ,, ,,}$$

इस ७०·५वें पद की स्थिति संचयी आवृत्ति में ७४ में है जिसका कि वर्गान्तर ९·५—१०·५ है। यही मध्यांक वर्गान्तर है। अब मध्यांक की गणना हम निम्न सूत्र के आधार पर कर सकते हैं—

$$Me = L + \frac{\frac{N}{२} - F}{f} \times l$$

उपरोक्त सूत्र में L = मध्यांक वर्गान्तर की निम्नतर सीमा अर्थात् ९·५

N = आवृत्तियों का कुल योग = १४०

F = मध्यांक वर्गान्तर से पूर्व वर्ग की संचयी आवृत्ति = ३०

l = मध्यांक वर्गान्तर की उच्चतर व निम्नतर सीमाओं का अन्तर = (१०·५—९·५) = १

f = मध्यांक वर्गान्तर की आवृत्ति = ४४

$$\therefore Me = ९\cdot५ + \frac{\frac{१४०}{२} - ३०}{४४} \times १$$

$$= ९\cdot५ + \frac{७० - ३०}{४४} \times १$$

$$= ९\cdot५ + \frac{४०}{४४} \times १$$

$$= ९\cdot५ + \cdot९$$

मध्यांक = १०·४ (लगभग)

मध्यांक के गुण
(Merits of Median)

मध्यांक के कुछ गुण निम्नलिखित हैं—

(१) मध्यांक बहुत सरलता से मालूम किया जा सकता है; और साथ ही इसे समझना भी आसान है। पदों को एक क्रम से लगा देने पर मध्यांक की स्थिति का ज्ञान आसानी से हो सकता है क्योंकि इसकी स्थिति बीचोंबीच में होती है।

(२) मध्यांक दिए हुए पदों का ही एक अंश होता है। इसलिए वह सम्पूर्ण समूहों का उचित प्रतिनिधित्व करता है। इसका मान सभी पदों पर आधारित होता है।

(३) यदि पदों की संख्या मालूम हो तो विना समस्त पदों का परिणाम जाने ही मध्यांक ज्ञात किया जा सकता है। मध्यांक मालूम करने के लिए अन्तिम पदों की आवृत्तियाँ जानना भी आवश्यक नहीं है, केवल पदों की संख्या मालूम होनी चाहिए।

(४) समान्तर माध्य की भाँति मध्यांक पर किसी बहुत बड़ी संख्या या छोटी संख्या का अनुचित प्रभाव नहीं पड़ता है।

(५) कुछ अधिक पदों को जोड़ देने पर भी मध्यांक का आकार अधिक बदल नहीं जाता है।

(६) मध्यांक उस समय अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है जबकि अध्ययन का विषय या तथ्य की प्रकृति ऐसी हो जिसे कि निश्चित इकाइयों में मापा नहीं जाता है; जैसे कि बच्चे की बुद्धि आदि।

मध्यांक के दोष
(Demerits of Median)

उपरोक्त गुण होते हुए भी मध्यांक के कुछ अपने दोष निम्नवत् हैं—

(क) बीजगणितीय तरीकों से मध्यांक ज्ञात नहीं किया जा सकता अर्थात् यदि दो या दो से अधिक श्रेणियों का केवल मध्यांक अलग-अलग ज्ञात हो तो उनका सम्मिलित मध्यांक ज्ञात नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में उन विभिन्न मध्यांकों से कोई एक ऐसा सामान्य मध्यांक नहीं निकाला जा सकता जो उन सभी श्रेणियों का उचित प्रतिनिधित्व कर सके। इसका कारण यह है कि एक श्रेणी का मध्यांक, जो उस श्रेणी का मध्य मूल्य होता है, दूसरी श्रेणी के मध्य मूल्य से पूर्णतया पृथक् होगा।

(ख) समान्तर माध्य की भाँति मध्यांक भी कभी-कभी वास्तविक स्थिति का निरूपण नहीं करता है अर्थात् मध्यांक किसी भी इकाई पर पूर्णरूप से लागू न हो क्योंकि श्रेणी में मध्यांक की स्थिति एक ऐसे स्थान पर हो सकती है जहाँ पर बहुत कम या कोई भी पद उससे मिलता-जुलता न हो।

(ग) पदमाला में बहुत ज्यादा अन्तर या विचलन होने पर कभी-कभी मध्यांक प्रतिनिधि मात्र नहीं होता अर्थात् पदों के विस्तार में बहुत ज्यादा भिन्नता होने पर परिणाम भ्रामक हो सकता है।

विभाजित पद मूल्य—चतुर्थांशीय, दशांशीय और शतांशीय मान
(Partition Values—Quartiles, Deciles and Percentiles)

मध्यांक पूरी पदमाला या श्रेणी को दो बराबर भागों में विभाजित कर देता है और इस प्रकार हमें श्रेणी के मूल्य के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हो जाती है। पर और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए पदमाला या श्रेणी को ४ या १० या १०० भागों में बाँटकर उसका मूल्य मालूम किया जा सकता है। जब किसी श्रेणी के पद मूल्यों को एक क्रम में रखकर दो भागों में बाँटा जाता है तो मध्य में स्थित रहने वाला केवल एक मूल्य प्राप्त होता है परन्तु जब उसे चार बराबर भागों में बाँटा जाता है तो सीमाओं को अलग करने वाले केवल तीन मूल्य प्राप्त होते हैं जिन्हें चतुर्थांशीय मान (Quartile) कहा जाता है। इसी प्रकार जब समूह दस बराबर भागों में विभक्त होता है तो ६ सीमावर्ती मूल्य प्राप्त होते हैं जिन्हें दशांशीय मान (Decile) कहते हैं। उसी प्रकार सौ बराबर भागों में विभक्त हो जाने पर कुल ६६ सीमावर्ती मूल्य मिलेंगे जिन्हें शतांशीय मान (Centiles or Percentiles) कहते हैं। अब हम इनके विषय में अलग-अलग विवेचना करेंगे।

चतुर्थांशीय मूल्य या मान
(Quartiles)

चतुर्थांशीय मान वह पद मूल्य है जो कि सम्पूर्ण पदमाला के चार बराबर मूल्य की ओर संकेत करता है। अर्थात् कोई भी चतुर्थांशीय मान सम्पूर्ण पदमाला के मूल्य का प्राय: एक-चौथाई होता है। पदमाला या किसी श्रेणी (series) के सबसे बीच वाले मूल्य को मध्यांक (median) कहते हैं। उसी प्रकार सबसे छोटे पद के मूल्य और मध्यांक के बीच वाले मूल्य को प्रथम चतुर्थांशीय मान (first quartile or Q_1) कहते हैं, जब कि मध्यांक और सबसे बड़े पद के मूल्य के बीच वाले मूल्य को तृतीय चतुर्थांशीय मान (third quartile or Q_3) कहा जाता है। चूँकि मध्यांक (median) प्रथम और तृतीय चतुर्थांशीय मान के बीच स्थित होता है, इसलिए उसे द्वितीय चतुर्थांशीय मान (second quartile or Q_2) भी कहते हैं। चतुर्थांशीय मूल्य निकालने के सूत्र इस प्रकार हैं—

(अ) प्रथम चतुर्थांशीय मान (First Quartile)

$$Q_1 = \frac{N+१}{४} \text{वें पद का मान}$$

(ब) तृतीय चतुर्थांशीय मान (Third Quartile)

$$Q_3 = \frac{३(N+१)}{४} \text{वें पद का मान}$$

दशांशीय मान
(Deciles)

सम्पूर्ण व्यवस्थित श्रेणी या पदमाला (series) को दस बराबर भागों में बाँट देने वाले मूल्य को दशांशीय मान कहते हैं। मध्यांक के ऊपर पाँच भाग और मध्यांक के नीचे पाँच भाग होते हैं और इस प्रकार नौ बराबर मूल्य वाले पद सम्पूर्ण श्रेणी को दस भागों में बाँट देते हैं। इन पदों को क्रमश: प्रथम दशांशीय मान (first decile), द्वितीय दशांशीय मान (second decile), तृतीय दशांशीय मान (third decile) आदि कहा जाता है और उनके लिए D_1, D_2, D_3 आदि चिन्ह का प्रयोग किया जाता है। दशांशीय मान निकालने के सूत्र इस प्रकार हैं—

(अ) प्रथम दशांशीय मान (First Decile)

$$D_1 = \frac{N+१}{१०} \text{वें पद का मान}$$

(ब) द्वितीय दशांशीय मान (Second Decile)

$$D_2 = \frac{२(N+१)}{१०} \text{वें पद का मान}$$

(स) अष्टम दशांशीय मान (Eighth Decile)

$$D_8 = \frac{8(N+१)}{१०} \text{वें पद का मान}$$

शतांशीय मान
(Percentiles)

शतांशीय मान वे मूल्य होते हैं जो क्रमवद्ध पदमाला को १०० बराबर भागों में विभाजित कर देते हैं। पूरी श्रेणी (series) में इनकी संख्या ९९ होती है। इन्हें भी क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि शतांशीय मान (first, second or third percentile) कहते हैं और P_1, P_2, P_3 आदि चिन्हों द्वारा प्रदर्शित करते हैं। शतांशीय मान निकालने के सूत्र इस प्रकार हैं—

(अ) प्रथम शतांशीय मान (First Percentile)

$$P_1 = \frac{N+१}{१००} \text{वें पद का मान}$$

(ब) पन्द्रहवाँ शतांशीय मान (15th Percentile)

$$P_{15} = \frac{१५(N+१)}{१००} \text{वें पद का मान}$$

(स) इक्यावनवाँ शतांशीय मान (51st Percentile)

$$P_{51} = \frac{५१(N+१)}{१००} \text{वें पद का मान}$$

चतुर्थांशीय, दशांशीय व शतांशीय मान निकालना
(Calculating Quartiles, Deciles and Percentiles)

(१) सरल श्रेणी
(Simple Series)

उदाहरण १३—नीचे एक कक्षा के ११ विद्यार्थियों की लम्बाइयाँ दी गई हैं। प्रथम व तृतीय चतुर्थांशीय मान और साथ ही, दशांशीय व शतांशीय मान की गणना कीजिए।

११ विद्यार्थियों की लम्बाई (से० मी० में)—१२५, १२८, १३०, १३०, १४२, १४५, १६०, १६८, १७२, १७२ और १८०.

इन्हीं लम्बाइयों को एक सारिणी में इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

सारिणी नं० १३

क्रम संख्या (विद्यार्थियों की)	लम्बाई (से० मी० में)
१	१२५
२	१२८
३	१३०
४	१३०
५	१४२
६	१४५
७	१६०
८	१६८
९	१७२
१०	१७२
११	१८०

(क) चतुर्थांशीय मान (Quartiles)

(अ) प्रथम चतुर्थांशीय मान $Q_1 = \frac{N+१}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{११+१}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{१२}{४}$ " " "

$= ३$ " " "

अर्थात् $Q_1 =$ १३० से० मी०

(ब) तृतीय चतुर्थांशीय मान $Q_3 = \frac{३\ (N+१)}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{३\ (११+१)}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{३६}{४}$ " " "

$= ९$ " " "

अर्थात् $Q_3 =$ १७२ से० मी०

(ख) दशांशीय मान (Decile)

पंचम दशांशीय मान $D_5 = \frac{५\ (N+१)}{१०}$ वें पद का मान

$= \frac{५\ (११+१)}{१०}$ " " "

$= \frac{६०}{१०}$ " " "

$= ६$ " " "

अर्थात् $D_5 =$ १४५ से० मी०

(ग) शतांशीय मान (Percentiles)

(अ) पचीसवां शतांशीय मान $P_{25} = \frac{२५\ (N+१)}{१००}$ वें पद का मान

$= \frac{२५\ (११+१)}{१००}$ " " "

$= \frac{२५ \times १२}{१००}$ " " "

$= \frac{३००}{१००}$ " " "

$= ३$ " " "

अर्थात् $P_{25} =$ १३० से० मी०

(ब) पचासवाँ शतांशीय मान $P_{50}=\frac{५० \ (N+१)}{१००}$ वें पद का मान

$=\frac{५० \ (११+१)}{१००}$,, ,, ,,

$=\frac{५० \times १२}{१००}$,, ,, ,,

$=\frac{६००}{१००}$,, ,, ,,

$=६$,, ,, ,,

अर्थात् $P_{50}=$ १४५ से० मी०

(२) खण्डित श्रेणी
(Discrete Series)

उदाहरण १४—निम्न सारिणी में मजदूरों का साप्ताहिक वेतन के आधार पर वितरण किया गया है। इनसे चतुर्थांशीय, दशांशीय और शतांशीय मानों की गणना कीजिए।

साप्ताहिक वेतन (रुपयों में)	मजदूरों की संख्या
१५	२
२०	२२
२५	१६
३०	१४
३५	३
४०	४
४५	५
५०	१
५५	१

उपरोक्त सारिणी के आधार पर विभाजित पद मूल्यों (partition values) को मालूम करने के लिए सर्वप्रथम संचयी आवृत्ति ज्ञात करनी होगी, जैसे—

सारिणी नं० १४

साप्ताहिक वेतन (रु० में) (पदों का मान)	आवृत्ति	संचयी आवृत्ति
१५	२	२
२०	२२	२४
२५	१६	४३
३०	१४	५७
३५	३	६०
४०	४	६४
४५	५	६६
५०	१	७०
५५	१	७१ N

(क) चतुर्थांशीय मान (Quartiles)

(अ) प्रथम चतुर्थांशीय मान $Q_1 = \frac{N+१}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{७१+१}{४}$ " " "

$= \frac{७२}{४}$ " " "

$=$ १८वें पद का मान

अर्थात् $Q_1 =$ २० रुपये

(ब) तृतीय चतुर्थांशीय मान $Q_3 = \frac{३ (N+१)}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{३ (७१+१)}{४}$ " " "

$= \frac{३ \times ७२}{४}$ " " "

$= \frac{२१६}{४}$ " " "

$=$ ५४ " " "

अर्थात् $Q_3 =$ ३० रुपये

(ख) दशांशीय मान (Deciles)

(अ) प्रथम दशांशीय मान $D_1 = \frac{N+१}{१०}$ वें पद का मान

$= \frac{७१+१}{१०}$ " " "

$= \frac{७२}{१०}$ " " "

$=$ ७·२ " " "

अर्थात् $D_1 =$ २० रुपये

(ब) पंचम दशांशीय मान $D_5 = \frac{५ (N+१)}{१०}$ वें पद का मान

$= \frac{५ (७१+१)}{१०}$ " " "

$= \frac{५ \times ७२}{१०}$ " " "

$= \frac{३६०}{१०}$ " " "

$=$ ३६ " " "

अर्थात् $D_5 =$ २५ रुपये

(ग) शतांशीय मान (Percentile)

पचासवाँ शतांशीय मान $P_{50}=\frac{५० (N+१)}{१००}$ वें पद का मान

$=\frac{५० (७१+१)}{१००}$ " " "

$=\frac{५० \times ७२}{१००}$ " " "

$=\frac{३६००}{१००}$ " " "

$=३६$ " " "

अर्थात् $P_{50}=$२५ रुपये

(३) अखण्डित श्रेणी
(Continuous Series)

उदाहरण १५—निम्न सारिणी में विद्यार्थियों का उनके प्राप्तांक के आधार पर उनका वितरण किया गया है। प्रथम और तृतीय चतुर्थांशीय मान, चतुर्थ दशांशीय मान और चालीसवें शतांशीय मान की गणना कीजिए।

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या
०— ४	१०
४— ८	१२
८—१२	१८
१२—१६	७
१६—२०	५
२०—२४	८
२४—२८	४
२८—३२	६

उपरोक्त सारिणी के आधार पर चतुर्थांशीय, दशांशीय तथा शतांशीय मानों को मालूम करने के लिए सर्वप्रथम संचयी आवृत्ति ज्ञात करनी होगी जैसा कि निम्न तालिका में दिखाया गया है—

सारिणी नं० १५

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या (आवृत्ति)	संचयी आवृत्ति
०— ४	१०	१०
४— ८	१२	२२
८—१२	१८	४०
१२—१६	७	४७
१६—२०	५	५२
२०—२४	८	६०
२४—२८	४	६४
२८—३२	६	७०N

(क) चतुर्थांशीय मान (Quartiles)

(अ) प्रथम चतुर्थांशीय मान (First Quartiles)—प्रथम चतुर्थांशीय मान मालूम करने के लिए सर्वप्रथम हमें उस वर्गान्तर को ज्ञात करना होगा जिसमें कि प्रथम चतुर्थांशीय मान स्थित है। यह इस प्रकार मालूम किया जाएगा—

प्रथम चतुर्थांशीय वर्गान्तिर की स्थिति $= \frac{N}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{७०}{४}$ " " "

$= १७\cdot५$ " " "

यह १७·५वाँ पद ४—८ वर्गान्तर में स्थित है; यही चतुर्थांशीय वर्गान्तर है। अब प्रथम चतुर्थांशीय मान की गणना हम निम्न सूत्र के आधार पर सकते हैं जो कि प्रायः वही सूत्र है जिसका कि प्रयोग अखण्डित श्रेणी का मध्यांक निकालने के लिए हम लोगों ने किया है—

$$Q_1 = L + \frac{\frac{N}{४} - F}{f} \times$$

उपरोक्त सूत्र में L = चतुर्थांशीय वर्गान्तिर की निम्नतर सीमा अर्थात् ४

N = आवृत्तियों का कुल योग = ७०

F = चतुर्थांशीय वर्गान्तिर से पूर्व वर्ग की संचयी आवृत्ति = १०

f = चतुर्थांशीय वर्गान्तिर की आवृत्ति = १२

l = चतुर्थांशीय वर्गान्तिर की उच्चतर व निम्नतर सीमाओं का अन्तर = (८—४) = ४

$$\therefore \quad Q_1 = ४ + \frac{\frac{७०}{४} - १०}{१२} \times ४$$

$$= ४ + \frac{\frac{३०}{४}}{१२} \times ४$$

$$= ४ + \frac{३०}{४} \times \frac{१}{१२} \times ४$$

$$= ४ + \frac{५}{२}$$

$$= \frac{१३}{२}$$

$$= ६\cdot५ \text{ अंक}$$

(ब) तृतीय चतुर्थांशीय मान (Third Quartile)—तृतीय चतुर्थांशीय मान मालूम करने के लिए हमें सर्वप्रथम उस वर्गान्तिर को ज्ञात करना होगा जिसमें कि तृतीय चतुर्थांशीय मान स्थित है। यह इस प्रकार मालूम किया जाएगा—

तृतीय चतुर्थांशीय वर्गान्तिर की स्थिति $= \frac{३N}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{३ \times ७०}{४}$ " " "

$$=\frac{२१०}{४} \text{ ,, ,, ,,}$$

$$=५२·५ \text{ ,, ,, ,,}$$

यह ५२·५वाँ पद २०—२४ वर्गान्तर में स्थित है। यही तृतीय चतुर्थांशीय वर्गान्तर है। अब तृतीय चतुर्थांशीय मान की गणना हम निम्न सूत्र के आधार पर कर सकते हैं—

$$Q_3=L+\frac{\frac{३N}{४}-F}{f}\times l$$

$$\because \left.\begin{aligned} L&=२० \\ N&=७० \\ F&=५२ \\ f&=८ \\ l&=४ \end{aligned}\right\}$$ जैसा कि प्रथम चतुर्थांशीय मान की गणना करते समय हम पहले उल्लेख कर चुके हैं।

$$\therefore Q_3=२०+\frac{\frac{३\times ७०}{४}-५२}{८}\times ४$$

$$=२०+\frac{\frac{२१०}{४}-५२}{८}\times ४$$

$$=२०+\frac{\frac{२}{४}}{८}\times ४$$

$$=२०+\frac{२}{४}\times\frac{१}{८}\times ४$$

$$=२०+\frac{१}{४}=\frac{८१}{४}$$

$$=२०·२५ \text{ अंक}$$

(ख) दशांशीय मान (Decile)

चौथा दशांशीय मान (Fourth Decile)—चतुर्थ दशांशीय मान मालूम करने के लिए हमें सर्वप्रथम उस वर्गान्तर को ज्ञात करना होगा जिसमें कि यह चतुर्थ दशांशीय मान स्थित है। यह इस प्रकार मालूम किया जाएगा—

$$\text{चतुर्थ दशांशीय वर्गान्तर की स्थिति}=\frac{४N}{१०}\text{वें पद का मान}$$

$$=\frac{४\times ७०}{१०} \text{ ,, ,, ,,}$$

$$=\frac{२८०}{१०} \text{ ,, ,, ,,}$$

$$=२८ \text{ ,, ,, ,,}$$

यह २८वाँ पद ८—१२ वर्गान्तर में स्थित है। यही चतुर्थ दशांशीय वर्गान्तर है। अब चतुर्थ दशांशीय मान की गणना हम निम्नलिखित सूत्र के आधार पर कर सकते हैं—

$$D_4 = L + \frac{\frac{४N}{१०} - F}{f} \times l$$

$\because L = ८$

$N = ७०$

$F = २२$

$f = १८$

$l = ४$

$$\therefore \quad D_4 = ८ + \frac{\frac{४ \times ७०}{१०} - २२}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{\frac{२८०}{१०} - २२}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{६}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{४}{३} = \frac{२८}{३}$$

$= ९{\cdot}३$ अंक

(ग) शतांशीय मान (Percentile)

४०वाँ शतांशीय मान—चालीसवाँ शतांशीय मान मालूम करने के लिए हमें सर्वप्रथम उस वर्गान्तर को ज्ञात करना होगा जिसमें कि यह ४०वाँ शतांशीय मान स्थित है। यह इस प्रकार मालूम किया जाएगा—

चालीसवाँ शतांशीय वर्गान्तर की स्थिति $= \frac{४०N}{१००}$वें पद का मान

$= \frac{४० \times ७०}{१००}$ " " "

$= २८$ " " "

यह २८वाँ पद ८—१२ वर्गान्तर में स्थित है। यही ४०वाँ शतांशीय वर्गान्तर है। अब ४०वें शतांशीय मान की गणना हम निम्नलिखित सूत्र के आधार पर कर सकते हैं—

$$P_{40} = L + \frac{\frac{४०N}{१००} - F}{f} \times l$$

$\because \quad L = ८$
$N = ७०$
$F = २२$
$f = १८$
$l = ४$

$$\therefore \quad P_{40} = ८ + \frac{\frac{४० \times ७०}{१००} - २२}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{\frac{२८००}{१००} - २२}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{६}{१८} \times ४$$

$$= ८ + \frac{४}{३} = \frac{२८}{३}$$

$$= ९\cdot३ \text{ अंक}$$

विभाजित पदमूल्यों की उपयोगिता
(Utility of Partition Values)

चतुर्थांशीय, दशांशीय व शतांशीय मानों का सांख्यिकीय विवेचना में अत्यधिक महत्त्व है। मध्यांक या माध्यिका (Median) जहाँ सम्पूर्ण श्रेणी (series) के बीच का मूल्य प्रगट करती है चतुर्थांशीय मान आदि विभाजित पदमूल्य उस श्रेणी के और भी छोटे-छोटे भागों का मान बताते हैं। इससे श्रेणी की विशेषताओं को और अच्छी तरह समझना हमारे लिए सरल हो जाता है। इतना ही नहीं, विभाजित पदमूल्यों (अर्थात् चतुर्थांशीय, दशांशीय व शतांशीय मानों) की सहायता से तुलनात्मक अध्ययन और अधिक अच्छी तरह तथा सूक्ष्म रूप में हो सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी विद्यार्थी को दो विषयों में एक-से अंक या प्रतिशत अंक प्राप्त हों तो वे निश्चित रूप से समान योग्यता के द्योतक नहीं होते जब तक कि उनके शतांशीय मान (percentiles) भी एकसमान न हों। इसी प्रकार अन्य तुलनात्मक अध्ययन में विभाजित पदमूल्य अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

बहुलक
(Mode)

किसी पदमाला या श्रेणी श्रृंखला में जिस मूल्य की आवृत्ति सबसे अधिक होती है उसी मूल्य को बहुलक (Mode) कहते हैं। इस प्रकार बहुलक पदमाला का सर्वाधिक सामान्य मूल्य होता है। यह पदमाला का ऐसा मूल्य या परिमाण है जो दिए हुए आँकड़ों में सबसे अधिक बार आता है अथवा यह वह परिमाण है जिसके आसपास पदमाला के मूल्य अधिक बार एकत्रित रहते हैं। बहुलक का सबसे सरल अभिप्राय यह है कि उस मूल्य को प्राप्त करने वाले सबसे अधिक व्यक्ति हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी परीक्षा में दस विद्यार्थियों को क्रमशः ७, ९, ७, ५, ८, १२, ७, ६, ८ अंक प्राप्त हुए हों तो ७ बहुलक कहलाएगा क्योंकि यह संख्या सबसे अधिक बार प्राप्त की गई है या इसे प्राप्त करने वाले बालकों की संख्या सबसे अधिक है। निम्नलिखित परिभाषाओं से बहुलक का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाएगा।

बहुलक की परिभाषा
(Definition of Mode)

श्री गिलफोर्ड (Gilford) ने वहुलक की परिभाषा इस प्रकार दी है— "बहुलक माप के पैमाने पर वह विन्दु है जहाँ कि एक वितरण में सर्वाधिक आवृत्ति होती है।"[7]

डॉ० चतुर्वेदी (Chaturvedi) ने लिखा है कि वहुलक को चल (variable) का वह आकार जो सर्वाधिक वार आया है या सर्वाधिक आवृत्ति की विन्दु अथवा सर्वाधिक घनत्व की विन्दु कहकर परिभाषित किया जाता है। किसी श्रेणी (series) में वहुलक उस पद का वह मूल्य है जो कि सवसे अधिक विशिष्ट (characteristic) या सामान्य है।"[8]

अपने दैनिक जीवन में हम लोगों को कहते हुए सुनते हैं कि एक भारतीय की औसत ऊँचाई ५' ६" है; भारतीयों का रंग काला होता है; औसतन आदमी ईमानदार होता है; औसतन पृष्ठ में ३०० शब्द होते हैं इत्यादि। इन सभी वाक्यों में 'औसत' शब्द वास्तव में वहुलक को ही प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि भारतीय की औसत ऊंचाई ५' ६" होती है तो उसका तात्पर्य यह है कि भारतवासियों की ऊँचाई में ५' ६" की ऊँचाई सवसे अधिक बार सम्मिलित है अथवा ५' ६" ऊँचाई वाले भारतवासियों की संख्या भारत में सवसे अधिक है।

बहुलक की विशेषताएँ
(Characteristics of Mode)

उपरोक्त परिभाषाओं व विवेचना के आधार पर वहुलक की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) वहुलक एक श्रेणी (series) के सभी पदों पर आधारित होता है। अतः उस पर पदमाला की वहुत छोटी या वहुत वड़ी संख्या (मूल्य) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) बहुलक आवृत्ति पर निर्भर है। इसीलिए पदों की अपेक्षा आवृत्ति का अधिक महत्त्व बहुलक ज्ञात करने में होता है।

(३) वहुलक पदमाला का सवसे अधिक मूल्य वाला पद नहीं होता, अपितु वह पदमूल्य होता है जिसकी आवृत्ति या वारम्वारता (frequency) सर्वाधिक है। अतः यह सवसे छोटा पदमूल्य भी हो सकता है।

(४) एक पदमाला में अधिकतम समान आवृत्ति वाले कई पदमूल्य होने पर वहुलक ज्ञात करना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में एक से अधिक वहुलक का उल्लेख करना पड़ता है। जैसे १, ३, ४, ४, ६, ७, ६, १०, ७, ४, ७ में दो बहुलक ४ तथा ७ हैं।

---

7. "The mode is the point on the scale of measurement with maximum frequency in a distribution."—Gilford.

8. "The mode is defined to be the size of the variable which occurs most frequently or the point of maximum frequency or the point of greatest density. In any series this is the value of the items which is most characteristic or common."—Dr. J. C. Chaturvedi, *op. cit.*, p. 104.

बहुलक निकालना
(Computation of Mode)

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि बहुलक की गणना अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि यह उस पद का मूल्य है जिसकी आवृत्ति एक पदमाला में सबसे अधिक है। अतः किसी भी पदमाला को व्यवस्थित ढंग से सजा लेने पर यह पता लग सकता है कि किस पद की आवृत्ति सबसे अधिक है। निम्नलिखित उदाहरणों द्वारा हम बहुलक निकालने की विधियों पर प्रकाश डालेंगे।

सरल श्रेणी का बहुलक
(Mode of Simple Series)

सरल श्रेणी का बहुलक निकालना अत्यन्त सरल है क्योंकि इसके लिए केवल विभिन्न पदों के मान के अनुसार पदों को क्रम से लगा लेना होता है और जिस पद की बारम्बारता या आवृत्ति सबसे अधिक होती है वही बहुलक कहलाता है। निम्नलिखित उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जाएगा—

उदाहरण १६—निम्न पदों से बहुलक ज्ञात करो—

१५, २३, २५, २७, ४०, २३, २५, २०, २५

हल—पदों को एक क्रम से रखने पर—

१५, २०, २३, २३, २५, २५, २५, २७, ४०

स्पष्ट है कि २५ सबसे अधिक दोहराया गया है अर्थात् २५ की आवृत्ति सर्वाधिक है इसलिए २५ बहुलक है।

खण्डित श्रेणी का बहुलक
(Mode of Discrete Series)

खण्डित श्रेणी का बहुलक निकालने के लिए सबसे पहले पदों को एक क्रम से लगा लिया जाता है, उसके पश्चात् इनके सम्मुख आवृत्तियाँ लिख दी जाती हैं। पहले आवृतियों को दो-दो करके, फिर तीन-तीन करके, फिर अधिक जोड़कर विभिन्न कालमों (खानों) में लिख देते हैं। इस प्रकार वर्गों में बाँट देने से यह पता लग जाता है कि किस पद की आवृत्ति सबसे अधिक है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा यह और भी स्पष्ट हो जाएगा—

उदाहरण १७—निम्न सारिणी से बहुलक की गणना कीजिए—

पदों का मान	आवृत्ति
५	१
६	७
१३	११
१७	५
७	२
११	६
१६	४
१५	८

उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर बहुलक की गणना निम्नलिखित सारिणी के आधार पर की जाएगी—

सारिणी नं० १७(अ)

पदों का मान	आवृत्तियाँ १	२	३	४	५	६
५	१	३		१०		
७	२		९		१८	
९	७	१६				[२७]
११	९		[२०]	[२८]		
१३	[११]	[१९]			[२४]	
१५	८		१३			१७
१७	५	९				
१९	४					

विधि—(१) सबसे पहले दिए हुए पदों के मान को एक क्रम से (जैसे ५, ७ ९, ११ इत्यादि) सजाकर लिख लिया और उनके प्रत्येक के सामने सम्बन्धित आवृत्ति को लिख लिया जैसे कि कालम १ में किया गया है।

(२) फिर आवृत्तियों के दो-दो के जोड़े लेकर उनके योग को कालम नं० २ में लिख दिया। जैसे १+२=३, ७+९=१६, ११+८=१९ आदि।

(३) तत्पश्चात् प्रथम आवृत्ति को छोड़कर फिर दो-दो के जोड़े लेकर उन आवृत्तियों के योग को कालम नं० ३ में लिख दिया। जैसे प्रथम आवृत्ति १ है, उसे छोड़कर दो-दो का जोड़ा २+७=९, ९+११=२०, ८+५=१३ कालम ३ में लिखा गया है। चूंकि अन्त की आवृत्ति ४ का कोई जोड़ा नहीं है इसलिए उसे छोड़ दिया गया है।

(४) इसके बाद आवृत्तियों के तीन-तीन के जोड़े लेकर उनके योग को कालम नं ४ में लिख दिया। जैसे १+२+७=१०, ९+११+८=२८ कालम नं ४ में लिखे गए हैं। चूंकि आवृत्ति ५ और ४ का तीसरा जोड़ा नहीं है इसलिए इसको छोड़ दिया गया है।

(५) तत्पश्चात् प्रथम आवृत्ति को छोड़कर फिर तीन-तीन के जोड़ों का योग कालम नं० ५ में लिख दिया। जैसे प्रथम आवृत्ति १ है, उसे छोड़कर तीन-तीन का जोड़ा २+७+९=१८, ११+८+५=२४ कालम नं० ५ में लिखा गया है। अन्त की आवृत्ति ४ का जोड़ा न बनने के कारण छोड़ दिया गया है।

(६) इसके बाद प्रथम दो आवृत्तियों को छोड़कर फिर तीन-तीन के जोड़े का योग कालम नं० ६ में लिख दिया। जैसे प्रथम दो आवृत्ति १ और २ को छोड़ दिया और फिर तीन-तीन का जोड़ा बनाकर ७+९+११=२७, ८+५+४=१७ कालम नं० ६ में लिखा गया।

(७) इस प्रकार पूर्ण सारिणी (सारिणी १७-अ देखिए) वन जाने के बाद हम उससे यह पता कर सकते हैं कि प्रत्येक कालम में आवृत्तियों की कौनसी संख्या सबसे बड़ी है। कालम नं० १ में ११ सबसे बड़ी संख्या है, कालम नं० २ में १९ सबसे बड़ी संख्या है, कालम नं० ३ में २०, कालम नं० ४ में २८, कालम नं० ५ में २४ और कालम नं० ६ में २७ सबसे बड़ी संख्या है जिन्हें कि हमने उपरोक्त सारिणी में एक कोष्ठक के अन्तर दिखाया है। इनमें से प्रत्येक संख्या के सामने पदों के जो मान हैं उन्हें हम निम्नलिखित सारिणी में इस प्रकार दिखा सकते हैं—

विश्लेषण सारिणी
(Analysis Table)

सारिणी नं० १७(ब)

कालम नं०	अधिकतम आवृत्ति वाले पद का नाम				
१			१३		
२			१३	१५	
३		११	१३		
४		११	१३	१५	
५			१३	१५	१७
६	९	११	१३		
आवृत्ति संख्या	१	३	६	३	१

उपरोक्त सारिणी १७(ब) इस प्रकार तैयार की गई है—

सारिणी १७(अ) के कालम नं० १ की आवृत्तियों को देखने से पता चलता है कि ११ सबसे बड़ी संख्या है इसलिए उपरोक्त सारिणी में उसके सामने वाले पद का मान १३ सारिणी १७(ब) के कालम नं० १ के सामने लिख दिया गया है। कालम नं० २ में १९ सबसे बड़ी संख्या है जो कि ११ और ८ का योग है और इन ११ और ८ के सामने के पदों का मान क्रमशः १३ और १५ है। इसीलिए उपरोक्त सारिणी में कालम नं० २ के सामने १३ और १५ लिखा गया है। कालम नं० ३ में २० सबसे बड़ी संख्या है जो कि ९ और ११ का योग है और उनसे सम्बन्धित पदों का मान क्रमशः ११ और १३ है जिसे कि सारिणी १७(ब) में कालम नं० ३ के सामने लिख दिया गया है। सारिणी १७(अ) के कालम नं ४ में आवृत्तियों की सबसे बड़ी संख्या २८ है जो कि ९, ११ और ८ का योग है और इनसे सम्बन्धित पदों का मान ११, १३ और १५ है जिन्हें कि सारिणी १७(ब) में कालम नं० ४ के सामने लिख दिया गया है। इसी प्रकार कालम ५ और ६ को भी भर लिया गया है और फिर आवृत्ति संख्याओं के योग को सारिणी १७(ब) के सबसे नीचे दिखाया गया है। इस योग से पता चलता है कि १३ की आवृत्ति सबसे अधिक ६ बार हुई है। अतः १३ बहुलक है।

अखण्डित श्रेणी का बहुलक
(Mode of Continuous Series)

अखण्डित श्रेणी का बहुलक मालूम करने के लिए सबसे पहले निरीक्षण द्वारा उस वर्गान्तर (class interval) का पता लगाना चाहिए जिसमें बहुलक स्थित है।

यदि यह बहुलक एक सेअधिक है या निरीक्षण द्वारा बहुलक का पता नहीं चल रहा है तो उपरोक्त विधि, जैसे कि सारिणी १७(अ) और (ब) में दिखाया गया है, से बहुलक के वर्गान्तर का पता लगाना चाहिए। तत्पश्चात् निम्नलिखित सूत्र द्वारा बहुलक ज्ञात करना चाहिए—

$$Mo = L + \frac{f - f_1}{2f - f_1 - f_2} \times l$$

इस सूत्र में—

Mo = बहुलक

L = बहुलक वर्गान्तर की निम्न सीमा

l = बहुलक वर्गान्तर की उच्चतम और निम्नतम सीमाओं का अन्तर

f = बहुलक वर्गान्तर की बारम्बारता

f_1 = बहुलक वर्गान्तर से पहले वर्गान्तर की आवृत्ति

f_2 = बहुलक वर्गान्तर से अगले वर्गान्तर की आवृत्ति

उदाहरण १८—निम्नलिखित सारिणी से बहुलक की गणना कीजिए—

वर्गान्तर	आवृत्ति
०—१०	४
१०—२०	६
२०—३०	१२
३०—४०	३०
४०—५०	१८

निरीक्षण से पता चलता है कि ३०—४० की आवृत्ति सबसे अधिक है, इसलिए यही बहुलक वर्गान्तर है।

$\because \quad L = ३०$

$l = ४० - ३० = १०$

$f = ३०$

$f_1 = १२$

$f_2 = १८$

$$\therefore \quad Mo = ३० + \frac{३० - १२}{२ \times ३० - १२ - १८} \times १०$$

$$= ३० + \frac{१८}{६० - ३०} \times १०$$

$$= ३० + \frac{१८}{३०} \times १०$$

$$= ३० + ६$$

बहुलक $(Mo) = ३६$

उदाहरण १९—निम्नलिखित सारिणी से बहुलक की गणना कीजिए—

वर्गान्तर	आवृत्ति
६·५— ७·५	१
७·५— ८·५	९
८·५— ९·५	२०
९·५—१०·५	४४
१०·५—११·५	३७
११·५—१२·५	१९
१२·५—१३·५	७
१३·५—१४·५	३

सूत्र :—

$$Mo = L + \frac{f - f_1}{2f - f_1 - f_2} \times l$$

उपरोक्त सारिणी को देखते ही पता लगता है कि ९·५—१०·५ की आवृत्ति सबसे अधिक है इसलिए यही बहुलक वर्गान्तर है अतः—

∵ $L =$ ९·५

$l =$ १

$f =$ ४४

$f_1 =$ २०

$f_2 =$ ३७

∴ $Mo =$ ९·५ $+ \frac{४४ - २०}{२ \times ४४ - २० - ३७} \times$ १

$=$ ९·५ $+ \frac{२४}{८८ - ५७} \times$ १

$= +$ ९·५ $\frac{२४}{३१} \times$ १

$=$ ९·५ $+$ ·८

बहुलक $(Mo) =$ १०·३

बहूलक के गुण
(Merits of Mode)

(१) बहुलक पदमाला का सर्वाधिक प्रतिनिधि मान होता है क्योंकि बहुलक वही होता है जिसकी आवृत्ति पदमाला में सर्वाधिक होती है।

(२) इसका अर्थ सरलता से समझा जा सकता है। बहुलक वह अंक है जो कि सबसे अधिक मात्रा में एक पदमाला में पाया जाता है।

(३) बहुलक की गणना शीघ्रता, सरलता एवं यथार्थता से की जा सकती है।

(४) बहुलक का एक उल्लेखनीय गुण यह है कि इस पर श्रेणी माला में विद्यमान कोई बहुत बड़ी संख्या या बहुत छोटी संख्या का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

क्योंकि वहुलक तो वह है जो सबसे अधिक बार एक श्रेणी में सम्मिलित है।

(५) न्यूनतम एवं अधिकतम पदों की संख्या व मान को मालूम किए विना ही बहुलक मालूम किया जा सकता है बशर्ते कि वे पद बहुलक वर्ग के पद नहीं हैं।

(६) बहुलक की गणना ग्राफ की सहायता से बहुत सरलता से की जा सकती है।

(७) बड़े पैमाने में उत्पादन करने वाले उत्पादकों के लिए बहुलक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। क्योंकि बहुलक के आधार पर ही वह उत्पादन के आकार को निर्धारित करते हैं। उदाहरण के लिए बाजार में हमें उन मापों के जूते ही देखने को मिलते हैं जो कि अधिकांश लोगों के पैर में फिट हो सकते हैं। यदि किसी का पैर अस्वाभाविक रूप से बड़ा है तो उसे बाजार में जूता नहीं मिलता। यही बात सिले-सिलाए कपड़े के बारे में कही जा सकती है।

बहुलक के दोष
(Demerits of Mode)

(१) बहुलक पर बीजगणित का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी गणना आवृत्तियों के आधार पर की जाती है।

(२) बहुलक में न्यूनतम और अधिकतम पदमूल्यों की अवहेलना की जाती है जिसके फलस्वरूप बहुलक से इनके विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जाता।

(३) कभी-कभी बहुलक का निश्चित माप सरलता से ज्ञात नहीं होता है। कठिनाई उस अवस्था में विशेष रूप से पड़ती है जब कि एक पदमाला में एक से अधिक बहुलक होते हैं।

(४) वहुलक पदमाला के सभी पदमूल्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करता बल्कि उन्हीं का करता है जिनकी कि आवृत्ति सबसे अधिक हो। उदाहरणार्थ, १०० विद्यार्थियों में ५ विद्यार्थियों के अंक तीन-तीन हैं जबकि अन्य सभी विद्यार्थियों के अंक एक-दूसरे से अलग-अलग हैं, पर तीन से बहुत अधिक हैं। उस अवस्था में बहुलक ३ होगा जो कि केवल ५ विद्यार्थियों के अंकों का प्रतिनिधित्व करेगा, न कि शेष ९५ विद्यार्थियों का।

विचलन या विक्षेपण की माप
(Measures of Variation or Dispersion)

विचलन का अर्थ
(Meaning of Variation)

विचलन अथवा विक्षेपण (dispersion) वह गुण है जिससे यह ज्ञात होता है कि पदों के मान उनके मध्यमानों (या माध्य मूल्यों) से किस सीमा तक विचलित हैं। यह सच है कि माध्य मूल्यों (माध्य, मध्यांक व बहुलक) से सम्पूर्ण श्रेणी की केन्द्रीय प्रवृत्ति का पता लग जाता है। परन्तु इनके द्वारा श्रेणी के विभिन्न पदमूल्यों का पूर्ण तथा निश्चित ज्ञान विशेषकर उस अवस्था में नहीं हो पाता है जब कि मध्यमान तथा अन्य पदमूल्यों में अधिक अन्तर होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो अनेक स्थल ऐसे आते हैं जहाँ मध्यमान भ्रामक परिणाम प्रदान करता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी परिवार के पाँच व्यक्तियों की आमदनी क्रमश: २०, ६०, २००, ५० और

७० रुपये हो तो उनकी आमदनी का मध्यमान ८० रु० हुआ। यदि हमें इन पाँचों आँकड़ों का पृथक्-पृथक् ज्ञान न हो तो मध्यमान के आधार पर हम यही समझेंगे कि परिवार के प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी ८० या ८० रुपये के आसपास होगी जबकि वास्तविक स्थिति इससे कहीं भिन्न है। अतः ऐसी दशाओं में किसी ऐसे माप (Measure) की आवश्यकता पड़ती है जो अधिक-से-अधिक पदमूल्यों की जानकारी करा दे अर्थात् पदमूल्यों का मध्यमान से कितना विचलन है। इन्हीं मापों को विचलन के माप कहा जाता है।

विचलन के अर्थ को एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए दो विद्यार्थियों के चार विषयों में प्राप्तांक २८, ६०, ६०, ९२ और ५६, ६०, ६०, ६४ हैं जबकि प्रत्येक विषय में पूर्णांक १०० और पास होने के लिए ३३ अंक आवश्यक हैं। इन विद्यार्थियों के स्तर को जानने के लिए यदि समान्तर माध्य ज्ञात करें तो उसका मान दोनों विद्यार्थियों के लिए ६० आता है। अतः इस आधार पर दोनों विद्यार्थियों का स्तर समान प्रतीत होता है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि पहला विद्यार्थी पहले विषय में अनुत्तीर्ण (failed) है, जबकि दूसरा विद्यार्थी प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण है। अतः स्पष्ट है कि केवल मध्यमान के आधार पर ही श्रेणी के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यह भी जानना आवश्यक है कि श्रेणी का प्रत्येक पद माध्य से कितनी दूरी पर है या कितना विखरा हुआ है। इस विखराव को ही विचलन या विक्षेपण कहते हैं।

विचलन की मापें
(Measuring of Dispersion)

विचलन की मुख्य मापें इस प्रकार हैं—

(१) परिसर (Range)

(२) चतुर्थांशीय विचलन (Quartile Deviation)

(३) माध्य विचलन (Mean Deviation)

  (क) समान्तर माध्य से

  (ख) मध्यांक से

  (ग) बहुलक से

(४) मानक विचलन (Standard Deviation)

परिसर
(Range)

किसी श्रेणी या पदमाला के उच्चतम तथा निम्नतम पदों के अन्तर को परिसर कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी समूह में १७, १०, १३, ५, ८, २० और २५ अंक हैं तो उच्चतम पद अर्थात् २५ और निम्नतम पद अर्थात् ५ का अन्तर (२५—५)= २० अंक इस श्रेणी का परिसर है।

परिसर की अपनी उपयोगिताएँ हैं, जैसे (१) किसी श्रेणी से उसका प्रसार बहुत ही शीघ्रता से ज्ञात किया जा सकता है। केवल उच्चतम व न्यूनतम अंकों को ही ढूँढ़ना पड़ता है। (२) प्रसार के आधार पर यह जाना जा सकता है कि श्रेणी के पदमूल्य किन-किन अंकों के बीच फैले हुए हैं। इतना होते हुए भी परिसर का

प्रयोग शीघ्रता व सरलता की दृष्टि से तो किया जा सकता है, परन्तु परिणाम की शुद्धता इससे प्राप्त नहीं की जा सकती। इसीलिए परिसर को विचलन-मापन का एक मोटा (crude or rough) साधन समझा जाता है। साथ ही, परिसर पर श्रेणी में विद्यमान बहुत बड़े या बहुत छोटे अंक (मान) का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

चतुर्थांशीय विचलन
(Quartile Deviation)

हम लिख चुके हैं कि दी हुई चल (variable) राशि के N मानों को यदि आरोही (ascending) अथवा अवरोही (descending) क्रम में रख लिया जाए तो श्रेणी के $\frac{N+१}{४}$ वें पद के मान को प्रथम चतुर्थांशीय मान Q_1 (first quartile), $\frac{२(N+१)}{४}$ वें पद के मान को द्वितीय चतुर्थांशीय मान (Q_2) अथवा मध्यांक तथा $\frac{३(N+१)}{४}$ वें पद के मान को तृतीय चतुर्थांशीय मान (Q_3) कहते हैं। प्रथम तथा तृतीय चतुर्थांशीय मानों के अन्तर का आधा चतुर्थांशीय विचलन (Quartile Deviation) होता है जिसे कि निम्न सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—

$$\text{चतुर्थांशीय विचलन} = \frac{Q_3 - Q_1}{२}$$

उदाहरण २०—निम्नलिखित प्राप्तांकों का चतुर्थांशीय विचलन ज्ञात कीजिए—

१०, १७, १२, २८, २४, २२, १५, ३०, ३५, ३८, २०

हल—प्राप्तांकों को आरोही क्रम से रखने पर—

१०, १२, १५, १७, २०, २२, २४, २८, ३०, ३५, ३८

चूंकि उपरोक्त प्राप्तांकों के ११ पद हैं इसलिए यहाँ $N=११$

$\therefore \quad Q_1 = \frac{११+१}{४}$ वें पद का मान

$= ३ \quad$ " " "

अर्थात् $Q_1 = १५$

तथा $\quad Q_3 = \frac{३(११+१)}{४}$ वें पद का मान

$= \frac{३ \times १२}{४} \quad$ " " "

$= ९ \quad$ " " "

अर्थात् $Q_3 = ३०$

अतः चतुर्थांशीय विचलन $= \frac{Q_3 - Q_1}{२}$

$= \frac{३० - १५}{२}$

$=$ ७·५ अंक

चतुर्थांशीय विचलन का गुणांक
(Coefficient of Quartile Deviation)

विभिन्न श्रेणियों के विचलनों की तुलना करने के लिए चतुर्थांशीय विचलन का उपयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह एक निरपेक्ष (absolute) माप है। इसके आधार पर वनाया गया सापेक्ष माप (relative measure) चतुर्थांशीय विचलन का गुणांक है जिसका सूत्र इस प्रकार है—

चतुर्थांशीय विचलन का गुणांक $= \frac{Q_3 - Q_1}{Q_3 + Q_1}$

उपरोक्त उदाहरण के अनुसार—

चतुर्थांशीय विचलन का गुणांक $= \frac{३० - १५}{३० + १५}$

$= \frac{१५}{४५}$

$= \frac{१}{३}$

माध्य विचलन
(Mean Deviation)

माध्य विचलन माध्य से श्रेणी के प्रत्येक पद का समान्तर माध्य (Mean) होता है। इसीलिए सर्वश्री घोष तथा चौधरी (Ghosh and Chowdhury) ने लिखा है कि एक माध्य से विचलनों के योग को पदों की संख्या से भाग देने पर जो परिणाम प्राप्त होता है उसे माध्य विचलन कहते हैं।[9] अर्थात् एक माध्य से श्रेणी के प्रत्येक पद का विचलन निकाला जाए, फिर उनके योग को मालूम किया जाए और अन्त में उस योग को पदों की संख्या से भाग दिया जाए तो जो परिणाम निकलेगा वही माध्य विचलन होगा। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) यह गणितीय विधि से प्राप्त किया जाता है तथा श्रेणी की प्रत्येक इकाई को लेकर निकाला जाता है।

(२) विचलन माध्य से निकाला जाता है चाहे वह माध्य समान्तर माध्य (Mean), मध्यांक (Median) या वहुलक् (Mode) हो। यदि विचलन समान्तर माध्य से ज्ञात किया गया है तो उसे समान्तर माध्य से माध्य विचलन कहते हैं। उसी प्रकार यदि विचलन मध्यांक अथवा वहुलक से मालूम् किया गया है तो उसे क्रमशः मध्यांक से माध्य विचलन अथवा वहुलक से माध्य विचलन कहते हैं।

9. "In other words, mean deviation is the sum of the deviations from an average divided by the number of items."—Ghosh and Chowdhury, *op. cit.*, p. 126.

(३) विचलनों का माध्य निकालने के लिए समान्तर माध्य का ही प्रयोग होता है।

माध्य विचलन की गणना
(Computation of Mean Deviation)

माध्य विचलन की गणना निम्नलिखित सूत्रों द्वारा की जा सकती है—

समान्तर माध्य से माध्य विचलन $= \frac{\Sigma |x-M| f}{N}$

माध्यिका से ,, ,, $= \frac{\Sigma |x-Me| f}{N}$

बहुलक से ,, ,, $= \frac{\Sigma |x-Mo| f}{N}$

उपरोक्त सूत्र में—

x = चल राशि अर्थात् पदमाला के विभिन्न पद का मान

M = श्रेणी का समान्तर माध्य

Me = श्रेणी या पदमाला का मध्यक

Mo = श्रेणी या पदमाला का बहुलक

f = पदों की आवृत्तियाँ

N = आवृत्तियों का कुल योग

यदि हम उपरोक्त सूत्र में उल्लेखित $|x-M|$ अथवा $|x-Me|$ अथवा $|x-Mo|$ को d मान लें तो सूत्र इस प्रकार होगा—

माध्य विचलन अर्थात् $\delta = \frac{\Sigma fd}{N}$

यदि सरल श्रेणी का माध्य विचलना निकालना है तो सूत्र इस प्रकार होगा—

$$\delta = \frac{\Sigma |x-M|}{N} \text{ or } \frac{\Sigma d}{N}$$

उपरोक्त सूत्र में—

x = चल राशि

M = माध्य

N = पदों की कुल संख्या

सरल श्रेणी
(Simple Series)

उदाहरण २१—नीचे सात मजदूरों का वेतन दिया गया है। माध्य विचलन ज्ञात कीजिए।

वेतन (रुपयों में)—३, ६, ७, ७, ८, ६, ६

सरल श्रेणी का सूत्र—

$$\delta = \frac{\Sigma |x-M|}{N} \text{ or } \frac{\Sigma d}{N}$$

(१) उपरोक्त आँकड़ों के आधार पर समान्तर माध्य से माध्य विचलन निकालने के लिए सर्वप्रथम समान्तर माध्य निकालना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

$$M = \frac{३+६+७+७+८+९+९}{७}$$

$$= \frac{४९}{७} = ७$$

अब इस समान्तर माध्य ७ से प्रत्येक पद का विचलन ज्ञात करना होगा—

जैसे— $|x-M| = d$ (अर्थात् प्रत्येक पदमूल्य व समान्तर माध्य का अन्तर)

३—७=४
६—७=१
७—७=०
७—७=०
८—७=१
९—७=२
९—७=२

विचलनों का योग=१० (Σd)

$$\therefore \quad \delta = \frac{\Sigma d}{N} = \frac{१०}{७} = १\cdot४३ \text{ रु० (लगभग)}$$

(२) उदाहरण २२—उपरोक्त उदाहरण के आधार पर मध्यांक से माध्य विचलन निकालने के लिए मध्यांक निकालना होगा जो इस प्रकार है—

$$Me = \frac{N+१}{२} \text{ वें पद का मान}$$

$$= \frac{७+१}{२} \text{ वें पद का मान}$$

$$= ४ \text{ वें पद का मान} = ७$$

अब इस मध्यांक ७ से प्रत्येक पद का विचलन ज्ञात करना होगा—

जैसे—

$|x-Me| = d$

३—७=४
६—७=१
७—७=०
७—७=०
८—७=१
९—७=२
९—७=२

विचलनों का योग=१०=Σd

$$\therefore \quad \delta = \frac{\Sigma d}{N} = \frac{१०}{७} = १\cdot४३ \text{ रु० (लगभग)}$$

(३) उदाहरण २३—सात विद्यार्थियों के प्राप्तांक ३, ५, ५, ५, ७, ७, ९ हैं। बहुलक से माध्य विचलन निकालिए।

उपरोक्त प्रश्न को हल करने के लिए सर्वप्रथम बहुलक मालूम करना होगा। उपरोक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि पद ५ की आवृत्ति सबसे अधिक है इसलिए बहुलक ५ है। अब इस बहुलक ५ से प्रत्येक पद का अन्तर या विचलन मालूम करना होगा जो कि इस प्रकार होगा—

$\overline{lx - Mo l} = d$

३—५=२

५—५=०

५—५=०

५—५=०

७—५=२

७—५=२

९—५=४

विचलनों का योग=१०=Σd

$\therefore \quad \delta = \frac{\Sigma d}{N} = \frac{१०}{७}$

=१.४३ अंक (लगभग)

खण्डित श्रेणी
(Discrete Series)

खण्डित श्रेणी से माध्य विचलन ज्ञात करने का सूत्र इस प्रकार है—

$$\delta = \frac{\Sigma fd}{N}$$

उपरोक्त सूत्र में—

δ=माध्य विचलन

Σ=योग

f=पदों की आवृत्तियाँ

d=माध्य से प्रत्येक पद का विचलन अर्थात् माध्य और प्रत्येक पद के बीच का अन्तर

N=आवृत्तियों का कुल योग

उदाहरण २४—निम्नलिखित आवृत्ति वितरण के आधार पर माध्य विचलन ज्ञात कीजिए।

पदमूल्य x	आवृत्ति f	fx
३	२	६
५	७	३५
७	१०	७०
९	९	८१
११	५	५५
योग	३३	२४७

(१) उपरोक्त सारिणी के आधार पर समान्तर माध्य से माध्य विचलन निकालने के लिए सबसे पहले समान्तर माध्य की गणना करनी होगी जो कि इस प्रकार होगी—

$$M=\frac{\Sigma fx}{N}$$

$$=\frac{२४७}{३३}=७\cdot४८$$

अब हमें इस माध्य (७·४८) से प्रत्येक पद का विचलन (d) तथा प्रत्येक पद की आवृत्ति (f) व विचलन (d) का गुणनफल (fd) एवं उन गुणनफलों का योग (Σfd) मालूम करना होगा जो कि निम्नलिखित सारिणी में किया गया है—

सारिणी नं० २४

x	f	$\lvert x-७\cdot४८ \rvert=d$	fd
३	२	४·४८	८·९६
५	७	२·४८	१७·३६
७	१०	०·४८	४·८०
९	९	१.५२	१३·६८
११	५	३·५२	१७·६०
योग	$N=$३३		$\Sigma fd=$६२·४०

$$\therefore\ \delta=\frac{\Sigma fd}{N}$$

$$=\frac{६२\cdot४०}{३३}=१\cdot९$$

(२) उदाहरण २५—उपरोक्त उदाहरण २४ में उल्लेखित आँकड़ों के आधार पर मध्यांक से माध्य विचलन की गणना करने के लिए सर्वप्रथम मध्यांक निकालना होगा जो कि इस प्रकार गणना की जाएगी—

सारिणी नं० २५(अ)

पदमूल्य x	आवृत्ति f	संचयी आवृत्ति
३	२	२
५	७	९
७	१०	१९
९	९	२८
११	५	३३ (N)

$Me=\frac{N+१}{२}$वें पद का मान

$=\frac{३३+१}{२}$ " " "

$=१७$ " " "

$\therefore Me=७$

अब हमें इस मध्यांक ७ से प्रत्येक पद का विचलन (d) तथा प्रत्येक पद की आवृत्ति (f) व विचलन (d) का गुणनफल एवं उन गुणनफलों का योग (Σfd) मालूम करना होगा जैसा कि निम्नलिखित सारिणी में स्पष्टतः प्रदर्शित किया गया है—

सारिणी नं० २५(ब)

x	f	$\lvert x-७ \rvert=d$	fd
३	२	४	८
५	७	२	१४
७	१०	०	०
९	९	२	१८
११	५	४	२०
योग	$N=३३$		$\Sigma fd=६०$

$\therefore \quad \delta=\frac{\Sigma fd}{N}$

$=\frac{६०}{३३}=१{\cdot}८$ (लगभग)

(३) उदाहरण २६—उदाहरण २४ के आँकड़ों के आधार पर बहुलक से माध्य विचलन निकालने के लिए सर्वप्रथम बहुलक की गणना करनी होगी जो कि इस प्रकार होगी—

सारिणी २४ से स्पष्ट है कि सर्वाधिक आवृत्ति १० है और इसका मान (पदमूल्य) ७ है अतः बहुलक ७ ही हुआ। अब निम्नलिखित सारिणी में Σfd की गणना इस प्रकार की जाएगी—

सारिणी नं० २६

x	f	$\lvert x-७ \rvert=d$	fd
३	२	४	८
५	७	२	१४
७	१०	०	०
९	९	२	१८
११	५	४	२०
योग	$N=$ ३३		$\Sigma fd=$ ६०

$$\therefore \quad \delta=\frac{\Sigma fd}{N}$$

$$=\frac{६०}{३३}=१\cdot८ \text{ (लगभग)}$$

अखण्डित श्रेणी
(Continuous Series)

अखण्डित श्रेणी में माध्य विचलन ज्ञात करने के लिए भी सर्वप्रथम समान्तर माध्य, मध्यांक तथा बहुलक की गणना करनी होगी और ऐसा करने के लिए उन्हीं सूत्रों का प्रयोग किया जाएगा जिनका कि उल्लेख हम अखण्डित श्रेणी के माध्य, मध्यांक तथा बहुलक निकालते समय कर चुके हैं (देखिए उदाहरण नं० ५, १२ और १८)। इसके बाद अखण्डित श्रेणी के वर्गान्तरों (class intervals) का मध्यमान (mid value) निकालकर अखण्डित श्रेणी को खण्डित श्रेणी (discrete series) में बदल देना होगा और फिर खण्डित श्रेणी का माध्य विचलन निकालने की विधि को अपनाना होगा (देखिए उदाहरण नं० २४, २५ और २६)। निम्नलिखित उदाहरण से इसका और भी स्पष्टीकरण हो सकेगा—

उदाहरण २७—निम्नलिखित सारिणी में प्राप्तांकों का माध्य विचलन ज्ञात कीजिए—

प्राप्तांक (x)	आवृत्ति (f)
०—१०	२
१०—२०	७
२०—३०	१०
३०—४०	५
४०—५०	३

(१) उपरोक्त सारिणी के आधार पर समान्तर माध्य से माध्य विचलन निकालने के लिए सबसे पहले समान्तर माध्य की गणना करनी होगी जिसे कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

सारिणी नं० २७(अ)

प्राप्तांक (x)	वर्गान्तर का मध्यमान	आवृत्ति (f)	fx
०—१०	५	२	१०
१०—२०	१५	७	१०५
२०—३०	२५	१०	२५०
३०—४०	३५	५	१७५
४०—५०	४५	३	१३५
योग		२७ (N)	Σfx=६७५

$$\therefore\ M=\frac{\Sigma fx}{N}$$

$$=\frac{६७५}{२७}=२५$$

(२) उदाहरण २७ में दी हुई सारिणी के आधार पर मध्यांक से माध्य विचलन निकालने के लिए सबसे पहले मध्यांक की गणना करनी पड़ेगी जिसे कि हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

सारिणी नं० २७(ब)

प्राप्तांक	आवृत्ति	संचयी आवृत्ति
०—१०	२	२
१०—२०	७	९(F)
२०—३०	१०(f)	१९
३०—४०	५	२४
४०—५०	३	२७
योग	N=२७	

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि प्राप्तांकों की सर्वाधिक आवृत्ति १० है इसलिए उसके सामने वाला वर्गान्तर २०—३० मध्यांक वर्गान्तर हुआ।

$$\text{सूत्र } Me=L+\frac{\frac{N}{२}-F}{f}\times l$$

उपरोक्त सारिणी के आधार पर—

L = २०

l = १०

f = १०

F = ९

N = २७

$$\therefore \quad Me = २० + \frac{\frac{२७}{२} - ९}{१०} \times १०$$

$$= २० + \frac{\frac{९}{२}}{१०} \times १०$$

$$= २० + \frac{९}{२}$$

$$= २० + ४.५$$

$$= २४.५$$

(३) उदाहरण २७ में दी गई सारिणी के आधार पर बहुलक से माध्य विचलन निकालने के लिए सबसे पहले बहुलक की गणना करनी पड़ेगी जो कि मध्यांक निकालने के लिए बनाई गई सारिणी के आधार पर इस प्रकार निकाला जा सकता है—

सूत्र $$Mo = L + \frac{f - f_1}{2f - f_1 - f_2} \times l$$

उपरोक्त सारिणी के आधार पर—

$L = २०$
$f = १०$
$f_1 = ७$
$f_2 = ५$
$l = १०$

$$\therefore \quad Mo = २० + \frac{१० - ७}{२ \times १० - ७ - ५} \times १०$$

$$= २० + \frac{३}{२० - १२} \times १०$$

$$= २० + \frac{३}{८} \times १०$$

$$= २० + \frac{१५}{४}$$

$$= २० + ३.७५$$

$$= २३.७५$$

अब तक की गई गणनाओं के आधार पर—

M (समान्तर माध्य) = २५
Me (मध्यांक) = २४.५
Mo (बहुलक) = २३.७५

इन माध्यों से विचलन की गणना करने के लिए अब हमें निम्नलिखित सारिणी बनानी होगी—

माध्य विचलन ज्ञात करने के लिए तालिका—

सारिणी नं० २७(स)

वर्गान्तर के मध्यमान x	f	$lx-Ml=d$	$flx-Ml$ $=fd$	$lx-Mel=d$	$flx-Mel$ $=fd$	$lx-Mol=d$	$flx-Mol$ $=fd$
५	२	l ५—२५ l =२०	२०×२ =४०	l ५—२४.५ l =१९.५	१९.५×२ =३९	l ५—२३.७५ l =१८.७५	१८.७५×२ =३७.५०
१५	७	१०	७०	९.५	६६.५	८.७५	६१.२५
२५	१०	०	०	०.५	५.०	१.२५	१२.५०
३५	५	१०	५०	१०.५	५२.५	११.२५	५६.२५
४५	३	२०	६०	२०.५	६१.५	२१.७५	६३.७५
योग $N=२७$			$\Sigma fd=२२०$		$\Sigma fd=२२४.५$		$fd=२३१.२५$

अब उपरोक्त तालिका के आधार पर हम माध्य विचलन निम्नलिखित सूत्र के आधार पर निकाल सकते हैं—

$$\delta = \frac{\Sigma fd}{N}$$

(१) समान्तर माध्य से माध्य विचलन $= \frac{२२०}{२७} =$ ८·१६

(२) माध्यिका (मध्यांक) से माध्य विचलन $= \frac{२२४·५}{२७} =$ ८·३१

(३) बहुलक से माध्य विचलन $= \frac{२३१·२५}{२५} =$ ८·५६

मानक विचलन
(Standard Deviation)

माध्य विचलन के आधार पर विचलन की जो सीमा ज्ञात होती है वह पर्याप्त मात्रा में परिशुद्ध कही जा सकती है। किन्तु इसमें एक दोष है और वह यह कि माध्य विचलन की गणना करते समय धन तथा ऋण (+ and —) दोनों को ही धन (+) मान लिया जाता है। इस कारण आगे इसकी विवेचना नहीं की जा सकती। इस दोष को दूर करने के लिए मानक विचलन की गणना की जाती है। इसमें धन तथा ऋण (+ and —) का अलग-अलग उपयोग किया जाता है किन्तु जैसे ही विचलन का वर्ग (square) निकाला जाता है वैसे ही धन तथा ऋण का अन्तर समाप्त हो जाता है। बाद में सभी विचलनों के वर्गों (squares) का योग करके वर्गमूल (square root) निकाल लिया जाता है। यही मानक विचलन है।

मानक विचलन की गणना
(Computation of Standard Deviation)

मानक विचलन की गणना करने के लिए हम किस सूत्र का प्रयोग करेंगे यह इस बात पर निर्भर करता है कि पदमाला सरल श्रेणी में है अथवा खण्डित या अखण्डित श्रेणी में। हम इनमें से प्रत्येक प्रकार की श्रेणी का मानक विचलन निकालने के सूत्रों का स्पष्टीकरण एक-एक करके करेंगे—

सरल श्रेणी
(Simple Series)

सरल श्रेणी का मानक विचलन निकालने की प्रत्यक्ष (direct) तथा संक्षिप्त (short-cut) दोनों विधियाँ प्रचलित हैं। इनके सूत्र इस प्रकार हैं—

(अ) प्रत्यक्ष विधि का सूत्र—

$$\text{मानक विचलन } (\sigma) = \sqrt{\frac{\Sigma (x-M)^2}{N}}$$

यदि हम $(x-M)$ को d मान लें तो सूत्र इस प्रकार होगा—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N}}$$

उपरोक्त सूत्र में—

σ = मानक विचलन

x = चल राशि अर्थात् पदमाला के विभिन्न पद का मान

M = समान्तर माध्य

N = पदों की कुल संख्या

d = पदों का माध्य से विचलन अर्थात् विभिन्न पद का मान और समान्तर माध्य में अन्तर

(ब) संक्षिप्त विधि का सूत्र—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma (x-A)^2}{N} - \left\{\frac{\Sigma (x-A)}{N}\right\}^2}$$

उपरोक्त सूत्र में—

σ = मानक विचलन

x = चल राशि अर्थात् पदमाला के विभिन्न पद का मान

A = कल्पित माध्य

N = पदों की कुल संख्या

स्मरण रहे कि इस विधि में समान्तर माध्य निकालने की आवश्यकता नहीं होती। केवल दी हुई श्रेणी या पदमाला में एक कल्पित माध्य मान लिया जाता है और सभी पदों का विचलन इस कल्पित माध्य से ज्ञात कर लेते हैं।

यदि हम $(x-A)$ को d मान लें तो उपरोक्त सूत्र इस प्रकार का हो जाएगा—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N} - \left(\frac{\Sigma d}{N}\right)^2}$$

कुछ उदाहरणों द्वारा सरल श्रेणी का मानक विचलन निकालने की विधि का हम स्पष्टीकरण कर सकते हैं—

उदाहरण २८ (प्रत्यक्ष विधि)—निम्नलिखित सारिणी में दस वर्षों में वार्षिक सूर्योदय घण्टों में दिया गया है। वार्षिक सूर्योदय के माध्य तथा मानक विचलन ज्ञात कीजिए।

वर्ष	सूर्योदय (घण्टों में)
१९५८	१४७०
१९५९	१२००
१९६०	१३३०
१९६१	१४७०
१९६२	११९०
१९६३	१४७०
१९६४	१३००
१९६५	१४३०
१९६६	१३६०
१९६७	१५७०

उपरोक्त सारिणी से मानक विचलन ज्ञात करने के लिए हमें माध्य, माध्य से पदों का विचलन तथा विचलनों का वर्ग (square) निकालना होगा जैसा कि निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है—

सरल श्रेणी का मानक विचलन (प्रत्यक्ष विधि द्वारा) ज्ञात करने के लिए तालिका—

सारिणी नं० २८

वर्ष	सूर्योदय घण्टों में (x)	माध्य से विचलन $(x-M)=d$ (माध्य=१३८०)	माध्य विचलन का वर्ग $(x-M)^2$ or d^2
१९५८	१४७०	+ ९०	८१००
१९५९	१२००	− १८०	३२४००
१९६०	१३३०	− ५०	२५००
१९६१	१४७०	+ ९०	८१००
१९६२	११९०	− १९०	३६१००
१९६३	१४७०	+ ९०	८१००
१९६४	१३००	− ८०	६४००
१९६५	१४३०	+ ५०	२५००
१९६६	१३६०	− २०	४००
१९६७	१५८०	+ २००	४००००
योग $N=$१०	१३८००	—	$\Sigma d^2=$१४४६००

माध्य $(M) = \frac{\Sigma x}{N}$

$= \frac{१३८००}{१०} =$ १३८० घण्टे

मानक विचलन $\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma(-M)x^2}{N}} = \sqrt{\frac{\Sigma x^2}{N}}$

$= \sqrt{\frac{१४४६००}{१०}}$

$= \sqrt{१४४६०}$

$=$ १२० घण्टे (लगभग)

उदाहरण २९ (संक्षिप्त विधि)—निम्न आँकड़े विद्यार्थियों के प्राप्तांकों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। मानक विचलन की गणना संक्षिप्त विधि द्वारा कीजिए—

३, ५, ८, ७, ८, १२, १०, १२, ८, १०

सरल श्रेणी का मानक विचलन (संक्षिप्त विधि द्वारा) ज्ञात करने के लिए तालिका—

सारिणी नं० २६

प्राप्तांक x	कल्पित माध्य $A=$७ से पदमूल्य (प्राप्तांक) का विचलन $(x-$७$)=d$	$(x-$७$)^2=d^2$
३	—४	१६
५	—२	४
६	—१	१
७	०	०
८	१	१
१२	५	२५
१०	३	६
१२	५	२५
८	१	१
१०	३	६
योग $N=$१०	$\Sigma d=$१३	$\Sigma d^2=$६१

उपरोक्त तालिका में हमने ७ को कल्पित माध्य माना है क्योंकि, जैसा पहले ही लिखा जा चुका है संक्षिप्त विधि में समान्तर माध्य निकालना नहीं पड़ता है। किसी भी पदमूल्य को कल्पित माध्य (A) मानकर प्रत्येक पद (x) से उसका विचलन $(x-A)=d$ निकालना पड़ता है और फिर प्रत्येक विचलन का वर्ग (square) $(x-A)^2=d^2$ निकालते हैं। यही उपरोक्त सारिणी में किया गया है। अब सूत्र के आधार पर मानक विचलन सरलता से निकाला जा सकेगा।

$$\sigma=\sqrt{\frac{\Sigma(x-A)^2}{N}-\left\{\frac{\Sigma\,(x-A)}{N}\right\}^2}$$

$$\because\ (x-A)=d$$

$$\therefore\quad \sigma=\sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N}-\left(\frac{\Sigma d}{N}\right)^2}$$

$$=\sqrt{\frac{६१}{१०}-\left(\frac{१३}{१०}\right)^2}$$

$$=\sqrt{६\cdot१-१\cdot६९}$$

$$=\sqrt{७\cdot४१}$$

$$= २\cdot७२ \text{ प्राप्तांक}$$

खण्डित श्रेणी
(Discrete Series)

खण्डित श्रेणी का मानक विचलन निकालने की प्रत्यक्ष (Direct) तथा संक्षिप्त (Short-cut) दोनों विधियाँ प्रचलित हैं। इनके सूत्र इस प्रकार हैं—

(अ) प्रत्यक्ष विधि का सूत्र—

मानक विचलन $(\sigma) = \sqrt{\frac{\Sigma f\ (x-M)^2}{N}}$

उपरोक्त सूत्र में—

σ = मानक विचलन
x = पदमाला के विभिन्न पद का मान
M = समान्तर माध्य
f = पदों की आवृत्तियाँ
N = आवृत्तियों का कुल योग

यदि हम $(x-M)$ को d के बराबर मान लें तो सूत्र इस प्रकार होगा—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma f d^2}{N}}$$

(ब) संक्षिप्त विधि का सूत्र—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma f\,(x-A)^2}{N} - \left\{\frac{\Sigma f\,(x-A)}{N}\right\}^2}$$

उपरोक्त सूत्र में—

σ = मानक विचलन
f = पदों की आवृत्तियाँ
x = पदमाला के विभिन्न पद का मान
A = कल्पित माध्य
N = आवृत्तियों का कुल योग

स्मरण रहे कि संक्षिप्त विधि में समान्तर माध्य निकालने की आवश्यकता नहीं होती। सभी पदों के विचलन एक कल्पित माध्य A से ज्ञात कर लेते हैं।

यदि उपरोक्त सूत्र में हम $(x-A)$ को d मान लें तो सूत्र इस प्रकार होगा—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma f d^2}{N} - \left(\frac{\Sigma f d}{N}\right)^2}$$

कुछ उदाहरणों द्वारा उपरोक्त विधियों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

उदाहरण ३० (प्रत्यक्ष विधि)—३४ इंच लम्बी धातु की २०० छड़ों को अन्दाज से बनाने पर उनकी वास्तविक लम्बाई निम्न सारिणी के अनुसार निकली। इनका मानक विचलन ज्ञात कीजिए।

छड़ों की वास्तविक लम्बाई इंचों में x	छड़ों की संख्या f
३०	४
३१	८
३२	२३
३३	३५
३४	६२
३५	४४
३६	११
३७	४
३८	१
३९	१

प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा मानक विचलन निकालने के लिए सर्वप्रथम माध्य की गणना करनी होगी। यहाँ हम संक्षिप्त विधि से माध्य की गणना कर सकते हैं (देखिए उदाहरण ४)। इस विधि से माध्य की गणना करने के लिए एक कल्पित माध्य मान लेना पड़ता है और सभी पदों के विचलन उस कल्पित माध्य से ज्ञात कर लें। उसके पश्चात् प्रत्येक पद (x) का समान्तर माध्य (M) से विचलन $(x-M)=d$ मालूम करना होगा। फिर इस विचलन का वर्ग (d^2) निकालना होगा और फिर पदों की आवृत्तियों (f) का गुणा विचलनों के वर्ग (d^2) के साथ करना होगा। निम्नलिखित सारिणी में इन सभी प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण किया गया है।

खण्डित श्रेणी का मानक विचलन (प्रत्यक्ष विधि द्वारा) ज्ञात करने के लिए तालिका

सारिणी नं० ३०

छड़ों की लम्बाई x	आवृत्ति f	कल्पित माध्य ३४ से पदों का विचलन $(x-३४)$	विचलन तथा आवृत्ति का गुणनफल $f(x-३४)$	पदों का माध्य से विचलन $(x-M)=d$	विचलन का वर्ग $(x-M)^2=d^2$	विचलन के वर्ग तथा आवृत्तियों का गुणनफल $f(x-M)^2=fd^2$
१	२	३	४	५	६	७
३०	४	—४	—१६	—३·८	१४·४४	५७·७६
३१	८	—३	—२४	—२·८	७·८४	६२·७२
३२	२३	—२	—४६	—१·८	३·२४	७४·५२
३३	३५	—१	—३५	—·८	·६४	२२·४०
३४	६२	०	०	·२	·०४	२·४८
३५	४४	१	४४	१·२	१·४४	६३·३६
३६	११	२	२२	२·२	४·८४	५३·२४
३७	४	३	१२	३·२	१०·२४	४०·९६
३८	१	४	४	४·२	१७·६४	१७·६४
३९	१	५	५	५·२	२७·०४	२७·०४
योग N=१९३			—३४			४२२·१२

उपरोक्त सारिणी के कालम १ से ४ में किए गए गणना कार्य के आधार पर अब हम सबसे पहले निम्नलिखित सूत्र के आधार पर माध्य की गणना कर सकते हैं—

$$M=A+\frac{\Sigma f(x-A)}{N}$$

$$=३४+\frac{(-३८)}{१९३}$$

$$=३४-\frac{३८}{१९३}$$

$$=३४-·२$$

$$M=३३·८ \text{ (लगभग)}$$

माध्य ज्ञात कर लेने के पश्चात् पदों का माध्य से विचलन (d), विचलन का वर्ग (d^2) और विचलन के वर्ग तथा आवृत्तियों का गुणनफल (fd^2) निकालना होगा जैसा कि उपरोक्त सारिणी के कालम नं० ५, ६ और ७ में प्रदर्शित किया गया है। तत्पश्चात् निम्नलिखित सूत्र द्वारा मानक विचलन ज्ञात कर लिया जाएगा—

$$\sigma=\sqrt{\frac{\Sigma f(x-M)^2}{N}}$$

$$=\sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N}}$$

$$=\sqrt{\frac{४२२·१२}{१९३}}$$

$$=\sqrt{२·१८}$$

$$=१·४७ \text{ इंच (लगभग)}$$

उदाहरण ३१ (संक्षिप्त विधि)—उदाहरण ३० में दी गई सारिणी से मानक विचलन की गणना संक्षिप्त विधि द्वारा कीजिए।

विधि—सबसे पहले किसी भी पदमूल्य को एक कल्पित माध्य (A) मान लिया। हमने ३४ को कल्पित माध्य माना है और उसी से सभी पदों का विचलन $(x-A)=d$ निकाला। तत्पश्चात् विचलनों का वर्ग (d^2) और विचलन तथा विचलन के वर्गों का गुणनफल (fd) और अन्त में उस गुणनफल का वर्ग निकाला जैसे कि निम्नलिखित सारिणी में प्रदर्शित किया गया है—

खण्डित श्रेणी का मानक विचलन (संक्षिप्त विधि द्वारा) ज्ञात करने के लिए तालिका—

सारिणी नं० ३१

छड़ों की लम्बाई x	आवृत्ति f	कल्पित माध्य ३४ से पदों का विचलन $(x-३४)=d$	विचलन का वर्ग $(x-३४)^२=d^२$	विचलन तथा आवृत्तियों का गुणनफल (fd)	विचलन के वर्ग तथा आवृत्तियों का गुणनफल $(fd^२)$
३०	४	—४	१६	—१६	६४
३१	८	—३	९	—२४	७२
३२	२३	—२	४	—४६	९२
३३	३५	—१	१	—३५	३५
३४	६२	०	०	०	०
३५	४४	१	१	४४	४४
३६	११	२	४	२२	४४
३७	४	३	९	१२	३६
३८	१	४	१६	४	१६
३९	१	५	२५	५	२५
	१९३			—३८	४२८

उपरोक्त तालिका के आधार पर मानक विचलन निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात करेंगे—

$$\sigma=\sqrt{\frac{\Sigma fd^२}{N}-\left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^२}$$

$$=\sqrt{\frac{४२८}{१९३}-\left(\frac{-३८}{१९३}\right)^२}$$

$$=\sqrt{\frac{४२८}{१९३}-\cdot०४}$$

$$=\sqrt{२\cdot२१-\cdot०४}$$

$$\sigma=\sqrt{२\cdot१७}$$

$$=१\cdot४७ \text{ इंच (लगभग)}$$

अखण्डित श्रेणी
(Continuous Series)

अखण्डित श्रेणी में भी खण्डित श्रेणी की भाँति मानक विचलन निकालने के लिए प्रत्यक्ष और संक्षिप्त दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है। इन दोनों विधियों के सूत्र वही हैं जो खण्डित श्रेणी के हैं।

प्रत्यक्ष विधि—इस प्रणाली में सर्वप्रथम समान्तर माध्य M की गणना की जाती है और इसके लिए पहले वर्गान्तरों का मध्यमान मालूम करते हैं जिसके फलस्वरूप अखण्डित श्रेणी खण्डित श्रेणी में बदल जाती है। इसलिए मानक विचलन उसी प्रकार से ज्ञात किया जाता है जैसा कि खण्डित श्रेणी में।

उदाहरण ३२—निम्नलिखित सारिणी से मानक विचलन प्रत्यक्ष विधि द्वारा ज्ञात कीजिए।

आयु वर्षों में x	सदस्यों की संख्या f
२०—३०	३
३०—४०	६१
४०—५०	१३२
५०—६०	१५३
६०—७०	१४०
७०—८०	५१
८०—९०	२

उपरोक्त तालिका के आधार पर प्रत्यक्ष विधि द्वारा मानक विचलन ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित सारिणी उपयोगी सिद्ध होगी—

सारिणी नं० ३२

आयु (वर्षों में)	वर्गान्तरों का मध्यमान x	आवृत्ति f	कल्पित माध्य ५५ से वर्गान्तरों के मध्यमानों का विचलन $\frac{x-५५}{१०}=D$	विचलन तथा आवृत्ति का गुणनफल fd	वर्गान्तर के मध्यमानों का माध्य से विचलन $(x-M)=D$	विचलन का वर्ग d^2	विचलन के वर्ग तथा आवृत्ति का गुणनफल fd^2
२०—३०	२५	३	−३	− ९	−२९·७२	८८३·३	२६४९·९
३०—४०	३५	६१	−२	−१२२	−१९·७२	३८८·९	२३७२२·९
४०—५०	४५	१३२	−१	−१३२	− ९·७२	९४·५	१२४७४·०
५०—६०	५५A	१५३	०	०	+ ०·२८	०·०८	१२·२
६०—७०	६५	१४०	+१	+१४०	+१०·२८	१०५·७	१४७९८·०
७०—८०	७५	५१	+२	+१०२	+२०·२८	४११·३	२०९७६·३
८०—९०	८५	२	+३	+ ६	+३०·२८	९१६·९	१८३३·८
योग	—	५४२		− १५			७६४६७·१

$$M = A + \frac{\Sigma fD}{N} \times h$$

नोट—वैसे तो माध्य का सूत्र $A + \frac{\Sigma fD}{N}$ है, पर चूंकि कल्पित माध्य से वर्गान्तर के मध्यमानों के विचलन की गणना करते समय सुविधा की दृष्टि से हम लोगों ने विचलन को १० (अर्थात् h) से भाग दिया है इसलिए सूत्र में $\frac{\Sigma fD}{N}$ को h से गुणा करके दिखाया गया है।

$$\therefore \quad M = ५५ + \frac{(-१५)}{५४२} \times १०$$

$$= ५५\cdot० - \cdot२८$$

$$= ५४\cdot७२$$

अब मानक विचलन की गणना निम्नलिखित सूत्र से की जा सकती है—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma f(x-M)^2}{N}}$$

$\because$ उपरोक्त तालिका के अनुसार $(x-M) = d$ के है

$$\therefore \quad \sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N}}$$

$$= \sqrt{\frac{७६४६७\cdot१}{५४२}}$$

$$= ११\cdot८७ \text{ वर्ष}$$

संक्षिप्त विधि—संक्षिप्त विधि में पदों का विचलन समान्तर माध्य से नहीं निकालते बल्कि सभी पदों के विचलन एक कल्पित माध्य (A) से ज्ञात कर लेते हैं। अतः इसमें हमें माध्य निकालने की आवश्यकता नही पड़ती। d इस कल्पित माध्य (A) से पदों (x) का विचलन अर्थात् $(x-A)$ प्रदर्शित करता है। मानक विचलन की गणना निम्न सूत्र से की जाती है—

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

यदि गणना की सुविधा के लिए हम कल्पित माध्य से वर्गान्तरों के मध्यमानों के विचलन को वर्ग विस्तार के मान से भाग देकर प्रस्तुत करते हैं तो उस अवस्था में $d = \frac{x-A}{h}$ के होता है (यहाँ h वर्ग विस्तार को प्रदर्शित करता है, जैसा कि पिछले उदाहरण में हमने वर्ग विस्तार १० से विचलनों को भाग दिया था)। चूंकि h से भाग दिया गया है इसलिए अन्त में परिणाम को h से गुणा कर दिया जाता है अतः सूत्र इस प्रकार हो जाता है—

$$\sigma = h\sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

उदाहरण ३३—उदाहरण ३२ में दी हुई सारिणी के आधार पर संक्षिप्त विधि द्वारा मानक विचलन ज्ञात कीजिए।

इसके लिए निम्नलिखित तालिका बनाने की आवश्यकता होगी—

सारिणी नं० ३३

आयु (वर्षों में)	वर्गान्तरों का मध्यमान x	आवृत्ति f	कल्पित माध्य ५५ से वर्गान्तरों के मध्यमानों का विचलन $\frac{x-५५}{१०}=d$	विचलन तथा आवृत्ति का गुणनफल fd	विचलन का वर्ग d^2	विचलन के वर्ग तथा आवृत्ति का गुणनफल fd^2
२०—३०	२५	३	—३	— ९	९	२७
३०—४०	३५	६१	—२	—१२२	४	२४४
४०—५०	४५	१३२	—१	—१३२	१	१३२
५०—६०	५५	१५३	०	०	०	०
६०—७०	६५	१४०	+१	—१४०	१	१४०
७०—८०	७५	५१	+२	+१०२	४	२०४
८०—९०	८५	२	+३	+ ६	९	१८
योग	—	N=५४२	—	— १५	—	७६५

यहाँ N = ५४२

Σfd = —१५

Σfd^2 = ७६५

h = १० (वर्ग विस्तार)

$$\sigma = h\sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

$$= १०\sqrt{\frac{७६५}{५४२} - \left(\frac{-१५}{५४२}\right)^2}$$

$$= १०\sqrt{१·४१ - ·०००९}$$

$$= १०\sqrt{१·४०९१}$$

$$= १० \times १·१८७$$

$$= ११·८७ \text{ वर्ष (लगभग)}$$

विचलन का महत्त्व
(Importance of Variability)

सांख्यिकीय अनुसन्धान को एक यथार्थ स्तर तक ले जाने के लिए विचलन की गणना वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। माध्य, मध्यांक या बहुलक से पदमूल्यों की समस्त विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता है और इसीलिए यह सम्भावना सदा बनी रहती है कि हमारा निष्कर्ष भ्रमपूर्ण हो। इस भ्रम को दूर करने में विचलन की देन वास्तव में उल्लेखनीय है। वास्तव में माध्य और विचलन दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं और एक के बिना दूसरा कुछ अधूरा-सा ही रह जाता है। माध्य और विचलन की संयुक्त गणना ही सही स्थिति का परिचय दे सकती है। उदाहरणार्थ, जब हम किसी देश के निवासियों की प्रति व्यक्ति औसत आय ज्ञात करते हैं तो हमें उस देश के लोगों की गरीबी या अमीरी का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हो पाता है। यदि देश में कुछ लोगों के हाथों में धन या सम्पत्ति का केन्द्रीकरण हो गया है और वे बहुत अमीर हैं तो प्रति व्यक्ति औसत आय जो कुछ गणना के द्वारा हमें पता लगेगा वह अधिकांश लोगों की वास्तविक आय से कहीं अधिक ज्यादा होगी। अतः वास्तविक स्थिति का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक विचलन का भी ध्यान न रखा जाए। अतः विचलन माध्य का पूरक है।

विचलन का एक और महत्त्व यह है कि यह तथ्यों की एक श्रेणी में पाए जाने वाले समान, अभिन्न व स्थिर तत्त्वों को प्रगट करता है। विचलन की सहायता से ही सामाजिक अनुसन्धान में हम सामाजिक घटनाओं के समान व स्थिर तत्त्वों की जानकारी करते हैं और इसी के आधार पर भिन्नताओं के सम्बन्ध में भी एक स्पष्ट धारणा को पनपाते हैं।

विचलन हमारी भविष्यवाणी करने की शक्ति को बढ़ा देता है अर्थात् विचलन का ज्ञान हो जाने पर एक तथ्य के भविष्य के विषय में अनुमान लगाना हमारे लिए सरल हो जाता है। विचलन हमें अपने सुनिश्चित निष्कर्ष से विचलित होने से बचाता है, बचाता है भ्रमपूर्ण ज्ञान से।

---

२५ सह-सम्बन्ध—कार्ल पियर्सन का सह-सम्बन्ध गुणांक

(CORRELATION—KARL PEARSON'S COEFFICIENT OF CORRELATION)

पिछले अध्यायों में तथ्यों को प्रस्तुत करने के चित्रमय तथा बिन्दु-रेखीय (Graphic) प्रणालियों के बारे में हमने विवेचना की है। इस प्रकार तथ्यों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य विभिन्न तथ्यों को एक संक्षिप्त और स्पष्ट रूप देना तथा उनकी तुलनात्मक स्थिति को स्पष्ट करना है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति केन्द्रीय प्रवृत्तियों की माप के द्वारा भी की जाती है। माध्य, मध्यांक तथा बहुलक तथ्यों की माध्य प्रवृत्तियों को सही-सही तौर पर मापता है और साथ ही उनको एक अत्यन्त संक्षिप्त रूप दे देता है। परन्तु केवल एकत्रित तथ्यों को संक्षिप्त कर देने से ही तथ्यों का विश्लेषण और निष्कर्षीकनण हमारे लिए सरल नहीं हो जाता है क्योंकि इसके द्वारा केवल निरपेक्ष परिणाम प्राप्त होते हैं जो अधिक उपयोगी नहीं होते हैं। इन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि तथ्यों की विभिन्न श्रेणियों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया जाए। सह-सम्बन्ध की प्रविधि इस उद्देश्य की पूर्ति करती है, पर इस सम्वन्ध में और कुछ लिखने से पहले सह-सम्वन्ध के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है।

सह-सम्बन्ध क्या है ?
(What is Correlation)

सह-सम्बन्ध के अर्थ को स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर कटारिया ने लिखा है कि हम प्रायः यह जानना चाहते हैं कि दो पद-श्रेणियों के बीच क्या सम्बन्ध है। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने पर उसके मूल्य में भी वृद्धि होती है; वर्षा अधिक होने पर उत्पादन अधिक होता है; मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मूल्यों में भी वृद्धि होती है; बच्चों की आयु बढ़ने के साथ-साथ उनकी ऊँचाई भी बढ़ती है और धूप के साथ गर्मी बढ़ती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वस्तु की माँग और उसके मूल्य; वर्षा और उत्पादन; मुद्रा की मात्रा और वस्तु के मूल्य; आयु और ऊँचाई तथा धूप और गर्मी में आपस में कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि एक में कोई भी परिवर्तन होने पर उसका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है; इसीलिए यह कहा जा सकता है कि कभी-कभी तथ्यों की दो श्रेणियों में परस्पर अन्तःनिर्भरता (inter-dependence) रहती है। एक श्रेणी के परिवर्तन का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है अतः जब "दो पद-श्रेणियाँ परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित हों कि एक पद-श्रेणी में होने वाले परिवर्तनों की सहानुभूति में दूसरी श्रेणी में भी परिवर्तन हो जाए अर्थात् एक में वृद्धि या कमी होने पर दूसरी में भी उसी दिशा में या विपरीत दिशा में परिवर्तन हो जाए और साथ ही उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध (causal relationship) हो तो वे सह-सम्बन्धी कहलाएँगी।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो पद-श्रेणियों में सम्बन्ध होने के लिए उनमें परस्पर परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं है बल्कि यह परिवर्तन एक-दूसरे के कारण होना आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो दो चलों (variables) अथवा श्रेणियों के परिवर्तन सम्बन्धित प्रतीत होते हुए भी उनमें सह-सम्बन्ध (correlation) नहीं होगा। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि, "यदि एक चल के मूल्य में परिवर्तन होने से दूसरे चल के मूल्य में भी परिवर्तन हो तो कहा जा सकेगा कि दोनों में सह-सम्बन्ध है।" उदाहरण के लिए यदि घासलेट के भावों में वृद्धि होने से पेट्रोल के भावों में भी वृद्धि हो जाए तो कार्य-कारण सम्बन्ध होने से ये दोनों सह-सम्बन्धित कहलाएँगे। किन्तु यदि घासलेट के भावों में वृद्धि होने के साथ-साथ चावल के मूल्यों में भी वृद्धि हो जाए तो यहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध के अभाव में ये दोनों सह-सम्बन्धित नहीं कहलाएँगे क्योंकि दोनों के मूल्य-वृद्धि के कारण अलग-अलग हैं।

इसीलिए प्रोफेसर एलहान्स ने लिखा है कि सह-सम्बन्ध दो चलों में ऐसे सम्बन्ध का संकेत करता है जिसके अन्तर्गत किसी एक चल के मूल्यों में परिवर्तन होने पर दूसरे चल के मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। इस सह-सम्बन्ध का अर्थ निम्नलिखित विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं से और भी स्पष्ट हो जाएगा।

सह-सम्बन्ध की परिभाषाएँ
(Definitions of Correlation)

प्रोफेसर किंग (King) के अनुसार, "दो पद-मालाओं अथवा समूहों के बीच पाए जाने वाले कार्य-कारण सम्बन्ध को सह-सम्बन्ध कहते हैं।"[1] इन्होंने एक अन्य स्थान पर सह-सम्बन्ध को दूसरे ढंग से परिभाषित किया है और लिखा है कि, "यदि यह सच प्रमाणित हो कि अधिकांश क्षेत्रों में दो चल सदैव एक ही दिशा में या विपरीत दिशा में घटते-बढ़ते हैं तो हम यह मानते हैं कि तथ्य निर्धारित हो गया और उनमें सम्बन्ध विद्यमान है। इस सम्बन्ध को ही सह-सम्बन्ध कहते हैं।"[2]

प्रोफेसर बाउले (Bowley) के शब्दों में, "जब दो परिमाण इस प्रकार सम्बन्धित हों कि एक का परिवर्तन दूसरे के परिवर्तन की सहानुभूति में पाया जाता है, ताकि एक की वृद्धि या कमी दूसरे की वृद्धि या कमी या विपरीत के सम्बन्ध में हो, और एक के परिवर्तन की मात्रा जितनी अधिक हो उतनी ही दूसरे की हो, तब दोनों परिमाण सह-सम्बन्धित कहलाते हैं।"[3]

श्री कॉनर (Conner) ने लिखा है कि, "जब दो या अधिक परिमाण सहानुभूति

1. "Correlation means that between two series or groups of data there exists causal connection."—King.

2. "If it is proved true that in a large number of instances two variables tend always to fluctuate in the same or opposite directions we consider that the fact is established and that a relationship exists. The relationship is called correlation."—King.

3. "When two quantities are so related that the functions in one are in sympathy with the functions in the other, so that an increase or decrease of one is found in connection with an increase or decrease or inversely of the other, and the greater the magnitude of the changes in the one, the greater the magnitude of the changes in the other, the two quantities are said to be correlated."—Bowley.

में परिवर्तित होते हैं ताकि एक के परिवर्तन के परिणामस्वरूप दूसरे में भी परिवर्तन होता है तो वे सह-सम्बन्धित कहलाते हैं।"[4]

सह-सम्बन्ध के प्रकार
(Kinds of Correlation)

सह-सम्बन्ध के प्रकारों का उल्लेख हम निम्नलिखित दो तरह से कर सकते हैं—

(१) **धनात्मक तथा ऋणात्मक सह-सम्बन्ध** (Positive and Negative Correlation)—प्रोफेसर कटारिया के अनुसार, "जब दो चलों या पद-श्रेणियों का परिवर्तन एक ही दिशा में होता है तो वह प्रत्यक्ष या धनात्मक सह-सम्बन्ध होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ उस वस्तु की पूर्ति में भी वृद्धि होती है तो उसके बीच के सम्बन्ध को धनात्मक सह-सम्बन्ध कहते हैं।" इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाते हुए प्रोफेसर एलहान्स ने लिखा है कि "जब दो चलों (variables) के मूल्य एक ही दिशा में घटते-बढ़ते हैं, जैसे किसी चल के मूल्य में वृद्धि का सम्बन्ध दूसरे चल के मूल्य में वृद्धि से हो तो और किसी चल के मूल्य ह्रास का सम्बन्ध दूसरे चल के मूल्य में कमी से स्थापित हो तो सह-सम्बन्ध धनात्मक कहा जाएगा। इसके विपरीत यदि दो चलों के मूल्य विपरीत दिशाओं में घटते-बढ़ते हैं, जैसे किसी चल के मूल्य में वृद्धि का सम्बन्ध दूसरे चल के मूल्य में कमी से हो और उसी प्रकार किसी चल के मूल्य में कमी का सम्बन्ध दूसरे चल के मूल्य में वृद्धि से स्थापित होता है तो सह-सम्बन्ध ऋणात्मक होता है।" दूसरे शब्दों में, "यदि दो पद-श्रेणियों के परिवर्तन एक ही दिशा में न होकर दो विपरीत दिशाओं में होते हैं तो उनका सह-सम्बन्ध अप्रत्यक्ष या ऋणात्मक कहलाता है। उदाहरण के लिए, वस्तु के मूल्य में वृद्धि के साथ-साथ उसकी माँग में कमी होती है। इस प्रकार माँग और मूल्य में ऋणात्मक सह-सम्बन्ध होता है।

(२) **रेखीय और अरेखीय सह-सम्बन्ध** (Linear and Non-linear Correlation)—प्रोफेसर एलहान्स ने इनके अर्थ को समझाते हुए लिखा है कि, "जब दो चलों के मूल्यों में विचरण स्थिर अनुपात (constant ratio) में होता है, तो उसे रेखीय सह-सम्बन्ध कहा जाता है। अर्थात्, यदि प्रत्येक बार मूल्य में दस प्रतिशत (१०%) वृद्धि हो तो पूर्ति में २०% वृद्धि रेखीय सम्बन्ध का प्रमाण देगी। इसे एक सीधी रेखा के रूप में दिखाया जा सकता है। आर्थिक व सामाजिक आँकड़ों में ऐसे सम्बन्ध बहुत ही कम उत्पन्न होते हैं, विशेषकर सामाजिक तथ्यों में दो चलों में परिवर्तन का अनुपात साधारणतया स्थिर नहीं होता है। अतः उनके परिवर्तन को एक सीधी रेखा के द्वारा दिखाया नहीं जा सकता। इस प्रकार के सह-सम्बन्ध को वक्र-रेखीय (curilinear) या अरेखीय (non-linear) कहा जाएगा। संक्षेप में, प्रो० एलहान्स के शब्दों में, रेखीय सह-सम्बन्ध उसे कहते हैं जहाँ सम्बन्धित चलों में विचरणों के अनुपात स्थिर होते हैं और अरेखीय सह-सम्बन्ध वे हैं जहाँ ऐसे अनुपात घटते-बढ़ते रहते हैं।"

---

4. "If two or more quantities vary in sympathy, so that movement in the one tend to be accompanied by corresponding movements in the other, then they are said to be correlated."—Conner.

सह-सम्बन्ध माप करने की विधियाँ
(Methods of measurement of Correlation)

दो या अधिक श्रेणियों में सह-सम्बन्ध निम्न विधियों द्वारा मालूम किया जा सकता है—

(i) प्रकीर्ण आरेख (Scatter Diagram)
(ii) सह-सम्बन्ध बिन्दु-रेखीय चित्र (Correlation Graph)
(iii) सह-सम्बन्ध का गुणांक (Cofficient of Correlation)
(iv) सह-सम्बन्ध सारिणी (Correlation Table)

प्रकीर्ण या विक्षेप आरेख (चित्र)
(Scatter Diagram or Dotogram)

इसमें सह-सम्बन्ध चित्रों की सहायता से प्रदर्शित किया जाता है परन्तु इनमें सह-सम्बन्ध संख्यात्मक रूप में न होकर केवल अनुमान के रूप में प्राप्त होता है। इसके बनाने की विधि ठीक बिन्दु-रेखीय विधि की भाँति है। इसके लिए एक ओर x श्रेणी और दूसरी ओर y श्रेणी का पैमाना मान लिया जाता है। इसके बाद x श्रेणी के प्रत्येक पद-मूल्य और y श्रेणी के प्रत्येक पद-मूल्य को बिन्दुओं के रूप में दिखाया जाता है। एक पद के दोनों मूल्यों (x तथा y श्रेणी) के लिए एक-एक बिन्दु होता है। इस प्रकार जितने पदयुग्म (Pairs of items) होते हैं उतने ही बिन्दु हो जाते हैं।

सह-सम्बन्ध बिन्दु-रेखीय चित्र
(Correlation Graph)

सह-सम्वन्ध के विषय में जानने के लिए बिन्दु-रेखीय चित्रों (Graph) का भी प्रयोग किया जाता है। इस विधि में दोनों पद-श्रेणियों (x तथा y) को कोटि (Ordinate) अथवा खड़ी रेखा (Vertical Line) पर तथा संख्या, समय अथवा स्थान को पड़ी रेखा (Horizontal Line) पर अंकित किया जाता है। यदि दोनों श्रेणियों के विन्दुरेखा एक ही दिशा में आगे बढ़ते हैं तो धनात्मक सह-सम्बन्ध होगा। इसके विपरीत यदि दोनों पद-श्रेणियों के बिन्दु-रेखा दो विपरीत दिशाओं में जाते हैं तो ऋणात्मक सह-सम्बन्ध होता है। यदि दोनों श्रेणियों में अधिक अन्तर न हो तो दोनों बिन्दु-रेखाएँ एक ही पैमाने और आधार-रेखा पर खींची जा सकती हैं। यदि उनमें बहुत अधिक अन्तर हो तो दोनों के लिए अलग-अलग पैमानों का प्रयोग आवश्यक है।

सह-सम्बन्ध का गुणांक
(Coefficient of Correlation)

दो चलों के बीच के सह-सम्बन्ध का परिमाण (degree) अथवा विस्तार (extent) जानने के लिए सह-सम्बन्ध के गुणांक की गणना की जाती है। सह-सम्बन्ध के गुणांक की गणना कई विधियों के द्वारा की जा सकती है, पर उनमें कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) का सूत्र सबसे अच्छा और लोकप्रिय है। यहाँ हम इसी के विषय में विवेचना करेंगे।

कार्ल पियर्सन का सह-सम्बन्ध का गुणांक
(Karl Pearson's Coefficient of Correlation)

सह-सम्बन्ध का परिमाण मालूम करने के लिए प्रसिद्ध जीवशास्त्री एवं सांख्यिकी-विद् श्री कार्ल पियर्सन द्वारा प्रस्तुत सूत्र सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इससे सह-सम्बन्ध की दिशा व मात्रा का केवल अनुमान ही नहीं अपितु उनका अंकात्मक माप भी प्राप्त हो जाता है। कार्ल पियर्सन के सूत्र के अनुसार दो चलों का सह-सम्बन्ध गुणांक उनके माध्यों (Mean) से लिए गए विचलनों के गुणनफल के योग को निरीक्षण के युग्मों (Pairs of observation) की संख्या और उनके मानक विचलनों (Standard Deviations) के गुणनफल से विभाजित करके प्राप्त होने वाली संख्या है। आगे की विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। पियर्सन के सूत्र के प्रमुख लक्षणों को प्रो० कटारिया ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) यह श्रेणी के सभी पदों को महत्त्व प्रदान करता है अतः यह सह-वितरण (covariation) का एक अच्छा माप है।

(२) यह गुणांक सदैव '+१' और '—१' के मध्य रहता है। जब यह गुणांक '+१' या '—१' तक पहुँच जाता है तो पूर्ण समझा जाता है। जब गुणांक '०' हो तो कोई सह-सम्बन्ध नहीं होता। '+१' पूर्ण धनात्मक सह-सम्बन्ध प्रकट करता है और '—१' पूर्ण ऋणात्मक सह-सम्बन्ध।

(३) यह गुणांक पद-श्रेणियों के अंकों की दिशाओं का ही ध्यान नहीं रखता अपितु प्रत्येक में विचलन की मात्रा को भी महत्त्व देता है।

(४) यह गुणांक दो श्रेणियों के मध्य सह-सम्बन्ध की मात्रा तो अवश्य बतलाता है परन्तु यह नहीं दर्शाता है कि दोनों श्रेणियों में कार्य-कारण सम्बन्ध है भी या नहीं। यह इसका एक दोष है।

(५) इसका निकालना कठिन है क्योंकि इसके लिए गणित का ज्ञान आवश्यक है। गुणांक को सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए इसे सरल शब्दों में प्रगट करने की आवश्यकता होती है।

कार्ल पियर्सन के सह-सम्बन्ध गुणांक की गणना[5]
(Calculation of Karl Pearson's Coefficient of Correlation)

कार्ल पियर्सन के सूत्रों के अनुसार सह-सम्बन्ध गुणांक निकालने के लिए प्रत्यक्ष विधि (Direct Method) तथा संक्षिप्त विधि (Short-cut Method) का उपयोग किया जाता है। इन विधियों में अलग-अलग सूत्रों को काम में लाया जाता है जिनका कि उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

प्रत्यक्ष विधि
(Direct Method)

उदाहरण १—निम्न आँकड़ों से पिता और पुत्र की लम्बाई के बीच सह-सम्बन्ध की गणना कीजिए।

५. इस सम्बन्ध में दिए गए समस्त उदाहरणों तथा उनके हलों को प्रो० देवकी नन्दन एलहान्स की पुस्तक 'सांख्यिकी के सिद्धान्त' (प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद, १९७०, पृष्ठ संख्या ४७६—४८२) से आभार सहित लिया गया है।

पिता की लम्बाई (इंचों में)—

६५, ६६, ६७, ६७, ६८, ६९, ७०, ७२

पुत्र की लम्बाई (इंचों में)—

६७, ६८, ६५, ६८, ७२, ७२, ६९, ७१

प्रत्यक्ष विधि से हल
(Calculation by Direct Method)

पिता और पुत्र की लम्बाइयों के बीच सह-सम्बन्ध गुणांक निकालने के लिए निम्नलिखित रूप में गणना करना आवश्यक होगा—

(अ) दोनों श्रेणियों का समान्तर माध्य (Mean) निकालिए।

(ब) समान्तर माध्य से दोनों श्रेणियों के पदों का अलग-अलग विचलन निकालिए।

(स) दोनों श्रेणियों के पदों के विचलनों को आपस में गुणा करके उन सबका जोड़ मालूम कीजिए।

(द) दोनों श्रेणियों का अलग-अलग मानक विचलन निकालिए।

(य) अंत में दोनों श्रेणियों के विचलनों के गुणनफलों के योग में पदों की संख्या, प्रथम श्रेणी (First Series) के मानक विचलन और दूसरी श्रेणी (Second Series) के मानक विचलन के गुणनफल का भाग दीजिए।

प्राप्त भजनफल सह-सम्बन्ध गुणांक होगा।

उपरोक्त उदाहरण को आधार मानकर प्रत्यक्ष विधि द्वारा सह-सम्बन्ध गुणांक निकालने की विधि को प्रो० एलहान्स ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

पिता की लम्बाई (इंचों में) m^1	औसत लम्बाई (६८") से विचलन x	विचलन का वर्ग x^2	पुत्र की लम्बाई (इंचों में) m^2	औसत लम्बाई (६९") से विचलन y	विचलन का वर्ग y^2	विचलन का गुणनफल xy
६५	—३	९	६७	—२	४	६
६६	—२	४	६८	—१	१	२
६७	—१	१	६५	—४	१६	४
६७	—१	१	६८	—१	१	१
६८	०	०	७२	+३	९	०
६९	+१	१	७२	+३	९	३
७०	+२	४	६९	०	०	०
७२	+४	१६	७१	+२	४	८
Σm^1=५४४ n=८	०	Σx^2=३६	Σm^2= ५५२ n=८	०	Σy^2=४४	Σxy=२४

पिता की औसत लम्बाई $= \frac{\Sigma m^1}{n} = \frac{५४४''}{८} = ६८''$

पुत्र की औसत लम्बाई $= \frac{\Sigma m^2}{n} = \frac{५५२''}{८} = ६९''$

पिता की लम्बाई का प्रमाप विचलन—

$$\sigma_1 = \sqrt{\frac{\Sigma x^2}{N}} = \sqrt{\frac{३६}{८}} = २\cdot१२''$$

पुत्र की लम्बाई का प्रमाप विचलन—

$$\sigma_2 = \sqrt{\frac{\Sigma y^2}{n}} = \sqrt{\frac{४४}{८}} = २\cdot३४''$$

कार्ल पिर्यसन के सूत्र में उपर्युक्त मानों को रखने पर—

$$(i) \quad \gamma = \frac{\Sigma xy}{n\sigma_1\sigma_2}$$

$$\gamma = \frac{+२४}{८ \times २\cdot१२ \times २\cdot३४} = +\cdot६$$

अतः पिता और पुत्र की लम्बाई में सह-सम्बन्ध $+\cdot६$ है।

उपर्युक्त उदाहरण में हमने दोनों श्रेणियों का समान्तर माध्य और प्रमाप विचलन निकाला है। यदि उपर्युक्त सूत्र में प्रमाप विचलन के स्थान पर उसके सूत्र को लिखा जाए तो कार्य सरल हो जाता है, क्योंकि वैसी दशा में प्रमाप विचलनों को अलग से निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि ऐसा किया जाए तो सह-सम्बन्ध गुणांक की गणना के लिए निम्न सूत्र तैयार होगा—

$$(ii) \quad \gamma = \frac{\Sigma xy}{\frac{\sqrt{\Sigma x^2}}{n} \times \frac{\sqrt{\Sigma y^2}}{n}}$$

यदि उपर्युक्त उदाहरण इस सूत्र द्वारा हल किया जाए तो—

$$\gamma = \frac{+२}{८ \times \sqrt{\frac{३६}{८}} \times \sqrt{\frac{४४}{८}}} = +\cdot६$$

उपर्युक्त सूत्र और अधिक छोटा किया जा सकता है जैसे—

$$(iii) \quad \gamma = \frac{\Sigma xy}{\sqrt{\Sigma x^2 \times \Sigma y^2}}$$

उपर्युक्त उदाहरण को इस सूत्र द्वारा निम्न प्रकार से हल किया जा सकता है। जैसे—

$$\gamma = \frac{२४}{\sqrt{३६ \times ४४}} = +\cdot६$$

अन्तिम सूत्र को गुणन-घूर्ण-सह-सम्वन्ध-गुणांक-सूत्र (Product moment formula of coefficient of correlation) भी कहते हैं। ऊपर दिए गए तीनों सूत्र सह-सम्वन्ध गुणांक के समान मान प्रस्तुत करते हैं। परन्तु, इन तीनों विधियों में हमें वास्तविक समान्तर माध्य विभिन्न पदों का निकालना पड़ता है। यदि समान्तर माध्य भिन्नों में है तो गणना-कार्य कठिन हो जाता है जिस कारण हम दूसरी विधियों का प्रयोग करते हैं।

हम जानते हैं कि दोनों श्रेणियों के उनके समान्तर माध्य से निकाले गए संगत विचलनों के गुणनफलों का योग, संगत पदों के मूल्यों के गुणनफल के योग से, दोनों श्रेणियों के कुल मूल्यों को पदों की संख्या से विभाजित कर प्राप्त राशि से, घटाकर जो मान प्राप्त होता है, उसके बरावर होगा। इसी प्रकार दोनों श्रेणियों के उनके समान्तर माध्य से निकाले गए विवचनों के वर्गों का योग, संगत पदों के मूल्यों के वर्गों के योग से, कुल मूल्यों के वर्गों के पदों की संख्या से विभाजित कर प्राप्त राशि से, घटाकर जो मान प्राप्त होता है, उसके बरावर होगा। इसी आधार पर हम ऐसा सूत्र प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें विचलन, उनके वर्ग और उनके गुणनफल आदि को अलग-अलग निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उदाहरण १ को हम इस विधि द्वारा हल कर सकते हैं—

पिता और पुत्र की लम्बाई में सह-सम्बन्ध गुणांक—

पिता की लम्बाई (x)	पुत्र की लम्बाई (y)	पिता की लम्बाई का वर्ग (x^2)	पुत्र की लम्बाई का वर्ग (y^2)	(xy)
६५	६७	४२२५	४४८९	४३५५
६६	६८	४३५६	४६२४	४४८८
६७	६५	४४८९	४२२५	४३५५
६८	६८	४४८९	४६७४	४५५६
६९	७२	४६२४	५१८४	४८९६
७०	७२	४७६१	५१८४	४९६८
७१	६९	४९००	४७६१	४८३०
७२	७१	५१८४	५०४१	५११२
Tx=५४४	Ty=५५२	$\Sigma(x^2)$=३७०२८	$\Sigma(y^2)$=३८१३२	$\Sigma(xy)$= ३७५६०

सूत्र से उपर्युक्त मान रखने पर—

$$(iv)\ \gamma = \frac{\Sigma(xy) - TxTy/N}{\sqrt{\{\Sigma(x^2) - Tx^2/N\}\{\Sigma(y^2) - Ty^2/N\}}}$$

जहाँ γ सह-सम्बन्ध-गुणांक के लिए;

Σxy दोनों श्रेणी में गुणनफल के योग के लिए;

Tx और Ty क्रमशः x और y श्रेणी के योग के लिए;

Σx^2 और Σy^2 क्रमशः x और y श्रेणी में पदों के वर्गों के योग के लिए;

और N युग्म किए गए पदों की संख्या के लिए प्रयोग किए गए हैं।

$$\gamma = \frac{३७५६० - ५४४ \times ५५२/८}{\sqrt{\{३७०२८ - (५४४)^2/८\}\{३८१३२ - (५२२)^2/८\}}}$$

$$= \frac{३७५६० - ३७५६६}{\sqrt{(३७०२८ - ३६९९२)\ (३८१३२ - ३८०८८)}}$$

$$= \frac{२४}{\sqrt{३६ \times ४४}} = +\cdot ६$$

प्रत्यक्ष विधियाँ
(Direct Methods)

इन विधियों के अन्तर्गत सह-सम्बन्ध गुणांक की गणना के लिए कल्पित माध्य का प्रयोग किया जाता है। वास्तविक समान्तर माध्य से विचलन निकालने के बजाय (प्रमाप विचलन और Σxy को निकालने के लिए) दोनों श्रेणियों में विचलनों को कल्पित समान्तर माध्य से निकाला जाता है। ऐसे संगत विचलनों के गुणनफल के योग (Σxy) को बाद में दोनों श्रेणियों में वास्तविक और कल्पित माध्यों में अंतर और अवलोकन के युग्मों की संख्या के गुणनफल से कम कर दिया जाता है। दोनों श्रेणियों के प्रमाप विचलन भी या तो प्रत्यक्ष विधि द्वारा परिकलित किए जाते हैं या सह-सम्बन्ध के गुणांक की गणना के सूत्र में ही उसे स्थानापन्न कर दिया जाता है। जैसे—

$$\text{(i)} = \frac{\Sigma xy - n(a_1 - x_1)\ (a_2 - x_2)}{n x \sigma_1 \cdot \sigma_2}$$

जहाँ—

a_1=पहली श्रेणी का वास्तविक समान्तर माध्य

a_2=दूसरी श्रेणी का वास्तविक समान्तर माध्य

x_1=पहली श्रेणी का कल्पित समान्तर माध्य

x_2=दूसरी श्रेणी का कल्पित समान्तर माध्य

Σxy=कल्पित समान्तर माध्य से प्राप्त विचलनों के गुणनफल का योग और शेष चिन्ह से तात्पर्य प्रथम सूत्र में प्रयोग किए गए चिन्हों के समान है।

$$\text{या } (ii)\ \gamma = \frac{\Sigma xy - n\left(\frac{\Sigma x}{n}\right)\left(\frac{\Sigma y}{n}\right)}{n\sqrt{\frac{\Sigma x}{n} - \left(\frac{\Sigma x}{n}\right)^2}\ \sqrt{\frac{\Sigma y^2}{n} - \left(\frac{\Sigma y}{n}\right)^2}}$$

$$\text{या } (iii)\ \gamma = \frac{\Sigma xy - \left(\frac{\Sigma x \times \Sigma y}{n}\right)}{\sqrt{\left(x^2 - \frac{(\Sigma x)^2}{N}\right)\left(\Sigma y^2 - \frac{(\Sigma y)^2}{N}\right)}}$$

$$\text{या } (iv)\ \gamma = \frac{\Sigma xy \times n - (\Sigma x \times \Sigma y)}{\sqrt{\Sigma x^2 \times n - (\Sigma x)^2}\sqrt{\Sigma y^2 \times n - (\Sigma y)^2}}$$

उपर्युक्त चारों विधियाँ यह-सम्बन्ध गुणांक के समान मान उत्पन्न करेंगी। ऊपर दिया गया उदाहरण इस सूत्र द्वारा भी समझाया जा सकता है।

उदाहरण २—निम्न सारिणी से सह-सम्वन्ध गुणांक की गणना कीजिए।

वर्ष	मजदूरी की प्रतिदिन औसत संख्या (हजार में)	मिलों द्वारा कपास की खपत (लाख गाँठों में)
१९२५	३६८	२२
१९२६	३८४	२१
१९२७	३८५	२४
१९२८	३६१	२०
१९२९	३४७	२२
१९३०	३८४	२६
१९३१	३९५	२६
१९३२	४०३	२९
१९३३	४००	२८
१९३४	३८५	२७

उपर्युक्त उदाहरण को ऊपर दी गई चारों प्रत्यक्ष विधियों से हल किया गया है।

हल—कपास की खपत और मजदूरों की संख्या में सह-सम्बन्ध का गुणांक।

वर्ष	मजदूरों की प्रतिदिन औसत संख्या			मिलों द्वारा कपास की गाँठों में खपत			
	मजदूरों की संख्या (हजारों में) m_1	कल्पित माध्य से विचलन (३८०) (x)	विचलनों का वर्ग (x^2)	गांठो की संख्या लाखों में) m_2	कल्पित माध्य से विचलन (२५) (y)	विचलनों का वर्ग (y^2)	विचलन का गुणनफल (xy)
१९२५	३६८	—१२	१४४	२२	—३	९	+३६
१९२६	३८४	+ ४	१६	२१	—४	१६	—१६
१९२७	३८५	+ ५	२५	२४	—१	१	— ५
१९२८	३६१	—१९	३६१	२०	—५	२५	+९५
१९२९	३४७	—३३	१०८९	२२	—३	९	+९९
१९३०	३८४	+ ४	१६	२६	+१	१	+ ४
१९३१	३९५	+१५	२२५	२६	+१	१	+१५
१९३२	४०३	+२३	५२९	२९	+४	१६	+९२
१९३३	४००	+२०	४००	२८	+३	९	+६०
१९३४	३८५	+ ५	२५	२७	+२	४	+१०
$n=$१०		$\Sigma x=$ +१२	$\Sigma x^2=$ २८३०		$\Sigma y=$ —५	$\Sigma y^2=$ ९१	$\Sigma xy=$ +३९०

सह-सम्बन्ध गुणांक की गणना
(Calculation of Coefficient of Correlation)

प्रथम विधि—

m_1 का समान्तर माध्य, या

$$a_1 = ३८० + \frac{१२}{१०} = ३८१·२ \text{ हजार मजदूर}$$

m_2 का समान्तर माध्य, या

$$a_2 = २५ + \frac{-५}{१०} = २४·५ \text{ लाख गांठें}$$

m_1 का प्रमाप विचलन, या

$$\sigma_1 = \sqrt{\frac{२८३०}{१०}\left(\frac{१२}{१०}\right)^२} = १६·७९ \text{ हजार मजदूर}$$

m_2 का प्रमाप विचलन, या

$$\sigma_2 = \sqrt{\frac{९१}{१०}\left(\frac{-५}{१०}\right)^२} = २·९७ \text{लाख गाँठें}$$

सह-सम्बन्ध गुणाक, या

$$r = \frac{३९० - १०[(३८१·२ - ३८०)\ (२४·५ - २५)]}{१० \times १६·७१ \times २·९७}$$

$$= +·८$$

दूसरी, तीसरी और चौथी विधियों में समान्तर माध्य या प्रमाप विचलन की गणना करना आवश्यक नहीं है।

दूसरी विधि—

$$r = \frac{३९० - १०\left(\frac{१२}{१०}\right)\left(\frac{-५}{१०}\right)}{\sqrt{\frac{२८३०}{१०} - \left(\frac{१२}{१०}\right)^२}\sqrt{\frac{९१}{१०} - \left(\frac{-५}{१०}\right)}}$$

$$= \frac{३९६}{१० \times १६·७९ \times २·९७}$$

$$= +·८$$

तीसरी विधि—

$$r = \frac{३९० - \left(\frac{+१२ \times -५}{१०}\right)}{\sqrt{२८३० - \frac{(+१२)^२}{१०}}\ \sqrt{९१ - \frac{(-५)^२}{१०}}}$$

$$=\frac{३९६}{\sqrt{२८१५.६ \times ८८.५}}$$

$$=+.८$$

चौथी विधि—

$$\gamma=\frac{३९० \times १० - (१२ \times -५)}{\sqrt{२८३० \times १० - (+१२)^2}\ \sqrt{९१ \times १० - (-५)^2}}$$

$$=\frac{३९६०}{\sqrt{२८१५६ + ८८४}}=+.८$$

+.८ का सह-सम्बन्ध गुणांक मजदूरों की संख्या और कपास की खपत के बीच धनात्मक सह-सम्बन्ध के उच्च परिमाण का संकेत करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मजदूरों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ कपास के उपयोग में भी वृद्धि होती है।

सह-सम्बन्ध गुणांक का निर्वचन
(Interpretation of Coefficient of Correlation)

यह जानने के लिए कि सह-सम्बन्ध गुणांक सार्थक (significant) है अथवा नहीं, निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रो० एलहान्स ने निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखने का सुझाव दिया है—

(अ) यदि सह-सम्बन्ध गुणांक अपनी सम्भाव्य त्रुटि से कम है तो सह-सम्बन्ध बिलकुल ही सार्थक न कहा जाएगा।

(ब) यदि सह-सम्बन्ध गुणांक सम्भाव्य त्रुटि के ६ गुने से अधिक है तो यह सार्थक समझा जाता है।

(स) साधारणतः यदि सम्भाव्य त्रुटि अधिक नहीं है और सह-सम्बन्ध गुणांक .५ या उससे अधिक हो तो यह सार्थक माना जाता है।

उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि सह-सम्बन्ध गुणांक का निर्वचन करने के लिए यह आवश्यक है कि सम्भाव्य त्रुटि या विभ्रम (probable error) को पहले ज्ञात कर लिया जाए। सम्भाव्य विभ्रम ज्ञात करने का निम्न सूत्र है—

$$\text{P. E. of } \gamma = .6745\frac{1-(\gamma)^2}{\sqrt{n}}$$

जहाँ γ = सह-सम्बन्ध-गुणांक

n = अवलोकनों के युग्मों की संख्या

यदि उपरोक्त बातों का ध्यान रक्खा जाए तो यह आशा की जा सकती है कि हमें यह पता लग सकता है कि सह-सम्बन्ध गुणांक सार्थक करना है अथवा नहीं और उसका सार्थक होना किसी भी वैज्ञानिक विवेचना के लिए परमावश्यक है।

———

२६ भारत में सामाजिक शोध व सर्वेक्षण

(SOCIAL RESEARCH AND SURVEY IN INDIA)

भारत में सामाजिक शोध, सामाजिक सर्वेक्षण आदि का विकास व प्रगति अभी सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। अन्य असंख्य विषयों की भाँति इस क्षेत्र में भी भारत अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है। इसकी यह पिछड़पन कुछ तो इस कारण है कि यह देश एक लम्बे समय तक पराधीन रहा और कुछ ईसलिए है कि यहाँ के लोग स्वयं इस सम्बन्ध में उदासीन थे और अब भी हैं। इस उदासीनता का कारण यह है कि इस देश में सामाजिक शोध और सर्वेक्षण-कार्य के लिए उपलब्ध सुविधाएँ प्रायः न के समान हैं और साथ ही निर्धनता व अशिक्षा के कारण जीवित रहने के लिए इतना अधिक कठोर संघर्ष करना पड़ता है कि शोध और सर्वेक्षण की बात सूझती ही नहीं। जो थोड़े लोग कुछ शोध-कार्य करना चाहते भी हैं उन्हें उचित निर्देशक (guide) नहीं मिल पाता क्योंकि इस क्षेत्र में जो इने-गिने विशेषज्ञ हैं वे अपने को लेकर ही इतने व्यस्त हैं कि औरों को समय देना उनके लिए सम्भव नहीं होता। कुछ विश्वविद्यालयों में तो शोध-कार्य के लिए अपना रेजिस्ट्रेशन (registration) करवाने के लिए विद्यार्थी को दो-तीन वर्ष लगातार इन्तजार करना पड़ता है और उसके बाद भी रेजिस्ट्रेशन हो नहीं पाता है। निर्देशक ढूंढ़ने और उन्हें राजी करवाने में तथा रेजिस्ट्रेशन करवाने में होनहार विद्यार्थीगण को इतनी परेशानी का सामना करना पड़ता है कि उनके मन में शोध-कार्य के प्रति एक वितृष्णा पनप जाती है और उनका समस्त उत्साह मिट्टी में मिल जाता है। भारत में इस स्थिति में सुधार क्या मालूम कब तक हो पाएगा!

भारत में सामाजिक शोध
(Social Research in India)

भारत में सामाजिक शोध का विचार वास्तव में एक हाल का विषय है। इससे पूर्व कुछ सरकारी प्रयत्नों से किए गए शोध-कार्य ही प्रमुख थे। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं समाजशास्त्र का आगमन इस देश में काफी देर से हुआ है और उसी कारण सामाजिक शोध के प्रति लोगों का झुकाव भी पहले अत्यधिक सीमित था। अर्थशास्त्री श्रमिक तथा ग्रामवासियों के जीवन से सम्बन्धित कुछ शोध-कार्य अवश्य करते थे, पर अविकसित अध्ययन-पद्धति व प्रविधियाँ उनके शोध-कार्यों को यथार्थ रूप में वैज्ञानिक बनाने में सहायक नहीं होती थीं। इसीलिए शोध-कार्यों की संख्या व सफलता दोनों ही सीमित थीं। निम्नलिखित विवेचना से भारत में सामाजिक शोध में हुई प्रगति को और अच्छी तरह समझा जा सकेगा।

भारत में सामाजिक शोध की प्रगति
(Progress of Social Research in India)

भारत में सामाजिक शोध के विकास व प्रगति के इतिहास को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो ब्रिटिशकालीन भारत में सामाजिक शोध और दूसरा स्वतन्त्र भारत में सामाजिक शोध। इन दोनों काल के सम्बन्ध में संक्षेप में विवेचना कर लेना उचित होगा—

(१) ब्रिटिशकालीन भारत में सामाजिक शोध (Social Research during of British India)—ब्रिटिश काल में सामाजिक शोध के क्षेत्र में प्रगति न के समान थी और जो कार्य हुए भी उन्हें शोध न कहकर सर्वेक्षण कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। इनमें से अधिकतर शोध-कार्य सरकारी तत्वावधान में प्रशासन सम्बन्धी तत्कालीन नीतियों के आधार पर होते थे। ब्रिटिश काल में केवल वे ही सामाजिक समस्याएँ अध्ययन का विषय बन सकीं जिनका सीधा सम्बन्ध राज्य की राजनैतिक, आर्थिक अथवा अन्य आवश्यक नीतियों से था। इन नीतियों के निर्धारण के लिए जनजीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की सूचनाओं की आवश्यकता होती थी। इन्हीं सूचनाओं को एकत्रित करने के लिए भिन्न-भिन्न आयोग (Commision) नियुक्त किए गए जिन्होंने सर्वेक्षण-पद्धति के आधार पर अकाल, श्रम-अवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, ग्रामीण समस्या आदि के सम्बन्ध में अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट को प्रस्तुत किया। विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में सांख्यिकीय विवरण प्राप्त करने के लिए भी एक केन्द्रीय सचिवालय (Secretariat) सन् १८७० में खोला गया। सन् १८६१ में भारत सरकार द्वारा आयोजित सर्वप्रथम जनगणना (census) भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रगति थी क्योंकि 'जनगणना रिपोर्ट' से जनजीवन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष उद्घाटित हुए और शोध-कार्य के लिए समाज-वैज्ञानिकों को पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो गई। वैसे भी प्रत्येक दसवें वर्ष 'जनगणना-रिपोर्ट' से जनसंख्यात्मक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों व समस्याओं के विषय में हमें महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती रहती है। इन सरकारी प्रयत्नों के अतिरिक्त ब्रिटिश काल में कई मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने भारतीय जनजातियों के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किए। इन अध्ययनों से सामाजिक शोध की प्रविधियों जैसे निरीक्षण, साक्षात्कार, व्यक्तिगत-जीवन अध्ययन-पद्धति में महत्त्वपूर्ण सुधार व पर्याप्त विकास हुआ। सामाजिक शोध के क्षेत्र में सर रिज़ले (Risley) का The Todas (1906), श्री एस० सी० राय (S. C. Roy) का The Mundas and their Country (1912), श्री जे० एस० मिल्स (J. S. Mills) का The Rengma Naga (1936), श्री इन्द्रजीतसिंह का Gondwana and the Gonds (1944) उल्लेखनीय शोध-कार्य के परिचायक हैं।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिशकालीन भारत में जो सामाजिक शोध-कार्य हुए उनकी उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि (अ) वे अकालों, श्रम-अवस्थाओं, कृषि, शिक्षा आदि से प्रमुख रूप से सम्बन्धित थे। (ब) साथ ही, उस काल में सामाजिक शोध की पद्धति व प्रविधियाँ अत्यन्त अविकसित थीं और सरकार ने भी उनको उन्नत करने की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया। फलतः जो भी तथ्य एकत्रित किए गए वे अधिकतर कम पढ़े-लिखे तथा अप्रशिक्षित (untrained) छोटे-मोटे सरकारी कर्मचारियों की सूचना के आधार पर प्राप्त किए गए। ग्रामीण स्तर पर तो यह स्थिति और भी शोचनीय थी क्योंकि वहाँ चौकीदार, नम्बरदार,

मुखिया, पुलिसमैन तथा पटवारी आदि ने जो कुछ उल्टी-सीधी सूचनाएँ दीं, वही शोध का आधार बन गईं। (स) ब्रिटिशकालीन शोध-कार्यों की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि शोध-कार्य का उद्देश्य राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति करना था। केवल उन्हीं तथ्यों को एकत्रित करने का प्रयत्न किया गया जो अंग्रेज शासक के हित-साधन में सहायक थे। अतः उस काल में हुए शोध-कार्यों से भारतीय जनजीवन में व्याप्त विभिन्न सामाजिक समस्याओं की वास्तविकताओं का आभास नहीं होता है। (द) साथ ही शोध-कार्यों का आधार कुछ सांख्यिकीय आँकड़े मात्र थे, क्योंकि शोध की अन्य प्रविधियों का विकास व प्रचलन नहीं हो पाया था। (य) पर इस दिशा में मानवशास्त्रियों का योगदान सराहनीय था; किन्तु उनका भी अध्ययन अधिकतर भारतीय जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों तक ही सीमित रहा।

(२) **स्वतन्त्र भारत में सामाजिक शोध** (Social Research in Free India)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक शोध को विकास के अनेक नए अवसर प्राप्त हुए क्योंकि सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी प्रयत्नों को नया उत्साह मिला। 'अपना देश अपना राज्य' स्वतन्त्र होने की इस भावना ने नए उत्साह के साथ काम करने को प्रेरित किया। अंग्रेज इस देश को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तौर पर एकदम खोखला बनाकर गए थे और इसीलिए जनजीवन से सम्बन्धित असंख्य समस्याएँ भारत को घेरे हुए थीं। अतः यह आवश्यक था कि उन समस्याओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान शोध-कार्यों के माध्यम से प्राप्त किया जाए ताकि वैज्ञानिक ढंग से उन समस्याओं का निराकरण किया जा सके। इसीलिए सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं और विभिन्न समाज-वैज्ञानिकों ने शोध के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इसकी प्रगति के लिए कदम उठाए। सरकार ने कल्याणकारी राज्य की स्थापना को साकार रूप देने के लिए शोध-कार्यों को आयोजित व प्रोत्साहित किया, विभिन्न विश्वविद्यालयों में सामाजिक शोध-कार्य प्रारम्भ हुआ और योजना कमीशन ने देश के अविकसित भागों के विषय में तथ्य प्राप्त करने के लिए अनुसन्धान को प्रोत्साहित किया। योजना आयोग, भारतीय कृषि संस्थान (Indian Institute of Agriculture), भारतीय सामुदायिक विकास संस्थान (Indian Institute of Community Development) तथा नेशनल सैम्पल सर्वे निदेशालय (Directorate of National Sample Survey) आदि कुछ सरकारी संस्थाएँ हैं जो कि विभिन्न प्रकार के शोध-कार्यों को करवाती और प्रोत्साहित भी करती हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grant Commission) भी प्रतिवर्ष छात्रवृत्ति आदि के माध्यम से आर्थिक सहायता देकर विभिन्न शोध-कार्यों को प्रोत्साहन देता है। इन सरकारी संस्थानों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों तथा अन्य स्वतन्त्र शोध-केन्द्रों के द्वारा भी अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किए गए हैं और अब भी किए जा रहे हैं। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़, बम्बई; देहली स्कूल ऑफ सोशल वर्क, देहली; इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन, देहली आदि ऐसे संस्थान हैं जो कि सामाजिक शोध की प्रगति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश, बिहार, गुजरात, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान तथा पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में जनजातीय शोध संस्थान (Tribal Research Institutes) स्थापित कर दिए गए हैं जिनमें जनजातीय कला, संस्कृति तथा रीति-रिवाजों का गहन शोध किया जाता है। गोहाटी विश्वविद्यालय में आसाम की जनजातियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित शोध-कार्य हो रहे हैं। पश्चिमी बंगाल में 'सांस्कृतिक

शोध संस्थान' (Cultural Research Institute) ने राज्य के जनजातीय जीवन के कई पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित की है। उदयपुर का 'भारतीय लोक कला मण्डल' एक अग्रणी गैर-सरकारी संगठन है जिसने भूतपूर्व मध्य भारत तथा राजस्थान राज्यों की जनजातियों को संस्कृति के सम्बन्ध में शोध-कार्य किया है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत आधार पर सामाजिक शोध-कार्यों को करने व करवाने में सूर्वश्री घुरिए, श्रीनिवास, श्यामचरण दुबे, देसाई, कार्वे आदि समाजशास्त्री व मानव-शास्त्रियों का प्रमुख हाथ रहा है।

भारत जैसे विकासशील देशों में सामाजिक शोध की आवश्यकता
(Need of S. R. in Developing Countries like India)

भारत जैसे तेजी से विकसित होने वाले देशों में सामाजिक शोध की आवश्यकता विकसित देशों की अपेक्षा अधिक है क्योंकि भारतवर्ष आज भी असंख्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं से घिरा हुआ है जिसके कारण इसकी प्रगति की गति बहुत कम है। अतः एक स्वस्थ सामाजिक परम्परा का विकास करना आवश्यक है। यह काम सामाजिक शोधों की सहायता से किया जा सकता है। निम्नलिखित विवेचना से यह बात और भी स्पष्ट हो सकेगी—

(१) **अज्ञानता का नाश करने के लिए** (For the removal of ignorance)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् २६ वर्ष का लम्बा समय गुजर चुका है, फिर भी जनता की अज्ञानता को आज भी आशानुरूप दूर नहीं किया जा सका है। यह अज्ञानता कुछ तो अशिक्षा के कारण है और कुछ परम्पराओं के प्रति हमारे अन्धविश्वास के कारण। अधिकांश जनता, यहाँ तक कि उच्च शिक्षित लोग भी, आज जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद आदि किसी-न-किसी 'वाद' का शिकार हैं जिसके कारण अनावश्यक संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं और राष्टीय एकता के लिए खतरा पैदा हो जाता है। ये सभी सामाजिक सम्बन्धों के स्वस्थ स्वरूपों के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता के दुष्परिणाम कहे जा सकते हैं। इन सबसे छुटकारा पाने के लिए सामाजिक सम्बन्धों, विभिन्न प्रान्त तथा क्षेत्र के निवासियों तथा परम्परागत 'वादों' के दुष्परिणामों के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान का प्रसार परमावश्यक है। यह काम सामाजिक शोध के विकास पर ही निर्भर करता है।

(२) **अन्धविश्वासों का नाश करने के लिए** (For the removal of Dogmatism)—रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वास आज भी भारतीय जनजीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँ बाल-विवाह खूब होते हैं, विधवा-विवाह को बुरा माना जाता है, छुआछूत के औचित्य को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया जाता है, भाग्य को ही सब कुछ मान लिया जाता है और जाति-पाँति के भेद-भाव को भड़काकर चुनाव जीतने की आशा की जाती है। ये सभी अन्धविश्वासों के प्रतीक हैं और इन्होंने सामाजिक जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इन अन्धविश्वासों का नाश सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने पर हो सकता है। अतः इस मामले में भी सामाजिक शोध की सहायता की आवश्यकता है।

(३) **योजनाओं की सिद्धि के लिए** (For the success of the Plans)—विकासशील देश की प्रगति व्यवस्थित योजनाओं की सफलता पर निर्भर करती है और भारत के लिए भी यही बात कही जा सकती है, पर ये सामाजिक या आर्थिक योजनाएँ तब तक सफल नहीं हो सकतीं जब तक जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त न हो। यह

सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जब कि योजना के प्रति ग्राम जनता में एक जागरूकता पनपे और वे योजना को अपनी योजना मान लें। पर भारतवर्ष में परिस्थिति कुछ दूसरी ही है। यहाँ योजनाओं की असफलता का प्रमुख कारण यही है कि हमारी समस्त योजनाएँ सरकार की योजनाएँ हैं, जनता की योजना नहीं। सरकार अपने साधनों से हजारों सरकारी समितियों का निर्माण कर सकती है, अनेक विकासखण्डों को चालू कर सकती है और पंचायती राज सम्बन्धी अधिनियमों को पारित कर सकती है। पर इन सबकी सफलता ग्रामीण जनता के सक्रिय सहयोग पर निर्भर करती है जो कि आज सरकार को प्राप्त नहीं है क्योंकि गाँव की जनता इन सब योजनाओं के प्रति बहुत ही उदासीन है। अतः इन योजनाओं की सिद्धि के लिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामीण समाज का गहन अध्ययन करके वहाँ की जनता के मनोभाव, आशाओं और अभिलाषाओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त किया जाए और सामाजिक संगठन को इस योग्य बनाया जाए कि जनता में जागरूकता पनपे और वे नए आदर्शों को उचित रूप में ग्रहण कर सकें। ये काम सामाजिक शोध के द्वारा ही सम्भव है।

(४) **सामाजिक परिवर्तन की दिशा को समझने के लिए** (To understand direction of Social Change)—प्रगतिशील देश में पहले की अपेक्षा अब परिवर्तन की गति तेज होना स्वाभाविक है, पर यह प्रगति किस दशा में हो रही है जब तक हमें यह ज्ञान न हो तब तक हम सामाजिक प्रगति के निर्धारित लक्ष्य की ओर व्यवस्थित रूप में आगे नहीं बढ़ सकते हैं। आज भारतीय समाज एक संक्रमण काल (transitory period) में से गुजर रहा है। पुरानी संस्थाएँ दिन-प्रतिदिन दुर्बल हो रही हैं और उनके स्थान पर नई संस्थाओं का जन्म हो रहा है, वर्ग जाति का स्थान ले रहा है, अन्तर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाह में डटकर मुकाबला हो रहा है, और पिता को अपने पुराने मूल्यों को छोड़कर पुत्र के नए मूल्यों को धीरे-धीरे ग्रहण करना पड़ रहा है। संक्षेप में मानो परिवर्तन की एक बाढ़-सी आई है। पर बाढ़ के अतिरिक्त पानी को यदि किसी उचित दिशा में मोड़कर हटा देने की व्यवस्था न की जाएगी तो जनजीवन के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस दिशा का निर्धारण सामाजिक परिवर्तनों के कारणों तथा परिणामों के सम्बन्ध में किए गए शोधों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है।

(५) **सामाजिक समस्याओं का सफल हल निकालने के लिए** (For finding out real solution of the Social Problems)—निर्धनता, अपराध, बेकारी, बीमारी, वर्ग-संघर्ष, राजनैतिक तनाव आदि अनेक ऐसी सामाजिक समस्याएँ हैं जो कि प्रायः सभी समाजों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। परन्तु यह समझना गलत होगा कि इन समस्याओं की प्रकृति व कारण सभी समाजों में एक-से होते हैं। सामाजिक समस्याओं की प्रकृति व कारणों का सम्बन्ध एक समाज-विशेष में पाई जाने वाली आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से होता है। ये परिस्थितियाँ विभिन्न समाजों में अलग-अलग होती हैं अतः एक के कारण या परिणामों को दूसरों का कारण या परिणाम मान लेना अनुचित होगा। अन्य प्रगतिशील देशों में सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पक्षों पर गहन शोध-कार्य हुए हैं परन्तु उनके निष्कर्षों को हम उपरोक्त कारणों से ही भारतीय परिस्थितियों में ज्यों का त्यों लागू नहीं कर सकते क्योंकि यहाँ की परिस्थितियाँ अन्य देशों से भिन्न हैं। साथ ही जब तक इन समस्याओं के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक ज्ञान न होगा तब तक उनका सफल हल ढूंढ़ना भी हमारे लिए कठिन होगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय सामाजिक परिस्थितियों की

पृष्ठभूमि में विभिन्न सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में समुचित शोध-कार्यों का आयोजन किया जाए जिससे कि उनके सम्बन्ध में प्राप्त वास्तविक ज्ञान के आधार पर समस्याओं के वैज्ञानिक हलों को ढूंढ़ने में हमें सफलता प्राप्त हो सके।

(६) **प्रभावपूर्ण सामाजिक नियन्त्रण के लिए** (For effective Social Control)—प्रत्येक प्रगतिशील देश में सामाजिक नियन्त्रण की समस्या नए रूप में सामने आती है। इसका कारण यह है कि सामाजिक नियन्त्रण के पुराने साधन परिवर्तित परिस्थितियों में पहले जैसे प्रभावपूर्ण नहीं रह जाते। अतः नए साधनों को लागू करने की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में भी इस आवश्यकता को आज अनुभव किया जाता है। पहले भारतीय समाज में नियन्त्रण के साधनों के रूप में प्रथा, परम्परा, धर्म, पंचायत आदि पर्याप्त थे। पर औद्योगीकरण और नागरीकरण के साथ-साथ जिन नवीन परिस्थितियों का उद्भव हुआ है उनमें नियन्त्रण के ये सब साधन दिन-प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं और उनके स्थान पर कानून, पुलिस, कोर्ट, सेना आदि को सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के रूप में प्रयोग में लाने की आवश्यकता हो रही है। पर इन साधनों को किस भाँति अधिक प्रभावपूर्ण बनाकर एक अनुशासित राष्ट्र का विकास किया जाए यही आज एक बड़ी समस्या है। इसके लिए इन नए साधनों के विषय में और साथ ही अनुशासन-हीनता के सम्बन्ध में गहन अनुसन्धान की आवश्यकता है। सामाजिक शोध इस दिशा में इसीलिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकता है।

(७) **राष्ट्रीय एकता की वृद्धि के लिए** (For greater National Integration)—भारतवर्ष एक कल्याणकारी राज्य के रूप में विकसित होने का बीड़ा उठा चुका है। परन्तु आज जनजीवन में व्याप्त भाषा सम्बन्धी मतभेद, जाति-पाँति के भेद-भाव, साम्प्रदायिकता आदि व्याधिकीय परिस्थितियाँ उन प्रयत्नों को निरन्तर विफल कर रही हैं। इन परिस्थितियों को जब तक स्वस्थ रूप में दूर न कर दिया जाएगा तब तक राष्ट्रीय एकता का सपना एक दूर का ही सपना बना रहेगा। साथ ही इन परिस्थितियों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि हमें इनके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो ताकि उन्हें हम जड़ से उखाड़कर धीरे-धीरे नवीन परिस्थितियों का सृजन कर सकें। इस काम के लिए समाज की संरचना का पूरा ज्ञान आवश्यक है और इस दिशा में सामाजिक शोध हमारी बड़ी मदद कर सकता है।

भारत में सामाजिक सर्वेक्षण
(Social Survey in India)

भारत में सामाजिक सर्वेक्षण आन्दोलन के विकास का वही इतिहास है जो कि सामाजिक शोध का। यदि वास्तव में देखा जाए तो भारत में सर्वेक्षण आन्दोलन की प्रगति अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में बहुत ही धीमी रही है और आज भी अनेक सीमाओं के अन्दर सामाजिक सर्वेक्षणकर्त्ताओं को इस देश में काम करना पड़ता है। इसका सबसे प्रमुख कारण आर्थिक अड़चनें तथा जनता की उदासीनता है। फलतः आज सर्वेक्षण-कार्य को आरम्भ करने के लिए आवश्यक सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी हम बहुत कम जानते हैं, विशेषकर, गणनात्मक ज्ञान हमारा बहुत ही सीमित है। दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष में असंख्य सामाजिक संस्थाएँ हैं जो कि अपने जटिल रूप में विविध समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं और उनके विषय में सर्वेक्षण करने का काम वास्तव में कठिन है। इतना ही नहीं, जनता की अज्ञानता और रूढ़िवादिता के कारण सूचनाओं को एकत्रित करना स्वयं एक समस्या है और जनता की उदासीनता सर्वेक्षणकर्त्ता के समस्त उत्साह को ठण्डा कर देने के लिए पर्याप्त है।

भारत में सामाजिक सर्वेक्षण का विकास
(Development of Social Survey in India)

भारत में सामाजिक सर्वेक्षण के इतिहास को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम ब्रिटिशकालीन भारत में सामाजिक सर्वेक्षण और दूसरा स्वतन्त्र भारत में सामाजिक सर्वेक्षण। इन दोनों कालों में सामाजिक सर्वेक्षण के क्रमविकास को हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

ब्रिटिश काल में सामाजिक सर्वेक्षण (Social Survey during British Time)—अंग्रेज भारत में व्यापारी के रूप में आए थे और अन्त तक व्यापारिक मनोवृत्तियों को वे शायद त्याग न सके थे। एक व्यापारी सदैव अधिकतम लाभ चाहता है। इस देश में अपने शासनकाल के दौरान में ब्रिटिश शासकों ने भी यही चाहा। उनका उद्देश्य भारतवासियों का अधिकतम आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक शोषण करना था, न कि जनता की समस्याओं के प्रति सजग रहते हुए उन्हें हल करने के लिए आवश्यक कदम उठाना। इसीलिए सामाजिक सर्वेक्षण की आवश्यकता को भी उन्होंने अधिक महसूस नहीं किया। पर कुछ विशेष परिस्थितियों जैसे अकाल, श्रम-अशान्ति, ग्रामीण बेकारी, स्वास्थ्य आदि के विषय में उन्हें समय-समय पर सूचनाओं की आवश्यकता हुई और इसके लिए ब्रिटिश शासकों ने समय-समय पर शाही आयोगों (Royal Commissions) की नियुक्ति की जिन्होंने कि सरकार के निर्देशानुसार सूचनाओं को एकत्रित करके अपनी रिपोर्ट पेश की। व्यापारिक तौर पर यदि देखा जाए तो ब्रिटिश काल में सामाजिक सर्वेक्षण का विकास, कुछ अन्य छुटपुट प्रयत्नों को छोड़कर, यहीं तक सीमित रहा। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न राज्यों ने अपने-अपने प्रदेशों की जनता से सम्बन्धित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि विषयों पर सूचनाएँ एकत्रित करवाकर अलग-अलग गज़ेटियर्स तैयार कराए। सन् १८५० में सांख्यिकीय सचिवालय की स्थापना की गई और सन् १८९१ से प्रत्येक दस वर्ष बाद भारतीय जनगणना रिपोर्ट प्रकाशित करवाई गई। सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में इस प्रकार की जनगणना रिपोर्ट का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है क्योंकि इन रिपोर्टों से केवल देश की जनगणनात्मक संरचना (population structure) का ही नहीं अपितु अनेक सामाजिक व सांस्कृतिक तथ्यों का भी ज्ञान होता है।

ब्रिटिश काल में कुछ व्यक्तिगत प्रयत्नों ने भी सामाजिक सर्वेक्षण के विकास में अपना सहयोग प्रदान किया। उदाहरणार्थ, अपनी प्रख्यात पुस्तक Economic Transition in India में सन् १९१३ में सर मोरीसन (Sir T. Morison) ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि मद्रास राज्य के कुछ गाँवों का समाजशास्त्रीय तथा सांख्यिकीय सर्वेक्षण किया जाना चाहिए, जब कि सन् १९१२ में श्री कीटिंग (G. Keatinge), जो कि कृषि निदेशक (Director of Agriculture) थे, ने अपनी पुस्तक Rural Economy in Bombay Deccan में यह व्यक्त किया कि उनकी कृति भविष्य में होने वाले अनुसन्धानों में सहायक सिद्ध होगी। इन सुझावों के आधार पर मद्रास तथा बम्बई राज्यों में क्रमशः डॉ० जी० स्लेटर (Dr. Gilbert Slater) और डॉ० मन (Dr. H. H. Mann) के द्वारा गाँवों के सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण किए गए जो कि उस समय के वैषयिक (objective) सर्वेक्षण में उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। पंजाब के 'आर्थिक अनुसन्धान बोर्ड' (Board of Economic Enquiry) का योगदान भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। सन् १९२१ में लाहौर में दुग्ध पूर्ति के एक

सर्वेक्षण से आरम्भ करके इस बोर्ड ने पंजाब के प्रत्येक जिले से एक-एक गाँव को चुनकर २९ गाँवों का गहन अध्ययन किया। इन अध्ययनों में २० छपे पृष्ठों की एक प्रामाणिक व विस्तृत प्रश्नावली की सहायता से ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे खेती, जोत, ऋणग्रस्तता, बाजार आदि से सम्बन्धित सूचनाओं को एकत्रित किया गया।

सन् १९२८ में भारतीय कृषि के शाही आयोग (Royal Commission on Indian Agriculture) ने इस बात पर बल दिया कि आर्थिक परिवर्तनों की प्रकृति तथा मात्रा को जानने के लिए जहाँ कहीं भी सम्भव हो सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण करवाया जाए। सन् १९२९-३० में हैदराबाद में प्रोफेसर एस० केशवा आएँगर (S. Kesava Iyengar) के द्वारा एक सर्वेक्षण बड़े पैमाने में ४ जिलों में प्रत्येक जिले के १२ गाँवों में किया गया। इसमें साक्षात्कार प्रविधि को अपनाया गया। सन् १९३७-३८ में प्रो० डी० आर० गेडगिल (D. R. Gadgil) ने पूना का नागरिक सर्वेक्षण (Urban Survey of Poona) किया जो अपने समय का एक अत्यन्त उल्लेखनीय अध्ययन था। सन् १९३२ से सन् १९५२ तक प्रो० गेडगिल के निर्देशन में The Gokhle Institute of Politics and Economics में भी अनेक महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण-कार्य हुए। भारत की विभिन्न जनजातियों के समाजों का सर्वेक्षण विभिन्न मानवशास्त्रियों द्वारा किया गया जैसे सन् १९०६ में सर रिज़ले द्वारा टोडा जनजाति का, सन् १९१२ में श्री राय (Roy) द्वारा मुण्डा जनजाति का तथा सन् १९३६ में श्री मिल्स (Mills) द्वारा नागा जनजाति के समाज का अध्ययन किया गया।

(२) **स्वतन्त्र भारत में सामाजिक सर्वेक्षण** (Social Survey in Free India)—भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् सामाजिक सर्वेक्षण का विकास पर्याप्त तेज गति से होने लगा क्योंकि योजना आदि के निर्माण में सर्वेक्षण के महत्त्व को भारत सरकार ने स्वीकार किया और इसीलिए विभिन्न सरकारी विभागों द्वारा न केवल सर्वेक्षण का आयोजन किया गया अपितु निजी संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा आयोजित सर्वेक्षणों को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जा रहा है। इस दिशा में सरकारी प्रयत्नों में सबसे उल्लेखनीय प्रयत्न सन् १९५० में भारत सरकार द्वारा 'नेशनल सैम्पल सर्वे निदेशालय' (Directorate of National Sample Survey) की स्थापना थी। योजना आयोग की इच्छानुसार पंचवर्षीय योजनाओं के बनाने के लिए आवश्यक, सूचनाओं तथा तथ्यों को एकत्रित करना इस निदेशालय का प्रमुख कार्य है। इसके तत्वावधान में सर्वेक्षण का प्रथम चक्र अक्टूबर सन् १९५० में आरम्भ होकर मार्च सन् १९५१ में पूरा हुआ। इसी प्रकार कई चक्रों का आयोजन करके इस संस्थान ने जन-जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे परिवार का आकार, आय-व्यय का स्वरूप, बेरोजगारी, ग्रामीण कृषि मजदूर आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्यों का संकलन किया है। इस संस्थान ने अब यह निश्चय किया है कि अखिल भारतीय सर्वेक्षण को आयोजित करने की अपेक्षा स्थानीय सर्वेक्षणों (local surveys) द्वारा अधिक यथार्थ तथ्यों को संकलित करने का प्रयत्न किया जाएगा।

हाल ही के वर्षों (१९५४) में किए गए एक और महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण से हमारा परिचय Report of the All India Agricultural Labour Enquiry के माध्यम से होता है। अब तक अत्यधिक बड़े पैमाने में किए गए सामाजिक आर्थिक-सर्वेक्षणों में यह एक है।

इस सन्दर्भ में National Council of Applied Economic Research का भी नाम उल्लेखनीय है। इस संस्थान द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण किए गए

जिनमें दिल्ली में बचत सम्बन्धी सर्वेक्षण के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न बड़े नगरों में किए गए सामाजिक-आर्थिक अवस्थाओं के सर्वेक्षण सम्मिलित हैं। इनमें बम्बई, दिल्ली, मद्रास, कानपुर आदि बड़े नगरों के सर्वेक्षण प्रमुख हैं।

जनमत सम्बन्धी सर्वेक्षणों को प्रोत्साहित करने के लिए Indian Institute of Public Opinion की स्थापना की गई है जो कि अपने द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका Monthly Public Opinion Surveys के माध्यम से पिछले सात-आठ वर्षों की अवधि में विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विषयों पर भारतीय जनमत की झाँकी प्रस्तुत करता है।

The Research Programmes Committee of the Planning Commission के प्रयत्नों का भी उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जा सकता है, नाना प्रकार के सर्वेक्षणों को प्रोत्साहित करने, समन्वित (integrate) करने तथा आर्थिक सहायता देने में इस कमेटी ने सराहनीय कार्य किए हैं। १९६७ के अन्त तक सम्पूर्ण भारत में प्राय: १५७ सर्वेक्षण योजनाओं को उक्त कमेटी ने अपनी स्वीकृति दी है। इसके अतिरिक्त अनेक सर्वेक्षण-कार्य कमेटी के तत्वावधान में आरम्भ किए गए हैं जैसे पूना, हैदराबाद, दिल्ली, मद्रास तथा बम्बई का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण, मुरादाबाद, सलीन तथा शिवकाशी के लघु उद्योगों का सर्वेक्षण और खेतों पर अधिकार सम्बन्धी अधिनियम के सामाजिक-आर्थिक परिणामों का अध्ययन। गाँव तथा नगर की आर्थिक संरचना, सामाजिक गतिशीलता (social dynamics), श्रमिक तथा मिल-मालिकों के पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धित प्रश्न, बेरोजगारी तथा भूमि सुधार कुछ ऐसे विषय हैं जिनके विषय में होने वाले सर्वेक्षण में उक्त कमेटी विशेष रूप से रुचि रखती है।

इस सन्दर्भ में National Council of Applied Economic Research, New Delhi का नाम फिर से उल्लेखित किया जा सकता है जो कि हाल में विभिन्न प्रकार के औद्योगिक-आर्थिक (techno-economic) सर्वेक्षणों में गम्भीर रुचि ले रही है। इस संस्थान के द्वारा किए गए इस प्रकार के सर्वेक्षणों से विशेषकर भारत में आर्थिक अनुसन्धानों का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ है। अमरीकन मॉडल के अनुरूप यह संस्थान अपने सर्वेक्षणों में विभिन्न प्रकार के तकनीकी विशेषज्ञों जैसे रसायनशास्त्री, इलैक्ट्रिकल इंजीनियर, वन, यातायात, अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकी के विशेषज्ञों की खोजों को समन्वित करने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक विशेषज्ञ सर्वेक्षण किए जाने वाले विषय से सम्बन्धित वर्तमान स्थिति तथा उसकी विशेषताओं के सम्बन्ध में सूचना देता है और इन सभी सूचनाओं के आधार पर तथा अन्य तथ्यों को मिलाकर अन्तिम रिपोर्ट तैयार की जाती है जिससे कि वर्तमान स्थिति तथा विकास की सम्भावित दिशा के सम्बन्ध में प्रयोगसिद्ध ज्ञान प्राप्त हो सके।

भारत में अन्य संस्थान, जो सर्वेक्षण-कार्य में प्रमुख रूप से संलग्न हैं, निम्नलिखित है—Gokhle Institute of Politics and Economics, Indian Institute of Cummunity Development, Statistical Institute, Calcutta। इसके अतिरिक्त Tata Institute of Social Sciences, Delhi School of Social Works आदि कुछ ऐसे संस्थान हैं जो कि विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा खोले गए हैं और सामाजिक सर्वेक्षण के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं।

योजनाओं के निर्माण में सामाजिक सर्वेक्षण का महत्त्व
(Importance of Social Survey in Planning)

भारत एक विकासशील देश है और इसीलिए विभिन्न प्रकार की सामाजिक व आर्थिक योजनाएँ इसके लिए अपरिहार्य हैं; क्योंकि व्यवस्थित योजनाओं के बिना विकास या प्रगति का सपना देखा भी नहीं जा सकता। इन योजनाओं के निर्माण में सामाजिक सर्वेक्षणों का अत्यधिक महत्त्व है। ब्रिटिश काल में इस महत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया था और इसीलिए कोई योजनाबद्ध प्रगति उस समय सम्भव नहीं हुई थी। पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भारत सरकार ने योजनाओं के निर्माण में सामाजिक सर्वेक्षणों के महत्त्व को आन्तरिक रूप में अनुभव किया और यह स्वीकार किया कि योजनाओं की सफलता सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त यथार्थ सूचनाओं तथा योजना-रिपोर्ट में प्रस्तुत रचनात्मक सुझावों पर बहुत-कुछ निर्भर करती है। योजनाओं की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हमें सम्बन्धित विषयों के सम्बन्ध में सही सूचनाएँ प्राप्त हो जाएँ जिससे कि हमें यह पता लग सके कि विकास-कार्यक्रमों को हमें कहाँ-कहाँ पर चालू करना है और किस स्थान में इसका कितना महत्त्व है। यह मानी हुई बात है कि विकास-कार्यक्रम की आवश्यकता या किसी समस्या विशेष की गम्भीरता सभी स्थानों में और सभी लोगों के लिए एकसमान नहीं हो सकती। अतः वास्तविक आवश्यकताओं के अनुसार योजनाओं को क्रियान्वित किए बिना देश का सन्तुलित विकास नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, यदि पिछड़ी जातियों और जनजातियों के विकास पर अधिक बल न दिया गया तो ये वर्ग सदा ही पिछड़े रह जाएँगे और देश के अन्य प्रगतिशील वर्गों के साथ कदम मिलाकर एकसाथ मिलकर राष्ट्र के पुनर्निर्माण कार्य में अपना योगदान नहीं दे सकेंगे। उसी प्रकार विकास-योजनाओं में शहरों की अपेक्षा गाँव की समस्याओं पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि ग्रामीण समुदाय प्रायः सभी अर्थों में नागरिक समुदाय से पिछड़े हुए हैं। पर इनकी आवश्यकताएँ वास्तव में क्या हैं, किन-किन विषयों में इनकी आशाएँ व अभिलाषाएँ छिपी हुई हैं, अनेक समस्याओं के बीच किस या किन समस्याओं को प्राथमिकता दी जाए, उन समस्याओं को सर्वोत्तम रूप में व्यावहारिक ढंग से किस प्रकार हल किया जाए, सामूहिक विकास के लिए क्या-क्या आवश्यक है—इन समस्त विषयों के सम्बन्ध में तथ्ययुक्त व निर्भरयोग्य सूचनाओं व आँकड़ों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि भारत में योजना आयोग पंचवर्षीय योजनाएँ बनाने से पूर्व प्रत्येक बार अपने विभिन्न सरकारी संस्थानों, जैसे नेशनल सैम्पल सर्वे, इण्डियन स्टेटिसटिकल इंस्टीट्यूट (Indian Statistical Institute) आदि की सहायता से परिवार के आकार, विभिन्न आय-व्यय वाले वर्गों की प्रकृति, उपभोग का स्वरूप, घरेलू स्थिति, बेरोजगारी, ग्रामीण समुदाय की विभिन्न समस्याएँ तथा उनकी प्रकृति आदि से सम्बन्धित सांख्यिकीय सूचनाएँ प्राप्त करता है। इन सूचनाओं के आधार पर योजना को व्यावहारिक रूप देने में अत्यधिक मदद मिलती है क्योंकि सर्वेक्षण रिपोर्ट में केवल विभिन्न प्रकार के तथ्यों तथा आँकड़ों का ही क्रमबद्ध संकलन, विश्लेषण और व्याख्या ही नहीं होती अपितु अवस्थाओं को सुधारने के लिए व्यावहारिक सुझावों का भी समावेश होता है। ये तथ्य और सुझाव योजना आयोग के कार्य को इस अर्थ में अत्यधिक सरल बना देते हैं कि जो कुछ भी वह करता है वह कुछ ठोस तथ्यों पर आधारित है और विकास के लिए प्रस्तावित प्रयत्न अन्धे के तीर के समान नहीं है।

भारतवर्ष में सामाजिक-आर्थिक योजनाओं की असफलता का एक उल्लेखनीय कारण यह है कि इन योजनाओं को क्रियान्वित करने में जनता का पूर्ण व सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं होता है क्योंकि योजनाएँ उनकी वास्तविक आशाओं तथा प्रकृति के अनुरूप नहीं होती हैं और हर काम में सरकारी हस्तक्षेप किया जाता है। इन कमियों को दूर करके योजनाओं को सरकारी योजना से वदलकर जनता की योजना वनाई जा सकती है। इस वात का पता सामाजिक सर्वेक्षणों के द्वारा ही चल सकता है।

सामाजिक सर्वेक्षण सामाजिक परिवर्तन की दिशा की ओर भी संकेत करता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में अनेक नई सामाजिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है जिसके कारण सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं आदि में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। फलतः सामाजिक मूल्य, आदर्श, विचारधारा आदि अब पूर्ववत् नहीं हैं। उनके स्वरूप में परिवर्तन हो रहे हैं। इन समस्त परिवर्तनों के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त किए विना सामाजिक या आर्थिक योजनाओं की सफलता की आशा नहीं की जा सकती। पर यह वास्तविक ज्ञान सामाजिक सर्वेक्षण द्वारा ही प्राप्त करना सम्भव है।

अतः हम कह सकते हैं कि समाज की वर्तमान स्थिति को समझने के लिए, परिवर्तन की दिशा को जानने के लिए तथा सामाजिक समस्याओं के व्यावहारिक हल के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सामाजिक सर्वेक्षण की सहायता लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके बिना क्रमबद्ध योजनाओं का निर्माण व उनकी सफलता सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष
(Conclusion)

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक शोध, अनुसन्धान व सर्वेक्षण में उल्लेखनीय प्रगति होती जा रही है और यह सिलसिला आज भी रुका नहीं है। परन्तु इस क्षेत्र में अन्य प्रगतिशील देशों में हुई प्रगति के साथ जब हम भारत की स्थिति की तुलना करते हैं तो हमें अपना पिछड़पन अत्यधिक खटकता है। हमें याद रखना है कि निश्चित व नियोजित (planned) प्रगति के लिए सुचिन्तित योजनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है और योजनाओं की सफलता सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में हुए सामाजिक शोध, अनुसन्धान व सर्वेक्षण से प्राप्त क्रमबद्ध ज्ञान पर निर्भर है। राष्ट्र की शक्ति उसकी सम्पदा में नहीं, लोगों के यथार्थ ज्ञान के स्तर में होती है। दुनिया के दरबार में भारत का पिछड़पन तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक सामाजिक सर्वेक्षण व अनुसन्धान से प्राप्त जानकारी को वह सही माने में इस्तेमाल करने की कला को सीख नहीं जाता। आज यह सीख हमारे लिए और भी महत्त्व की है क्योंकि आज हमारा राष्ट्र एक विस्फोटक व नाजुक स्तर से गुजर रहा है। चारों ओर घनघोर समस्याओं व असन्तोष का राज्य है। सन् १९४१ में भारत की जो जनसंख्या प्रायः ३५ करोड़ थी वह अब सन् १९७४ में बढ़कर ५८ करोड़ से भी ऊपर पहुँच गई है; पिछले २५ वर्षों में राष्ट्रीय आय बढ़कर चौगुनी हो जाने पर भी प्रति व्यक्ति आय मूल्य-वृद्धि को देखते हुए बहुत ही मामूली वढ़ी है; सन् १९४९ में जो उपभोक्ता मूल्य निर्देशांक १०० था वह जून १९७३ में बढ़कर २४८

हो गया; देश में इस समय बेरोजगारों की संख्या २३० लाख से भी अधिक है; चिकित्सा सुविधाओं में प्रगति के बावजूद अस्पतालों में लम्बी कतारें देखने को मिलती हैं और अनेक भारतवासियों को एक बूंद दवा या उचित चिकित्सा के बिना ही अंतिम साँस तोड़ना पड़ता है; स्वतन्त्रता प्राप्ति के २७ वर्ष बाद भी जनसंख्या के अनुपात में शिक्षा का प्रतिशत अभी ३० से ज्यादा नहीं है; सम्पूर्ण जनसंख्या को आज भी तन ढंकने के लिए उचित वस्त्र, या रात को सोने के लिए मकान उपलब्ध नहीं है; सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपराध, बाल-अपराध, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, मिलावट और अनुशासनहीनता का साम्राज्य है। देश को बचाने के लिए इस 'साम्राज्य' को पलटना ही होगा और उसके लिए आवश्यकता है सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गहन शोध और अनुसन्धान की। अपनी विजयों का ही नहीं, अपनी पराजयों का भी अनुसन्धान; अपनी उपलब्धियों का ही नहीं, अपनी उद्भ्रान्तियों का भी अनुसन्धान हमें निरन्तर करना होगा। सामाजिक अनुसन्धान ही राष्ट्रीय प्रगति के पथ को प्रशस्त करेगा। और शोध से ही शुद्धि होगी—राष्ट्रीय चरित्र की, सार्वजनिक जीवन की और भारत के भारतीयों की!

—: ० :—

